शान्तिपर्व

उत्तरार्द्ध

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ

अध्याय	विषय	पृष्ठ

अध्याय	विषय	पृष्ठ

अध्याय	विषय	पृष्ठ

अध्याय	विषय	पृष्ठ

" गार्डैड राइटर "

शान्तिपर्व

[दूसरा खण्ड]

आपद्धर्म पर्व

एकसौ इकतीस का अध्याय

राजा के आपत्तिकाल के कर्त्तव्य

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

युधिष्ठर ने कहा—हे भरतवंशी राजन् ! जिस राजा के पास धनागार में एक पाई भी न रह गयी हो और जिसके अन्नागार में एक दाना अन्न भी न रह गया हो, जो राजा निर्बल हो गया हो, जो दयावश अपने भाई-बन्दों के युद्ध में मारे जाने के डर से युद्ध से जी चुराता हो, दुर्ग से निकल मैदान में लड़ने की जिसमें शक्ति न हो, जिसको अपने मंत्री आदि राज्याधिकारियों के कामों पर विश्वास न हो, जिसके राजकीय गुप्त विचार प्रकट हो गये हों, वह राजा क्या करे ? जिस राजा का राज्य शत्रुओं द्वारा खण्ड खण्ड कर आपस में बाँट लिया गया हो, जो धनहीन होने के कारण अपने मित्रों का सत्कार करने में असमर्थ हो, जिसके मंत्रियों में मतभेद रहता हो, अथवा जिसके मंत्री शत्रु से मिल कर उसे दबाते हों, अन्य राजाओं ने जिसका अपमान किया हो, जो सर्वथा निर्बल हो गया हो और जो बलवान् शत्रु राजा से घबड़ाता हो, उस राजा को क्या करना चाहिये ?

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर ! यदि विजयकामी एवं आक्रमणकारी शत्रु राजा धर्मार्थ में प्रवीण हो और पवित्र मन वाला हो, तो आक्रान्त राजा को अविलंब उसके साथ सुलह कर लेनी चाहिये और जो नगर और ग्राम परम्परागत अपने अधिकार में रहे हों, उन्हें शत्रु के अधिकार से निकाल कर अपने अधिकार में कर लेना चाहिये। यदि शत्रु अधर्म से विजय चाहने वाला हो, बलवान् हो और मन में पाप रखता हो, तो उस शत्रु राजा को कुछ दे ले कर, उससे सुलह कर ले। किन्तु यदि आक्रमण-कारी शत्रु सुलह करना न चाहे, तो आक्रान्त राजा अपनी राजधानी छोड़ कर भाग जाय, अथवा आक्रमण-कारी राजा को दण्ड स्वरूप कुछ धन दे कर सङ्कट से पार हो जाय और निज प्राणों को बचा ले। क्योंकि यदि आक्रान्त राजा जीवित रहता है, तो समय पा कर और बलवान् हो कर, हाथ से निकले हुए राज्य, कोष आदि को लौटा लेता है। धनागार देने अथवा निज सैन्य परित्याग करने से यदि आपत्तियाँ टल सकती हों, तो आयीं हुई आपत्तियों के कारण धर्मार्थज्ञ कौन राजा अपने श्रेष्ठ आत्मा को नष्ट करने को तैयार होगा? शत्रु का आक्रमण होने पर रानियों को राजधानी से हटा दे। किन्तु यदि हटाते समय या अन्य किसी प्रकार वे शत्रु द्वारा पकड़ ली जाँय तो उनकी भी चिन्ता न कर आक्रान्त राजा अपनी ही रक्षा करे। शत्रु के हाथ पड़ी रानियों और धनागार की मोहममता में फँसना निरर्थक है। जहाँ तक बन पड़े वहाँ तक आक्रान्त राजा शत्रु के हाथ आत्मसमर्पण न करे।

युधिष्ठिर ने पूँछा—यदि किसी समय मंत्री आदि राजकर्मचारी राजा से अप्रसन्न हो उसका सामना करने लगें और दूसरी ओर से शत्रु चढ़ाई करे, धनागार में कौड़ी भी न रह गयी हो और राजकाज सम्बन्धी गुप्तविचार प्रकट हो गये हों, तो वह राजा क्या करे?

भीष्म जी बोले—जब ऐसा अवसर आवे, तब उस राजा को शत्रु राजा के साथ यदि वह धर्मात्मा हो तो तुरन्त सुलह कर लेनी

चाहिये। यदि सन्धि करने में सफलता न हो तो पराक्रम दिखा, शत्रु को अपने राज्य की सीमा के बाहर कर देना चाहिये। यदि ऐसा करते समय आक्रान्त राजा को प्राण गँवाने पड़ें तो वह प्राण गँवाना ही अच्छा है। यदि अपनी सेना के सैनिकों का अपने ऊपर अनुराग हो और शत्रु के साथ लड़ने का उत्तम उत्साह हो और सैनिक अपने अन्नदाता राजा की सचमुच भलाई करनी चाहते हों, तो वह राजा अखिल भूमण्डल को भी विजय कर सकता है। जो राजा युद्ध में मारा जाता है, वह स्वर्ग में जाता है। यदि शत्रु सामर्थ्यवान् हो, तो प्रचलित प्रथा के अनुसार उससे हितैषी बने रहने की शपथ ले; उसके प्रति कोमलता प्रदर्शित करे और विनय आदि से शत्रुराजा का अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न करे, उसका विश्वासपात्र बन जाय। यदि अपने मंत्रियों आदि राजकर्मचारियों की निमकहरामी से राजा शत्रुराजा से लड़ने में असमर्थ हो और सन्धि होने की सम्भावना न हो, तो राजा राजधानी छोड़ भाग जाय और समझा बुझा कर शत्रु को शान्त कर दे। यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो स्वयं किसी दूरदेश को चला जाय और वहाँ प्रबन्ध कर सेना एकत्र कर के पुनः अपने हाथ से निकले हुए राज्य को पाने का प्रयत्न करे।

एकसौ बत्तीस का अध्याय

आपत्ति काल में राजर्षियों की प्रथा

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! जब सर्व-लोक-समादृत कोई राजा प्रजारक्षण रूप निज श्रेष्ठ धर्म का पालन न कर सके और उसकी आजीविका के समस्त साधन लुटेरों के हस्तगत हो जायँ और आपत्तिकाल उपस्थित हो, तब दयनीय परिवार अर्थात् पुत्र पौत्रादि का त्याग न करने वाला ब्राह्मण अपना निर्वाह किस प्रकार करे?

भीष्म ने कहा— हे युधिष्ठिर ! ऐसे समय वह ब्राह्मण विज्ञान-बल से अपना निर्वाह करे। इस धराधाम के समस्त उत्तम पदार्थ सत्पुरुषों ही के लिये हैं न कि दुर्जनों के लिये। जो मनुष्य अपने आत्मा को धन के आने जाने का मार्ग बना, सत्पुरुषों से धन ले कर सत्पुरुषों ही को देता है वही धर्मज्ञ है। जिस राजा को राज्य पाने की कामना हो, वह अपनी प्रजा को कभी क्रुद्ध न करे; किन्तु सङ्कट के समय यदि राज्य-वासी सेठ साहूकार धन द्वारा साहाय्य न करें, तो उनके धन को यह कह कर "यह धन मेरा" है, बरजोरी ले ले। साथ ही सुसमय में ऐसा न कर प्रजा का कर-भार हलका कर देना ठीक है। यदि राजा ज्ञानी, बलवान्, सदाचारी और धैर्यवान् हो कर निन्द्य कार्य करने लगे, तो क्षत्रिय वृत्ति का ज्ञाता कौन पुरुष उसकी निन्दा नहीं करता? जो पराक्रम दिखला अपना निर्वाह करते हैं, उन्हें दूसरे प्रकार की आजीविका अच्छी नहीं लगती।

हे युधिष्ठिर ! बलवान पुरुष सदा पराक्रम ही प्रदर्शित किया करते हैं। आपत्तिकाल में राजा शास्त्रोक्त आपद्धर्मों के अनुसार बर्त्ताव किया करता है। वह उस समय अपने देश से तथा शत्रु के देश से धन अपहरण कर, अपने धनागार की पूर्ति करता है। किन्तु जो राजा विद्वान होता है, वह सङ्कट के समय भी विवेक को नहीं त्यागता और लोभी धनवानों से दण्ड स्वरूप धन ले, दूसरों के धन को नहीं लेता। घोर सङ्कट का समय उपस्थित होने पर माननीय ऋत्विजों, पुरोहितों, आचार्यों और ब्राह्मणों का धन राजा को न लेना चाहिये। जो राजा ब्राह्मणों का धन छीनता है, वह राजा पापी समझा जाता है। हे राजन् ! मैंने तुम्हें यह लोकों में प्रमाण रूप मान्य तथा सनातन नेत्र रूप उपदेश दिया है। समस्त राजाओं को उचित है कि, वे इसे प्रामाणिक मान कर बर्त्ताव करें। कोई काम क्यों न हो, उसे करने के पहिले उससे होने वाली बुराई-भलाई को समझ ले।

यदि नगरवासियों और ग्रामवासियों में आपस में अनबन हो जाय और वे आपस में निन्दा स्तुति करें तो उनमें से किसी भी पक्ष का कहा मान, राजा को न तो किसी का सत्कार और न किसी का तिरस्कार करना चाहिये। राजा किसी की निन्दा न तो स्वयं करे और न किसी की निन्दा सुने। यदि राजा के सामने कोई किसी की निन्दा करने लगे और निन्दक को रोकने की उसमें शक्ति न हो, तो वह राजा अपने कान बंद कर ले, अथवा उठ कर अन्यत्र चला जाय। परनिन्दा करना या दूसरों की शिकायतें करना दुष्टों का काम है। सत्पुरुष तो सत्पुरुषों के सामने लोगों की प्रशंसा ही किया करते हैं। सुन्दर दर्शनीय शिक्षित गाड़ी खींचने वाले दो बैल जैसे गाड़ी के जूए को गरदन पर रख चलते हैं, वैसे ही राजा को भी आपत्तिकाल में राज्यभार अपने कन्धों पर अच्छी तरह उठाना चाहिये। अनेक लोग समझते हैं कि, जो राजा ऐसा करता है उसे अनायास बहुत से सहायक मिल जाते हैं। बहुत से लोग परम्परा से प्रचलित रीति नीति ही को उत्तम समझते हैं। किन्तु लोभी और डाही पुरुष ऐसी बातें नहीं माना करते।

ऋषियों का कथन है कि यदि गुरु भी अपराध करे तो उसे दण्ड देना चाहिये। आर्ष प्रमाण के सामने अन्य किसी का प्रमाण नहीं माना जा सकता। देवता भी पापी अधम पुरुष को नरक में पटकते हैं। अतः जो पुरुष अधर्म से धनोपार्जन करता है वह धर्मभ्रष्ट समझा जाता है। जिस धर्मशास्त्र को श्रेष्ठ जन मानते हों और जिसे लोग मन से आत्मकल्याण का साधन मानते हों, राजा उसीको धर्म माने और तदनुसार ही आचरण करे। जो पुरुष ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमों के धर्मों को; आन्वीक्षिकी, त्रयीवार्ता और दण्डनीति धर्म को जानता हो; उसीको धर्मज्ञ समझना चाहिये। यद्यपि सर्प के चरण के समान धर्म को खोजना बड़ा कठिन कार्य है, तथापि जैसे बहेलिया घायल मृग की टपकी हुई रक्त की बूँदों के सहारे मृग का पता लगा लेते।

है, वैसे ही कारण द्वारा धर्म के चरणों का पता लगा ले। अच्छे पुरुषों के विनयावनत मार्ग का अनुसरण करे। हे युधिष्ठिर! पूर्वकाल के राजर्षि ऐसे ही आचरणों के अनुसार वर्त्ता करते थे।

एकसौ तैंतीस का अध्याय

धन ही सुख का साधन है

भीष्म ने कहा—हे कुन्तीपुत्र! राजा को उचित है कि, वह अपने राज्य से अथवा शत्रुराज्य से धन ले कर अपने धनागार को भरे। ऐसा करने ही से राजा धर्माचरण कर सकता है और राज्य की जड़ मज़बूत कर सकता है। राजा का यह सनातन धर्म है कि, वह धनागार को पूर्ण बनाये रखे, उसकी सम्हाल रखे और उसकी वृद्धि करे। राजा को प्रजा का सत्कार भी करना चाहिये। यदि राजा चाहे कि, वह धर्म और न्याय से धन संग्रह करे, तो वह ऐसा नहीं कर सकता। क्रूरता से भी ऐसा होना असम्भव है। अतः बीच का रास्ता पकड़ कर, राजा धनागार को पूर्ण करे। जो राजा निर्बल होता है, उसका धनागार कभी नहीं पूर्ण हो सकता और जिसके धनागार में धन नहीं वह सेना भी नहीं रख सकता। सेना रहित राजा के हाथ में राज्य नहीं रहता और जिसके पास राज्य नहीं उसके पास लक्ष्मी नहीं रह सकती। बड़े लोगों के लिये धनहीनता और मृत्यु समान हैं। अतएव राजा को कोश, सेना और मित्र बढ़ाते रहना चाहिये। जिस राजा के पास धन का भण्डार नहीं होता, उसका लोग तिरस्कार किया करते हैं; अल्प धन-लाभ होने के कारण उसके सेवक उससे सन्तुष्ट नहीं रहते और उसका कामकाज उत्साहपूर्वक नहीं करते। राजा का सम्मान धन पर ही निर्भर है। जैसे स्त्री का गुप्ताङ्ग वस्त्र से ढका रहता है, वैसे ही धन राजा के दोषों को ढके रहता है। जो राजा धनवान् हो जाता है, उसके पूर्वकालीन शत्रु उसकी बढ़ती

देख, जला करते हैं और उसको बिगाड़ डालने के लिये कुत्ते की तरह उसकी नौकरी करते हैं। ऐसा राजा यदि धनवान् भी हुआ, तो भी वह सुखी नहीं रह सकता। प्रत्येक राजा को बड़े बनने के लिये उद्योग करना चाहिये। उसे किसी से दबना नहीं चाहिये। उद्योग ही पुरुषार्थ का लक्षण है। जैसे सूखा काठ जल जाता है, किन्तु नवता नहीं; वैसे ही राजा का सर्वस्व नष्ट क्यों न हो जाय, उसे किसी से दबना न चाहिये। उसे भले ही जंगलों में मृगादि के साथ घूमना फिरना पड़े, किन्तु वह अवज्ञाकारी एवं चोर लुटेरों जैसे आचरण करने वाले मंत्री आदि राजकर्मचारियों के बीच न रहे। क्योंकि वन में रहने वाले लुटेरों डाकुओं का भी एक बड़ा गरोह बन जाता है। जो राजा मर्यादा त्याग देता है, उसकी प्रजा उद्विग्न हो जाती है। दयाहीन दस्यु भी मर्यादात्यागी राजा को सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं। अतः राजा का कर्त्तव्य है कि, वह लोगों को सन्तुष्ट रखने के लिये मर्यादा और सुव्यवस्था को बनाये रखे। मर्यादा रखने वाले राजा से प्रजाजन सदैव सन्तुष्ट रहते हैं। जो नास्तिक इस लोक और परलोक को नहीं मानते, उनका कभी विश्वास न करे और राजा कभी यह न समझे कि, वे उससे डरते हैं। लुटेरे भले ही दूसरों का धन लूट लें; किन्तु उनको जान से नहीं मारते। मर्यादा की रक्षा कर लुटेरे सहस्रों मनुष्यों की जान बचा दिया करते हैं, किन्तु नास्तिक कुछ भी विचार नहीं रखते। रणक्षेत्र से भागे हुए शत्रु का वध करना, परस्त्री का आलिङ्गन करना, कृतघ्नता करना, ब्राह्मण का धन लूटना, किसी का सर्वस्व छीन लेना, किसी की लड़की को ले भागना, असली मालिक से उसका नगर या गाँव छीन कर उसे दबा बैठना,—ये ऐसे बुरे काम हैं कि, इन्हें दस्यु भी बुरा मानते हैं और नहीं करते। कितने ही ऐसे राजा होते हैं जो डाकुओं में अपनी ओर से विश्वास उत्पन्न करने के लिये उनसे भी प्रीति करते हैं और पीछे जब अवसर हाथ लगता है, तब उनके धन और पुत्रादि को हस्तगत कर, उनको नष्ट कर डालते हैं।

राजा को यह उचित नहीं कि, वह लुटेरों की सौंपी हुई वस्तुओं को समूल नष्ट कर डाले। राजा को अपने आपको बलवान् समझ, दस्युओं के साथ क्रूरता का व्यवहार न करना चाहिये। जो राजा लुटेरों का संहार नहीं करता, 'उसे अपना सर्वस्वापहरण भी नहीं देखना पड़ता। किन्तु जो राजा लोग डाकुओं का संहार करते हैं, उन्हें डाँकुओं की ओर से सदा भयत्रस्त रहना पड़ता है।

एकसौ चौतीस का अध्याय

धन ही राजा की शक्ति है

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! प्राचीन धर्मज्ञ पुरुषों का धनहरण के सम्बन्ध में यह कथन है कि—विद्वान् और बुद्धिमान् क्षत्रिय धर्म और अर्थ का रक्षक है। दृष्टफल का अभाव होने से धर्मोपदेश सोलहों आने मानने योग्य नहीं है। अतः धर्माचरण और धन-सम्पादन करने में क्षत्रिय किसी को बाधा न दे। जैसे एक पदचिन्ह को देख यह कोई निश्चित नहीं कर सकता कि, यह पदचिन्ह श्वान का है या सिंह का अथवा चीते का; वैसे ही यह भी कोई निश्चियपूर्वक नहीं कह सकता कि, यह धर्म है और यह अधर्म है। क्योंकि धर्म और अधर्म के फल को इस जगत् में किसी ने अपने नेत्रों से नहीं देखा। क्षत्रिय को तो केवल शक्ति सम्पादन की ओर ही दत्तचित रहना चाहिये। क्योंकि यह सारा जगत शक्ति के ही ऊपर अवलम्बित है। अर्थात् बलवान् पुरुष ही के वश में सारा जगत् रहता है। वह बल या शक्ति धन के अधीन है। सब में शक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। जो राजा शक्तिशाली होता है, उसे मंत्री भी अच्छे मिल सकते हैं और जो पुरुष निर्धन होने के कारण अशक्त होता है उसे पतित समझना चाहिये। जो धनवान् थोड़ा सा भी धन किसी निर्धन को देता है, वह उसका उच्छिष्ट कहलाता है। यदि कोई शक्तिशाली पुरुष अधर्म भी करता है

तो भी लोग भय के कारण उसका कुछ भी नहीं कर सकते। यहाँ तक कि, उसे रोक भी नहीं सकते। शक्ति और धर्म के साथ ही साथ जिसमें सत्य भी होता है वही लोगों के महाभय को भी दूर करता है।

शक्ति और धर्म में, मैं शक्ति को धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता हूँ। क्योंकि शक्ति हुए बिना धर्माचरण हो ही नहीं सकता। जैसे यावत् जङ्गम पदार्थ पृथिवी के आधार पर अवलम्बित हैं, वैसे ही धर्म भी शक्ति के ऊपर अवलम्बित है। धूम जैसे पवन का अनुगामी है, जैसे लता वृक्ष के सहारे रहती है; वैसे ही असमर्थ धर्म, शक्ति के आश्रयीभूत हो कर रहता है। जैसे भोगी के अधीन सुख है; वैसे ही धर्म भी शक्तिमानों की अधीनता में रहता है। शक्तिशाली पुरुषों को कोई काम असाध्य नहीं है। यदि शक्तिमान् पुरुष दुराचारी होता है तो वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। वन-पशु जैसे सिंह से डरते हैं, वैसे ही वह लोगों से भयभीत हुआ करता है। जब लोग मिल कर ऐसे पुरुष का तिरस्कार और बहिष्कार करते हैं तब उसे दुःख में अपना जीवन बिताना पड़ता है और जो निन्दित जीवन बिताता है वह मृतक समान माना जाता है।

पण्डितों का कहना है कि, पापी पुरुष के भाई बन्धु उसे त्याग देते हैं। वह अपने पापमय आचरण से अत्यन्त सन्तप्त रहता है और लोग वचन रूपी भालों से उसे घायल किया करते हैं। धर्मशास्त्री ऐसे व्यक्ति को पापाचरण से मुक्त करने के लिये यह उपदेश देते हैं कि वह वेदों का स्वाध्याय करे और वेदोक्त कर्म करे और विप्र-पूजन करे। उसे मधुर दृष्टि रखनी चाहिये, वाणी तथा कर्म से ब्राह्मणों को प्रसन्न करना चाहिये मन को उदार बनाना चाहिये और श्रेष्ठ कुल में विवाह करना चाहिये। यदि कोई मनुष्य उसे पापी बतावे, तो उसे अपना पापी होना स्वीकार कर लेना चाहिये? उसे दूसरों का गुणकीर्तन करना चाहिये और गायत्री मंत्र का जप करना चाहिये। ऐसा मनुष्य सदा सावधान रहे, बहुत बात-चीत न करे, कठोर तप करे, ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सभा में जावे,

और वहाँ यदि लोग कहें कि यह बड़ा पापी है, तो उनके इस कहने का वह बुरा न माने। इस प्रकार करने से वह पाप से मुक्त हो जाता है और संसार में पुनः मान्य हो जाता है। वह पुण्य कर्मों को करता हुआ विविध प्रकार के सुखों को भोगता है, जगत् में पूज्य हो जाता है और इस लोक तथा परलोक में महाफल पाता है।

एकसौ पैंतीस का अध्याय

डाँकू कायव्य का वृत्तान्त

भीष्म ने कहा— हे धर्मराज! मर्यादा में रहने वाले लुटेरे भी मरने के बाद स्वर्ग में जाते हैं— इस बात का प्रतिपादक एक पुरातन वृत्तान्त है। कायव्य नामक एक लुटेरा था। वह बड़ा बुद्धिमान्, वीर, योद्धा, शास्त्रज्ञ और निठुर होने पर भी आश्रमवासी ऋषियों के धर्म का तथा ब्राह्मणों का रक्षक था। वह एक क्षत्रिय के औरस से भिल्लनी के उदर से जन्मा था। अतः वह क्षात्र धर्म का पालन करता था। इसीसे डाँकू होने पर भी उसे सिद्धि प्राप्त हो गयी थी। वह नित्य सायंप्रातः वन में जाता और मृगों के झुंडों को क्षुब्ध किया करता था। वह समस्त वन्य पशुओं के स्वभाव और रहन सहन को जानता था और निषाद के कार्य में चतुर था। वह देश और काल का ज्ञाता था। वह पारिपात्र नामक पर्वत पर भ्रमण किया करता था। उसका निशाना कभी व्यर्थ नहीं जाता था। उसके बाण बड़े दृढ़ थे। वह अकेला ही सहस्रों सैनिकों को हरा दिया करता था। वह डाँकू वन में रहता और माता पिता की सेवा किया करता था। वह लुटेरों और अतिथियों का सत्कार मद्य, मांस, कन्द मूल आदि उत्तम भोज्य पदार्थों से किया करता था और उत्तम जनों की सेवा किया करता था। वानप्रस्थों, संन्यासियों और ब्राह्मणों का भी वह पूर्ण भक्त था और मृगों को मार कर वह उन्हें भोजन पहुँचाया करता था। जो उसके

दिये भोज्य पदार्थों को लुटेरे का द्रव्य समझ नहीं लेते थे, उनके आश्रमों के द्वारों पर वह बड़े तड़के जाता और माँस रख आया करता था।

एक दिन बहुत से निष्ठुरकर्मा एवं अमर्यादित लुटेरों ने उससे राजा बनने की प्रार्थना की। वे उससे बोले—तुम देश-कालज्ञ, बुद्धिमान्, और बहादुर हो। तुम जिस काम में हाथ लगाते हो उसे पूरा कर के छोड़ते हो। अतः तुम हम लोगों के राजा बन जाओ, हम लोग तुम्हारी आज्ञा में रहेंगे और तुम माता पिता की तरह हम लोगों का पालन करना।

कायव्य ने कहा—हे लुटेरो! तुम स्त्रियों, भीरुओं, बालकों और तपस्वियों का वध मत करना। जो तुमसे न लड़े उसको भी मत मारना। स्त्रियों पर बलात्कार कर उनको मत पकड़ना और न किसी को हर ले आना। सदा ब्राह्मणों के हित में संलग्न रहना और समय आ पड़ने पर, उनके लिये लड़ जाना। सत्य का अपलाप कभी मत करना। जिस घर में देवता, पितर और अतिथियों का पूजन किया जाता हो, वहाँ कभी किसी प्रकार की विघ्नबाधा मत डालना। समस्त प्राणियों में ब्राह्मण मोक्ष का अधिकारी है। अतः अपना सर्वस्व गँवा कर भी ब्राह्मणों की सेवा करना। क्योंकि क्रुद्ध हो ब्राह्मण जिसका तिरस्कार करना विचारते हैं, उसको त्रिलोकी में कोई बचा नहीं सकता। जो मनुष्य ब्राह्मण की निन्दा करता है अथवा उनका अनिष्ट करना चाहता है उसका निश्चय ही वैसे ही नाश होता है; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार का। तुम यहीं बैठे बैठे प्रजा से कर वसूल करो और जो न दे उस पर तुम आक्रमण करो। क्योंकि अधम लोगों के लिये दण्ड ही एक मात्र उपाय है। दण्ड इस लिये नहीं है कि, उसके सहारे (जुरमाना कर) धनागार पूर्ण किया जाय। जो मनुष्य शिष्ट जनों को सतावे उसे प्राणदण्ड देना शास्त्र का मत है। जो लोग प्रजा को सता कर अपनी उन्नति करना चाहें, वे मुरदे में पड़े हुए कीड़ों की तरह तत्काल मर जाते हैं। जो लुटेरे होते हैं किन्तु धर्मशास्त्र के आज्ञानुसार बर्त्ताव करते हैं, वे लुटेरे होने पर भी तुरन्त सिद्धि पाते हैं।

भीष्म ने कहा—हे युधिष्ठिर! उन लुटेरों ने कायव्य के उपदेशानुसार कार्य करना आरम्भ कर दिया। इससे उन सब ने उन्नति पायी और पाप को त्याग दिया। कायव्य भी इस काम को कर बड़ी सिद्धि को प्राप्त हुआ था। क्योंकि उसने साधु पुरुषों का कल्याण किया था और लुटेरों को पाप करने से रोका था। जो पुरुष कायव्य के इस चरित्र का नित्य स्मरण करता है उसको जङ्गली प्राणियों से किसी प्रकार का भी भय नहीं रहता। हे राजन्! ऐसे मनुष्य को किसी भी प्राणी से भय नहीं होता है और वह अरण्यों का राजा होता है।

एकसौ छत्तीस का अध्याय

धनागार पूर्ण करना

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर! राजाओं को अपना ख़जाना किस प्रकार भरना चाहिये—इस सम्बन्ध में ब्रह्मा जी की गायीं हुई गाथाएँ, पुरातन वृत्तान्त से विद्वान् इस प्रकार कहते हैं। क्षत्रिय (राजा) को ब्राह्मण के धन और देवोत्तर धन से अपना धनागार न भरना चाहिये। किन्तु जो ब्राह्मण या द्विज कभी कोई यज्ञ यागादि धर्मानुष्ठान न करता हो, उसके धन को डाँकुओं का धन समझ राजा लूट ले। प्रजा और राज्य का ऐश्वर्य क्षत्रिय का ही धन गिना जाता है। अन्य का नहीं। प्रजा का धन सेना का वेतन चुकाने और यज्ञ यागादि करने के लिये उपयोगी माना जाता है। क्योंकि जो दवाइयाँ अखाद्य होती हैं, उन्हें लोग ईंधन की तरह जला कर भक्ष्य पदार्थ राँधते हैं। जो पुरुष धनवान् हो कर भी देवताओं, पितरों और मनुष्यों का हविष्यान्न से पूजन तथा सत्कार नहीं करता, उसका धन निरर्थक है। यह धर्मवेत्ताओं का मत है।

हे राजन्! धार्मिक राजा प्रजा से कर के रूप में जो कुछ धन वसूल करे; वह धन प्रजा के रक्षणार्थ ही व्यय होना चाहिये। ऐसे धन से वह

अपना धनागार भरने की चाहना न करे। जो राजा दुष्टों से छीन शिष्टों को धन देता है, वह राजा समस्त धर्मों का जानने वाला समझा जाता है। जैसे वृक्ष भूमि को विदीर्ण कर क्रमशः निकलते हैं, वैसे ही राजा भी क्रमशः निज शक्त्यनुसार शत्रु के राज्य को अपने अधीन करे। जैसे भिन्न भिन्न जाति की चेंटियाँ अकारण सहसा निकल पड़ती हैं, वैसे ही यज्ञ भी अकारण ही उत्पन्न हो जाता है। जैसे दूध दुहने के समय गौ के शरीर से डाँस व मच्छर उड़ाये जाते और मसल दिये जाते हैं, वैसे ही यज्ञ में विघ्न डालने वाले को मार डाले। इससे पुण्य होता है। जैसे पीसने से मिट्टी बहुत महीन हो जाती है, वैसे ही धर्म का विचार करने से धर्म का अति सूक्ष्म स्वरूप जान लिया जा सकता है।

एक सौ सैंतीस का अध्याय

तीन मत्स्यों की कथा

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! *अनागतविधाता, †प्रत्युत्पन्नमति तो सुखी रहते हैं; किन्तु ‡दीर्घसूत्री नष्ट हो जाते हैं। इस विषय को स्पष्टरीत्या समझने के लिये मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। सुनो। एक कम जल का उथला तालाब था। उसमें बहुत सी मछलियाँ और मत्स्य रहते थे। मत्स्यों में कार्यकुशल तीन मत्स्य थे। वे आपस में बड़े गहरे मित्र थे और तीनों साथ साथ ही घूमा फिरा करते थे। उनमें एक

---

* अनागतविधाता—कार्यकाल आने के पूर्व ही उसकी यथोचित व्यवस्था करने वाला अनागतविधाता कहलाता है।

† प्रत्युत्पन्नमति—ठीक समय पर जिसे बुद्धि उपजे।

‡ दीर्घसूत्री—जो होना है वह होकर ही रहेगा—यह समझ, कुछ न करने वाला।

तो दूरदर्शी था, दूसरा ऐन समय पर कार्याकार्य का विचार करने में कुशल था और तीसरा दीर्घसूत्री था। एक दिन उस तालाब पर बहुत से मछुवे पहुँचे और तालाब का जल निकालने के लिये उसके चारों ओर मैदान में उन्होंने नालियाँ खोद, तालाब का जल निकालना आरम्भ किया। उस तालाब का जल धीरे धीरे कम होते देख, दूरदर्शी मत्स्य ने भावी भय की आशङ्का से अपने दोनों मित्रों से कहा—जान पड़ता है, इस तालाबवासी समस्त जलचारियों पर विपत्ति पड़ने वाली है। अतः जब तक हमारे निकल चलने का मार्ग बंद नहीं किया जाता, उससे पहले ही हमें यह तालाब छोड़ कर किसी दूसरे तालाब को चल देना चाहिये। इसीमें हम सब की भलाई है। क्योंकि विपत्ति आने के पूर्व जो उससे बचने का उत्तम उपाय सोच लेता है, उस पर विपत्ति नहीं पड़ती। यदि तुम लोग उचित समझो तो आओ हम लोग यहाँ से अन्यत्र चले चलें। यह सुन दीर्घसूत्री मत्स्य ने कहा—तुम्हारा कथन तो ठीक है, किन्तु अभी इतनी जल्दी करने की आवश्यकता जान नहीं पड़ती। मेरी धारणा तो ऐसी ही है। फिर भी प्रत्युत्पन्न मत्स्य ने अनागतविधाता मत्स्य से कहा—समय आने पर मैं समय-सूचकता में किसी से पीछे नहीं रहता। इन दोनों मत्स्यों के वचनों को सुन कर, अनागतविधाता मछेवाहों की बनायी नाली में हो कर दूसरे तालाब को चला गया। उसके दोनों साथी उसी तालाब में रहे आये। कुछ समय बाद, उस छोटे तालाब का पानी नालियों में हो कर निकल गया। तब उन मछुवाहों ने उन नालियों के मुहाने बंद कर पानी निकलने का रास्ता रोक दिया और जाल डाल मछलियाँ पकड़ना आरम्भ किया। एक बार अन्य मछलियों के साथ प्रत्युत्पन्नमति मत्स्य और दीर्घसूत्री मत्स्य भी पकड़ गये। जाल से निकाल मछुवाओं ने उन पकड़ी हुई मछलियों को बाँधना शुरू किया। तब प्रत्युत्पन्न तो मृतक होने का बहाना कर, अन्य मछलियों के साथ मिल गया। तब मछुवाहों ने उन मरी हुई मछलियों को ले जा कर, एक दूसरे तालाब पर जल

से धोना शुरू किया। तब प्रत्युत्पन्नमति तो जाल से भाग कर उस तालाब में चला गया, किन्तु मूर्ख और बुद्धिहीन दीर्घसूत्री मत्स्य अचेत हो, मूर्ख की तरह अपनी जान से हाथ धो बैठा। जो मनुष्य दीर्घसूत्र मत्स्य की तरह समय आने पर भी विपत्ति से बचने का उपाय नहीं करता, वह मूर्ख. दीर्घसूत्री मत्स्य की तरह नाश को प्राप्त होता है। जो पुरुष अपने को कार्यकुशल समझ, पहले से अपनी भलाई के लिये प्रयत्न नहीं करता, वह प्रत्युत्पन्नमति मत्स्य की तरह सङ्कट में पड़े बिना नहीं रहता। अतः कहा है कि, अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति सुखी रहते हैं और दीर्घसूत्री मारा जाता है। काष्ठा, कला, मुहूर्त, रात, दिन, लव, मास, पक्ष, छः ऋतुएँ, कल्प, संवत्सर आदि की गणना काल में है। यह काल अदृश्य है। जो मनुष्य देश और काल पर जैसा ध्यान देता है, उसकी कार्यसिद्धि भी तदनुसार ही होती है। धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र में अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति पुरुष ही प्रधान अधिकारी माने गये हैं। ऋषियों का मत है कि, ऐसे ही पुरुष ऐश्वर्यवान् भी होते हैं। जो पुरुष जाँच पड़ताल कर, बड़ी सावधानी से काम करता है, उसके सब काम अच्छी तरह पूरे हो जाते हैं। जो अनुकूल देश और काल को देख काम करता है, वह अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति से भी अधिक शुभ फल पाता है।

एक सौ अड़तीस का अध्याय

शत्रुओं से घिरे हुए राजा की आत्मरक्षा के उपाय

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! विपत्ति पड़ने के पूर्व और विपत्ति के समय विचार करने वाले को आपने सर्वश्रेष्ठ बतलाया है और दीर्घसूत्री को आपने अपना नाश करने वाला बतलाया है। अतः अब आप मुझे यह बतलावें कि, जब किसी राजा को चारों ओर से शत्रु घेर लें, तब

उसे उस विपत्ति से बचने के लिये क्या करना चाहिये ? मुझे यह बात आपसे इसलिये पूँछनी पड़ी है कि, आप धर्मार्थ कुशल हैं और धर्मशास्त्र के एक प्रवीण राजा हैं। जो शत्रु पूर्वकाल में जिस राजा द्वारा सताये गये होते हैं, वे सब मिल कर, समय आने पर उस राजा को नष्ट कर डालने का उद्योग करते हैं। महाबलवान् बड़े बड़े राजा या तो मिल कर या अलग अलग बलहीन एवं साहसहीन राजा का नाश करने को उद्यत हो जाते हैं। ऐसे सङ्कट के समय उस आक्रान्त राजा का क्या कर्त्तव्य होना चाहिये। सङ्कटापन्न राजा अपने शत्रुओं और मित्रों को क्यों कर अपनी रक्षा करनी चाहिये ? जो पहले मित्र रह चुका हो, वह पीछे यदि शत्रु बन जाय, उसके साथ राजा को कैसा वर्त्ताव करना चाहिये, जिससे वह सुखी बना रहे। वह किससे लड़े और किससे सन्धि करे। बलवान् हो कर भी जो अकेला राजा शत्रुओं में जा पड़े तो वह राजा कैसा बर्त्ताव करे ? मेरी समझ में राजाओं के मुख्य कर्त्तव्यों में इसे भी गिनना चाहिये। इसीसे मैं यह विषय आपके मुख से सुनने को उत्सुक हूँ। आपको छोड़ और कोई इस विषय में भली भाँति मुझे कुछ बतला नहीं सकता। सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय आप ही इस विषय को यथार्थरीत्या बतला सकते हैं। अतः आप भलीभाँति सोच विचार कर मुझे इस विषय में अपना मत बतलाइये।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारे अनुरूप और सुखदायी है। इस विषय के ज्ञाता सचमुच हर कोई नहीं हुआ करता। अतः मैं कहता हूँ, तुम ध्यान दे कर सुनो। जिस प्रकार कालान्तर में शत्रु अपना मित्र बन जाता है, उसी प्रकार मित्र भी अपना शत्रु बन जाता है क्योंकि किसी का मत सदा एक सी दशा में नहीं रहता। अतः देश और काल के अनुसार कार्याकार्य का निर्णय करे और फिर या तो शत्रु से लड़ जाय या उस पर विश्वास कर, उससे सन्धि कर ले। चतुरजन अपने हितैपियों के साथ सदा परामर्श करें और जब कभी विपत्ति में फँसे; तब

समयानुसार शत्रु के साथ भी सन्धि कर आत्मरक्षा अवश्य करे। जो मूर्ख जन अपने वैरियों के साथ सदा सन्धि नहीं करता उसका न तो कोई भी कार्य सिद्ध होता है और न उसे कुछ फल ही मिलता है। किन्तु जो मूर्ख जन अपने कार्य की सिद्धि का उपाय विचार कर शत्रुओं के साथ सन्धि कर लेता है और मित्रों का विरोध करता है, उसे बड़ा भारी फल मिलता है। इस विषय में वटवृक्ष की जड़ के पास वाले बिल में रहने वाले एक चूहे का तथा उस वटवृक्ष की शाखा पर रहने वाले एक बिलाव का संवादात्मक एक उपाख्यान है। वह मैं कहता हूँ। सुनो।

किसी वन में एक विशाल वट-वृक्ष था। उस वृक्ष पर विविध प्रकार के पक्षी रहा करते थे। उस बरगद के पेड़ की लंबी डालियाँ चारों ओर दूर तक फैली हुई थीं। अतः वह मेघ-घटा की तरह श्याम-वर्ण का जान पड़ता था। उसकी छाया शीतल थी। वह दर्शनीय थो। वह हिंस्र पशुओं से व्याप्त था। उसी बरगद की जड़ में सौ सूराखों वाला एक बिल बना, दलित नाम का एक बड़ा बुद्धिमान् चूहा रहा करता था और उस बरगद की एक शाखा पर एक बिलाव रहता था; जिसका नाम लोमश था। वह वट-वृक्ष-वासी पक्षियों को मार कर खाया करता था। उसके दिन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत हुआ करते थे। एक दिन एक बहेलिये ने उस वन में जा डेरा डाला। वह नित्य सूर्यास्त होते ही जाल बिछाया करता। उस जाल में ताँत की डोरियाँ बँधीं हुई थीं। उस जाल को फैला, वह बहेलिया अपनी झोपड़ी में लौट आता था। एक दिन बरगद की डाली पर रहने वाला लोमश नामक बिलाव असावधानता-वश उस जाल में फँस गया। अपने सदा के शत्रु बिलाव को जाल में फँसा देख, दलित नामक चूहा अपने बिल से निकल और निर्भय हो घूमने लगा। जब वह मूसा अपने लिये भोजन की खोज में निर्भय हो घूम रहा था; तब उसने माँस के उन टुकड़ों को देखा, जिन्हें बहेलिया जन्तुओं को लुभाने के लिये बखेर गया था। उस माँस को वह चूहा खाने

लगा। अपने शत्रु बिलाव को जाल में फँसा देख, चूहा मन ही मन प्रसन्न हो रहा था, किन्तु वह आने वाली विपत्ति से सर्वथा असावधान था। इतने ही में उसने गर्दन उठा ज्योंही देखा; त्योंही उसे अपना एक और शत्रु न्यौला देख पड़ा। उसके शरीर का रंग तृण-पुष्प की तरह भूरा था और वह भी भूमि में बिल खोद कर, रहा करता था। उसका नाम था हरित। वह बड़ा चपल था और उसके नेत्र लाल थे। वह चूहे की गन्ध पा, बड़ी तेज़ी से उसकी ओर लपका आ रहा था। वह उस चूहे को मार कर खा जाने के लिये मुह खोले आ रहा था और अपने जाबड़े बारंबार जीभ से चाटता जाता था। साथ ही चूहे को उस वृक्ष के एक खोहढ़ में बैठा हुआ तीक्ष्ण तुण्ड चन्द्रक नामक एक रजनीचर उलूक देख पड़ा। वह चूहा अब न्यौले और उस उलूक से घेर लिया गया। अतः वह चूहा अब बहुत घबड़ाया। वह सोचने लगा कि, अब तो मैं चारों ओर से विपत्ति में घिर गया। अब तो मेरा मरणकाल अत्यन्त निकट है। किन्तु निज हितकारी को ऐसे विपत्ति-काल में क्या करना चाहिये? यह विचारते विचारते चारों ओर से विपत्ति में फसे हुए उस चूहे को एक उपाय सूझ पड़ा। उसने सोचा कि, विपत्ति में फसने पर भी उससे छूट कर आत्म-रक्षा करनी चाहिये। अब यदि मैं भागता हूँ तो यह न्यौला दौड़ कर मुझे पकड़ लेगा और मुझे खा जायगा और यदि यहीं बैठा रहता हूँ तो वह उलूक मुझे मार कर खाये जाता है। यदि मैं बिलाव का फंदा काट डालूँ तो यह भी मुझे खा डालेगा। यद्यपि इस समय मैं चारों ओर से विपत्ति में फँस गया हूँ; तथापि मुझे घबड़ाना न चाहिये और जहाँ तक बन पड़े, मुझे आत्म-रक्षा के लिये उद्योग करना चाहिये। क्योंकि जो नीति-शास्त्र विशारद होते हैं; वे बड़े भारी सङ्कट में फँस जाने पर भी घबड़ाते नहीं। अतः इस समय मुझे बिलाव की सहायता लेना उचित जान पड़ता है। निश्चय ही यह मेरा शत्रु है। किन्तु शत्रु होने पर भी यह भी तो इस समय विपत्ति में फँसा है और इसे भी इस समय मेरी सहायता

अपेक्षित है। किन्तु इस समय मुझे तीन शत्रुओं का सामना करना है। अतः मुझे बिलाव से सहायता लेनी चाहिये। अब उसके निकट जा, उसे नीति की बातें सुना कर और अपने को उसका हितू प्रकट कर के, मुझे अपने तीनों शत्रुओं को छकाना ही उचित है। यह बिलाव मेरा घोर शत्रु है; किन्तु यह फँसा इस समय घोर सङ्कट में है। अतः इसके मन को ज़रा टटोलूँ तो। देखूँ यह मेरी सम्मति को अपने लिये हितकर समझता है कि नहीं। इस समय यह सङ्कट में फँसा है। बहुत सम्भव है यह मेरे झाँसे में आ जावे और मुझसे मेल कर ले। नीतिज्ञों का कहना है कि, यदि किसी शक्तिशाली को जीने की कामना हो और यदि कोई शत्रु इस समय उसके निकट हो, तो आत्म-रक्षा के लिये वह अपने उस शत्रु से भी सहायता ले ले। चतुर शत्रु भी भला, किन्तु मूर्ख मित्र भी अच्छा नहीं। इस समय मेरा जीवन इस बिलाव के ऊपर निर्भर है। अतः मैं उसे ऐसा परामर्श दूँगा जिससे उसके प्राण बच जायँ। यदि मेरा कहा इसने सुना तो यह मेरी सङ्गति से पण्डित हो जायगा। सन्धि-विग्रह के सिद्धान्त को जानने वाले उस चूहे ने बिलाव से इस प्रकार कहा—बिलाव! मैं तुझसे मित्र भाव से पूछता हूँ कि, क्या तू अभी जीवित है? मेरी इच्छा तुझे जीवित देखने की है। क्योंकि ऐसा होने से हम दोनों ही की भलाई है। हे सौम्य! तुम डरो मत। तुम सानन्द जीवित रह सकते हो। यदि तुम मुझे मार कर न खाने की प्रतिज्ञा करो तो मैं तुम्हें इस विपत्ति से छुड़ा सकता हूँ। इस समय मुझे एक उपाय भी सूझ गया है। किन्तु है वह ज़रा कष्टसाध्य। यदि इस उपाय में तुम भी सहायक हो जाओ तो तुम और मैं दोनों—निरापद हो जायँगे और दोनों का कल्याण होगा। मैंने तुम्हारी और अपनी रक्षा का एक उपाय सोचा है। देखो वह न्योला और वह उल्लू मेरे प्रति दुष्टभाव ले कर बैठे हुए हैं। मुझे बुरी तरह घूर रहे हैं। जब तक ये दोनों मेरे और तेरे ऊपर आक्रमण नहीं करते, तभी तक हम दोनों का कुशल है। वह पापी उलूक

आँख मटकाता हुआ, वृक्ष की डाली पर बैठ, शब्द करता हुआ, मुझे घूर रहा है। मैं इससे बहुत डरता हूँ। सात पग साथ साथ चलने से सत्पुरुषों में मैत्री हो जाया करती है। तुम बड़े बुद्धिमान हो। अतः तुम मेरे मित्र हो। तुम और मैं दोनों एक जगह साथ साथ रहे हैं। अतः मैं पड़ोसी के धर्म का निर्वाह करूँगा। अब तुम निडर हो जाओ। ज़रा भी न डरो। तुम मेरी सहायता बिना इस जाल को काट कर बाहिर नहीं निकल सकते। यदि तुम मुझे न मारने का वचन दो, तो मैं तुम्हारे फंदे काट दूँ। तुम वृक्ष के ऊपर और मैं वृक्ष के नीचे रहता हूँ। इस प्रकार हम चिरकालीन पड़ोसी हैं। यह बात तुम्हें विदित ही है कि धीर पुरुष उन लोगों की प्रशंसा नहीं करते जो किसी पर विश्वास नहीं करता और जिस पर किसी का विश्वास नहीं होता। ऐसा जन सदा उद्विग्न रहा करता है। जो लोग आपस में एक दूसरे पर विश्वास करते हैं वे सुखी रहते हैं। अतः मैं चाहता हूँ कि, तुमसे प्रीति करूँ और मेरा तुम्हारा नित्य समागम हुआ करे। किन्तु जो समय पर चूक जाता है पण्डित जन उसकी प्रशंसा नहीं करते। तुममें और मुझमें सन्धि करने का यह बड़ा अच्छा अवसर है। मैं चाहता हूँ कि तुम जीवित रहो और मुझे आशा है कि इसी तरह तुम भी यही चाहते होंगे कि मैं भी जीवित रहूँ। मनुष्य काष्ठ (काठ की नाव) के सहारे बड़ी बड़ी नदियों के पार हो जाया करते हैं। उस काठ को मनुष्य तारते हैं और काठ उन मनुष्यों को पार लगा देता है। इस समय हम दोनों का भी ऐसा ही संयोग हुआ है। आशा है कालान्तर में यह और भी अधिक दृढ़ हो जायगा। तुम मुझे पार लगाना और मैं तुम्हें पार लगाऊँगा। इस प्रकार उस बुद्धिमान् चूहे ने उस बिलाव को दोनों का हित समझाया। उस चूहे का वैरी बिलाव भी बड़ा बुद्धिमान् और वाग्मिवर था। उसने अपने शत्रु के इन हेतुयुक्त सुन्दर भाषण को सुन, उसकी प्रशंसा की और शान्तिपूर्ण वचन कह चूहे के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। पैने दाँतों वाले पन्ना (वैदूर्य) मणि जैसे चम-

चमांते नेत्रों वाले लोमश विलाव ने चूहे की ओर देख कर ये मधुर वचन कहे—

हे शान्ति गुणी! तुम मुझे जीवित देखना चाहते हो, अतः मैं इसके लिये तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो। यदि तुम्हें मेरे छुटकारे का उपाय विदित हो तो सङ्कोच त्याग कर, उसे कार्यरूप में परिणत करो। सोचा विचारी का काम नहीं है। सचमुच इस समय मैं बड़े भारी सङ्कट में फँस गया हूँ और देखता हूँ तू मुझसे भी अधिक घोर विपत्ति में फँसा है। जब हम दोनों ही सङ्कट में पड़ गये हैं तब हम दोनों में अविलम्ब सन्धि स्थापित हो जानी चाहिये। हे विभो! मैं सङ्कट से छूट कर, तेरी भलाई के लिये जो कुछ कर सकता हूँ, करूँगा और तेरे इस उपकार को कभी न भूलूँगा। मैं तेरे अधीन हूँ और तेरा भक्त हूँ। मैं तेरी सेवा वैसे ही करूँगा जैसे शिष्य अपने गुरु की करता है। मैं तेरे आज्ञानुसार चलूँगा। मैं तेरे शरण हूँ।

इस प्रकार जब लोमश विलाव ने दलित मूसे से कहा, तब अर्थवेत्ता मूसे ने अपने वश में पड़े विलाव से अर्थयुक्त ये वाक्य कहे—मेरे उदार वचनों को सुन तुम जैसे व्यक्तियों को आश्चर्य न होना चाहिये। मैंने कल्याण के लिये जो उपाय विचारा है उसे तुम सुनो। मैं न्योले से बहुत डर गया हूँ। अतः मैं तुम्हारे उदर के नीचे दुबक जाना चाहता हूँ। देखना तुम मुझे मार मत डालना। प्रत्युत मेरी रक्षा करना। मैं तो तुम्हारी रक्षा करूँगा ही। तुम उस उलूक से मेरी रक्षा करना। वह नीच उलूक मुझे खाजाने के लिये मेरी ओर बुरी तरह टकटकी बाँधे देख रहा है। हे मित्र! मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि, मैं तेरे फँदों को काट डालूँगा।

मूसे के युक्तियुक्त और सम्बद्ध वचनों को सुन, लोमश ने हर्षित हो ऊपर को देखा और चूहे का सम्मान किया। तदन्तर वह मूसे के साथ सन्धि कर बड़ा प्रसन्न हुआ। फिर उस धैर्यवान् विलाव ने हड़बड़ी से कहा—तू झटपट मेरे पास चला आ। तेरा भला हो। तू तो प्राणोपम मेरा

मित्र है। तेरी कृपा से जहाँ तक बनेगा मैं अपने जीवन की रक्षा करूँगा। इस दशा में भी मुझसे जो कुछ हो सकता है—मैं करने को तैयार हूँ। आज्ञा दे, हे मित्र! हम दोनों में सन्धि होनी चाहिये। मैं जब इस सङ्कट से छुटकारा पा जाऊँगा; तब मैं इच्छानुसार और हित के लिये जो कुछ कहोगे, वही करूँगा।

मूसा बोला—हे सौम्य! मैं भी इस विपत्ति से उबर कर तेरी प्रीति सम्पादन करूँगा और प्रीति पूर्वकतेरा सत्कार करूँगा। कोई व्यक्ति यदि किसी के साथ उपकार करता है; तो उसका वह उपकार प्रथम उपकार करने वाले के उपकार के तुल्य नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्युपकार तो उपकार के बदले किया जाता है; किन्तु उपकार तो निष्कारण ही किया जाता है।

भीष्म ने कहा—मूसा इस प्रकार अपना अभिप्राय प्रकट कर के और विलाव के मन में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास जमा कर, उसकी गोद में जा बैठा और वहाँ निश्चिन्त हो आराम करने लगा। विलाव ने भी उस मूसे को सर्वथा निडर कर दिया। वह विलाव की गोदी में वैसे ही निशङ्क हो जा बैठा, जैसे पुत्र, माता पिता की गोद में जा बैठता है। चूहे को विलाव की गोद में बैठा देख, न्योला और उलूक की आशा पर पानी फिर गया और मूसे और विलाव में ऐसी घनिष्टता देख, हरित न्योला और चन्द्रक उलूक को बड़ा विस्मय हुआ। वे यहाँ तक डरे कि, उन्हें तन्द्रा सी आ गयी। वे दोनों बड़े बुद्धिमान् और बलवान् थे, तो भी उनमें यह शक्ति न थी कि, वे मूसे और विलाव की मैत्री को भङ्ग करते। उस चूहे और विलाव में स्वकार्यसाधन के लिये मैत्री हुई थी अतः न्योला और उलूक हताश हो अपने अपने स्थानों को चले गये।

हे राजन्! पलित मूसा देश और काल को जानने वाला था। वह विलाव की गोद में दुबका हुआ बैठा था और बहेलिये के आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ, विलाव के फँदों को धीरे धीरे काट रहा था। बंधन

से ऊबे हुए विलाव ने जब मूसे को बंधन काटने के काम में ढील करते देखा, तब उसने शीघ्रता करने के लिये मूसे से इस प्रकार कहा—हे सौम्य ! तुम मेरे फंदे जल्दी जल्दी क्यों नहीं काटते ? तुम्हारा काम निकल गया, क्या इसीलिये तुम मेरा तिरस्कार करते हो ! हे शत्रुनाशक ! तुम मेरे पाशोच्छेदन में शीघ्रता करो। क्योंकि बहेलिये के आने का समय हो गया।

जब इस प्रकार हड़बड़ा कर विलाव ने मूसे से कहा; तब उस चूहे ने उस मूर्ख विलाव से अपने लाभ तथा हित के लिये यह कहा—हे शान्तगुण वाले विलाव ! तुम चुपचाप बैठे रहो। हड़बड़ाओ मत ! भयभीत मत हो। मैं कालज्ञ हूँ। अतः मैं कालातिक्रम न होने दूँगा। कुसमय में जो काम आरम्भ किया जाता है वह कार्य फलदायी नहीं होता; किन्तु समय से किया हुआ कार्य ही बड़ा फलप्रद होता है। यदि मैं तुम्हें ठीक समय के पहले मुक्त कर दूँ तो मेरे लिये भय का कारण उपस्थित हो जायगा। अतः हे मित्र ! तुम समय की प्रतीक्षा करो। हड़बड़ाने की आवश्यकता ही क्या है। मैं सशस्त्र बहेलिये को ज्योंही आते देखूँगा; त्योंही मैं इस जाल को काट डालूँगा। उस समय तुम इस जाल से छूट, इस वृक्ष पर चढ़ जाओगे। उस समय तुम्हें अपने प्राण बचाने के अतिरिक्त और कुछ भी न सूझ पड़ेगा। हे लोमश ! तुम भय और त्रास के कारण वृक्ष पर चढ़ जाओगे और मैं अपने बिल में घुस जाऊँगा।

जब मूसे ने इस प्रकार अपने स्वार्थ की बात कही, तब वह जीवना-भिलाषी बिलाव मूसे का अभिप्राय समझ गया और उतावली कर, मूसे की प्रशंसा करता हुआ, पाशच्छेदन कार्य में ढील करने वाले मूसे से बोला—सत्पुरुष मित्र के कार्य में इस प्रकार ढिलाई नहीं करते। मैंने जैसे तुम्हारा भय एक दम दूर कर दिया, वैसे ही तुम्हें भी मेरे हित के लिये काम करना चाहिये। अतः हम दोनों का जिससे हित हो, तुम

वही काम करो। यदि कहीं तुम पूर्व शत्रुता को याद कर ढिलाई कर रहे हो, हे पापी ! तो तुम अपनी मृत्यु अपने सामने ही समझ लेना। यदि मुझसे कभी अनजान में तुम्हारा कोई अपकार बन पड़ा हो, तो उस पर ध्यान मत देना। उसके लिये मैं तुमसे क्षमाप्रार्थी हूँ। तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ।

चूहा बड़ा नीतिज्ञ और बुद्धिमान् था। अतः उसने बिलाव की बातों का उत्तर देते हुए कहा—हे बिलाव ! मैंने तुम्हारी स्वार्थपूर्ण बात सुनी। अब मैं अपने स्वार्थ की बात तुम्हें सुनाता हूँ। सुनो ! जिस मैत्री में भय की आशङ्का है या जो मैत्री बिना भय के निभाई नहीं जा सकती, उस मैत्री से मुझे उतना ही सावधान रहना आवश्यक है, जैसे मदारी खेलते हुए सर्प के विषदन्त से सावधान रहता है। जो व्यक्ति बलवान् के साथ मैत्री कर, अपनी रक्षा सावधानता पूर्वक नहीं करता, उसे वह सन्धि वैसे ही नहीं फलती; जैसे कुपथ्य भोजन रोगी को गुणकारी नहीं होता। इस संसार में न तो कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का हितैषी। स्वार्थ ही दो शत्रुओं में मैत्री कराता और स्वार्थ ही दो मित्रों में विरोध उत्पन्न करता है। जैसे पालतू हाथियों से जंगली हाथी पकड़े जाते हैं, वैसे ही एक कार्य की सहायता से दूसरा कार्य सधता है। जब मतलब निकल जाता है, तब मतलबी आदमी उस मनुष्य की ओर मुड़ कर भी नहीं देखता जिससे उसका मतलब हल हुआ है। अतः किसी का मतलब पूरा न साधे, उसे अधूरा ही रखे। मैं उस समय तुम्हें इस बन्धन से मुक्त करूँगा, जिस समय चाण्डाल निकट आ जायगा। जिससे उस समय तुम्हें सिवाय भागने के और कुछ न सूझ पड़े। यहाँ तक कि, मुझे पकड़ने का तुम्हें अवसर ही न मिलेगा। देख लो ! मैंने इस जाल के कितने बंधन काट डाले हैं अब एक ही बंधन मुझे और काटना है। सो इसे मैं बात की बात में काट दूँगा तुम शान्त हो कर बैठे रहो।

इस प्रकार वे दोनों आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, रात्रि

व्यतीत हो गयी और भोर हो गया। विलाव मन ही मन बड़ा भयभीत हुआ। क्योंकि पारिघ नामक वहेलिया उसे अपनी ओर आता हुआ देख पड़ा। उस बहेलिये के नितंब मोटे, कान खूँटी की तरह खड़े, चेहरा भरा हुआ, शरीर मैला और शक्ल भयङ्कर थी। उसका शरीर बड़ा रूखा था और कुत्तों का एक झुंड उसके साथ था। यमदूत के समान उस बहेलिये को देख, विलाव बहुत भयभीत हो गया। उसने डरते डरते दलित नामक मूसे से कहा—बतलाओ अब तुम क्या करोगे ?

जब मूसे ने विलाव को इस प्रकार भयभीत देखा; तब उसने विलाव का शेष बन्धन भी काट दिया। बन्धन से छूटते ही लोमश बिलाव उस बरगद की एक शाखा पर चढ़ गया और घोर शत्रु के पंजे से छूट, चूहा अपने बिल में घुस गया। इतने में बहेलिया भी जाल के निकट पहुँचा और जाल को खाली देखा तथा निराश हो जहाँ से आया था, वहीं लौट गया। तब वृक्ष की शाखा पर आसीन बिलाव ने बिल में बैठे हुए चूहे से कहा, अरे तुम मुझसे वार्तालाप किये बिना ही बिल में क्यों जा बैठे ? मैं (कृतघ्न नहीं) कृतज्ञ हूँ। मैंने तो तुम्हारी रक्षा की है। इस पर भी तुम्हें मेरे ऊपर सन्देह बना हुआ है। तुमने मेरे ऊपर विश्वास रख कर, मेरी जान बचायी है। अब जब मैत्री का सुख उपभोग करने का समय आया है; तब तुम क्यों मुझसे दूर रहते हो ? जो व्यक्ति मैत्री कर के मित्र जैसा वर्ताव नहीं करता, उस दुर्बुद्धि को महा दुःखदायक आपत्ति झेलनी पड़ती है और आगे फिर उसे मित्र नहीं मिलते। मित्र ! तुमने अपनी शक्ति के अनुसार मेरी भलाई की है। अतः मुझे उचित है कि मैं तुम जैसे एक सज्जन मित्र के साथ आनन्द मनाऊँ। मेरे जितने मित्र, सम्बन्धी और बन्धुबान्धव हैं, वे सब तुम्हारी वैसे ही पूजा करेंगे जैसे शिष्य अपने प्यारे गुरु की सेवा करता है। मैं स्वयं तुम्हारी और तुम्हारे मित्रों तथा बन्धु बान्धवों की सेवा शुश्रूषा करूँगा। वह कौन अभागा कृतज्ञ पुरुष होगा जो अपने साथ उपकार करने वाले का सत्कार न करे। फिर तुम तो

मेरे शरीर के और घर के स्वामी हो। अतः आज से तुम मेरे धन-रक्षक बनो। हे बुद्धिमान् मूसा! तुम मेरे मंत्री बन, मुझे वैसे ही सदुपदेश दो; जैसे पुत्र को पिता सदुपदेश देता है। मैं तो अपने जीवन की शपथ खाकर कहता हूँ कि, तुम मुझसे मत डरो। तुम बुद्धि में साक्षात् शुक्राचार्य के समान हो। यद्यपि मैं तुम्हारी अपेक्षा बहुत बलवान् हूँ; तथापि तुमने निज बुद्धिबल से मुझे जीवनदान दिया है।

जब बिलाव ने इस प्रकार मूसे से कहा—तब उस नीतिज्ञ मूसे ने इस प्रकार हितपूर्ण एवं कोमल शब्दों में कहना आरम्भ किया। हे लोमश! तेरी सब बातें मैंने सुनी। मैं स्वेच्छानुसार जो कहता हूँ, उसे तुम सुनो। मित्रकामी को प्रथम उस व्यक्ति की भलीभाँति परीक्षा ले लेनी चाहिये, जिसके साथ वह मित्रता करना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को शत्रु की भी जाँच पड़ताल करनी चाहिये। शत्रु के रूप में रहने वाले मित्र और मित्र बन कर रहने वाले शत्रु होते हैं। साथ ही सन्धि करने के पीछे वे काम और क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं—यह बात समझ में नहीं आती। इस संसार में कोई किसी का न तो मित्र है और न कोई किसी का शत्रु; किन्तु समयानुसार शत्रुओं और मित्रों की उत्पत्ति हुआ करती है। एक मनुष्य जबतक यह समझता रहता है कि, अमुक व्यक्ति जब तक जीवित है तब तक वह मेरा हित करेगा और अमुक पुरुष के मरने के बाद वह मेरा हित नहीं करेगा, जब तक ऐसी समझ बनी रहती है तब तक वह उसे मित्र जैसा मानता है और जब उन दोनों का कोई स्वार्थ आपस में टकराता है तब वे एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। जैसे मैत्री कभी स्थिर नहीं रहती; वैसे शत्रुता भी कभी स्थिर नहीं रहती, किन्तु कारणवश मैत्री और शत्रुता हुआ करती है। कालान्तर में कभी मित्र तो शत्रु और शत्रु मित्र बन जाते हैं। अतः सब से बली तो स्वार्थ है। जो पुरुष विना समझे बूझे किसी को मित्र न मान कर, उस पर अन्यथा विश्वास करे, उसका जीवन सङ्कट में पड़ा रहता है। इसी प्रकार जो विन

समझे बूझे शत्रु पर सदा अविश्वास किया करता है उसका जीवन सङ्कटग्रस्त समझना चाहिये। जो व्यक्ति कार्य की युक्ति को समझे बूझे विना ही शत्रु या मित्र के साथ वैर और प्रीति कर बैठता है उसकी बुद्धि को चञ्चल मानना पड़ेगा।

जो अविश्वासी है उसका विश्वास न करे, जो विश्वस्त हो उसका भी अति विश्वास न करना चाहिये। अन्ध विश्वास बड़ी बुरी वस्तु है। यह वृक्ष को समूल उखाड़ कर गिरा देता है। माता, पिता, पुत्र, मामा, भांजे, सम्बन्धी और बान्धव सब ही स्वार्थ भरे अर्थ के पीछे एक दूसरे के अधीन रहते हैं। यदि प्यारा पुत्र पतित हो जाता है, तो माता पिता को उसे त्यागना पड़ता है। प्यारी से प्यारी वस्तु क्यों न हो, उससे हर आदमी निज शरीर की रक्षा करने को तैयार रहता है। इस स्वार्थ की ओर भी तो तुम दृष्टिपात करो। हे बुद्धिमान्! सङ्कट से छुटकारा पाने के बाद तुम अपने वैरी को सुखी बनाने का उपाय खो जो। यह तो असम्भव बात है। तुमसे वृक्ष के नीचे मेरी ही खोज में उतरे थे। किन्तु बहेलिये का बिछाया जाल दैववशात् तुम्हें न देख पड़ा और तुम उसमें फँस गये। चपल व्यक्ति को आत्मरक्षा का भी ध्यान नहीं रहता। दूसरों की रक्षा तो वह करेहीगा क्या? चञ्चल चित्त मनुष्य निश्चय ही अपने समस्त कार्य नष्ट कर डालता है। मुझे तेरे इस कथन में कुछ भी सार नहीं जान पड़ता किन्तु तू मुझे बड़ा प्यारा जान पड़ता है। मैं अपने इस कथन की पुष्टि में कारण बतलाता हूँ। सुन। एक व्यक्ति किसी कारणवश प्रीतिपात्र बन जाता है और कारण-वश ही वह उसका शत्रु भी बन जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् स्वार्थ के अधीन है। निःस्वार्थ तो कोई भी किसी से प्रेम नहीं करता। स्वार्थवश ही दो सहोदर भ्राताओं और पति पत्नी में प्रेम होता है। मुझे तो किसी की प्रीति निःस्वार्थ नहीं देख पड़ती। स्वार्थवश ही सगे भाइयों और पति पत्नी में झगड़े उठ खड़े होते हैं। पीछे सहज

प्रीति के कारण वे झगड़े मिट जाते हैं। किन्तु अन्यजन क्रुद्ध होने के बाद प्रसन्न नहीं होते। एक व्यक्ति दान देने वाले से प्रीति करता है। दूसरा प्रीतिपूर्ण वचन कहने वाले से प्रीति करता है। तीसरा किसी की धर्मनीति देख कर उस पर प्रीति करने लगता है। अतः लोग जो आपस में प्रीतिसूत्र में आवद्ध होते हैं, इसके कारण भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। मेरी तुम्हारी प्रीति भी प्रयोजन-विशेष-वश हुई थी। किन्तु वह प्रयोजन तो अब नष्ट हो चुका और उसके साथ ही वह प्रीति भी समाप्त हो चुकी। अब जो तुम मेरे ऊपर प्रीति करते हो सो इसीलिये न कि तुम मुझे अपना शिकार बनाओ। नहीं तो इसे छोड़ और प्रीति करने का प्रयोजन ही क्या हो सकता है। बुद्धिमान् जन स्वार्थ को समझता है और इतर लोग उस बुद्धिमान् का अनुकरण करते हैं। अतः तुम स्वार्थ को जानने वाले लोगों के सामने इस प्रकार की बातचीत मत किया करो। तुम बलवान् हो और मुझसे प्रीति करने की बात चला रहे हैं। किन्तु प्रीत करने का यह उपयुक्त समय नहीं है। मैं सन्धि और विग्रह करने के अवसर को पहचानता हूँ। अतः मैं अपना प्रयोजन त्याग नहीं सकता। सन्धि और विग्रह के अवसर क्षण क्षण में वैसे ही बदला करते हैं जैसे मेघ। देखो न तुम आज कुछ देर पूर्व मेरे शत्रु थे और कुछ ही देर बाद तुम मेरे मित्र हो गये। अतः तुम अपने चापल्य की ओर तो ज़रा देखो। जब तक स्वार्थ था, तब तक हम दोनों में मैत्री थी। किन्तु वह स्वार्थ सिद्ध होते ही वह मैत्री भी समाप्त हो गयी। तुम तो मेरे सहज शत्रु हो; किन्तु उस समय मेरी सहायता बिना तुम्हारा बचना कठिन था। इसीसे तुमने मुझसे मैत्री कर ली थी। कार्य पूरा होते ही हम लोग पुनः शत्रु बन गये हैं। मैं नीति भली भाँति जानता हूँ। मेरे फँसाने का जो जाल फैलाया गया है, उसमें मैं कैसे फँस सकता हूँ। मैं तुम्हारे पराक्रम द्वारा विपत्ति से मुक्त हो गया हूँ और तुम भी मेरे पराक्रम से सङ्कट से छुटकारा पा चुके हो। अतः दोनों के उपकारों का बदला

पूरा हो चुका। अतः अब आगे हम दोनों में मैत्री नहीं बनी रह सकती। हे बिलाव! आज तुम तो कृतार्थ हुए और मेरा भी काम बना। अब तो मुझे भक्षण कर जाने के काम को छोड़ तुम्हारा मुझसे अन्य कोई प्रयोजन है ही नहीं! क्योंकि मैं तुम्हारा भक्ष्य हूँ और तुम मेरे भक्षक हो। क्योंकि मैं निर्बल हूँ और तुम बलवान् हो। हम दोनों असमान् बल वालों में सन्धि नहीं हो सकती। मैं तो तुम्हारी बुद्धि की सराहना करता हूँ। तुम तो भक्ष्य की खोज में जा कर स्वयं फँस गये थे और बन्धन से छुट अब तुम्हें भूख सता रही है। तुम तो नीति का सहारा ले, झटपट मुझे खा जाना चाहते हो। क्योंकि मुझे मालूम है यह तुम्हारे खाने का समय है। अतः तुम भूखे हो। तुम मुझ अपनी खाजी को फुसला कर, खाना चाहते हो इसासे तो तुम अपने पुत्र स्त्री सहित मुझसे सन्धि कर मेरी सेवा करना चाहते हो। किन्तु मैं तुम्हारी बात मानने को तैयार नहीं हूँ। मान लिया कि, तुम दोस्ती का हक़ अदा भी करो; किन्तु तुम्हारे निकट बैठे हुए तुम्हारा पुत्र और तुम्हारी स्त्री सहर्ष मुझे न खा डालेंगे, इससे भी मैं तुम्हारे साथ मैत्री करना नहीं चाहता। मेरी तुम्हारी मैत्री का जो प्रयोजन था, वह अब नहीं रहा। यदि तुम्हें मेरे किये अपने प्रति उपकार का विचार है, तो तुम मेरी हितकामना करते हुए शान्त भाव से बैठे रहो। जिसमें तिल भर भी बुद्धि होती है, वह अपने शत्रु, दुष्टाकृति, दुःखी, बुभुक्षित और भक्ष्य खोजने वाले के निकट कभी नहीं जाता। तेरा भला हो, मैं अब यहाँ भी नहीं रहूँगा। क्योंकि मुझे तुमसे बहुत भय लगता है। कमज़ोर को बलवान् के निकट कभी न रहना चाहिये। हे लोमश! मैं तेरे साथ मिल कर नहीं रह सकता। तुम्हें मित्रता उस समय दिखलानी चाहिये, जब मैं गुप्त रीति से अथवा निर्भय हो घूमता होऊँ। बस मेरे उपकार का तुम्हारे लिये यही प्रत्युपकार है। अपने से अधिक बलवान् और शक्तिमान के निकट रहने वाले की कभी प्रशंसा नहीं होती। इस

समय भय के कारण तुम शान्त हो, तो भी मैं बलवान् शत्रु से सदा डरता हूँ।

यदि तुम्हें अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना अभीष्ट नहीं है तो बतला मैं तुम्हारा क्या कार्य करूँ? तुम जो चाहोगे, वही मैं तुम्हें दूँगा, क्योंकि आत्मरक्षा के लिये समस्त मनुष्यों को, सन्तति, राज्य, रत्न और धनादि समस्त वस्तुएँ त्यागनी पड़ती हैं। यहाँ तक कि सर्वस्व गँवा कर भी आत्मरक्षा करनी चाहिये। यदि अपने ऊपर विपत्ति आती हो तो ऐश्वर्य, धन और रत्न दे डाले। सुना है कि, यदि प्राण बचे रहें तो ये वस्तुएँ तो फिर भी मिल जा सकती हैं। किन्तु धन और रत्नों की तरह आत्मा का दान नहीं सुना गया। स्त्री और धन दे कर भी आत्म-रक्षा करनी चाहिये। जो मनुष्य आत्मरक्षा करने में सदा उद्यत रहता है, और खूब समझ बूझ कर काम में हाथ डालता है, उस पुरुष को अपनी भूलों से उत्पन्न विपत्तियों में फस जाना नहीं पड़ता है। जो दुर्बल व्यक्ति बलवान शत्रु को पहचानता है उसकी सत्यनिर्णयात्मिका शास्त्र-बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। इस प्रकार उस मूसे ने बिलाव को अच्छी फटकार बतलायी।

बिलाव, चूहे की फटकार सुन लज्जित हुआ और कहने लगा—मैं सचमुच शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मैं मित्रद्रोही बनना गर्हित कर्म मानता हूँ। यह भी मैं जानता हूँ कि तुम मेरे हितैषी हो और बुद्धिमान् हो। किन्तु अर्थशास्त्र के मतानुसार तुम कहते हो कि मेरा तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं रहा। किन्तु हे महानुभाव! मुझे तुम ऐसा मत समझो। मैं दूसरी तरह का हूँ। तुमने मेरी जान बचा ली है और मेरे प्रति प्रीति प्रदर्शित की है। मैं धर्मवेत्ता तथा कृतज्ञ हूँ। मैं मित्रों पर वात्सल्य रखता हूँ। फिर विशेषतया मैं तो तुम्हारा भक्त हूँ। अतः तुम्हें मेरे साथ मैत्री करनी ही उचित है।

यदि तुम कहो तो मैं बन्धुबान्धवों सहित अपने प्राण भी दे सकता

हूँ। मुझ जैसे मनस्वियों का बड़े बड़े विद्वान् भी विश्वास करते हैं। अतः हे धर्मतत्वज्ञ मूसे ! तुमको मेरे ऊपर सन्देह न करना चाहिये।

जब इस प्रकार बिलाव ने चूहे की स्तुति की तब गम्भीर स्वभाव वाला चूहा क्षण भर बाद बिलाव से कहने लगा—तुम उत्तम हो। मैंने सहर्ष तुम्हारी बात सुन ली। किन्तु तुम्हारे ऊपर विश्वास करने को मेरा जी नहीं चाहता। मेरी प्रशंसा करने से अथवा धन का ढेर देने से तुम मुझे अपने ऊपर विश्वास करने के लिये विवश नहीं कर सकते। हे मित्र ! बुद्धिमान् जन अकारण शत्रु के ऊपर विश्वास नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध की दो गाथाएँ विश्वामित्र जी की गायीं हुईं प्रसिद्ध हैं। उन्हें तुम सुन लो। यदि दो बैरियों पर समान विपत्ति पड़े तो निर्बल को बली के साथ सन्धि कर के, युक्तिपूर्वक सावधानी के साथ व्यवहार करना चाहिये। जब दोनों की विपत्ति टल जाय तब निर्बल को बली के ऊपर विश्वास न करना चाहिये। क्योंकि जिस तरह अविश्वस्त का विश्वास न करे, वैसे ही विश्वस्त का भी अन्ध विश्वास न करे। सदैव दूसरों को विश्वस्त बनावे; किन्तु स्वयं शत्रुओं का विश्वास कदापि न करे। अपने प्राण की रक्षा सब प्रकार से करनी चाहिये। जीवित पुरुष को धन सम्पत्ति मिल ही जाती है। नीति शास्त्र का सारभूत और परम उत्कृष्ट सिद्धान्त है—विश्वास किसी का भी न करना चाहिये। अतः ऐसे अविश्वास में भी लोगों का बड़ा भारी लाभ है। यदि दुर्बल मनुष्य भी किसी पर विश्वास न करे; तो उसका शत्रु उसका नाश नहीं कर सकता और जो बली होने पर भी शत्रुओं का विश्वास करता है। उसे एक दुर्बल शत्रु भी मार डाल सकता है। हे बिलाव ! मुझे उचित है कि मैं तुम जैसों से सदा आत्मरक्षा करता रहूँ। इसी प्रकार तुमको भी उसी पापी जाति के बहेलिये से सदा अपनी रक्षा करनी उचित है। बहेलिये का नाम सुनते ही बिलाव भयभीत सा हो गया और वृक्ष की डाली से कूद तुरन्त वहाँ से बड़ी तेज़ी के साथ भाग

गया। साथ ही बुद्धिमान् नीतिमान् पलित नामक मूसा अपनी बुद्धिमानी का परिचय दे दूसरे बिल में चला गया।

भीष्म ने कहा— इस प्रकार पलित नामक चूहा यद्यपि निर्बल था, अकेला था; तथापि उसने कई एक अपने महा बलवान् बैरियों को नीचा दिखलाया। बुद्धिमान और चतुरों को आपत्तिकाल में समर्थ और बलवान् शत्रुओं के साथ मेल जोल कर लेना चाहिये। क्योंकि चूहे और बिलाव का उदाहरण बतलाता है कि एक दूसरे का आश्रय ले कर, लोग विपत्ति से बच सकते हैं। हे राजन्! आपद्धर्म के प्रसङ्ग में मैंने तुम्हें विस्तृत शास्त्रकार्य का वर्णन सुनाया। अब वही बात मैं संक्षिप्त रूप से कहता हूँ। उसे भी तुम सुन लो। यद्यपि यह ठीक है कि समय आ पड़ने पर परस्पर बैर रखने वाले शत्रु आपस में सन्धि कर लेते हैं, तथापि साथ ही यह भी अमिट है कि उनके मनों में एक दूसरे को ठगने की इच्छा बनी रहती है। ऐसी परिस्थिति में जो बुद्धिमान् होता है, वह बुद्धिपुरस्सर, दूसरे को ठग लेता है। मूर्ख जन के प्रमाद से लाभ उठा कर चतुर जन, अवसर पा कर उसे ठग लेते हैं। यदि कोई पुरुष भयभीत भी हो गया हो, तो उसे भी निर्भय पुरुष की तरह बर्त्ताव करना चाहिये और विश्वास न कर के भी शत्रु को ऐसा जताना चाहिये, मानों उस पर पूर्ण विश्वास है। जो पुरुष इस प्रकार सदा सावधान रहता है, उसका विपत्ति कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती। यदि वह कभी सङ्कट में फँस भी जाता है तो भी उसका नाश नहीं होता। समय देख कर, शत्रु के साथ सन्धि कर ले और समय देख मित्र के साथ भी लड़ जाना चाहिये।

हे राजन्! सन्धि का मर्म जानने वाले पुरुष सदैव यही उपदेश दिया करते हैं। अतः हे राजन्! यह सब जान कर और नीति शास्त्र के तत्त्व को ध्यान में रख कर, राजा को सावधान रहना चाहिये और समस्त इन्द्रियों को सावधान रखना चाहिये। भय उपस्थित न भी हुआ हो; तब भी भय का प्रतिकार कर लेना चाहिये और भयभीत होने पर भी भय-

भीत होना कभी प्रकट न करना चाहिये। चतुर राजा को उचित है कि भय उपस्थित होने के पूर्व ही वह भयभीत की तरह शत्रु के निकट जा, उससे सन्धि कर ले। जो मनुष्य भय से सावधान रहता है उसे भय से छूट जाने का उपाय अपने आप सूझ जाता है। जो मनुष्य भय उपस्थित होने से प्रथम ही भय से सावधान रहता है, उस पुरुष के सामने भय का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर भी, भय उसका कुछ भी नहीं कर सकता। किन्तु जो पुरुष भय से रहित होता है उसके सामने जब कभी कोई महा भय उपस्थित होता है तब वह निर्भय पुरुष भी घबड़ा उठता है और उसे कोई रास्ता निकलने का नहीं सूझ पड़ता।

किसी को भी कभी ऐसी सम्मति न देनी चाहिये— भय की कुछ भी परवाह न करनी चाहिये। अपनी निर्बलताओं को समझने की शक्ति रखने वाले पुरुष के ऊपर यदि विपत्ति पड़े तो वह अन्य समझदार लोगों के निकट जा उनसे सलाह करे और विपद्ग्रस्त होने पर भी निर्भय पुरुष की तरह वर्त्ताव करे। बड़ा भारी काम करने का यदि कोई अवसर आवे तो भी मिथ्या आचरण न करे। यह बात, हे युधिष्ठिर! तुम उपर्युक्त उदाहरण (चूहा-बिलाव का) से समझ गये होगे। हे राजन्! इस पर विचार कर तुम अपने स्नेहियों और मित्रों के साथ वर्त्ताव करना और इस दृष्टान्त का मर्म समझ अनुभव प्राप्त करना। साथ ही शत्रु और मित्र के अन्तर को भी सदा समझते रहना। सन्धि और विग्रह के सिद्धान्त को भलीभाँति समझ कर, विपत्ति से छुटकारा पाने का उद्योग करना। मामूली विपत्ति पड़ने पर, बलवान् शत्रु से सन्धि कर और उसके साथ रह कर, सोच समझ कर वर्त्ताव करना। जब काम निकल जाय तब शत्रु पर कभी विश्वास न करना। यह राजनीति धर्म अर्थ और काम— त्रिवर्ग के अनुकूल है। हे पाण्डुनन्दन! तुम इस नीति पर चल कर, अपना अभ्युदय करो और प्रजा जनों का भलीभाँति पालन करो। ब्राह्मणों के साथ सौहार्द्र रखना। उनके परामर्शानुसार चलना। क्योंकि इस

लोक और परलोक उभय लोकों के लिये ब्राह्मण हित करने वाले हैं। वे धर्म को तथा किये गये उपकार को मानने वाले हैं। उनका मान सम्मान करने से वे कल्याण करते हैं। अतः तुम सदा उनका सम्मान करते रहना। ब्राह्मणों का पूजन करने ही से तुम्हें राज्य की प्राप्ति होगी, तुम्हारा परम कल्याण होगा, यश मिलेगा, कीर्ति प्राप्ति होगी, न्याय तथा क्रम के अनुसार तुम्हारे कुल की वृद्धि होगी। बिलाव और चूहे की सन्धि और उनके विग्रह-द्योतक एवं बुद्धिवर्द्धक इस सुभाषित का मर्म राजा सदा स्मरण रखे और शत्रुमण्डली के साथ रहे।

एक सौ उनतालीस का अध्याय

शत्रु का भरोसा ही क्या?

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! आपने इस राजनीति के उपदेश में मुझे यह बतलाया कि, राजा किसी पर कभी विश्वास न करे, किन्तु यदि राजा किसी पर विश्वास न करे तो उसका काम कैसे चल सकता है? हे राजन्! आपने कहा कि, राजा जब किसी का विश्वास कर बैठता है तब उस पर भारी सङ्कट पड़ता है! किन्तु किसी पर भी विश्वास न करने वाला राजा, शत्रुओं को कैसे जीत सकता है। हे पितामह! आपने मुझे विश्वास न करने की जो आज्ञा दी उसे सुन, मैं उलझन में पड़ गया हूँ अतः आप मेरा सन्देह दूर कर दें।

भीष्म ने कहा—ब्रह्मदत्त नामक एक राजा हो गया है। उसके घर में पूजनी नामक एक पालतू चिड़िया थी। उसके साथ ब्रह्मदत्त की जो बातचीत हुई थी वह मैं कहता हूँ। सुनो।

काम्पिल्य नामक नगर में ब्रह्मदत्त नामक एक राजा था। उसके अन्तः-पुर में पूजनी नाम्नी चिड़िया बहुत दिन हुए तब रहती थी। वह चिड़िया

जीवजीवक पक्षी की तरह सब की बातें समझती थी। यद्यपि उसका जन्म पक्षी की योनि में हुआ था, तथापि वह सब की बोली समझती थी। सर्वज्ञ थी और सब का सार जानती थी। उसके एक महा तेजस्वी बच्चा उत्पन्न हुआ। संयोगवश उसी समय ब्रह्मदत्त की रानी ने भी एक बालक जना। राज-भवन में रहने वाली एवं आकाशचारिणी पूजनी चिड़िया बड़ी कृतज्ञ थी। वह नित्य उड़ कर समुद्र तट पर जाती और वहाँ से अपने बच्चे और राजा के पुत्र के पोषणार्थ दो फल लाया करती थी। उनमें से एक फल अपने बच्चे को और एक फल राजकुमार को खिलाती थी। वे फल अमृतोपम स्वादिष्ट थे। उनके खाने से बल और तेज बढ़ता था। अतः उन फलों को खाने से राजकुमार हृष्टपुष्ट हो गया। एक दिन उस राजकुमार को गोद में उसकी दाई इधर उधर घुमा रही थी। इतने ही में राजकुमार ने पूजनी का बच्चा देखा। बाल-स्वभाव-वश राजकुमार दाई की गोद से उतर पूजनी के बच्चे के निकट जा पहुँचा और उसके साथ खेलने लगा। जब राजकुमार के हाथ से पूजनी का बच्चा उड़ने को तत्पर हुआ, तब राजकुमार ने एकान्त में उस बच्चे को दबोच कर मार डाला और वह अपनी दाई के पास जा बैठा। उस समय पूजनी वहाँ थी नहीं। वह फल लाने बाहिर गयी हुई थी। लौटने पर उसने देखा कि, उसका बच्चा राजकुमार द्वारा मारा गया है और भूमि पर मरा पड़ा है। वह यह देख रो पड़ी और बिलाप कर रोने लगी। क्षत्रिय के साथ रहना; उसके साथ मैत्री करना या उसके साथ आनन्द मनाना ठीक नहीं। जब उनका कोई प्रयोजन होता है, तब तो वे व्यर्थ की बातें बना लुभाते हैं, किन्तु ज्योंही उनका काम निकल गया, त्योंही वे फिर त्याग देते हैं। अतः क्षत्रियों का विश्वास ही क्या! वे सब के लिये अनिष्टकारक होते हैं। वे नुकसान पहुँचा कर व्यर्थ की बातें बना समझाने का प्रयत्न किया करते हैं। इस कृतघ्नी, क्रूर और महा विश्वास-घाती वैरी से इसका उचित बदला लूँगी। एक ही दिन जन्मे हुए, साथ

ही साथ बड़े हुए, साथ साथ खाने पीने वाले शरणागत को राजकुमार ने मार डाला। अतः इस पर तीन अभियोग लगे हैं।

यह कह पूजनी ने अपने दोनों पंजों से राजकुमार की दोनों आंखें फोड़ डालीं। फिर शान्त हो अपने आप ही यह कहने लगी। जानबूझ कर किये हुए पाप का फल कर्त्ता को तुरन्त मिल जाता है। किये हुए शुभाशुभ कर्म नष्ट नहीं होते; किन्तु कर्ता को वे फल देते हैं। कोई मनुष्य यदि कोई पापकर्म करे और उसे उसका फल न मिले तो हे राजन्! उसके पापकर्म का फल उसके पुत्रों को मिलता है। यदि पुत्रों को न मिला तो उसके पौत्रों को मिलता है। यदि पौत्रों को भी न मिला, तो उस पापी की पुत्री के पुत्रों को मिलता है।

पूजनी द्वारा राजकुमार के नेत्रों को नष्ट हुआ देख, ब्रह्मदत्त ने समझा कि, राजकुमार ने जो बुरा काम किया था, उसकी सज़ा पूजनी ने उसे दे दी। अतः उसने पूजनी से कहा।

ब्रह्मदत्त बोला—हे पूजनी! हमने तेरे साथ जैसा सलूक किया, वैसा ही सलूक तूने भी हम लोगों के साथ किया। दोनों का सलूक समान है। अतः अब तू यहीं रह—यहाँ से अन्यत्र मत जाना।

पूजनी बोली——जिसने एक बार भी किसी का अनिष्ट किया हो वह यदि उसके घर में रहे जिसका कि उसने अनिष्ट किया है, तो पण्डित लोग उस पुरुष की प्रशंसा नहीं करते। अतः यही उचित है कि, ऐसे स्थान पर न रहे। यदि शत्रु मधुर वचन कह कर, समझावे तो भी उस पर विश्वास न करे। क्योंकि ऐसा मूढ़ जन शीघ्र नाश को प्राप्त होता है। क्योंकि वैर शीघ्र नष्ट नहीं होता। वैर का बदला एक पुश्त में नहीं तो दो दो पुश्तों तक लिया जाता है और वैरी के पुत्र पौत्र तक मार डाले जाते हैं। पुत्र पौत्रों का नाश होने से स्वर्ग नहीं मिलता। जो वैर करते हैं उनका विश्वास न करने से ही सुख मिल सकता है। विश्वासघाती का तो कभी किसी को विश्वास न करना चाहिये।

अविश्वासी का तो विश्वास करे ही नहीं—किन्तु विश्वासी का भी बहुत अधिक विश्वास न करे। ऐसे विश्वास करने से जो विपत्ति पड़ती है उससे सर्वनाश हो जाता है। दूसरे का भले ही अपने ऊपर विश्वास जमा ले, किन्तु स्वयं किसी पर विश्वास न करे। परिवार में पिता माता ही को लोग परमस्नेही मानते हैं। (वीर्यहरण करने के कारण) पत्नी जरा (बुढ़ापा) कही जाती है। पुत्र बीज रूप है ही। भाई (भागीदार) होने के कारण शत्रु गिना ही जाता है। मित्र *क्लिन्नपाणि अर्थात् मतलब के यार कहलाते ही हैं। सुख दुःख आफत विपत्ति का साथी एक आत्मा ही है। जिनमें आपस में खटक गयी हो उनमें आपस में पुनः मेल होना ठीक नहीं। मैं जिस प्रयोजन के लिये तुम्हारे यहाँ रहती थी वह प्रयोजन नष्ट हो गया। जिसने अपने साथ अपकार किया हो, यदि वही पीछे से धन दे या सम्मान करे, तो उस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। यदि पापी निर्बल हो और दूसरा पुरुष बलवान् हो, तो वह निर्बल को भयग्रस्त करता है। जहाँ सम्मान होता है; वहाँ पीछे अपमान भी हो सकता हैं। ऐसे स्थान को शत्रु का स्थान समझ समझदार पुरुष को त्याग देना चाहिये। मैं यहाँ तुम्हारे भवन में चिरकाल से सम्मान पूर्वक रहती रही हूँ। किन्तु अब आप का और मेरा वैर बँध गया है। अतः निश्चय ही मैं इस स्थान को त्याग दूँगी।

ब्रह्मदत्त ने कहा—जो पुरुष अपकार का बदला अपकार से देता है, वह अपराधी नहीं माना जाता है किन्तु वह तो ऐसा कर के ऋण से उऋण हो जाता है। अतः हे पूजनी! तू पूर्ववत् यहाँ रह।

पूजनी बोली—हे राजन्! परस्पर अपकार-कारियों में मैत्री रह ही नहीं सकती। कोई किसी के अपकार को नहीं भूलता।

---

*जब तक हाथ चिकना रहे अर्थात् जब तक कुछ मिलता रहे, तब तक ही मैत्री रखने वाला—क्लिन्नपाणि कहलाता है।

ब्रह्मदत्त ने कहा—पारस्परिक अपकार करने वालों में पुनः मैत्री हो जाती है। क्योंकि जब अपकार का बदला अपकार से ले लिया गया, तब वैर नहीं रह जाता। वैर शान्त हो जाता है और ऐसे अपकारी को पाप भी नहीं लगता।

पूजनी बोली—वैर का बदला लेने से वैर दूर हो गया—यह समझना ठीक नहीं। जिसका अपकार किया हो, उसके द्वारा धैर्य बँधा शान्त किये जाने को विश्वास का यथेष्ट साधन न समझे। क्योंकि ऐसा विश्वासी जन बन्धन में पड़ जाता है। अतः उससे दूर रहने ही में भलाई है जो तीक्ष्ण शस्त्रों से अथवा बलपूर्वक सहसा अपने अधीन नहीं किया जा सकता; वह भी सहज उपायों से वैसे ही पकड़ लिया जाता है; जैसे पालतू हाथी जंगली हाथी को पकड़ लेते हैं।

ब्रह्मदत्त ने कहा—साथ साथ रहने वाले दो जनों में से यदि एक ने दूसरे को प्राणान्त पीड़ित किया हो, तो वे आपस में वैसे ही विश्वास करते हैं, जैसे कुत्ते का माँस खाने वाले चाण्डाल का उसका साथी कुत्ता विश्वास करता है। दो वैरी यदि एकसाथ रहते हैं तो उनकी शत्रुता मिट जाती है। जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता वैसे ही उनका वैरभाव भी रह नहीं सकता।

पूजनी बोली—पण्डितों का कहना है कि, वैर की उत्पत्ति के पाँच कारण होते हैं—अर्थात् १ स्त्री, २ भूमि, ३ कटुवचन, ४ स्वभावज वैर ५ पारस्परिक अनिष्ट। इनमें यदि अपकारी जन उदारमना और दानशील हो तो उसको छिप कर या प्रत्यक्ष रूप से मार डालना कभी उचित नहीं। फिर क्षत्रिय को तो ऐसा कभी करना ही न चाहिये। उसे तो वैर के कारण और दोष की गुरुता पर शान्तिपूर्वक विचार करना चाहिये। ऐसा करने से शत्रुता मिट जाती है। यदि कभी किसी अपने हितैषी के साथ वैर हो जाय, तो उसका भी विश्वास न करे। जैसे काठ में आग छिपी रहती है, वैसे ही सुहृद में वैरभाव छिपा हुआ रहता है।

हे राजन् ! समुद्र के भीतर रहने वाला वड़वानल कभी शान्त नहीं होता । अतः क्रोध रूपी अग्नि भी, धन से, समझाने बुझाने से अथवा उपदेश देने से शान्त नहीं होता । अनिष्ट करने से उत्पन्न वैराग्नि जब तक दो में से एक को जला कर भस्म नहीं कर डालता, तब तक वह शान्त नहीं होता । जिसने पहिले कुछ किया हो और पीछे यदि धन, मान से सत्कार करे, तो भी उसका विश्वास न करे । क्योंकि अपराध रूपी कर्म सम्बन्ध करने में निर्बलता से दोनों के हृदयों को प्रेरित किया चाहता है । मैंने आज तक आपका कुछ भी अनिष्ट नहीं किया और मैंने भी आपके साथ कोई शत्रुता नहीं की थी । इसीसे मैं आपके घर में रहती थी । किन्तु अब मुझे तुम्हारा विश्वास नहीं रहा ।

ब्रह्मदत्त ने कहा—काल काम करता है और अनेक क्रियाएँ भी वह करता है । कालवश हो कर ही लोग काम में लग जाते हैं । इसमें कौन किस का अनिष्ट करता है । मरना जीना तो सदा लगा ही रहता है । ये तो कालाधीन हैं । मृत्यु का प्रधान निमित्त कारण, तो काल ही है । कोई कोई साथ साथ और कोई कोई अकेले मरा करते हैं । कोई चिरकाल तक नहीं मरते । ये सब काल की लीला है । जिस प्रकार आग लकड़ियों को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार काल समस्त प्राणियों को जला कर भस्म कर डालता है । हे पूजनी ! तेरे शोक का निमित्त मैं नहीं हूँ और न तू मेरे ही शोक का कारण है; किन्तु इसका कारण काल ही है । काल ही लोगों को सुख दुःख दिया करता है । अतः ऐसी दशा होने पर तुझे कोई नहीं मारेगा, तू मेरे ऊपर विश्वास रख और यहीं रह; तूने जो अपकार किया है उसे मैं क्षमा करता हूँ और मैंने जो अपकार किया है उसे तू क्षमा कर ।

पूजनी बोली—राजन् ! यदि तुम्हारे कथनानुसार काल ही सब का कारण होता, तो इस संसार में कभी कोई किसी के साथ शत्रुता ही क्यों करता ? किन्तु मैं जानना चाहती हूँ कि, यदि कोई किसी को मार डालता है तो उस मारे गये पुरुष के भाई बन्द मार डालने वाले से क्यों

बदला लेते हैं ? पूर्वकाल में देवासुर संग्राम होने की आवश्यकता ही क्या थी ? यदि लोगों के सुख दुःख एवं जन्म-मरण का कारण काल ही है, तो फिर रोगियों के लिये वैद्यों की आवश्यकता ही क्या है ? यदि काल ही रोगों को मिटा देता तो फिर दवाई की क्या आवश्यकता थी ? यदि आपके मतानुसार काल ही कर्त्ता धर्त्ता है, तो लोग शोकार्त्त हो क्यों रोया पीटा करते हैं ? यदि काल ही सब का कारण होता तो धार्मिक-जनों को पुण्य फल क्यों कर प्राप्त होता। तेरे राजकुमार ने मेरे बच्चे की जान ली और मैंने तेरे राजकुमार की आँखें फोड़ डाली हैं। यह ठीक है, किन्तु अब तुझे क्यों मुझे मार डालना उचित है यह मैं बतलाती हूँ। पुत्र के शोक से पीड़ित हो, मैंने तेरे राजकुमार के नेत्र फोड़े हैं। अतः तुझे मेरा मार डालना क्यों उचित है सो मैं कहती हूँ सुन।

मनुष्य खाने को अथवा अपना मनोरञ्जन करने के लिये ही चिड़िया पाला करते हैं। इसको छोड़ तीसरा कारण तो है नहीं। अतः मनुष्यों के हाथ से मारे जाने अथवा बन्धन में पड़ने के भय से पक्षी उड़ जाने ही में अपना मङ्गल समझते हैं। यह वेदवेत्ताओं का मत है कि, मृत्यु और बन्धन—दोनों ही महादुःखदायी हैं। सब को अपने अपने प्राण प्रिय होते हैं। सब को अपने पुत्र प्रिय होते हैं—सब दुःख से खिन्न होते है और सभी सुखी रहना चाहते हैं। दुःख के अनेक कारण होते हैं। वृद्धावस्था, धननाश, शत्रु-समागम, प्रिय-वियोग, मरण, बन्धन और स्त्री-सम्भोग, दुःख के कारण हैं। फिर पुत्रशोक प्राणीमात्र को समान दुःखदायक है। कितने ही मूढ़ जनों का कथन है कि परदुःख से कोई दुखी नहीं होता है। इसी विचार के लोग बड़ों बड़ों के सामने इस प्रकार आग्रह करते हैं। किन्तु जो दुःख से घबड़ाता है और शोकान्वित होता है, उसको भला यह कहने का साहस क्यो कर हो सकता है ? जो पुरुष भुक्तभोगी होता है वह अपने और दूसरे के दुःख को समान समझता है। हे राजन् ! तुमने मेरा और मैंने तुम्हारा जो अपराध किया,

है वह सैकड़ों वर्षों तक भुलाये जाने पर भी भुलाया नहीं जा सकता। अतः अब हम लोगों में परस्पर मेल नहीं हो सकता। तुम्हें जब जब अपने पुत्र के नेत्रों के फूटने का स्मरण आवेगा तब तब तुम्हारा दुःख हरा हो जाया करेगा। दुःख दे कर तुम प्रीति करना चाहते हो। किन्तु जिस प्रकार मट्टी का फूटा घड़ा फिर नहीं जुड़ सकता, वैसे ही दुःख देने वाले के साथ प्रीति नहीं हो सकती। अर्थशास्त्रज्ञों ने निर्णय किया है। कि विश्वास करने से दुःख उत्पन्न होता है, पूर्वकाल में दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने प्रह्लाद से इसी विषय में दो उपदेशवाक्य कहे थे। वे ये हैं— जो लोग शत्रु की झूठी सच्ची बातों पर विश्वास करते हैं, वे वैसे ही मारे जाते हैं, जैसे शत्रु के दिखलाये हुए शहद को लाने के लिये जाने पर लोग तृणों से ढके हुए गर्त में गिर कर मरते हैं। जिस घराने से दुःखदायी शत्रुता हो जाती है, उस घराने में जब तक एक भी पुरुष जीवित रहता है, तब तक वह शत्रुता बनी रहती है। क्योंकि अन्य लोग उस बैर का स्मरण दिलाया करते हैं। अतः बैर शीघ्र शान्त नहीं होता।

हे राजन्! राजा प्रथम तो शत्रु को समझा बुझा शान्त कर देते हैं, किन्तु पीछे अवसर हाथ लगते ही वे शत्रु के वैसे ही खण्ड खण्ड कर डालते हैं जैसे जल भरे घड़े को भूमि पर पटकने से उसके टुकड़े हो जाते हैं। राजा ने यदि किसी के साथ बैर-भाव कर लिया हो; तो राजा को उसका विश्वास न करना चाहिये। अपकारी का विश्वास करने से दुःख भोगना पड़ता है।

राजा ब्रह्मदत्त ने कहा—अविश्वास करने से मनुष्य धन नहीं पा सकता। इस जगत में उसके द्वारा कोई काम भी पूरा नहीं हो सकता। सदा सशङ्कित रहने वाला पुरुष मृतक के समान है।

पूजनी ने कहा—दोनों पैरों में बिवाँई जिस मनुष्य के होती हैं, वह बड़ी सावधानी से दौड़ता है। इस पर भी वह चोट खा ही जाता है।

जिसके नेत्रों में पीड़ा होती हो उसकी आँखों में हवा लगने से पीड़ा बढ़ जाती है। जो पुरुष अपने बल को जाने बिना मूर्खतावश भयङ्कर मार्ग में चला जाता है उसके जीवन की समाप्ति उसी मार्ग में हो जाती है। जो किसान वर्षाकाल आये बिना ही खेत जोत डालता है उसका सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है और उसे अनाज नहीं मिलता। जो कड़वे, कसैले अथवा मधुर किन्तु गुणकारी भोज्य पदार्थों का सेवन करता है उसे वह भोजन अमृतरूप हो कर लगता है। किन्तु जो पुरुष गुणकारी भोजन को त्याग कर और परिणाम को न विचार कर, कुपथ्य सेवन करता है उस पुरुष के जीवन को समाप्ति ही समझ लेनी चाहिये। दैव और पुरुषार्थ अन्योन्याश्रयी हैं। महापुरुष बड़े बढ़िया काम करते हैं। किन्तु पुरुषार्थहीन जन दैव का सहारा लेते हैं। अतः मनुष्य को उचित है कि वह वही काम करे, जिससे उसकी भलाई हो। ऐसा काम चाहे सुखसाध्य हो अथवा कष्टसाध्य। आलसी पुरुष को सदा धन का कष्ट रहता है। अतः सब विचारों को त्याग कर, पुरुष को वही पुरुषार्थ करना चाहिये। धनादि की कुछ भी परवाह न कर वही काम करे, जिसमें अपना हित होता हुआ जाने। विद्या, शूरता, चातुर्य, बल और धैर्य-पुरुष के ये पाँच स्वाभाविक मित्र हैं। जो पुरुष विद्वान् होते हैं, वे इन पाँचों का सेवन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। भवन, सोने चाँदी के आभूषण, इष्ट, मित्र-ये मध्यम श्रेणी के मित्र गिने जाते हैं। ये मनुष्य को सर्वत्र प्राप्त हो सकते हैं। बुद्धिमान् जन सर्वत्र सुखी रहते हैं। उनका तेज सर्वत्र फैलता है। वे किसी से भयभीत नहीं होते। यदि उन्हें कोई डराता है तो वे उससे डरते नहीं। यदि बुद्धिमान् जन थोड़ा सा भी धन पा जाता है तो वह अपनी बुद्धि से उसे बढ़ा लेता है। बुद्धिमान् जन प्रत्येक काम बड़ी बुद्धिमानी से करता तथा अपने को अपने वश में रख, सर्वत्र सम्मान प्राप्त करता है। किन्तु अल्प बुद्धि वाला पुरुष घर की मोह ममता में फँस घर छोड़ बाहर नहीं जाता। ऐसे कूपमण्डूक पुरुष

की स्त्री उसका माँस नोंच नोंच कर वैसे ही खाती है, जैसे कनखजूरी के बच्चे उसे खा जाते हैं। अल्पमति जन घर के अनुराग में पड़, सदा दुःखी रहता है। वह मन ही मन कहता है कि यह मेरा घर है, यह मेरा देश है, ये मेरे मित्र हैं। हाय! मैं इनको कैसे छोड़ूँ। यदि उसकी जन्मभूमि में अथवा देश में अकाल पड़ जाय, अथवा वहाँ कोई संक्रामक रोग फैल जाय, तो उसे उचित् है कि वह उस देश को त्याग कर निरापद् देश में चला जाय। किन्तु यदि अपने देश में सन्मान सहित रहना बन सके, तो ही वहाँ रहे। हे राजन्! मेरी तो यहाँ रहने की अब हिम्मत नहीं है। क्योंकि मैंने तुम्हारे पुत्र का अनिष्ट किया है। प्रत्येक पुरुष को उचित है कि दुष्ट स्त्री, कपूत पुत्र, दुष्ट राजा, दुष्ट मित्र, दुष्ट नातेदार और दुष्ट देश को दूर ही से त्याग दे। क्योंकि कुपुत्र का विश्वास नहीं किया जा सकता; दुष्ट स्त्री में रति सुख नहीं प्राप्त होता। दुष्ट राजा के राज्य में प्रजा सुखी नहीं रह सकती। दुष्ट देश में रहने से आजीविका का प्रबन्ध नहीं हो सकता, दुष्ट मित्र के साथ मित्रता बहुत दिनों तक नहीं रह सकती। दुष्ट जनों के साथ नातेदारी करने से जब उनकी स्वार्थसिद्धि नहीं होती तब ऐसे जन द्वेष करने लगते हैं। स्त्री वही है जो मधुर वचन बोले। पुत्र वही है जिससे निवृत्ति सुख मिले। मित्र वही है जो विश्वासपात्र हो, और देश वही है जहाँ अपना काम चलता हो। राजा वही है जिसके राज्य में अत्याचार न होते हों और जो दीनों का पालन करता हो और जिसके राज्य में शिष्टजनों को किसी प्रकार का भय न हो।

जिस देश का राजा धर्मात्मा होता है उसके राज्य में स्त्री, देश, मित्र, पुत्र, सम्बन्धी और बान्धव—सब का निर्वाह हो जाता है। किन्तु जहाँ का राजा दुष्ट और अधर्मी होता है, वहाँ की प्रजा का अत्याचार से सर्वनाश हो जाता है। धर्म, अर्थ और काम का मूल राजा ही है। अतः राजा को सदा बड़ी सावधानी के साथ, प्रजा का पालन करना चाहिये। कर के रूप में राजा को प्रजा की आमदनी का जो छठवाँ भाग मिले उस

का वह सद्व्यय करे। किन्तु जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह राजा नहीं—चोर है। जो राजा प्रथम अभयदान दे पीछे लालचवश अपने वचन के विपरीत व्यवहार करता है, उसे अपनी प्रजा के पाप का भागी बनना पड़ता है और उस पापी को नरक में गिरना पड़ता है। जो राजा अभयदान दे कर, तदनुसार वर्त्ताव करता है और न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है, वह राजा सब प्रजा के लिये सुखप्रद है। प्रजापति भगवान मनु ने कहा है कि—राजा में महापुरुषों के सात गुण रहते हैं। वह अपनी प्रजा का माता, पिता, गुरु और रक्षक है। वह कुवेर और यम है। राजा जब दयायुक्त व्यवहार करता है, तब वह प्रजा का पिता है। जो जन ऐसे राजा के प्रति उद्दण्डता पूर्ण व्यवहार करता है, वह मरने पर पक्षी की योनि में उत्पन्न होता है। जब राजा गरीब प्रजा की सम्हाल रखता है तब वह माता रूप हो जाता है। वह प्रजा के साथ हिलामिला रह कर, उसके दुःख का साथी बन जाता है। जब राजा दुष्टों को सन्तप्त कर, उन्हें भस्म कर डालता है, तब वह अग्नि रूप माना जाता है। जब राजा दुष्टों को दण्ड देता है, तब वह यम रूप माना जाता है। जब राजा अपने कृपापात्रों को धन दे कर उनकी मनोभिलाषाओं को पूरा करता है, तब वह कुवेर रूप माना जाता है। जो राजा, अपने गुण से नगरवासी और देशवासी प्रजाजनों को सन्तुष्ट रखता है, उस राजा का राज्य नष्ट नहीं होता। क्योंकि वह तो न्यायपूर्वक शासन करता है। जो राजा देशवासियों तथा नगरवासियों को प्रसन्न करना जानता है, वह इस लोक और परलोक—उभय लोकों में सुखी रहता है। जिस राजा की प्रजा करभार से पीड़ित रहती है और अनर्थों से सदा दुःखी रहा करती है, उस राजा का पद पद पर अपमान होता है। किन्तु जिस राजा की प्रजा सरोवर में उगे कमलों की तरह दिन दिन बढ़ती है, उस राजा के राज्य में समस्त सुख विद्यमान रहते हैं। उसे मरने के बाद स्वर्ग प्राप्त होता है।

हे राजन्! बलवान् के साथ कभी विरोध न करे। जिस राजा का

विरुद्ध अपनी अपेक्षा अधिक बलवान राजा के साथ हो जाता है उसे राज्यसुख प्राप्त नहीं हो सकता।

भीष्म जी कहने लगे—पूजनी चिड़िया, राजा ब्रह्मदत्त से इस प्रकार कह जिधर उसका मन चाहा उधर उड़ कर चली गयी। राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी में यही वार्तालाप हुआ था। यह मैंने तुम्हें सुना ही दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?

एक सौ चालीस का अध्याय

धर्म-विप्लव के समय राजा का कर्त्तव्य

राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! सत्ययुग का अन्त होने पर, धर्म एवं सज्जनों का नाश हो जाने पर और डाकुओं का उपद्रव बढ़ने पर; राजा कैसा वर्त्ताव करे?

भीष्म ने कहा—हे राजन्! अब मैं तुझे ऐसे सङ्कट काल की राज-नीति सुनाता हूँ। सुन! ऐसे समय में राजा को निठुर बन व्यवहार करना पड़ता है। इस प्रसङ्ग में मैं तुझे राजा शत्रुञ्जय और भरद्वाज का संवा-दात्मक एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ। सौवीर देश में शत्रुञ्जय नामक एक राजा हो गया है। एक दिन वह भरद्वाज मुनि के आश्रम में गया। वहाँ उसने अपनी शङ्काओं का समाधान कराने के अभिप्राय से मुनिवर से इस प्रकार जिज्ञासा की—हे ब्रह्मन्! अप्राप्त वस्तु को किस प्रकार प्राप्त करे और प्राप्त वस्तु की वृद्धि कैसे करे? सेंती हुई वस्तु को किस प्रकार काम में लावे। सब विषयों के सिद्धान्तों को जानने वाले भर-द्वाज ने राजा से कहा—राजा राजदण्ड को सदा चेताये रहे। अपना बल नित्य प्रदर्शित करता रहे (अर्थात् सेना को इधर उधर घुमाता रहे) अपने को दुर्गुणों से दूर रखे। परछिद्रों को देखने के लिये सदा अपने नेत्र खुले

रखे। शत्रु के छिद्रों को पा कर उनसे लाभ उठावे। जिस राजा का दण्ड सदा चेता करता है, उस राजा से उसकी प्रजा सदा सभीत रहती है। अतः उसके धर्मभ्रष्ट होने की शङ्का नहीं रहती। तत्व-वेत्ता पण्डितों ने दण्ड की इसीलिये प्रशंसा की है और साम, दान, दण्ड और भेद में दण्ड को ही प्रधान माना है। जब शरणागत का शरणस्थान नष्ट कर डाला जाता है, तब समस्त शरणागत नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि जब किसी विशाल वृक्ष की जड़ कट जाती है, तब उसकी शाखाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। चतुर राजा को उचित है कि शत्रुरूपी वृक्ष की जड़ पहले ही काट डाले। तदनन्तर उसके सहायकों और भाईबन्दों को जड़ से नष्ट कर डाले। जब आपत्ति-काल आ जाय, तब राजा को ज़रा सी भी सुस्ती या ढिलाई न करनी चाहिये। उसे तुरन्त लोगों से सलाह लेनी चाहिये और पराक्रम दिखा, युद्ध करना चाहिये। यदि युद्ध में हारना पड़े और भाग जाना आवश्यक हो, तो बड़ी सावधानी से भागे। वचन से विनम्रता दिखलावे, किन्तु हृदय छुरी की धार की तरह पैना रखे। काम और क्रोध को अपने वश में रख कर, सदा मधुर और कोमल वचन कहे। यदि मौका देखे, तो वैरी के साथ सुलह कर ले। किन्तु शत्रु पर विश्वास न करे। कार्य सिद्ध होने पर दूरदर्शी राजा तुरन्त अपने उस नवीन सङ्गी के निकट से खिसक जाय। वैरी को भी मित्र की तरह शान्ति वचन कह कर समझावे और अपनी मुट्ठी में कर ले। किन्तु ससर्प भवन की तरह उससे रहे सदा सावधान। अपनी बुद्धि से जिसको दबा देना हो, उसे आगे पीछे के दृष्टान्त सुना, शान्त करे। जो मन्दबुद्धि हो उसे आगे होने वाले बड़े बड़े लाभों का लोभ दे, शान्त करे और चतुर राजा को सेवा द्वारा शान्त करे। ऐश्वर्यकामी पुरुष को उचित है कि, वह हाथ जोड़ कर, शपथ खा कर, शान्तिमय वचन कह कर और मस्तक झुका कर, शत्रु से वार्तालाप करे। यदि शत्रु किसी पूर्वकालीन घटना को स्मरण कर, नेत्रों में आँसू भर लावे, तो उसके आँसुओं को अपने हाथ से पोंछ दे। जब तक

अपना दिन न बहुरे, तब तक आवश्यकता समझे तो शत्रु को अपने कन्धों पर चढ़ा कर फिरे; किन्तु अच्छे दिन आने पर. शत्रु को नीचे वैसे ही पटक दे जैसे जल से भरा मट्टी का घड़ा पटका जाता है। आबनूस के कुंदे की तरह यदि पुरुष क्षण भर को चमक उठे तो अच्छा; किन्तु तुषानल की तरह विना दहके चिरकाल तक धुँधुआना अच्छा नहीं। अनेक प्रयोजनों वाले कृतघ्न जन के साथ अर्थ सम्बन्ध न करे। क्योंकि कृतघ्नी जन तो तभी तक साथ देता है, जब तक उसका मतलब नहीं निकलता जभी उसका काम निकल गया तभी वह समुहा कर अपमान करने लगता है। अतः शत्रु के समस्त प्रयोजन कभी पूरे न करे; किन्तु कुछ अवश्य ही अधूरे रखे। राजा अपनी भलाई के लिये पोषणीय वर्ग का, कोंपल की तरह दूसरे से पोषण करावे। भूमि को खोदने वाले शूकर की तरह शत्रु को जड़ खोद डाले। जैसे सुमेरु पर्वत को उल्लङ्घन करना असम्भव है, वैसे ही राजा भी पर्वत की तरह ऐसा दृढ़ बने कि उसे कोई अतिक्रम न कर सके। उजाड़ गृह में जिस प्रकार सम्पत्ति का अभाव दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही राजा भी सम्पत्ति के लिये प्रयत्न करे। जैसे नट अनेक रूप धारण करता है. वैसे ही राजा भी प्रसन्न और स्निग्ध रूप धारण कर सदा अपनी प्रजा का वैसे ही उदय चाहे, जैसे मित्र की भलाई चाहने वाला दूसरा मित्र उसकी भलाई चाहता है। राजा सदा शत्रु के राज्य को आग से भस्म करवाता रहे और समय समय पर उसके घर जा कर, उसका अनिष्ट होने पर भी, कुशल पूछा करे। जो राजा आलसी, नपुन्सक और अभिमानी होता है, जो लोकापवाद से डरने वाला और समय की प्रतीक्षा देखने वाला होता है, उसको धन कभी नहीं मिलता। ऐसा बर्ताव रखे कि शत्रु अपने छिद्र को न जानने पावे। किन्तु अपने आप शत्रु के समस्त छिद्रों को जान ले। राजा अपने छिद्रों को वैसे ही छिपावे जैसे कछुवा अपने अंगों को छिपाता है। राजा राजकार्यों को बकवत् एकाग्र-चित्त कर विचारे। सिंह की तरह शत्रु को

पराक्रम दिखावे, भेड़िये की तरह शत्रु के ऊपर एक साथ टूट पड़े और जैसे बाण शत्रु के शरीर में घुस जाता है; वैसे ही राजा शत्रु-राज्य में एकदम घुस जाय। मदिरापान, जुआ, स्त्री-मैथुन, आखेट, सङ्गीत का उचित रीति से सेवन करे—इनमें अधिक आसक्त हो जाने से बुरा परिणाम निकलता है। राजा का धनुष बाँस का होना चाहिये। वह मृग की तरह सदा चौकन्ना रह कर सोवे। अन्ध बनने का अवसर आवे तो अन्धा बन जाय और बहरा बनने का अवसर हो, तो बहरा बन जाय। चतुर राजा देश और काल को देख भाल कर, पराक्रम प्रदर्शित करे। क्योंकि जो ऐसा नहीं करता, उसका पराक्रम व्यर्थ जाता है। कोई भी काम हो, उसे करने के पहले राजा देश का, काल का, अपने बलाबल का विचार कर, तब उसकी सिद्धि में लगे। जो राजा अपने वश में आये हुए शत्रु को दण्ड दे कर उसे शिक्षा नहीं देता, वह वैसे ही मारा जाता है; जैसे खच्चरी गर्भिणी होने से मरती है। राजा अपने को प्रफुल्लित वृक्ष सा दिखलावे, किन्तु जैसे वृक्ष अपना फल बहुत ऊँचाई पर रखता है और इसलिये हरेक उसे नहीं पा सकता, वैसे ही राजा भी हरेक को अपने मुँह न लगावे। जो राजा ऐसा व्यवहार करता है, वही विजयी होता है। यदि शत्रु कुछ माँगे, तो राजा उसे देने की आशा दिला दे; किन्तु दे नहीं हीला हवाला करता रहे। न देने का निमित्त दिखलावे और निमित्त में भी हेतु बतला दे। जब तक भय उपस्थित न हो तब तक, भय से डरता रहे, और जब भय सामने आ जाय, तब निर्भीक हो शत्रु पर प्रहार करे। बिना कष्ट सहे सुख नहीं मिलता। जो पुरुष दुःख झेल कर भी बच जाता है और मरता नहीं, वही सुख भोगता है। जब तक भय न आवे; तब तक राजा उससे सचेत रहे और यदि भय आ ही जाय, तो उसे वश चलते नष्ट कर डाले। नष्ट करने पर भी भय की ओर से असावधान न रहे। प्राप्त सुख को त्याग कर भावी सुख की आशा लगाना बुद्धिमत्ता की नीति नहीं है। जो राजा शत्रु के साथ सन्धि कर के उसके ऊपर विश्वास करता हुआ

सुख में सोता है, वह मानों वृक्ष की शाखा पर सोता हुआ, जब नीचे गिरता है तब जागता है। मृदु अथवा उग्र उपायों से जैसे बने वैसे आत्म-रक्षा करे और समर्थ होने के अनन्तर पुण्यवर्द्धक कार्य करे। शत्रु के शत्रुओं का भी राजा को सन्मान करना चाहिये। राजा को अपने और शत्रु के दूतों का हाल जानते रहना चाहिये। दूत ऐसे रखे, जिन्हें शत्रु के लोग पहिचान न पावें। राजा पाखण्डियों को और तपस्वियों को दौत्य-कर्म के लिये भेजे। धर्म में अड़चन डालने वाले, पापी और लोगों के सुख के मार्ग में कण्टक के समान बनने वाले चोरों को राजा बागों में, नाट्यशा-लाओं में, पानशालाओं में, अन्य सरायों में, पौशालाओं में, वेश्यालयों में, तीर्थ-स्थानों में और सार्वजनिक स्थानों में ढूँढ़ ढूँढ़ कर दण्ड दे। जो अविश्वस्त हों, उनका राजा विश्वास न करे और विश्वासी का भी अति विश्वास न करे। ऐसा करने से भय उत्पन्न होता है। अतः बिना परीक्षा के विश्वास न करे। सत्य सा मालूम होने वाला कारण दिखला शत्रु को विश्वास दिला दे और यदि वह अपने स्थान से विचलित हो और अवसर मिले तो तुरन्त उसके ऊपर प्रहार करे। जिससे भय का कारण न हो, उससे भी भयभीत रहे। जो अपने से डरे उसे डराता रहे। जो शङ्कनीय न हो उससे भी शङ्कित रहे। जिसकी ओर से शङ्का नहीं होती उसकी ओर से भी जब भय उपस्थित हो, तब उस राजा का समूल नाश हो जाता है। सावधान रहने का बहाना कर, मुनियों जैसा व्यवहार कर गेरुए वस्त्र पहन और मृगछाला ओढ़, जटाजूट रख, जैसे बने वैसे शत्रु को अपनी ओर से विश्वास दिला दे और जब अवसर हाथ लगे, तभी शत्रु पर भेड़िये की तरह टूट पड़े। जो राजा अपनी उन्नति चाहता हो, वह पुत्र, भाई, पिता अथवा मित्र जो कोई भी कार्य-साधन में विघ्न डाले, उसे मरवा डाले। यदि अपना गुरु भी अपने से अकड़े, कार्य अकार्य का विवेक न रखे तथा कुमार्ग गामी हो, तो राजा उसे भी दण्ड दे। तीक्ष्ण चोंच वाला पक्षी पेड़ पर बैठता है और उस वृक्ष के फल फूलों को नष्ट कर डालता

है। इसी तरह घर आये हुए शत्रु को अभ्युत्थान दे, उसका आव आदर करे, उसको प्रणाम करे, उसे छाती से लगावे, उसे भेंट दे; किन्तु जब मौक़ा पावे, तब उसके पुरुषार्थ और साधनों को नष्ट कर डाले। पर मर्म-स्थलों का छेदन करे बिना और मछुए की तरह बड़े बड़े मत्स्यों को फँसा कर, उन्हें मारे बिना, कौन अधिक लक्ष्मी पा सकता है। जन्म से न तो कोई किसी का शत्रु है और न कोई किसी का मित्र है; किन्तु परिस्थिति मनुष्यों को आपस में शत्रु अथवा मित्र बना देती है। हाथ में पड़े हुए शत्रु को, लाख खुशामद और करुणोत्पादक याचना करने पर भी राजा कभी न छोड़े। उसकी दशा पर ज़रा भी दया न दिखावे; किन्तु उस शत्रु को मार डाले। राजा का उस समय यही कर्त्तव्य है। उन्नति-अभिलाषी राजा को अपने निकट अच्छे लोगों को रखना चाहिये। उन पर विशेष अनुग्रह कर उन्हें अपना अनुरक्त बना लेना चाहिये। राजा प्रजा-जनों के साथ छल कपट छोड़ कर, व्यवहार करे और ध्यान देकर दुष्टों को एवं द्वेष रखने वालों को दण्ड दे। जब किसी का द्रव्यापहरण करना अभीष्ट हो, तब प्रथम उससे मधुर वचन कहे और द्रव्यापहरण के बाद भी मधुर वचन कहे जिससे उसका जी न टूटे। शत्रु का सिर काट कर, (लोगों को धोखा देने के लिये) शोक प्रकट कर आँसू बहावे। ऐश्वर्यकामी राजा मधुर वचन कह, आदर सत्कार कर और उन्हें पुरस्कृत कर अपनी मुट्ठी में करे। ऐसा करने से लोग राजा के अनुरक्त भक्त हो जाते हैं। शुष्क वैर वैसा ही निरर्थक और अनिष्टकर है जैसा कि बैल के सींग का खाना। बैल का सींग खाने से स्वाद तो आता नहीं प्रत्युत दाँत टूट जाते हैं और आयु क्षीण हो जाती है। विशाल नदी को हाथों से तैर कर पार करने का भी उद्योग न करे। क्योंकि गो-विषाण-भक्षण की तरह यह कार्य भी अनिष्टकर और आयु हरने वाला है। धर्म, अर्थ और काम—त्रिवर्ग कहलाता है। व्यवहार इस प्रकार करना चाहिये कि धर्म से अर्थ को, अर्थ से काम को और काम से धर्म को बाधा न पहुँचे। धर्म के फल को जान कर त्रिवर्ग में से एक भी कर्म

का त्याग न करे और न इनमें से किसी के फल के लिये इनमें से किसी एक में आसक्त हो। ऋण अग्नि और शत्रु को शेष न छोड़े, क्योंकि शेष छोड़ने से वह दिन दिन बढ़ता है। जो ऋण निःशेष नहीं किया जाता वह रातदिन बढ़ता है। अपमानित शत्रु और लापरवाही से बढ़ती हुई व्याधि बड़ी दुःखदायिनी होती है। राजा को सदा सावधान रह कर सब कामों को पूरा करना चाहिये। यदि निकालते समय पैर में काँटा टूट कर रह जाता है, तो वह बहुत दिनों तक पीड़ा देता है। शत्रु की प्रजा को नष्ट कर डाले, रास्ते नष्ट कर डाले और शत्रु की प्रजा के घरों को फूँक कर नष्ट कर डाले और शत्रु का अधिकृत देश अपने वश में कर ले। राजा को गिद्ध की तरह दूरदर्शी होना चाहिये। बगले की तरह स्थिर भाव से उद्यत रहना चाहिये और कुत्ते की तरह चोरों को पकड़ने के लिये जागते रहना चाहिये। राजा को सिंह की तरह पराक्रम प्रदर्शित कर, शत्रु के क़िले में अकस्मात् वैसे ही घुस जाना चाहिये जैसे दूसरे के बनाये बिल में सर्प घुस जाता है। राजा—शूरवीर को हाथ जोड़, लोभी को धन दे कर और समान बल वाले शत्रु से युद्ध कर उसे अपने वश में करे। यदि अनेक जातियों के लोग कोई काम मिल कर करते हों, तो उनमें जो नेता हो उनमें परस्पर फूट डाल, उन्हें अपने वश में करे। यदि अपने मित्रों से शत्रु पक्षी अनुनय विनय करते हों तो स्वयं मेल कर ले। राजा इस बात का ध्यान सदा रखे कि, उसके मंत्रियों में फूट न पड़ने पावे तथा वे कहीं एका कर, उसके (राजा के) प्रतिकूल कोई कार्य न कर डालें। जो राजा शान्त अथवा कोमल स्वभाव का होता है, उसका लोग अपमान कर बैठते हैं और जो राजा उग्र स्वभाव का होता है, उससे लोग घबड़ाया करते हैं। अतः राजा को यथासमय कोमल और यथासमय उग्र बन जाना चाहिये। कोमलता से कोमलता को नष्ट करे। कितने ही लोग कोमलता से उग्रता को नष्ट कर डाला करते हैं। ऐसा कोई कार्य नहीं है जो कोमलता से सिद्ध न हो जाय। अतः कोमलता उग्रता से अधिक

तीक्ष्ण मानी जाती है। जो यथासमय कोमल और यथासमय उग्र बनना जानता है, वह अपना कार्य पूरा कर लेता है और शत्रु को अपने अधीन कर उसका स्वामी बन जाता है। किसी विद्वान् से शत्रुता कर ऐसा विश्वास कर के न बैठ रहे कि, मैं तो उससे दूर हूँ। वह मेरा कर ही क्या सकता है? क्योंकि जो विद्वान् जन होते हैं उनकी बाहें बड़ी लंबी होती हैं। उनसे वह स्वयं पीड़ित होने पर भी दूसरों को पीड़ित करता है। जिस नदी के पार होना असम्भव प्रतीत हो उसे पार करने का उद्योग न करे। जिस धन को शत्रु छीन सकता हो, उस धन का अपहरण न करे। जिसकी जड़ को बाहिर निकालना सम्भव न हो, उसे न खोदे। जिसका सिर न काट सकता हो उस पर राजा प्रहार न करे। मैंने जो आपत्तिकाल के कर्त्तव्य निरूपण किये हैं उन कर्त्तव्यों का पालन आपत्तिकाल ही में किया जाय—ऐसे कर्त्तव्यों का पालन सदा न किया जाय। इसीसे मैंने तुम्हारे हितार्थ आपद्धर्मों का तुम्हारे सामने वर्णन किया है।

भीष्म जी ने कहा—हितैपी भारद्वाज ब्राह्मण ने सौवीर देशाधिपति को इस प्रकार उपदेश दिया था। तदनन्तर उस उदारमय राजा ने तदनुसार ही बर्त्ताव किया। तब उसने बन्धु बान्धवों सहित समुज्वल राज्यलक्ष्मी का उपभोग किया था।

एकसौ इकतालीस का अध्याय

विश्वामित्र-चाण्डाल संवाद

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! जब परमधर्म का नाश हो जाय और सब लोग धर्म का उल्लंघन करने लगें, जब धर्म अधर्म और अधर्म धर्म रूप हो जाय; जब समस्त मर्यादाएँ नष्ट भ्रष्ट हो जाँय, जब सत्य धर्म गड़बड़ में पड़ जाय, जब राजा अपने प्रजा जनों को सताने लगे

और चोर लूटने लगें, जब समस्त आश्रम अज्ञान में फँस जायँ; जब वैदिक क्रिया कलाप लुप्त हो जायँ, सर्वत्र काम-क्रोध-लोभ-मोह-जनित भय देख पड़ने लगे और सब लोगों को एक दूसरे का विश्वास न रह जाय—सदा लोग भयभीत रहने लगें, जब एक दूसरे को धोखा दे लोग आपस में मार काट मचा दें, जब देश में अग्निप्रकोप बढ़े, जब ब्राह्मण अत्यन्त डर जायँ, जब मेघों से समय पर वृष्टि न हो और जब लोगों में परस्पर द्वेष पैदा हो जाय, जब जीवनोपयोगी साधनों को लुटेरे लूट लें; तब ऐसे कठिन काल में ब्राह्मण आजीविका कैसे चलावें? जो ब्राह्मण दयावश पुत्र पौत्रों का त्याग कर सकता हो, वह आपत्तिकाल में कैसा बर्ताव करे। हे परन्तप! लोगों के पापी हो जाने पर, राजा को कैसा बर्ताव करना चाहिये; जिससे वह अर्थ और धर्म से भ्रष्ट न होने पावे।

भीष्म ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! प्रजा के योगक्षेम का तथा समय पर पूरी पूरी वृष्टि होने का आधार राजा के ऊपर निर्भर है। प्रजा जनों में मरी का भय और संक्रामक रोग का फैलना भी राजा पर ही निर्भर है। सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलि इन सब युगों की जड़ जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, निश्चय ही राजा है। जब प्रजा जनों का नाश करने वाला आपत्ति काल आवे, तब ब्राह्मण विज्ञान बल का आश्रय ग्रहण कर, अपना निर्वाह करे। इस विषय में विश्वामित्र और चाण्डाल में, चाण्डाल के घर पर ही जो वार्तालाप हुआ था, उस पुरातन वृत्तान्त को तुम सुनो। द्वापर और त्रेता की सन्धि के समय संयोगवश द्वादश वर्ष व्यापी अनावृष्टि हुई। इस अनावृष्टि के कारण बहुत से लोग मर गये। वह समय त्रेता की समाप्ति और द्वापर युग के आरम्भ का था। बृहस्पति वक्री हो रहे थे और चन्द्रमा के विपरीत लक्षण देख पड़ते थे और चन्द्रमा अपनी कला से हट कर, दक्षिण दिशा की ओर जा रहा था। ऐसे काल में इन्द्र ने जलवृष्टि नहीं की। जलवृष्टि तो जहाँ तहाँ ओस तक पड़ना बंद था। बहुत सी नदियों में पानी बहुत कम रह गया। कितनी ही नदियाँ बिलकुल

सूख गयीं। तालाब, नदियाँ, कुए और झरने स्वभाव ही से और दैव का कोप होने के कारण जलहीन और निस्तेज हो गये थे। छोटे छोटे जलाशय बिलकुल सूख गये थे। जल की पौशालाएँ जलाभाव के कारण बंद कर देनी पड़ी थीं। यज्ञ और स्वाध्याय बंद कर देने पड़े थे। कहीं भी वषट्कार अथवा अन्य कोई माङ्गलिक शब्द नहीं सुन पड़ता था। किसानों ने गोरक्षा और कृषिकर्म त्याग दिया था। बाज़ारों में माल नहीं था, जो ख़रीदा बेचा जाता। यज्ञस्तम्भ और तपस्वी दिखलायी ही नहीं पड़ते थे। हड्डियों के ढेर से पृथिवी भर गयी। माँसाहारी प्राणियों के कोलाहल से समस्त प्रजा जन विकल हो उठे। रहने के स्थानों से ग्राम के ग्राम उजड़ गये और रहने के घर आग से भस्म हो गये। चोरों के भय से जहाँ देखो वहाँ लोग घबड़ा कर और घर छोड़ छोड़ कर भाग रहे थे। अतः जिधर देखो उधर उजाड़ ही उजाड़ देश देख पड़ते थे। देवालयों तथा अन्य पूज्य स्थानों का नाम निशान भी नहीं रह गया था। बड़े बूढ़े लोगों को उनके पुत्रों पौत्रों ने अपमानित कर घर से निकाल दिया था। गौ, बकरी और भैंसें चारे के पीछे आपस में लड़लड़ कर मर गये थे। सर्वत्र ब्राह्मणों का नाश हो गया था, कहीं भी उनकी रक्षा न हो सकी थी। औषधियाँ भी कम हो गयी थीं। उस समय सारी पृथिवी श्मशान वृक्ष की तरह भयङ्कर जान पड़ती थी।

हे धर्मराज! अकाल का ऐसा कठिन समय आते ही धर्म का तो नाश ही हो गया। भूख के सताये प्राणी एक दूसरे को खाने के लिये उद्यत हो गये। ऋषि-गण अपने नियमों को भङ्ग कर तथा आश्रमों को त्याग कर, इधर उधर भागने लगे। ऐसे समय में बुद्धिमान् विश्वामित्र अपने पुत्रों को और धर्म-पत्नी को किसी पड़ोसी के पास छोड़, घर द्वार त्याग और भक्ष्याभक्ष्य का विचार छोड़, इधर उधर घूमते फिरते थे। एक दिन वे घूमते फिरते, प्राणियों की हिंसा करने वाले चाण्डालों की बस्ती में जा निकले। वहाँ जा कर देखा कि, यत्र तत्र मिट्टी के फूटे बर्तनों के ठीकड़े

पड़े हैं. कुत्तों के चर्म इधर उधर फैले हुए हैं, शूकरों रासभों की हड्डियों के ढेर लगे हैं। मुरदों के ऊपर के वस्त्रों अर्थात् कफ़नों तथा मुरदों के ऊपर से उतारी हुई पुष्प-मालाओं से उन चाण्डालों के घर सजे हुए हैं। झोंपड़ों पर साँपों को कैचुलियाँ लटक रही थीं। मुरगे बोल रहे थे! गधे रेंक रहे थे। चाण्डाल लोग आपस में झगड़ते हुए फूहर गालियाँ बक रहे थे। उलूकों तथा उन्हीं जैसे अन्य मनहूस पक्षियों की बोलियों से वह गाँव प्रतिध्वनित हो रहा था। देव-मन्दिरों में लोहे के घंटों की ध्वनि हो रही थी।

[नोट—इस वर्णन से जान पड़ता है कि, विश्वामित्र के ज़माने में चाण्डालों की बस्तियाँ अलग थीं और उनके देवालय भी अलग थे।]

चाण्डालों के झोंपड़ों के चारों ओर कुत्तों के झुंड घूम रहे थे। क्षुधित महर्षि विश्वामित्र उस चाण्डाल बस्ती में भोजन ढूँढ़ने लगे। उन्होंने कितनी ही जगह याचना की, किन्तु उन्हें माँस, अन्न, फल या मूल कोई भी खाद्य वस्तु न मिली। अन्त में मारे भूख के यह कहते हुए कि, हाय मैं भूख से मरता हूँ, विश्वामित्र भूमि पर गिर पड़े। क्योंकि भूख के मारे वे अति निर्बल हो गये थे। वे भूमि पर पड़े पड़े मन ही मन सोचने लगे कि मेरी दशा अब क्योंकर सुधरे? क्या उपाय करूँ जो मुझे भूखों प्राण न गँवाने पड़ें। इतने में वे सम्हल कर पुनः उठे और अपने चारों ओर देखने लगे। उन्होंने देखा कि हाल के मारे हुए कुत्ते की एक मोटी जाँघ से निकला हुआ बहुत सा माँस एक चाण्डाल के घर में पड़ा है। यह देख उन्होंने विचारा कि, इस समय प्राण-रक्षा का जब अन्य कोई उपाय नहीं है, तब मैं यह माँस चुरा कर क्यों न ले लूँ। आपत्ति काल में बड़े लोगों के लिये भी चोरी करने का विधान है

"आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टश्च महीयसः"

ब्राह्मण आत्म-रक्षार्थ चोरी कर ले यह शास्त्रों का निर्णय है। यदि द्विजों से प्राण-रक्षार्थ सामग्री न मिल सके, तो अपने से हीन वर्ण,

हीं से ले ले। यदि ऐसा न हो सके, तो समान वर्ण वाले से, चोरी आदि कर के, जैसे मिले वैसे ले। यदि यह भी सम्भव न हो तो किसी धर्मात्मा श्रेष्ठ-जन की चोरी कर ले। अतः मुझे चाण्डाल के घर से इस माँस को चुरा लेने में कुछ भी दोष नहीं देख पड़ता। अब मैं अपनी प्राणरक्षा के लिये, चाण्डाल के घर से कुत्ते की रान का माँस क्यों न चुरा लूँ।

हे राजन्! महामुनि विश्वामित्र यह विचार, जहाँ चाण्डाल रहता था। वहाँ जा सोये। जब रात बहुत बीत गयी और उस बस्ती के सब लोग सो गये, तब विश्वामित्र जी धीरे धीरे उठे और माँस चुराने को चाण्डाल के घर में घुसे। चाण्डाल के दोनों नेत्र कीचड़ से बंद थे। अतः वह सोता हुआ सा जान पड़ता था। किन्तु वास्तव में वह जाग रहा था। वह बड़ी भयङ्कर शक्ल का था और उसका स्वभाव भी बड़ा रूक्ष था। वह अपनी झोंपड़ी में आहट पा खर स्वर से कहने लगा—अरे इस टोले में सब तो सो गये, फिर कुत्ते की जाँघ कौन खींच रहा है? मैं सोता नहीं, जाग रहा हूँ। कौन मरने के लिये यहाँ आया है? ये बातें चाण्डाल ने कड़क कर कहीं। तब तो विश्वामित्र डर से गये और बड़े लज्जित हुए। क्योंकि उस समय वे ही तो चुरा रहे थे। अतः घबड़ाहट में बोल उठे—हे आयुष्मन्! मेरा नाम विश्वामित्र है। मैं बहुत भूखा हूँ। तू मुझे मार मत! ज़रा मन में सोच विचार तो।

तपस्वी विश्वामित्र के इन वचनों को सुन कर वह चाण्डाल झट चारपाई छोड़ उठा और उनके सामने जा खड़ा हुआ। वह हाथ जोड़े और नेत्रों से आँसू बहाता हुआ कहने लगा—हे ब्रह्मन्! इस अन्धकारमयी रजनी में आप यहाँ क्या करना चाहते हैं?

इसके उत्तर में विश्वामित्र ने उसका समाधान करने को कहा—इस समय मैं इतना भूखा हूँ कि, मेरे प्राण निकले जाते हैं। अतः मैं कुत्ते की जाँघ चुरा कर ले जाऊँगा। भूख के कारण मुझे आज यह पापकर्म करने के लिये उद्यत होना पड़ा है। क्योंकि भूखा क्या नहीं करता।

भूखे को लज्जा नहीं रहती। वह अकर्म करने को तैयार हो जाता है। इसी-से मैं भी भूख से विकल हो, कुत्ते की जाँघ चुराने को आया हूँ। मारे भूख के मुझे वेद का ज्ञान भी नहीं रह गया है। मेरा शरीर बिल्कुल कम ज़ोर हो गया है। मेरे होशहवास ठीक नहीं हैं। मुझे भक्ष्याभक्ष्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इतना मैं अवश्य समझता हूँ कि, चोरी करना पाप है, तथापि मैंने चोरी करने का विचार किया है। मैंने इस चाण्डाल बस्ती के प्रत्येक घर के द्वार पर भीख माँगी, किन्तु जब मुझे भिक्षा नहीं मिली, तब विवश हो मुझे चोरी करनी पड़ी है। अग्निदेव, देवताओं के मुख हैं। वे उनके पुरोहित हैं। वे समस्त पदार्थों को स्वाहा कर जाते हैं। ब्रह्मदेव भी समस्त वस्तुओं को समय पर खा जाते हैं। तू भी मुझे उन्हीं के समान जान।

महर्षि विश्वामित्र की इन बातों को सुन, चाण्डाल ने कहा—अब आप मैं जो कहता हूँ, उसे सुनिये। फिर मेरे उस सत्यकथन के अनुसार ऐसा काम कीजिये जिसमें धर्म का नाश न हो। हे विप्रर्षे! मैं आपको बतलाता हूँ कि इस समय तुम्हारा क्या धर्म है। सुनिये। पण्डितों का कहना है कि शृगाल से कुत्ता अधम है और कुत्ते के अन्य अंगों से उसकी जाँघ अधमतर है। अतएव हे महर्षे! आप इस समय तीन प्रकार का पाप करने को कटिबद्ध हैं। यह कार्य प्रथम तो धर्म से निन्दित है। दूसरे तुम चाण्डाल का पदार्थ चुराना चाहते हो। तीसरे यह चोरी अभ-क्ष्य पदार्थ की है। अतः तुम्हे अपनी प्राणरक्षा के लिये अन्य कोई अच्छा उपाय खोजना चाहिये। यह तो आपके लिये किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है। कुत्ते का माँस खाने से—सो भी कुत्ते की रान का माँस खाने से आपका तप नष्ट हो जायगा। शास्त्रोक्त धर्म के ज्ञाता को वर्णाश्रम धर्म में सङ्करता उत्पन्न न करनी चाहिये। आप धर्मात्माओं में उत्तम हैं। अतः आप धर्म को न छोड़ें।

हे राजन्! जब उस चाण्डाल ने विश्वामित्र से इस प्रकार कहा—तब

भूख से व्याकुल विश्वामित्र बोले—भूखों रहते रहते मुझे बहुत दिन बीत गये। अब प्राण बचने का कोई उपाय नहीं देख पड़ता। यदि कोई मनुष्य क्षुधातुर हो, तो धर्माधर्म के चक्कर में न पड़, वह किसी भी धर्मविशेष से अपने प्राण बचा ले। फिर जब विपत्ति से पार हो ले, तब प्रायश्चित्त कर, उस पाप से मुक्त हो जाय। क्षत्रिय का धर्म है कि, इन्द्र की तरह प्रजा का पालन करे। ब्राह्मण का धर्म है कि अग्नि की तरह पवित्र रहे। वेद जो अग्नि रूप हैं वे ही मेरा बल हैं। अतः मैं कुत्ते की अभक्ष्य जाँघ को खा कर अपने प्राण बचाऊँगा। प्राणरक्षा के लिये मनुष्य को धर्म छोड़ कार्य करना चाहिये। क्योंकि मरण की अपेक्षा जीवित रहना अच्छा है। क्योंकि यदि जान बची रहे तो धर्माचरण भी हो सकता है। अतः मैं भी जीवित रहने की अभिलाषा से अभक्ष्य कुत्ते की जाँघ खाऊँगा। अतः तुम मुझे इसे खाने की अनुमति दो। जैसे दीपकावली बड़े भारी अन्धकार को नष्ट कर देती है, वैसे ही यदि मैं जीवित रहा, तो तपश्चर्या और विद्या द्वारा अपने पापों को नष्ट कर डालूँगा।

चाण्डाल ने कहा—इस श्वानमाँस को खा कर आप जैसा पुरुष अधिक दिनों जीवित नहीं रह सकता। जैसी तृप्ति अमृतोपम भोज्य पदार्थों के खाने से होती है, वैसी तृप्ति उसके खाने से नहीं होती। अतः आप कुत्ते का माँस खाने की बात अपने मन में भी न लावें। जाइये कहीं अन्यत्र से कुछ और माँग लीजिये। क्योंकि द्विज वर्णों के लिये कुत्ते का माँस खाना वर्जित है।

विश्वामित्र ने कहा—हे चाण्डाल! ऐसे भीषण अकाल के समय अन्य माँस सुलभ नहीं। क्योंकि मैं तो निर्धन हूँ। इस समय मारे भूख के मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। अब मुझमें चलने की शक्ति भी नहीं रह गयी। मैं सब प्रकार से हताश हो रहा हूँ। मेरी समझ में इस श्वान माँस में छहो रस हैं।

चाण्डाल ने कहा—शास्त्रों में द्विजों के लिये आपत्ति काल में पाँच

नसों वाले पाँच प्राणियों का माँस खाने की आज्ञा है। अतः आप जैसे महात्मा को तो अभक्ष्य माँस न खाना चाहिये।

विश्वामित्र ने कहा—भूख से विकल अगस्त्य ने वातापी राक्षस को खा डाला था। इस समय मैं भी भूख से पीड़ित हूँ। अतः मैं कुत्ते की जाँघ का माँस खाऊँगा।

चाण्डाल बोला—आप कोई दूसरी वस्तु माँग लें। आपको यहाँ यह माँस खाना उचित नहीं। वास्तव में आपको तो ऐसा करना चाहिये नहीं और यदि आपकी ऐसी इच्छा ही है तो आप कुत्ते की यह जाँघ ले जायँ।

विश्वामित्र ने कहा—धार्मिक विषयों में शिष्टजनों का आचार प्रामाणिक माना जाता है। अतः मैं भी उन्हींके आचरणों का अनुकरण करता हूँ। मैं इस कुत्ते की जाँघ को पवित्र भोजन से भी उत्तम भोजन करने योग्य मानता हूँ।

चाण्डाल ने कहा—जो असत् पुरुष का किया हुआ काम है वह सनातनधर्म नहीं। अतः आपको मोहित हो ऐसा बुरा काम करना उचित नहीं।

विश्वामित्र ने कहा—ऋषिगण पापकर्म अथवा अपमानजनक कार्य कभी नहीं करते। मैं कुत्ते और हिरन के माँस में कुछ भी भेद नहीं मानता। अतः मैं तो कुत्ते की जाँघ का माँस खाऊँगा।

चाण्डाल बोला—ब्राह्मणों ने वातापी के अत्याचारों से तंग हो कर अगस्त्य जी से उसे खा जाने के लिये प्रार्थना की थी। वह समय ऐसा था कि, उस समय ऐसा करना पाप-जनक नहीं था। जिस कर्म के करने से पाप न लगे वही धर्म है। तीनों वर्णों के गुरु ब्राह्मणों की रक्षा सब प्रकार से करनी ही चाहिये।

विश्वामित्र ने कहा—मैं ब्राह्मण हूँ और अपने शरीर को मैं मित्र मानता हूँ। यह मुझे अत्यन्त प्रिय है और यह संसार में अत्यन्त पूज्य है।

इस शरीर के पोषण के लिये मैं यहाँ तक आतुर हो रहा हूँ कि, मैं तुझसे और तुझ जैसे क्रूर तेरे अन्य भाइयों से भी मैं नहीं डरा और माँस चुराने को उद्यत हो गया हूँ।

चाण्डाल ने कहा—विवेकी जन प्राण गँवा देते हैं, किन्तु अभक्ष्य भक्षण नहीं करते। जो पुरुष भूख को अपने वश में कर लेता है, इस जगत में उसकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। अतः अपनी भूख को जीत कर अपनी समस्त कामनाएँ पूरी करो।

विश्वामित्र ने कहा—यह ठीक है कि, अनशन द्वारा प्राण त्यागने से संसार में नाम होता है और निश्चय ही अभक्ष्य भक्षण करने से कर्मों का नाश होता है। मेरी यह दशा है कि, मैं आजकल नित्य ही उपवास करता हूँ। मेरा हृदय शान्त है। किन्तु धर्म का मूल कारण तो शरीर है। अतः ऐसे शरीर की रक्षा करने को मुझे अभक्ष्य-भक्षण करने के लिये विवश होना ही पड़ेगा। यह तो स्पष्ट है कि, शुद्धात्मा के लिये ऐसे कार्य भी धर्मानुकूल मान लिये जाते हैं। किन्तु यदि कोई अशुद्धात्मा पुरुष कुत्ते का माँस खा ले तो वह बड़ा भारी पापी माना जाता है। यद्यपि इस प्रकार का काम खोटा है, तो भी मैं कुत्ते का माँस खा कर भी तेरे समान अर्थात् चाण्डाल नहीं होऊँगा।

चाण्डाल ने कहा—मैंने तो निश्चय ही कर लिया है कि, मैं आपको यह पापकर्म न करने दूँगा। क्योंकि यदि ब्राह्मण पापकर्म करता है तो उसमें उच्चता नहीं रह जाती। इसीसे तो मैं आपको रोक रहा हूँ।

विश्वामित्र बोले—मैंढकों के टर्र टर्र करते रहने पर भी गौएँ जल पी ही लेती हैं। धर्माधर्म मुझे बतलाने का तुझे अधिकार नहीं है। तू आत्मश्लाघा मत कर।

चाण्डाल ने कहा—हे ब्राह्मण! मैं तो तुम्हारा हितैषी बन तुम्हें समझाता था। यदि आपको मेरा कहना अच्छा नहीं लगता तो आप

वही करें जिसमें आपको अपनी भलाई जान पड़े। किन्तु यह मैं फिर भी कहूँगा कि, लोभ में पड़ पापकर्म न कीजिये।

विश्वामित्र ने कहा—यदि तू मेरा मित्र है और मेरा हित चाहता है तो इस सङ्कट से मुझे उबार। मैं धर्म द्वारा आत्मा का उद्धार करना जानता हूँ। अतः तू कुत्ते की जाँघ का माँस मुझे दे दे।

चाण्डाल ने कहा—मैं न तो आपको स्वयं कुत्ते की जाँघ का माँस देना चाहता हूँ और न मैं यही सहन कर सकता हूँ कि, आप चुरा कर इसे ले जायँ। क्योंकि यदि मैं इसको दान में आपको दूँ और आप इसे ब्राह्मण हो कर दान में लें, तो हम दोनों ही परलोक में पाप के भागी होंगे।

विश्वामित्र बोले—यदि इस पापकर्म को कर आज मैं जीवित रह सका तो पीछे बड़े बड़े पुण्यकर्म कर सकूँगा। अतः अब तू ही बतला कि बिना खाये प्राण गँवाना अच्छा है कि, माँस खा कर जीवित रहना?

चाण्डाल ने कहा—कुलपरम्परा के धर्म का आचरण करने में अपना आत्मा ही साक्षी होता है। इन दोनों में कौन सा पापकर्म और कौन सा पुण्यकर्म है—इसे तो आप ही जान सकते हैं। इतना मैं अवश्य कह सकता हूँ कि, जो पुरुष कुत्ते का माँस खाना उचित समझता है, उसके निकट त्याज्य कोई वस्तु नहीं है।

विश्वामित्र ने कहा—अभक्ष्य वस्तु का दान लेना, अभक्ष्य भक्षण करना पापकर्म है; किन्तु जब प्राण निकले जाते हों, तब ऐसा करने में कोई पाप नहीं है। जिस कार्य के करने में हिंसा न करनी पड़े; अथवा किसी को धोखा न देना पड़े, किन्तु कुछ निन्दा हो, तो ऐसे अभक्ष्य पदार्थ को खाने में कुछ बुराई नहीं है।

चाण्डाल ने कहा—यदि आप अभक्ष्य भक्षण में कुछ दोष नहीं

समझते, कहना पड़ता है आप न तो वेद को मानते हैं और न श्रेष्ठ धर्म के अनुयायी हैं।

विश्वामित्र बोले—यह तो शास्त्र में कहीं भी नहीं आता कि जो पुरुष अभक्ष्य भक्षण करता है, उसे बड़ा पाप लगता है। हाँ मद्यपान करने से पतित होना पड़ता है—यह शास्त्र में लिखा है। इसी प्रकार शास्त्र में जिन अन्य खोटे कर्मों के करने का निषेध है, उनको करने से करने वाले का पुण्य अवश्य क्षीण होता है।

चाण्डाल ने कहा—ऐसे अपावन स्थान से और मुझ जैसे नीच और पामर के घर से जो पुरुष श्वान माँस ले जाना चाहे वह निश्चय ही सत्पुरुषों के आचरण के विरुद्ध चलता है और उसे इस पाप का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! यह कह कर चाण्डाल चुप हो गया। इतने में विश्वामित्र ने कुत्ते की जाँघ का माँस उठा लिया। क्योंकि उन मुनि का उद्देश्य तो प्राणरक्षा करना था। वे उस माँस को लिये हुए वन में गये और निज पत्नी सहित उसे खाना चाहा। किन्तु उसे खाने के पूर्व; उन्होंने यथाविधि देवताओं को तृप्त कर पीछे उसे खाने का निश्चय किया। तदनुसार वे ब्राह्म विधि से अग्नि लाये और ऐन्द्राग्नि विधि से स्वयं चरु तैयार किया। फिर उस चरु के विभाग कर वेदोक्त विधि से देव-पितृ कर्म किये। इन्द्रादि देवताओं को बुला कर, यथाक्रम उसमें से भाग बाँटे। तब इन्द्र ने यथेष्ट वर्षा कर समस्त औषधियाँ उत्पन्न कर; उनसे प्रजाजनों के प्राण बचाये। जिनके पाप तप से दग्ध हो गये थे, उन भगवान् विश्वामित्र ने बहुत दिनों बाद अद्भुत सिद्धि प्राप्त की थी। द्विजवर्य विश्वामित्र ने स्वयं तो विष नहीं खाया, किन्तु उससे देवताओं और पितरों को सन्तुष्ट किया था। इस प्रकार यदि कोई उदारमना विद्वान् पुरुष सङ्कट में फस जाय तो वह किसी न किसी उपाय से अपने दीन आत्मा को उबारे। ऐसा विचार कर प्रत्येक

पुरुष को जीवित रहना चाहिये। क्योंकि जो पुरुष जीवित रहता है वह पुण्य फल प्राप्त करता है और सुखी होता है। अतः हे कुन्तीनन्दन! पवित्रात्मा के स्वरूप का ज्ञाता विद्वान पुरुष प्राणरक्षा करे और अपनी बुद्धि लगा कर, कर्म धर्म का निर्णय कर, व्यवहार करे।

एकसौ बयालीस का अध्याय

धर्म-कर्म विचार

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! आपने अभी मुझे जिस धर्म कर्त्तव्य का उपदेश दिया है, वह तो महा भयङ्कर है और इस योग्य नहीं है कि, उस पर श्रद्धा की जाय। मैं तो उसे सर्वथा अनुचित और असत्य मानता हूँ। वह कौन ऐसा कर्म है, जिसे मैं सहन कर लूँ? यदि ऐसा ही है तो चोरों और लुटेरों का भी सन्मान करना उचित है। मैं तो आपकी इन बातों को सुन बड़े भारी संशय में पड़ गया हूँ। मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गयी है। मेरे मन में बड़ा खेद है। सदाचार की ओर से मेरा मन उदास हो गया है। आप मुझे चाहे जैसे समझावें; किन्तु मैं तो ऐसे कार्य न कर सकूँगा।

भीष्म जी बोले—मैंने अभी तुम्हें जो कर्त्तव्य का उपदेश दिया है। वह वेद को पढ़ कर नहीं दिया। यह तो मेरे निज के ज्ञान और बुद्धि के अनुभव का फल है। किन्तु यह है विद्वानों के सुविचारित मतों का सार—राजा को उचित है कि वह भिन्न भिन्न स्थानों से अनुभव प्राप्त करे। एकदेशी आचार का आश्रय ग्रहण कर, इस संसार में निर्वाह नहीं हो सकता। ज्ञान से कर्त्तव्य समझ में आता है और अनुभव सत्पुरुषों के आचार से अवगत होता है। जिस राजा की बुद्धि विमल है, वही विजयी बन कर, इस धराधाम पर राज्य कर सकता है। राजा को भिन्न भिन्न

स्थानों से अनुभव प्राप्त कर और समझ बूझ कर सदाचार को स्थापित करना चाहिये। राजा एकदेशी धर्मशास्त्र की सहायता से सदाचार का स्वरूप नहीं जान सकता। एकदेशी शिक्षा लेने वाला राजा, दुर्बल है। उस राजा को पूर्ण अनुभव न होने के कारण उसमें सब विषयों के समझने की शक्ति ही नहीं होती। एक समय जो काम धर्म माना जाता है वही दूसरे समय अधर्म माना जाता है। अतः धर्म के स्वरूप को न जानने वाले पुरुष की बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है। जिस राजा में उभय प्रकार के अनुभव और ज्ञान का अभाव है वह तो ऐसा प्रसङ्ग उठने पर निश्चय ही उलझन में पड़ जाता है। धर्माधर्म का अनुभव या ज्ञानसम्पादन करने के बाद, बुद्धिमान् राजा विपत्ति-काल में अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि एवं धर्मशास्त्र के विवेकानुसार वर्त्ताव करे। अवसर आने पर ऐसे कार्य का हेतु साधारण जन नहीं समझ सकते। कितने पुरुषों में सत्य और कितने ही पुरुषों में असत्य ज्ञान होता है। बुद्धिमान् राजा यथार्थ बात जान लेने के पीछे, कल्याण-प्रद मार्ग को जान लेता है और उसीको ग्रहण करता है। सदाचार के विरोधी जन शास्त्र की निन्दा करते हैं। जो निर्धन हैं वे अर्थ-शास्त्र की विषमता की बातें करते हैं। जो लोग आजीविका के लिये ज्ञान सम्पादन करते हैं, वे पापी हैं। यही नहीं बल्कि, वे सदाचार के घोर शत्रु भी हैं। जो अपरिपक्व बुद्धि के हैं, वे मूर्ख पुरुष किसी वस्तु के सत्यस्वरूप को यथार्थ रीत्या नहीं जान पाते, जो शास्त्रकुशल जन नहीं हैं, उनकी बुद्धि सब कार्यों में काम नहीं देती। शास्त्र में शेष-दृष्टि रखने वाले, शास्त्रों की निन्दा करते हैं। कदाचित् यदि वे शास्त्र का यथार्थ अर्थ जान भी लें तो भी उनकी ऐसी कुटेव पड़ जाती है कि, वे सदा यही बका करते हैं कि, शास्त्र ठीक नहीं है। ऐसे मनुष्य दूसरे की विद्या की निन्दा कर के अपनी विद्या को प्रसिद्ध करते हैं। ऐसे लोगों के पास वाणी रूपी अस्त्र होता है। वे ऐसे बोलते हैं, मानों सकल शास्त्र-ज्ञाता अकेले वे ही हैं। ऐसे लोगों को विद्या-व्यवसायी और

मनुष्यों में राक्षस समझना चाहिये। वे लोग कोई न कोई बहाना बतला सज्जनों के बतलाये धर्म को त्याग देते हैं। सदाचार क्या है? शास्त्र क्या है? नीति क्या है?—ये प्रश्न केवल वाद-विवाद करने से अथवा केवल तर्क द्वारा समझ में नहीं आ सकते। किन्तु पालन करने से समझ में आते हैं। इन्द्र के कथनानुसार बृहस्पति का भी यही सिद्धान्त है। कितने ही लोग यह भी कहते हैं कि, नीति-शास्त्र का एक भी वाक्य हेतुशून्य नहीं है। शास्त्रों को पढ़ने वाले कितने ही शास्त्रपशु भी होते हैं। क्योंकि वे पढ़े हुए शास्त्र के अनुसार बर्त्ताव (अमल) नहीं करते। विद्वानों का एक मत यह भी है कि, धर्म और सदाचार कुछ नहीं है, किन्तु जगन्मान्य लोक-व्यवहार के लिये उसकी कल्पना की गयी है। जो सच्चे ज्ञानी हैं वे यह मानते हैं कि, सदाचार अपने लिये भी है और लोक-कल्याण के लिये भी। अतः पण्डित को स्वयं तर्क द्वारा अपने लिये उपयुक्त सदाचार को मान कर तदनुसार बर्त्ताव करना चाहिये। विद्वान् हो कर भी जो मनुष्य क्रोधवश अथवा शास्त्र के मत को यथार्थ न समझ कर, अथवा अज्ञानवश उपदेश देता है, उसका उपदेश मान्य नहीं समझा जाता। शास्त्र के वचन और उसके रहस्य को समझ लेने बाद सदाचार सम्बन्धी जो उपदेश दिया जाता है, वह उपदेश यदि किसी अल्प बुद्धि द्वारा भी दिया जाय; तो भी उस नीतियुक्त वचन की लोग प्रशंसा करते हैं। पूर्वकाल में शुक्राचार्य ने दैत्यों का सन्देह दूर करने के लिये उनसे कहा था, यदि शास्त्रवचन युक्ति-सङ्गत न जान पड़े, तो वे शास्त्रवचन अमान्य हैं। ज्ञान भी यदि संशय पूर्ण हो तो उसे भी न मानना चाहिये। ऐसे ज्ञान का समूल नाश कर डालना चाहिये। यदि मेरे कथनानुसार तुम न चलोगे तो असन्मार्ग-गामी हो कर, अनुचित कार्य करने लगोगे—ईश्वर ने घोर कर्म करने के लिये ही तुमको पैदा किया है। क्या तुम यह बात नहीं जानते? हे पुत्र! तू मेरी ओर देख! अन्य लोगों ने मुझे हिंसक कह कर, मेरी

निन्दा की है। किन्तु क्या मैंने पृथिवी को जीतने की कामना रखने वाले हज़ारों क्षत्रिय राजाओं को निज पराक्रम से स्वर्ग को नहीं पठाया है? बकरों, घोड़ों और क्षत्रियों की सृष्टि ब्रह्मा ने अपने तथा दूसरों के हित के लिये की है। अतः क्षत्रिय को सर्वदा, समस्त प्राणियों को सुख देने की योजना करते रहना चाहिये। अवध्य का वध करने से जो दोष लगता है, वही दोष वध्य का वध न करने से भी लगता है। यह सनातन आज्ञा है। किन्तु जो राजा निर्बल होता है वह इस आज्ञा का पालन नहीं करता। अतः राजा को उग्र बन कर ऐसा वर्त्ताव करना चाहिये जिससे उसके प्रजाजन अपने अपने वर्ण और आश्रमोचित कर्त्तव्यों का पालन करते रहें। यदि ऐसा वर्त्ताव न किया जाय तो प्रजाजन भेड़ियों की तरह आपस में एक दूसरे को खा डालें। जिस राजा के राज्य में लुटेरे प्रजा के धन को वैसे ही लूट ले जाते हैं; जैसे कौवे जल से मछलियों को, वह राजा क्षत्रियाधम माना जाता है।

हे राजन्! तुम वेदाध्ययन किये हुए कुलीन पुरुषों को मंत्री बना कर, राज्य करो और नीति से प्रजा का पालन करो। जो क्षत्रिय राजा लोक-परम्परा के व्यवहार को नहीं जानता और अनुचित रीति से प्रजा से कर वसूल करता है, उस क्षत्रिय को नपुंसक जानना चाहिये। इस जगत में नीतिज्ञ जन जैसे उग्र स्वभाव राजा की प्रशंसा नहीं करते, वैसे ही कोमल स्वभाव राजा की भी लोग सराहना नहीं करते। जो सदाचार-पूर्ण व्यवहार करता है, वह प्रशंसा का पात्र समझा जाता है। इसलिये राजा को इनमें से एक का भी त्याग न करना चाहिये। जहाँ उग्रता से काम लेना हो वहाँ उग्रता से और जहाँ मृदुता से काम लेना हो वहाँ मृदुता से राजा काम ले। क्षात्रधर्म महाकष्टप्रद है। मेरा तेरे ऊपर स्नेह है। अतः मैंने तुझसे यह सब कहा है। तू यथावसर उग्र अथवा मृदु हो कर प्रजा के ऊपर राज्य कर।

हे राजन्! बुद्धिमान् शुक्र ने कहा है—राजा का परम धर्म है, दुष्टों को दण्ड देना और शिष्टों की रक्षा करना।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! क्या कोई ऐसी मर्यादा है जिसको किसी प्रकार भी उल्लङ्घन न किया जा सके ? मैं आपसे ऐसी मर्यादा के विषय में पूछता हूँ। आप कृपया मुझे बतलावें।

भीष्म ने कहा—विद्यावृद्ध, तपस्वी, वेदशास्त्र-सम्पन्न और सदाचार-सम्पन्न ब्राह्मणों की सेवा करना महान् और पवित्र कर्त्तव्य है। तुम देवताओं में सदा जैसा भाव रखते हो; वैसे ही भाव तुम देवताओं और ब्राह्मणों में रखना। हे राजन् ! ब्राह्मण यदि क्रोधान्ध हो जाते हैं, तो उनसे अनेक प्रकार के भय होते हैं। यदि वे सन्तुष्ट हो जाते हैं, तो श्रेष्ठ यश प्राप्त होता है। इसी प्रकार ब्राह्मणों के प्रसन्न होने पर वे अमृतोपम और क्रुध होने पर वे हलाहल विषोपम हो जाते हैं।

एकसौ तैंतालीस का अध्याय

एक भटकता हुआ बहेलिया

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! शरणागत रक्षक का क्या कर्त्तव्य है ?

भीष्म ने कहा—हे महाराज ! शरणागत-रक्षण में बड़ा धर्म है। ऐसा प्रश्न तुम्हारे योग्य भी है। हे राजन् ! शिवि आदि महात्मा राजाओं ने शरणागत-रक्षण-परायण हो परम सिद्धि प्राप्त की थी। एक कबूतर ने अपना माँस शरणागत शत्रु को प्रदान कर, उसका यथोचित सत्कार किया था।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भरतवंशी राजन् ! कबूतर ने किस प्रकार शरणागत शत्रु को अपना माँस खिलाया था और उसे कौन सी गति प्राप्त हुई थी।

भीष्म ने कहा—हे राजन् ! सकल पापों को दूर करने वाली यह

कथा-प्रथम मुचकुन्द से परशुराम जी ने कही थी। वही मैं कहता हूँ। सुनो! हे पुरुषश्रेष्ठ! पूर्व काल में एक बार राजा मुचकुन्द ने प्रणाम कर यही प्रश्न किया था और कबूतर की मुक्ति की कथा परशुराम ने मुचकुन्द को सुनायी थी। परशुराम जी ने कहा था—हे राजन्! मैं तुम्हें धर्म-रहस्य-पूर्ण काम तथा अर्थ देने वाली एक कथा सुनाता हूँ। तुम सावधान हो कर सुनो। इस धराधाम पर किसी एक वन में एक पारधि रहता था। वह बड़ा दुराचारी था और उसकी शक्ल काल की तरह भयङ्कर थी। वह कौए की तरह काला कलूटा था और दोनों आँखें लाल थीं। उसकी दोनों जाँघे लंबी, पैर छोटे, मुख चौड़ा और ओंठ लटकते हुए थे। देखने में वह काल की तरह भयङ्कर जान पड़ता था। न तो उसका कोई स्नेही था, न कोई बन्धु-बान्धव था और न कोई नातेदार था। वह ऐसा घोर कर्मी था कि, उसे सब ने त्याग दिया था। जो मनुष्य पापी हो उससे दूर रहना ही प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है। क्योंकि जो स्वयं हिंसक है, उससे किसी की भलाई की आशा क्यों कर की जा सकती है। जो पुरुष क्रूर, दुरात्मा, प्राणियों के प्राण को हरने वाला होता है, वह विषधर सर्प की तरह प्राणियों के लिये उद्वेगकारी होता है। हे राजन्! पारधि नित्य जाल ले कर, वन में जाता था और पक्षियों का संहार कर, उनका माँस बाज़ार में बेचा करता था। इस प्रकार आजीविका चलाते चलाते उस दुरात्मा के जीवन का बहुत सा समय बीत गया; किन्तु उस ने धर्माधर्म को न पहचान पाया। वह अपनी स्त्री की सहायता से नित्य विहार किया करता था और भाग्यवश वह ऐसा निष्ठुर हो गया था कि, उसे सिवाय पक्षियों को मारने के दूसरी आजीविका अच्छी ही नहीं लगती थी।

एक दिन वह बहेलिया जब पक्षियों को पकड़ने के लिये वन में इधर उधर फिर रहा था, तब बड़े ज़ोर से आँधी चलने लगी। उस समय ऐसा जान पड़ा, मानों वन के वृक्ष जड़ से उखड़ जावेंगे। नौकाओं से जैसे

समुद्र पट जाता है, वैसे ही देखते देखते आकाश में बादल छा गये। इन्द्र ने मूसलाधार वर्षा आरम्भ की और क्षण भर में समस्त पृथिवी जलमय हो गयी। तब तो वह बहेलिया उस जल-वृष्टि से घबराया और बहुत डरा। मारे शीत के उसका शरीर जकड़ सा गया और थरथर काँपता हुआ, वह वन में इधर उधर भटकने लगा। वन का रास्ता पानी से भर गया था। अतः उस बहेलिये को सूखी जगह कहीं नहीं देख पड़ती थी। वर्षा के वेग से पीड़ित हो कितने ही पक्षी मर कर, पृथिवी पर गिर पड़े। कितने ही वृक्षों पर सकुड़े बैठे रहे। मृग, सिंह, शूकर तथा अन्य वन्य-पशु उच्च स्थानों पर पड़े पड़े सो गये। उस तूफान से समस्त वनवासी प्राणी भयत्रस्त एवं क्षुधा से आर्त हो और इकट्ठे हो कर, घूम रहे थे। किन्तु पक्षी-घाती बहेलिये का शरीर ठंढ के कारण शिथिल पड़ गया था। अतः वह आगे नहीं बढ़ सकता था। यहाँ तक कि, उससे वहाँ खड़ा भी नहीं रहा जाता था। इसी बीच में उसकी निगाह ठंढ से अकड़ी हुई एक कबूतरी के ऊपर पड़ी। यद्यपि वह स्वयं भी उस समय ठंढ से पीड़ित था, तथापि उसने उस कबूतरी को उठा कर पिंजड़े में बंद कर लिया। वह बहेलिया महा पापी था। अतः उसने इस समय भी पापकर्म ही किया। कबूतरी को पिंजड़े में बंद करने के पीछे जब उसने अपनी निगाह इधर उधर दौड़ाई तब उस वृक्षावली में एक विशाल घटा की तरह एक विशाल वृक्ष देख पड़ा। वह वृक्ष अनेक पक्षियों का आश्रय-स्थल था। परमात्मा ने मानों उस वृक्ष को परोपकार के लिये ही उत्पन्न किया था। क्षण भर में आकाश निर्मल हो गया और कमल खिल जाने से जैसी शोभा किसी बड़े भारी सरोवर की होती है, वैसी ही शोभा गगन-मण्डल की तारागण के निकल आने से हो उठी। तब वह बहेलिया काँपता हुआ आगे बढ़ने लगा। उस समय उसने जाना कि, आधी रात बीत चुकी है और उसका घर वहाँ से दूर है। तब उसने शेष रात उस विशाल वृक्ष के नीचे रह कर बिताने का निश्चय किया। वृक्ष के

निकट पहुँच, उसने हाथ जोड़ कर उसे प्रणाम किया और कहा—इस वृक्ष पर रहने वाले देवताओं के मैं शरण होता हूँ। इस प्रकार प्रार्थना कर और भूमि पर पत्ते बिछा और एक शिला पर सिर रख, वह लेट गया। उस समय वह बड़े कष्ट में था। तो भी वह लेटते ही गाढ़ निद्रा के वशीभूत हो गया।

एकसौ चौवालीस का अध्याय

गृहिणी ही से घर है

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज! उस वृक्ष की डाली पर एक रंग बिरंगा कबूतर रहता था। उस दिन सवेरा होते ही उस कबूतर की मादा दाना चुगने गयी थी और रात्रि हो जाने पर भी लौट कर नहीं आयी थी। इस लिये वह कबूतर सन्तप्त हो रहा था। वह कह रहा था कि, हाय! आज बड़ा भारी तूफान आया? बड़ी भारी वर्षा हो गयी। किन्तु बड़े दुःख की बात है कि हे प्रिये! तू अभी तक लौट कर नहीं आयी। मेरे को धिक्कार है। तेरे न आने का न मालूम कारण क्या है। नहीं मालूम मेरी प्यारी सकुशल है कि नहीं! तेरे विना मुझे अपना घर सुनसान जान पड़ता है। पुत्र, पौत्र, पुत्रवधुएँ और सेवकों से घर भले ही परिपूर्ण हो, किन्तु यदि उस घर में एक गृहिणी नहीं है, तो वह घर उजाड़ है। घर को घर नहीं कहते, किन्तु गृहिणी ही से घर, घर कहलाता है। वह रक्त नेत्रों वाली, मधुर स्वर वाली और चितकबरी मेरी प्रिया, यदि आज न आयी तो मैं जी कर ही क्या करूँगा। मेरी सदाचारिणी प्रिया मुझे खिलाये विना स्वयं नहीं खाती थी, मुझे स्नान कराये विना स्वयं स्नान नहीं करती थी। मैं जब तक बैठ नहीं जाता था, तब तक वह बैठती न थी। मैं जब तक सो नहीं जाता था; तब तक वह सोती न थी। वह मुझे प्रसन्न

देख प्रसन्न होती और मुझे दुखी देख दुखी होती थी। मैं जब बाहर जाता तब उसका चेहरा उतर जाता था। यदि मैं क्रुद्ध होता, तो वह प्रिय वचन बोलती थी। मेरी पत्नी पतिव्रता होने के कारण मुझ पति को परमगति मानती थी। पति के हित एवं प्रिय में तत्पर रहने वाली मेरी जैसी पत्नी जिसकी हो वह बड़ा भाग्यवान माना जाता है। मेरी पत्नी बड़ी कष्टसहिष्णु, मुझमें प्रीति रखने वाली, दृढ़ विचार वाली और मेरी अनुरक्त है। उसका मुझमें पूर्ण अनुराग है। मैं जब भूखा होता हूँ या थक जाता हूँ; तब वह यशस्विनी जान जाती है। यदि कोई प्राणी वृक्ष तले ही क्यों न रहता हो और यदि उसकी भार्या उसके साथ है तो वह वृक्ष के तले का वास भी उसके लिये राजप्रासाद के समान है। यदि पत्नी न हो तो राजभवन का वास भी वनवास तुल्य होता है। धर्म, अर्थ और काम में भार्या अपने पति को सहायता देने वाली है। परदेश में वह विश्वासी मित्र जैसा काम देने वाली है। पुरुष के लिये भार्या ही परमार्थ है। इस जगत में जिस पुरुष का कोई सहायक नहीं, उसको सहायता देने वाली उसकी भार्या ही होती है। चिरकालीन रोगी पुरुष की और रोग से पीड़ित पुरुष की स्त्री से बढ़ कर अन्य कोई दवा नहीं है। पुरुष का स्त्री के समान कोई बन्धु नहीं और स्त्री के समान गति नहीं है। इस जगत में स्त्री के समान धर्मसंग्रह में सहायता देने वाला दूसरा कोई नहीं है। जिसके घर में गुणवती और प्रियभाषिणी गृहिणी नहीं है, उस पुरुष को वन में चला जाना चाहिये। क्योंकि उसके लेखे जैसा घर वैसा ही वन है।

एकसौ पैंतालीस का अध्याय

आतिथ्य-महिमा

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! जब कबूतर इस प्रकार करुणोत्पादक विलाप कर रहा था, तब बहेलिये की क़ैद में पड़ी हुई उसकी कबूतरी ने

पिंजड़े के भीतर से कहा—हे मेरे प्रियतम ! मुझमें गुण हों या न हों, किन्तु मेरे भाग्यवती होने में सन्देह नहीं। क्योंकि तुम मेरी सराहना कर रहे हो। जिस पत्नी से पति को सन्तोष नहीं होता, वह भार्या ही नहीं है। जिस भार्या पर भर्त्ता प्रसन्न होता है, उस पर समस्त देवता भी प्रसन्न होते हैं। जिस पुरुष के साथ अग्नि की साक्षी में स्त्री का विवाह होता है, वह पुरुष ही उस स्त्री का परम देवता है। जिस पत्नी का पति अपनी स्त्री द्वारा सन्तुष्ट नहीं किया जाता, वह पत्नी उसी तरह जल कर भस्म हो जाती है, जिस तरह दावानल से पुष्प और गुच्छों सहित लता भस्म हो जाती है। यह विचार कर वह शोकार्त्ता और क़ैद में पड़ी हुई क़बूतरी कहने लगी—हे नाथ ! मैं अब कल्याणदायिनी जो बात कहती हूँ, उसको सुनो और उसके अनुसार ही बर्त्ताव करो। हे कान्त ! तुमसे जहाँ तक हो सके, तुम इस शरणागत बहेलिये की रक्षा करो। क्योंकि यह तुम्हारे वासस्थान के नीचे आ कर पड़ा सो रहा है। यह शीत और भूख से पीड़ित है। इसका तुम आतिथ्य करो। जो पुरुष शरणागत की रक्षा नहीं करता, उसे ब्राह्मण के और लोकमाता गौ के वध करने का पाप लगता है। तुम तो स्वयं आत्मज्ञानी हो। अतः ईश्वर ने जाति धर्मानुकूल हम कपोतों की वृत्ति बना दी है। उसीके अनुसार तुम्हें व्यवहार करना चाहिये। उस वृत्ति का पालन तुम जैसे व्यक्ति को अवश्य करना चाहिये। क्योंकि सुना है जो गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार आश्रम धर्म का पालन करता है, वह मरने के बाद अक्षय्यधाम को जाता है। हे पक्षी ! तुम तो पुत्रवान् होने से सन्तान वाले हो। अतः तुम अपने देह की ममता को त्याग कर धर्मार्थ को स्वीकार कर, बहेलिये को सन्तुष्ट करने के लिये उसका आतिथ्य करो। हे पक्षी ! मेरे लिये तुम बिल्कुल सन्तप्त मत होना क्योंकि तुम यदि जीते रहे तो तुम्हें अन्य स्त्रियाँ मिल जाँयगी।

पिंजड़े में बंद वह कबूतरी इस प्रकार अत्यन्त दुखी हो, अपने पति से कह, कबूतर के मुख को निहारने लगी।

एकसौ छियालीस का अध्याय

शरणागत-रक्षा

भीष्म ने कहा—हे युधिष्ठिर! अपनी पत्नी के सदाचारयुक्त एवं युक्ति-युक्त वचनों को सुन कर, कबूतर बहुत प्रसन्न हुआ और मारे हर्ष के उसके नेत्रों से आँसू निकल पड़े। तदनन्तर कबूतर ने उस बहेलिये का, जो नित्य पक्षियों का बध किया करता था, आतिथ्य किया और उससे कहा—आप का स्वागत है। कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आप मन में सन्ताप न करें। आप अपने को इस समय अपने घर ही में समझें। अतः आप कहें कि मैं आपका क्या सत्कार करूँ? आपकी इच्छा क्या है? आप मेरे शरणागत हैं। अतः स्नेहवश मुझे आपसे यह पूछना पड़ता है। गृहस्थ का धर्म है कि घर आये शत्रु का भी यथायोग्य सत्कार करे। क्योंकि वृक्ष उस पुरुष के ऊपर से अपनी छाया हटा नहीं लेता जो उसकी जड़ काटने के लिये आता है। गृहस्थ को तो निश्चय ही पञ्चमहायज्ञ द्वारा शरणागत का आतिथ्य यत्नपूर्वक करना ही चाहिये। जो गृहस्थ अनजाने भी ऐसा नहीं करता उसके उभय लोक अर्थात् यह लोक और परलोक नष्ट हो जाते हैं। अतः आप मुझमें पूर्ण विश्वास रख, बतलावें कि, मैं आप की क्या सेवा करूँ। आप जो कुछ कहेंगे, मैं वही करूँगा। आप इसके लिये ज़रा भी चिन्ता न करें। कबूतर की बात सुन कर, बहेलिये ने कहा—इस समय मैं शीत से अत्यन्त विकल हूँ। अतः शीत से तू मेरी रक्षा कर।

जब बहेलिये ने इस प्रकार कहा—तब कबूतर भूमि पर पत्ते बिछा कर और अग्नि लाने के लिये वहाँ से उड़ कर गया और लुहार के घर से वह आग ले आया। उस आग से सूखे पत्ते जला दिये। तदनन्तर कबूतर ने बहेलिये से कहा—अब आप निश्चिन्त हो तापें।

कबूतर के इस वचन को सुन बहेलिये ने कहा—तथास्तु। यह कह वह तापने लगा। जब उसका शरीर गर्मा उठा, तब उसने हर्षित हो सामने खड़े कबूतर से कहा—मुझे भूख लगी है। मुझे अब कुछ तू खाने को दे।

इस पर कबूतर ने कहा—मेरे पास ऐसा कोई सामान नहीं, जिसके द्वारा मैं आपकी क्षुधा मिटा सकूँ। हम तो वनवासी हैं और तुरन्त मिले हुए पदार्थ को खा कर अपनी भूख मिटा लिया करते हैं। इसीसे हम लोग "उत्पन्न-भक्षी" कहलाते हैं। जैसे वनवासी अन्न का संग्रह नहीं करते, वैसे ही हम लोग भी अन्न का संग्रह नहीं करते। कहते कहते कबूतर ने यह बात बहेलिये से कह तो डाली, किन्तु वह मन ही मन बहुत उदास हुआ। कबूतर ने मन ही मन विचारा कि, अब मैं क्या करूँ? वह चिन्तामग्न हो अपनी दशा की निन्दा करने लगा। कुछ क्षणों बाद उसके मन में एक बात आयी और उसने उस बहेलिये से कहा—आप एक घड़ी सब्र करें। मैं अभी आपको तृप्त करता हूँ।

यह कह उस कबूतर ने सुलगती हुई आग में और सूखे पत्ते डाल उसे खूब प्रज्ज्वलित किया। फिर वह परम हर्षित हो कहने लगा—ऋषियों, पितरों और देवताओं का यह कथन है कि, अतिथि की पूजा करना बड़ा भारी पुण्यप्रद कर्म है। हे शान्तिगुणी! आप मेरे ऊपर कृपा कर मेरी स्पष्ट बात को सुनियें। आप मेरे अतिथि हैं। अतः मैंने आपका आतिथ्य करने का अपने मन में पूर्ण निश्चय कर लिया है। यह कह, उस प्रसन्नवदन कबूतर ने अग्नि की तीन बार परिक्रमा की और वह जलती हुई आग में कूद पड़ा। उसे अग्नि में भस्म होते देख, बहेलिये ने मन ही मन कहा—हा! मैंने यह क्या किया? हाय! मैं बड़ा निठुर हूँ! मैं बड़ा निन्दितकर्मी हूँ! इस कबूतर के अग्नि में गिर पड़ने से तो मुझे बड़ाभारी पाप लग गया।

कबूतर को अग्नि में जलते देख, वह बहेलिया बहुत रोया और उसने अपनी वृत्ति की (पेशे की) निन्दा की।

एकसौ सैंतालीस का अध्याय

बहेलिये का वैराग्य

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! यद्यपि बहेलिया भूख से पीड़ित था, तथापि कबूतर को अग्नि में जलते देख वह कहने लगा—मुझ क्रूर और मूर्ख से हाय यह क्या बन आयी !! हा ! मैं दूसरे के माँस से अपना निर्वाह करता हूँ । मैं महादरिद्र हूँ । मैं घोर पापी हूँ । इस प्रकार वह बारंबार अपनी निन्दा करता हुआ कहने लगा । मैं इस योग्य नहीं कि मुझ पर कोई विश्वास करे । मैं बड़ा दुर्बुद्धि हूँ । मैं पाप-सङ्कल्प-युक्त हूँ । हाय ! मैं शुभ कर्म त्यागे बैठा हूँ और हत्यारा बना हुआ हूँ । मुझ क्रूर को इस कबूतर ने शिक्षा दी है । इस महात्मा कपोत ने अग्नि में भस्म हो मुझे खाने के लिये अपना माँस अर्पण किया है । इस महात्मा कबूतर ने मुझे कर्त्तव्य-पालन का उपदेश दिया है । मैं अब अपने पुत्र, कलत्र तथा प्रिय प्राणों को भी छोड़ दूँगा । मैं अपने शरीर को वैसे ही सुखा डालूँगा, जैसे ग्रीष्म ऋतु में सरोवर सूख जाते हैं । भूख, प्यास और शीत को सह कर, मैं अपना शरीर कृश कर डालूँगा । यहाँ तक कि, मेरे शरीर में नसें ही नसें रह जायँगी । अनेक उपवास कर मैं पारलौकिक श्रेय प्राप्त करने का उद्योग करूँगा । हाय ! इस कपोत ने अपना शरीर उत्सर्ग कर, संसार को दिखला दिया कि, अतिथि का सत्कार कैसे करना होता है । धर्म ही परमगति है, अतः मैं अब धर्माचरण करूँगा । पक्षि-श्रेष्ठ कपोत ने जैसा धर्माचरण किया है, वैसा ही मैं भी धर्माचरण करूँगा ।

इस प्रकार कह और अपने मन में पक्का इरादा कर, उस भयङ्करकर्मा किन्तु कबूतर से प्राप्त शिक्षा द्वारा श्रेष्ठ आचरण करने के लिये उत्सुक बहेलिये ने, महायात्रा करने की ठानी । वह लासा, लकड़ी, लोहे की शलाकाओं को तथा फसायी हुई कबूतरी को वहीं त्याग, तपश्चर्या करने को वन में चला गया ।

एकसौ अड़तालीस का अध्याय

पतिहीना कबूतरी का करुण-विलाप

भीष्म ने कहा—जब वह बहेलिया वहाँ से चला गया; तब शोक से विह्वला उस कबूतरी ने अपने पति का स्मरण कर और विलाप कर कहा—हाय ! हाय ! हे नाथ ! मुझे याद नहीं कि, तुमने कभी भी मेरे मन को बुरा लगने वाला कोई काम किया हो। स्त्री भले ही पुत्रवती हो; किन्तु पतिहीना नारी से बढ़ कर अभागी स्त्री और कोई नहीं है। पतिहीना स्त्रियाँ यदि तपश्चर्या करती हैं, तो इससे भी उनके कुटुम्ब वालों को क्लेश होता है। नाथ ! तुमने मेरा लालन पालन किया था और तुम सदा मेरा मन रखते थे। मैं पर्वतों की गुफाओं में, नदियों के झरनों के स्थानों पर और वृक्षों की रमणीय टहनियों पर बैठ कर, प्रेममय और स्पष्ट मधुर वचनों से तुम्हारे साथ रमण किया करती थी। तुम्हारे साथ मैं आकाश में घूमती थी। हे कान्त ! पहले तो मैं तुम्हारे साथ इस प्रकार रमण करती थी। पर अब तो मेरे लिये कुछ भी नहीं रहा। स्त्री के लिये पिता, भाई और पुत्र जो सुख देते हैं, वह उस सुख के सामने अत्यन्त अल्प है, जो उसे पति द्वारा मिलता है। अतः कदाचित् ही कोई ऐसी अभागी स्त्री होवे जो अपने पति की सेवा न करे। क्योंकि भर्त्ता से बढ़ कर रक्षक कोई नहीं है, और भर्त्ता से बढ़ कर सुख देने वाला भी और कोई नहीं है। इसीसे स्त्रियों को उचित है कि, वे सब प्रकार के धनों और वस्तुओं को त्याग कर, एक पति ही का आश्रय ग्रहण करें। वह कौन सती स्त्री होगी, जो पति के बिना व्यर्थ जीना चाहेगी।

इस प्रकार अत्यन्त शोकार्त्ता वह कबूतरी करुणोत्पादक बहुत विलाप करने लगी। अन्त में वह भी दहकती हुई आग में कूद पड़ी। तब उसने देखा कि, बाजूबन्द, हार आदि आभूषणों से भूषित उसका पति

एक दिव्य विमान पर बैठा हुआ है। उसके शरीर पर बढ़िया कपड़े हैं और गले में फूलों के हार पड़े हुए हैं। विमानों पर सवार अनेक महात्मा लोग उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। इस प्रकार वह कबूतर उत्तम विमान पर सवार हो, स्वर्ग में गया और अपने उस पुण्य से अपनी भार्या सहित स्वर्ग में जा विहार करने लगा।

एकसौ उनचास का अध्याय

शरणागत-रक्षण सर्वश्रेष्ठ कर्म है

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज! बहेलिये ने देखा कि कबूतर और कबूतरी एक उत्तम विमान में बैठ स्वर्ग को जा रहे हैं। उनकी इस सद्गति को विचार वह बहेलिया मन ही मन कहने लगा मैं इसी प्रकार तप कर के, परमगति प्राप्त करूँगा। ऐसा निश्चय कर उसने भी महा-प्रस्थान की तैयारियाँ कीं। पक्षियों की हत्या कर अपना निर्वाह करने वाला वह बहेलिया वन में चला गया और वहाँ स्वर्गप्राप्ति की कामना से निश्चेष्ट और ममतारहित हो तथा पवन पी कर चारों ओर घूमने लगा उसने वन में घूमते फिरते बड़ा मनोहर और लंबा चौड़ा एक सरोवर देखा। उसमें शीतल और निर्मल जल भरा था, कमल के फूल खिले हुए थे और पक्षी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उस सरोवर को देखते ही प्यासों की प्यास मिट जाती थी। किन्तु उस बहेलिये ने उस सरोवर की ओर दृष्टि न डाली। वह हिंसाविहारी, प्राणियों से परिपूर्ण महावन में, मन ही मन प्रसन्न होता हुआ घुसा। उसके अंगों में काँटे चुभ गये और उसका शरीर लोहूलुहान हो गया था। तिस पर भी अनेक वन्य पशुओं से भरे उस निर्जन-वन में वह बहेलिया घूमता ही रहा। इतने में बड़े वेग से अन्धड़ चला और वृक्षों में परस्पर रगड़ लगने से दावानल प्रज्वलित हो उठा।

प्रलय कालीन अग्नि की तरह कान्तिवान् उस कुपित अग्नि ने वृक्षों, लताओं और गुच्छों से युक्त उस वन को भस्म करना आरम्भ किया। ज़ोर का पवन चल ही रहा था, अतः ऊँची ऊँची आग की लपटें उठने लगीं और चिनगारियाँ निकलने लगीं। पशु, पक्षियों से परिपूर्ण वह महावन धपधप कर जलने लगा। यह देख और शरीरत्याग का निश्चय कर वह बहेलिया हर्षित होता हुआ उस बढ़ते हुए सर्वभक्षी हुताशन की ओर दौड़ा और अग्नि में शरीर को जला कर पापों से मुक्त हो गया। अन्त में उसे परमसिद्धि प्राप्त हुई।

सब प्रकार के ताप से छुट कर बहेलिये ने देखा कि, वह स्वर्ग में जा पहुँचा है और वह यक्षों, गन्धर्वों तथा सिद्धों के बीच इन्द्र की तरह शोभायमान हो रहा है। इस प्रकार पुण्य के बल कबूतर, कबूतरी सहित बहेलिया स्वर्ग को गये। जो कोई स्त्री इस प्रकार अपने स्वामी का अनुगमन करती है; वह उस कबूतरी की तरह स्वर्ग में बिराजती है। पुण्यबल से कबूतर, कबूतरी और बहेलिये की स्वर्गप्राप्ति का यह प्राचीन कालीन एक इतिहास है। जो पुरुष इस आख्यान को सदा सुनता है या कीर्त्तन करता है वह यदि प्रमादी भी हो, तो भी उसका अशुभ नहीं होता।

हे धर्मभृतांवर! शरणागत को आश्रय प्रदान करना यहाँ पुण्यप्रद कार्य है। जो ऐसा करता है, वह भले ही गोघातकी ही क्यों न हो, वह उस पाप से छूट जाता है। जो शरणागत का वध करता है, उसके उस पाप का कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है।

इस पुण्यप्रद एवं पापनाशन इतिहास को सुनने वाले पुरुष को दुर्गति नहीं होती और उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

एक सौ पचास का अध्याय

इन्द्रोत का जनमेजय को शाप

युधिष्ठिर ने पूँछा—हे पितामह ! अब आप मुझे यह बतलावें कि, पुरुष अनजान में किये हुए पातकों से कैसे छुट सकता है ?

भीष्म ने कहा— हे धर्मराज ! शुनकवंशी इन्द्रोत नामक ब्राह्मण द्वारा जनमेजय से कही हुई और ऋषिप्रोक्त एक प्राचीन कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ। परीक्षितपुत्र राजा जनमेजय बड़ा पराक्रमी था। इस राजा के हाथ से एक बार अनजाने एक ब्राह्मण की हत्या हो गयी थी। तब पुरोहित और समस्त ब्राह्मणों ने एकत्र हो, उस राजा को त्याग दिया। तब वह राजा रात दिन मन में सन्तप्त रहने लगा और राजपाट त्याग वन में चला गया। प्रजा ने भी उसका बहिष्कार कर दिया था। अतः वह राजा रोषान्वित भी था। वह वन में जा अपने कल्याण के लिये तप करने लगा। पापसन्तप्त वह राजा देश देश भटकता हुआ, ब्राह्मणों से ब्रह्महत्या छुड़ाने का उपाय पूछने लगा।

राजा जनमेजय उस पाप कर्म के लिये मन ही मन सदा सन्तापित रहा करता था। अन्त में वह प्रायश्चित्त करने की कामना से, उत्तम व्रतधारी शुनकपुत्र इन्द्रोत के निकट गया और उसने उनके दोनों चरण पकड़ लिये। ऋषि ने उसे देख, उसका बड़ा अपमान किया और उससे कहा...तू महापापी है। तूने बालहत्या की है। तू यहाँ क्यों आया है ? तुझे मुझसे क्या प्रयोजन है ? तू मेरे सामने अभिमान मत करना। तू अब यहाँ से चल दे। क्योंकि तेरा यहाँ रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। तेरे शरीर से लोहू की गन्ध निकलती है। तेरा मुख देखने से शव देखने का पाप लगता है। अपवित्र हो कर भी तू पवित्र बनता है। तू मृतक समान हो कर भी जीवित पुरुष की तरह घूमता है। तू शववत् है, तेरा आत्मा अपवित्र है। इसका तुझे विचार नहीं है। यद्यपि तू नित्य सोता

और नित्य जागता है, तथापि तेरा जीवन एक-कंगाल व्यक्ति जैसा है। हे राजन्! तेरा जीवन व्यर्थ है। तेरा जीवन क्लेश-मय है, तू पापकर्म करने वाला है और नीच कर्म करने ही को तेरा जन्म हुआ है। पितृगण बड़े कल्याण के लिये पुत्र की चाहना किया करते हैं। वे पुत्रों के लिये तपश्चर्या करते हैं, देवाराधन करते हैं, देवताओं की वन्दना करते हैं और बड़े बड़े कष्ट सहते हैं। तू देख, तेरे पिता का सारा वंश का वंश नरक में पड़ा है। पितरों ने तुझसे जो आशाएँ की थीं उनकी वे सब आशाएँ निष्फल गयीं। जिनका आराधन करने से अन्य लोगों को स्वर्ग, यश और आयु प्राप्त होती है उन ब्राह्मणों के साथ ही तू सदैव अकारण द्वेष करता है। अतः इस पापकर्म को करने के लिये तू इस लोक को त्यागने के पीछे बहु-वर्षों तक औंधा हो, अशाश्वत नरक में गिरेगा। वहाँ लोहे की चोंचों वाले गिद्ध और मयूर तेरा माँस नोचेंगे। तदनन्तर तू पापयोनि में जन्म लेगा। हे राजन्! यदि तूने कहीं यह समझ लिया हो कि, जब इस लोक ही में कुछ नहीं है, तब परलोक में क्या रखा है, तो जब तू मर कर यमलोक में जायगा, तब यमदूत तुझे परलोक में कुछ होने न होने का निश्चय करवा देंगे।

एकसौ इक्यावन का अध्याय

शौनक और जनमेजय

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! जब इन्द्रोत ने इस प्रकार राजा जनमेजय से कहा; तब उसने उत्तर में यह कहा—आप मुझ निन्द्य की निन्दा करते हैं और मुझ आक्षेप योग्य पर आक्षेप करते हैं। यद्यपि मैं स्वयं और मेरे कर्म निन्द्य हैं, तथापि मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि, आप मेरे ऊपर कृपा करें, क्योंकि मैं पाप कर्मों से परिपूरित हूँ। तिस पर

भी मैं पश्चात्ताप रूपी अग्नि में अपने समस्त पापों को भस्म कर रहा हूँ। मैं जब अपने कर्मों को विचारता हूँ, तब मुझे बड़ा दुःख होता है। मैं आपके सामने सत्य कहता हूँ कि, मैं यमराज से बड़ा भयभीत हूँ। ब्रह्महत्या रूपी काँटा मेरे हृदय में चुभ गया है। उस काँटे को बिना निकाले मैं कैसे जी सकता हूँ। हे शौनक! आप क्रोध को दूर कर, मुझे बतलावें कि, मुझे क्या करना चाहिये? मैं पहिले ब्राह्मणों का मान करूँगा। आप मेरे वंश का नाश न होने दें और मेरे कुल का पराभव बचावें। जिन लोगों ने ब्राह्मणों की हिंसा की हो और इस कारण वेदाज्ञा के अनुसार जगत में मान पाने का और अपने जाति भाइयों के साथ व्यवहार करने का अधिकार खो दिया है, उनका वंश इस जगत में चलता रहे—यह ठीक नहीं। किन्तु मैं तो अपने कर्म के लिये बहुत खिन्न हूँ। मेरा उद्धार कीजिये। यह बात मैं आपसे बारंबार कहता हूँ। परिग्रह-रहित योगी पुरुष जैसे निर्धन दीन पुरुषों की रक्षा करते हैं, वैसे ही आप भी मेरी रक्षा कीजिये। पापी पुरुष यज्ञ का अधिकार नहीं रखते और यज्ञ किये बिना वे परलोक नहीं पा सकते। इसी लोक में रह कर वे पुलिन्द और शबरों की तरह नरक-यातना भोगा करते हैं। हे शौनक! मैं अज्ञानी हूँ। आप मुझे प्रसन्न हो वैसे ही उपदेश दें जैसे ज्ञानी-जन अज्ञानी शिष्य का और पिता अपने पुत्र को उपदेश देता है।

शौनक बोले—जब कोई बुद्धिहीन पुरुष कोई अनुचित कार्य करता है, तब पण्डितों को आश्चर्य नहीं होता और वे ऐसे अपराधियों पर रोष भी नहीं करते। क्योंकि प्रज्ञा के राज-प्रासाद पर आरूढ़ पुरुष उत्तम पुरुषों की चित्त-वृत्ति को देख कर सोचता है। ऐसा मनुष्य अपनी बुद्धि से जगत को वैसे ही देखता है, जैसे पर्वत-शिखारूढ़-जन भूमि पर खड़े हुए मनुष्यों का निरीक्षण किया करता है। जो सत्पुरुषों के धिक्कार का पात्र है, जो सत्पुरुषों से दूर रहता है तथा जो सत्पुरुषों के विचारों को छिपाता रहता है, वह पुरुष बड़े पुरुषों से बुद्धि नहीं पा सकता। अतः उससे

अच्छे काम भी नहीं हो सकते। ब्राह्मणों का शौर्य, वीर्य, उनकी महिमा, वेद तथा धर्मशास्त्र का मर्म तू जानता है। अतः तू इस प्रकार काम कर जिससे तेरा मन शान्त हो और ब्राह्मण तुझे शरण दे। हे तात! यदि ब्राह्मण तेरे ऊपर सुप्रसन्न हो गये तो तुझे परलोक मिलेगा और तू पाप के लिये प्रायश्चित्त करेगा तो तुझे धर्म का वास्तविक रूप मालूम हो जायगा।

जनमेजय बोला—हे शौनक! मुझे अपने पापकर्म के लिये बड़ा सन्ताप है। मुझे अपनी भलाई की बड़ी चिन्ता है। इसीसे आपके निकट आया हूँ। आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों।

शौनक ने कहा—राजन्! तू दम्भ एवं अभिमान को त्याग दे। मैं तेरा भला करना चाहता हूँ। तू धर्म का विचार रख, समस्त प्राणियों का हितचिन्तक बन। यद्यपि मैं डर कर या सङ्कोचवश या लालच में पड़ तुझे अपना शिष्य नहीं बना सकता, तथापि तू मेरी दैवी और सत्य वाणी को ब्राह्मणों के सम्मुख सुना। यद्यपि मैं किसी से किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं रखता; तथापि मैं तुझे धर्म मार्ग दिखलाऊँगा। किन्तु जब मैं ऐसा करूँगा, तब लोग यह कह कर कोलाहल मचावेंगे और कहेंगे कि, शौनक ने एक ब्रह्म-हत्यारे को अपना शिष्य बनाया है। अतः शौनक को धिक्कार है। परन्तु मैं उन लोगों के कथन पर ज़रा सा भी ध्यान न दे कर, केवल अपने कर्त्तव्य के अनुरोध से तुझे शिष्य बनाता हूँ। मुझे मालूम है कि, मेरे जो स्नेही जन हैं, वे मुझे अधर्मी बतला मुझे त्याग देंगे। मेरे स्नेहियों का मेरे प्रति ऐसा वर्त्ताव देख, कितने ही लोग, मुझ पर कुपित भी होंगे और कितने ही बुद्धिमान जन मेरे आन्तरिक भाव को समझ भी लेंगे। हे वत्स! तुझे एक प्रतिज्ञा करनी होगी। वह यह है कि, तुझे मेरे अभिप्रायानुसार ब्राह्मणों के साथ वर्त्ताव करना होगा। ब्राह्मणों की मेरे अनुरोध से तेरे हाथ से भलाई होनी चाहिये। फिर तू यह भी प्रतिज्ञा कर कि, आज से फिर कभी तू किसी ब्राह्मण के साथ द्वेष न करेगा।

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं आपके दोनों चरणों को स्पर्श कर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि मैं अब आगे कभी भी मनसा, वाचा और कर्मणा किसी ब्राह्मण से द्रोह नहीं करूँगा।

एकसौ बावन का अध्याय

ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चितात्मक अश्वमेध-यज्ञ

शौनक ने कहा—हे राजन् ! तेरे मन की प्रवृत्ति धर्म की ओर देख, अब मैं तुझे धर्मोपदेश देता हूँ। तू ज्ञानी है, महा बलवान् है और सन्तोषी है। तू अपनी इच्छा के अनुसार धर्म का अवलोकन करने वाला है। राजा लोग प्रथम तो उग्रता दिखलाते हैं; किन्तु पीछे निज सदाचरण से प्राणियों पर दया करते हैं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। यह बात सारे संसार में विख्यात है कि, यदि राजा क्रूर हुआ, तो वह समस्त प्रजा को नष्ट कर डालता है। तू भी पहले क्रूर राजा था; किन्तु अब तेरा मन धर्म की ओर झुका है।

हे जनमेजय ! उत्तम प्रकार के भक्ष्य और भोज्य पदार्थों को छोड़ कर तूने दीर्घकालीन तपश्चर्या की है। पापी राजाओं को तेरे इस कृत्य से बड़ा आश्चर्य हो रहा है। समृद्धशाली जनों को दानशील होना चाहिये और तपस्वी को अपना तप व्यय करते समय कृपण होना चाहिये। अतः वास्तव में तो इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि वे एक दूसरे से दूर नहीं रहते हैं। जो पूर्वापर का विचार किये बिना ही काम करता है, उसकी बड़ी क्षति होती है और जो कार्य समझ बूझ कर किया जाता है, उससे लाभ होता है।

हे पृथिवीपते ! यज्ञ, दान, अनुकम्पा, वेद और सत्य—ये पाँच पवित्र माने गये हैं। छठवीं पवित्र वस्तु भली भाँति की गयी तपस्या है।

ये छः वस्तुए राजा को परम पावन बनाने वाली हैं। यदि तू इनको ठीक ठीक रीति से ग्रहण करे तो मुझे शुभप्रद पुण्यफल की प्राप्ति होगी। फिर इसी प्रकार पवित्र तीर्थों में जाना भी पावन बनाने वाला है। इस विषय में राजा ययाति की कही हुई एक गाथा प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है। जिस पुरुष को अपनी आयु बढ़ाने की इच्छा हो, वह श्रद्धा पूर्वक यज्ञ यगादि कर्म करे, वृद्ध होने पर संन्यास ग्रहण कर तप करे, कुरुक्षेत्र तीर्थ पवित्र है, कुरुक्षेत्र की अपेक्षा सरस्वती नदी पवित्रतर है और सरस्वती की अपेक्षा अन्य तीर्थ अधिक पवित्र हैं और अन्य तीर्थों की अपेक्षा पृथूदक नामक तीर्थ पवित्रतम है। पृथूदक तीर्थ में स्नान करने से और इस तीर्थ का जल पीने से मनुष्य की अकाल मृत्यु नहीं होती। पुष्कर, प्रभास, मानसरोवर और कटलोहक तीर्थ में तू जा। वहाँ जाने से तू दीर्घायु होगा। सरस्वती और दृषद्वती के सङ्गमस्थल का नाम मानसरोवर है। जो वेदवेत्ता पुरुष हो उसे उचित है कि वह समस्त तीर्थों में स्नान कर, दान दे। ऐसा करने से वह परम पावन माना जाता है।

मनु का कथन है कि दानधर्म सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु दान से भी बढ़ कर श्रेष्ठ है सर्व-सङ्ग-परित्याग। इस विषय पर सत्यवान् की गाथा इस प्रकार है—जैसे कोई बालक जो कुछ करता है, वह अज्ञानवश ही करता है, उसके किये खोटे खरे कर्मों का फल उसे नहीं प्राप्त होता। किन्तु अन्य मनुष्यों को निर्दोष कार्य करने चाहिये। इस लोक में प्राणिमात्र के लिये जब दुःख ही नहीं है, तब सुख तो होगा ही कहाँ से? वास्तव में सुख और दुःख तो अस्वस्थ प्रकृति का परिणाम है। सब के साथ सहवास रखने वाले प्राणिमात्र का यह स्वभाव है। उन लोगों का जीवन उत्तम समझा जाता है जो सर्व-सङ्ग-परित्यागी हैं और पुण्य पाप के फल को त्यागने वाले हैं। अब मैं तुझे राजाओं के उत्तम कर्त्तव्य सुनाता हूँ। सुन।

हे राजन्! तू बल से और उदारता से स्वर्ग को विजय कर। जो पुण्य, शारीरिक बल, सहनशीलता तथा प्राणबल से सम्बन्ध रखता है,

वह धर्म पर अपनी प्रभुता चला सकता है। हे राजन्! तू ब्राह्मणों के लिये तथा सुखभोग के लिये राज्यशासन को हाथ में ले। तू ब्राह्मणों को तिरस्कृत कर उन्हें अप्रसन्न कर चुका है, किन्तु अब तू उनका आदर सत्कार कर, उन्हें प्रसन्न कर। तू ब्राह्मणों से शाप पा चुका है। वे तेरा बहिष्कार कर चुके हैं। किन्तु तू इन बातों पर ध्यान न दे कर, आत्मज्ञान से ब्राह्मणों से कह—मैं अब आपको नहीं मारूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर और प्रतिज्ञानुसार कार्य कर के तू अपनी भलाई कर।

हे शत्रुतापन्! कोई राजा तो तुषार की तरह, शीतल कोई आग की तरह उष्ण, कोई हल की तरह दुष्टों को समूल नष्ट कर देने वाला होता है और कोई राजा वज्र की तरह दुष्टों पर अचानक टूट पड़ने वाला होता है। जिसे नाश से बचने की कामना हो, उसे साधारणतः दुष्टों का संग बचाना चाहिये। यदि एक बार कोई पापकर्म बन पड़े, तो मनुष्य पश्चात्ताप करने से उस पाप के फल से छूट जाता है; यदि दुबारा पाप बन पड़े तो पुनः आगे वैसा काम न करने की प्रतिज्ञा करने से वह पापी पाप से मुक्त हो जाता है। "आगे मैं अब कभी पापाचरण न करूँगा" जो ऐसी प्रतिज्ञा करता है, वह तीसरी बार किये हुए पाप के फल से छूट जाता है। जो बराबर पाप करता है, वह समस्त तीर्थों में जाने से पाप मुक्त होता है। जो ऐश्वर्यकामी हो, उसे कल्याणकारक कर्म करने चाहिये। क्योंकि सुगन्धिपूर्ण वस्तुओं को अपने पास रखने वाला पुरुष जैसे सुगन्धियुक्त होता है, वैसे ही दुर्गन्धियुक्त पदार्थों को पास रखने वाले पुरुष के शरीर से दुर्गन्धि आने लगती है। इसी प्रकार जो पुरुष तपनिरत रहता है, वह तुरन्त पापों से छूट जाता है। पापी पुरुष एक वर्ष तक अग्नि की उपासना यदि करे, तो वह पापमुक्त हो जाता है। गर्भहत्या करने वाला पापी तीन वर्षों तक अग्नि की उपासना करने से पाप मुक्त होता है। पुष्कर, प्रभास, मानसरोवर आदि तीर्थों में जाने वाला, पुरुष गर्भहत्या के पाप

से छूट जाता है। जो पुरुष जितने प्राणियों की हिंसा करता है, यदि वही पुरुष उतने ही प्राणियों की प्राण-रक्षा करे तो वह उन प्राणियों की हत्या के पाप से विनिर्मुक्त हो जाता है।

मनु जी कहते हैं जो मनुष्य जल में बैठ कर तीन बार अघमर्षण नामक मंत्र* का जप करता है वह अश्वमेध-यज्ञान्त (अवभृत) स्नान का फल पा, समस्त पापों से छूट जाता है और सत्पुरुष उसका आदर करते हैं। जैसे जड़ और मूक प्राणी सर्वथैव वशवर्ती हो जाते हैं, वैसे ही प्राणि-मात्र उस पर प्रसन्न रहते तथा उसकी सेवा किया करते हैं!

हे राजन्! पूर्वकाल में एक दिन देवता और दैत्य एकत्र हो देवगण बृहस्पति जी के निकट गये और बड़ी विनम्रता के साथ उनसे बोले, हे महर्षे! आप धर्म के फल को जानते हैं, और जिन पापों से प्राणियों को नरकगामी होना पड़ता है, उन्हें भी आप जानते हैं। जिस पुरुष के पाप और पुण्य बराबर होते हैं, उस पुरुष के पाप उसके पुण्य से क्यों नष्ट नहीं होते? अतः आप मुझे पुण्य का फल बतलावें और यह भी बतलावें कि धर्म-निष्ठ पुरुष पाप का नाश किस प्रकार कर सकता है?

बृहस्पति जी ने उत्तर दिया—जो आदमी पहले अनजाने पाप कर बैठता है और समझ आने पर वही पुरुष यदि उस पाप से छूटने के लिये पुण्यकर्म करता है, तो उसके पाप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे खार से मैल छूट जाता है। पापी पुरुष को पापकर्म करने के बाद गर्व न करना चाहिये। प्रत्युत उसे तो श्रद्धा-पूर्वक और ईर्ष्या त्याग, धर्मकर्म करने चाहिये। जो आदमी पापकर्म कर के साधु पुरुषों के ऐबों को छिपाता है, उस पुरुष का भी कल्याण होता है। कल्याणकारी कर्म करने वाला पुरुष समस्त पापों को वैसे ही नष्ट कर डालता है, जैसे सूर्य उदय हो कर समस्त अन्धकार को नष्ट कर डालता है।

---

* "ओं ऋतं च सत्यं" आदि मन्त्र को अघमर्षण-मन्त्र कहते हैं।

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज ! इन्द्रोत ने इस प्रकार राजा जनमेजय को समझा, उससे अश्वमेध यज्ञ करवाया। अश्वमेध यज्ञ कर राजा जनमेजय समस्त पापों से विनिर्मुक्त हो गया। उसका रूपरङ्ग धधकते हुए अग्नि की तरह हो गया था। शत्रु-संहार-कारी राजा जनमेजय की शोभा राजधानी में प्रवेश करते समय वैसी ही हुई, जैसी शोभा पूर्णिमा के चन्द्र की होती है।

एकसौ त्रेपन का अध्याय।

मृतक का पुनर्जीवन

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! क्या आपने कभी किसी मृतक को पुनः जीवित होते भी देखा है ? अथवा ऐसा कभी सुना है ?

भीष्म जी बोले—हे पृथानन्दन ! अब मैं तुम्हें गृद्ध और शृङ्गाल का एक प्राचीन संवादात्मक वृतान्त सुनाता हूँ। यह घटना किसी समय नैमिपारण्य में हुई थी। एक बार किसी ब्राह्मण ने विशाल नयन एक पुत्र पाया। वह पुत्र बचपन ही में बाल-ग्रह के उपद्रव से मर गया। तब उस ब्राह्मण के कितने ही नातेदार शोकातुर हो, अपने कुल के एकमात्र अवलम्ब उस बच्चे का शव लिये हुए श्मशान पर पहुँचे। वहाँ वे उस बच्चे के शव को एक दूसरे के हाथ से ले कर छाती से लगाते और विकल हो हो कर रोते थे। वे लोग उस बालक की तोतली बोली को स्मरण कर दुःखी होने लगे और अन्त में उसके शव को श्मशान में छोड़, वे सब वहाँ से लौटने लगे। उन लोगों के रोने को सुन वहाँ एक गिद्ध आया और कहने लगा—तुम अपने इस एकमात्र बालक के शव को छोड़, तुरन्त यहाँ से चल दो। देर मत करो। बलवान् काल न मालूम कितनी स्त्रियों और पुरुषों को यहाँ खींच लाता है और उनके नातेदार उनके शवों को छोड़, यहाँ

से चले जाते हैं। संसार, सुख और दुःख से व्याप्त है। ज़रा उसकी ओर निगाह तो डालो। मनुष्यों को पुत्र-कलत्र के संयोगों वियोगों को भोगना ही पड़ता है। जो लोग अपने मृत नातेदारों को ले कर यहाँ आते हैं, वे उन मृतकों के साथ नहीं जाते। मृत व्यक्ति भी प्राप्त आयु के शेष होने पर पाप-पुण्य को साथ ले इस संसार से चल बसते हैं। यह श्मशान गिद्धों, शृगालों और नर-कङ्कालों से परिपूर्ण होने के कारण बड़ा भयङ्कर है और इसे देख सब प्राणी भयभीत हो जाते हैं। अतः तुम्हें भी यहाँ नहीं रहना चाहिये। मित्र हो या शत्रु—जब उसे काल घेरता है, तब वह जीवित नहीं रह सकता। प्राणी मात्र की यही गति है। यह मर्त्यलोक है। इसमें जो जन्मता है—वह एक दिन मरता भी अवश्य है। मरण-मार्ग, काल का बनाया हुआ है। उसके उस मार्ग में गये हुए पुरुष को कौन फिर जिला सकता है? सूर्य अस्ताचल-गामी हो चुके हैं और लोग भी अपने अपने कामों से छुट्टी पा, आराम कर रहे हैं। अतः तुम लोग भी अब पुत्र-स्नेह को त्याग कर, अपने घर को लौट जाओ।

हे राजन्! उस गिद्ध के इन वचनों को सुन कर वे लोग उस बच्चे के शव को भूमि पर लिटा वहाँ से जाने को तैयार हो गये। उन्हें अब उस बालक के मर जाने में कुछ भी सन्देह नहीं रहा। उनको निश्चय हो गया कि, अब फिर उस बालक से उनकी भेंट न होगी। ऐसा विचार कर वे सब हताश हो गये और रोते हुए घर की ओर जाने को तैयार हुए। वे मृत बालक को अन्तिम बार देख, जाने वाले ही थे कि, इतने में कौवे की पूँछ की तरह काले रंग का एक शृगाल भीटे से निकल, उन लोगों से बोला—सचमुच इस बालक के सगे सम्बन्धियों को इस बालक से ज़रा सा भी स्नेह नहीं है। अरे मूर्खो! सूर्य अभी बिलकुल अस्त नहीं हुआ—अभी तो वह देख पड़ता है। तुम इस बालक पर ममता रखो और भयभीत मत हो। मुहूर्त्त अनेक रूप धारण करने वाला है। बहुत सम्भव है मुहूर्त्त के प्रताप से यह बच्चा जी उठे। हे निष्ठुर-हृदयो! तुम पुत्र-स्नेह

त्याग कर और अपने कोमल-शरीर-पुत्र को कुश-शय्या पर इस श्मशान में सुला कर, क्यों जा रहे हो ! जिसकी बोली सुन तुम्हें अपार आनन्द प्राप्त होता था, क्या उस तोतली बोली बोलने वाले बच्चे का तुमको ज़रा सा भी मोह नहीं है ? यद्यपि पशु-पक्षियों को अपने बच्चों को पालन पोषण करने का कुछ भी फल नहीं मिलता, तथापि देखो वे अपने सन्तान पर कैसी ममता रखते हैं। कर्म-फल-त्यागी मुनियों को जैसे यज्ञ-फल की कामना नहीं होती, वैसे ही पशु, पक्षी, कीट, पतंग भी अपने स्नेहियों से अथवा पुत्रादि से परलोक प्राप्ति की इच्छा नहीं रखते। उन्हें क्या इस लोक में और क्या परलोक में अपने सन्तानों से कुछ भी सुख नहीं मिलता। तिस पर भी देखो वे अपने सन्तान का कैसे प्रेम के साथ पालन करते हैं। पशु पक्षियों के सन्तान, पालन-पोषण करने वाले अपनी वृद्ध माताओं और वृद्ध पिताओं का कभी भी पोषण नहीं करते, तो भी उनके माता पिता जब अपने बच्चों को नहीं देखते, तब क्या वे दुःखी नहीं होते ? फिर तुम स्नेहशील पुरुष इतने निर्मम क्यों हो ? यह तुम्हारा वंश-धर है—यह एकमात्र तुम्हारा पुत्र सन्तान है, इसे त्याग तुम जाते कहाँ हो ? अभी तक तो तुम इसके लिये इतने रोते धोते थे और बहुत देर लों टकटकी बाँध इसकी ओर देख रहे थे। ऐसी स्नेह-मयी वस्तु का भला कौन त्याग करना पसन्द करेगा ? भले ही महान् दुःख क्यों न आ पड़े। जो शरीर से क्षीण हो गया है, जिस पर राज-दरबार में मामला चल रहा है, जो श्मशान की ओर जाने वाला है, उसका जो साथ दे वही उसका बान्धव है। क्योंकि सङ्कट के समय बान्धव ही काम आते हैं। प्राणि-मात्र को प्राण प्यारे हैं और सब पुरुष स्नेह चाहते हैं। देखो सत्पुरुषों और पशु पक्षियों में कितना स्नेह होता है। तब विवाहित दूल्हा की तरह स्नान कर, पुष्पहार पहनने वाले, कमल की तरह चञ्चल और विशाल नयन इस बालक को यहाँ छोड़ कर जाने के लिये तुम्हारे पैर कैसे उठते हैं ? गीदड़ की इन करुणोत्पादक बातों को सुन, वे सब लोग उस शव की ओर तुरन्त लौट गये।

तब उस गिद्ध ने कहा—अरे ओ निर्बुद्धियो ! तुम इस क्षुद्र मति और क्रूर स्वभाव श्रृगाल की बातों में आ, क्यों लौट आये ! पञ्च महा भूतोंसे व्यक्त और काष्ठवत् निश्चेष्ट पड़े हुए इस बालक के पीछे तुम क्यों दुःखी होते हो ? तुम अपने लिये शोक क्यों नहीं करते ? जा कर तप करो। ऐसा करने से तुमको इस दुःख से छुटकारा मिल जायगा। क्योंकि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो तप द्वारा प्राप्त न हो सकती हो। रोने धोने में क्या रखा है ? शरीर के साथ ही दुर्भाग्य भी उत्पन्न होता है। यह दुर्भाग्य ही है जिसके कारण यह बालक तुम्हें शोकसागर में डुबो कर चला गया। धन, गौ, सुवर्ण, मणि, रत्न और सन्तान यह सब तपःसाध्य हैं और तप योग का फल है। पूर्व-जन्म-कृत कर्मानुसार प्रत्येक जीव सुख और दुःख साथ ले, जन्मता है। न तो पिता पुत्र के कर्म से और न पुत्र पिता के कर्म ही से बँधा है। किन्तु निज पाप पुण्य के फलों से सब लोग बँधे हुए हैं। सब लोगों को अपने अपने कर्मों के अनुसार एक गति प्राप्ति होती है। तुम यत्नपूर्वक धर्माचरण करो। अधर्म की ओर मन मत लगाओ। देवताओं और ब्राह्मणों के साथ समयानुकूल वर्त्ताव करो। शोक तथा दैन्य को त्याग दो। पुत्रस्नेह से निवृत्ति हो और इस बालक को खुले मैदान में छोड़ यहाँ से शीघ्र चल दो। पुरुष भले या बुरे जो कुछ काम करता है, उनके फल उसे भोगने ही पड़ते हैं। इसमें भाई बन्धु क्या कर सकते हैं ? मृत पुरुष चाहे जैसा प्रिय हो, तो भी वे उसे श्मशान में छोड़ते हैं और उसके निकट खड़े नहीं रह सकते। आँसू बहाते हुए उन्हें तो लौट कर, घर जाना ही पड़ता है। बुद्धिमान्, मूर्ख, धनी, निर्धन, पापी पुण्यात्मा सब को काल से काम पड़ता है। दुःखी हो कर तुम कर ही क्या लोगे ? जो मर गया उसके लिये शोक क्यों करते हो ? काल सब का स्वामी है और वह अपने कर्त्तव्य के अनुरोध से सब को एक दृष्टि से देखता है। उभड़ती जवानी में क्रीड़ासक्त तरुण पुरुष को, वृद्धावस्था में पहुँचे

हुए को और माता के गर्भ को, काल जा कर पकड़ता है। इस जगत की गति ही यह है।

गिद्ध के इन वचनों को सुन, शृगाल ने कहा—वाह! तुम तो पुत्र-स्नेहवश अभी अभी बड़ा विलाप कर रहे थे। उस स्नेह को, जान पड़ता है इस मन्दमति गिद्ध ने कम करा दिया। उसकी शान्तिपूर्ण, सुप्रयुक्त और भ्रम में डालने वाली बातों में आ, आपत्य स्नेह को त्याग कर, तुम लोग ग्राम को लौटे जा रहे हो। हा! मैं तो अभी तक यही समझता था कि, अपने बालक के मरण से और उस पर स्नेह होने के कारण, इन रोने वालों के मन में बड़ा दुःख होगा, किन्तु तुम तो मृतवत्सा गौ की तरह अपने प्रिय पुत्र को श्मशान में छोड़ चल दिये! यह बात तो मुझे आज ही मालूम हुई है कि, मनुष्यों को अपने सन्तान के प्रति कैसा मोह होता है। मुझे तो उनकी इस दशा पर रोना आता है। मनुष्य जाति का शोक दिखावटी होता है। किसी को उद्योग करने में त्रुटि न करनी चाहिये। क्योंकि यदि दैवयोग हुआ तो सफलता प्राप्त हो ही जायगी। दैव और पुरुषार्थ का संयोग ही फलप्रद होता है। सदा आशावान् रहे। खेद करने से सुख कैसे मिल सकता है। प्रयत्न करने ही से कार्य की सिद्धि होती है। फिर तुम निर्दय बन कर क्यों लौटे जाते हो? शरीर के माँस से उत्पन्न हुए अर्द्ध शरीर रूपी और पितरों के वंश का नाम रखने वाले इस बालक को श्मशान में छोड़, तुम कहाँ जाओगे? जब तक सूर्य बिलकुल अस्त न हो जाय, तब तक यहाँ रुके रहो। पीछे तुम्हारी इच्छा हो तो पुत्र को ले कर जाना अथवा यहाँ ही बैठे रहना।

गिद्ध ने कहा—हे मनुष्यों! मुझे उत्पन्न हुए आज एक सहस्र वर्ष हो गये—मैंने तो आज तक यह कभी नहीं देखा कि, कोई पुरुष, स्त्री अथवा नपुंसक मर कर जीवित हुआ हो। कितने ही गर्भ ही में मरे उत्पन्न होते हैं, कितने जन्मते ही मर जाते हैं, कोई तब मर जाते हैं, जब चलने

फिरने लगते हैं, कोई जवानी ही में मर जाते हैं और कितने ही बूढ़े हो कर मरते हैं। चाहे चार पैर वाले पशु हों, चाहे गगनचारी पक्षी हों, सब का अदृष्ट नश्वर है। चराचरात्मक सृष्टि का भाग्य ही अनित्य है। यह भाग्य जन्म होने के पूर्व ही रच दिया जाता है। प्रिय जनों के तथा स्त्रियों के वियोग वाले और पुत्र के शोक से विकल पुरुष शोकार्त्त हो, सदा अपने अपने घरों को लौटते रहे हैं। इसी प्रकार सहस्रों बान्धव अपने शत्रुओं तथा मित्रों को इस श्मशान में छोड़ और शोकार्त्त हो अपने अपने घरों को चले गये। तुम ज़रा इस प्राणहीन बच्चे की ओर देखो तो। यह प्राणहीन होने के कारण निस्तेज हो काठ की तरह पड़ा है। जब इसके शरीर का जीवात्मा अन्य शरीर में चला गया और यह काठ की तरह पड़ा है। तब तुम इसे यहीं छोड़ अपने घर को क्यों नहीं जाते? अब तुम्हारी मोह ममता व्यर्थ है। तुम्हारा इससे भेंटना और आलिङ्गन करना व्यर्थ है। न तो इस बच्चे को अब कुछ देख पड़ता है और न कुछ सुन ही पड़ता है। फिर तुम इसे छोड़ अपने घर क्यों नहीं जाते? यद्यपि मैंने तुमसे बड़े कठोर वचन कहे हैं; तथापि हैं ये मोक्ष प्रदर्शन करने वाले तथा हेतुयुक्त। अतः अब तुम लोग अपने अपने घरों को चल दो। मृत मनुष्य को देख, उसके चरित्र याद आते हैं और तब शोक का वेग और भी अधिक हो जाता है।

जब गिद्ध के वचन सुन मनुष्य लौटने लगे, तब गीदड़ भाग कर वह गया, जहाँ बालक पड़ा हुआ था। उसे देख उसने उन लोगों से कहा— तुम गिद्ध की बातों में आ कर अपने इस इकलौते पुत्र को छोड़, क्यों चले जाते हो? इसे यहाँ छोड़ने से तुम्हारा स्नेह, रुदन और विलाप तो छूटेगा नहीं, प्रत्युत इसे यहाँ छोड़ने से तुम्हारा सन्ताप बढ़ेगा। सुना है सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने शूद्र शम्बूक का वध कर धर्मबल से किसी ब्राह्मण के बालक को जिला दिया था। राजर्षि श्वेत का कुमार भी मर गया था, किन्तु धर्मात्मा श्वेत ने उसे पुनर्जीवित कर लिया था। अतः यदि

कोई मुनि, सिद्ध, महात्मा अथवा किसी देवता ने कृपा कर दी तो वह तुम दुखियारों पर दया करेगा और इस मृत बच्चे को जिला देगा।

जब उस श्रृगाल ने यह कहा;—तब वे सब शोकार्त्त मनुष्य श्मशान की ओर लौट आये और एक एक कर उस बच्चे का सिर अपने गोदी में रख, धाड़ मार कर रोने लगे। उनके रूदन को सुन गिद्ध पुनः वहाँ आ कर उनसे कहने लगाः—

गिद्ध बोला—यह बालक धर्मराज की आज्ञा से मृत्यु को प्राप्त हुआ है। अतः अब यह किसी तरह भी नहीं जी सकता। आँसू गिरा कर इसके शरीर को तर करने से अथवा इसके वदन को सुहराने से लाभ ही क्या है? जो तपस्वी थे, जो धनवान थे और जो महाबुद्धिमान् थे, वे सब मर कर प्रेतपुरी में गये हैं, यह श्मशान तो मरने वालों के लिये है। बान्धव भी सदा हज़ारों बालकों और हज़ारों वृद्धों को छोड़ कर तथा दिन रात दुखी हो, इसी भूमि पर सदा के लिये सो चुके हैं। अतः शोक भार वहन करने का आग्रह करने से कुछ लाभ नहीं है। गीदड़ के कथनानुसार यह बालक पुनः जीवित हो जाय, इसका क्या भरोसा? जो व्यक्ति इस शरीर को त्याग मर जाता है, उसका इस शरीर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता। यदि सैकड़ों गीदड़ मिल कर अपने शरीरों को उत्सर्ग कर दें, तो भी वे सौ वर्षों में भी इस बच्चे को पुनः नहीं जिला सकते। हाँ यदि विष्णु, ब्रह्मा, महादेव अथवा स्वामिकार्तिक इसे वर दे कर जिला दें तो बात ही दूसरी है। किन्तु आँसू बहाने से, लंबी लंबी श्वाँसे लेने से अथवा फूट फूट कर रोने से तो यह बालक फिर जी नहीं सकता। मैं स्वयं, यह श्रृगाल, तुम लोग तथा यह मृत बालक, पाप पुण्य को साथ ले उसी मार्ग पर जाने को बैठे हैं, जिस पथ से यह बालक गया है। अतः जो बुद्धिमान् होते हैं, वे ऐसे आचरण नहीं करते जिनसे दूसरों का जी दुःखे। वे न तो किसी से कटु वचन कहते हैं, न किसी से द्रोह करते हैं, न परस्त्री को बुरी दृष्टि से ताकते हैं और अन्य पापकर्मों से

तथा असत्य भाषण से सदा दूर रहते हैं। पुण्य, सत्य, शास्त्रश्रवण, न्यायोचित वर्त्ताव, प्राणी मात्र पर दया, सरलता और प्रामाणिक बनने का प्रयत्न, सदैव सब को करना चाहिये। जो लोग जीवित माता, पिता, बान्धवों तथा स्नेहियों का ध्यान नहीं रखते वे महापातकी हैं। जो न तो नेत्रों से देखता और न हाथ पैर डुलाता है—उस मृतक के लिये रुदन कर के ही क्या कर सकते हो?

जब गिद्ध के इन वचनों को सुन, पुत्र-स्नेह-जनित शोक से आर्त्त, वे बान्धव उस बच्चे के शव को श्मशान में रख अपने घर जाने को उद्यत हो गये; तब शृगाल ने कहा—जिस मर्त्यलोक में कोई भी प्राणी जीवित नहीं रहता वह मर्त्यलोक सचमुच बड़ा भयङ्कर है। क्योंकि यहाँ प्यारे बन्धुओं से विछोह होता है। साथ ही जीवन काल भी स्वल्प होता है। झूठ से पूर्ण, निन्दा करने वाले एवं अप्रिय बोलने वालों से परिपूर्ण तथा शोक बढ़ाने वाले इस संसार को देख कर, मुझे तो वह क्षण भर के लिये भी अच्छा नहीं लगता। हाय! धिक्कार है तुम लोगों को जो गिद्ध की बातों में आ कर और मूर्ख बन, स्नेहरहित हो रहे हो। तुम लोगों ने उस स्नेह को त्याग दिया है जो पिता का अपने पुत्र के प्रति होता है। तुम लोग घर लौट कर क्यों जाते हो? पुत्रस्नेह से भस्म होते हुए अरे मनुष्यों! तुम पीछे लौट आओ। आत्मविचार शून्य पापी गिद्ध की बातें सुन कर तुम क्यों चल दिये? सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख मनुष्य ही भोगा करते हैं। यह जगत ही सुखों दुःखों से पूरित है। यह कभी नहीं होता कि, इस जगत में सदा सुख ही सुख या दुःख ही दुःख बना रहे। अरे मूर्खों! कुल की शोभा बढ़ाने वाले इस रूपवान बालक को भूमि पर लिटा, तुम लोग कहाँ जा रहे हो? रूपवान और युवावस्था को प्राप्त होने वाला और श्री से शोभित यह बालक मुझे तो जीवित सा जान पड़ रहा है। मेरा अन्तरात्मा कहता है कि, तुम लोग यहाँ रहो। तुम सुखी होवोगे। यह बालक अभी नहीं मरा है। तुम लोग शोक से सन्तप्त होने के

कारण मृत-प्रायः हो रहे हो। किन्तु तुम्हारे लिये आज का दिन मङ्गलमय है। अतः तुम धीरज धारण करो। आगे तुम्हें सुख मिलेगा। तुम तुच्छबुद्धि मनुष्य की तरह इस बालक को त्याग कहाँ जाओगे?

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! रात में सदा मुरदों की खोज में रहने वाला श्मशानवासी, मिथ्या किन्तु कर्णप्रिय वचन कहने वाला एवं धर्मविरोधी वह शृगाल स्वार्थवश अमृतोपम मधुर वचन कह, शोकार्त्त उन मनुष्यों को श्मशान से जाते हुए रोकता है या कोई अन्य कारण है; इस बात को वे बालक के नातेदार निर्णय न कर सके। इतने में उस गिद्ध ने पुनः कहना आरम्भ किया।

गिद्ध बोला—यह निर्जन स्थान प्रेतों, यक्षों और राक्षसों का आवासस्थान है। इसीसे यह महाभयङ्कर है। देखो न उल्लुओं की बोली से यह कैसा प्रतिध्वनित हो रहा है। यह महाभयङ्कर है और कृष्ण घन घटा की तरह कान्ति वाला है। अतः तुम शव को यहाँ रख, अपने घरों को लौट जाओ और जा कर मृतक कर्म करो। सूर्य रहते रहते और दिशाओं में प्रकाश रहते रहते ही तुम इसकी अन्त्येष्टि क्रिया कर डालो श्येन पक्षी कैसी कठोर बोली बोल रहे हैं, सिंह दहाड़ रहा है, शृगाली दारुण शब्द कर रही है और सूर्य अब अस्त होना ही चाहता है। देखो चिताधूम से वृक्ष कैसे काले रंग के हो रहे हैं। श्मशानवासी देवता भूख के मारे चिल्ला रहे हैं। इस महाभयानक स्थान में जो प्राणी रहते हैं, वे सब माँसभक्षी और महाभयङ्कर हैं। यदि तुम यहाँ रात में रहे तो ये निश्चय ही तुम्हें सतावेंगे। वनप्रदेश होने के कारण यहाँ रहने में खटका है। अतः तुम लोग डर जाओगे। तुम्हें उचित है कि, तुम काठ की तरह पड़े इस बालक का शव यहाँ छोड़ कर और शृगाल की बातों में न आ कर, घर को लौट जाओ। यदि तुम अपनी बुद्धि से काम न ले कर, केवल गीदड़ की व्यर्थ की और झूठी बातों में आ जाओगे तो याद रखो, यहाँ रहने पर, तुममें से एक भी जीता जागता घर लौट कर न जा पावेगा।

शृगाल ने कहा—जब तक सूर्य तपता है ; तब तक तो तुम लोग आशा रख यहाँ उपस्थित रहो। तुम न तो डरो और न खेद ही करो। तुम तो इस बालक के साथ स्नेह पूर्ण व्यवहार करो। जब तक सूर्य देख पड़ें तब तक तुम इसके लिये रुदन करो और यहाँ रह बालक के शव की रखवाली करो। ये माँसाहारी जीव चीत्कार कर तुम्हारा क्या कर सकते हैं। यदि कहीं तुम गिद्ध के उद्विग्नता उत्पन्न करने वाले वचनों को ठीक समझ कहीं घबड़ा गये तो फिर तुम्हारे इस पुत्र के जीने की कोई आशा नहीं है।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! गिद्ध और गीदड़ दोनों ही क्षुधित थे। अतः गिद्ध ने मृतक के घरवालों से कहा—सूर्य अस्त हो रहा है। शृगाल बोला—सूर्य अभी अस्त नहीं हुआ है।

हे राजन्! स्वार्थसिद्धि के लिये गिद्ध और शृगाल कटिबद्ध थे। क्योंकि मारे भूख प्यास के वे विकल हो रहे थे। तिस पर भी वे शास्त्रोक्त युक्तियों से उन लोगों को समझा रहे थे। विज्ञानी शृगाल और गिद्ध के प्रिय और अमृतोपम मधुर वचनों को सुन क्षण ही में तो वे रुक जाते और क्षण भर बाद ही जाने को उद्यत होते थे। क्योंकि वे सब शोक में मग्न होने के कारण बड़े दीन हो रहे थे। वे लोग तो खड़े रो रहे थे और ये दोनों अपनी अपनी चतुराई दिखला उन्हें धोखा दे रहे थे। जब मृत बालक के बन्धु बान्धव श्मशान में खड़े थे तब विज्ञान प्रवीण-शृगाल और गिद्ध उनके सामने ही वाद विवाद कर रहे थे। इतने ही में वहाँ महादेव जी का प्रादुर्भाव हुआ। क्योंकि दयावती माता पार्वती ने उन्हें वहाँ भेजा था। दयापरवश श्रीशङ्कर के नेत्र भी तर हो गये थे। वे उस मृत बालक के सम्बन्धियों से बोले—मैं वरद महादेव हूँ। यह सुन उन लोगों ने शिव जी को प्रणाम किया और यह कहा—हमारा यह एकमात्र पुत्र है! किन्तु अब हम इससे रहित हो रहे हैं। हमारी सब की यह प्रार्थना है कि, हम इसे पुनः जीवित देखें। अतः आप कृपा कर, इस

हमारे इकलौते पुत्र को जीवित कर दें। इसके जीवित होते ही मानों हम सब फिर जी उठे।

जब उन लोगों ने रो कर इस प्रकार महादेव जी से कहा; तब प्राणि-मात्र के हितैषी शङ्कर ने उस मृत बालक को जिला दिया और उसे सौ वर्ष की आयु दी। साथ ही उन्होंने गिद्ध और शृगाल को भी वर दिया कि तुम्हें कभी भूख न सतावेगी। बालक के जीते ही उसके सगे सम्बन्धियों के हर्ष की सीमा न रही। वे कृतकृत्य हो गये और शिव जी को प्रणाम कर और हर्षित होते हुए बालक को साथ लिये हुए नगर की ओर चले गये।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! पुरुष को कभी निराश न होना चाहिये और काम में लगा रहना चाहिये। क्योंकि देवदेव महादेव के प्रसाद से तुरन्त फल मिलता है। इस बात पर तुम ध्यान दो। इस दैव-संयोग और बान्धवों के निश्चय पर विचार करो। जब बालक के बन्धु बान्धव एक निश्चय तक पहुँच गये; तब तुरन्त ही महादेव जी ने उन रुदन करते हुए दीन मनुष्यों के आँसू पोंछ दिये। महादेव जी के अनुग्रह से उन दुःखियारों को कैसी प्रसन्नता हुई, यह भी तुम देखो।

हे राजन्! महादेव जी की अनुकम्पा से मृत बालक पुनः जीवित हो गया। अतः उन लोगों को हर्ष के साथ साथ बड़ा विस्मय भी हुआ। ब्राह्मण, बालक के मरण-जन्य-शोक को त्याग, उस बालक को साथ लिये और हर्षित होते हुए नगर में पहुँचे।

धर्म, अर्थ एवं मोक्ष-प्रद इस उपदेश-पूर्ण कथा को जो कोई सुनता है, वह इस लोक तथा परलोक में सदा सुखी रहता है।

एकसौ चौवन का अध्याय

नारद-सैमल का कथोपकथन

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! निस्सार, अल्प-बली और क्षुद्र-जीवी मनुष्य आत्मश्लाघा-पूर्ण अयोग्य वचनों से उपकार अथवा अपकार करने में समर्थ अपने बलवान् पड़ोसी से यदि शत्रुता कर ले और वह कुपित हो यदि बैर का बदला लेने को चढ़ाई करे तो, वह स्वल्प बल वाला पुरुष किस प्रकार उस बैरी का सामना करे ?

भीष्म जी बोले—हे राजन् ! इसके उत्तर में, मैं तुम्हें सैमल के पेड़ तथा पवन देव का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ। वह इस प्रकार है।

बहुत से वर्षों के पूर्व की घटना है। हिमालय पर्वत पर अनेक शाखाओं और बहुत से पत्तों वाला एक विशाल शाल्मलि का वृक्ष था। हे राजन् ! उस वृक्ष की छाया में धूप के सताये थके माँदे मतवाले हाथी, हिरन तथा अन्य जीव-जन्तु आराम किया करते थे। उस वृक्ष का घेरा चार सौ हाथ का था। वह बड़ा सघन वृक्ष था। उस वृक्ष पर बहुत सी मैना और तोते रहते थे। उसके ऊपर बहुत से फल फूल भी आते थे। उस ओर से निकलने वाले व्यापारियों की टोलियाँ और तपस्वी-गण उस विशाल वृक्ष के नीचे कुछ काल के लिये ठहर कर विश्राम किया करते थे। एक दिन जब उस ओर से नारद जी जा रहे थे, तब उस वृक्ष की लंबी लंबी शाखाओं और झूमती हुई डालियों को देख वे उसके निकट गये और उससे पूछा—तुम तो बड़े रमणीय और सुन्दर हो। तुम्हें देख मेरा मन प्रसन्न होता है। हे मनोमुग्धकारी वृक्ष ! विविध पशु पक्षी एवं मतवाले गज-राज तेरी छाया में बैठ प्रसन्न होते हैं। तेरी डालियाँ बड़ी मनोहर हैं ! तेरे गुद्दे बड़े मोटे मोटे हैं। इससे जान पड़ता है कि, पवन के चपेटे में तू

कभी नहीं पड़ा। हे तात! क्या पवन देव की तेरे ऊपर विशेष कृपा है? या तेरी और उनकी मैत्री है? जिससे वे इस वन में तेरी सदा रक्षा किया करते हैं? मैं देखता हूँ कि जब वायुदेव वेग से चलते हैं, तब चाहे छोटा वृक्ष हो चाहे विशाल—वे उसे उखाड़ कर फेंके बिना नहीं रहते। यही नहीं वे पर्वत-शिखरों तक को हिला देते हैं। जब पवित्र पवन देव चलते हैं, तब वे पाताल तक को सुखा देते हैं और सरोवरों, नदियों और सागरों को भी सुखा डालते हैं। इससे जान पड़ता है कि पवन देव तुझे अपना मित्र समझते हैं और तेरी रक्षा करते हैं। इसीसे तेरी बहुत सी डालियाँ हैं और तू सदा पत्रों और फूलों से भरा पूरा रहता है।

हे विटप! तेरा यह स्थान बड़ा रमणीक है। देख, तेरी डालियों पर बैठ पक्षी कैसी किलोलें कर रहे हैं? फूल खिलने के समय बड़ी सुन्दर रीति से पक्षी अलग अलग और मिल कर जो बोलियाँ बोलते हैं—वे मधुर कण्ठ से निकली हुई बोलियाँ कैसी प्यारी लगती हैं। हे शाल्मलि! धूप से सन्तप्त गजों के समूह हर्षित हो चिंघारते हुए तेरी छाया में आ सुखी होते हैं। अन्य प्राणी भी तेरी सुखमयी छाया में बैठ बड़े शोभायमान होते हैं! हे विटपराज! सचमुच तू समस्त प्राणियों के आवसस्थल-रूप होने के कारण मेरु पर्वत की तरह सुशोभित हो रहा है।

एकसौ पचपन का अध्याय

सेमल-नारद-संवाद

नारद जी ने कहा—हे सैमल! सर्वत्र आने जाने वाले महाभयङ्कर देव तेरी रक्षा करते हैं। अतः इसका कारण निश्चय ही या तो पवन के साथ तेरी मैत्री है अथवा तेरी उनके साथ कोई सन्धि हो गयी होगी। हे सैमल! मुझे तो ऐसा मालुम पड़ता है कि, तू पवन देव के सामने विनम्र भाव से यह

कहता होगा कि—मैं आप ही का हूँ! इसीसे पवन देव सदा तेरी रक्षा किया करते हैं। मुझे तो इस धराधाम पर एक भी ऐसा वृक्ष, पर्वत या घर देखने को नहीं मिला जो वायु के वेग से भङ्ग न हुआ हो। हे शाल्मलि! तू शाखाओं, प्रशाखाओं और पत्तों सहित सुरक्षित है,—इसका कारण सन्धि है या मैत्री?

शाल्मलि ने उत्तर दिया—हे ब्रह्मन्! पवन देव न तो मेरे मित्र हैं और न उनके साथ मेरी बन्धुता है। वे न तो मेरे स्नेही हैं और न मेरे वे विधाता हैं। वे इन कारणों से मेरी रक्षा नहीं करते। किन्तु मेरा तेज और बल पवन देव के बल से कहीं चढ़ बढ़ कर भयानक है। बल में तो वे मेरे अठारहवें अँश को भी नहीं पा सकते। जब वे कुपित हो, वृक्षों, पहाड़ों और अन्य पदार्थों को विनष्ट करते हुए मेरे निकट आते हैं, तब मैं निज बल से उनके वेग को रोक देता हूँ। अन्य पदार्थों को भग्न करने वाले पवन देव को मैं बहुत बार रोक चुका हूँ। हे देवर्षे! यदि पवन देव मुझसे कुपित हो भी जाँय तो भी मुझे उनका डर नहीं है।

नारद ने कहा—हे सैमल! मैं तेरे विचारों से सहमत नहीं हूँ। यह एक निर्विवाद सिद्ध बात है कि जगत भर में कोई भी पवन देव का सामना नहीं कर सकता। क्योंकि पवन देव के समान बलवान् कोई है ही नहीं। इन्द्र, यम, कुबेर तथा जलेश्वर वरुण भी पवन देव के बल की बराबरी नहीं कर सकते। फिर तू तो एक वृक्ष है। तू उनका सामना क्या करेगा? इस संसार में प्राणधारी जीव साँस लेते और छोड़ते हैं तथा अन्य जो कुछ काम करते हैं—वे सब काम पवन देव के कारण ही होते हैं। जब पवन देव सुचारु रूप से बहते हैं, तब सब लोग हर्षित होते हैं, और जब वे विरुद्ध हो कर चलते हैं, तब सब प्राणी विपत्ति में फँस जाते हैं। समस्त बलवानों में श्रेष्ठ पवन देव को, तेरा प्रणाम न करना, तेरी बुद्धि की हलकाई प्रकट करता है। तू सारहीन और खोटी बुद्धि का है। तू वृथा की बकवाद करता है। तेरी बुद्धि को क्रोध ने दूषित कर डाला

है। इसीसे तू मिथ्या भाषण कर रहा है। तेरी छोटी बातें सुनने में स्वयं तेरे ऊपर कुपित हो गया हूँ। वायु का अपमान करने वाली तेरी इन बातों को मैं पवन देव के सामने दुहराऊँगा। चन्दन, स्यन्दन, साल, सरस, देवदारु, वेत, धामन और अन्य वृक्ष, जो तुझसे बल में चढ़ बढ़ कर हैं, वे कृतकृत्य वृक्ष भी पवन का अपमान नहीं करते। क्योंकि उन्हें अपने बल का तथा पवन देव के बल का पूर्ण ज्ञान है। इसीसे वे सदा वायु देव को प्रणाम किया करते हैं। किन्तु तू मूर्खतावश पवन देव के विपुल बल को नहीं जानता। अतः मैं यह बात जा कर पवन देव से कहता हूँ।

एक सौ छप्पन का अध्याय

पवन-शाल्मलि-संवाद

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ देवर्षि नारद, शाल्मलि को सूचना दे, पवन देव के निकट गये और शाल्मलि के वचनों का सार उनसे कहा।

नारद जी ने कहा—हे पवन देव! हिमालय पर्वत पर बहु-शाखाओं और पत्तों से पूर्ण सैमल का एक वृक्ष है। उसकी जड़ भूमि में बहुत नीची धसी हुई है। उसकी शाखाओं का बहुत लंबा चौड़ा विस्तार है। उस वृक्ष ने तुम्हारा अपमान किया है। उसने तुम्हारे प्रति अनेक अपमान-कारक वचन कहे हैं। मैं उन वचनों को तुम्हारे सामने कहना उचित नहीं समझता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम समस्त प्राणियों में उत्तम हो। मुझे यह भी विदित है कि तुम सर्वोत्तम हो, अभिमानी हो और यमोपम क्रोधी भी हो।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! नारद के वचनों को सुन पवन, बहुत क्रुद्ध हुए और शाल्मलि के निकट जा कर बोले—

वायु ने कहा—हे शाल्मलि; जब नारद जी तेरे निकट हो कर जाने लगे; तब तूने क्या उनके सामने मेरी निन्दा की थी? तुझे जान लेना चाहिये कि मैं स्वयं वायुदेव हूँ। मैं तुझे अपना बल और प्रभाव एक दिन दिखलाऊँगा। मैं तुझे खूब जानता हूँ। मुझे यह भी मालूम है कि ब्रह्मा जी ने प्रजा की सृष्टि करते समय तेरी छाया में आराम किया था। तू उन का विश्रामस्थल था। मैं अभी तक तुझे इसीलिये बचाये हुए था और तेरे ऊपर कृपा करता था। हे अधमाधम नीच वृक्ष! इसीसे आज तक तू मेरे वेग से बचा हुआ था—न कि अपने बल से। किन्तु तूने तो एक साधारण जन की तरह मुझे समझ मेरा अपमान किया है। अतः अब मैं तुझे अपना स्वरूप दिखलाता हूँ जिससे तू फिर मेरा अपमान न करे।

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! पवन देव के इन वचनों को सुन सैमल हँसा और बोला—हे पवन देव! अच्छी बात है। तुम अपना कोप मेरे ऊपर प्रकट कर अपना स्वरूप दिखलाओ। तुम क्रोध कर मेरा कर ही क्या सकते हो? यद्यपि तुम बड़े शक्तिशाली हो, तथापि मैं तुमसे नहीं डरता। क्योंकि मैं तुमसे कहीं अधिक बलिष्ट हूँ। अतः मैं तुमसे डरने वाला नहीं। बुद्धिबल से सम्पन्न पुरुष ही यथार्थ बलवान् माने जाते हैं। शारीरिक-बल किसी को बलवान् नहीं बना सकता।

इस पर पवन देव ने कहा—अच्छी बात है, मैं कल तुझे अपना बल दिखलाऊँगा।

रात बीती। सैमल ने अपने मन में पवन के बल का विचार किया और यह निर्णय किया कि मैं पवन के समान तो बलवान् नहीं हूँ। पवन के सम्बन्ध में मैंने नारद जी से जो कुछ कहा था वह मिथ्या था। सच तो यह है कि मैं बल में पवन देव से बहुत कम हूँ। नारद जी का कहना ठीक है कि, पवन बहुत बलवान् है। पवन से क्या—मैं तो अन्य कई एक वृक्षों से भी निर्बल हूँ। किन्तु साथ ही अन्य वृक्षों की अपेक्षा मैं बुद्धिमानी में बढ़ बढ़ कर हूँ। अतः मैं निज बुद्धिबल से पवन के भय से

अपना उद्धार करूँगा। यदि अन्य वृक्ष भी मेरी तरह बर्त्ताव करें, तो निश्चय ही कुपित पवन उनको ज़रा भी नहीं सता सकता। किन्तु किया क्या जाय। उन वृक्षों को तो यह बात मालूम ही नहीं। अतः जब पवन क्रोध में भरता है, तब वह उन वृक्षों को झकझोर डालता है और विदीर्ण कर डालता है।

एकसौ सत्तावन का अध्याय

सैमल का गर्व-खर्व

भीष्म जी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! शाल्मलि ने मन में सोच विचार कर रात ही रात अपनी समस्त डालियाँ, गुद्दे, पत्ते, फूल गिरा दिये। अगले दिन जब पवन देव आये, तब उनको आते देख, वह उनके सामने अटल भाव से खड़ा रहा। क्रुद्ध पवन देव सनसनाते और विशाल वृक्षों को गिराते उस स्थान पर जा पहुँचे जहाँ शाल्मलि था। किन्तु वहाँ जा उन्होंने देखा कि शाल्मलि ठूँठ सा खड़ा है। न उसमें गुद्दे हैं, न डालियाँ हैं, न पत्ते हैं और न फूल ही हैं। यह देख पवन देव बड़े विस्मित हुए। अन्त में उन्होंने प्रसन्न हो उस शाल्मलि वृक्ष से कहा।

पवन देव बोले—हे सैमल ! जो काम तूने स्वयं किया है, वही मैं भी क्रोध में भर करता। तूने अभिमान में भर अपनी शाखाएँ गुद्दे, पत्ते और फूल गिरा दिये हैं। अतः तू अब मेरे वश में हो गया है।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! पवन देव के इन वचनों को सुन कर सैमल लज्जित हुआ और नारद के वचनों को स्मरण कर सन्तप्त होगया। हे धर्मराज ! दुर्बल पुरुष को बलवान के साथ कभी विरोध न करना चाहिये। जो मूर्खतावश ऐसा करता है, वह मूर्ख पुरुष उस सैमल वृक्ष की तरह सन्तप्त हो जाता है। अतः दुर्बल पुरुष को बलवान् पुरुष के साथ

वैर न करना चाहिये। यदि कोई ऐसा करता है तो उसको सैमल की तरह पीछे निश्चय ही पछताना पड़ता है। जो महात्मा पुरुष होते हैं, वे अपकारी के साथ खुल्लंखुल्ला वैर नहीं करते, प्रत्युत क्रमशः अपना बल दिखलाते हैं। बुद्धिहीन को बुद्धिमान के साथ कभी विरोध न करना चाहिये। क्योंकि बुद्धिमान पुरुष, बुद्धिहीन पुरुष में घुस उसका नाश वैसे ही कर डालता है, जैसे अग्निदेव तृणों में घुस उनका नाश कर डालते हैं। हे राजन्! मनुष्य में बुद्धि के समान और कोई वस्तु नहीं है। इस लोक में शारीरिक बल के समान भी कोई वस्तु नहीं है। अतः बलवान् को बालक पर, मूर्ख पर, अन्धे पर, बहरे पर, अपने से अधिक बलवान् पर, सदा क्षमा और दया भाव रखना चाहिये। हे राजन्! ऐसा बर्ताव तुममें पाया जाता है।

हे राजन्! दुर्योधन के अधीन अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं और तुम्हारे पास केवल सात अक्षौहिणी। किन्तु वह एकमात्र अर्जुन के बल के समान भी न सिद्ध हुईं। अतः यशस्वी अर्जुन ने निज बल से शत्रु सैन्य को घूम फिर कर नष्ट कर डाला और जो सेना बची उसे भगा दिया।

हे राजन्! मैंने तुम्हें राजधर्म और आपद्धर्म सविस्तर कह सुनाये। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?

एकसौ अट्ठावन का अध्याय

लोभ सब पापों की जड़ है

युधिष्ठिर ने पूछा— हे पितामह! अब मैं पाप की उत्पत्ति, और पाप के निवासस्थान के सम्बन्ध में आपसे सुनना चाहता हूँ।

भीष्म जी बोले— हे धर्मराज! पाप के निवासस्थान के सम्बन्ध में

मैं तुमको सुनाता हूँ। लोभ महाग्रह है और उसीसे पाप की उत्पत्ति होती है। पाप की, अधर्म की, समस्त दुःखों की और कपट की जड़ लोभ है। लोभ में फँस कर ही मनुष्य पाप करता है। लोभ से क्रोध, लोभ से काम और लोभ से मोह, माया, अभिमान, उद्दण्डता और परवशता की उत्पत्ति होती है। लोभ ही से शत्रुता बँधती है, लोभ ही से निर्लज्जता आती है, लोभ ही से दरिद्रता आती है, लोभ ही से चिन्ता और अपयश की भी उत्पत्ति होती है। कृपणता, अति तृष्णा, खोटे कर्म करने की इच्छा, कुलमद, विद्यामद, रूपमद, ऐश्वर्यमद, निष्ठुरता, एवं अभिमान, अविश्वास, पर-धन-लिप्सा, पर-स्त्री-गमन, मनमाना प्रलाप, मनोवेग, निन्दा, अत्यधिक कामासक्ति, उदर का वेग, मृत्यु का दारुण वेग, ईर्ष्या, दुर्जय मिथ्या भाषण, अनिवार्य रस का वेग, दुस्सह्य काम का वेग, परनिन्दा, आत्मश्लाघा, मत्सरता, वैरभाव, खोटे काम करने की इच्छा, सब प्रकार के साहस, तथा अनकरने काम करना, इन सब की उत्पत्ति लोभ ही से है। जन्मकाल, बाल्यावस्था, कौमार और जवानी में मनुष्य लोभ का त्याग नहीं कर सकते। उधर मनुष्य बूढ़ा तो होता है; किन्तु उसका लोभ नहीं बुढ़ाता। मनुष्य को धन से वैसे ही कभी तृप्ति नहीं होती, जैसे समुद्र को समस्त नदियों का जल प्राप्त होने पर भी सन्तोष नहीं होता। लोभी को चाहे जितना लाभ हो, किन्तु उसकी धनतृष्णा कभी नहीं मिटती। लोभी मनुष्य की अभिलाषों का कभी अन्त ही नहीं होता। देवता, गन्धर्व, असुर महोरग तथा अन्य सकल प्राणी भी लोभ के स्वरूप को नहीं जान पाते। ऐसे लोभ तथा मोह को वे पुरुष जीतें जो मन को अपने वश में रख सकें। हे राजन्! दम्भ, द्रोह, निन्दा, द्वढ़ और मत्सरता लोभी मनुष्यों में स्वभावतः पायी जाती है। लोभी मनुष्य भले ही शास्त्रज्ञ हो, बहुश्रुत हो, उसमें दूसरों का समाधान करने की कितनी ही योग्यता हो तो भी उसमें लोभ रूपी दुर्गुण होने के कारण इस लोक में वह बड़ा दुःख पाता है। लोभी पुरुष, धर्म के बहाने दूसरे की

हिंसा करने वाले और धर्म का आडम्बर बनाने वाले, क्षुद्र और धर्म की आड़ में शिकार खेलने वाले हुआ करते हैं। युक्तियों के बल से वे अनेक मार्ग खड़े कर देते हैं और लोभ के वश में हो कर, सत्पुरुषों के स्थापन किये हुए धर्ममार्ग को नष्ट कर डालते हैं। लोभी दुष्टात्मा लोग धर्म को नष्ट कर डालते हैं, इसी लिये सांसारिक व्यवस्था में उलट फेर पड़ जाता है और लोग भी अधर्मी बन जाते हैं। हे राजन्! दर्प, क्रोध, मद, स्वप्न, हर्ष, शोक, अति अभिमान, लोभी पुरुषों में विशेष रूप से पाये जाते हैं। जो लोग लोभी होते हैं वे बड़े दुष्ट पुरुष होते हैं।

हे धर्मराज! अब मैं तुम्हें शिष्ट-जनों के लक्षण बतलाता हूँ। तुम शिष्ट-जनों से अपने मन के सन्देह दूर करना। शिष्ट-जनों का सत्सङ्ग करने से पुनर्जन्म का भय नहीं रहता और परलोक का भय दूर हो जाता है। सत्पुरुषों को शिष्टोचित आचरण प्रिय होता है, वे जितेन्द्रिय होते हैं, उनके लिये सुख दुःख समान होता है; वे सदा सत्य-परायण रहते हैं। वे स्वयं दान तो नहीं लेते, किन्तु दान देने में उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है। वे दयालु स्वभाव के होते हैं। वे पितरों, देवताओं और अतिथियों का सत्कार करते हैं और दूसरों की भलाई करने में सदा निरत रहते हैं। सत्पुरुषों का व्रत परोपकार करना होता है, उनका मानसिक बल वीर पुरुषों जैसा होता है। वे पूर्ण-रीत्या धर्म का पालन करते हैं। वे समस्त प्राणियों के हित में निरत रहते हैं। सत्पुरुषों को याचक के लिये कोई वस्तु अदेय नहीं होती। न तो कोई प्राणी और न कोई पदार्थ उन्हें अपने प्रण से विचलित कर सकता है। उनका चरित्र धर्म-भाव से पूर्ण होने के कारण आदर्श होता है। वे अपने पूर्ववर्ती सत्पुरुषों की प्रथाओं को नहीं मेंटते। वे किसी भी प्राणी को सताते नहीं; उनकी बुद्धि चञ्चल नहीं होती। वे प्रियदर्शन होते हैं। सन्मार्ग से वे नहीं डिगते और वे अहिंसक होते हैं। सज्जनों को उचित है कि वे ऐसे सत्पुरुषों का सेवन करें।

सत्पुरुषों में काम और क्रोध का अभाव होता है। वे किसी प्राणी या

पदार्थ पर ममता नहीं रखते। उनमें अहङ्कार का लेश भी नहीं होता। वे सदाचारी होते हैं और अपनी मर्यादा पर स्थिर रहते हैं। हे धर्मराज! तुम ऐसे सत्पुरुषों की सेवा किया करो और अपने मन के सन्देहों को उन्हीं-के द्वारा दूर कराते रहो। हे धर्मराज! जो सत्पुरुष होते हैं, वे यश के लिये अथवा लोभवश धर्माचरण नहीं करते। वे तो धर्माचरण की आवश्यकता वैसी ही समझते हैं, जैसे शरीर-रक्षा के लिये भोजन आदि क्रियाओं की। ऐसे पुरुषों में भय, क्रोध, मनचाञ्चल्य अथवा शोक का अभाव हुआ करता है। वे दिखावट के लिये धर्म का ढोंग नहीं रचते। वे अपनी किसी प्रयोजन-सिद्धि के लिये किसी को धोखा नहीं देते। वे पाखण्ड से सदा दूर रहते हैं और बड़े सन्तोषी होते हैं। वे मोह या लोभवश किसी विषय के निर्णय में प्रमाद नहीं करते। वे सत्यवादी और स्पष्ट-वक्ता होते हैं। उनका हृदय धर्म-भीरु होने के कारण स्वच्छ रहता है। वे आचार-भ्रष्ट कभी नहीं होते। हे कुन्तीनन्दन! ऐसे सत्पुरुषों के साथ तुम्हें प्रीति करनी चाहिये।

सत्पुरुषों को न तो लाभ से हर्ष और न हानि से उन्हें खेद ही होता है। वे ममता और अहङ्कार से शून्य होते हैं। वे सत्व-गुण में स्थित रहते हैं और सब में समदृष्टि रख वर्त्ताव करते हैं। लाभ-हानि, दुःख-सुख, प्रिय-अप्रिय, जन्म-मृत्यु को वे समान समझते हैं। वे लोग दृढ़-पराक्रमी श्रेयस्कामी, सतोगुणी और धर्म-प्रिय होते हैं। ऐसे सत्पुरुषों की तुम जितेन्द्रिय बन बड़ी सावधानी से सेवा करना। समझदार पुरुष जो कुछ कहते हैं, वह लाभ-प्रद होता है और मूढ़ जन जो कुछ कहते हैं वह हानि-कारक होता है।

एकसौ उनसठ का अध्याय

अज्ञान

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! आपने बतलाया कि, समस्त अनर्थों का मूल कारण लोभ है। अब आप मुझे अज्ञान का स्वरूप बतलावें।

भीष्म जी ने कहा—अज्ञानवश कार्य करने वाला, अपने नाशवान होने की बात को स्मरण न रखने वाला और सदाचारी श्रेष्ठ पुरुषों के साथ द्वेष करने वाला व्यक्ति इस संसार में पद पद पर तिरस्कृत किया जाता है। अज्ञान ही जीवों को नरक में ले जाता है, अज्ञान ही मनुष्यों की दुर्गति कर डालता है; अज्ञान ही मनुष्यों के क्लेशों का मूल कारण है और अज्ञान ही मनुष्यों को सङ्कट में मग्न करता है।

युधिष्ठिर ने कहा—हे बाबा ! मैं यथार्थ रूप से अज्ञान की उत्पत्ति, उसका स्थान, उसकी वृद्धि, उसका क्षय, उसका उदय, उसका मूल, उसका योग, उसकी गति, उसका काल, उसका कारण और उसका हेतु सुनना चाहता हूँ। क्योंकि आप अभी बतला चुके हैं कि, मनुष्यों को जो दुःख होता है, उसका कारण अज्ञान ही है।

भीष्म जी ने कहा—हे वत्स ! राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, गर्व, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, सन्ताप, वैर, परोत्कर्ष-असहिष्णुता, पापकर्म में प्रवृत्ति—ये सब अज्ञान कहलाते हैं। अब मैं तुम्हें अज्ञान की उत्पत्ति, वृद्धि आदि के वर्णन का सविस्तर वर्णन सुनाता हूँ। सुनो। हे धर्मराज ! अज्ञान और लोभ दोनों समान दोषों से पूर्ण हैं। अतएव तुम्हें लोभ और अज्ञान में कुछ भी अन्तर न समझना चाहिये। क्योंकि अज्ञान की उत्पत्ति लोभ ही से होती है। लोभ की वृद्धि के साथ ही साथ अज्ञान की भी वृद्धि होती है। जहाँ लोभ है वहीं अज्ञान भी है। जहाँ लोभ का क्षय हुआ, वहीं अज्ञान का भी क्षय होता है। लोभ

अज्ञान के कारण 'विविध प्रकार की गतियों को प्राप्त होता है। लोभ का मूल मोह है। वही यथासमय जीवों को स्वर्ग, नरक, देव, मनुष्य, पशु, पत्ती आदि की योनियों में गति अर्थात् जन्म देता है। जब मनोभिलाषी पदार्थ की प्राप्ति में बाधा पड़ती है, तब मोह की उत्पत्ति होती है। विघ्नारि का हेतु समय को और मोह को उसका कार्य समझना चाहिये। अज्ञान से लोभ और लोभ से अज्ञान उत्पन्न होने से दोनों अन्योन्याश्रयी माने गये हैं। अतएव भयानक दोष की उत्पत्ति लोभ से होती है। अतएव लोभ को त्याग देना चाहिये। राजा जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् आदि राजा गण लोभ नष्ट होने पर ही स्वर्गवासी हो सके थे।

अतएव हे कुरुसत्तम! तुम स्वयं भलीभाँति लोभ को त्याग दो और लोभ त्याग कर इस संसार में सुखी होवो और मरने बाद के स्वर्ग में जा विहार करो।

एकसौ साठ का अध्याय

दम-स्वरूप-वर्णन

युधिष्ठिर ने पूछा—हे बाबा! स्वाध्याय-निरत और धर्म-कामी पुरुष के लिये इस लोक में श्रेय क्या है? यद्यपि शास्त्रों में विविध प्रकार के अनेक श्रेयों का वर्णन पाया जाता है, तथापि आप इस लोक तथा परलोक के लिये जिस श्रेय को उपयोगी समझते हों, उस श्रेय का वर्णन आप मुझे सुनावें। धर्म का मार्ग बड़ा प्रशस्त है और उसकी अनेक शाखाएँ हैं। उनमें कौन सा धर्म अवश्य पालन करने योग्य है? अनेक शाखाओं वाले धर्म का मूल आप मुझे बतलावें।

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! जिस धर्म के अनुसार आचरण करने से तुम्हारा श्रेय होगा, वही धर्म अब मैं तुम्हें बतलाता हूँ। तुम इस

धर्म के ज्ञान को प्राप्त कर वैसे ही तृप्त हो जाओगे, जैसे अमृत को पी कर बुद्धिमान् लोग तृप्त हो जाते हैं। जिस धर्म का महर्षियों ने अपने अपने ज्ञानानुसार शास्त्रों में वर्णन किया है, उस धर्म की विधियाँ भी विविध हैं। उन सब विधियों में दम को मुख्य माना है। धर्म-निर्णय-कार वृद्ध जन दम को परम श्रेयस्कर बतलाते हैं। इसमें भी ब्राह्मण के लिये तो एकमात्र दम ही परम श्रेयस्कर है। क्योंकि दम सनातन धर्म का एक मुख्य अङ्ग है। दम का सेवन करने वाले ब्राह्मण की समस्त क्रियाएँ यथार्थ रूप से सफल होती हैं। दान, यज्ञ और वेदाध्ययन से भी बढ़ कर उत्तम दम माना गया है। क्योंकि वह तेज की वृद्धि करता है और परम पवित्र है। दम से पवित्र हुए जीवात्मा को परब्रह्म की प्राप्ति होती है। दम से बढ़ कर और कोई धर्म नहीं है। समस्त धर्मात्मा पुरुषों ने दम को उत्तम बतला उसकी प्रशंसा की है। दम को धारण करने वाला पुरुष इस लोक और परलोक—उभय लोकों में सुखी रहता है। दम धारण करने वाले पुरुष को बड़ा पुण्य होता है। वह सुख से सोता है और सुख से जागता है। वह विविध लोकों में सुखपूर्वक विचरता है और उसका मन सदा हर्षित रहता है। किन्तु जो लोग दम का सेवन नहीं करते, वे सदा क्लेश भोगा करते हैं और निज दोष से बड़े बड़े अनर्थों के कारण बन जाते हैं। कहा जाता है कि चारों आश्रम वालों के लिये दम ही सर्वोत्तम व्रत है। अब दम का सेवन करने वाले पुरुषों के लक्षण मैं तुम्हें सुनाता हूँ। सुनो! जिस मनुष्य में क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रिय-निग्रह, चातुर्य, कोमलता, लज्जा, अचाञ्चल्य, उदारता, शान्ति, सन्तोष, प्रिय-वादिता, परोपकार करने की रुचि होती है और पर-छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति नहीं होती; उसी पुरुष में दम का प्रादुर्भाव होता है।

हे राजन्! दमधारी पुरुष गुरु-पूजा-परायण होता है। वह प्राणि मात्र पर दया रखता है। चुगली, अपवाद, मिथ्याभाषण, खुशामद और पर-निन्दा को दमधारी पुरुष अपने निकट नहीं फटकने देते। काम, क्रोध,

लोभ, गर्व, उद्दण्डता, प्रलाप, राग, ईर्ष्या और तिरस्कार का सेवन वह पुरुष कभी नहीं करता, जो इन्द्रियों के दमन करता है। दमशील पुरुष कभी निन्दा का पात्र नहीं होता। वह तो कामना शून्य होता है। वह नश्वर पदार्थों की कभी इच्छा ही नहीं करता और न वह किसी के साथ ईर्ष्याद्वेष करता है। क्योंकि वह तो समुद्र की तरह किसी वस्तु की भी चाहना ही नहीं करता। दमशील पुरुष में मेरा तेरा और मैं तू का भाव नहीं होता। जो पुरुष वन नगर और ग्राम की प्रवृत्तियों के इस संसार में त्याग देता है और जो किसी की निन्दास्तुति में नहीं रहता उसीको अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है। जो प्राणीमात्र में मैत्री नहीं करता है जो सद्गुणी होता है, जो मन को प्रसन्न रखता है, जिसे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है जो संसार के विविध प्रकार के फँसावों से दूर रहता है; उसे परलोक में महान् सुख की प्राप्ति होती है। सदाचारी और कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुष अपना मन सदा हर्षित रखता है। आत्मा के स्वरूप के जानने वाला पण्डित जन इस लोक में सत्कार पा कर, परलोक में सद्गति प्राप्त करता है। इस लोक में जो कर्म शुभ माने जा कर सत्पुरुषों द्वारा किये जाते हैं; वे ही ज्ञानी मुनि जनों का मार्ग कहलाते हैं। जो पुरुष उस मार्ग पर चलता है वह कभी धर्मभ्रष्ट नहीं होता। जो ज्ञानी और जितेन्द्रिय पुरुष घर बार छोड़ और वन में जा मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए वन में विहार किया करते हैं; वे जब मरते हैं, तब उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जिसको प्राणियों से भय नहीं होता है और जिससे प्राणी भयभीत नहीं होते ऐसे पुरुष कहीं भी क्यों न रहें, उन्हें भय नहीं है।

सत्पुरुषों को उचित है कि, वे सब प्रकार के पदार्थों का भलीभाँति उपभोग कर के उनको सदा के लिये त्याग दें! किन्तु कर्म कर के उनका संग्रह न करें। वे सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव करें और समस्त प्राणियों को अभय कर दें। जिस प्रकार जलचर और व्योमचर प्राणियों

की गति अदृष्ट रहती है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष की गति भी अदृष्ट ही होती है। हे राजन्! जो पुरुष समय प्राप्त होने पर घर द्वार को त्याग मोक्ष प्राप्ति के लिये उद्योग करता है, उसे सदैव के लिये तेजोमय लोक मिलता है। जो सब कर्मों का यथाविधि त्याग करता है और विविध प्रकार के कला कौशलों की विधियों को त्याग देता है, वह सत्यकामी पुरुष सर्वत्र इच्छापूर्वक विचरण करता है और सांसारिक कामनाओं को त्याग देता है। वह अपना मन सदा प्रसन्न रखता है। वह आत्मज्ञानी हो जाता है। ऐसे पुरुष की इस लोक में प्रतिष्ठा होती है और मरने पर उसे स्वर्ग मिलता है। वह स्थान जिसे लोग पितामह का स्थान कहते हैं और जिसकी प्राप्ति वेदोक्त तपश्चर्या द्वारा होती है और जो सदा छिप कर हृदयाकाश रूपी गुप्त गुफा में रहता है, वही मुक्तिस्थान दम द्वारा मिलता है। ज्ञान में सुखानुभव करने वाले ज्ञानी जन को और किसी से भी विरोध न रखने वाले प्राणी को जब पुनर्जन्म का ही भय नहीं रहता तब परलोक का भय तो उसके लिये रह ही कैसे सकता है?

दम में यदि कोई दोष है तो वह यह है कि क्षमा-शील को लोग शक्तिहीन या असक्त समझ बैठते हैं। यद्यपि इसमें यह एक बड़ा दोष है, तथापि इसमें गुण अनेक हैं। क्षमा-गुण-धारी जीव को परम पवित्र लोक मिलते हैं। क्योंकि क्षमा से सहिष्णुता सुलभ हो जाती है। हे राजन्! दम-व्रत-धारी जन के लिये वन में जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, वहीं वन है, वहीं आश्रम है।

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय! भीष्म के इन वचनों को सुन कर, धर्मराज युधिष्ठिर वैसे ही तृप्त हो गये; जैसे कोई पुरुष अमृत पान कर तृप्त हो जाय। उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने हर्षित हो पितामह भीष्म से और भी बातें पूछीं; जिनके उत्तर भीष्म ने हर्षित हो दिये।

एकसौ इकसठ का अध्याय

तप की उत्कृष्टता

भीष्म जी कहने लगे—पण्डितों का कहना है कि दम का मूल तप है। जिस मूर्ख ने तप नहीं किया उसे कर्म का फल भी नहीं मिलता। प्रजापति ने तप ही से सारे जगत की सृष्टि की. ऋषियों ने तपोबल से वेदों का पाया। तपोबल से ब्रह्मा ने अनाज और फल फूल उत्पन्न किये। तपोबल से सिद्ध हुए महात्मा, सदा सावधान रह कर, त्रैलोक्य को हर्षित हो देखा करते हैं। औषधियों तथा रोगों को शान्त करने के विविध उपचार और विविध क्रियाएँ तपोबल ही से सिद्ध होती हैं। क्योंकि सब का साधनभूत तप ही तो है। यदि कोई वस्तु दुर्लभ हो तो वह भी तपोबल से मिल जाती है। तपोबल ही से ऋषियों ने ऐश्वर्यों को प्राप्त किया है। मद्यप, चोर, ब्रह्महत्याकारी और गुरुतल्पग भी यदि भली भाँति तपश्चर्या करें तो पाप से छूट सकते हैं।

तप कई प्रकार का है। तप का प्रचार इस संसार में विविध मार्गों से हुआ है। जो निवृत्त मार्गावलम्बी पुरुष कामनाओं और वैभवों को त्याग कर जीवनयापन करता है और ऐसे बहुत लोगों में भी जो मनुष्य निराहार रह कर समय यापन करता है उसके समान तपस्वी और कोई नहीं है। अहिंसा, सत्यभाषण, दान और इन्द्रिय निग्रह की अपेक्षा भी निराहार रहने के समान कोई तप नहीं है। दान के समान एक भी कठिन कार्य नहीं है, मातृ सेवा के समान एक भी कार्य नहीं है। सर्वस्व त्याग के बराबर अन्य कोई तप नहीं है। स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से और धर्म-रक्षार्थ लोग इन्द्रियों को विषयों से अलग रखते हैं। इन सब की अपेक्षा निराहार व्रत करना, सर्वोत्कृष्ट तप है। ऋषि, पितृ, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा अन्य स्थावर जङ्गमात्मक प्राणी—सब ही तो तप करते हैं। वे सब प्रकार

की सिद्धियों को तपस्या ही से पाते हैं। इसी प्रकार देवताओं ने भी तपस्या द्वारा ही महत्व प्राप्त किया है। समस्त इष्ट पदार्थ तप द्वारा ही प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि तपोबल से देवत्व भी मिल जाता है।

एकसौ बासठ का अध्याय

सत्य की महिमा

युधिष्ठिर ने कहा— हे पितामह ! क्या ब्राह्मण, क्या पितर, क्या ऋषि और क्या देवता,—सभी तो सत्य की प्रशंसा करते हैं। अतः मैं यह जानना चाहता हूँ कि वह सत्य है क्या पदार्थ ? सत्य के लक्षण क्या हैं ? सत्य की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? सत्य व्यवहार से लाभ क्या है ? सत्य का परिणाम क्या होता है ?

भीष्म जी ने कहा— हे धर्मराज ! चारो वर्णों के धर्मों की सङ्करता अर्थात् मिलावट प्रशंसा योग्य नहीं समझी जाती। सब प्रकार के विकारों से रहित शुद्ध सत्य चारों वर्णों में विद्यमान है। सत्पुरुषों में सदा सत्य रहता है और वही धर्म कहलाता है। सत्य ही सनातन धर्म है। अतः सत्य को प्रणाम है। क्योंकि सत्य ही परम गति है। सत्य ही धर्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही योग है, सत्य ही सनातन धर्म है, सत्य ही उत्तम पद है। सारांश यह कि सत्य ही में सर्वस्व है।

हे धर्मराज ! अब मैं तुम्हें क्रम से सत्य के यथार्थ आचार सुनाता हूँ और उनके लक्षण बतलाता हूँ। सत्य की प्राप्ति किस प्रकार होती है यह भी सुन लो। लोगों ने सत्य को तेरह प्रकार का माना है। १ समता, २ दम, ३ मत्सरहीनता, ४ क्षमा, ५ लज्जा, ६ तितिक्षा, ७ असूया न करना, ८ त्याग, ९ ध्यान, १० श्रेष्ठत्व, ११ धैर्य, १२ दयाभाव, और १३ अहिंसा— ये तेरह सत्य के प्रकार हैं। सत्य—नित्य, अविकारी और अविनाशी है। वह

सर्वधर्मानुकूल योग द्वारा पाया जा सकता है। इच्छा और द्वेष काम और क्रोध को विनिष्ट कर, अपने प्रिय आत्मा के ऊपर और अपने अप्रिय शत्रु पर समान दृष्टि रखना—समता अर्थात् पक्षपात-शून्यता है। किसी को धन सम्पन्न देख उसका धन लेने की कामना न करना, सदा गम्भीर बना रहना, धैर्य रखना, किसी से न डरना और रोग की शान्ति को दम कहते हैं। इस दम की प्राप्ति ज्ञान से होती है। दान में श्रद्धा, धर्माचरण के नियमों के पालन को विद्वानों ने मत्सरशून्यता बतलाया है। सदा दृढ़ रह कर सत्य धर्म का आचरण करने से ही मत्सरता का नाश होता है। सत्पुरुषों में मान्य और सत्यवादी सत्पुरुषों को रुचने वाली बातों को सुनना और सहन करना क्षमा है। सत्यवादी में यह गुण शीघ्र ही प्रकट होता है। बुद्धिमान् जन, दूसरे लोगों की भलाई करते हैं। कभी खिन्न नहीं होते। उनकी वाणी और मन सदा शान्त रहते हैं। उनमें वह लज्जा जो धर्माचरण से प्राप्त होती है, रहती है। धर्म के नाम पर पुरुष जो दूसरे को क्षमा करता है, उसे तितिक्षा कहते है। लोगों को अपने वश में करने के लिये यह गुण अपने में लाने का धर्मपूर्वक अभ्यास किया जाता है तब यह प्राप्त होता है। अनुरक्ति और विषयवासना को छोड़ना त्याग कहलाता है। राग द्वेष रहित पुरुष ही त्यागी हो सकता है। अन्य नहीं। प्रयत्नपूर्वक जिस गुण से मनुष्य प्राणियों की भलाई करता है और स्वयं लिप्त नहीं होता, उसीको श्रेष्ठता अथवा आर्यता प्राप्त होती है। सुख और दुःख में न घबड़ाना धैर्य कहलाता है। कल्याणकामी पुरुष को कभी धैर्यच्युत न होना चाहिये। मनुष्य को सदा सत्यवादी और क्षमाशील बना रहना चाहिये। हर्षमय और क्रोधशून्य पुरुष को धृतिवान् कहते हैं। सनातन धर्म यह है कि मनसा वाचा कर्मणा किसी प्राणी से द्रोह न करे; सब के ऊपर अनुग्रह करे और दान दे। ये तेरह प्रकार सत्य के हैं। उनके लक्षण मैं बतला ही चुका। जो महात्मा होते हैं, वे सत्य का सेवन करते हैं और उसमें वृद्धि करते हैं।

हे राजन्! सत्य के गुण असंख्य हैं। अतः पितर तथा देवता तक सत्य की सराहना करते हैं। सत्य भाषण के समान पुण्य और असत्य भाषण के समान पाप नहीं है। वेद कहते हैं—पुण्य, सत्य के आश्रित रहता है। अतः असत्य न बोलना चाहिये। सत्य से दान का फल, दक्षिणा सहित यज्ञों का फल, अग्निहोत्र का फल और अधर्म निर्णायक वेदाध्यन का फल मिलता है। यदि सत्य भाषण के और शत अश्वमेध यज्ञों के फल की तुलना की जाय तो सत्य भाषण का फल, शत अश्वमेध यज्ञ के फल से भारी निकलेगा।

— —

एकसौ त्रेसठ का अध्याय

त्रयोदश दोषों का वर्णन

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! मैं अब उन दोषों क वर्णन सुनने को उत्सुक हूँ जिनके कारण क्रोध और काम उत्पन्न होते हैं, जिनसे मन में शोक, मोह और पाप कर्म करने की (विधित्सा) तथा दूसरों की अवनति देखने की इच्छा उत्पन्न होती है। लोभ, मत्सरता, ईर्ष्या, निन्दा, असूया, कृपणों पर कृपा और बुरे काम करने की निर्भीकता की उत्पत्ति कैसे होती है?

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! तेरह दोष प्राणिमात्र के महा भयङ्कर शत्रु हैं। वे प्राणियों को चारों ओर से घेरे रहते हैं। ये प्रमादी पुरुष को बड़ी सावधानी से सताया करते हैं। ये मनुष्य को देखते ही बल पूर्वक उस पर भेड़िये की तरह टूट पड़ते हैं और उसका मटियामेंट कर डालते हैं। ये सब के सब कष्टप्रद हैं। इनके द्वारा मनुष्य पापकर्म में प्रवृत्त होते हैं। यह जान लेना प्रत्येक मनुष्य का काम है। अब मैं तुम्हें तुम्हारे वर्णित दोषों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का वर्णन सुनाऊँगा।

साथ ही मैं तुम्हें क्रोध की उत्पत्ति भी बतलाऊँगा। तुम एकाग्र मन कर सुनो।

क्रोध की उत्पत्ति लोभ से होती है और अन्य दोषों की सहायता से इसकी वृद्धि होती है। क्षमा से क्रोध का नाश होता है। काम की उत्पत्ति सङ्कल्प से होती है और सेवन करने से उसकी वृद्धि होती है। बुद्धिमान् जन जब काम का सेवन करना बँद कर देता है, तब ही उसका नाश हो जाता है। असूया की उत्पत्ति क्रोध और लोभ से होती है और समस्त प्राणियों पर दया प्रदर्शित करते ही और समस्त विषयों से वैराग्य होते ही उसका नाश हो जाता है। परदोषानुदर्शन से असूया उत्पन्न होती है; किन्तु ज्ञानी जन तत्वज्ञान से उसको विनष्ट कर डालते हैं।

मोह की उत्पत्ति ज्ञान से है। अज्ञान् के उत्पन्न होते ही पापकर्म में निरन्तर प्रवृत्ति रहा करती है। सत्सङ्ग से मोह का नाश होता है।

असद्ग्रन्थावलोकन से विधित्सा—बुरे कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होती है। किन्तु तत्वज्ञान से उसका भी नाश होता है। प्रिय पुरुष के बिछोह से शोक की उत्पत्ति होती है, किन्तु संसार की निस्सारता का बोध होते ही तुरन्त उसका नाश होता है।

किसी का अशुभ देखने की निरन्तर इच्छा मन में बनी रहने से क्रोध और लोभ उत्पन्न होता है। किन्तु सब को दया दृष्टि से निहारने पर और किसी का अकल्याण होते देख मन में पाश्चात्ताप के उदय होते ही क्रोध और लोभ नष्ट हो जाते हैं।

सत्य का त्याग और निष्ठुरता का बर्त्ताव करने से मत्सरता की उत्पत्ति होती है। किन्तु सत्पुरुषों की सेवा शुश्रूषा करने से इसका नाश होता है।

कुलीन होने का अभिमान, ज्ञान और ऐश्वर्य से मनुष्य मदमाते हो जाते हैं। किन्तु वास्तविक ज्ञान होते ही मद एकदम जाता रहता है।

बुरी कामनाओं और अधम पुरुषों के साथ रहने में हर्षित होने से

अन्य लोगों के प्रति ईर्ष्या (डाह) उत्पन्न होती है। किन्तु ईर्ष्या के नाश के लिये ज्ञान अपेक्षित है।

किसी सामान्य कार्य में अथवा अपने चरित्र में कलङ्क लगाने से, समाज-भ्रष्ट होने से और द्वेषोत्पादक अप्रिय वचनों से निन्दा की उत्पत्ति होती है। किन्तु जब सत्पुरुषों के चरित्रों का अनुशीलन किया जाता है, तब वह शान्त हो जाती है।

बलवान् अपकारियों को दण्ड देने की असमर्थता से तीव्र असूया की उत्पत्ति होती है, किन्तु दया, असूया का नाश कर डालती है।

कृपणों को देख कृपा उत्पन्न होती है, किन्तु धर्मस्थिति का ज्ञान होने पर, कृपा शान्ति हो जाती है।

प्राणियों को अज्ञानवश लोभ घेरता है। किन्तु ज्ञान द्वारा संसार की अनित्यता का ज्ञान होने पर, लोभ दूर हो जाता है।

मुनियों के मतानुसार इन सब दोषों पर शान्ति से विजय प्राप्त किया जा सकता है। ये तेरह दोष धृतराष्ट्र के पुत्रों में थे। किन्तु सत्यकामी तुमने महात्माओं की सेवा कर के उन्हें जीत लिया है।

एकसौ चौसठ का अध्याय

निष्ठुर पुरुष के लक्षण

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! मैं सत्सङ्ग से अनिष्ठुर पुरुषों के लक्षण तो जान गया हूँ; किन्तु निष्ठुर पुरुषों के लक्षण मुझे नहीं मालूम और न मुझे उनके कर्मों का ही वृत्तान्त अवगत है। लोग निष्ठुर पुरुषों से वैसे ही दूर रहते हैं, जैसे झाँकरों और काँटों से ढके हुए गढ़हे से और कूप से अथवा प्रज्ज्वलित आग से। निष्ठुर पुरुषों का दुःखी रहना इस लोक में प्रसिद्ध ही है। अतः आप मुझे क्रूर जनों का स्वरूप आदि बतलावें।

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज ! जो पुरुष नृशंस होता है, वह सदा दुष्कर्म किया करता है। वह स्वयं निन्दा का पात्र होता हुआ भी दूसरों की निन्दा किया करता है। वह सदा मन ही मन विचारा करता है कि ओहो! मैंने बड़ा धोखा खाया। वह जो कुछ देता है उसका ख़ूब बखान करता है। वह दूसरों से द्वेष करता है, सदा खोटे कर्मों के करने में लगा रहता है। प्रथम प्रीति जनाता और पीछे धोखा खाता है। वह दुष्टता करता है। किसी को न दे कर हरेक वस्तु का स्वयं ही उपभोग करता है। वह पल्ले दर्जे का गर्वीला होता है। वह विषयासक्त होता है और बड़ बड़ किया करता है। निष्ठुर पुरुष सब को सन्देह की दृष्टि से देखता है। वह काक की तरह सब को धोखा देने वाला होता है। वह बड़ा कृपण होता है और अपने स्नेही मित्रों का वह बखान किया करता है। वह संन्यासी आदि का द्वेषी और उन पर झूठे कलङ्क लगाने वाला होता है। वह नित्य हिंसा करने वाला गुण अवगुण के विचार से पराङ्मुख, बड़ा कपटी, दृढ़ मन वाला और पल्ले दर्जे का लोभी होता है। जिसमें तुम ये लक्षण देखो उसे तुम क्रूर जन जान लेना। जो नृशंस पुरुष होता है वह गुणी एवं धर्मशील पुरुषों को पापी समझता है और अपने स्वभाववश किसी का भी विश्वास नहीं करता। जिस स्थल पर अपने और दूसरे का दोष बराबर का होता है, वहाँ दूसरे के दोष का तो वह बखान करता है और अपने काम के लिये दूसरों की हानि करता है। वह उपकारी पुरुष को भी अपने धोखे में आया हुआ जानता है। यदि किसी उपकारी को कभी भूले-भटके वह आर्थिक सहायता दे देता है, तो देने के बाद वह अपने इस कृत्य पर पश्चाताप करता है। भक्ष्य, पेय, लेह्य आदि खाने की वस्तुओं को अकेले ही खा जाता है। पास बैठे हुओं को देना तो जहाँ तहाँ, उनसे एक बार खाने के लिये पूँछता तक नहीं; किन्तु जो पुरुष स्वयं भोजन करने के पूर्व प्रथम ब्राह्मणों को खिला कर तदन्तर अपने स्नेहियों सहित भोजन करता है, वह इस लोक में सुखी और मरने के बाद स्वर्ग में सुखी रहता है।

हे धर्मराज ! यही नृशंस पुरुष के लक्षण और उसका स्वरूप है। ज्ञानी जनों को ऐसे क्रूर जनों का सहवास सदा बचाना चाहिये।

एकसौ पैंसठ का अध्याय

प्रायश्चित्तादि निरूपण

भीष्म जी कहने लगे—हे युधिष्ठिर ! जिस ब्राह्मण का धन चोरी गया हो और वह यदि यज्ञ करना चाहता हो; वेद, वेदाङ्ग एवं उपनिषदों में पारङ्गत हो, जो ब्राह्मण अपने आचार्य को दक्षिणा देने को धन चाहता हो या पितरों का श्राद्ध करने के लिये अथवा पढ़ने के लिये धन चाहता हो, ऐसे समस्त ब्राह्मण धर्मभिक्षुक कहलाते हैं। ऐसे निर्धन ब्राह्मणों को धन देना चाहिये और उन्हें विद्या पढ़ानी चाहिये। इनके अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणों को भी धन दे। जो धर्मभ्रष्ट ब्राह्मण हों, उन्हें यज्ञ में वेदी के निकट न बैठा कर बाहिर बिठावे और उन्हें कच्चा अन्न अर्थात् सीधा (अमनिया) दे। ऐसों को धन दे। यह धर्मशास्त्रों का मत है। राजा योग्यता के अनुसार ब्राह्मणों को रत्नादि दे। क्योंकि वेद तथा बहु दक्षिणा वाले यज्ञ ब्राह्मणों के आधार ही से रहते हैं। ब्राह्मण भी वैभव तथा आचार के अनुसार सदा यज्ञ किया करे। जिसके पास तीन वर्षों तक अपने कुटुम्ब के निर्वाह करने योग्य अन्न का संग्रह हो अथवा और भी अधिक हो तो वह सोम-याग कर सकता है। यदि किसी ब्राह्मण यजमान का यज्ञ अधूरा रहा जाता हो, तो उस देश के धर्मनिष्ठ राजा को उचित है कि यदि उसके पास धन न हो तो वह उस वैश्य से धन ले कर उस ब्राह्मण को दे, जो वैश्य यथेष्ट संख्या में पशु रखता हो, किन्तु स्वयं यज्ञ न करता हो और सोम पान न करता हो। इस प्रकार धर्मनिष्ठ राजा उस ब्राह्मण को धन दे कर उसका अधूरा यज्ञ पूरा करावे। शूद्रों को तो यज्ञादि करने का अधिकार

ही नहीं है। अतः शूद्रों के घरों से राजा यज्ञ के लिये अपनी आवश्यकतानुसार जो वस्तु चाहे सो ले ले। जो घर में शत गौ रखने पर भी अग्निहोत्र न करता हो, जो सहस्र गौ का स्वामी हो कर भी यज्ञ न करता हो—उसका सारा धन धर्मनिष्ठ राजा लुटवा ले। जो धनी अपने धन से किसी को कभी कुछ न देता हो, उसका धन भी राजा लुटवा ले। जो राजा ऐसा वर्त्ताव करता है, उसे पाप नहीं लगता। इसी प्रकार यह भी जान लो कि, जो तीन दिनों तक उपवास कर चुका हो, वह नीच कर्म करने वाले के घर से भी केवल एक दिन का भोजन ले लेवे। इतना सामान न ले कि दूसरे दिन के लिये बच जाय। खलिहान से, खेत से अथवा जहाँ मिल सके वहीं से त्यागी मनुष्य केवल अपने निर्वाह योग्य अन्न उठा ले। राजा पूछे अथवा न पूछे—तो भी उसके पास जा कर ऐसे मनुष्य को सब बात कह देनी चाहिये। धर्मज्ञ राजा ऐसे पुरुष को दण्ड न दे। क्योंकि ऐसा त्यागी ब्राह्मण जब दुखी होता है। तब इसका कारण राजा की मूर्खता ही हुआ करती है। राजा शास्त्रज्ञ एवं सुशील ब्राह्मण की भली-भाँति परीक्षा ले। उसकी आजीविका के लिये बंधान बाँध दे। क्योंकि राजा को उचित है कि वह ब्राह्मणों की रक्षा वैसे ही करे जैसे पिता अपने औरस पुत्र की करता है। वर्ष की समाप्ति पर और नये वर्ष के आरम्भ में आग्रायण एवं पशुसोम आदि यज्ञ करने का डौल न हो तो इसका प्रायश्चित्त करने को वैश्वानरी इष्टि करे। धर्मज्ञ ब्राह्मणों का कथन है कि, जहाँ मुख्य विधि का अभाव हो; वहाँ गौण विधि से काम ले। क्योंकि इसे भी शास्त्रकारों ने परम धर्म बतलाया है। विश्व देवताओं, साध्यों, ब्राह्मणों और महर्षियों ने निर्धारित कर दिया है कि आपत्ति काल में मरण के भय से यदि प्रधान विधि न हो सके तो गौण विधि से कार्य करे। किन्तु यदि मुख्य विधि से काम करने की सुविधा हो और तब भी जो पुरुष गौण विधि से काम चलावे, तो उस दुष्टबुद्धि को उस कर्म का पारलौकिक फल प्राप्त नहीं होता। वेदज्ञ ब्राह्मण किसी राजा के निकट

जा, अपने तेज और ज्ञान का बल दिखला कभी याचना न करे। क्योंकि अपने और राजा के पराक्रम की तुलना करने से अपना पराक्रम विशेष बली ठहरता है। अतः ब्रह्मवादी ब्राह्मण का तेज राजा के लिये असह्य है। ब्राह्मण जगत का उत्पादक, शास्ता और पालन करने वाला एक देवता समझा जाता है। अतएव ब्रह्मवादी ब्राह्मण से न तो कभी अशुभ वाणी बोले और न उससे कोई रूखी बात ही कहे। क्षत्रिय को निज भुजबल से आपत्ति के पार हो जाना चाहिये। वैश्य और शूद्र को धन के द्वारा आपत्ति से छुटकारा पाना चाहिये। द्विज वर्ण वेद के मंत्रों से अथवा अभिचार सम्बन्धी हवन आदि कर, आपत्ति से निस्तार पा ले। कन्या, तरुणी स्त्री, मन्त्रों को न पढ़ा हुआ ब्राह्मण, मूर्ख एवं जिसका यज्ञोपवीत नहीं हुआ, वह व्यक्ति अग्निहोत्र न करे। यदि इनमें से कोई स्त्री या पुरुष हवन करता है, तो वह पुरुष जिसके अग्नि में ऐसे लोग हवन करते है तथा हवन करने वाला स्वयं नरकगामी होते हैं। होता को यज्ञ-क्रिया में निपुण और वेद में पारङ्गत होना चाहिये। अग्निहोत्री को दक्षिणा में एक अश्व देना चाहिये। जो अग्निहोत्री अश्वदान नहीं करता, उसे अग्निहोत्री न कहना चाहिये। यह धर्मशास्त्री पण्डितों का मत है। श्रद्धावान् एवं जितेन्द्रिय पुरुषों में यदि दक्षिणा देने की सामर्थ्य न हो तो वे यज्ञ कभी न करें; किन्तु अन्य पुण्यवर्द्धक कृत्य करें। क्योंकि दक्षिणा रहित किया हुआ यज्ञ प्रजा, पशु और स्वर्ग का नाश करने वाला है। ऐसा यज्ञ इन्द्रियों को, यश को और कीर्ति को भी नाश करता है। जो पुरुष रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करता है, जो ब्राह्मण अग्निहोत्र नहीं करता और जिसके अग्निहोत्र में वेदज्ञ ब्राह्मण भाग नहीं लेते—वे सब पापी समझे जाते हैं। एक कूप वाले ग्राम में बारह वर्षों तक रहने वाला ब्राह्मण, शूद्र कन्या से विवाह करने वाला ब्राह्मण, शूद्रवत् काम करने वाले माने जाते हैं। जो ब्राह्मण अविवाहिता कन्या को अपनी सेज पर सुलाता है, जो ब्राह्मण वृद्ध शूद्र को भी मान देता है, जो ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य को

वृद्ध मान उसके पीछे बिस्तरे पर बैठता है, वह ब्राह्मण पातकी माना जाता है। अब ऐसे ब्राह्मणों की शुद्धि का उपाय भी तुम सुनो।

जो ब्राह्मण किसी हीन वर्ण के मनुष्य की एक रात्रि सेवा करता है अथवा साथ साथ एक स्थान पर रहता है अथवा एक आसन पर बैठता है, उसे इसके प्रायश्चित्त में तीन वर्षों तक व्रत धारण कर क्षत्रिय अथवा वैश्य के पीछे तृण की चटाई पर बैठना पड़ता है अथवा तीन वर्षों तक निरन्तर भ्रमण करना पड़ता है। ऐसा करने से उसका पाप दूर होता है।

हे राजन्! १ हँसी मज़ाक में मिथ्या बात कह देने से पाप नहीं लगता। २ स्त्री के निकट और ३ किसी के विवाह के सम्बन्ध में असत्य भाषण करने पर भी पाप नहीं लगता। ४ गुरु की रक्षा तथा ५ आत्म-रक्षा के लिये मिथ्या भाषण करने से पाप नहीं लगता। इन पाँच स्थलों पर मिथ्या-भाषण, शास्त्रों के मतानुसार, पातक नहीं माना जाता।

श्रद्धावान् नीच जाति के पुरुष से भी विद्या सीख लेनी चाहिये और यदि अपावन ठौर में सोना पड़ा हो, तो उसे भी उठा लेना चाहिये। अकुलीन के घर से भी सुन्दरी स्त्री ले ले और यदि विष से भी अमृत निकल आवे तो उस अमृत को पी ले। क्योंकि धर्मशास्त्र का मत है कि स्त्रियाँ, रत्न और जल दूषित नहीं होते।

गौ और ब्राह्मणों के हितार्थ, वर्णसङ्करता फैलने के समय और आत्म-रक्षा की आवश्यकता पड़ने के समय, वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता है।

मद्यपान, ब्रह्महत्या और गुरु-पत्नी-गमन—इन तीन पातकों का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इनका प्रायश्चित्त तो मरण ही है। यही शास्त्र बतलाता है।

सुवर्ण का अपहरण, चोरी और ब्राह्मण का धन छीनना भी पाप है। सुरापान, अगम्यागमन, पतितों के साथ सहवास, ब्राह्मणेतर का ब्राह्मणी के साथ भोग करना,—ये ऐसे पापकर्म हैं जिनके करने से मनुष्य तत्क्षण पातकी हो जाता है।

जो मनुष्य एक वर्ष तक किसी पातकी के साथ रहता है वह भी पातकी हो जाता है। जो ब्राह्मण पतित को यज्ञ कराता, वेद पढ़ता, पातकी के साथ रोटी बेटी का सम्बन्ध करता है, एक सवारी में उसके साथ बैठता है उसके साथ रहता है तथा उसके साथ खाता पीता है, वह भी पतित हो जाता है।

हे राजन्! इन पाँच महापातकों को छोड़ अन्य पापों के प्रायश्चित्त हैं। उन पापों को करने वाला, यथा समय व्रतादि कर, यदि प्रायश्चित्त करे तो शुद्ध हो सकता है। किन्तु उन पापों को फिर उसे न करना चाहिये। सुरापायी, ब्रह्महत्यारा और गुरुपत्नी के साथ मैथुन करने वाला यदि इन तीन में से कोई मर जाय और उसका अन्त्येष्ठि कर्म न किया जाय, तो भी उसका उत्तराधिकारी उसकी समस्त सम्पत्ति बिना विचारे ले ले। यह इसलिये कि ऐसों का प्रेतकर्म करने की शास्त्राज्ञा ही नहीं है।

यदि अपना मित्र या गुरु पातकी हो गया हो, तो धर्मात्मा को धर्म के पीछे उस मित्र अथवा उस गुरु को भी त्याग देना चाहिये। यदि कुछ दिनों उसे ऐसे पातकी मित्र अथवा पातकी गुरु के साथ रहना पड़ा हो तो उसे प्रायश्चित्त कर डालना चाहिये। जब तक ऐसे पातकी प्रायश्चित्त कर के शुद्ध न हो लें, तब तक किसी भी सदाचारी पुरुष को उनके साथ किसी प्रकार की बातचीत या उनके साथ किसी विषय पर विचार न करना चाहिये।

जो मनुष्य अधर्मी हो, वह यदि तप करे तो धर्म के प्रताप से शुद्ध हो सकता है।

चोर को चोर कहने से चोरी का पाप लगता है। यदि किसी ऐसे पुरुष को चोर कह दिया जाय कि जो चोर नहीं है, तो ऐसा कहने वाले को प्रथम से दूना पाप लगता है।

जो कन्या स्वयं शील भ्रष्ट होती है, उसे ब्रह्महत्या का तीन चौथि-

भागी पाप लगता है। ऐसी कुमारी का कुआरपन नष्ट करने वाले पापी को ब्रह्महत्या का एक चतुर्थांश पाप लगता है।

जो द्विजों का तिरस्कार करता है अथवा उनकी निन्दा करता है अथवा जो द्विजों का गला पकड़ उन्हें ढकेलता है वह महा पातक का भागी होता है। ऐसों की शत वर्षों तक कहीं प्रतिष्ठा नहीं होती। द्विज की हत्या करने वाले को एक सहस्र वर्षों तक नरक में सड़ना पड़ता है। अतएव विप्र का अपमान कभी न करना चाहिये और विप्र पर कभी हाथ भी न उठाना चाहिये। विप्र के शरीर से गिरा हुआ रक्त जितने धूलकणों को तर करता है; उतने ही वर्षों तक उसे नरकवास करना पड़ता है।

गर्भ-हत्यारा यदि गौ अथवा ब्राह्मण की रक्षा के लिये युद्ध में शास्त्रों से घायल हो कर मर जाता है, तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है। यदि वह अपने शरीर से प्रज्वलित अग्नि डाल भस्म हो जाय तो ऐसा करने से भी उसकी शुद्धि हो जाती है। सुरापायी पुरुष को अग्नि में खूब तपा कर गर्मागर्म सुरा पिलाने से उसका प्रायश्चित्त होता है। सुरा-पायी ब्राह्मण का प्रायश्चित्त गर्मागर्म सुरा से उसका शरीर जला देने से अथवा गर्मागर्म मदिरा पी कर उसके मर जाने से होता है। ऐसा न करने वाला सुरापायी ब्राह्मण नरक में पड़ता है और उसे परलोक नहीं मिलता।

जो गुरु-पत्नी-गामी होता है, वह दुष्ट दहकती हुई स्त्री की लोह-मूर्ति से लिपट कर यदि मर जाय तो वह शुद्ध होता है। यदि वह न करे तो वह अपने हाथ से अपना लिङ्ग और अण्डकोश काट कर और उन्हें गोद में रख नैऋत्य कोण की ओर चलते चलते मर जाय, तो वह उस पाप से शुद्ध होता है। या वह, यदि किसी ब्राह्मण की रक्षा करता हुआ मारा जाय तो भी शुद्ध हो जाता है। अश्वमेध अथवा गोसव यज्ञ अथवा अग्निष्टोम करने से भी वह शुद्ध होता है और फिर वह इस लोक तथा परलोक में पूजित होता है।

ब्रह्म-हत्यारा बारह वर्षों तक बस्ती के बाहर झोपड़ी में रहे और

झोंपड़ी के ऊपर मारे हुए ब्राह्मण की खोपड़ी को एक लकड़ी पर टाँग कर रखे। ब्रह्मचर्य से रहै और अपने पाप का बखान लोगों से करे। त्रिकाल स्नान करे। इस प्रकार साधु-जीवन बिताने से ब्रह्महत्यारा ब्रह्म-हत्या के पाप से छूट जाता है।

जान बूझ कर गर्भवती स्त्री की हत्या करने वाले को ब्रह्म-हत्या से दुगुनी हत्या करने का पाप लगता है।

सुरापायी को नियम से एक जून भोजन करना चाहिये। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये, भूमि पर सोना चाहिये। तीन वर्ष पूरे होने पर उसे अग्निष्टोम अथवा अन्य कोई यज्ञ कर, एक सहस्त्र गौ और एक साँड़ विप्रों को दान कर देने से उसकी शुद्धि होती है।

यदि वैश्य को मार डाला हो तो दो वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे, अग्निष्टोम यज्ञ करे और एक साँड़ सहित सौ गौएँ ब्राह्मणों को दे तो उसका पाप दूर होता है।

शूद्र का हत्यारा एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से और एक साँड़ सहित सौ गौएँ ब्राह्मणों को दान करने से शुद्ध होता है!

श्वान, शूकर, गन्धर्व की हत्या करने वाला तथा बिलाव, पपैया, मेंढक काक, सर्प, चूहा आदि की हत्या करने वाला, शूद्र-हत्या का प्रायश्चित्त करे।

अन्य प्राणियों की हत्या करने से पशु-हत्या के समान पाप लगता है। अब तुम अन्य पापों के प्रायश्चित्त भी सुनो।

यदि अनजाने क्षुद्र जीवों की हत्या, बन पड़े तो पश्चात्ताप रूपी प्रायश्चित्त करने से ऐसी हत्याएँ करने वाले की शुद्धि हो जाती है। अथवा यदि वह एक वर्ष तक किसी व्रत का पालन करे तो भी वह शुद्ध हो जाता है।

वेद-वेत्ता ब्राह्मण की पत्नी के साथ व्यभिचार करने वाला तीन वर्षों तक तथा अन्य लोगों की स्त्री से पापकर्म करने वाला दो वर्षों तक व्रत

करे और शाम को मामूली भोजन करे और ब्रह्मचर्य से रहे। पर-स्त्री के साथ हँसी दिल्लगी करने वाला तथा पर-स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने वाले का पाप—एक ही स्थान पर बैठने अथवा भूमि पर खड़े रहने से और तीन दिवस तक केवल जल पान कर रहने से छूटता है। अग्नि में अपवित्र पदार्थ डालने वाले को भी यही प्रायश्चित्त करना उचित है।

अकारण माता, पिता और गुरु को त्यागने वाला पतित हो जाता है। यह धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है।

यदि अपनी स्त्री व्यभिचारिणी हो या जेल में रह चुकी हो, तो उसे केवल अन्न वस्त्र दे और उससे वही प्रायश्चित्त करवावे जो पर-स्त्री-गामी पुरुष के लिये कहा गया है। यही शास्त्र की मर्यादा है।

जो स्त्री उच्च वर्ण के पति को त्याग हीन वर्ण के पति के साथ व्यभिचार करती है, उसे मैदान में खड़ा करवा, राजा कुत्तों से फड़वावे। जो पुरुष व्यभिचार करे उसे तपाये हुए गर्म लोहे की सेज पर सुला कर उसे लकड़ियों से ढक दे, जिससे वह पापी जल कर भस्म हो जाय।

हे राजन्! यही दण्ड उस स्त्री को भी दे जो अपने पति को त्याग दूसरे पुरुषों से व्यभिचार करवाती है।

जो पापी पाप करने के बाद एक वर्ष के भीतर पाप का प्रयाश्चित्त न कर डाले उसे दूना प्रयाश्चित्त करना उचित है। ऐसे पुरुष के साथ जो दो वर्षों तक संसर्ग रखे, उसे समस्त पृथिवी की प्रदक्षिणा करनी चाहिये और भीख माँग कर पेट भरना चहिये।

ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित रहते जो छोटा भाई विवाह कर लेता है, वह परिवेत्ता कहलाता है। ऐसा करने से अविवाहित ज्येष्ठ भ्राता, उसका विवाहित छोटा भाई तथा छोटे भाई की विवाहिता, स्त्री—तीनों पातकी हो जाते हैं। इस पाप से मुक्त होने के लिये वही प्रायश्चित्त करे जो वीर की हत्या करने के लिये है। पाप निवृत्ति के लिये एक मास व्यापी चान्द्रायण व्रत करे अथवा कृच्छ्र व्रत करे। या छोटा भाई अपनी स्त्री को

बड़े भाई के सामने खड़ी कर और यह कह कर कि यह तेरी स्नुषा (पुत्रवधू) है अपने भाई को सन्मान पूर्वक दे दे। तदन्तर बड़े भाई की आज्ञा से छोटा भाई पुनः उसे अङ्गीकार कर ले। ऐसा करने से वे तीनों पाप से छूट जाते हैं।

गौ को छोड़ अन्य पशुओं की हिंसा करने से पाप नहीं लगता। क्योंकि महात्माओं का कहना है कि, पशुओं पर मनुष्यों का सब प्रकार से प्रभुत्व है।

किन्तु गौ की हत्या करने वाला पातकी हाथ में चामरी गौ की 'पूंछ तथा मिट्टी का पात्र ले नित्य अपना 'पापकर्म सब को सुनाता, सात घर भिक्षा मांगे और जो कुछ मिले उसीसे अपना पेट पाले। जो ऐसा करता है वह बारह दिनों ही में पाप से छूट जाता है। जो चामरी गौ की पूंछ हाथ में न लेना चाहे उसे एक वर्ष तक व्रत रखना चाहिये।

जिस मनुष्य को दान देने की शक्ति हो वह दान द्वारा भी प्रायश्चित्त कर सकता है। सारांश यह कि किसी न किसी रूप में पापों का प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये।

श्रद्धालु जन केवल एक गौ का दान देने से भी शुद्ध हो जाता है। यह ऋषियों का कथन है। कुत्ता, शूकर, मनुष्य, मुरगे और ऊँट का माँस, मूत्र तथा विष्ठा खाने से प्रायश्चित्त करना चाहिये। सोमयज्ञ करने वाले को यदि मधु पीने वाले के मुख की गन्ध आ जाय, तो उसे तीन दिवस गर्म जल, तीन दिन गर्म दूध और तीन दिन पवन पी कर रहना चाहिये। ऐसा करने से वह शुद्ध हो जाता है।

हे युधिष्ठिर! यह सनातन कालीन प्रायश्चित्त है। यदि ब्राह्मण से अनजाने कोई पाप कर्म बन आवे, तो वह विशेष रूप से प्रायश्चित्त करे।

एक सौ छियासठ का अध्याय

तलवार का आविष्कार

श्रीवैशम्पायन जी कहते हैं, हे जनमेजय ! तलवार के युद्ध में निपुण नकुल ने प्रसङ्गवश शरशय्याशायी भीष्म पितामह से पूछा।

नकुल ने कहा—हे धर्मज्ञ पितामह ! यद्यपि युद्ध कार्य में धनुष का महत्त्व विशेष है, तथापि मुझे तो तलवार बहुत पसंद है। क्योंकि जब जब धनुप टूट जाता है और रथ के घोड़े मारे जाते हैं, तब तब शरीररक्षा का साधन खड्ग ही है। अनेक धनुर्धर, शक्तिधर और गदाधर योद्धाओं को अकेला खड्गधारी योद्धा हरा सकता है। यह होने पर भी मेरे मन में सन्देह है और बड़ा आश्चर्य है कि सब प्रकार के युद्धों में कौन सा शस्त्र सर्वश्रेष्ठ है। हे पितामह ! तलवार का आविष्कार कैसे, किसके लिये और किस काम के लिये किया गया ? इसका प्रथम आचार्य कौन हुआ ?

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय ! बुद्धिमान माद्री-नन्दन नकुल की इस चातुर्यपूर्ण, सूक्ष्मार्थ वाली और विचित्र बात को सुन, बाणशय्या पर शयन किये हुए, धर्मज्ञ और धनुर्वेद-पारङ्गत भीष्म जी ने स्पष्ट स्वर और शब्दों में द्रोणशिष्य नकुल से कहा।

भीष्म जी बोले—हे माद्री-नन्दन ! अपने प्रश्नों के उत्तर सुनो। तुमने मुझे धातु वाले पर्वत की तरह प्रबोधित कर दिया। हे तात ! सृष्टि के पूर्व सब ओर जल ही जल भरा था। आकाश या पृथिवी कुछ भी न थी चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। शब्द, स्पर्श रहित अत्यन्त गम्भीर अपरम्पार समुद्र था। उस अवस्था में सब से प्रथम ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई। परम पराक्रमी ब्रह्मा ने पवन, अग्नि, सूर्य, आकाश, ऊर्द्ध-लोक और यम के प्रभुत्व वाले अधोलोक, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, लव और क्षण आदि की रचना की। फिर ब्रह्मा जी

ने लोकों के निवास रूप अपने शरीर को एक स्थान पर स्थिर किया और श्रेष्ठ एवं तेजस्वी पुत्रों को उत्पन्न किया। ब्रह्मा जी के पुत्रों के नाम थे— १ मरीचि, २ अत्रि, ३ पुलस्त, ४ पुलह, ५ क्रतु, ६ वसिष्ठ, ७ प्रचेता और ८ रुद्र। प्रचेता के पुत्र दक्ष ने साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं। उन साठों कन्याओं को ब्रह्मर्षियों ने प्रजोत्पत्ति के लिये वर लिया था। उन कन्याओं से समस्त प्राणी, देवता, पितृ-मण्डल, गन्धर्व, अप्सराएँ, भाँति भाँति के राक्षस, पक्षी, मृग, मच्छलियाँ, कपि, सर्प, जल-थल-चारी पक्षी, उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज उत्पन्न हुए।

इस प्रकार ब्रह्मा ने स्थावर जङ्गमात्मक सारे जगत को उत्पन्न किया। सर्वलोक पितामह ने सृष्टि कर, वेदोक्त सनातन धर्म को स्थापित किया। आचार्यों और पुरोहितों सहित देवता आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुत, अश्विनीकुमार, भृगु, अङ्गिरा, सिद्ध, तपोधन, कश्यप, वसिष्ठ, गौतम, अगस्त्य, नारद, पर्वत, बालखिल्य ऋषि, प्रभास नामक ऋषि, सिकत, घृतप, सोम, वायव्य, वैश्वानर, मरीचिप, अकृष्ट, हंस, अग्नियोनि नाम के ऋषि, वानप्रस्थ और पृश्नी ने ब्रह्मा जी की आज्ञा के अनुसार वेदोक्त धर्माचरण करना आरम्भ किया।

दानवों के राजाओं ने ब्रह्मा की आज्ञा न मानी और वे धर्म का नाश करने लगे। वे क्रोध और लोभ में फस गये। हिरण्यकश्यप, हिरण्याक्ष, विरोचन, शवर, विप्रचित्ति, नमुचि, प्रह्लाद, बलि तथा अन्य दैत्य एवं दानव अपने अनुचर वर्गों के साथ धर्म मर्यादा छोड़ और अधर्म करने की मन में ठान पृथिवी पर विचरने लगे। वे कहते थे कि, हम लोग भी देवताओं ही के समान हैं। क्योंकि हम भी उसी कुल में उत्पन्न हुए हैं, जिसमें देवताओ का जन्म हुआ है। वे लोग यह कह कर देवर्षियों के साथ स्पर्धा करने लगे। वे न तो प्रजा जनों की भलाई करते थे और न वे किसी पर दया करते थे। वे साम, दान, भेद को छोड़ केवल दण्ड-नीति से काम लेते थे और प्रजा-जनों को सताते थे।

उन गर्वीले असुरराजों ने देवताओं के साथ मेल करना उचित न समझा। यह देख ब्रह्मर्षि-गण ब्रह्मा जी के निकट गये। हे वत्स ! उस समय लोक-हितार्थ ब्रह्मा जी हिमालय शिखर पर विराजमान थे। हिमालय का वह शिखर बड़ा रमणीय था और कमल रूपी तारात्रों से पूर्ण था। उसका विस्तार सौ योजन का था। उसमें मणि रत्न भरे पड़े थे। उस शिखर के वन में यत्र तत्र पुष्पित पौधे लगे हुए थे। एक सहस्र वर्षों तक वहाँ रह चुकने के बाद, ब्रह्मा जी ने शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ कराना आरम्भ किया। यज्ञ-कार्य में वह और यथार्थ विधि से यज्ञ कार्य कराने वाले ऋषि यज्ञमण्डप में बैठे हुए थे। अतः प्रज्वलित अग्नि से यज्ञमण्डप परिपूर्ण था। सुवर्ण के चमकीले यज्ञपात्र रखे हुए थे। यज्ञमण्डप की अच्छी शोभा हो रही थी। देवताओं और सदस्य देवर्षियों से वह यज्ञ-मण्डप प्रकाशवान् हो रहा था।

ऋषियों से मैंने सुना है कि उस यज्ञ मण्डप में एक विषम घटना उपस्थित हुई। कहा जाता है कि एक तेजः सम्पन्न प्राणी कुण्ड के अग्नि को हटा बाहर निकला। उसे देख ऐसा जान पड़ा, मानों निर्मल आकाश में चन्द्रमा उदय हुआ हो। उसके शरीर की कान्ति नील कमल जैसी थी। उसकी दाढ़े बड़ी पैनी थीं। उसका पेट पतला और शरीर लंबा था। उसका तेज असह्य और उसके शरीर में अपार बल था। वह प्राणी ज्यों ही उछल कर बाहिर निकला, त्योंही पृथिवी काँप उठी, समुद्र खलबलाने लगा और उसमें बड़ी बड़ी लहरें उठने लगीं, बड़े बड़े भवर पड़ने लगे। घोर उत्पात सूचक उल्कापात होने लगा। वृक्षों की डालियाँ टूट टूट कर गिरने लगीं। सब दिशाओं में अशान्ति फैल गयी। रूक्ष पवन चलने लगा। समस्त प्राणी भय से पीड़ित हो गये। उस भयङ्कर प्राणी को निकट देख पितामह ब्रह्मा जी ने देवताओं और गन्धर्वों से कहा—मैं जिस प्राणी की खोज में था वह यही है। इसका नाम असि (तलवार) है। मैंने इस परम पराक्रमी की उत्पत्ति लोकरक्षा तथा दैत्य-विनाश करने को की है।

इतने में वह भयङ्कर प्राणी उस अपने रूप को छोड़ खड्ग के आकार में परिवर्तित हो गया। लोक-क्षय-कारी काल की तरह वह खड्ग प्रज्वलित हो उठा। तब ब्रह्मा जी ने अधर्म-नाशक वह तीक्ष्ण खड्ग महादेव जी को दिया। उस समय महर्षियों ने वृषभध्वज भगवान् शङ्कर की स्तुति की।

तब अप्रमेयात्मा शङ्कर ने वह खड्ग हाथ में ले अपना स्वरूप बदल डाला। वे चार भुजा वाले बन पृथिवी पर जा खड़े हुए। वे इतने लंबे हो गये कि, उनका सिर सूर्य को छू रहा था। उनकी निगाह ऊपर को थी। उनका शरीर विशाल था। उनके मुख से अग्नि की लपटें निकल रही थीं जो नीली, धुमैली और लाल रंग की थीं। उनके शरीर पर मृगछाला थी जिस पर सुन्दर सुनहले सितारे प्रदीप्त हो रहे थे। उनके ललाट में तीसरा नेत्र सूर्य की तरह दिखलायी पड़ता था। उनके अन्य दोनों नेत्र निर्मल और काले पीले रंग के थे। भग-नेत्र-नाशक त्रिशूल धारी रुद्र, प्रलय कालीन अग्नि की तरह नंगी तलवार हाथ में ले और विद्युतयुक्त मेघ के समान तीन रेखा वाली एक ढाल ले, युद्ध करने की इच्छा से तलवार को घुमाने लगे। उस समय परम पराक्रमी रुद्र देव पैतरा बदलने लगे और भीम गर्जन कर अट्टहास करने लगे।

हे राजन्! उस समय शङ्कर का रूप बड़ा भयङ्कर था। जब दैत्यों ने सुना कि भीमकर्मा रुद्र ने भयङ्कर कर्म करने को यह रूप धारण किया है, तब प्रसन्न हो उन लोगों ने रुद्र पर चढ़ाई की। वे महादेव पर पत्थरों, जलते हुए उल्कों, भयङ्कर और लोहे के छुरे आदि शस्त्रों का बरसाने लगे। किन्तु हाथ में खड्ग ले महादेव को रण में पैतरे बदलते देख, दैत्य सेना घबड़ा गयी और उसमें गड़बड़ी मच गयी। यद्यपि महादेव जी अकेले थे; तथापि वे दैत्यों को सहस्रों रूपों में युद्ध करते हुए देख पड़ते थे जैसे दावानल तृण समूह में फैल जाता है। वैसे ही भगवान् शङ्कर शत्रु सैन्य में फैल गये। वे दैत्यों को मारते काटते, कुचलते और घायल कर उनका संहार करने लगे। वे बड़ी फुर्ती के साथ खड्गप्रहार कर रहे थे। इससे दैत्यों के

हाथ पैर कटते जाते थे और छातियाँ विदीर्ण होती चली जाती थीं। कितने ही बड़े बड़े बलवान् दैत्यों की आँते निकल पड़ी, कितनों ही के अंग कट गये। कितने ही खड्ग के प्रहार से पीड़ित हो युद्धक्षेत्र से भाग गये। कितने ही भूमि में घुस गये और कितने ही पर्वतों के ऊपर, भाग कर, चले गये। कितने ही आकाश में उड़ गये, कितने ही जल के भीतर चले गये। इस प्रकार के भीषण संग्राम से पृथिवी का दृश्य महा भयानक देख पड़ने लगा। उसके ऊपर माँस और रक्त की कीचड़ हो गयी दानवों के नीचे पड़े हुए लोहूलुहान शरीरों से रणभूमि, वैसे ही शोभामयी जान पड़ती थी, जैसे पुष्पित ढाक के पौधे से पर्वत शोभामय जान पड़ता है। भगवान् शङ्कर ने इस प्रकार उन दैत्यों का संहार कर, इस धराधाम पर धर्म को स्थापित किया।

तदनन्तर इस आश्चर्यप्रद विजय के लिये देवताओं ने भगवान रुद्र का पूजन किया। तब वह रक्तरञ्जित खड्ग बड़े सम्मान के साथ महादेव ने भगवान् विष्णु को अर्पण किया। तब विष्णु ने वही खड्ग मरीचि को, मरीचि ने महर्षियों को, महर्षियों ने इन्द्र को, इन्द्र ने लोकपालों को और लोकपालों ने वह खड्ग सूर्यपुत्र मनु को दिया। साथ ही यह भी कहा कि—तुम मनुष्यों के राजा हुए। धर्मरक्षक इस खड्ग से तुम प्रजाजनों की रक्षा करना। शारीरिक और मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये लोग धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण किया करते हैं। अतः तुम स्वेच्छाचरिता से नहीं, प्रत्युत धर्मानुसार दण्ड का विधान कर प्रजा-रक्षण करो। भर्त्सना करना, और जुरमाना करना भी दण्ड कहलाता है। अल्प अपराधों के लिये अपराधी का अङ्गच्छेदन मत करवाना और न किसी को प्राणान्त दण्ड देना। किसी से दुर्वचन मत कहना। ये समस्त दण्ड खड्ग के रूपान्तर हैं। जो पालनीय नीतिमार्ग को अतिक्रम करते हैं; उनको सुमार्ग पर लाने वाला यह खड्ग ही है।

तदनन्तर मनु ने अपने पुत्र क्षुप को राजा बना प्रजा की रक्षा के

लिये उसे खड्ग दिया। क्षुप ने इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु ने पुरूरवा को, पुरूरवा ने आयुध को, आयुध ने राजा नहुष को, नहुष ने ययाति को, ययाति ने पुरु को, पुरु ने अमूर्तरय को, अमूर्तरय ने भूमिशय को, भूमिशय ने दुष्यन्तपुत्र भरत को, भरत ने धर्मवेत्ता ऐलविल को, ऐलविल से धर्मज्ञ धुन्धमार ने, धुन्धमार से काम्बोज देशाधिपति राजा मुचुकुन्द ने, मुचुकुन्द से मरुत्त ने, मरुत्त से रैवत ने, रैवत से युवनाश्व ने, युवनाश्व से इक्ष्वाकुवंशी रघु ने, रघु से प्रतापी हरिणाश्व ने, हरिणाश्व से शुनक ने, शुनक से धर्मात्मा उशीनर ने और उशीनर से यदुवंशी राजा भोज ने, भोज से शिवि ने और शिवि से प्रतर्दन ने, प्रतर्दन से अष्टक ने, अष्टक से पृषदश्व ने, पृषदश्व से द्रोणाचार्य ने, द्रोणाचार्य से कृपाचार्य ने और कृपाचार्य से वह खड्ग तुझे और तेरे भाइयों को मिला है।

इस खड्ग का नक्षत्र कृत्तिका, देवता अग्नि, गोत्र रोहिणी और इसके आद्याचार्य शङ्कर हैं। अब मैं तुझे इस खड्ग के गुप्त रूप से अवगत आठ नाम बतलाता हूँ, जो इस प्रकार हैं—१ असि, २ विशसन, ३ खड्ग, ४ तीक्ष्णधार, ५ दुरासद, ६ श्रीगर्भ, ७ विजय और ८ धर्मपाल। हे माद्रीनन्दन! आयुधों में खड्ग सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्मा जी ने इसका आविष्कार किया है और पुराणों में इसका वर्णन पाया जाता है। शत्रु-दमन-कारी वेनपुत्र राजा पृथु ने धनुष का आविष्कार किया था और धनुष की सहायता से पृथिवी से विपुल धान्य उपजाया था और पूर्ववत् पृथिवी की रक्षा की थी। हे माद्रीनन्दन! ऋषिप्रोक्त ये वचन तुझे मानने चाहिये और युद्ध-विद्या-विशारदों को खड्ग का पूजन करना चाहिये। यह प्रथम कल्प की सविस्तर एक घटना मैंने तुझे सुनायी और खड्ग का उत्पत्ति वृत्तान्त भी तुझे सुना दिया। मनुष्य खड्ग के इस उत्तम इतिहास को सुन कर बड़ा यशस्वी होता है और मरने के बाद मुक्ति पाता है।

एकसौ सरसठ का अध्याय

धर्म, अर्थ और काम

वैशम्पायन जी कहने लगे— हे जन्मेजय ! जब यह वृत्तान्त कह भीष्म जी चुप हो गये, तब युधिष्ठिर अपने भवन में चले गये और वहाँ जा उन्होंने विदुर जी तथा अपने चारों भाइयों से पूछा कि धर्म, अर्थ और काम के पीछे लोग लोभी हुआ करते हैं। अतः इन तीनों में उत्तम, मध्यम और निकृष्ट कौन है ? इस त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम को त्रिवर्ग कहते हैं) को जीतने का साधन क्या है ? मेरे इस प्रश्न का उत्तर आप हर्षित हो और श्रद्धा पूर्वक दें।

इस पर सर्वप्रथम अर्थशास्त्रज्ञ एवं प्रतिभाशाली विदुर ने धर्मशास्त्र के अनुसार यह कहा—हे राजन् ! शास्त्राभ्यास, तपस्या, दान, श्रद्धा, यज्ञ, क्षमा, भावशुद्धि (कपटराहित्य) दया, सत्य और इन्द्रियनिग्रह— को आत्मा की सम्पत्ति माना है। तुम इस विशाल सम्पत्ति को प्राप्त कर अपनी नियत मत डिगने देना। इन साधनों ही से धर्म और अर्थ की प्राप्ति होती है। मेरी राय में धर्म ही सर्वोत्कृष्ट है। धर्म से ऋषि तर चुके हैं। धर्म ही से समस्त लोक ठहरे हुए हैं, धर्म ही से देवताओं की उन्नति हुई है और धर्म ही में अर्थ का भी समावेश है। इसीसे विद्वानों के मतानुसार, हे राजन् ! धर्म उत्तम, अर्थ मध्यम और काम निकृष्ट माने जाते हैं। अतः मनुष्य को अपना मन अपने वश में रख और धर्मपुरस्सर वर्त्ताव करना चाहिये। साथ ही ऐसा करते समय, सब प्राणियों को आत्मवत् देखना चाहिये।

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय ! जब विदुर का वक्तव्य पूरा हुआ, तब अर्थ-शास्त्र-कुशल एवं धर्मार्थतत्वज्ञ अर्जुन ने युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में यह कहा—राजन् ! मर्त्यलोक कर्मभूमि है। अतः यहाँ कर्म का प्राधान्य है। कृषि, व्यापार, गोरक्षा और विविध कलाकौशलों द्वारा

धनोपार्जन करना कर्म की सार्थकता अथवा मर्यादा है। श्रुति कहती है धन विना धर्म और कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। धनी मनुष्य धर्म को उत्तमता से कर सकता है। पुण्य न करने वाले मनुष्यों के लिये दुर्लभ काम की प्राप्ति भी धन ही से हो सकती है। श्रुति कहती है धर्म एवं काम, अर्थ के अवयव हैं। अर्थ और काम की सिद्धि तभी होती है जब धन पास होता है। उत्तम जन धनी की वैसी ही उपासना करते हैं, जैसे समस्त प्राणी सदा ब्रह्म की उपासना किया करते हैं। जटाजूट-धारी, मृग-चर्मधारी, इन्द्रियनिग्रह का अभ्यास करने वाले, मलिनाङ्ग, जितेन्द्रिय अथवा मुड़िया (मूड़मुड़ाये) नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी धन की चाहना रखते हैं और माता पिता से जुदे हो जाते हैं। काषाय-वस्त्र-धारी, लंबी डाढ़ियों वाले, लज्जालु, शान्त स्वभाव, विद्वान्, सब प्रकार के परिग्रहों से शून्य और स्वर्गकामी जन, अपने कुल की परम्परा के अनुसार धर्माचरण करने वाले जन भी धन प्राप्ति की कामना किया करते हैं। क्या आस्तिक, क्या नास्तिक और क्या भोगी सभी कहते हैं कि, धन ही प्रकाश है और निर्धनता ही अन्धकार है।

जो जन आश्रित जनों को ऐश्वर्य का उपभोग करवाता है और शत्रुओं को दण्ड देता है वही धनवान समझा जाता है। राजन्! मेरा तो मत यही है। अब नकुल कुछ कहना चाहते हैं! सो आप माद्रीसुत नकुल तथा सहदेव का मत भी सुन लें।

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय! तदनन्तर नकुल और सहदेव ने कहा—हे राजन्! मनुष्य को उचित है कि वह उठते बैठते, सोते जागते, चलते फिरते धनोपार्जन के छोटे बड़े समस्त उपायों से काम लेता रहे। इस परमप्रिय दुर्लभ धन के प्राप्त होते ही मनुष्य की चिरपोषित कामनाएँ प्रत्यक्ष रूप से सफल हो जाती हैं। धर्म से उपार्जित धन और निस्सन्देह धन की हानि न करने वाला धर्म—अमृतोपम है। हम दोनों का तो यही मत है। निर्धनी की कोई कामना पूरी नहीं होती और धनहीन को धन

मिलता भी नहीं। जो लोग धर्म और धन—दोनों से रहित होते हैं, उनसे सारा जगत् घबड़ाता है। अतः जितेन्द्रियजन को धर्म दे कर * भी धन कमाना चाहिये। मेरे कथन पर विश्वास रखने वाले धनोपार्जन कर सब कुछ कर सकते हैं। प्रथम धर्माचरण करे, फिर धर्मपूर्वक धनोपार्जन कर अपने मनोरथ सफल करे। इस प्रकार त्रिवर्ग की प्राप्ति करने वाला पुरुष सिद्धार्थ होता है।

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय! जब नकुल सहदेव अपना वक्तव्य पूरा कर, चुप हो गये, तब भीमसेन ने कहा—राजन्! जिसकी कोई कामना ही नहीं—वह तो धन को भी चाहना नहीं करता और जिसको कोई कामना ही नहीं वह धर्माचरण भी नहीं करता और जिसको कामना नहीं वह काम को भी नहीं चाहता। अतः कामना ही मुख्य है। कामना-पूर्ण करने ही को तो ऋषिगण मन को एकाग्र कर तप किया करते हैं। वे पत्ते खाते हैं, फल फूल खाते हैं, वायु पीते हैं और यम नियम का पालन करते हैं। कितने ही जन कामना पूर्ण करने ही को वेदाभ्यास करते हैं, उपवेदों को पढ़ते हैं, दान देते हैं, श्राद्ध करते हैं, यज्ञ करते हैं और दान देते लेते हैं। क्या व्यापारी, क्या किसान, क्या गोपाल, क्या शिल्पी, क्या कारीगर और क्या देवपूजक—सब ही तो कामना की सिद्धि के लिये कार्यों में जुटे रहते हैं। यह कामना ही है जो मनुष्य को समुद्र में घुसाती है। काम का स्वरूप अनेक प्रकार का है और यह सारा जगत काम से व्याप्त है। ऐसा तो कोई भी पुरुष न तो है, न पहले कभी हुआ और न आगे होगा, जो कामनाशून्य हो। हे राजन्! सत्य बात तो यह है कि धर्म और अर्थ की स्थिति काम पर निर्भर है। दही का सार मक्खन है, धर्म का सार अर्थ है; तिल का सार तेल है; मक्खन का सार घृत है। जिस प्रकार काठ का सार फूल फल है, उसी प्रकार धर्म और

---

* "धर्म देकर" से अभिप्राय है धर्मानुष्ठान के बदले धन लेना।

अर्थ का उत्तम सार काम है। फल फूल से जैसे मधुर रस निकलता है, वैसे ही काम से धन और अर्थ रूपी मधुर रस निकलता है। धर्म और अर्थ का तदाकार कारण काम ही है। काम बिना केवल धन होने पर भी ब्राह्मण मिठाइयाँ नहीं खाते। बिना कामना के ब्राह्मण को कोई धन नहीं देता।

संसार में जो विविध प्रकार के काम किये जाते हैं, वे यदि किसी प्रकार की कामना न होती तो क्यों किये जाते। अतः मेरी राय में तो त्रिवर्ग में काम श्रेष्ठ है।

राजन्! मैं तो कहूँगा कि, आप वस्त्राभूषण से अलङ्कृत सुन्दरी, मद-माती और दर्शनीय ललनाओं के साथ इच्छानुसार विहार करो, जिससे हमारी कामना पूरी हो। मैंने खूब समझ बूझ कर अपना यह विचार आपके आगे प्रकट किया है। मेरा मत सत्पुरुषों का माना हुआ है और सार रूप एवं क्रूरता से रहित है। मनुष्य को धर्म-अर्थ और काम (इस त्रिवर्ग) का साथ ही साथ सेवन करना चाहिये। जो इस त्रिवर्ग में से एक का सेवन करता है, वह मनुष्य अधम है, जो दो का सेवन करता है वह मध्यम है और जो तीनों का सेवन करता है वह उत्तम है। बुद्धिमान्, सरस हृदय भीमसेन जो पुष्पों के विचित्र श्रृङ्गार से शोभायमान था, अपने वीर भाइयों के सामने इस प्रकार अपना मत प्रकट कर चुप हो गया।

सब के मतों को सुन कर धर्मराज ने दो घड़ी तक स्वयं मनन किया। तदनन्तर अर्थभरी मुसकुराहट के साथ वे कहने लगे। तुम सब ने ही धर्मशास्त्र का यथार्थ निश्चय किया है। तुम लोग धर्मशास्त्र के प्रमाणों को भी जानते हो। मुझ जिज्ञासु को तुमने अपने जो सिद्धान्त सुनाये वे, मैंने सुन लिये; अब तुम भी, मैं जो कहता हूँ, उसे सुनो।

जो मनुष्य पाप, पुण्य, धर्म, अर्थ और काम में नहीं लगा रहता, वह समस्त दोषों से शून्य हुआ करता है। जो सुवर्ण की डली और मिट्टी के ढेले में कुछ भी भेद नहीं समझता, वह सुख और दुःख देने

वाले कर्मजाल से छूट जाता है। इस जगत के समस्त प्राणी जन्म-मरण-शील हैं। वे वृद्धावस्था और विषयों के विकारों से पूर्ण हैं। उन्हें जब बारंबर धर्मोपदेश दिया जाता है, तब वे मोक्ष की सराहना करते हैं। किन्तु मोक्ष है क्या पदार्थ—यह बात वे स्वयं नहीं जानते। लोकपितामह ब्रह्मा ने कहा है—जो विषयानुरागी पुरुष हैं वह मोक्ष नहीं पाता। किन्तु जो पुरुष विद्वान होते हैं वे मोक्ष प्राप्ति के साधनों में संलग्न रहते हैं। किसी को किसी की भलाई बुराई में न रहना चाहिये। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार यदि कोई काम करना चाहे तो वह उसे नहीं कर सकता। बस यही एक बड़ी अच्छी बात है। मैं स्वयं जो चाहता हूँ, वह नहीं कर पाता। अन्तरात्मा जैसी प्रेरणा करता है, वैसा ही मुझे करना पड़ता है। समस्त प्राणियों को कार्य करने की प्रेरणा करने वाला दैव है। अतः समझना चाहिये कि दैव महा बलवान् है। हज़ार प्रयत्न करो; किन्तु अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं होती। तुम सब को जान रखना चाहिये कि, जो होनहार होता है वही होता है। धर्म, अर्थ और काम विहीन पुरुष भी गुप्त ज्ञान को पा जाता है। अतः इससे सिद्ध होता है कि गुप्त ज्ञान लोक-हित-साधक हैं।

वैशम्पायन जी बोले, हे जनमेजय! युधिष्ठिर के इन रोचक और हेतुभरे उत्तम वचनों को सुन कर, वहाँ उपस्थित समस्त जन हर्षित हुए और धर्मराज को सब ने प्रणाम किया। हे राजन्! सुन्दर अक्षरों से युक्त, मन के अनुकूल और कर्ण-कटु-वाक्यों से रहित, युधिष्ठिर के वचनों को सुन कर, वहाँ बैठे हुए समस्त राजा लोग, उनकी समझदारी की सराहना करने लगे। महामना एवं परम पराक्रमी धर्मराज युधिष्ठिर ने भी उपस्थित प्रतिष्ठित जनों की प्रशंसा की। तदनन्तर धर्मराज, पुनः धर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछने को, गङ्गानन्दन भीष्म के पास गये।

———

एकसौ अड़सठ का अध्याय

एक कृतघ्न का वृत्तान्त

युधिष्ठिर ने भीष्म से जा कर पूछा, हे पितामह ! आप कृपा कर मेरे प्रश्नों के उत्तर दें। सौम्य मनुष्यों की पहचान क्या है ? श्रेष्ठ प्रीति करने योग्य पुरुष कौन है ? अतीतकाल में और वर्तमानकाल में कौन से मनुष्य हितैषी हो सकते हैं ? मेरी समझ में जहाँ न तो चमचमाता रुपया काम आता है, न बन्धु बान्धव काम आते हैं, वहाँ मित्र ही काम आते हैं। अपना कहना मानने वाला मित्र मिलना इस संसार में दुर्लभ है।

भीष्म बोले—हे धर्मराज ! किसके साथ मैत्री करनी चाहिये और किसके साथ नहीं—अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ। सुनो। लोभी, निष्ठुर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापी, सब पर अविश्वास रखने वाला, आलसी, दीर्घसूत्री, कुटिल, निन्द्य, गुरुतल्पग, सब दुर्व्यसनों का सेवन करने वाला, सङ्कट के समय मित्र का साथ न देने वाला, दुष्टात्मा, बेहया, सब को पाप दृष्टि से देखने वाला, वेदनिन्दक, नास्तिक, अजितेन्द्रिय, स्वेच्छाचारी, मिथ्यावादी, सर्वद्वेषी, मर्यादा न मानने वाला, चुगलखोर, मूढ़, मत्सरतापूर्ण, अधर्मी, दुष्ट स्वभाव, मन का पापी, जुआरी, निष्ठुर, मित्रों का अपकार करने वाला, पर-धन-का लोभी, अपने वित्त के अनुसार धन न देने वाले पर प्रसन्न न रहने वाला, सदा मित्रों को धैर्यच्युत करने वाला, अकारण क्रोधी, अकारण द्रोही, चञ्चलमना, स्वार्थी, स्वार्थ के लिये मैत्री करनेवाला, दिखावटी मित्र और भीतरी शत्रु, अच्छों में भी छिद्र देखने वाला, विपरीत दृष्टि वाला, दूसरों की भलाई देख कुढ़ने वाला, मनुष्य सर्वथा त्याज्य है।

जो मनुष्य मद्यप है, द्वेषी है, क्रोधी है, निर्दयी है, निष्ठुर व्यवहार

करने वाला है, दूसरों को सताने वाला है, हिंसापरायण है, कृतघ्नी है और अधम सिद्ध हो चुका है उसके साथ कभी मैत्री न करे। जो मनुष्य छिद्रान्वेषी है, उसके साथ भी मैत्री न करे।

ये तो हुए वे लोग जिनके साथ मैत्री या सन्धि न करनी चाहिये; किन्तु अब मैं तुम्हें उन लोगों के लक्षण सुनाता हूँ, जिनके साथ मैत्री करनी चाहिये। जो पुरुष कुलीन, बात का धनी, ज्ञान-विज्ञान-प्रवीण, रूपवान्, गुणवान्, निर्लोभ, कार्य करते करते कभी श्रान्त न होने वाला, उत्तम मित्रों वाला, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, लोभविवर्जित, सरस, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, नित्य व्यायाम करने वाला, सत्कुलोद्भव, स्त्रीपुत्रादि परिवार का पालन करने वाला और जो निर्दोष होने के लिये प्रसिद्ध हैं, उसके साथ राजा को मैत्री करनी चाहिये।

हे राजन् ! जो अपनी शक्ति के अनुसार काम करते हैं, जो सन्तोषी हैं, जो अनुचित बात पर क्रुद्ध नहीं होते, सहसा उदासीन नहीं होते, मन में अप्रसन्न होने पर किसी का जो अनिष्ट नहीं करते और अपने मित्रों का काम किया करते, जिनका मन मित्रों से कभी नहीं ऊबता, जो बड़े रंगीन ऊनी वस्त्र की तरह अपने रंग को कभी नहीं बदलते। जो क्रुद्ध हो निर्धनियों के साथ रुखाई से पेश नहीं आते, जो लोभ और मोह में धस, स्त्रियों पर विरति नहीं दिखलाते, जो स्नेहपूर्ण हैं, जो विश्वस्त और धर्म प्रेमी हैं; जो सोने और मट्टी को समान समझते हैं, जो अपने स्नेहियों का साथ दृढ़ता पूर्वक देते हैं, जो अभिमान रहित होते हैं और शास्त्रोक्त कर्म करते हुए भी प्रारब्ध पर निर्भर रहते है और जो अपने कुटुम्ब में मेल जोल बनाये रखते हैं, उन महापुरुषों के साथ जो राजा मैत्री करता है, उसका राज्य चन्द्र की चाँदनी की तरह छिटकता है। जो लोग निरन्तर शास्त्राभ्यास किया करते हैं, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है, जो सदा युद्ध में बलवान सिद्ध हो चुके हैं, जो कुलीन हैं, शीलवान् हैं और गुणवान् हैं, उन महापुरुषों के साथ राजा को मैत्री

करनी चाहिये। हे अनघ! दोष युक्त मनुष्यों में भी कृतघ्न और मित्र-घाती पुरुष सब से अधम होते हैं। ऐसे दुराचारियों से राजा सदा बचा रहे—इसमें सब लोग एक मत हैं।

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! अब आप मुझे विस्तारपूर्वक यह बतलावें कि किसका सङ्ग करना चाहिये और किसका नहीं। मित्र-द्रोही और कृतघ्न पुरुषों की पहिचान भी आप मुझे बतलावें।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! मैं तुम्हें तुम्हारे प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाला एक इतिहास सुनाता हूँ। सुनो! उत्तर देश की यह घटना है और म्लेच्छ जाति से सम्बन्ध रखती है।

एक ब्राह्मण था जो मध्य प्रान्त में रहता था। वह वेदपाठी न था। वह पेट भरने को भीख माँगने के लिये किसी एक समृद्धशाली ग्राम में गया। उस ग्राम में एक भील (दस्यु) भी रहता था। वह केवल धनी ही न था, किन्तु वर्णाश्रम धर्म का जानने वाला और ब्राह्मणों का रक्षक, सत्यवादी और दान देने में प्रीति भी रखता था। उस ब्राह्मण ने उसी दस्यु के द्वार पर जा याचना की। दस्यु ने उसे अपने यहाँ टिकाया और वर्ष भर के निर्वाह योग्य अनाज, एक कोरा वस्त्र और एक पति-हीना युवती दासी दी। इन सब वस्तुओं को पा कर वह ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ। उसका नाम गौतम था। वह उस दस्यु के घर में रह कर उस दासी के साथ विलास करता था। वह दासी के कुटुम्ब वालों को भी सहायता देता था। इस प्रकार गौतम ब्राह्मण बहुत वर्षों तक उस सम्पत्ति-शाली शिकारी दस्यु के घर में रहा किया। इस बीच में गौतम भी बहेलिये का काम करने लगा और वन में जा बहेलिये की तरह हंस आदि पक्षियों को फँसाने लगा। धीरे धीरे वह हिंसाप्रिय एवं निष्ठुर हो गया और प्राणिपीड़न में तत्पर रहने लगा। दस्युओं की संगत में रहते रहते वह भी दस्युओं ही के समान हो गया। गौतम को वहाँ रहते रहते और पक्षियों की हिंसा करते करते बहुत दिन बीत गये। तदनन्तर उसी

ग्राम में एक और ब्राह्मण जा पहुँचा। उसके सिर पर जटाजूट था और वह फटे वस्त्र पहने हुए तथा मृगचर्म ओढ़े हुए था। वह स्वाध्याय परायण ब्राह्मण बड़ी पवित्रता से रहता था। वह बड़ा विनयी, नियमानुसार भोजन करने वाला, ब्राह्मणोचित-कर्म करने वाला तथा वेदविद्या में पारदर्शी था। वह ब्रह्मचर्यव्रतधारी ब्राह्मण केवल उसी देश का वासी न था, जिस देश का रहने वाला गौतम था। बल्कि वह गौतम का प्रगाढ़ मित्र भी था। घूमता फिरता वह उसी गाँव में जा निकला था, जिसमें गौतम रहता था। वह ब्राह्मण शूद्रान्न नहीं खाता था। अतः वह उन दस्युओं के ग्राम में ब्राह्मण का घर ढूँढ़ता हुआ घूम रहा था। अन्त में वह गौतम के घर पर पहुँचा। इतने में गौतम भी अपने घर पर आ गया। दोनों में परस्पर देखादेखी हुई। उस समय गौतम के कन्धे पर मरे हुए हंस लदे हुए थे तथा हाथ में धनुष और अन्य हथियार थे। उसकी देह मारे हुए हंसों के रुधिर से सनी हुई थी। अतः वह राक्षस जैसा दिखलायी पड़ता था। वह अपने वर्णोचित कर्मों से सर्वथा भ्रष्ट हो गया था। वह ज्योंही लौट कर घर पर आया त्योंही उस समागत ब्राह्मण ने लज्जित हो उससे कहा।

हे ब्राह्मण! क्या तू अपने वेद-वेदाङ्ग पारदर्शी पूर्वपुरुषों को सर्वथा भूल गया? हा! उनके वंश में तुझ जैसा कुलाङ्गार कैसे पैदा हुआ! अरे! तू अपने स्वरूप को तो पहचान, तू अपने मानसिक बल, शील, दम, शास्त्रज्ञान तथा दयाभाव को तो स्मरण कर।

जब इस प्रकार गौतम के हितैषी मित्र उस ब्राह्मण ने गौतम से कहा तब हे राजन्! गौतम ने सोच विचार और दुःखी हो उत्तर दिया।

गौतम बोला—हे विप्रवर! मैं निर्धन हूँ। मैं वेद भी नहीं जानता। तुम्हें याद होगा कि, मैं धन के लिये यहाँ आया था। तुम्हारा दर्शन कर के आज मैं कृतकृत्य हो गया। तुम आज की रात यहीं ठहरो। कल सवेरा होते ही मैं भी तुम्हारे ही साथ चलूँगा।

यह सुन वह दयालु ब्राह्मण उसके घर पर ठहर गया। किन्तु उसने

गौतम की कोई वस्तु स्पर्श तक न की। यद्यपि वह अत्यन्त क्षुधातुर होने से भोजन करना चाहता था, तथापि उसने गौतम के घर भोजन करना उचित न समझा।

एकसौ उनहत्तर का अध्याय

गौतम और वकराज

भीष्म ने कहा—हे भरतवंशी युधिष्ठिर! जब रात बीती और सवेरा हुआ; तब वह विप्रवर वहाँ से चल दिया और गौतम भी वह ग्राम छोड़ समुद्र की ओर चला गया। समुद्र तट की ओर जाने वाले रास्ते पर पहुँच, उसने बहुत से व्यापारी देखे जो समुद्र पर आवागमन कर व्यापार किया करते थे और जो समुद्र तट की ओर जा रहे थे। उनके साथ गौतम भी हो लिया। इन व्यापारियों के दल में बहुत से व्यापारी थे। वे चलते चलते एक पर्वत की कन्दरा में हो कर जा रहे थे कि इतने में एक जंगली हाथी ने आ उनमें से कई एक व्यापारियों को मार डाला; किन्तु किसी तरह गौतम ने उस हाथी के आक्रमण से अपने को बचा लिया; किन्तु वह भयभीत बहुत हो गया। मारे भय के उसे दिशाओं का ज्ञान तक न रह गया था। अतः वह प्राणरक्षार्थ उत्तर दिशा की ओर भागा। इस प्रकार वह उन व्यापारियों के दल से अलग हो अपने देश से बहुत दूर निकल गया। वह वन ही वन किम्पुरुष की तरह घूमता फिरता था। अन्त में पुनः वह उस मार्ग पर जा निकला जो समुद्र की ओर गया था। उस पर चलते चलते वह एक ऐसे वन में जा निकला, जिसमें जिधर देखो उधर पुष्पित वृक्ष ही वृक्ष देख पड़ते थे। उस वन में सर्व ऋतुओं में फलने वाले आम्र फलों के वृक्षों के कितने ही बगीचे थे। वह इन्द्र के नन्दन कानन की तरह शोभायमान जान पड़ता था। उस वन में यक्षों

और किन्नरों का वास था। साल, नाल, तमाल, कृष्ण अगर और उत्तम चन्दन के वृक्षों से वह वन सुशोभित था। मनुष्यों की मुखाकृति वाले भारण्ड पक्षी उस वन में चारों ओर बोल रहे थे। भूलिङ्ग नामक पक्षी तथा जल-थल-चारी पक्षी अत्यन्त मीठी बोलियाँ बोल रहे थे। गौतम उन पक्षियों की मधुर बोलियाँ सुनता सुनता आगे बढ़ा चला जाता था। आगे जा कर सुनहली रेती का एक बड़ा लंबा चौड़ा मैदान मिला। वह मैदान स्वर्ग की तरह सुखदायी और सुन्दर था। वहाँ एक बड़ा सुन्दर बरगद का पेड़ था जो गोलाकार था। उसमें बड़ी सुन्दर सुन्दर डालियाँ थीं। अतः वह बरगद छत्र जैसा जान पड़ता था। उसकी जड़ उत्तम चन्दन के जल से सींची जाती थी। उसमें दिव्य पुष्प लगे हुए थे। उस बरगद की शोभा ब्रह्मा जी की सभा जैसी हो रही थी। वह वृक्ष बड़ा ही मनोहर था। वह एक पवित्र देवालय जैसा जान पड़ता था और उसके चारों ओर कितने ही पुष्पित वृक्ष लगे हुए थे। उस वट वृक्ष को देख गौतम बहुत प्रसन्न हुआ।

हे कुन्तीनन्दन! उस समय वहाँ शीतल, मन्द, सुगन्धित बयार बह रही थी। उसके शरीर में लगने से गौतम हर्ष से प्रफुल्लित हो गया। उस पवित्र एवं शीतल पवनस्पर्श से गौतम की सारी थकावट दूर हो गयी और वह सो गया। इतने में सूर्य भी अस्त हो गये। सन्ध्या काल उपस्थित होते ही ब्रह्मा की सभा से लौट कर बकराज वहाँ आया। उस बकराज का नाम नाड़ीजङ्घ था और ब्रह्मा का वह एक प्रिय मित्र था। कश्यपनन्दन बकराज बड़ा बुद्धिमान् था। पृथिवी पर वह राजधर्मा नाम से विख्यात था। उसका जन्म एक देवकन्या के गर्भ से हुआ था। अतः वह बड़ा विद्वान् और देवोपम कान्ति-सम्पन्न था। उसके शरीर पर सूर्य की तरह चमचमाते आभूषण थे। अतः वह देवकुमार की तरह आभा सम्पन्न जान पड़ता था। उस पक्षी को देख गौतम बड़ा विस्मित

हुआ। वह भूखा प्यासा और थका हुआ तो था ही; अतः वह उसे मार कर खा जाने का विचार करने लगा। राजधर्मा, गौतम को देख उससे कहने लगा।

हे ब्राह्मण! आप मेरे घर पर पधारे यह आपने बहुत अच्छा किया। इस समय सन्ध्या काल उपस्थित है। क्योंकि सूर्यास्त हो रहा है। आज आप मेरे घर पर अतिथि के रूप में आये हैं। अतः मेरी ओर से आज आप आतिथ्य ग्रहण कर, कल यहाँ से चले जाइयेगा।

एकसौ सत्तर का अध्याय

आतिथ्य

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज! बकराज के मधुर बचनों को सुन गौतम बड़ा विस्मित हुआ और आश्चर्य चकित हो बकराज की ओर देखने लगा। तब राजधर्मा ने कहा—हे विप्र! मैं कश्यप ऋषि का पुत्र हूँ। मैं दाक्षायणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ। आप एक गुणवान् अतिथि मेरे घर पर पधारे हैं—अतः आपका मैं स्वागत करता हूँ।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! तदनन्तर राजधर्मा ने शास्त्रोक्त विधि से गौतम का सत्कार किया। साल के पुष्पों से पूर्ण एक उत्तम आसन पर उसे बैठाया। फिर खाने के लिये उसने एक बड़ा मत्स्य उसके आगे रखा। यह मत्स्य भगीरथ के रथ से चिन्हित गङ्गा की पवित्र धारा में घूमने फिरने वाला था। राजधर्मा ने धधकती हुई आग भी गौतम के आगे रखी। जब गौतम हर्षित हो भोजन करने को बैठा, तब बकराज उसकी थकावट मिटाने को अपने दोनों पङ्ख फड़फड़ा उस पर हवा करने लगा। जब भोजनादि से निवृत्त हो गौतम

सुख से बैठा, तब बकराज ने उससे उसका गोत्रादि पूछा। उत्तर में गौतम ने कहा—मैं ब्राह्मण हूँ और मेरा नाम गौतम है। यह कह वह चुप हो गया।

तदनन्तर शयन करने के लिये बकराज ने गौतम को कोमल पत्तों से बनायी गयी और दिव्य पुष्पों की सुगन्धि से सुवासित शय्या सोने को दी। जब गौतम उस पर जा बैठा, तब मधुरभाषी एवं धर्मराज के समान कश्यपनन्दन राजधर्मा ने उससे पूछा—आपका यहाँ आगमन किस लिये हुआ है? उत्तर में गौतम ने कहा—हे महामते! मैं एक दरिद्र ब्राह्मण हूँ और धनोपार्जन के लिये समुद्र की ओर जाना चाहता हूँ।

कश्यपनन्दन बकराज ने प्रसन्न हो गौतम से कहा—आप समुद्र की ओर जाने का कष्ट न उठावें। आपका मनोरथ पूर्ण हुआ। अब आप धन लेकर अपने घर को लौट जाइये। बृहस्पति मुनि का कथन है कि, धन की प्राप्ति चार प्रकार से होती है। या तो पैतृक सम्पति प्राप्त होने से या दैवयोग से, सहसा धन मिल जाने से या परिश्रम करने से या मित्र की सहायता से। मैं अब आपका मित्र हो गया हूँ और आप पर मेरा सुहृद्भाव है। अतः मैं अब ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे आप धनी हो जाँय।

जब रात बीती, सबेरा हुआ, तब शुभ मुहूर्त्त देख, बकराज राजधर्मा ने कहा—हे विप्र! आप इस मार्ग से जाइये। आपका मनोरथ सफल होगा। जब आप यहाँ से तीन योजन के अन्तर पर पहुँच जाँयगे तब वहाँ आपकी भेंट मेरे मित्र राक्षसराज विरूपाक्ष से होगी। मेरा नाम ले आप उससे मिलना, वह निश्चय ही आपकी मनोभिलाष पूर्ण करेगा।

हे राजन्! यह सुन विगतश्रम गौतम वहाँ से चल दिया और रास्ते में मनमाने अमृतोपम मधुर फल खाता हुआ चलने लगा। चन्दन, अगर और तज के वनों को पार करता गौतम तेज़ी के साथ आगे बढ़ता चला गया। आगे जा उसे उस राक्षस का मेरुवज्र नामक

नगर मिला। वह नगर चारों ओर से गिरिदुर्ग से सुरक्षित था। उसके नगर-द्वार भी पत्थर के सुदृढ़ बने हुए थे और चारों ओर परिखा से घिरा हुआ था। पर कोठे की दीवालों पर बड़े पत्थर और यंत्र जमा किये गये थे। वहाँ का राजा राक्षसराज बड़ा बुद्धिमान् था। उसने जान लिया कि, उसके मित्र का भेजा हुआ उसका प्यारा अतिथि आ रहा है। अतः उसने अपने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि, जा कर नगर-द्वार से गौतम को शीघ्र यहाँ ले आओ। आज्ञा पाते ही उसके अनुचर श्येन पक्षी की तरह झपट कर गये और हो गौतम! हो गौतम! कह कर नगर-द्वार पर चिल्लाने लगे। गौतम ने जब सामने जा अपना नाम बतलाया, तब वे उससे बोले कि, आप शीघ्र चलिये। हमारे राजाधिराज आपको देखना चाहते हैं। हमारे महाराज विरूपाक्ष आपसे मिलने को उतावले हो रहे हैं। गौतम इनकी बातें सुन विस्मित हुआ और उसकी सारी थकावट दूर हो गयी। वह जल्दी जल्दी उन नौकरों के साथ चलने लगा। राक्षसराज की समृद्धि देख गौतम आश्चर्य-चकित हो गया। वह राक्षसराज से मिलने के लिये उसके नौकरों के साथ राज-भवन में जा पहुँचा।

एकसौ इकहत्तर का अध्याय

गौतम का दुष्ट विचार

भीष्म जी कहने लगे—जब गौतम राक्षसराज के आगे गया, तब राक्षसराज ने उसे पहचान उसको सन्मान के साथ एक उत्तम आसन पर बिठाया। फिर राक्षसराज ने गौतम से उसकी शाखा, उसका गोत्र और ब्रह्मचर्य-व्रत-धारण पूर्वक वेदाध्ययन करने के सम्बन्ध में प्रश्न

किये। किन्तु गौतम ने, सिवाय अपना गोत्र बतलाने के राक्षसराज के अन्य प्रश्नों का कुछ भी उत्तर न दिया। वेद के स्वाध्याय से विमुख तेज-हीन एवं एकमात्र गोत्र जानने वाले गौतम से राक्षसराज ने उसका निवास-स्थान पूछा।

राक्षसराज ने कहा—हे विप्र! आप कहाँ रहते हैं? आपकी स्त्री किस गोत्र की है? आप डरे नहीं। आप सङ्कोच न कर, सत्य सत्य बोलें। आप हमारे ऊपर विश्वास करें।

गौतम बोला—मैं मध्य प्रान्त में जन्मा हूँ। मैं दस्युओं के ग्राम में रहता हूँ। मेरी स्त्री शूद्रा और पुनर्भू है। ये मैंने आपको यथार्थ बतलाया है।

भीष्म बोले—हे धर्मराज! इस उत्तर को सुन राक्षसराज मन ही मन कहने लगा—अब क्या करना उचित है? मुझे पुण्य किस प्रकार प्राप्त हो। यह जन्म से तो ब्राह्मण अवश्य है ही। साथ ही मेरे मित्र बकराज का यह मित्र है। क्योंकि कश्यपनन्दन बकराज ने इसे मेरे निकट भेजा है। मुझे तो अपने मित्र की बात रखनी ही चाहिये। क्योंकि वह मेरा बन्धु है और मेरा आश्रित है। इतना ही नहीं वह मेरा भाई है और मेरे मन में बसने वाला मेरा मित्र है। आज कार्तिकी पूर्णिमा है। अतः मुझे आज एक सहस्र ब्राह्मणों को भोजन कराने हैं। उन्हींमें इस गौतम को भोजन करा इसे धन दे दूँगा। आज पुण्यतिथि है और मेरे घर पर यह आज अतिथि रूप में आया है। मैं ब्राह्मणों को धन देने का अपने मन में सङ्कल्प कर ही चुका हूँ। अतः अब सोच विचार की कौन बात है।

इतने में यथा समय, एक सहस्र विद्वान् ब्राह्मण स्नान कर रेशमी वस्त्र पहिने, चन्दन लगाये और पुष्प मालाएं पहिने हुए वहाँ आ पहुँचे। तब राक्षसराज ने शास्त्रोक्त विधि से उन सब का यथोचित सत्कार किया। राजाज्ञा से सेवकों ने ला कर सुन्दर कुशासन बिछा दिये। उन पर वे सब

ब्राह्मण बैठ गये। तब राक्षसराज ने तिल, कुश और जल से विधिपूर्वक उन ब्राह्मणों का पूजन किया। फिर उनमें से कितने ही ब्राह्मणों को विश्वेदेवा, पितर और अग्नि का प्रतिनिधि बनाया। फिर उनको चन्दन चर्चित कर; उन्हें पुष्पमालाएं पहिनायीं। उस समय वे समस्त ब्राह्मण चन्द्रमा की तरह तेजसम्पन्न जान पड़ते थे। तदनन्तर राक्षसराज ने बढ़िया बढ़िया घृतपक्व मधुर पकवान, हीरा आदि रत्नों से जड़े सुवर्ण थालों में रख, भेंट किये। राक्षसराज का यह नियम था कि वह प्रति वर्ष आषाढ़ी और माघी पूर्णिमा के दिन, बहुत से ब्राह्मणों को इच्छाभोजन करवाता था। शरद ऋतु व्यतीत होने पर शरद् पूर्णिमा के दिन ब्राह्मणों को रत्नों का दान दिया करता था। रत्नों में बहुमूल्य हीरे, पन्ने, नीलम के सिवाय मृगचर्म एवं रङ्कु के चर्म भी वह दान दिया करता था।

जब ब्राह्मण भोजन कर चुके, तब दक्षिणा देते समय महाबली विरूपाक्ष ने ब्राह्मणों से कहा—इन रत्नों की ढेरियों में से आप अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार रत्न ले लें। साथ ही जिन थालों में आपने भोजन किये हैं, वे थाल भी आप अपने साथ लेते जावें। राक्षसराज के ये वचन सुन सुपात्र ब्राह्मणों ने अपनी अपनी पसंद के रत्न ले लिये। जब राक्षसराज ने इस प्रकार रत्नों और वस्त्रों से ब्राह्मणों का सत्कार किया, तब वे सब बहुत प्रसन्न हुए। तदनन्तर भिन्न भिन्न देशों से आये हुए ब्राह्मणों से राक्षसराज ने कहा—हे ब्राह्मणों! आज के दिन तुम्हें राक्षसों का भय नहीं है। आप लोग जहाँ चाहे वहाँ रहें और जब चाहे तब झटपट यहाँ से चल देना। ब्राह्मणों से यह कह राक्षसराज ने अपने अधीनस्थ राक्षसों से कहा—खबरदार! किसी भी ब्राह्मण को मत सताना।

जब सब ब्राह्मण सुवर्ण रत्नादि ले अपने अपने घरों को जाने लगे; तब गौतम भी सोना और रत्न का बोझ लादे हुए उस वट वृक्ष के निकट पहुँचा। उस समय वह भूखा था और बहुत थका हुआ था। अतः वह वट

वृक्ष के नीचे पहुँच बैठ गया। यह देख पक्षिश्रेष्ठ राजधर्मा, गौतम के निकट गया और उसका आगत स्वागत कर अपने पंखों से उस पर पवन करने लगा। तदनन्तर उसका पूजन कर उसे भोजन कराये। गौतम जब खा पी कर भलीभाँति विश्राम कर चुका; तब वह मन ही मन कहने लगा—मैंने लोभ एवं मोह में फस सोना बहुतसा ले लिया है। किन्तु जाना मुझे यहाँ से बहुत दूर है। रास्ते में खाने के लिये मेरे पास कुछ है नहीं। अतः मैं जीता जागता घर कैसे पहुँच पाऊँगा। यह सोच उसने इधर उधर अपनी दृष्टि डाली। किन्तु खाने के योग्य कोई वस्तु उसे न देख पड़ी।

हे राजेन्द्र! गौतम बड़ा कृतघ्नी था। अतः उसने बकराज की ओर देख, मन में सोचा कि, बकराज तो मेरे निकट है ही। इसके शरीर में माँस भी खूब है। अतः इसका वध कर, रास्ते में खाने के लिये इसे ही क्यों न ले लूँ और फिर झटपट घर पहुँच जाऊँ।

एक सौ बहत्तर का अध्याय

कृतघ्नी का माँस राक्षस भी नहीं खाते

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! अतिथियों का शीत मिटाने के लिये बकराज ने उस वृक्ष के नीचे आग का एक बड़ा अलाव सुलगा रखा था। बकराज उसी अलाव के पास पड़ा सो रहा था। दुष्ट एवं कृतघ्नी गौतम अपने मेज़मान बकराज को मार कर खा जाने को तैयार हो गया। वह उठ बैठा और निर्भय सोते हुए बकराज को आग में पटक मार डाला और बड़ा प्रसन्न हुआ। उसे अपने प्रदर्शित बकराज के स्नेह और उपकार का कुछ भी ख्याल न हुआ। उसने उसके पर नोंच और बाल उखाड़, उसे आग में भून

डाला। तदनन्तर सुवर्ण की गठरी सिर पर रख वह बड़ी फुर्ती के साथ वहाँ से चल दिया।

अगले दिन विरूपाक्ष ने अपने पुत्र से पूछा कि, वत्स! बड़े दुःख की बात है कि, आज राजधर्मा मुझे नहीं देख पड़ा। वह नित्य सवेरे ही ब्रह्मा जी को प्रणाम करने जाया करता है और वहाँ से लौटते समय मुझसे भेंट किये बिना अपने घर कभी नहीं जाता है। आज दो दिन और दो रातें बीत गयीं, राजधर्मा नहीं देख पड़ा। अतः मेरे मन में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो गयी है। न जाने उसे क्या हो गया! अतः हे वत्स! तू जा और मेरे मित्र का कुशल समाचार ले आ। स्वाध्याय विहीन और ब्रह्मवर्चस-रहित उस ब्राह्मण के ऊपर मुझे सन्देह हो रहा है। कदाचित् उस नीच ने कहीं राजधर्मा को मार न डाला हो। मैं उसकी चेष्टा से उसके आन्तरिक भावों को ताड़ गया था। वह बड़ा दुराचारी और दुष्टात्मा है। उसके मन में तिल भर भी दया नहीं है। वह बड़ा निठुर है। वह दस्यु की तरह महाअधम और भयङ्कर आकृति का है। जान पड़ता है, यहाँ से लौट कर गौतम उसीके पास गया। अतः मेरे मन में बड़ी घबड़ाहट हो रही है। अतः तू झटपट राजधर्मा के घर पर जा और शीघ्र लौट कर आ जा। मैं यह जानना चाहता हूँ कि, वह शुद्धान्तःकरण बकराज जीवित है या मारा गया।

यह सुन विरूपाक्ष का पुत्र अपने साथ साथ राक्षसों को ले बकराज के घर की ओर रवाना हो गया। बकराज के वटवृक्ष के निकट जा, उसने देखा कि, वहाँ बकराज की हड्डियाँ पड़ी हैं। यह देख उस बुद्धिमान् राक्षसकुमार ने बड़ी तेज़ी से गौतम का पीछा किया। थोड़ी ही दूर जा कर उसने गौतम को पकड़ लिया। तदनन्तर अस्थि-पङ्ख-विहीन राजधर्मा का माँसपिण्ड उसने गौतम से छीन लिया और गौतम को पकड़ कर वे सब लोग मेरुव्रज में आये। उस दुष्ट, पापी एवं कृतघ्न गौतम को बकराज

के माँसपिण्ड सहित राक्षसराज विरूपाक्ष के आगे उपस्थित किया। राक्षसराज विरूपाक्ष उसके पुरोहित और मन्त्री बकराज के माँसपिण्ड को देख रोने लगे। राजभवन में कुहराम मच गया। राजकुमारों सहित समस्त नगरनिवासी बहुत दुःखी हुए। तदनन्तर राक्षसराज ने अपने पुत्र को आज्ञा दी कि—बेटा! इस पापी गौतम को मार डाल; जिससे इसका माँस खाकर राक्षस हर्षित हों। गौतम महापातकी है। इसके मन में पाप भरा है। यह बड़ा पापकर्मा है। इसके सभी काम पापपूरित होते हैं। अतः तुम इसे मार डालो।

जब राक्षसराज विरूपाक्ष ने इस प्रकार कहा, तब राक्षसों ने उस पापी गौतम का माँस खाना अस्वीकृत किया और राक्षसराज से कहा—इस अधमाधम को दस्युओं को आप देदें। हम तो इसे नहीं खा सकते। राक्षसों ने सिर झुका राक्षसराज को प्रणाम कर पुनः यह कहा—हे राजन्! आपको यह उचित नहीं, कि आप हमें इस कृतघ्नी को खाने की आज्ञा दें। इस पर विरूपाक्ष ने उन राक्षसों की प्रार्थना स्वीकृत की और कहा—हे राक्षसो! तुम आज ही इस कृतघ्नी को दस्युओं के हवाले कर दो। आज्ञा पाते ही राक्षसों ने त्रिशूल और पट्टिशों के प्रहार से गौतम के शरीर की बोटी बोटी उड़ा दी और उसका माँस दस्युओं के हवाले कर दिया। किन्तु उस कृतघ्नी का माँस दस्युओं ने भी खाना पसंद नहीं किया। हे राजन्! कृतघ्नी का माँस, माँस-भक्षी राक्षस और दस्यु भी नहीं खाते। ब्रह्म-हत्यारे का, सुरापायी का, चोर का और व्रत-भङ्ग करने वाले का तो प्रायश्चित्त धर्मशास्त्रों में है; किन्तु कृतघ्नी का प्राय-श्चित्त नहीं है। मित्र-द्रोही, कृतघ्नी और नराधम क्रूर मनुष्य का माँस, माँस-भक्षी प्राणधारी और कीड़े मकोड़े भी नहीं खाते।

———

एक सौ तिहत्तर का अध्याय

गौतम और राजधर्मा का पुनःजीवित होना।

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! तदनन्तर राक्षसराज विरूपाक्ष ने बकराज के अन्त्येष्टि कर्म के लिये एक चिता तैयार करवायी। फिर उसे चन्दन काष्ठ, रत्नों और बढ़िया वस्त्रों से अलंकृत किया। फिर बकराज का शरीर उस पर रखा। फिर प्रतापी विरूपाक्ष ने बकराज के शव को जलाया और शास्त्रोक्त विधि से उसका प्रेतकर्म किया। उस समय दाक्षायणी पयस्विनी सुरभि देवी चिता के ठीक ऊपर अन्तरिक्ष में आ खड़ी हुई और चिता पर दूध की वृष्टि की। उसके मुख से दूध मिश्रित फेन निकले और वे झाग उस चिता पर पड़े। उनके गिरते ही बकराज जी गया और चिता से उठ कर राक्षसराज विरूपाक्ष के निकट गया। उसी समय देवराज इन्द्र विरूपाक्ष के नगर में गये और बोले—यह बड़े सौभाग्य की बात है कि बकराज जी उठे। तदनन्तर इन्द्र ने विरूपाक्ष से कहा यह सब ब्रह्मा जी के उस शाप का फल है जो उन्होंने बकराज को दिया था। शाप देने का कारण यह था कि, यह बकराज नित्य लोक-पितामह के निकट जाया करता था। किन्तु एक दिन जब इसकी वहाँ आवश्यकता पड़ी; तब वहाँ यह न देख पड़ा। अतः ब्रह्मा जी ने क्रुद्ध हो बकराज से कहा—हे अधम बक! रे दुष्टात्मा! तू आवश्यकता के समय मेरी सभा में नहीं आया। अतः थोड़े ही दिनों में तेरा नाश होगा। इस शाप के कारण ही गौतम के हाथ से यह मारा गया और ब्रह्मा ने ही इस पर अमृत छिड़कवा इसे फिर जिलाया है।

यह सुन राजधर्मा ने इन्द्र को प्रणाम कर, उनसे कहा—हे सुरराज! यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है, तो आप मेरे प्रिय मित्र गौतम को भी पुनः जिला दें।

हे राजन् ! बकराज के उन वचनों को सुन कर, इन्द्र ने उसकी बात मान ली और अमृत छिड़क उसी समय गौतम को जीवित कर दिया। साथ ही उसकी सोना भरी गठरी और अन्य सामान भी उसके निकट पहुँचा दिया। गौतम के जीवित होते ही बकराज ने बड़े प्रेम के साथ, गौतम को छाती से लगाया। फिर उसे उसके सामान के सहित उसके घर भेज, बकराज स्वयं भी अपने घर चला गया। अगले दिन बकराज यथासमय ब्रह्मा की सभा में गया। ब्रह्मा ने उसका आतिथ्य कर उसका सत्कार किया। गौतम पुनः उसी भीलों के गाँव वाले अपने घर पर गया और उस शूद्रा स्त्री के गर्भ से पापकर्मा पुत्रों को उत्पन्न किया। तब देवताओं ने गौतम को बड़ा शाप दे कर कहा—यह पापी और कृतघ्नी पुनर्भू की स्त्री में दीर्घ काल तक पुत्रों को उत्पन्न कर, घोर नरक में पड़ेगा।

हे राजन् यह कथा मुझे नारद जी ने सुनायी थी। उसीको मैंने तुम्हें सुनाया है। कृतघ्नी को यश नहीं मिलता। उसे न तो स्थान मिलता है और न सुख। कृतघ्नी का कभी विश्वास न करना चाहिये। कृतघ्नी का कभी विश्वास नहीं होता। जो मित्र से द्रोह करता है वह अपार नरक में पड़ता है। जिस पुरुष को मित्र की चाहना हो, उसको सदा कृतज्ञ बना रहना चाहिये। क्योंकि मित्र से समस्त वस्तुओं का लाभ होता है। साथ ही मित्र से मान भी मिलता है। मित्र द्वारा भोगों की प्राप्ति होती है और आपत्ति काल में मित्र ही सङ्कट से छुड़ाता है। अतः जो चतुर जन होते हैं, वे मित्र का सत्कार कर, उसका सम्मान करते हैं। कृतघ्न, पापी, निर्लज्ज मित्रद्रोही, कुलाङ्गार, पापी मनुष्य से पण्डितों को सदा दूर रहना चाहिये। हे राजन् ! मैंने यह तुम्हें मित्रद्रोही, कृतघ्न एवं पापी मनुष्य का वृत्तान्त सुनाया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय ! जब महात्मा भीष्म ने यह कहा; तब धर्मराज युधिष्ठिर मन ही मन प्रसन्न हुए।

एकसौ चौहत्तर का अध्याय

[मोक्ष-धर्म पर्व]

ब्राह्मण और सेनजित्

युधिष्ठिर ने पूछा— हे पितामह ! आपने मुझे राजधर्म तथा उसके अङ्गभूत आपद्धर्म सुनाये, अब आप गृहस्थाश्रमादि आश्रमों में सर्वश्रेष्ठ मोक्षधर्म मुझे सुनावें।

भीष्म जी ने कहा— हे युधिष्ठिर ! समस्त आश्रमों के धर्मों का निरूपण वेद में पाया जाता है। इन धर्मों के अनुसार वर्तने का फल मरण के बाद मिलता है। अतः उसे अदृष्ट फल वाला धर्म कहते हैं। किन्तु भगवान् के श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूपी तपस्या से परमात्मा के स्वरूप का जो साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है, वह धर्म दृष्टफल कहलाता है। जो पुरुष जिस विषय में जो कुछ निश्चय कर लेता है, वह उसीमें अपनी भलाई मानता है। यदि इस मेरे कथन में तुम्हें सन्देह हो तो यह सिद्धान्त समझना कि केवल धर्म का फल दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु ज्ञान युक्त धर्म का फल प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। मनुष्य इस जगत के विस्तार की ज्यों ज्यों वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करता है, त्यों त्यों निश्चय ही उसके मन में जगत् से वैराग्य उत्पन्न होता है। वृक्षादि स्थावर जगत से ले कर सत्यलोक पर्यन्त में ह्रास, वृद्धि, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, नाश, दुःख आदि दोष भरे पड़े हैं। यह समझ कर मनुष्य को जीवात्मा के मोक्ष के लिये प्रयत्नवान् होना चाहिये।

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! पिता, पुत्र, स्त्री अथवा धन का नाश होने पर जो शोक उत्पन्न होता है, उसको दूर करने का उपाय आप मुझे बतलावें।

भीष्म जी ने कहा—जब धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र अथवा पिता मर जाय तो यह विचार कर कि यह जगत् तो दुःख रूप तो है ही, शोक को दूर कर और शम, दम आदि का साधन करे। इस प्रसङ्ग में एक प्राचीन इतिहास है।

सेनजित नामक राजा था। उसका पुत्र मर गया था। अतः वह बड़ा दुःखी था। ऐसे समय में उसके एक ब्राह्मण मित्र ने उसके निकट जा यह कहा—राजन्! तुम इस संसार की मोह माया में क्यों फसे हो? तुम तो मुझे मूढ़ जान पड़ते हो। अतः तुम तो अपने लिये स्वयं शोक करने योग्य हो, फिर दूसरे के लिये शोकान्वित क्यों होते हो। तुम, मैं, तथा अन्य जो तुम्हारी सेवा करते हैं, सब को वहीं जाना है, जहाँ से हम सब लोग आये हैं।

सेनजित ने कहा—हे तपोधन! वह कौन सी बुद्धि है; वह कौन सी तपस्या है, वह कौन सी समाधि है, वह कौन सा ज्ञान है और वह कौन सा शास्त्र है, जिससे तुम्हें खेद नहीं होता?

ब्राह्मण ने कहा—इस संसार में उत्तम मध्यम और निकृष्ट श्रेणी के समस्त प्राणी दुःख-प्रद विविध कर्मों में संलग्न है। न तो मैं स्वयं अपने को अपना समझता हूँ और न इस समूची पृथिवी को अपना समझता हूँ। इतना ही नहीं मैं यह भी नहीं मानता कि, यह समस्त वसुन्धरा किसी दूसरे की है। मैं ऐसा विचार रखता हूँ। इसीसे मुझे व्यथा नहीं होती। प्रत्युत मैंने चार के कारण अहन्ता, ममता को त्यागने वाला ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अतः मुझे सुख होने पर हर्ष तथा दुःख होने पर खेद नहीं होता। जैसे समुद्र में भिन्न भिन्न दिशाओं से बहते हुए दो काष्ठ एकत्र हो जाते हैं और पुनः लहरों में पड़ विलग हो जाते हैं; वैसे ही कर्मवश पुत्र, पौत्र, जाति और बन्धु-बान्धव इधर उधर से आ एकत्र हो जाते हैं। उनके साथ स्नेह कभी न करे। क्योंकि इनका विछोह तो एक न एक दिन अवश्यम्भावी है।

हे राजन् ! तुम यह नहीं समझ सकते कि, तुम्हारा वह पुत्र अकस्मात् कहाँ से आ गया था और फिर न जाने अकस्मात् कहाँ अदृश्य हो गया। जन्म होने के पूर्व न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे ही जानते थे। अतः तुम उसके कौन लगते हो और उसके लिये शोक क्यों करते हो? शोक अथवा सन्ताप की उत्पत्ति का कारण तृष्णा की पीड़ा है। जब मनोरथ पूर्ण हो जाता है, तब मनोरथ पूर्ण होने के पूर्व जो दुःख था उसका नाश हो जाता है और फिर सुख प्राप्त होता है, फिर उस सुख से पुनः दुःख प्राप्त होता है। इस प्रकार वारंवार सुख दुःख आया जाया करते हैं।

सुख और दुःख का चक्र सदा घूमा ही करता है। तुम्हें भी सुख से दुःख प्राप्त हुआ है। अब आगे तुम्हें इस दुःख से पुनः सुख प्राप्त होगा। कोई भी प्राणी हो, वह न तो कभी सदा दुःखी ही रहता है और न कभी सुखी। सुख का स्थान भी यह शरीर है और दुःख का स्थान भी यह शरीर ही है। देहाभिमानी मनुष्य जिस शरीर से कर्म करता है, उस शरीर ही से सुख दुःख रूपी कर्म फल भोगता है। जीवन का कारण भूत लिङ्ग-शरीर स्थूल-शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और संसार में रहने के समय दोनों साथ ही साथ विविध रूपों में रह कर विविध प्रकार के कर्म करते हैं और अन्त में मोक्ष के समय दोनों साथ ही साथ नष्ट भी हो जाते हैं। मनुष्य प्रीति के विविध फंदों में फँस जाते हैं और आरम्भ किये कार्यों को पूर्ण करने के पूर्व, जैसे बालू के बनाये हुए बाँध जल से नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही वे नाश को भी प्राप्त हो जाते हैं। तिलों में ही तेल रहता है। इसीसे तेल निकालने के लिये तेली तिलों को कोल्हू में डाल उन्हें पेरता है। यह जगत् स्नेहाधीन है। अतः अज्ञान-जन्य-क्लेश इस सारे जगत को संसार रूपी कोल्हू में डाल कर पेरते हैं। लोग अपनी स्त्री पुत्र का पालन पोषण करने के लिये चोरी आदि अशुभ कर्मों को

किया करते हैं; किन्तु उन कर्मों के फल अकेले कर्त्ता ही को इस लोक और परलोक में भोगने पड़ते हैं।

जैसे बनैला बूढ़ा हाथी दलदल रूपी सागर में निमग्न हो जाता है, वैसे ही समस्त मनुष्य, स्त्री पुत्रादि परिवार रूपी सागर में निमग्न हो, शोकान्वित हुआ करते हैं।

हे राजन्! जब किसी का पुत्र मर जाता है या कोई जातिवाला या नातेदार मर जाता है, या धन नष्ट हो जाता है, तब वह दावानल के समान महा दुःख में फस जाता है। किन्तु वास्तव में सुख, दुःख, हानि लाभ—सब दैवाधीन है। समित्र अथवा अमित्र, सशत्रु अथवा अशत्रु, बुद्धिमान् या बुद्धिहीन, वृद्ध अथवा युवा—सब को सुख दुःख दैवयोग ही से प्राप्त होते हैं। न तो किसी को उसका कोई मित्र सुख दे सकता है और न किसी को उसका कोई शत्रु दुःख ही दे सकता है न बुद्धि धन दे सकती है और न धन सुख दे सकता है। न तो बुद्धि धन दिलाती और न मूर्खता धन का नाश ही करती है। सच बात तो यह है जिस सिद्धान्त पर इस जगत का कार्य चल रहा है, उसको केवल बुद्धिमान् जन ही जानते हैं, मूर्खजन नहीं। बुद्धिमान्, वीर, मूढ़, भीरु, जड़, दीर्घसूत्री, दुर्बल और बलवान्—इनमें जो कोई भाग्यवान् होता है वही सुखी होता है। जो गौ बछड़े की है, वही गौ अहीर की भी है, स्वामी की भी है और चोर की भी है। किन्तु वास्तव में गौ है उसीकी जो उसका दूध पीता है। इस संसार में जो मनुष्य महामूढ़ होते हैं, अथवा बड़े बुद्धिमान् होते हैं, वे ही सुख पाते हैं; किन्तु जो न तो मूर्ख हैं और न बुद्धिमान् ही हैं, वे ज्ञानलवदुर्विदग्ध जीव सदा क्लेश में रहा करते हैं; विवेकी जनों को अन्त की दो अवस्थाओं अर्थात् सुषुप्ति और तुरीयावस्था में सुख प्राप्त हुआ करता है, किन्तु मध्य की दो अवस्थाओं में अर्थात् जागृत और स्वप्नावस्था में सुख नहीं मिलता। इसीसे अन्त

की दोनों अवस्थाओं को ऋषियों ने सुख रूप माना और है मध्य की दोनों अवस्थाओं को दुःख रूप कहा है। जिन लोगों ने बुद्धि का सुख (अर्थात् समाधि लगाने की शक्ति) प्राप्त कर ली है, जो सांसारिक-दुःख के भावों से शून्य हैं और जो मत्सरताहीन हैं, उन्हें न तो अर्थ की प्राप्ति से सुख होता है और न अर्थ की हानि होने पर उन्हें दुःख ही होता है। जिन लोगों ने बुद्धि-सुख (समाधि) प्राप्त नहीं किया और शास्त्र-ज्ञान से शून्य होने के कारण, मूढ़ता का उल्लङ्घन नहीं किया है, वही क्षण भर में अत्यन्त आनन्दित और दूसरे ही क्षण में परम सन्तापित हो जाया करते हैं। जिनका मन कामादि में फँसा हुआ है, जो शत्रु को पराजित कर के, मारे गर्व के महा मूढ़ बन गये हैं, वे सदा वैसे ही प्रसन्न रहते हैं जैसे स्वर्गवासी देवता। किन्तु उनका वह सुख अन्त में दुःख के रूप में परिणत हो जाता है। क्योंकि प्रमाद ही तो दुःख-रूप है और कार्यकौशल ही सुख का हेतु है। विभूति और लक्ष्मी विचारवान् पुरुष की सहवर्तिनी है; आलसी जन की नहीं। सुख हो, चाहे दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, मनुष्य को उचित है कि सब दशाओं में कभी हिम्मत न हारे। मूढ़ जनों के लिये दुःखी और भयभीत होने के सैकड़ों सहस्रों कारण नित्य ही उठ खड़े हुआ करते हैं। किन्तु विवेकी जन उनसे प्रभावान्वित नहीं होते। बुद्धिमान्, परिणाम-दर्शी, शास्त्रज्ञ, ईर्ष्या-रहित, संयमी और जितेन्द्रिय पुरुष के पास शोक फटकता तक नहीं। बुद्धिमान् जन ऐसी बुद्धि का आश्रय ले चित्त की रक्षा करता हुआ संसार का व्यवहार चलावे। जो मनुष्य जगत की उत्पत्ति और लय के स्थान रूप पर-ब्रह्म को चीन्हता है, उसके पास भी शोक की पहुँच नहीं होती। भले ही अपने शरीर का अङ्ग ही क्यों न हो, यदि उसके कारण शोक, सन्ताप, दुःख अथवा आयास हो, तो उसे भी परित्याग कर दे। जब वनता आदि किसी भी पदार्थ के ऊपर ममता होती है, तब वे ही सब पदार्थ शोक और सन्तापकारी हो

जाया करते हैं। मनुष्य जिन जिन विषयों का त्याग करता है, उसे उतना ही सुख प्राप्त होता है। किन्तु जो मनुष्य विषयों का ही दास बन जाता है, वह उन विषयों के नाश के साथ ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इस संसार में कामजन्य जो सुख है, वह बड़ा दिव्य सुख है। अन्य सब सुख तृष्णाक्षय के सुख की सोलहवीं कला के समान भी नहीं हो सकते। पूर्व-जन्म-कृत शुभाशुभ कर्मानुसार ही अगले जन्म में फल मिलता है। चाहे वह विद्वान् हो, चाहे शूद्र हो और चाहे मूर्ख हो। प्रिय सुख और अप्रिय दुःख जीवों में सदा उलट फेर किया करते हैं। ज्ञान द्वारा तृष्णारहित हुआ जन, सुखी रहा करता है, अतः समस्त कामनाओं को गर्हित समझ उनको त्याग दे। काम का उत्पत्ति-स्थान हृदय है। वह काम विकट मृत्यु-रूप माना गया है। वह काम यदि किसी कारणवश चरितार्थ न हो पाया, तो वह क्रोध रूप बन जाता है और वह देह-धारियों की देहों में रहता है। यह विद्वानों का कथन है। जब मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं को वैसे ही सङ्कुचित कर उन्हें मन में रहने देता है, जैसे कछुआ अपने समस्त अङ्गों को समेट शरीर के भीतर कर लेता है, तब उसे अपने अन्तःकरण में आत्म-स्वरूप के दर्शन होते हैं। जो मनुष्य न तो स्वयं किसी से डरता है और न दूसरा कोई उससे डरता है, जो किसी वस्तु की चाहना नहीं करता और जो किसी से द्वेष नहीं रखता, वह ब्रह्म को पाता है।

जब तुम सत्य और असत्य, शोक और हर्ष, भय और अभय तथा प्रिय और अप्रिय को त्याग दोगे; तब तुम्हें परम शान्ति प्राप्त होगी। मनुष्य जब मनसा, वाचा कर्मणा किसी प्राणी का बुरा नहीं करता, तब उसे ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान होता है। दुष्टबुद्धि वाले जिसे नहीं त्यागते, मनुष्य के वृद्ध होने पर भी जो नहीं बुढ़ाती, और जो आजन्म का रोग है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, वही सुख पाता है!

हे राजन्! इस सम्बन्ध में पिङ्गला नाम्नी वेश्या की कही हुई बातें

इस प्रकार सुनी गयी हैं। उसे वेश्या ने विपत्ति में फस कर भी, तृष्णा का परित्याग कर, महान् पुण्य फल प्राप्त किया था। उस वेश्या की सङ्केतानुसार जब प्रियतम से भेंट नहीं हुई; तब वह दुखी हुई, किन्तु अपने मन को समझाती हुई वह कहने लगी, पहिले मैं पागलनी बन, पागलपने से रहित अपने प्यारे के निकट, बहुत दिनों तक रही थी। उस समय वह मेरा प्यारा मेरे ही पास था। किन्तु उस समय मैं उसे पहचान ही न सकी। अब मै अविद्या रूपी एक आधार पर अवलम्बित और नव छिद्रों से युक्त इस शरीर रूपी घर को ब्रह्मविद्या के बल से आच्छादित कर दूँगी। मैं कामना को त्याग चुकी हूँ। नारकीय धूर्त्त पुरुष मुझे अब धोखा नहीं दे सकेंगे। क्योंकि मैं आत्मतत्व को भली-भाँति जान चुकी हूँ और मेरी अविद्या रूपी निद्रा भङ्ग हो चुकी है। मैं अब जाग गयी हूँ। दैवयोग से कहिये अथवा पूर्व-जन्म-कृत कर्मों के बल से कहिये—अनर्थ भी अर्थ हो हो जाता है। प्यारे का न मिलना अनर्थ था; किन्तु इससे मुझे आत्मा द्वारा ज्ञान की सिद्धि रूप अर्थ का लाभ हो गया। अतः अब मेरी विषय-चिन्तन-प्रवृत्ति दूर हो गयी। अब तो मैं जितेन्द्रिया हो गयी हूँ। आशाओं से रहित मनुष्य सुख की नींद सोता है। अतः आशा का त्याग बड़े सुख का है। पिङ्गला वेश्या आशा को निराशा के रूप में परिणत कर, सुख से सोती है।

भीष्म ने कहा—ब्राह्मण के ऐसे बहुत से युक्तियुक्त वचनों को सुन कर, राजा सेनजित् को आत्मज्ञान प्राप्त हुआ और वह सुख से जीवन व्यतीत करने लगा।

एकसौ पचहत्तर का अध्याय

पिता-पुत्र-संवाद

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! समस्त प्राणियों का संहार करने वाला काल व्यतीत होता चला जाता है। अतः आप मुझे यह बतलावें कि, वह कौन सा कर्म हैं जिसके करने से कल्याण हो।

भीष्म ने कहा—हे युधिष्ठिर इस विषय में भी पिता-पुत्र-संवादात्मक एक इतिहास उदाहरण स्वरूप उपस्थित किया जाता है। उसे तुम सुनो। हे कुन्तीनन्दन ! वेदाध्यायनशील एक ब्राह्मण था। उसका मेधावी नामक एक पुत्र था। एक दिन मोक्ष-धर्म-पारङ्गत और व्यवहार-कुशल उस मेधावी पुत्र ने स्वाध्याय-निरत अपने पिता से कहा—हे पिता जी ! मनुष्यों की आयु बड़ी जल्दी पूरी हो जाती है—यह जान कर धीर मनुष्य क्या करे ? मैं यह इस लिये जानना चाहता हूँ कि, जिससे मैं भी वैसा ही करूँ !

पिता ने कहा—हे वत्स ! प्रथम ब्रह्मचर्य-व्रत-धारण-पूर्वक वेदाध्ययन करे। फिर पितरों के उद्धारार्थ सन्तानोत्पत्ति करे। तदनन्तर यथाविधि यज्ञ कर, अग्नि को धारण कर वनप्रस्थ हो। तदनन्तर संन्यासी हो जावे और ईश्वराराधन करे।

पुत्र ने कहा—इन समस्त लोकों को चारों ओर से घेर रखा है और प्राणधारियों का संहार हो रहा है। हमारी आयु को हरता हुआ आगे बढ़ा चला आ रहा है—तब भी आप धैर्यधारी पुरुष की तरह क्योंकर बोल रहे हैं ?

पिता ने उत्तर देते हुए कहा—लोकों को घेर किसने रखा है ? इनका संहार क्योंकर हो रहा है ? सफलता पूर्वक आगे बढ़ता कौन चला आता है ? तू ऐसी बातें कह कर मुझे क्यों डराता है ?

पुत्र ने कहा, काल लोगों का संहार कर रहा है। बुढ़ापे ने लोगों को घेर रखा है। रात दिन मनुष्यों की आयु को कम करता हुआ वह आगे बढ़ता चला आता है। इनको क्या आप नहीं जानते? जब मुझे मालूम है कि, काल किसी के लिये नहीं ठहरता और आयुहारिणी रजनी आया करती है और चली जाया करती है, तब ज्ञान रूप सुवर्ण से रहित मैं काल की प्रतीक्षा कैसे करूँ? ज्योंही एक एक रात बीतती त्योंही मनुष्य की आयु कम होती जाती है। बीता हुआ दिन निरर्थक गया हुआ माना जाता है। जो चतुरजन हो उसे यह बात समझ रखनी चाहिये। स्वल्प जल में रहने वली मछली जैसे कामना पूर्ण होने के पूर्व ही काल के शरण में पहुँच जाती है; वैसे ही मनुष्य भी कामनाएं पूर्ण हुए बिना काल के निकट पहुँच जाता है। ऐसी दशा में कौन सुखी हो सकता है? मनोरथों को पूर्ण करने के लिये जिसका मन इधर उधर भटका करता है, उसे काल वैसे ही पकड़ कर ले जाता है, जैसे ऋतुमती भेड़ी को खोजने वाले भेड़ को भेड़िया। शुभ काम आज ही कर डालो। हाथ आये अवसर पर कभी मत चूको। क्योंकि मनोरथ पूर्ण होने की प्रतीक्षा न कर काल पकड़ लेता है। जो काम कल करना है, उसे आज ही कर डालो। मध्यान्होन्तर करने वाला काम मध्यान्ह होने के पूर्व ही कर डालो। क्यों कि काल यह विचार नहीं करता कि, अमुक ने अमुक कार्य किया है या नहीं। कौन कह सकता है कि, आज ही अमुक पुरुष नहीं मर जायगा? यह जीवन नश्वर है। अतः तरुणावस्था ही में धर्माचरण करे। धर्माचरण करने से इस लोक में कीर्ति और परलोक में सुख मिलता है। जिस मनुष्य का पुत्रादि पर मोह होता है, वह मनुष्य पुत्र पुत्री आदि के लिये उद्योग किया करता है और करने अनकरने—सभी प्रकार के काम कर उनका भरण पोषण करता है। जिसके बहुत से पुत्र, और पशु हुआ करते हैं तथा जो उन्हीमें अनुरक्त रहता है; उसे सोते ही सोते काल वैसे ही उठा कर ले जाता है, जैसे सोते हुए मृग को बहेलिया। दुष्कर्मों द्वारा

अपनी कामनाओं को पूर्ण करने वाले जनों को काल मनोरथ सिद्धि होने के पूर्व ही वैसे ही उठा कर ले जाता है जैसे व्याघ्र पशु को। काल उस मनुष्य को भी अपने वश में कर लेता है जो सदा यही सोचा करता है कि अमुक काम मैंने कर लिया। अमुक काम करना अभी बाकी है। अमुक काम अभी अधूरा है। जो मनुष्य खेती वारी घर दूकान आदि के चक्कर में सदा पड़ा रहता है, वह उनके चक्कर से निकलने नहीं पाता कि, काल पकड़ कर उसे ले जाता है। कर्मफल प्राप्त होने के पूर्व ही काल, दुर्बल, सबल, बीर, भीरु, मूर्ख विद्वान् कोई भी क्यों न हो—पकड़ कर ले जाता है। भले ही इन लोगों को इनके आरम्भ किये कर्मों के फल न मिले हों। मृत्यु, जरा, रोग तथा अन्य अनेक कारण-जन्य दुःख आपके पीछे लगे हैं; तब भी आप सुखी जन की तरह क्यों बैठे हैं? जन के साथ ही साथ प्रत्येक शरीर धारी को जरा और मृत्यु उसका नाश करने को, उसके पीछे लग लेते हैं! क्या स्थावर और क्या जङ्गम सब के पीछे जरा मरण लगे हुए हैं। स्त्री पुत्र के साथ ग्रामवास या नगरवास में आनन्द मानना काल के मुख में रहने के समान है। वन में रहना इन्द्रियों को वैसे ही रखना है जैसे एक बाड़े में गौओं को बाँध कर रखना। ग्राम और नगर में रह कर स्त्री पुत्र आदि की प्रीति में बँधना मानों फाँसी में अपनी गरदन फँसाना है। पुण्यवान् जन इस फाँसी को काट कर, मोक्ष प्राप्त करते हैं! किन्तु पापी जन इस फाँसी को नहीं काट सकते। जो मनुष्य मन, वच, कर्म से प्राणिहिंसा नहीं करता, उसका नाश अन्य प्राणी भी नहीं करते। सत्य के बिना कोई भी मनुष्य काल की सेना के आक्रमण को नहीं रोक सकता। अतः असत्य को त्याग सत्य ग्रहण करे। क्योंकि सत्य ही अमरत्व है। मनुष्य को सत्य बोलना चाहिये और परमात्मा में अपना मन लगाना चाहिये। गुरु के उपदेशों और वेद के वाक्यों को प्रमाण मानना चाहिये। इन्द्रियों को दमन करना चाहिये। इस प्रकार सत्य योग ही से काल को जीते। अमृत, मोक्ष, और मृत्यु दोनों ही इस शरीर में हैं। मोह से मृत्यु और ब्रह्मज्ञान से

अमृत अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः मैं अब हिंसा नहीं करूँगा, सत्य को खोजूँगा, काम और क्रोध को शरीर से निकाल कर, बाहर करूँगा सुख और दुःख को एक सा समझूँगा। मैं वे ही काम करूँगा जिनसे अन्य सुखी हों। मैं हिरण्यगर्भ की तरह मृत्यु के पाश से मुक्त हो जाऊँगा। वेदाध्ययन योग्य उत्तरायण काल उपस्थित होने पर, जितेन्द्रिय हो, मैं निवृत्ति मार्ग के अभ्यास रूपी शान्तयज्ञ का अनुष्ठान करूँगा। उपनिषध का अनुशीलन रूपी ब्रह्मयज्ञ करूँगा। मननशील हो प्रणव का जपरूपी वाणीयज्ञ करूँगा। प्रणव की मात्राओं को अगली अगली मात्राओं में लय कर, मनोयज्ञ करूँगा। स्नान, शौच, गुरुसेवा, आदि आवश्यक धर्माचरण कर के कर्मयज्ञ करूँगा। हिंसा वाले पशुयज्ञ पिशाचों के क्षेत्रयज्ञों की तरह नश्वर फलप्रद हैं। उन्हें मुझ जैसा धीमान जन क्यों करने लगा? जो वाणी, मन, तप, दान और सत्य को परब्रह्म स्वरूप बना लेता है अर्थात् पवित्र कर ब्रह्म के अर्पण कर देता है उसे समस्त पदार्थ मिल जाते हैं। ज्ञान के समान नेत्र नहीं। सत्य के बराबर तप नहीं, अनुराग के समान दुःख नहीं और त्याग के समान सुख नहीं है। मैं ब्रह्म में ब्रह्म से जन्मा हूँ। मुझे अब सन्तानोत्पत्ति नहीं करनी है। मैं असन्तान हो कर भी ब्रह्म ही से उत्पन्न होऊँगा। मैं माता के गर्भ से और पिता के औरस से उत्पन्न होऊँगा। किन्तु ब्रह्म ही में उत्पन्न होऊँगा। मेरे सन्तान मेरा उद्धार नहीं करेंगे। किन्तु मैं स्वयं अपना उद्धार कर लूँगा। एकान्तवास, सब में समान बुद्धि, सत्यभाषण, अच्छा आचरण, चित्त की स्थिरता, मनसा, वाचा, कर्मणा, अहिंसालु बने रहना, सरलता और समस्त कर्मों से उपरति के समान, ब्राह्मण के लिये अन्य कोई धन नहीं है।

हे ब्राह्मण! जब तुझे मर ही जाना है, तब तुझे धन की या बान्धवों की आवश्यकता ही क्या है? स्त्री से भी क्या काम है? तू तो बुद्धि रूपी गुफा में छिपे हुए आत्मा की खोज कर। तेरे पिता, पितामह कहाँ गये? इस पर भी तो विचार कर।

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज ! पुत्र के इन वचनों को सुन कर, पिता ने तदनुसार ही कार्य किया। वैसे ही तुम भी सत्यधर्म के आचरण में संलग्न हो वर्त्तो।

एकसौ छिहत्तर का अध्याय

त्याग का माहात्म्य

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! जो कभी मनुष्य होते हैं और जो निर्धन होते हैं, वे भी यदि शास्त्रानुसार बर्त्ताव करें, तो भी उन्हें सुख और दुःख क्यों प्राप्त होते हैं ?

भीष्म जी ने कहा—इस विषय में शान्तमना एवं मुक्त शम्पाक नामक ब्राह्मण की एक पुरातन कथा विख्यात है। यह कथा मुझसे उन त्यागी सम्पाक ही ने कही थी जो स्त्री के सताये, चिथड़े लपेटे और भूख से पीड़ित थे। उन्होंने मुझसे कहा था कि, संसार में जन्म लेते ही मनुष्य के पीछे सुख दुःख लग जाते हैं। जब दैव सुख-दुःख-मय मार्ग में किसी प्राणधारी को ले जाय, तब उसे सुख पा कर सुख में या दुःखी होने पर दुःख में लिप्त न होना चाहिये। तुम यद्यपि कामना रहित हो, तो भी तुम साँसारिक भार को ढोया करते हो और जो कल्याण-प्रद कार्य है उसे करते ही नहीं। यह इसलिये कि तुम्हारा मन तुम्हारे वश ही में नहीं है। तुम यदि अकिञ्चन बन, इस संसार में घूमो तो हाँ तुम सुख का सुख अनुभव कर सकोगे। क्योंकि अकिञ्चन जन ही सुखसे सोता और सुख से उठता है।। अकिञ्चन होना ही सुखदायक है, हितकर है, कल्याण-रूप है, निर्विघ्न है और शत्रुता-रहित श्रेष्ठ मार्ग है। यह मार्ग स्वतन्त्र-जनों के लिये सुलभ है और कामना वाले के लिये दुर्लभ। मैं जब तीनों लोकों पर निगाह डालता हूँ, तब वैराग्य-सम्पन्न अकिञ्चन जन के समान

शुद्ध मैं और किसी को नहीं पाता । मैंने जब अकिञ्चनत्व को और राज्य वैभव को तुला पर रख तौला, तब अकिञ्चनत्व का पलड़ा ही भारी रहा । अतः इन दोनों में बड़ा अन्तर है । राज्य भोगी धनी पुरुष मानों सदा काल के गाल में पड़ा हुआ है । वह सदा घबड़ाया सा बना रहता है । किन्तु जो धन और तृष्णा को त्याग चुका है, उस मुक्त जन का अग्नि, अपशकुन सूचक चिन्ह मृत्यु या चोर कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते । सदा इच्छानुसार विचरणशील, भूशायी, बाँह का तकिया लगाने वाले और शान्तमना पुरुष की देवता भी प्रशंसा करते हैं । धनी हो कर भी जिसे क्रोध और लोभ घेरे रहते हैं, जो आत्मविस्मृत हो सब को टेढ़ी निगाह से देखा करता है, जो रुखाई के साथ क्रोधयुक्त कठोर वचन कहता हुआ भ्रुकुटी चढ़ाये रहता है, जो मन में सदा पापी विचारों की ऊहापोह किया करता है, वह यदि समूची पृथिवी देने को तैयार भी हो जांय तो भी कोई पुरुष उसकी ओर देखना न चाहेगा, सदा धन का साथ रहने से धन उस मूर्ख को मोहित कर देता है । धन उसके मन को जिधर चाहता है उधर ही वैसे ही उड़ा कर ले जाता है, जैसे पवन बादलों को । धन पास होते ही लोगों को धन और रूप का गर्व हो जाता है । फिर वह समझने लगता है कि, मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ । केवल मनुष्य ही नहीं; किन्तु मैं सिद्ध पुरुष हूँ । इन तीन कारणों से उनके मन में उन्माद उत्पन्न हो जाता है । तब वह भोग में आसक्त हो, पैतृक सञ्चित द्रव्य को फूँक तापता है । जब उसके पास धन नहीं रह जाता, तब वह दूसरों का धन छीन लेने का विचार करने लगता है । क्योंकि वह उस कार्य को अपना समझ बैठता है । फिर वह मर्यादा को भङ्ग कर के चोरी करने लगता है । तब पुलिस उसे वैसे ही रोकती है, जैसे शिकारी बाण-प्रहार से अपने शिकार को रोकता है । तब उसे नाना प्रकार के मानसिक और शारीरिक क्लेश भोगने पड़ते हैं । अवश्यम्भावी इन बड़े बड़े दुःखों का ख़ूब सोच विचार कर, चिकित्सा करे और नश्वर

शरीरों के साथ पुत्रेषणा, लोकेषणा आदि का तिरस्कार करे। धनादि का त्याग किये विना न तो सुख मिलता है और न पर-ब्रह्म ही प्राप्त होता है। ऐसा मनुष्य न तो निर्भय हो सकता है और न उसे सुख ही मिलता है। अतः तुम सब का त्याग कर; सुखी हो।

हे धर्मराज! ये बातें मुझसे शम्पाक ने हस्तिनापुर में एक दिन कही थीं। तभी से मैं त्याग को सर्वोत्कृष्ट मानने लगा हूँ।

एकसौ सतत्तर का अध्याय

मङ्की-गीता

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! आजीविका के लिये खेती बारी बनिज व्यापार करने पर भी यदि धन न मिले और धन की आवश्यकताएँ उसे दबा रही हों, तो उसे क्या करने से सुख मिल सकता है?

भीष्म जी ने कहा—हे युधिष्ठिर! तुम्हें सर्वत्र समभाव रखना चाहिये। धनादि कामनाओं की तृप्ति के अर्थ परिश्रम न करना, सत्य बोलना, सब प्रकार की आसक्तियों से दूर रहना, किसी कार्य की सिद्धि के लिये चिन्तित न रहना—जिसमें ये सब बातें हैं, वही मनुष्य सुखी होता है। वृद्धों ने मोक्ष के लिये इन बातों को उपयोगी बतलाया है। यही धर्म है। यही स्वर्ग है और इसीको सुख माना है। हे युधिष्ठिर! विरक्त मङ्की नामक मनुष्य ने जो कहा है वह तुझे उदाहरण स्वरूप समझाता हूँ। उसे तू सुन। मङ्की ने कई बार धनेच्छा से बारंबार उद्योग किया, किन्तु उसको बारंबार उद्योग करने पर भी जब सफलता नहीं हुई; तब उसने अपने पास के धन के दो भाग कर, एक से दो बछड़े और दूसरे से उन्हें काम में लगाने के लिये एक जुआ खरीदा।

एक दिन उन दोनों बछड़ों के कंधों पर जुआ रख मङ्की ने उन्हें बाहर

घुमाने को छोड़ा। एक ऊँट सामने बैठा था। सो वे दोनों उसे बीच में कर दौड़ पड़े। ज्यों ही वे ऊँट को बीच में कर दौड़े, त्योंही ऊँट को बड़ा क्रोध चढ़ आया और जुए को गरदन पर रख वह उठ खड़ा हुआ। उस समय उस कष्टदायी ऊँट की गरदन की दोनों ओर दोनों बछड़े तराजू के पलड़ों की तरह लटकने लगे और जान पड़ा बछड़े गला घुटने से मर ही जायँगे। यह कारड देख मङ्की कहने लगे—मनुष्य चाहे जितना चातुर्य प्रदर्शित करे, किन्तु यदि भाग्य में धन नहीं है; तो उसे धन नहीं मिल सकता। उद्योगी पुरुष यह समझ कर कि, उद्योग करने से फल मिलता है, भले ही उद्योग करे; किन्तु उद्योग दैवा-धीन है। मैंने धनप्राप्ति के लियें बड़ा उद्योग किया और इसीलिये दो बछड़े मोल लिये, किन्तु बछड़ों के समागम से दैव ने मेरा उद्योग नष्ट कर डाला। देखो न, वह ऊँट दोनों बछड़ों को गरदन में लटकाये चारों ओर कैसा दौड़ रहा है। यह घटना भी काकतालीय न्याय की तरह अकस्मात् हुई है। मेरे प्रिय दोनों बछड़े ऊँट की गरदन में दो मणियों की तरह लटक रहे हैं, अतः यह निश्चय ही दैव का काम है। यदि कोई बरजोरी पुरुषार्थ करना चाहे, तो नहीं हो सकता। यदि कदाचित् पुरुषार्थ से काम सिद्धि भी हो जाय, तो भी विचारने से पता चलता है कि, वह सिद्धि भी दैवाधीन ही है। अतः सुख चाहने वाले को वैराग्य धारण करना चाहिये। क्योंकि वैराग्यवान् और जिसने धन पाने की आशा छोड़ दी है, सुख से सोते हैं। ओ हो! पिता के घर से समस्त वस्तुओं को त्याग कर महावन में जाते समय शुक्राचार्य ने जो कहा था, वह ठीक ही है। उन्होंने कहा था—जिसकी समस्त कामनाएं पूरी हो जाती हैं और जो समस्त कामनाओं को त्याग देता है—इन दोनों में प्रथम की अपेक्षा द्वितीय श्रेष्ठ माना जाता है। धनादि को प्राप्त करने के लिये जो उद्योग आरम्भ किया जाता है, उनका पार पहले भी किसी ने नहीं पाया। मूर्ख मनुष्य की तृष्णा शरीर और जीवन पर प्रभाव डालती है। अतः हे कामी!

धनादि पाने के लिये उद्योग करना छोड़ दे और वैराग्य धारण कर शान्त हो जा। धनाशा तुझे वारंवार धोखा दे चुकी है। तिस पर तुझे उससे विरक्ति नहीं होती! हे धनेच्छुक! यदि तू मेरे साथ खिलवाड़ करता है तो तू मेरा नाश करना चाहता है? तू बरजोरी लोभ के साथ मेरा साथ व्यर्थ को मत कर। हे धनाभिलाषी आत्मा! तूने अनेक वार धन सञ्चय किया और अनेक वार वह नष्ट भी हो गया। अरे मूढ़! बतला तो तू धनेच्छा का त्याग अब कब करेगा? हा! मेरी बड़ी मूर्खता है कि, मैं तेरे हाथ का खिलौना बना हुआ हूँ। मनुष्य को कभी भी इस प्रकार दूसरों का सेवक न बनना चाहिये। जो प्रथम हो गये, जो आगे को होने वाले हैं, उनमें से किसी को भी तो कामनाओं का अन्त नहीं मिला। यह देख कर ही मुझे समस्त प्रवृत्तियाँ त्याग देनी पड़ी हैं। अब मैं जाग गया हूँ और मुझे ज्ञान हो गया है। हे काम! तेरा हृदय सचमुच वज्रसार का बना हुआ है और ऐसा दृढ़ है कि असंख्य अनर्थों से पूर्ण होने पर भी सैकड़ों खण्ड नहीं हो जाता। हे काम! तुझे जो रुचिकर है वह मुझे मालूम है और जब मैं तेरे रुचिकर कामों को करना चाहता हूँ, तब मेरा मन बड़ा दुःखी होता है। अतः मैं अब किसी प्रकार का भी सङ्कल्प अपने मन में नहीं करूँगा और तू अब समूल नष्ट हो जायगा। धनेच्छा करना, सुखदायक नहीं होता है और धनागम से बड़ी चिन्ता होती है। साथ ही जब धन नष्ट हो जाता है तब मृत्यु के समान क्लेश होता है। उद्योग करने पर कभी तो धन मिलता है और कभी नहीं भी मिलता। देह को पराधीन करने से भी धन की प्राप्ति नहीं होती। इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है? गङ्गाजल ज्यों ज्यों पिया जाता है, त्यों त्यों वह स्वादिष्ट जान पड़ता है। इसी प्रकार ज्यों ज्यों धन मिलता है, त्यों त्यों धन की तृष्णा बढ़ती जाती है। तृष्णा के बढ़ने से मेरा तो नाश हो जायगा। अतः मैं अब सतर्क हो गया हूँ। हे काम! अब तू मुझे छोड़ दे। पञ्चमहाभूतों से बना हुआ मेरा यह शरीर चाहे जहाँ

चला जाय और जहाँ चाहे वहाँ रहे। हे अहङ्कार! मुझे तेरे ऊपर अनुराग नहीं है! क्योंकि तू काम और क्रोध का अनुयायी है! अतएव मैं तुम सब लोगों को त्याग कर, सत्वगुण का आश्रय ग्रहण करता हूँ। मैं अपने मन एवं शरीर को सर्वभूतमय देख अपनी बुद्धि को योग में, चित्त को शास्त्र में और आत्मा को ब्रह्म में लगाऊँगा। इस प्रकार किसी भी वस्तु में आसक्ति न रख कर और सब प्रकार की तृष्णाओं को त्याग कर सुख से लोकों में विचरूँगा, जिससे तू पुनः मुझे इस तरह के दुःखों में न पटक सकेगा। हे काम! यदि तू मेरा सर्वनाश कर डालेगा, तो फिर तो मेरी कोई गति ही नहीं है। हे तृष्णे! तू तो शोक और परिश्रम की जननी है। धननाश के दुःख को मैं तो समस्त दुःखों से बढ़ कर मानता हूँ। क्योंकि निर्धनी पुरुष का अपमान उसके सगे सम्बन्धी भी कर बैठते हैं। निर्धनी मनुष्य को दुःख देने वाले असंख्य अपमान होते हैं। धन में जो सुख या यश है, वह भी दुःख रूप ही होता है। इस मनुष्य के पास धन है—ऐसा जान कर चोर उसे मार डालते हैं अथवा उसे अनेक प्रकार से सताते हैं। मैं चिरकाल से जानता हूँ कि, धन की लालसा महादुःखदायिनी होती है। हे काम! तू जिन जिन वस्तुओं का अवलंबन करता है, उन्हींके अनुकूल तुझे बनना पड़ता है। हे काम! तू तत्त्व को नहीं जानता। क्योंकि तू मूर्ख है। तू बड़ी कठिनाई से सन्तुष्ट होता है। कहें तो यह भी कह सकते है कि, तू कभी सन्तुष्ट होता ही नहीं। तू अग्नि की तरह जलाता है। तुझे यह भी ज्ञान नहीं कि, कौन सी वस्तु सुलभ और कौन सी दुर्लभ है। तुझे सन्तुष्ट करना वैसा ही असम्भव है जैसे पाताल को भरना असम्भव है। तू तो मुझे दुःखदायी कामों में जुटाना चाहता है। किन्तु हे काम! तू अब मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकेगा। दैवेच्छा से धन का नाश हो जाने के कारण मुझे वैराग्य हो गया है और अब मैं परम निवृत्ति पा कर कामनाओं का विचार ही न करूँगा।

मैंने तेरे पीछे बड़े बड़े दुःख सहे हैं। मैं अब जान गया हूँ कि, मैं मूर्ख नहीं हूँ। मेरा धन नष्ट हो चुका है। अतः मैं अब त्याग वृत्ति धारण कर शान्त हो, विश्राम करूँगा।

हे काम! मैं अपने मन की समस्त प्रवृत्तियों को त्याग दूँगा यह इस लिये कि जिससे तू भी साथ रह ही न पावे। मैं अपने तिरस्कार-कर्त्ता को क्षमा करूँगा, मुझे जो मारेगा उसे मैं न मारूँगा। यदि द्वेषवश कोई मुझे गालियाँ देगा, तो भी मैं उसकी गालियों पर ध्यान न दे, उसके साथ प्रिय सम्भाषण करूँगा। मैं सदा सन्तुष्ट रहूँगा और जो कुछ मिल जायगा उसीसे आजीविका चलाऊँगा। किन्तु मैं तुझ अपने शत्रु को कभी सफल मनोरथ न होने दूँगा। तुझे विदित हो कि, मैंने वैराग्य, निवृत्ति, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियों पर दया करने का अभ्यास कर लिया है। अतः काम, लोभ, कृपणता मुझ मोक्ष-कामी को त्याग दें। क्योंकि अब मैंने परब्रह्म में निवास किया है एवं काम और लोभ को त्याग कर, मैंने सब सुख पा लिये हैं। मैं अब काम और क्रोध को त्याग सुखी हो गया हूँ। अतः अब मैं अज्ञानी की तरह लोभ के वश में पड़, दुःख न झेलूँगा। ज्यों ज्यों कामनाओं का त्याग किया जाता है; त्यों त्यों सुख में वृद्धि होती है, किन्तु काम के वश में हुआ मनुष्य सदा दुःख पाया करता है;

अतः मनुष्य को कामना के सहचर रजोगुण को सर्वथा त्याग देना चाहिये। क्योंकि काम और क्रोध तो दुःख, निर्लज्जता और असन्तोष को उत्पन्न करने वाले हैं। अतः गर्मी के दिनों में जैसे शीतल तालाब में घुसते हैं, वैसे ही मैंने ब्रह्म में प्रवेश किया है। मैंने ब्रह्म में प्रवेश किया है, समस्त कर्मों को त्याग दिया है। मैं समस्त दुःखों से छूट गया हूँ और मुझे अब विशुद्ध सुख की प्राप्ति हो गयी है।

इस संसार में जो कुछ भी काम से सुख मिला करता है और जो कुछ बड़े से बड़ा स्वर्गसुख है, वह तृष्णा-क्षय-जन्य सुख के सोलहवें भाग

के बराबर भी नहीं है। मैं काम को अपना घोर शत्रु मानता हूँ। अतः उसका वध कर के, मैं अविनाशी ब्रह्मपुर को जाऊँगा और वहाँ राजसी सुख भोगूँगा।

मङ्की के मन में वैराग्य उत्पन्न होने से उसकी ऐसी बुद्धि हो गयी थी। उसने समस्त कामनाओं को त्याग कर, महा सुख रूप परब्रह्म की प्राप्ति की। मङ्की के दो बछड़ों का नाश होने के कारण वह अमरत्व को पा गया। उसने काम का समूल नाश कर डाला। अतः उसे परम सुख प्राप्त हुआ।

एकसौ अठहत्तर का अध्याय

शान्ति प्राप्ति ही सुख का परम साधन है

भीष्म ने कहा— हे युधिष्ठिर! अब मैं परम शान्ति को प्राप्त करने वाले मिथिलाधिपति राजा जनक का वृत्तान्त कहता हूँ। सुनो। जनक ने कहा था कि मेरे भाण्डार में असंख्य धन भरा हुआ है। अतः यह मिथिला पुरी भस्म भी हो जाय तो मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ सकता। हे युधिष्ठिर! इस प्रसङ्ग में वैराग्य को उत्तेजित करने वाले, बोध्य ऋषि के कहे हुए निम्न श्लोकार्थ बतलाता हूँ। तुम उसे सुनो।

नहुष के पुत्र राजा ययाति ने एक बार वैराग्य द्वारा शान्ति प्राप्त की थी और शास्त्रज्ञान से वे तृप्त हुए थे। उन्होंने शान्त स्वरूप बोध्य ऋषि से पूछा कि, हे महाज्ञानवान्! आप मुझे ऐसा उपदेश दें कि जिससे मुझे शान्ति प्राप्त हो। आपने यह शान्ति और विषय-निवृत्ति किस प्रकार प्राप्त की है?

बोध्य ने कहा— मैं स्वयं तो किसी को उपदेश नहीं दिया करता; किन्तु दूसरों के उपदेशानुसार स्वयं आचरण किया करता हूँ। सुनो

मैं तुम्हें उपदेश का नतीजा बतलाता हूँ। फिर तुम स्वयं विचार कर अपने मन में निश्चय कर लेना। पिङ्गला, टटीरी, सर्प, वन में अपने लिये भक्ष ढूँढने वाला, भौंरा, बाण बनाने वाला और कुमारी मेरे गुरु हैं।

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! आशा बड़ी बलवती है और नैराश्य में बड़ा सुख है। पिङ्गला आशा को त्याग और नैराश्य का आश्रय ग्रहण कर, सुख की नींद सोती थी। एक टटीरी माँस के लिये उड़ी जाती थी। उसे देख अन्य टटीरी जिनके पास माँस न था, उसे मारने लगीं। तब उस माँस खण्ड को त्याग देने से उसे बड़ा सुख मिला। घर बनाना महा दुःखदायी होता है। उससे कभी सुख नहीं मिलता। सर्प अन्य निर्मित बिल में रह कर सुख से रहता है। सारङ्ग पक्षी वन में वास कर और किसी से द्रोह न कर अपना पेट भरते हैं, वैसे ही मुनि भी भिक्षावृत्ति से सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं। बाण-निर्माता बाण निर्माण करते समय तद्गत चित्त हो जाता है। एक बार एक बाणनिर्माता के पास ही से राजा की सवारी का जलूस निकल गया। पर उसका ध्यान अपने काम की ओर से न बँटा। एक कुमारिका धान कूट रही थी—उस समय उसकी कलाइयों की चूड़ियाँ खन खनाने लगीं। इस पर उसने प्रत्येक कलाई से दो दो चूड़ियाँ उतार डालीं, तब चूड़ियों का खनखनाना बंद हो गया। तब ही से मैंने यह शिक्षा ली है कि एकान्त वास से सुख मिलता है और बहुत लोगों के साथ रहने से झगड़ा होता है। यदि दो आदमी एक साथ रहें तो बातचीत होती है। अतः मैं तो अब एकाकी ही विचरूँगा और ईश्वर का ध्यान करूँगा।

एकसौ उनासी का अध्याय

अजगर-प्रह्लाद-संवाद

युधिष्ठिर ने पूछा—हे सदाचारिन्! इस संसार में मनुष्य क्योंकर रहे, जिससे उसे शोक न हो और वह कौन सा काम है, जिसके करने से मरने के बाद उसकी उत्तम गति हो सकती है?

भीष्म जी ने कहा—इस प्रश्न के उत्तर में, मैं तुम्हें प्रह्लाद और अजगर का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ। वह इस प्रकार है।

एक दृढ़-चित्त, राग-द्वेष-विवर्जित, और बुद्धिमान ब्राह्मण पृथिवी पर भ्रमण करता फिरता था। उससे दैत्यराज प्रह्लाद ने पूछा—हे ब्रह्मन्! आप विषय-वासना-शून्य, दम्भ-रहित और दयालु हैं। आपने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर रखा है। आप किसी भी नये काम को आरम्भ नहीं करते। किसी की बढ़ती देख कुढ़ते नहीं हैं। आप सब के साथ मधुर वचन बोलते हैं। आप हरेक बात का तत्काल उत्तर देते हैं और पूर्वापर का विचार करने में आप प्रवीण हैं। तत्वज्ञानी हो कर भी आप बालकों की तरह डोला फिरा करते हैं। आप किसी प्रकार के लाभ की इच्छा नहीं रखते और हानि के लिये दुःखी भी नहीं होते। आप तो नित्य तृप्त से जान पड़ते हैं और किसी का अपमान भी नहीं करते। अन्य लोग तो काम, क्रोध, लोभादि के प्रबल प्रवाह में बहते हुए चले जा रहे हैं; किन्तु आप पर क्रोध, काम आदि का कुछ भी प्रभाव नहीं देख पड़ता। धर्म, अर्थ और काम के व्यापार में आप कूटस्थ (निश्चेष्ट से) जान पड़ते हैं। आप न तो धर्म और अर्थ के कोई अनुष्ठान करते हैं और न किसी प्रकार की आप अभिलाषा ही करते हैं। आप इन्द्रिय-जन्य विषयों का तिरस्कार कर और साक्षी बन कर, जीवन-मुक्त की तरह संसार में रहते हैं। हे मुने! आपकी बुद्धि किस प्रकार की है? आपका शास्त्र-ज्ञान कैसा है? आप अपना जीवन किस प्रकार बिताते हैं। हे ब्रह्मन्! मेरे इन

प्रश्नों का, यदि आप कल्याण-प्रद समझें, तो शीघ्र मुझे उत्तर दें।

भीष्म जी कहने लगे—हे युधिष्ठिर! प्रह्लाद के प्रश्नों को सुन, जरा-जन्म आदि सांसारिक जंजालों की कारण रूप अविद्या, काल और कर्म के ज्ञाता, उन बुद्धिमान् मुनि ने इस प्रकार युक्तियुक्त मधुर वचन कहे।

मुनि बोले—हे प्रह्लाद! इस जगत की उत्पत्ति, उसका ह्रास, वृद्धि और विनाश, कारणशून्य ब्रह्म से है। ऐसा जान लेने पर अब मुझे न तो किसी बात से हर्ष होता है और न दुःख। इसमें जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है और जो जो प्रवृत्तियाँ हैं वे सब सर्व-स्वरूप-सत्तात्मक ब्रह्म ही से निकली हैं और अन्त में उसीमें लय भी हो जायँगी। अतः ब्रह्मलोक का यदि ऐश्वर्य प्राप्त हो, तो हर्षित न होना चाहिये। हे प्रह्लाद! देख, संयोग और वियोग का जोड़ा है। धन का सञ्चय किया जाय तो अन्त में उसका भी नाश ही होता है। यह सोच कर ही मुझे किसी वस्तु पर अनुराग नहीं होता। जो मनुष्य समस्त प्राणियों को सत्व-रज आदि गुणों का विनाशशील पुतला समझता है और जगत् की उत्पत्ति और उसके नाश के तत्व को जानता है उसे फिर अन्य कोई काम करना शेष नहीं रह जाता। महासागर में उत्पन्न बड़ी बड़ी देहों वाले और छोटे शरीरों वाले जल-जन्तु भी नष्ट हो जाया करते हैं। दैत्यराज! स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त पदार्थ जो इस पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं, वे सब समय पा कर नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार आकाश-चारी पक्षियों का और बड़े बड़े बलवान् जन्तुओं का भी यथासमय विनाश हुआ करता है। आकाशचारी छोटे बड़े नक्षत्र भी समय आने पर नीचे गिरते देखे जाते हैं। इस प्रकार समस्त प्राणियों को मृत्यु के वश में होते देख, एक साधारण जन मैं, परब्रह्म का यथार्थ स्वरूप जान कर, कृतार्थ हो गया हूँ और सुख से सोता हूँ। दैवगति से यदि मुझे कभी बहुत सा भोजन मिल जाता, तो उसे खा लेता हूँ और यदि न मिले तो बहुत दिनों तक निराहार भी रह जाया करता हूँ।

कभी कभी लोग मुझे बड़े स्वादिष्ट भोजन करवा दिया करते हैं। कभी स्वल्पाहार ही मिलता है और कभी कुछ भी नहीं मिलता। कभी अनाज के एक कण ही से काम चला लेता हूँ। कभी फल से पेट भर लेता हूँ, कभी सेज पर सोता हूँ, कभी भूमि पर लेटा रहता हूँ। कभी मेरी सेज राजभवन में लगती है और कभी बियावान वन में मैं सोता हूँ। कभी पटसन के, कभी अलसी की छाल के और कभी मृगछाल के बने वस्त्र पहिन लिया करता हूँ। कभी मैं बढ़िया से बढ़िया पोशाक पहिनता हूँ। जब दैवसंयोग से धर्मानुकूल भोगसामग्री स्वतः ही मेरे पास आ जाती है तब मैं उसका अनादर भी नहीं करता। परम दृढ़, मृत्यु-नाश-कारी, कल्याणकर, शोकनाशक, पवित्र और अतुलित व्रत ब्रह्म से मिलाने वाले, मूर्खों द्वारा त्यक्त, अजगर व्रत का मैं पवित्र हो कर पालन करता हूँ। मेरी बुद्धि अटल है। अतः मैं कभी धर्मभ्रष्ट नहीं हुआ। मैं मर्यादा के भीतर रह आचरण करता हूँ। मैं अच्छा बुरा समझता हूँ। मैंने भय, राग, द्वेष, लोभ और मोह को त्याग दिया है। मैं पवित्र मन से अजगर व्रत को धारण किये हुए हूँ। मैं पवित्र भाव से उस अजगर व्रत का पालन करता हूँ, जिसमें नियम के बिना फलभक्षण और जलपान किया जाता है। दैव परिपाक के अनुसार जिसमें देश और काल की व्यवस्था है, जो सुखप्रद है और भीरु पुरुष जिसका सेवन कर ही नहीं सकते। तृष्णा से पीड़ित हो धनप्राप्ति के लिये उद्योग करने वाले लोगों को जब धन नहीं मिलता तब वे दुःखी होते हैं। ऐसे मनुष्यों को ज्ञानदृष्टि से देख, मैं पवित्र अन्तःकरण से अजगर व्रत का पालन करता हूँ। धन के लिये लोगों को नीच ऊँच का विचार त्याग सेवा करते देख, मैंने मन को जीत कर, शान्ति धारण कर ली है और पवित्र हो मैं अजगर व्रत धारण किये हुए हूँ। सुख, हानि, लाभ, प्रेम, वैर, मरण, जीवन—ये सब दैवाधीन हैं। यह ठीक समझ मैं पवित्र भाव से अजगर व्रत को धारण करता हूँ। मैंने भय, राग, मोह तथा घमंड को त्याग दिया है। धैर्य और बुद्धि को ग्रहण किया है।

मन को जीत लिया है। यह देख कर कि सञ्चित द्रव्य का सर्प उपभोग करते हैं, मैंने पवित्र भाव से अजगर व्रत धारण किया है। मैं जहाँ चाहता हूँ वहाँ सो रहता हूँ। जहाँ चाहता हूँ वहाँ बैठ जाता हूँ। इन्द्रियों को अपने वश में रखता हूँ। मैं यम नियम का पालन करता हूँ। व्रतोपवास करता हूँ। सदा सत्य भाषण करता हूँ। बाह्य और आभ्यन्तरिक शौच का पालन करता हूँ। मैं ज्ञानी हूँ। इच्छा के यथार्थ रूपादि को पहचान कर, आत्मविमुख, परिणाम में दुःखदायी विषयों के इच्छुक, विषयभोग से कभी सन्तुष्ट न होने वाले, वशीभूत न होने वाले और अन्त में आत्मा में लीन होने वाले मन को अपने अधीन करने के लिये मैं अजगर व्रत का पालन करता हूँ। मन, हृदय और वाणी मुझे खींच कर, अपने विषय भोगों की ओर ले जाना चाहते हैं, किन्तु मैं उनके चँगुल में नहीं फँसता। उनके सुखों को अनित्य और दुर्लभ समझ, उनकी मैं सदा उपेक्षा ही किया करता हूँ। इस प्रकार दोनों को नाशशील जान कर, मैं पवित्र भाव से अजगर व्रत का पालन करता हूँ। बुद्धिमान विद्वानों ने अपनी कीर्ति फैलाने के लिये आत्मतत्व के ऊपर बड़े बड़े तर्क वितर्क कर के मत स्थापित किया है; किन्तु अन्य लोगों के मतों का विरोध नहीं किया। मूर्ख मनुष्य बड़े ऊँचे पर्वत से गिरने की तरह इस अजगर व्रत को जानते हुए भी यथार्थ रूप से नहीं जान पाते। किन्तु मैं तो इसे अज्ञान का नाशक, दीर्घायु देने वाला और असंख्य दोषों से मुक्त करने वाला जान, इस अजगर व्रत का पालन करता हूँ और घूमा करता हूँ।

भीष्म ने कहा— हे धर्मराज! जो महात्मा पुरुष होते हैं, वे राग, द्वेष और लोभ, मोह को त्याग कर, इस व्रत का पालन करते हैं और सुख से रहते हैं।

एकसौ अस्सी का अध्याय

इन्द्र-कश्यप-संवाद

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! मनुष्य को भाई बन्धु, कर्म, धन, बुद्धि में से किस का सहारा पकड़ना चाहिये। मैं आपसे यह पूछता हूँ। आप मुझे इसका उत्तर दें।

भीष्म जी बोले—प्राणिमात्र का अवलम्ब बुद्धि है। बुद्धि के लाभ को सब लाभों से श्रेष्ठ माना है। जगत में बुद्धि कल्याण-दायिनी है। सत्पुरुषों ने बुद्धि को स्वर्ग समान सुखप्रद माना है। राजा बलि ने नष्ट प्राप्त वैभव को बुद्धिबल से पुनः प्राप्त कर लिया था। दैत्यराज प्रह्लाद, नमुचि और मङ्की ने भी प्रज्ञाबल ही से वैभव पाया था। बुद्धि से बढ़ कर उत्तम कोई वस्तु नहीं है। इस विषय में इन्द्र और कश्यप का संवाद रूप एक पुरातन इतिहास इस प्रकार है।

प्राचीन काल में काश्यप नामक एक तपस्वी ऋषिपुत्र थे। वे प्रशंसनीय व्रत का पालन करते थे। एक दिन जब वे चले जा रहे थे, तब जिस रास्ते से वे जा रहे थे, उसी पर एक अभिमानी बनिया रथ पर चढ़ा आ रहा था। उसने रथ का धक्का दे, उन ऋषिकुमार को भूमि पर गिरा दिया। उनके चोट लगी और वे उस चोट से पीड़ित हो क्रोध में भर गये और कहने लगे—इससे संसार में निर्धन मनुष्य का जीना ठीक नहीं—अतः मैं अब अपना शरीर त्याग दूँगा। यह विचार जब ऋषिकुमार चुप हो गये; तब इन्द्र शृगाल का रूप धारण कर, उनके निकट गये और उनसे कहने लगे—देवता तक जिस मनुष्य-योनि में उत्पन्न होने के लिये प्रयत्न किया करते हैं, उसी मनुष्य-योनि में तेरा जन्म हुआ है। तू ब्राह्मण है और तिस पर भी वेदाध्यायी श्रोत्रिय ब्राह्मण है। अतः इस समय तेरे पास तीन वस्तुएं हैं। इस लिये मूर्खता-

वश तुझे आत्महत्या न करनी चाहिये। वेद कहता है यावत् लाभ अभिमान् पूर्ण हैं, किन्तु तेरा आत्मस्वरूप सन्तोषप्रद है। उसीका तू अभिमान-वश अनादर करता है। अरे जिन्हें परमात्मा ने हाथ दिये हैं, वे हर प्रकार के काम कर के काम कर सकते हैं। इस लिये हाथ वाले लोग मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। तुझे जैसे धनवान् होने की इच्छा है, वैसे ही मुझे हाथों के प्राप्त करने की अभिलाषा है। हे ब्राह्मण! मेरे पैर में काँटे चुभ जाते हैं, उन्हें मैं निकाल नहीं सकता। क्योंकि हाथ तो हैं ही नहीं। शरीर में जब चीलहर जू काटते हैं, तब मैं उन्हें हटा नहीं सकता। क्योंकि मेरे हाथ तो हैं ही नहीं। भगवान् ने जिन्हें हाथ और दस उगलियां दीं हैं, वे तो शरीर पर बैठने वाले कीटों को उड़ा सकते हैं और जो उन्हें काटते हैं उन्हें वे मार डालते हैं। शीत वर्षा और धूप से वे अपनी रक्षा कर सकते हैं। वस्त्र, अन्न, भूख, शयन, और भूख मिटानें के लिये वे हाथों के सहारे उपाय कर सकते हैं। वे बैल और पृथिवी के स्वामी बन कर, धराधाम पर राज्य करते हैं। बैलों को गाड़ी में जोत उनसे गाड़ी खिचवाते हैं। बोल न सकने वाले और विना हाथ के निर्बल पशुओं को जो दुःख सहने पड़ते हैं, उन्हें तुम तो नहीं सह सकते। क्या यह तुम्हारे लिये हर्ष की वात नहीं है? हे मुने! तू न तो गीदड़ है, न कीट है, न सर्प है, न चूहा है न मेंढक है। न तू किसी पापयोनि में उत्पन्न हुआ प्राणी है।

हे काश्यप! तुझे तो इस लाभ से सुखी होना चाहिये। तुझे ऐसे लाभ से सन्तोष मानना चाहिये। विशेष क्या कहूँ। तू समस्त प्राणियों में उत्तम ब्राह्मण है। देख, ये कीड़े मुझे काट रहे हैं; किन्तु हाथ न होने से उड़ाने की मुझमें शक्ति ही नहीं है। तिस पर भी मैं आत्महत्या करना नहीं चाहता। क्योंकि यह खोटा काम है। ऐसा करना उचित नहीं। ऐसा मान कर तथा आत्महत्या करने से तो मुझे इससे भी गयी बीती अधम योनि में जन्म लेना पड़ेगा। यही समझ कर, मैं अपना शरीर नहीं

त्यागता। मैं शृगाल की पापयोनि में जन्मा हूँ; परन्तु इससे भी दूसरी योनियाँ गयी बीती हैं। उत्तम योनि में उत्पन्न होने वाले जीव सुखी रहते हैं। कितने ही उत्तम योनि में जन्म लेने पर भी लोग दुःख भोगते हैं। किन्तु मैं कहीं भी किसी को परम सुखी नहीं देखता हूँ। मनुष्य पहले फलवान होना चाहते हैं। जब धनवान हो जाते हैं, तब राज्य पाना चाहते हैं। राज्य मिल जाने पर वे देवता होने की अभिलाषा करते हैं। जब देवता बन जाते हैं, तब वे इन्द्र बनना चाहते हैं; यद्यपि तू धनवान हो सकता है, तथापि तू देवता अथवा इन्द्र नहीं बन सकता। यदि देवता हुआ तो इन्द्र बनना चाहेगा और यदि इन्द्र बन गया तो तुझे सन्तोष न होगा। प्रिय वस्तु मिल जाने पर, मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। तृष्णा, अग्निरूपिणी है—वह शान्त नहीं होती। प्रत्युत जैसे ईंधन डालने से अग्नि धधकने लगता है, वैसे ही तृष्णा भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। तुझे इस समय जैसे शोक हो रहा है, वैसे ही तू हर्षित भी हो सकता है। इस प्रकार तेरे भीतर सुख और दुःख दोनों ही रहते हैं। तब इसमें शोक करने की बात ही कौन सी है। समस्त कामनाओं का और सब कर्मों का मूल रूप बुद्धि तथा इन्द्रिय समूह है। अतः उनको चिड़ियों की तरह पिंजड़े में बँद कर के रखना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से उनका उड़ जाना कहीं सुना नहीं गया। मनुष्य के यथार्थ में एक सिर और दो ही हाथ होते हैं। इनके अतिरिक्त जो हैं ही नहीं वह द्वितीय सिर और तृतीय हाथ के काटे जाने का भय हो ही कैसे सकता है। अर्थात् आत्मा को छोड़ संसार में कुछ है ही नहीं; तब फिर उससे भय की आशङ्का करना व्यर्थ है। यदि कोई कहे कि शीत, गर्मी, आदि का भय हम प्रत्यक्षतः अनुभव करते हैं, फिर कैसे कोई कह सकता है कि, भय का कोई कारण नहीं है। इस शङ्का के समाधान में कहना पड़ेगा कि, जैसे सुन्न हुए शरीर के चर्म में स्पर्शज्ञान नहीं रहता, वैसे ही बुद्धि आदि का निरोध करने से काम अर्थात् सङ्कल्प उत्पन्न ही नहीं होता। फिर भय तो होगा ही कैसे?

जो एक बार जिसका अनुभव कर लेता है, उसको उसीकी प्राप्ति की चाहना हुआ करती है। किन्तु जिसे जिस वस्तु का कभी अनुभव ही नहीं प्राप्त हुआ, उसे उसकी चाहना ही क्यों होने लगी। जब तूने वारुणी और पक्षियों का माँस चखा ही नहीं, तब तुझे इनकी चाहना क्यों होने लगी! तूने तो उत्तम उत्तम स्वादिष्ट भोजन कभी नहीं खाये। अतः तुझे कभी उनकी याद भी नहीं आती। जो पुरुष ऐसा नियम रखता है कि, किसी नये पदार्थ को चखना नहीं, छूना नहीं और देखना भी नहीं—उसका निस्सन्देह कल्याण होता है। जिन प्राणियों के हाथ होते हैं, वे निश्चय ही बली होते हैं। वे धन भी इकट्ठा कर लेते हैं। मनुष्य, मनुष्य द्वारा ही दास बना लिया जाता है। मनुष्य प्रारब्धवश अपने जाति भाइयों के हाथ से मारे और बाँधे ही नहीं जाते प्रत्युत विविध प्रकार की यन्त्रणाएँ भोगते हैं। तिस पर मज़ा यह है कि, इस दशा में भी वे क्रीड़ा करते, मौज उड़ाते और प्रसन्न होते हैं। कितने ही हस्तयुक्त विद्यासम्पन समझदार मनुष्य निन्दित एवं पाप-मयी वृत्ति से, विवश हो आजीविका करना चाहते हैं। किन्तु उनका कर्म-भोग निश्चित हो चुकता है, अतः उन्हें कर्मानुसार ही सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। श्वपच और चाण्डाल भी अपने शरीर से सन्तुष्ट रह कर शरीर त्यागना नहीं चाहता। तू न तो श्वपच है और न चाण्डाल, किन्तु जाति का ब्राह्मण है। फिर तू आत्म-हत्या करने को क्यों तैयार है? तुझे दैव की विचित्र माया देखनी चाहिये।

हे काश्यप! कितने लुंजे होते हैं, कितने ही पक्षाघात के रोग से पीड़ित होते हैं, कितने ही अन्य अन्य रोगों से पीड़ित होते हैं, उन्हें यदि देखेगा, तो तुझे मालूम होगा कि तू जिस योनि में उत्पन्न हुआ है वह सुखपूर्ण है। तू ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न हुआ है और शरीर से तू नीरोग है। तेरे अंग पूर्ण हैं। अतः तू धिक्कार का पात्र नहीं है। यदि जाति से भ्रष्ट करने वाला तेरे ऊपर कोई दोषारोपण भी किया गया हो तो भी हे

विमर्षे ! तुझे आत्म-हत्या न करनी चाहिये। तू धर्माचरण करने के लिये उठ खड़ा हो।

हे ब्राह्मण ! यदि तू मेरी बात पर श्रद्धा न कर, उसे मान लेगा तो तुझे वेदोक्त धर्म का प्रधान फल मिलेगा। तू सावधान हो कर वेद का स्वाध्याय कर, यज्ञ, याग कर, सत्य भाषण कर, इन्द्रियों को वश में रख, दान दे और किसी के साथ स्पर्धा मत रख। जो ब्राह्मण स्वाध्यायनिरत हैं और यज्ञों को करते कराते रहते हैं वे कभी शोकान्वित नहीं होते। वे खोटी बातों का विचार भी नहीं करते हैं। जो लोग शुभ नक्षत्र, शुभ तिथियों और शुभ मुहूर्त्तों में उत्पन्न होते हैं; वे यज्ञ, दान और सन्तानोत्पत्ति का यथाशक्ति उद्योग करते रहते हैं। ऐसे लोग यदि साँसारिक सुख-भोगों का उपभोग करना चाहते हैं तो उन्हें पूर्ण सुख प्राप्त होता है। किन्तु जो जन (मूल आदि) अशुभ नक्षत्रों, अशुभ तिथियों और अशुभ मुहूर्त्तों में जन्म ग्रहण करते हैं, वे आसुरी योनि में उत्पन्न हो, यज्ञ दानादि पुण्य कर्म नहीं करते। मैं प्रथम दुष्ट स्वभाव का विद्वान् था, क्योंकि मैं वेद की झूठी निन्दा करने को थोथे तर्कों वितर्कों से काम लिया करता था। मैं उस तर्क-विद्या पर पूर्ण आस्था रखता था, जो वेद द्वारा ही ज्ञेय परब्रह्म का निर्णय करने में असमर्थ है। मुझे तर्क वितर्क करना अच्छा लगता था और मैं पण्डितों की सभाओं में सदा उत्तर पक्ष ले वेद-विरुद्ध वाद-विवाद किया करता था। वाद-विवाद के समय बड़े कठोर वचन बोलता था और जब अन्य ब्राह्मण पण्डित वेदवाक्यों पर विचार करने में प्रवृत्त होता था, तब मैं उनके निकट जा उनकी निन्दा करता था। मैं वेद का प्रमाण नहीं मानता था। स्वर्गादि अदृष्ट फलों की सत्यता पर मुझे पूर्ण सन्देह था। मैं वास्तव में मूर्ख हो कर भी पण्डित होने का दावा रखता था। इन्हीं सब पापों के फल से मुझे यह शृगाल योनि प्राप्त हुई है। अब मेरी इच्छा है कि, सौ रात्रि और दिन तक, मैं निरन्तर कोई ऐसा अनुष्ठान करूँ, जिससे मैं इस शृगालयोनि से छुटकारा पा जाऊँ और पुनः मनुष्य

हो जाऊँ। मनुष्ययोनि में सन्तोषी और सावधान रह कर, तप पर मेरी श्रद्धा बढ़े, मैं ज्ञेय वस्तु का ज्ञान सम्पादन करूँ और हेय वस्तु का परित्याग करूँ।

शृगाल रूपधारी इन्द्र के इन वचनों को सुन कर, काश्यप उठ खड़े हुए और विस्मित हो कहने लगे—ओहो ! तू तो बड़ा चतुर और बुद्धिमान है। यह कह उसने दिव्यदृष्टि से देवराज इन्द्र को शृगाल के शरीर में पहचान लिया। तब उसने इन्द्र का पूजन किया और उनके आज्ञानुसार वह अपने घर को चला गया।

भीष्म जी बोले—सारांश यह है कि, जब दिव्यज्ञान सम्पन्न काश्यप की भी देहाभिमान से ऐसी मतिगति हो गयी थी, तब फिर यदि साधारण के मन में देहाभिमान उत्पन्न हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

एकसौ इक्यासी का अध्याय

निज कर्मानुसार विविध-योनियों में जन्म

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! *दत्त, †इष्ट, ‡तप एवं ||गुरुसेवा से शुभ अदृष्ट फलों की उत्पत्ति होती है। ये कालान्तर में यदि बुद्धि की परिणाम रूप प्रज्ञा उत्पन्न करें, तो आप मुझे बतलावें।

---

*शरणागत रक्षण, प्राणिमात्र को अभय प्रदान (अहिंसा), सुपात्र को दान प्रदान ये कर्म दत्त कहलाते हैं।

†अग्निहोत्र, तप, शौच, वेदाज्ञा-पालन, अतिथि-सत्कार, बलि वैश्यदेव—ये कर्म इष्ट कहलाते हैं। दत्त और इष्ट गृहस्थ के लिये अवश्य करणीय हैं।

‡तप वानप्रस्थ के लिये विहित कर्म है।

||गुरुसेवा ब्रह्मचारियों का कर्त्तव्य है।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! जब किसी मनुष्य के अन्तःकरण में काम क्रोधादि डेरा डाल देते हैं; तब मनुष्य के मन की प्रवृत्ति पापों की ओर होती है और पाप करने से उसे दुःखदायी नरकों में जाना पड़ता है। पापीजन दरिद्र दशा में पहुँच, भूख, क्लेश, भय और मरण को प्राप्त होते हैं। श्रद्धावान्, इन्द्रियों को वश में रखने वाले तथा पुण्य कर्म करने वाले अत्यधिक धनी हो कर उत्सव करते हैं और स्वर्गसुख भोगते हैं।

नास्तिक मनुष्य सिंह, हाथी, साँप और चोरों के भय से विकट वन में स्वयं ही चले जाते हैं और वहाँ विविध प्रकार के कष्टों को सहते हैं। इससे बढ़ कर और क्या दुःख होगा; जिन्हें देवता और अतिथि प्रिय होते हैं, जो उदार होते हैं और सत्पुरुषों पर प्रीति रखते हैं, वे दानादि पुण्य कर्मों से मिलने वाले उस देवयान मार्ग से गमन करते हैं, जिससे आत्मज्ञानी जाते हैं। जिसने कभी किसी प्रकार का भी पुण्यप्रद कर्म नहीं किया, वे धान्यों में पड़े हुए सड़े धान्यों की तरह और उड़ने वाले जीवों में मच्छरों की तरह हैं। पूर्व-जन्म-कृत-कर्म पीछा नहीं छोड़ते—भले ही कोई चाहे जितना तेज़ दौड़े। जो जैसा कार्य करता है, उसे वैसा ही फल भी मिलता है। जब कर्मकर्त्ता सोता है और जब वह चलता है, तब कर्मफल भी उसके साथ हो लेता है। जब वह कर्म करता है, तब कर्मफल भी कर्म करता है। सारांश यह कि कर्त्ता के पीछे कर्मफल परछायी की तरह फिरा करता है। मनुष्य को पूर्व-कृत-कर्मों के अनुसार फल मिलते हैं। प्रत्येक प्राणी को उसके कर्मों के फल भुगवाने के लिये और तदनुसार उसे गति देने के लिये, काल सब को चारों ओर से आकर्षित करता है। जैसे वृक्षों में समय पर—बिना किसी की प्रेरणा के फल फूल लगते हैं, वैसे ही पूर्व-जन्म-कृत-कर्म यथासमय फल देने के लिये कर्त्ता के निकट आ खड़े होते हैं। हानि लाभ, जीवन मरण और पूर्व-जन्म कृत-कर्मों के अनुसार होते हैं। फिर कर्मफल का भोग पूरा होते ही वे

स्वतः ही शान्त हो जाते हैं। यह क्रम बराबर जारी रहता है। मनुष्य जिस दिन से जन्म लेता है, उसी दिन से पूर्व-जन्म-कृत कर्म उसके साथी बन सुख दुःख का कारण बन जाते हैं। बालक युवा, वृद्ध जो कर्म जिस अवस्था में करता है उन समस्त शुभाशुभ कर्मों के फल उसे उसी अवस्था में प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार सहस्रों गौत्रों के बीच खड़ी अपनी माता को बछड़ा पहचान लेता है वैसे ही कर्म भी कर्त्ता को खोज उसके पीछे लग लेते हैं। जैसे पहले से भिगोया हुआ वस्त्र धोने से निर्मल हो जाता है, वैसे ही विषयों का त्याग रूप तप करने वाले अन्त में शुद्ध हो मोक्षसुख प्राप्त करते हैं। तपो वनों में तपस्या करने से कर्त्ता के पाप छूट जाते हैं और धर्मात्माओं की समस्त मनोभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं। जैसे आकाश में (बहुत ऊँचाई पर उड़ने वाले) पक्षियों और पानी में चलने वाली मछलियों के पैर नहीं देख पड़ते वैसे ही ज्ञानी जनों की गति भी नहीं देख पड़ती। अब उपालम्भ देने अथवा दोष दिखलाने में कुछ लाभ नहीं होता। मनुष्य को तो वे ही कर्म करने चाहिये, जिनके करने से अपना कल्याण होता हो या हित होता जान पड़े।

एक सौ बयासी का अध्याय

आदि-अन्त-रहित आकाश की उत्पत्ति-कथा

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! स्थावर जङ्गमात्मक इस जगत की उत्पत्ति कहाँ से हुई है और जब प्रलयकाल आता है, तब यह कहाँ चला जाता है। अब आप मुझे यह बतलावें। समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, पृथिवी, अग्नि और वायु सहित इस जगत-प्रपञ्च की रचना किसने की है? समस्त प्राणियों की उत्पत्ति कैसे हुई है? ब्राह्मणादि चार वर्ण कैसे उत्पन्न

हुए हैं? शौचाशौच विधि तथा धर्माधर्म विधि कैसे प्रचलित हुई है? जीवधारियों के जीव का स्वरूप कैसा है? जो जीव मर जाते हैं, वे कहाँ जाते हैं; मुमुक्षु जीव इस जगत् को त्याग किस लोक में जाते हैं?

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! भरद्वाज के प्रश्नों के उत्तर में भृगु ने जो शास्त्रोक्त वचन कहे थे मैं वे ही वचन तुम्हारे आगे दुहराये देता हूँ। सुनो! एक बार कैलास-शिखर पर महा तेजस्वी भृगु महर्षि बैठे हुए थे। उनके निकट जा भरद्वाज ने उनसे पूछा—समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, पृथिवी, अग्नि तथा वायु और इन समस्त लोकों की उत्पत्ति कैसे हुई है! ये समस्त प्राणी कैसे रचे गये हैं? उनके शौचाशौच तथा धर्माधर्म की विधि कैसी है? जीवित जीव-धारियों के जीव का स्वरूप क्या है और मरने के बाद यह जीव कहाँ जाता है? लोक और परलोक क्या है?

भृगु जी बोले—हे भरद्वाज! महर्षियों के परिचित मानस नामक प्रथम देव की उत्पत्ति हुई। वह देव आदि अन्त शून्य था। वह किसी शस्त्र से काटा नहीं जा सकता था। वह देव अजर अमर था। वह अव्यक्त नाम से प्रख्यात है और शाश्वत, अव्यय और अक्षय रूप है। इसीसे प्राणिमात्र की उत्पत्ति होती है और अन्त में सब प्राणी उसीमें लीन हो जाते हैं। इन अव्यक्त देव ने सर्वप्रथम, महतत्त्व उत्पन्न किया फिर महतत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति हुई। सर्वभूतकारी अहङ्कार ने आकाश को उत्पन्न किया। आकाश से जल थल से अग्नि और वायु उत्पन्न हुए। फिर अग्नि और वायु के संयोग से पृथिवी उत्पन्न हुई।

फिर स्वयंभू मानस ने तेजोमय एक दिव्य कमल उत्पन्न किया। उस कमल से वेद रूपी ब्रह्मा उत्पन्न हुए। श्रुति में ये ही ब्रह्मा अहङ्कार के नाम से प्रसिद्ध है। स्थूलभूत समस्त आकाशादि उसका स्वरूप है। वही चार प्रकार के प्राणियों को रचने वाला है। वह पञ्चमहाभूत और परम तेजस्वी है। पर्वत उस विराट रूप की हड्डियाँ, पृथिवी मेदा और

माँस, समुद्र रुधिर और आकाश उदर है। पवन उसका श्वास; अग्नि उसका तेज, नदियाँ नाड़ियाँ, शीत चन्द्रमा और उष्णता सूर्य, अन्तरिक्ष उच्च सिर, पृथिवी पैर और दिशाएं उसकी भुजाएं हैं। सिद्ध जन भी उस पुरुष को बड़ी कठिनाई से जान पाते हैं। क्योंकि निस्सन्देह उसका स्वरूप अचिन्त्य है। इन्हींका दूसरा नाम भगवान् विष्णु है। ये अनन्त नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये ही समस्त प्राणधारियों के आत्मा हैं और सब प्राणधारियों में स्थित हैं। जिनका अन्तःकरण मलीन अथवा अपवित्र है, वे इनका स्वरूप जान ही नहीं सकते। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति के लिये जो अहङ्कार को उत्पन्न करते हैं और जिनसे यह विश्व उत्पन्न होता है उनके सम्बन्ध में हे धर्मराज ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था उसका यही उत्तर है।

भरद्वाज ने कहा— हे महर्षे ! आकाश, दिशाएँ, पृथिवी और वायु का परिमाण क्या है? यह भी आप मुझे बतलावें। भृगु ने कहा— आकाश असीम है। उसमें सिद्धों और देवताओं का वास है। उसमें अनेक स्थान होने से वह बड़ा रमणीक है। उसका अन्त खोजने पर भी नहीं मिलता, सूर्य एवं चन्द्र के ऊपर तथा नीचे जहाँ इन दोनों की किरणें नहीं पहुँच पातीं, वहाँ अग्निवत् जाज्वल्यमान स्वयं प्रकाशदेव (ग्रह) का प्रकाश रहता है। वे प्रसिद्ध ज्योतिःग्रह भी आकाश की अन्तिम सीमा नहीं देख पाते। क्योंकि आकाश दुर्गम और अनन्त है। जिस आकाश को देवता भी आज तक नहीं नाप पाये, वह ऊपरी भाग में प्रज्वलित और स्वयं प्रकाशित लोकों (ग्रहों) से परिपूर्ण है। पृथिवी के बाद समुद्र है और समुद्र के बाद अन्धकार है। अन्धकार के बाद पुनः जल है और जल के बाद अग्नि है। इसी प्रकार रसातल के बाद जल है और जल के नीचे सर्पराज का निवास है। उनके नीचे पुनः आकाश है तथा उस आकाश के बाद पुनः जल है। इस प्रकार आकाश के नीचे जल और जल के नीचे आकाश है। अतः अग्नि, पवन और जल का परिमाण देव-

ताओं को भी नहीं मालूम। फिर भला उस सर्व-देव-मय परब्रह्म का परिमाण कौन बतला सकता है। पवन, अग्नि, जल और पृथिवी के स्वर्गादि रूप आकाश ही से लिये जाते हैं। किन्तु जो इनका भेद नहीं जानते वे कहते हैं कि, पवनादि आकाश से भिन्न हैं।

ज्योतिःशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों में तीन लोकों का तथा समुद्र का परिमाण बतलाया गया है। उन्हींके आधार पर पण्डित भी उनके विस्तारों का निरूपण किया करते हैं। किन्तु जो दृष्टिगोचर नहीं है और जो इन्द्रियातीत है, उस परमात्मा का परिमाण कौन बतला सकता है। सिद्ध और देवताओं के मार्ग रूप आकाश को यदि कोई नाप सके तो जिसका स्वरूप उसके नामानुसार है, उस मानस नामधारी अनन्त भगवान् का परिमाण गौण हो जाय; किन्तु जब आकाश ही का परिमाण नहीं है, तब ईश्वर का परिमाण हो ही नहीं सकता। जो दिव्य अनन्त स्वरूप भगवान् बार बार छोटे होते और बढ़ जाते हैं उन्हें कोई कैसे जान सकता है! स्थूल, सूक्ष्म रूपी कमल से सर्वप्रथम सर्वज्ञ, समर्थ, धर्ममूर्त्ति एवं आदि प्रजापति ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई।

भरद्वाज जी ने पूछा—जब ब्रह्मा जी कमल में से उत्पन्न हुए थे, तब तो वह कमल ब्रह्मा जी से बड़ा और सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा किन्तु आप ब्रह्मा को कमल के पूर्व उत्पन्न हुआ बतलाते हैं, अतः आप मेरा यह सन्देह दूर करें।

भृगु जी बोले—मानस ब्रह्म की मूर्त्ति ब्रह्मा रूप से उत्पन्न हुई है। उसकी आसन रूप जो पृथिवी रची गयी थी वही पृथिवी कमल कहलाती है। उस कमल की कली मेरु पर्वत है और वह आकाश में ऊँचा उठा हुआ है। उसके बीचो बीच लोककर्त्ता ब्रह्मा जी बैठे हुए जगत् की सृष्टि करते हैं।

एकसौ तिरासी का अध्याय

पृथिवी की उत्पत्ति

भरद्वाज जी ने पूछा—हे महर्षे! आप मुझे बतलावें कि मेरु-पर्वत-वासी ब्रह्मा ने विविध प्रकार की सृष्टि की रचना कैसे की?

भृगु जी बोले—हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी मन से विविध प्रकार के जीवों की रचनाएँ किया करते हैं। उन्होंने जीवों की रक्षा के लिये सब से प्रथम जल बनाया। यह जल समस्त प्राणियों का प्राण रूप है। इस जल से प्रजा की वृद्धि होती है। यदि कहीं जल न हो तो प्रजा नष्ट हो जाय। इस जल से सारा विश्व -वेष्टित है। पृथिवी, पर्वत, मेघ तथा और जो कुछ मूर्त्तिमान् देख पड़ता है, वह सब जल ही से उत्पन्न होता है। क्योंकि जल जब घनीभूत होता है, तब उससे पृथिवी आदि समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

भरद्वाज जी ने पूछा—जल की उत्पत्ति हुई किस प्रकार और अग्नि तथा पवन की रचना कैसे की गयी? ब्रह्मा ने पृथिवी किस तरह बनायी? आप मुझे यही बतलावें। क्योंकि मुझे इस विषय में बड़ी शङ्का है।

भृगु जी बोले—हे ब्रह्मन्! पूर्वकाल में एक बार ऐसा ही सन्देह महात्माओं को ब्रह्मर्षियों की सभा में हुआ था। तब वे अनशन-व्रत-धारण कर और ध्यान-मग्न हो, चुपचाप बैठ गये। वे लोग केवल वायु पी कर देवताओं के शत वर्षों तक निराहार ध्यानमग्न रहे। जब सौ वर्ष पूर्ण हुए, तब यह वेदमयी आकाशवाणी हुई कि, पर्वत की तरह अचल, सूर्य, चन्द्र, पवन से रहित आकाश भयानक अन्धकार से पूर्ण था। उससे जल की उत्पत्ति हुई। वह ऐसा जान पड़ता था मानों वह जल आकाश को दबा लेना चाहता है। अतः उसमें से वायु उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार शून्य पात्र में आवाज़ नहीं निकलती, किन्तु जब उसमें जल भरा

जाता है तब वायु द्वारा उसमें शब्द उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही आकाश के अन्त का जो भाग जल से परिपूर्ण हो गया था, उसके भीतर का वायु समुद्र-तल को विदीर्ण कर, बाहर निकलता है। अतः समुद्र के दबाव से निकला हुआ वायु सर्वस्थानों में व्याप्त होता है। किन्तु आकाश में शान्त नहीं होता। उक्त वायु और आकाश में पारस्परिक टक्कर होने से महाबली, उच्च शिखा वाला जाज्वल्यमान अग्नि उत्पन्न होता है। वह आकाश के अन्धकार को दूर कर, चारों ओर उजियाला कर देता है। वही अग्नि पवन की सहायता से जल और आकाश को खींचता है और पवन के योग से घनीभूत हो जाता है। तदनन्तर अग्नि का रस रूपी नरम द्रव्य आकाश से नीचे गिर जमा होता है, इसमें से पृथिवी उत्पन्न होती है। सब की उत्पत्ति-स्थली पृथिवी रस, सुगन्धित पदार्थ, चिकनाई और प्राणियों को उत्पन्न करती है।

एक सौ चौरासी का अध्याय

स्थावर जङ्गम की पञ्चभूतात्मक रचना

भरद्वाज ने कहा—हे ब्रह्मन्! ब्रह्मा की रची पाँच धातुएँ जो महाभूत नाम से पुकारी जाती हैं और जिनसे ये लोक व्याप्त हो रहे हैं, वे पञ्चमहाभूत ही मूल क्यों कहलाते हैं? क्योंकि ब्रह्मा जी के तो और भी सहस्रों भूत रचे हुए हैं।

भृगु ने कहा—वे नाम रहित होने से अमाप कहलाते हैं और सब पञ्चभूत प्राणी उत्पन्न करने के कारण वे महाभूत कहलाते हैं। मानव शरीर पञ्च-महाभूत से बना हुआ है। शरीर में जो चेष्टा होती है वह पवन का गुण है। खोखलापन आकाश का गुण है। उष्णता अग्नि का गुण है। रस जल का गुण है, माँस हड्डी आदि कठिन पदार्थों का काठिन्य पृथिवी का अंश है।

भरद्वाज ने कहा—आपने कहा स्थावर तथा जङ्गम समस्त प्राणी पञ्चमहाभूतों से बने हैं। किन्तु स्थावरों में तो पाँच तत्व नहीं देख पड़ते। उष्णता, सचेष्टता और घनता से युक्त वृक्षों में तो पाँच धातुएँ नहीं देख पड़तीं। क्योंकि वृक्ष न तो सुनते हैं, न देखते हैं, न सूंघते हैं और रसास्वादन भी नहीं करते। उन्हें स्पर्श का ज्ञान ही नहीं है। फिर उन्हें पञ्चमहाभूतों से निर्मित कैसे माना जाय? वृक्षों में जलांश न होने का प्रमाण यह है कि उनमें रक्त जैसा कोई तरल पदार्थ नहीं है। उनमें उष्णता भी नहीं पायी जाती। अतः उनमें अग्नि का भी अभाव है। उनमें वायु और पृथिवी के गुण भी नहीं पाये जाते। अतः वृक्षों में पञ्चमहा-भूतों में से एक भी तत्व तो नहीं है। तब उन्हें पञ्च महाभूतों से निर्मित कैसे माना जाय?

भृगु जी ने कहा—वृक्षों में घनाँश है, आकाश गुण हैं, उनमें नित्य फलों फूलों का उत्पन्न होना। उनमें आकाश गुण की विद्यमानता का प्रमाण है। वृक्षों में अग्नि का गुण भी है। क्योंकि उनकी छाल, पत्ते, फल और फूल कभी कभी कुम्हलाते देखे जाते हैं। वृक्षों में स्पर्श गुण भी है। क्योंकि स्पर्श करने से कई एक पौधे कुम्हला जाते हैं (छुई मुई इसका प्रमाण है) और फल फूल गिर पड़ते हैं। वृक्षों में कान भी होते हैं, तभी तो वायु, अग्नि और वज्र का शब्द सुनते ही कभी कभी उनके फल फूल गिर पड़ते हैं। वृक्ष देखते भी हैं। लताएँ वृक्षों के ऊपर चढ़ जाती हैं और उन्हें चारों ओर से घेर लेती हैं। जिसको देख न पड़े, वह भला जाने का मार्ग कैसे देख सकता है। इससे यह सिद्ध है कि वृक्षों के नेत्र होते हैं। वृक्ष सुगन्ध दुर्गन्ध से तथा विविध प्रकार की धूपों के देने से नीरोग होते हैं और वे पुष्पित हो जाते हैं। अतः वृक्ष घ्राणेन्द्रिय विवर्जित नहीं हैं। वृक्षों के रसना भी होती हैं। क्योंकि वे जड़ से जल पीते हैं और जब वे बीमार होते हैं, तब उनकी जड़ों में दवा डालने से उनके रोग दूर किये जाते हैं। जैसे कमल की नाल से जल को कोई

ऊपर खींचे; वैसे ही वृक्ष भी वायु की सहायता से *जड़ द्वारा जल पीते हैं। वृक्षों को सुख दुःख का भी अनुभव होता है। यदि वे कलम कर दिये जाँय तो उग आते हैं। अतः वृक्षों में जीव का होना माना जाता है। वृक्ष अचेतन अथवा जड़ नहीं हैं। वृक्ष जो जल पीते हैं, उसे उनके भीतर रहने वाला पवन और अग्नि पचाता है। इसीसे उनमें रस उत्पन्न होता है और वे बढ़ते हैं। सकल जङ्गम पदार्थों के शरीरों में भी पाँच धातुएँ रहती हैं। समस्त जङ्गम पदार्थों में पाँच धातुएँ पायी जाती हैं। किन्तु उनका परिमाण जुदा जुदा हुआ करता है। इसीसे वे सचेष्ट देख पड़ते हैं। शरीर का चाम, माँस, अस्थि, मज्जा और स्नायु जिस शरीर में हों वह पञ्चमहाभूतात्मक होने से पार्थिव माना जाता है। शरीर में तेज, क्रोध, नेत्र, उष्णता और जठराग्नि ये पाँच गुण अग्नि के हैं। श्रोत्र, घ्राण, मुख हृदय और कोष्ट में जो खोखलापन है, वही आकाश है। उसमें कफ, वात, पित्त, पसीना, चरबी और रुधिर-ये जल का अंश है। प्राणी प्राण वायु से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है। व्यान से बल के द्वारा हो सकने वाला उद्यम किया जाता है। अपान वायु शरीर में ऊपर से नीचे को जाता है। समान नामक प्राणवायु हृदय में रहता है। उदान वायु से ऊपर की स्वांस ली जाती है और यह छाती, कण्ठ तथा सिर के विभागानुसार अक्षरों का उच्चारण करवाता है। मनुष्य शरीर में ये पाँच वायु इस प्रकार क्रिया करते हैं। देहधारी मनुष्य गन्ध गुण को अपने में विद्यमान पृथिवी भूत के कारण से जानता है। जल से रस का ज्ञान होता है; चक्षुव्यापी तेज से रूप का ज्ञान होता है और वायु से स्पर्श का। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच पृथिवी के गुण हैं। इन पाँच में से प्रथम में गन्ध के गुणों का वर्णन सुनाता हूँ।

सुगन्ध और दुर्गन्ध, कटुगन्ध, (क्षार) निर्हारी गन्ध (हींग आदि का गन्ध) संहत गन्ध (मिश्रित पदार्थों से उत्पन्न गन्ध) स्निग्ध गन्ध

*इसीमें वृक्षों को पादप कहते हैं।

(टटके तपाये हुए घी का गन्ध) रूक्ष गन्ध (कड़ुए तेल का गन्ध) विशद गन्ध (हंसराज चाँवल आदि का गन्ध)—नौ प्रकार के गन्ध होते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस में जल के गुण हैं। रस का वर्णन इस प्रकार है। उदारमना ऋषियों ने रस के अनेक भेद कहे हैं। किन्तु इनमें भी मीठा, खारा, कड़वा, कसैला, खट्टा, तीता छः प्रकार के रस हैं। इसको जलमय कहा है। शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण तेज के कहलाते हैं। तेज रूप को देखता है। रूप बहु प्रकार का है। ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण, गोलाकार, सफेद, काला, लाल, पीला, आसमानी, प्रातःकालीन अरुण रंग का, कठिन, स्निग्ध, लहसनिया, दृधि जैसा, कोमल, कठोर, ज्योतिस्वरूप; सब गुण मिला कर सोलह प्रकार के हैं।

शब्द और स्पर्श गुण वायु के हैं। वायु का प्रधान गुण स्पर्श है। उसके कई भेद हैं। स्पर्श गुण बारह प्रकार के होते हैं यथा—उष्ण, शीतल, सुखप्रद, दुःखप्रद, स्निग्ध और विशद, खरखरा, कोमल, रूखा, लघु और गुरु*

आकाश का एक मात्र गुण शब्द है। यह गुण सात प्रकार के हैं। यथा—षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। यह आकाश से उत्पन्न हुआ शब्द गुण सात प्रकार का है। यह शब्द व्यापकता से सर्वत्र है; तथापि मृदङ्ग तबले आदि में वह स्पष्ट सुनायी देता है। (मृदङ्ग, भेरी, शङ्ख, मेघगर्जन और रथ की गड़गड़ाहट आदि का जो शब्द सुन पड़ता है, सजीव और जड़ पदार्थों का जो शब्द कान में पड़ता है, वह उक्त सात प्रकार के भेदों के अन्तर्गत ही है। विद्वानों का कथन है कि, आकाश से उत्पन्न होने वाला शब्द बहु प्रकार का है। शब्द आकाश से उत्पन्न होता है और विविध प्रकार के वायुगुण स्पष्ट रूप से सुनायी भी पड़ते हैं। यदि किसी प्रकार की बाधा न पड़ कर, शब्द आ मिले, तो शब्द सुन पड़ता है।

* ११ प्रकार के गुण हैं किन्तु मूल में द्वादशधा बतलाया है।

किन्तु जब वायुगुण विषम दशा में होते हैं तब शब्द स्पष्ट नहीं सुन पड़ता।

देहोत्पन्नकारिणी त्वचा आदि धातु प्राण तथा इन्द्रियादि के द्वारा पहले बढ़ते हैं। जल, वायु, अग्नि प्राणी मात्र के शरीर में सदा जागृत रहते हैं। ये ही शरीर के मूल कहे जाते हैं। ये प्राणों के अवलम्बन से संस्थित रहते हैं।

एकसौ पचासी का अध्याय

प्राण, अपान आदि पाँच प्राणवायु

भरद्वाज जी ने पूछा—हे प्रभो! शरीरस्थ अग्नि पञ्चतत्व से बने इस शरीर में कैसे रहता है? वायु शरीर के भीतर किस प्रकार कार्य करता है?

भृगु ने कहा—हे भरद्वाज! प्रथम मैं तुम्हें वायु सम्बन्धी तुम्हारे प्रश्न का उत्तर सुनाता हूँ कि, बलवान् वायु किस प्रकार प्राणियों के शरीर में रह कर कार्य किया करता है। अग्नि तो मस्तक में रह कर शरीर की रक्षा करता है और प्राणवायु का अग्नि तथा मस्तक—दोनों में वास है। वहाँ से वह सारे शरीर में सञ्चारित होता है। प्राण नामक वायु समस्त प्राणियों का जीव रूप है, विश्वात्मा है, सनातन पुरुष है, मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा इन्द्रियों का विषय रूप है। इसके द्वारा शरीर के भीतर के समस्त विभाग तथा इन्द्रियादि समस्त बाह्य अङ्ग गतिवान् होते हैं। प्राण वायु, जीवभाव को प्राप्त हो, समान वायु के रूप में हो जाता है तथा देह और इन्द्रियों से क्रिया करता है। प्राण वायु ही समान वायु हो कर उदर में जठराग्नि का आश्रय लेता है और वह मूत्राशय और मलाशय के स्थान में रह कर, मल और मूत्र को बाहर निकालता है। वहाँ इस वायु का नाम अपान वायु पड़ जाता है।

एक ही वायु गमनादि कर्म तथा कर्मानुकूल चेष्टा रूपी प्रयत्न तथा भारवहन रूप बल—तीन कार्यों को किया करता है। अध्यात्म शास्त्रज्ञ जन इस वायु का नाम उदान वायु कह कर पुकारते हैं। धातुओं में वृद्धि को प्राप्त कर रहने वाले अग्नि को समान नामक वायु धधकाता है। तभी वह अन्नादि के रस को, धातुओं को तथा वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों की प्रवृत्ति करता है। नाभि के निचले भाग में अपान वायु का वास है। इन्हीं दोनों समान और अपान नामक वायुओं से जठराग्नि प्रदीप्त होता है और वह अन्न को पचाता है। मुख से गुदा तक एक बड़ा श्रोत है, उसके नीचे के भाग का नाम ही गुदा है। इस श्रोत में अन्य बहुत सी नाड़ियाँ हैं और वे सब समस्त शरीर में फैली हुई हैं। उन नाड़ियों के मार्ग से प्राणवायु समस्त शरीर में घुसता है और वह प्राणियों के अन्न को पचाता है। जैसे वायु अग्नि के वेग को वहन करने वाला प्राण वायु गुदा के पास जा टक्कर खाता है और वहाँ से पुनः पीछे लौटता है और अपने स्थान पर पहुँच वहीं से अग्नि को प्रदीप्त करता है, वैसे ही नाभि के नीचे के भाग ही में पक्वाशय है और ऊपर के भाग में आमाशय। नाभि के मध्य भाग में सब प्राण रहते हैं। सब नाड़ियाँ हृदय से उत्पन्न हुई हैं। वे शरीर के ऊपर नीचे तथा आस पास के भागों में फैली हुई हैं और इस प्राणवायु से प्रेरित हो ये नाड़ियाँ अन्न के रस को शरीर के समस्त भागों में पहुँचाती हैं। जो परिश्रम रहित हैं, समदृष्टि वाले हैं और जो धीर हैं उनका यही योग मार्ग है। वे इस मार्ग से आत्मा को खींच कर, सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से मस्तिष्क के उस भाग में ले जाते हैं, जहाँ सहस्रार चक्र है। तब आत्मा परमात्मा के पद को प्राप्त हो जाता है। शरीरस्थ प्राण, अपान आदि सब वायुओं में व्याप्त अग्नि सदा वैसे ही प्रकाशित हुआ करता है, जैसे स्थाली में रखा हुआ अग्नि।

एकसौ छियासी का अध्याय

जीव

भरद्वाज ने पूछा—हे भगवन्! यदि वायु द्वारा ही हम लोग जीवित रहते हैं, यदि वायु ही हममें क्रिया शक्ति उत्पन्न करता है और वायु ही स्वांस प्रश्वास लेने का हेतु है, तब तो जीव बेकाम है। शरीरस्थ जठराग्नि ही यदि खाये हुए अन्न को पचा कर जीर्ण करता है, तब तो फिर जीव का होना बेकाम है। प्राणी जब मर जाता है, तब उसके शरीर में जीवात्मा देखने में नहीं रहता; किन्तु वायु ही शरीर को त्याग देता है और वायु के त्यागते ही शरीर की गर्माहट दूर हो जाती है और शरीर ठंडा पड़ जाता है। अतः यदि जीव को वायु रूप मान लिया जाय और वह वायु के साथ ही मिला हुआ हो, तब तो जैसे वायु का मण्डल देख पड़ता है, वैसे ही वह भी बाहिर निकलता हुआ देख पड़ना चाहिये। यदि जीव वायु से कोई भिन्न पदार्थ है और वायु के शरीर से निकलते ही वह भी नष्ट हो जाता हो, तब तो जैसे पर्वतादि के बीच में स्थित होने से समुद्र का एक जलभाग पृथक हो जाता है, वैसे ही वह भी देख पड़ना चाहिये। यदि ऊपर से कूप में पानी डाला जाय तो वह कुए के बहुत से पानी में गिर कर अदृश्य हो जाता है और जलता हुआ दीपक दहकती आग में छोड़ देने से जैसे अदृश्य हो जाता है, वैसे ही जीव को भी वायु में प्रवेश करते ही तुरन्त अदृश्य हो जाना चाहिये। आपका कहना है कि, इस पञ्चतत्व से बने शरीर में जीव है, सो ऐसी दशा में यह आपका कथन क्योंकर सम्भव है? निस्सन्देह पांच तत्वों में से एक भी तत्व का यदि नाश हो तो अन्य चारों तत्व भी स्वभावतः नष्ट हो जाते हैं। तरल पदार्थ को न पाने से शरीरस्थ जलतत्व नष्ट हो जाता है। बाह्य पवन का भीतर जाना रोकने ही से शरीरस्थ वायु तत्व नष्ट होता है। शरीर के भीतरी पोले भाग को ऊपर

तक परिपूर्ण कर देने से आकाश तत्व नष्ट हो जाता है। उपवास करने से अग्नि तत्व का नाश होता है। व्याघ्र, व्रण तथा अन्य दुःख होने से पृथिवी तत्व नष्ट होता है। सारांश यह कि, एक तत्व के नष्ट होने से शेष चारों तत्व नष्ट हो जाते हैं। और जब पांचों तत्वों का नाश हो जाता है, तब क्या जीव दौड़ सकता है ? क्या जीव फिर कुछ जान सकता है ? क्या वह कुछ सुन सकता है ? क्या वह बोल सकता है ? नहीं।

दान की हुई गौ परलोक में मेरा उद्धार करेगी—जो यह समझता है, वह जब मर जाता है; तब गौ किसका उद्धार करती है ? गौ, गौका दान लेने वाला, गौ का दान देने वाला—तीनों ही मरणशील हैं। जब वे यहीं मर गये; तब परलोक में उनका समागम क्योंकर होता है ? जो मनुष्य मरता है उसके शव को या तो पक्षी खा जाते हैं, या पर्वत से गिरता है या अग्नि में भस्म किया जाता है, तब फिर मरा मनुष्य पुनः जीवित क्यों कर हो सकता ? जिस वृक्ष की जड़ काट डाली गयी, वह फिर नहीं उग सकता। हाँ, उसके बीज अवश्य उग सकते हैं। अतः जो मनुष्य मर गया—वह तो फिर नहीं आ सकता। प्रथम केवल बीज ही रचा गया था। उसीसे इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। किन्तु जो मर जाते हैं, वे सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं और एक बीज से दूसरे बीज की उत्पत्ति होती रहती है।

एकसौ सतासी का अध्याय

जीव का स्वरूप

भृगु जी ने कहा— हे भरद्वाज ! न तो जीव ही नष्ट होता है और न उसका दिया हुआ दान ही नष्ट होता है। जीव के शरीर मात्र का

नाश होता है—जीव का नहीं। वह तो एक शरीर से निकल दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीराश्रित जीव शरीर के नष्ट होने पर स्वयं नष्ट नहीं होता। जीव वैसे ही नष्ट नहीं होता, जैसे लकड़ियों के आश्रय में रहने वाला अग्नि लकड़ियों के भस्म होने पर नष्ट नहीं होता।

भरद्वाज जी बोले— यदि अग्नि की तरह जीव का नाश नहीं होता तो जैसे लकड़ियों के जल कर नष्ट हो जाने पर अग्नि शान्त हो जाता है और दिखलायी नहीं पड़ता, वैसे ही देह का नाश हो जाने के बाद जीव भी दिखलायी नहीं पड़ता अतः मैं तो समझता हूँ कि वह नष्ट हो जाता है। क्योंकि शरीर के नष्ट होने बाद न तो जीव की गति, न उसका प्रमाण या उसकी स्थिति दिखलायी पड़ती है।

भृगु जी ने कहा—हे भरद्वाज ! जब लकड़ियाँ जल जाती हैं, तब उनके आश्रय में रहने वाला अग्नि ग्रहण नहीं किया जा सकता—यह ठीक है। किन्तु अग्नि आकाश की तरह सर्वव्यापी होने के कारण वह दिखलायी नहीं पड़ता। इसी प्रकार जीव भी अपने आश्रयभूत शरीर के नष्ट होने पर, सूक्ष्म होने से, आकाश की तरह सर्वव्यापक होने के कारण सदा दिखलायी नहीं पड़ता। अग्नि प्राणधारक है। वह जीव रूप है। जैसे वायु को धारण करने वाला अग्नि स्वाँस को रोकने से नष्ट हो जाता है वैसे ही शरीरस्थ अग्नि अथवा जीव के निकलते ही शरीर चेतनाशून्य हो भूमि पर गिर पड़ता है। क्योंकि पृथिवी ही उसका स्थान है। अतः वह उसीमें लय को प्राप्त हो जाता है। समस्त स्थावर जङ्गम पदार्थों में रहने वाला वायु आकाश में मिल जाता है और उसमें रहने वाला अग्नि भी वायु के पीछे पीछे चलता है। इस प्रकार तीन तत्त्व एकत्र हो रहते हैं। जल तत्त्व और पृथिवी तत्त्व—पृथिवी में रहते हैं। मूर्तिमान शरीर धारी के शरीर में आकाश, वायु और अग्नि तत्त्व मूर्तिरहित हैं। जहाँ आकाश होता है वहाँ पवन होता है, जहाँ पवन होता है, वहाँ अग्नि रहता है।

भरद्वाज ने पूछा—देह-धारियों के शरीरों में पाँच तत्त्वों की विद्य-

मानता मान ली, किन्तु शरीर में जो जीव रहता है उसका स्वरूप कैसा है? पञ्चभूतात्मक प्राणियों के शरीर का प्रेम पाँच विषयों से होता है। जिस जीव की पाँच इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन रूप हैं, अतः जो चेतन रूप है; उस शरीरस्थ जीव का रूप कैसा है? मैं यह जानना चाहता हूँ। माँस रुधिर से निर्मित, मेद, स्नायु और अस्थियों से बना हुआ यह शरीर जब नष्ट हो जाता है, तब भी तो शरीरस्थ जीव नहीं देख पड़ता। यदि पञ्चतत्वात्मक यह शरीर जीव रहित जड़ मान लिया जाय, तो शरीर को या मन को पीड़ा न होने पर, दुःख का अनुभव कौन करता है? हे महर्षे! क्योंकि जीव दूसरों की बात नहीं सुनता, किन्तु जब मन ठीक ठिकाने नहीं होता, तब दोनों कानों के खुले रहने पर भी वह नहीं सुनता। अतः जीव का अस्तित्व मानना न मानना बराबर है। जब मन और नेत्र एक ओर होते हैं, तब नेत्र देखने का काम करते हैं और यदि मन व्यग्र हो तो दोनों नेत्रों के खुले रहने पर भी वे वस्तु को नहीं देख पाते। जब लोग सोते हैं तब वे नेत्रों के होते हुए भी कोई वस्तु नहीं देख सकते, नाक रहते भी न हीं सूँघ सकते, कान होने पर भी नहीं सुन पाते, मुख रखते भी नहीं बोल पाते, रसना रहते भी कोई वस्तु चख नहीं पाते। उन्हें मुलायम या कठोर स्पर्श का भी ज्ञान नहीं होता। इस शरीर में कौन प्रसन्न होता, कौन क्रुद्ध होता, कौन दुःखी होता और कौन घबड़ाता है? उस समय वह कौन पदार्थ है जो कामना करता है, विचार करता है, द्वेष करता है और बोलता है?

भृगु जी ने कहा—पञ्चभूतों से उत्पन्न मन को भी एक इन्द्रिय समझो। अतः वह पांचो विषयों को ग्रहण करता है। किन्तु शरीर को सचेष्ट रखने वाला एक अन्तरात्मा ही है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा अन्य गुणों का भी अनुभव करने वाला है। साथ ही पाँच गुणों से युक्त मन का द्रष्टा रहै। दुःख और सुख का अनुभव वही करता है। जब उससे शरीर का विच्छेद हो जाता है, तब देह में सुख दुःखादि के अनुभव

करने की शक्ति नहीं रह जाती। जब रूप स्पर्श का अनुभव नहीं होता और शरीर ठंढा पड़ जाता है; तब शरीरस्थ अग्नि बुझ जाता है और आत्मा-हीन शरीर नष्ट हो जाता है। यह सारा विश्व जलमय है और शरीर भी जलमय है। उस जल में मन में दिखलायी पड़ने वाला आत्मा वास करता है। वह आत्मा सर्व-लोक-स्रष्टा ब्रह्मा रूप है। वह प्रकृति गुणों से युक्त हो जाने से क्षेत्रज्ञ कहलाता है! किन्तु जब वह प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो जाता है; तब उसकी संज्ञा परमात्मा होती है। उस सर्वलोक-हितैषी क्षेत्रज्ञ को तुम आत्मा जानो। जैसे कमल में जल-बिन्दु रहती है, तो भी कमल उससे पृथक रहता है। वैसे ही स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में रहते हुए भी वह उनसे भिन्न है। उस क्षेत्रज्ञ—आत्मा को, तुम भली-भाँति पहचान लो। तुम्हें यह भी जान लेना चाहिये कि वह सर्व-लोक-हितैषी होने के साथ ही साथ, सत्व, रज और तम—तीन गुण उसमें होते हैं। आत्मा चेतन है और उसमें ऊपर के तीनों गुण हैं। वह स्वयं चेष्टा करता है और सब से चेष्टा करवाता है। आत्मज्ञानियों का कहना है कि, आत्मा जीव से भिन्न वस्तु है और वही सब लोकों का उत्पादक परमात्मा कहलाता है। अतः देह का नाश होने पर भी जीव का नाश नहीं होता। यह तो अज्ञानियों का मिथ्यापूर्ण कथन है कि, जीव मर जाता है। किन्तु शरीर के साथ जीव मरता नहीं। वह उस शरीर को छोड़ अन्य शरीर में चला जाता है। शरीर के नाश होने का नाम मृत्यु है। आत्मा समस्त प्राणियों के शरीरों में गुप्त रूप से रहता है। वह एक शरीर से दूसरे शरीर में घूमा फिरा करता है। जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे विवेकी जन ही अपनी सर्वोत्तम सूक्ष्म बुद्धि से उसे देख पाते हैं और जान जाते हैं।

ज्ञानी जन, भोजनोपरान्त रात्रि के प्रथम भाग में और रात्रि के अन्तिम भाग में, पवित्र हो, योगबल से, परमात्मा का दर्शन पाने के लिये यत्नवान होते हैं। वे अपने आत्मा को अपने शरीर ही में देख लेते हैं। जब चित्त साफ होता है, तब विषयों की ओर दौड़ने वाली मन की

बहिर्मुख वृत्तियां अन्तर्मुखीन हो कर, शुभाशुभ कर्मों को त्याग देती हैं। तब प्रसन्नमना वह जन, आत्मा में स्थित हो, मोक्ष सुख प्राप्त करता है। शरीरस्थ मन के भीतर रहने वाला अग्नि जीव कहलाता है। वही प्रजापति है और वही सृष्टि का उत्पन्न करने वाला है। आत्म-विश्वास से निश्चय कर यह सब मैंने तुम्हें बतलाया है।

एकसौ अठासी का अध्याय

वर्ण विभाग

भृगु जी बोले—हे भरद्वाज! आरम्भ में ब्रह्मा जी ने अग्नि जैसी कान्ति वाले एवं प्रजापति ब्राह्मणों को निज तेज से उत्पन्न किया। तदनन्तर उनको स्वर्गलोक की प्राप्ति कराने को सत्य यज्ञ आदि धर्म, कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप; वेदोक्त स्नानादि आचार, प्रायश्चित्तादि शौच विधानों को रचा। इसी प्रकार देवता, गन्धर्व, दैत्य, असुर, सर्प, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्यों को उत्पन्न किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा अन्य प्राणियों को उत्पन्न किया। इनमें ब्राह्मण गोरे रंग के, क्षत्रिय लाल रंग के, वैश्य पीले रंग के और शूद्र काले रंग के होते हैं।

भरद्वाज जी ने पूछा—जब चारों वर्ण वालों में सत्वादि गुण भिन्न भिन्न हैं, तब सब वर्णों में वर्णसङ्करता क्यों देख पड़ती है? इसका कारण क्या है? काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, भूख और परिश्रम तो हमें सब में समान ही देख पड़ते हैं। फिर वर्णभेद होने का क्या कारण है? पसीना, मूत्र, मल, कफ, पित्त और रुधिर सब के शरीरों से एक ही से निकलते हैं। फिर वर्णभेद क्यों? देखा जाता है, मनुष्यों ही में नहीं पशु, पक्षी, वृक्ष, गुल्म, लता आदि की भी बहुत सी जातियाँ हैं। अतः उन अनेक वर्ण वाले स्थावरों जङ्गमों के वर्णों का निर्णय क्योंकर किया जाय?

भृगु ने कहा—हे भरद्वाज ! वर्णों में कुछ भी विशेषता नहीं है । आरम्भ में जब ब्रह्मा जी ने यह सृष्टि रची थी, तब इस जगत् में सब ब्राह्मण ही उत्पन्न किये गये थे । किन्तु उत्पन्न होने के बाद उन ब्राह्मणों ने जैसे कर्म किये, तद्नुसार उन्हें वर्ण या जाति दी गयी । जिन ब्राह्मणों को काम प्रिय जान पड़ा, जो महाक्रोधी और साहसी थे तथा अपना ब्राह्मण धर्म त्याग बैठे थे; वे लाल वर्ण के क्षत्रिय हो गये। जो ब्राह्मण पशु-पालन की ओर झुके और खेतीबारी कर अपना निर्वाह करने लगे, तथा ब्राह्मणोंचित कर्मों को त्याग बैठे, वे वैश्य हुए । जो ब्राह्मण हिंसा-परायण और मिथ्याभाषणप्रिय थे, वे लोभी ब्राह्मण आजीविका के लिये सब प्रकार के कर्मों को करने लगे, अतः वे काले रंग के अर्थात् तमोगुणी हो गये । उन्होंने बाह्य और आभ्यन्तरिक शौच त्याग दिया । अतः वे शूद्र हो गये । जिन ब्राह्मणों ने ब्राह्मणोचित कर्म त्याग दिये वे विजातीय हो गये । किन्तु शास्त्र में ऐसे ब्राह्मणों के लिये नित्य धर्मानुष्ठान करने का निषेध नहीं है ।

ब्रह्मा ने ब्राह्मणों के लिये वेद प्रकट किये, किन्तु उनमें से अधिकांश ब्राह्मण लोभी बन अज्ञान रूप तमोगुण में लिप्त हो गये । जो ब्राह्मण वेदों की आज्ञाएँ मानते हैं और तद्नुसार व्यवहार करते हैं, उनकी तपस्या नष्ट नहीं होती । यावत् उत्पन्न हुई वस्तु ब्रह्म स्वरूप है । यह बात जिसे नहीं मालूम, वह द्विज नहीं है । ऐसे लोगों को अनेक अधम योनियों में जन्म लेना पड़ता है । जो ब्राह्मण आचरण में स्वेच्छाचारी बन गये; जिन्होंने वेद और शास्त्र भुला दिये, वे मरने के पीछे पिशाच, राक्षस, प्रेत और अनेक प्रकार की म्लेच्छ जाति की योनियों में उत्पन्न हुए । प्राचीन कालीन ऋषियों ने अपने तपोबल से ऐसे प्रजाजन उत्पन्न किये जो वेदोक्त संस्कारों को करते और अपने कर्मों में निष्ठावान् थे। जो मानसी सृष्टि ब्रह्मा जी ने उत्पन्न की वह शाश्वत है और उसका कभी नाश नहीं होता । वह भोगानुष्ठान रत है ।

———

एकसौ नवासी का अध्याय

वर्णाश्रम धर्म

भरद्वाज जी ने पूछा—भगवन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियां हैं। इनमें लोग, जन्म कैसे लेते हैं ?

भृगु ने कहा—ब्राह्मण वह है जिसके जात कर्मादि संस्कार हुए हैं जो पवित्रता पूर्वक रहता है, जो वेद का अध्ययन करता है, जो षट्कर्म अर्थात् स्नान, सन्ध्या, जप, होम, देवपूजन, और अतिथि-सत्कार करता है। भीतर बाहिर शुद्ध रहता है। जो सदाचारी है, जो देवताओं के अर्पण करने के पीछे स्वयं भोजन करता है, जो गुरु को प्रिय है, जो नित्य व्रत रखता है और सदा सत्य बोलता है। ब्राह्मण वह कहलाता है जो सत्य भाषण करता है, जो दान देता है, जो किसी से द्रोह नहीं करता और जिसमें सौजन्य, शील, दया और तपोबल है।

क्षत्रिय वह है जो वैरी के साथ युद्ध करता है, जो वेदाध्ययन करता है, जो ब्राह्मणों को दान देता है और जो कर, ले कर कर देने वालों की रक्षा करता है।

वैश्य नाम से वह पुकारा जाता है, जो व्यापार, पशुरक्षा, कृषि कर्म करता है, जो दान देने में निष्ठावान् है और पवित्रता पूर्वक वेदाध्ययन करता है।

जो सब प्रकार की वस्तुएं खाने वाला है, जो सब प्रकार के काम करने वाला है, जो भीतर बाहिर अपवित्र रहता है, जो वेदाध्ययन त्याग देता है और आचार विचार से रहित है, वह शूद्र कहलाता है।

यदि उपर्युक्त सत्य आदि सात गुण शूद्र में देखे जाँय और ब्राह्मण में न पाये जाँय, तो वह शूद्र, शूद्र नहीं और वह ब्राह्मण, ब्राह्मण

नहीं है। प्रयत्न पूर्वक लोभ और क्रोध का त्याग करे। क्योंकि इससे बढ़ कर पवित्र ज्ञान और नहीं है। मन का संयम भी इसीको कहते हैं। लोभ और क्रोध मनुष्य का नाश करने के लिये सब से आगे खड़े रहते हैं। अतः मनुष्य को पूरा पूरा उद्योग कर, इनको आगे बढ़ने से रोकना चाहिये।

मनुष्य को उचित है कि क्रोध से धन की रक्षा करे; मत्सर से तप को बचावे, मान और अपमान से विद्या को दूर रखे और अपने शरीर की रक्षा प्रमाद से करे। हे द्विज! जो समस्त काम निष्काम हो करता है, और दान में जो पूर्ण निष्ठा रखता है, वही त्यागी और बुद्धिमान् कहलाता है। ब्राह्मण को प्राणि मात्र में अहिंसा भाव रखना चाहिये। वह सब के साथ मैत्री भाव रखे। स्त्री पुत्रादि की ममता में न पड़े। सावधानतापूर्वक मन को जीत ले। इस लोक और परलोक में ऐसे स्थान में रहे, जिसमें भय न हो और शोकशून्य हो। जिस मनुष्य को जीती हुई वस्तु को जीतने की इच्छा हो वह नित्य तप करे, मन और इन्द्रियों को वश में करे, मौन धारण करे, पुत्र स्त्री आदि के ऊपर ममत्व त्याग दे। इन्द्रियग्राह्य पदार्थ जो ग्रहण किये जा सकें वे व्यक्त और इन्द्रियातीत पदार्थ अव्यक्त कहलाते हैं। परब्रह्म अव्यक्त है। वह सूक्ष्म शरीर ही से जाना जाता है। मनुष्य गुरुवाक्य और वेदवाक्य रूपी विश्वास में मन को ओतप्रोत कर, मन को प्राण में धारण करे और प्राण को ब्रह्म में लगा दे। जब मनुष्य को संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है, तब ही उसे मोक्ष मिलता है। अतः ब्राह्मण योगसाधन कर और किसी भी वस्तु का विचार न कर, परब्रह्म ही का चिन्तवन करे। ब्राह्मण परम वैराग्य को धारण कर, परस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है। सदा भीतर बाहर पवित्र रहना, सदाचारी होना और प्राणी मात्र पर दया रखना, ये द्विजों के लक्षण हैं।

———

एकसौ नव्वे का अध्याय

सत्यासत्य

भृगु जी ने कहा—हे भरद्वाज ! वेद सत्य है, तप सत्य है, सत्य से इन दोनों की प्राप्ति होती है। सत्य प्रजा को रचता है। यह जगत् सत्य ही के आधार पर स्थित है। सत्य से मनुष्य स्वर्ग में जाता है। असत्य तम अर्थात् अज्ञान रूपी है और अज्ञान नरक में डालने वाला है। अज्ञानावृत पुरुष ज्ञानवान नहीं हो सकते। शास्त्रकारों ने स्वर्ग को प्रकाश और नरक को अन्धकार माना है। साँसारिक जन स्वर्ग और नरक दोनों प्राप्त करते हैं। इनमें सत्यासत्य, धर्माधर्म, प्रकाशाप्रकाश, दुःख सुख की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। सत्य है वह धर्म है, धर्म है वह प्रकाश है, प्रकाश है वह सुख है। असत्य ही अधर्म है, अधर्म ही तम है और तम ही दुःख है। जो ज्ञानी जन होते हैं वे शारीरिक और मानसिक दुःखों से और परिणाम में दुःखदायी सुखों से इस जगत को पूर्ण देख, मोह में नहीं फँसते। इस लोक तथा परलोक में प्राणियों के लिये सुख नाशवान है; अतः दुःखों से छूटने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। जिस प्रकार राहुग्रस्त चन्द्रमा की चान्दनी नहीं देख पड़ती, वैसे ही अज्ञान से दबे हुए प्राणियों को सुख नहीं देख पड़ता।

साँसारिक सुख दो प्रकार का होता है। एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। इस लोक में तथा परलोक में जो दृष्ट अदृष्ट फल रूप प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, कहते हैं कि, वे सुख पाने के लिये ही की जाती हैं। इस सुख से बढ़ कर त्रिवर्ग का सुख भी नहीं है। यह सुख आत्मा का गुण है और वाञ्छनीय है। इसी सुख के लिये धर्म और अर्थ आरम्भ किया जाता है। धर्माचरण से इस सुख की उत्पत्ति होती है। सब कर्म सुख प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं।

भरद्वाज ने पूछा—हे भृगु जी ! आपने बतलाया कि, यह सुख परम सुख है। परन्तु मेरी समझ में यह बात नहीं आती। योग में रहने वाले और तपस्वी महर्षि इस काम्य सुख को नहीं चाहते। मैंने सुना है कि, तीनों लोकों के रचयिता भगवान ब्रह्मा जी अकेले रहते हैं और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। किन्तु वे काम के सुख में अपना मन नहीं लगाते और विश्व के ईश्वर भगवान् उमापति शङ्कर ने काम को भस्म कर डाला था। अतः मैं कहता हूँ कि, महात्मा पुरुषों ने कामसुख को अङ्गीकार नहीं किया। अतः इसमें कोई उत्तम गुण भी नहीं है; अतः हे भगवन् ! आप जो कहते हैं कि, सुख से बढ़ कर कोई वस्तु नहीं; अतः इस बात पर मुझे विश्वास नहीं होता। लोग कहते हैं फल की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—पुण्य कर्म करने से सुख मिलता है और पाप कर्म करने से दुःख मिलता है।

भृगु ने कहा— इस विषय में ऐसा कहा जाता है कि, असत्य से अज्ञान उत्पन्न हुआ है। अतः असत्य बोलने वाले अज्ञान से ग्रसे हुए होते हैं। वे धर्माचरण न कर के अधर्म ही किया करते हैं। क्रोध, लोभ, हिंसा, असत्य आदि से ढके हुए मनुष्य को क्या इस लोक में और क्या परलोक में, सुख प्राप्त नहीं होता। किन्तु वह अनेक प्रकार की व्याधि, पीड़ा और सन्ताप से दुःखी होता है। वह वध तथा बन्धन के दुःख को भोगता है। भूख, प्यास और परिश्रम के दुःख से भी क्लेश उठाता है। वह वर्षा आँधी और अत्यन्त गरमी तथा अत्यन्त शीत से उत्पन्न हुए भय को और शारीरिक दुःखों को भोगता है। बन्धु जनों के कारण और धन की हानि होने से मन में दुःखी होता है। तथा बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख भोगता है। जिसको शारीरिक और मानसिक दुःखों का स्पर्श नहीं होता, वही सुख को जानता है।

स्वर्ग में बड़ा सुखदायक पवन चलता है, वहाँ तृप्तिकारक महक आती है। वहाँ भूख प्यास का दुःख नहीं सताता। वहाँ जरा का भय

नहीं है और पापभोग का दुःख भी नहीं होता। स्वर्ग में नित्य सुख ही है। इस मृत्युलोक में सुख और दुःख दोनों हैं। नरक में केवल दुःख ही दुःख है। अतः केवल सुखमय स्थान ही श्रेष्ठ है। पृथिवी प्राणी मात्र को उत्पन्न करने वाली है। इसी प्रकार की स्त्रियाँ भी हैं। पुरुष प्रजापति रूप है। पुरुष का वीर्य तेजोमय है। प्रथम ब्रह्मा ने लोकों को उत्पन्न किया था। पीछे लोग अपने अपने कर्मानुसार बर्ताव करने लगे।

एकसौ इक्यानवे का अध्याय

आश्रमधर्म

भरद्वाज जी ने पूछा— ब्रह्मन्! दान, तप, स्वाध्याय और हवन का क्या फल है?

भृगु जी ने उत्तर दिया— अग्नि में हवन करने से पाप नष्ट होता है। वेदों का स्वाध्याय करने से मन शान्त होता है, दान देने से ऐश्वर्य मिलता है और तप से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह धर्मशास्त्र का मत है।

दान दो प्रकार के होते हैं। एक इस लोक के लिये, दूसरा परलोक के लिये। जो दान सत्पात्रों को दिया जाता है वह परलोक में फलप्रद होता है और कुपात्रों को दिया हुआ दान इस लोक में फलप्रद होता है। जैसा दान दिया जाता है, वैसा ही उसका फल मिलता है।

भरद्वाज जी ने पूछा—किस अधिकारी को कैसा दान करना चाहिये? धर्म का लक्षण क्या है और वह कितने प्रकार का होता है?

भृगु जी ने कहा—विद्वान् एवं धर्माचरणी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। किन्तु जो धर्माचरणी नहीं हैं, वे सदा इसी संसार में पड़े पड़े सड़ा करते हैं।

भरद्वाज जी ने पूछा—अब मुझे आप ब्रह्मा जी के व्यवस्थित चारों आश्रमों के कर्त्तव्य पृथक् पृथक् सुनाइये।

भृगु जी ने कहा—भगवान् ब्रह्मा ने पहले ही से लोगों के कल्याण के लिये एवं धर्मसंरक्षणार्थ चार आश्रम बाँध दिये हैं। उनमें प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी को गुरु के घर में रहना पड़ता है, उसे वाह्य और आभ्यन्तरिक पवित्रता रखनी पड़ती है। समस्त संस्कारों से शरीर को संस्कृत करना पड़ता है। ब्रह्मचारी मन को वश में रखे, सायं प्रातः सूर्योपस्थान करे, हवन करें, देवतार्चन करे। ब्रह्मचारी आलस्य और तन्द्रा त्याग कर, गुरु को नित्य प्रणाम करे, वेदाध्ययन करे। गुरु के प्रवचन को सुन, उस पर मनन करे और मन को पवित्र करे। प्रातः, मध्यान्ह और सायङ्काल—त्रिकाल स्नान करे। नित्य भिक्षा माँग कर लावे और भिक्षा में प्राप्त समस्त पदार्थ गुरुदेव को अर्पित करे। गुरु की आज्ञा का पालन कर उनकी कृपा सम्पादन करे तथा वेदाभ्यास में संलग्न रहे। ब्रह्मचर्य के विषय में एक श्लोक है जिसका अर्थ यह है—जो ब्राह्मण गुरु के निकट रह, वेदाध्ययन करता है उसकी समस्त मनोभिलाषाएँ पूरी होती हैं और मरने पर स्वर्ग प्राप्त होता है।

विद्वानों के मतानुसार ब्रह्मचर्य के बाद दूसरा आश्रम है गृहस्थ। अब गृहस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्य कर्म मैं तुम्हें बतलाता हूँ। सुनो।

जो ब्रह्मचारी गुरुगृह में वास कर वेदाध्ययन समाप्त कर चुके हों और अपने घर लौट आये हों, जो सदाचारी हों और जिन्हें पत्नी सहित धर्माचरण करने की इच्छा हो, वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ बन जायँ। गृहस्थाश्रम में रहने से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। अतः इस आश्रम में धर्मादि का साधन कर तथा अनिन्दित कर्मों को कर धनोपार्जन करे। अर्थात् वेदाध्ययन कर के अथवा पढ़ा कर, ब्रह्मर्षियों के बतलाये विधान से याग करावे, वेदों का दूसरों को अभ्यास करावे और दान ले, मणि, दिव्य दवा या स्वर्ण आदि की खानों द्वारा धनोपार्जन करे। हवन कर पितरों को बलिदान दे, देवताओं को प्रसन्न कर, उनके अनुग्रह से द्रव्योपार्जन करे। इस द्रव्य से गृहस्थ, गृहस्थी का व्यय निर्वाह करे।

गृहस्थाश्रम समस्त आश्रमों का मूल कहलाता है। जो ब्रह्मचारी गुरुगृह में रहते हों वे ब्रह्मचारी और संन्यासी तथा सङ्कल्प पूर्वक व्रत, नियम और धर्मानुष्ठान करने वाले—सब को भिक्षा, बलिदान और ठीक ठीक अंश प्राप्त होता है।

वानप्रस्थ को धनादि सामग्री संग्रहीत न करनी चाहिये। वे सतोगुण-वर्द्धक और हितकर अन्न को खावें। साँसारिक झंझटों में न पड़, स्वाध्यायनिरत रहें। तीर्थसेवन तथा देशों को देखने के लिये भ्रमण करें। जब कोई वानप्रस्थ किसी गृहस्थ के घर जाय, तब उसे देख गृहस्थ को उठ खड़ा होना चाहिये। फिर उसके निकट जा गृहस्थ को प्रणाम करना चाहिये। गृहस्थ, वानप्रस्थ के साथ वार्त्तालाप करते समय ईर्ष्या रहित वचन कहे, सुखप्रद आसन बैठने को दे, सोने को बिस्तर दे, भोजन करावे और सत्कार करे। इस विषय में यह श्लोक है—जिस गृहस्थ के घर से कोई अतिथि हताश हो लौट जाता है, वह अतिथि अपने समस्त पाप उस गृहस्थ को दे और उसके पुण्य को ले जाता है।

गृहस्थों के किये हुए यज्ञभाग से देवता और श्राद्ध तर्पण से पितर जन तुष्ट होते हैं। विद्याभ्यास, शास्त्र-श्रवण और शास्त्रों के उपदेशानुसार चलने से ऋषि गण प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार पुत्रोत्पन्न करने से प्रजापति प्रसन्न होते हैं। इस सम्बन्ध के दो श्लोक हैं, जिनका अर्थ यह है कि, गृहस्थ सब से प्रेमभाव रखे और सदा कर्णमधुर वचन कहे। दूसरे को सताना, दूसरों को मारना पीटना या गालियाँ देना, गृहस्थ के लिये निन्द्य कर्म हैं। किसी का अपमान करना, अभिमान दिखलाना, छल रचना, गृहस्थ के लिये वर्जित है। अहिंसा, सत्यभाषण और क्रोध को जीतना—ये तीन बातें समस्त आश्रम वालों के लिये तप रूप मानी गयी हैं। गृहस्थ पुष्पहार पहिने, आभूषण पहिने, विविध प्रकार के वस्त्र पहिने, नित्य स्नान करे, नित्य विविध प्रकार के भोगों का उपभोग करे। नित्य कर्णमधुर गीत वाद्य सुने। नेत्रानन्ददायिनी वस्तुओं को देखे, भाक्-

काल भक्ष्य, लेह्य, पेय और योग्य पदार्थ खावे पीवे। वह विहार कर, काम-सुख को प्राप्त करे। जिस गृहस्थ का मन धर्म, अर्थ, काम तथा सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की ओर से हट जाता है, वह सुखानुभव और शिष्टोचित पुरुषों की गति प्राप्त करता है। जो गृहस्थ उञ्छवृत्ति से निर्वाह करता और धर्म कर्म किया करता है साथ ही कामेच्छा या सुखेच्छा से कोई काम नहीं करता, वह निश्चय ही स्वर्ग प्राप्त करता है।

एक सौ बानवे का अध्याय

परलोक

अर्जुन ने कहा—हे भरद्वाज! वानप्रस्थाश्रमी लोग, उन्हीं कर्मों को करें, जो ऋषिगण किया करते हैं। वे पावन तीर्थों में, नदीतटों पर, झरनों के निकट, एकान्त स्थलों पर अथवा मृग, महिष, व्याघ्र, गज सेवित वनों में रह कर तपस्या करें। ग्रामों में वास करना, उत्तम वस्त्रों का पहिनना, उत्तमोत्तम भोजन करना त्याग दें। सामाँ आदि वन में उत्पन्न होने वाले अनाज तथा फल, कन्द आदि पदार्थ नियमित रूप से खावें। एक स्थान पर आसन लगा कर बैठें। भूमि पर, चट्टान पर, रेतीली भूमि पर अथवा राख के ढेर पर वे सोवें। काँस या कुशा के बने वस्त्रों, मृग-छाला अथवा वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों से शरीर ढकें। डाढ़ी, मूँछ, सिर के बाल तथा नख और शरीर के रोमों को रखावें। नित्य नियम से ठीक समय पर स्नान करें। यथासमय बलिवैश्वदेव करें। प्रतिदिन समिधाएँ और कुशा लावें। देवताओं के पूजन के लिये नित्य पुष्प लावें। नित्य अपने आश्रम को झाड़ बुहार कर साफ किये बिना आराम न करें। ठंढ, गर्मी, वर्षा और तूफ़ान चलने पर जहाँ के तहाँ बैठे रहें, जिससे शरीर का सारा चर्म तड़क जाय। वे विविध नियमों

का पालन करें, तथा महायज्ञ करें और परिमित भोजन करें। वन में घूमें फिरें। ऐसे कर्म करें जिनसे शरीर का माँस और रुधिर सूख जाय। शरीर में हड्डी हड्डी ही रह जायँ। वे धैर्य पूर्वक ऐसे शरीर से वानप्रस्थ आश्रम में रहें।

जो पुरुष महर्षि-निरूपित इस योगचर्या को नियमित रूप से कार्य रूप में परिणत करता है, वह अपने दोषों को वैसे ही भस्म कर डालता है, जैसे अग्नि किसी पदार्थ को और मरने बाद दुर्जेय लोकों में गमन करता है।

संन्यासियों के कर्त्तव्य कर्म इस प्रकार हैं। संन्यासी अग्निहोत्र, धन, स्त्री, घर की समस्त सामग्री को त्याग कर, साँसारिक पदार्थों से ममत्व खींच ले। मिट्टी पत्थर और सोने को संन्यासी समान समझे। धर्म, अर्थ, काम में न फंसे। शत्रुमित्र तटस्थ को समान दृष्टि से देखे, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियों का मनसा, वाचा, कर्मणा अनिष्ट न करे। रहने के लिये आश्रम या घर न बनावे। किन्तु किसी पहाड़ पर, किसी नदी के तट पर, किसी वृक्ष के नीचे किसी देवालय में अथवा किसी ग्राम में या नगर में भ्रमण करता हुआ रहने को जाय। नगर में पाँच रात एक स्थान पर रहे। गाँव में एक रात रहे। शरीर धारण करने के लिये किसी सदाचारी ब्राह्मण के घर से भिक्षा माँग लाया करे। अयाचित अपने पात्र में जितना भिक्षान्न आजाय उतना ही खावे। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान और हिंसा को संन्यासी त्याग करे। इस सम्बन्ध में कई एक श्लोक प्रसिद्ध हैं। उनका अर्थ यह है। जो मुनि समस्त प्राणियों को अभय प्रदान कर, इस धरामण्डल पर विचरा करता है, उसे किसी भी प्राणी से भय नहीं रह जाता। जो ब्राह्मण, अग्निहोत्र को अपने शरीर में स्थापन कर, भिक्षान्न के हवि से अपने मुख में हवन करता है—वह ब्राह्मण उसी लोक में जाता है, जिसमें भजन करने वाले मुनिगण जाते हैं। जो ब्राह्मण शरीरस्थ

आत्माग्नि में हवन कर शारीरिक अग्नि को उसके उत्पत्ति-स्थान मुख (ब्रह्म) में होमता है अर्थात लीन कर देता है वह ब्राह्मण ब्रह्मलोक में जाता है। जिस द्विज की बुद्धि सङ्कल्पों विकल्पों से शून्य रहती है, वह पवित्र हो शास्त्रोक्त विधान से संन्यासाश्रम ग्रहण करता है। वही संन्यासी धूम्र रहित अग्नि के समान सम्पूर्णतः शान्तलोक में जा निवास करता है।

भरद्वाज जी ने पूछा—हे भृगु जी! सुना जाता है, किन्तु देख तो नहीं पड़ता कि, इस लोक के अतिरिक्त कोई परलोक भी है। मैं उसी लोक के विषय में आपके मुख से सुनना चाहता हूँ। अतः आप मुझे परलोक का वर्णन सुनावें।

भृगु जी बोले—हिमालय से उत्तर एक स्थान है जो बड़ा पवित्र, पुण्यप्रद, शुभप्रद एवं वाञ्छनीय है। उसीका नाम परलोक है। इस लोकवासी जन, पापकर्म विवर्जित, भीतर बाहर समान रूप से पवित्र, अति निर्मल, लोभ और मोह से शून्य तथा उपद्रव रहित हैं। परलोक स्वर्ग जैसा है। वहाँ समस्त शुभ कर्म करने वाले रहते हैं। समाधि के समय आत्मा की ईश्वर रूप वृत्ति हो जाती है। समाधि लगाने वाले को व्याधियां नहीं सतातीं। वहाँ के निवासी लम्पट नहीं होते। वे सब अपनी अपनी स्त्रियों ही में अनुरक्त रहते हैं। उनमें आपस में भेद-भाव नहीं होने पाता। इससे उन लोगों में मार काट लड़ाई झगड़े नहीं होते। मन में सङ्कल्प का उदय होते ही वहाँ धन प्राप्त हो जाता है। वहाँ कोई मिथ्या भाषण नहीं करता। वहाँ के रहने वालों के मनों में किसी बात का सन्देह भी नहीं होता। वहाँ किये हुए कर्म का फल प्रत्यक्ष मिलता है। वहाँ मन्दिरों और महलों में विविध प्रकार के खाने पीने की सामग्री हैं। बैठने को आसन रहते हैं। वहाँ के लोग सुवर्ण के आभूषण धारण करते हैं। उनकी समस्त कामनाएं वहाँ परिपूर्ण हो जाती हैं। कोई कोई समस्त वासनाओं को त्याग कर, केवल प्राण धारण किये रहते हैं। परलोक में कोई कोई तो बड़े प्रयास से प्राणरक्षा करते हैं।

इस लोक में कितने ही लोग धर्मपरायण हैं, कितने ही कपटाचारी हैं, कितने ही सुखी हैं, कितने ही दुःखी हैं, कितने ही निर्धन हैं और कितने ही धनवान् हैं। इस लोक में प्रयास, भय, मोह और तीव्र क्षुधा सताती है। यहाँ के मनुष्य लोभी होते हैं, इसीसे मूढ़ जन मोहित हो जाते हैं। मर्त्यलोक में धर्माधर्म उत्पन्न करने वाले बहुत से मत हैं। ज्ञानी जन धर्म को ग्रहण कर त्याज्य अधर्म को त्याग देते हैं। ऐसे ही लोग पाप में कभी लिप्त नहीं होते। दम्भ, ठगी, चोरी, निन्दा, गुण में दोषारोपण, दूसरे का नाश, हिंसा, चुगली, मिथ्याभाषण, का जो पुरुष सेवन करता है, उसकी तपस्या नष्ट हो जाती है। किन्तु जो इनको त्याग देता है, वह बड़ी भारी तपस्या का फल प्राप्त करता है।

क्या धर्म है और क्या अधर्म—भूलोक में इस पर अनेक प्रकार के विचार हैं। मर्त्यलोक कर्मभूमि है। अतः इस लोक में जो कुछ शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं, उनसे वह शुभाशुभ फल प्राप्त करता है। सर्वप्रथम, तप-प्रेमी प्रजापति, देवगण और ऋषि इस लोक में तप द्वारा पवित्र हो ब्रह्मलोक में जा चुके हैं। भूलोक से उत्तर जो प्रदेश है, वह बड़ा पावन एवं शुभ है। इस लोक में रह कर, जो मनुष्य पुण्य कर्म करते हैं, वे ही उस लोक में जा कर जन्म लेते हैं। किन्तु जो लोग इस लोक में रहने के काल में योगाभ्यासी हो जाते हैं, वे उस लोक में जाते हैं। जो लोग इस लोक में योगविद्या का सम्मान नहीं करते, वे पशु आदि की निकृष्ट योनियों में जन्म लेते हैं। कितने ही मनुष्य तो स्वयं अपने हाथों अपना सर्वनाश कर डालते हैं और मरने के बाद अधोगति को प्राप्त होते हैं। जो लोग लोभ और मोह में फँस जाते हैं, वे आपस ही में एक दूसरे को खा जाने के लिये उद्यत रहते हैं। ऐसे लोगों को बार बार मर्त्यलोक में आना जाना पड़ता है। वे उत्तर दिशास्थ लोक में नहीं जा पाते। किन्तु जो नियमानुसार इन्द्रियों

को वश में रखते हैं और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते तथा गुरुसेवा किया करते हैं, उन विवेकी मनुष्यों को समस्त लोकों में आने जाने के मार्ग मालूम रहते हैं।

हे भरद्वाज ! वेदोक्त धर्म मैंने तुम्हें संक्षेप से सुना दिया। जो धर्माधर्म को जानता है वह पुरुष बड़ा बुद्धिमान् है।

भीष्म जी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! जब इस प्रकार महर्षि भृगु ने प्रतापी भरद्वाज से कहा, तब परम धर्मात्मा भरद्वाज ने विस्मित हो भृगु जी की पूजा की।। हे धर्मराज ! मैंने तुम्हें जगत् की उत्पत्ति का वृत्तान्त विस्तार से सुना दिया, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो, बतलाओ ?

एकसौ तिरानवे का अध्याय

आचार

युधिष्ठिर कहने लगे—हे पितामह ! अब मैं आचार के सम्बन्ध में आपके मुख से कुछ सुनना चाहता हूँ। क्योंकि मुझे मालूम है कि, आप सर्वज्ञ हैं।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! तुम उन लोगों को दुष्ट जान लेना जो दुराचारी, दुष्ट चेष्टावाले, दुष्टमति और दुस्साहस प्रेमी हैं। क्योंकि सत्पुरुष तो सदाचारी हुआ करते हैं। जो मनुष्य राजमार्ग पर, गोष्ठ में और अनाज से पूर्ण क्षेत्र में पेशाब टट्टी नहीं फिरते, उन्हें तुम सत्पुरुष जानना। टट्टी फिर के हाथ पैर धो कर पवित्र हो जाना चाहिये। तदनन्तर नदीजल में स्नान कर आचमन करना चाहिये। फिर नदीजल से पितृतर्पण करे। द्विजों को नित्य सूर्योपस्थान करना चाहिये। सूर्योदय होने पीछे सोवे नहीं; प्रातः सन्ध्योपासन पूर्व की ओर मुख

कर के करे और सायं सन्ध्योपासन पश्चिम की ओर मुख कर के करे। भोजन करने के पूर्व दोनों हाथ; दोनों पैर और मुख धो डाले। पूर्व की ओर मुख कर भोजन करे। भोजन करते समय न तो बोले और न परोसे हुए भोजन की निन्दा करे।

भोजन कर चुकने बाद हाथ पैर धो डाले। भींगे पैर सोवे नहीं। यह आचार देवर्षि नारद कथित है। रास्ता चलते समय यदि मार्ग में कहीं कोई यज्ञशाला, वैल, देवता, गोशाला, चौराहा, ब्राह्मण, धर्मात्मा मनुष्य, वट आदि पवित्र वृक्ष मिले तो उनकी प्रदक्षिणा करे। अतिथियों, अनुचर वर्ग, परिवार वाले और पोष्यजनों को भोजन कराते समय पंक्तिभेद न करे।

वेद में कहा है कि प्रातः सायं दो जून मनुष्य भोजन करे। इन दोनों समयों के मध्य भोजन न करे। जो मनुष्य निर्दिष्ट समय पर भोजन करता है वह पर-व्रत-धारी माना जाता है। होम करने के समय जो मनुष्य अग्नि में हवन करता है, ऋतुमती पत्नी के साथ समागम करता है, वह बुद्धिमान् जन ब्रह्मचारी माना जाता है। ब्राह्मण-भोजन से बचा हुआ अन्न माता के दूध की तरह गुणकारी और अमृत की तरह स्वादिष्ट होता है। जो सत्य रूप ऐसा स्वादिष्ट भोजन करते हैं, वे परब्रह्म को पाते हैं। जो मनुष्य अकारण मिट्टी के ढेले फेंकता रहता है तिनके तोड़ा करता है, दाँतो से नख कुतरा करता है, सदा जूठे हाथों रहता है, ऐसा ढोंगी पुरुष भले ही पण्डित हो; किन्तु वह पिंजड़े में बंद पराधीन तोते की तरह इस जगत् में दीर्घायु नहीं होता।

जिसने माँस खाना छोड़ दिया हो, वह यजुर्वेदज्ञ अध्वर्यु का संस्कारित यज्ञ का माँस भी न खाय। मनुष्यों के खाने के लिये मारे गये पशुओं का तथा श्राद्धशेष माँस भी न खाना चाहिये। अपने घर पर या विदेश में रहने के समय अपने डेरे पर यदि अतिथि आवे तो, उसे भूखा न रखे। वृत्ति द्वारा जो कुछ अन्नादि प्राप्त हो, वह सब पितादि गुरु जनों के आगे

रख दे। जब कोई गुरुजन अपने निकट आवे, तब ऐसा करने से मनुष्य आयु, यश और धन पाते हैं। उदयकालीन सूर्य को और नग्न परस्त्री को न देखे। अपनी स्त्री के साथ भी समागम ऋतुकाल में करे, सो भी एकान्त स्थान में करे। सर्वतीर्थमय गुरुक्षेत्र हैं। सर्व-पदार्थ-मय अग्नि है। गौ की पूंछ के बालों का स्पर्श करना आदि शिष्ट पुरुषोचित कर्म हैं, ये सब प्रशंसनीय हैं।

जब कभी किसी परपुरुष से भेंट हो, तब उससे कुशल समाचार पूछे। प्रातः सायं ब्राह्मणों को प्रणाम करे। देवालयों में, गौओं के बीच में, ब्राह्मणों के कामों में वेदशास्त्र के स्वाध्याय में और भोजन के समय द्विज वर्ण अपना दहिना हाथ ऊँचा रखे। सायं प्रातः ब्राह्मणों का यथा-विधि पूजन करे। क्योंकि ब्राह्मण-पूजन करने से व्यापारियों का व्यापार अच्छा चलता है, किसानों की खेती बारी अच्छी होती है और धान्य बढ़ते हैं और इन्द्रिय सुखदायी उत्तम पदार्थ मिलते हैं। यजमान ब्राह्मणों को भोजन कराते समय उनसे पूछे सुसम्पन्नम् अर्थात् पर्याप्त तो है। उत्तर में भोजन करने वाला ब्राह्मण कहे—सुसम्पन्न है, पर्याप्त है। ब्राह्मण को जल परोस कर पूछे तर्पणम्, तृप्तिकारक है न? ब्राह्मण कहे यजमान, सुतर्पणम्—अत्यन्त तृप्तिकारक है। खिचड़ी या खीर दे कर कहे—शृतम् अच्छी तो बनी है? ब्राह्मण कहे—सुशृतम्—बहुत अच्छी बनी है।

बाल बनवाते समय, छींक आने के समय, स्नान, भोजन करते समय, सब लोगों को ब्राह्मणों को प्रणाम करना चाहिये। यह प्रणाम आयुप्रद है। सूर्य के सम्मुख बैठ पेशाब न करे। अपना विष्ठा न देखे। स्त्री के साथ एक सेज पर न सोवे और न एक थाली में स्त्री के साथ भोजन करे। जो अपने से बड़े हों, उनके साथ तू तड़ाक न करे। उनका नाम न ले। यदि समान वयस्क या अपने से अवस्था में छोटे लोगों के साथ तू कह कर बातचीत की जाय तो दोष नहीं। पापी का हृदय ही किये हुए पाप को कह देता है। जो जान बूझ कर अपने पाप को बड़े

लोगों से छिपाता है, वह नष्ट हो जाता है। ऐसा वे ही लोग करते हैं जो मूर्ख होते हैं। यद्यपि छिप कर किये हुए पाप को मनुष्य नहीं देखते पर देवता तो देखते हैं। पापी जब अपना पाप छिपाता है, तब वह पाप उसको और भी अधिक पापी बनाता है। इसी प्रकार जो धर्मात्मा अपने धर्मानुष्ठान छिपा कर करता है, उसके धर्मानुष्ठान में वृद्धि होती है।

मूर्ख जन पाप कर उसे याद नहीं रखता। किन्तु वह पाप उस पापी का पीछा नहीं छोड़ता। जैसे राहु चन्द्रमा को ग्रसता है, वैसे ही पाप पापी जन को पकड़ता है। बड़ी आशा लगाने के बाद सञ्चित किया हुआ द्रव्य बड़े दुःख से भोगने में आता है। विद्वान् उस धन की प्रशंसा नहीं करते और कालदेव यह प्रतीक्षा नहीं करता कि, अमुक ने अपने सञ्चित द्रव्य का उपभोग नहीं किया। अतः उसे न ग्रसूँ।

विद्वान् पुरुषों का कथन है कि, धर्म मन शुद्ध होने पर ही यथारीत्या होता है। अर्थात् मन शुद्ध हुए विना धर्माचरण नहीं होता। अतः प्रत्येक मनुष्य मन से सब की भलाई चाहे। धर्माचरण में किसी अन्य पुरुष की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य तो वेदोक्त धर्म अकेला ही कर सकता है। धर्म ही मनुष्यों की जड़ है। धर्म ही से स्वर्गस्थ देवता अमरत्व को प्राप्त होते हैं। जो धर्म करते हैं, वे मरण के अनन्तर नित्य सुख भोगते हैं।

एकसौ चौरानवे का अध्याय

अध्यात्मज्ञान

युधिष्ठिर ने पूछा— हे भीष्म पितामह! शास्त्र कहता है, मनुष्य का अध्यात्म नाम धर्म रूप कर्म इस लोक में प्रसिद्ध है वह आप मुझे बतलावें। यह जड़ चैतन्य रूप जगत कहाँ से उत्पन्न हो गया? और प्रलय काल में नष्ट कैसे होता है?

भीष्म जी बोले—हे कुन्तीनन्दन! अध्यात्म सम्बन्धी तेरे इस प्रश्न के उत्तर में, मैं तुझे अत्यन्त कल्याण करने वाले और सुखकारक अध्यात्म ज्ञान की व्याख्या सुनाऊँगा। अध्यात्म ज्ञान को आचार्यों ने सृष्टि और प्रलय की उत्पत्ति के साथ दिखलाया है। उसको जान कर, मनुष्य इस जगत में प्रसन्नता और सुख प्राप्त करता है। उसकी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं। उसका सब ज्ञान सब प्राणियों का हित करने वाला है। पृथिवी, वायु, आकाश जल, और तेज ही सब प्राणियों के प्रादुर्भाव और तिरोभाव के कारण हैं। जैसे सागर की तरङ्गे सागर से उठ कर सागर ही में लय को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही समस्त प्राणी पाँच तत्वों से उत्पन्न हो, पाँच तत्वों ही में समा जाते हैं। जैसे कछुवा अपने अँग फैला कर फिर उन्हें अपने शरीर में सकोड़ लेता है, वैसे ही पाँचों तत्व अपने जीवों से उत्पन्न कर, पुनः उन्हें अपने में लीन कर लेते हैं। प्राणियों को उत्पन्न करने वाले आत्मा ने समस्त भूतों में पञ्चमहाभूतों को विषय रूप से स्थित कर रखा है। इसे जीवात्मा देख नहीं सकता। शब्द, श्रोत्र, इन्द्रिय और इन्द्रियों का खुलला भाग आकाश से, स्पर्श, चेष्टा, और त्वचा–ये तीन वायु से, रूप, चक्षु और जाठराग्नि–इन तीन को उत्पत्ति तेज से हुई है। रसीलापन, गीलापन और जिह्वा ये तीन जल महाभूत के गुण हैं। घ्रेय, घ्राण और शरीर–ये तीन भूमि के गुण हैं। ये ही पाँचों तत्वों का विस्तार है। छठवाँ मन है। पाँच इन्द्रियाँ और छठवाँ मन ज्ञान के साधन हैं। सातवीं बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ विषयग्राहिणी हैं, मन का काम सङ्कल्प विकल्प करना है, बुद्धि का काम निश्चय करना है और आत्मा साक्षीरूप है। साक्षी एवं चैतन्य आत्मा पातल से शिखा पर्यन्त सारे शरीर को रखता है। पाँचों इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को प्रत्येक मनुष्य को पूर्णतया जान लेना चाहिये। सत्त्व, रज और तम भी इन्द्रियों के मन के और बुद्धि के आश्रित हैं। इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति को, आकाशादि पञ्चतत्वों

की उत्पत्ति और उनके लय को बुद्धिपुरस्सर जान कर, मनुष्य को क्रमशः वैराग्य और विवेक की वृद्धि करनी चाहिये। ऐसा करने से उत्तम सुख शान्ति प्राप्त होती है। सत्वादि गुण बुद्धि को खींच कर विषयों में लगाते हैं। विषयाकार बुद्धि ही इन्द्रिय और मन है। अतः पाँचों इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिगम्य विषय, इनके साथ समता रखते हैं। किन्तु जब बुद्धि उद्बोधित कर दी जाती है, तब सत्वादि गुणों का प्रभाव अपने आप दूर हो जाता है। स्थावर जङ्गमात्मक सफल संसार बुद्धिरूप है। जब बुद्धि का लय होता है, तब ये सब भी लय को प्राप्त हो जाते हैं। अतः वेद इस जगत् को बुद्धिमय करता है। बुद्धि जिसके द्वारा देखती है वह चक्षु, जिसके द्वारा सुनती है वह कर्ण, जिससे सूंघती है वह नाक, जिसके द्वारा रसास्वादन किया जाता है वह रसना और जिससे स्पर्श का ज्ञान होता है वह त्वचा है। इस प्रकार बुद्धि ही बारंबार विकारों को प्राप्त कर, जिन विषयों को ग्रहण किया करती है, उन्हीं उन्हीं रूपों वाला मन हो जाता है। पृथक् पृथक् विषयों को ग्रहण करने वाली पाँच प्रकार की बुद्धि अधिष्ठान इन्द्रिय कहलाती है। पुरुषों की बुद्धि सत्त्व, रज और तम में रहती है। उसके कारण कभी प्रसन्नता और कभी शोक प्राप्त होता है। कभी कभी उसे सुख और दुःख बाधा नहीं दे सकता। अतः मनुष्य की बुद्धि के तीन भाव हुआ करते हैं और बुद्धि ही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्ति करती है। जैसे नदीपति सागर अपनी विशाल तरङ्गों से तट को अतिक्रम कर जाता है, वैसे ही त्रिगुणात्मिका बुद्धि भी सत्वादि तीनों गुणों को अतिक्रम करती है। सत्वादि को अतिक्रम करने वाली बुद्धि शुद्धता से मन में रहती है और प्रवृत्त करने वाला रजोगुण उस बुद्धि के पीछे फिरता है। जब बुद्धि सब इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त कर देती है, तब प्रेमवश सत्व और तमोगुण भी बुद्धि के अनुयायी बन जाते हैं। इसमें प्रीति सत्वगुण रूप और शोक रजोगुण रूपी तथा मोह तमोगुण रूपी हैं। इस संसार में शम दम आदि जो भाव हैं, वे सब सत्वादि तीन गुणों में रहते हैं।

हे धर्मराज ! बुद्धि की समस्त गतियां ये ही हैं। बुद्धिमान् जन का कर्त्तव्य है कि वह इन्द्रियों को जीते। सत्व, रज और तम प्राणियों के आश्रित हैं। हे भरतसत्तम ! प्राणियों की बुद्धि सात्वकी, तामसी और राजसी हुआ करती है। सत्व गुण सुखप्रद, रजो गुण दुःखप्रद है। जब दोनों सतो गुण और रजो गुण, तमोगुण के साथ मिल जाते हैं, तब सुख दुःख कुछ भी न हो कर मोह उत्पन्न हो जाता है। जब शरीर में या मन में अनुराग युक्त भाव देख पड़े, तब समझ ले कि इस समय सात्विक भाव का उदय हुआ है। जब अप्रसन्नता या दुःख का भाव हो तब रजोगुण का प्राधान्य समझना चाहिये। रजोगुण के चिन्तवन से दुःख बढ़ता है। जिसके मन में और शरीर में मोह उत्पन्न हो और कोई विषय स्पष्ट रूप से समझ में न आवे और बहुत सोचने विचारने पर भी न समझ पड़े उसे तमोगुण का कार्य समझो। किसी भी कारणवश अत्यन्त हर्ष का होना, सुख होना और चित्त को शान्ति का प्राप्त होना, सत्व गुण का काम समझना चाहिये। असन्तोष, सन्ताप, शोक, लोभ—ये सब किसी कारण से या कारण विना ही उत्पन्न हों तो जान लो कि यह रजोगुण का कार्य है। जब किसी कारणवश या भाग्यदोष से अपमान हो, मोह हो, प्रमाद हो, निद्रा हो, तन्द्रा सतावे, तब समझ ले कि ये सब तमोगुण के भाव हैं।

जिसका मन दुष्प्राप्य वस्तु की प्राप्ति के लिये लालायित हो, एक साथ ही अनेक विषयों की ओर दौड़े, याचना करने में सकुचावे, तथा सुनियमित हो, वह मनुष्य उभयलोकों में सुखी रहता है। बुद्धि-सत्व और क्षेत्रज्ञ दोनों सूक्ष्म हैं, तथापि तुम इन दोनों में जो अन्तर है उसको देखो। एक बुद्धि सत्व अर्थात् अहङ्कार को उत्पन्न करने वाला है, द्वितीय क्षेत्र को। परन्तु यह रहता साक्षी रूप से है। मच्छर और गूलर के फल का कीट एक समान जान पड़ते हैं, तथापि वे पृथक् पृथक् हैं। इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ और बुद्धि के लिये लागू है। सत्त्वादि गुण

जड़ हैं। अतः वे क्षेत्रज्ञ को अथवा स्वयं अपने को नहीं जान सकते, किन्तु क्षेत्रज्ञ चेतन होने से उनको भली भाँति जानता है। अहङ्कारादि समस्त गुणों को क्षेत्रज्ञ पुरुष देखने वाला है। वह यह भी जानता है कि, उसीसे समस्त गुणों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि पाँचो इन्द्रियां, छठवां मन सातवीं बुद्धि चेष्टाहीन एवं ज्ञानहीन हैं; तथापि परमात्मा इनके द्वारा दूसरे पदार्थों का प्रकाश दीपक की तरह करता है। वह सत्त्व अर्थात् बुद्धि को रचता है और क्षेत्रज्ञ उसका द्रष्टा है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का सम्बन्ध अनादि काल से है। बुद्धि और क्षेत्रज्ञ किसी के भी आश्रित नहीं हैं। बुद्धि मन को प्रकाशित करती है—गुणों को कदापि नहीं। जब आत्मा, मन की सहायक इन्द्रियों से निकलने वाली रश्मियो को नियमित रूप से नियंत्रित रखता है, तब वैसे ही उसका प्रकट रूप देख पड़ता है, जैसे बाहर निकालने पर घड़े में जलते हुए दीपक का। जो मनुष्य साँसारिक झमेलों से दूर रह, आत्मा पर प्रीति रखता है, मौन रहता है, समस्त प्राणियां को आत्मतुल्य मानता है, वह उत्तम गति पाता है, जैसे जलचारी हंस जल में घूमने पर भी जल में नहीं भींगता, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पुरुष संसार में रह कर भी संसार में लिप्त नहीं होता। यह निर्लेपपना आत्मा का स्वभाव है। मनुष्य को उचित है कि, वह ऐसा समझ कर, संसार में विहरे। दुःख पड़ने पर शोक न करे और सुख प्राप्त होने पर हर्ष न माने। सब पर समान दृष्टि रखे और किसी से बैर विरोध न करे, जो पुरुष ऐसे रहता है, वह गुणों को वैसे ही उत्पन्न कर सकता है, जैसे मकड़ी जाले के तारों को। कुछ लोगों का कहना है कि ऐसे पुरुष का गुणों के साथ सम्बन्ध नहीं छूटता। कोई कहते हैं कि, छूट जाता है। प्रथम मतवाले जो कहते हैं कि, सम्बन्ध नहीं छूटता वे प्रत्यक्षतः वेद का प्रमाण देते हैं। और जो कहते हैं कि, सम्बन्ध छूट जाता है वे परोक्षतः श्रुति का प्रमाण देते हैं। अतः विचार कर अपनी बुद्धि से दोनों मतों पर विचार कर निश्चय

करे। बुद्धि में भेद उत्पन्न करने वाले इस सन्देह रूपी हृदय की ग्रन्थि खोल डाले। ऐसा कहने पर मनुष्य को किसी प्रकार का शोक नहीं रहता और वह सुख से समय बिताता है। जैसे मलिन मनुष्य जल से भरी हुई नदी में स्नान कर के पवित्र हो जाते है, वैसे ही ज्ञान रूपी नदी में स्नान करके वे लोग पवित्र हो जाते हैं, जिनका अन्तःकरण मलिन होता है। नदी पार करने वाले पुरुष को नदी का अपर तट देखने मात्र से सफलता प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत नौका द्वारा पार पहुँचने पर ही वह कृतार्थ होता है। किन्तु आत्मतत्व का स्वरूप इससे भिन्न है। आत्मज्ञानी जन, सन्तप्त नहीं होता। प्रत्युत वह आत्मज्ञ होने ही से कृतार्थ हो जाता है। हृदयस्थित परमात्मा को जो पुरुष जान लेता है, जो पुरुष प्राणियों की उत्पत्ति और लय का रहस्य जान लेता है और धीरे धीरे अपनी बुद्धि से उसकी परीक्षा करता है, वह योग के द्वारा सत्य वस्तु को जान कर परम सुख पाता है। जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को जान कर त्याग देता है और मन ही मन आत्मतत्व को खोजा करता है—फिर उसे किसी अन्य वस्तु के जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसा ही पुरुष तत्वदर्शी कहलाता है। जो इन्द्रियाँ अनेक विषयों की ओर सदा दौड़ा करती हैं और जिन्हें, मन को अपने वश में न रखने वाले, पुरुष रोक नहीं सकते, उन इन्द्रियों द्वारा पृथक् पृथक् उद्योग करने पर किसी को भी आत्मदर्शन नहीं होता। परमात्मा को जानने वाला ज्ञानी कहलाता है। विद्वज्जन परमात्मा के स्वरूप को जान कर ही अपने जन्म को सफल समझते हैं। अज्ञानी जन साँसारिक दुःख से बहुत डरा करते हैं, परन्तु ज्ञानी लोगों को साँसारिक दुःख नहीं सताते। मुक्ति तो वैसे दोषों के लिये समान है, किन्तु साँसारिक अज्ञान के कारण मोक्ष में भी असामानता सी देख पड़ती है। निष्काम कर्म करने वाला पुरुष पूर्व-जन्म-कृत तथा वर्तमान जन्म-कृत पापों को नष्ट कर डालता है। ये दोनों प्रकार के कर्म उसे बन्धन में नहीं डाल सकते और न उसको मोक्ष ही दिला

सकते हैं। ज्ञानी मनुष्य, ज्ञानी पुरुष, उन पापी मनुष्यों की निन्दा किया करते हैं, जो काम, क्रोधादि व्यसनों में फसे हुए हैं। निन्दित कर्मों के कारण ऐसे जनों का जन्म पापयोनियों में होता है। इन्द्रियों के फेर में फसे हुए पुरुष स्त्री पुत्रादि का मरण देख शोक करते हैं, तुम उन्हें देखो जो उनका नाश देख दुःखी नहीं होते। उन्हें भी देखो। इनमें जो मुक्तिक्रम और तत्काल होने वाली मुक्ति को जानता है—वही सत् पुरुष पुकारा जाता है।

एकसौ पंचानवे का अध्याय

ध्यान योग

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! अब मैं तुम्हें चार प्रकार का ध्यान योग बतलाता हूँ। यह वह ध्यान योग है जिसके द्वारा बड़े बड़े महर्षि इस लोक में सनातन सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। जो ज्ञान से तृप्त हैं, जिनके मन में सदा मोक्ष ही का विचार बना रहता है, वे योगपर महर्षि ऐसे रहते हैं, जिससे उनका ध्यानयोग भली भाँति सिद्ध हो जाता है। महर्षियों में सांसारिक दोष नहीं होते। इसीसे उन्हें इस संसार में फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। जन्म लेने के दोषों से दूर रह कर वे आत्म-स्वरूप में स्थित रहते हैं। सुख दुःख से रहित, नित्य स्वयंप्रकाश स्वरूप में विद्यमान, लोभादि दुर्गुणों से वर्जित, शौच, सन्तोष आदि के नियमों को पालन करने वाले मुनिगण, स्त्री सङ्गादि परित्याग कर विवादशून्य एवं शान्तिप्रद स्थानों में वास कर समस्त इन्द्रियों को अपने वश में कर लेते हैं। तब वे लकड़ी की तरह निश्चल बैठे रहते हैं और अपना मन एकाग्र कर ध्यान द्वारा ध्येय को प्राप्त करते हैं। योगी जन पाँचों इन्द्रियों ही को अपने वशीभूत करे। जिससे कान रहते उसे अन्य शब्द

सुन न पड़े, त्वचा से स्पर्श ज्ञान न हो, नेत्रों से रूप न देख पड़े और रसना से स्वाद का ज्ञान न हो। योगी जन कष्ट से जीती जाने वालीं इन्द्रियों को सहज में जीत लेते हैं। वे इन्द्रियजन्य विषयों के वश में स्वयं कभी नहीं होते। योगी को उचित है कि, वह सर्वप्रथम मन को शरीर के अवलंबन से हटा कर, उसे हृदयाकाश में ध्यानमार्ग में स्थिर करे।

योगी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह इन्द्रियों सहित मन को नियम में रखे। इसीसे मैंने तुम्हारे आगे प्रथम ध्यानयोग का वर्णन किया है। इतना कर के ही योगी अपने को कृतार्थ न समझ बैठे। यदि पाँचो इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के पहले ही अपने काबू में कर ली जायँ, तो भी उनकी चञ्चलता नहीं मिटती। मेघ के सामने बिजली जैसे रह रह कर कौंधा करती है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी रह रह कर चञ्चल हुआ करती हैं।

जैसे कमल पत्र पर पड़ी हुई जल की बूँद चञ्चल होती है, वैसे ही ध्यान करते समय ध्यानी का मन चलायमान हो चारों ओर दौड़ने लगता है। ध्यान करने वाले पुरुष का मन ध्यान करने के समय कुछ देर तक अवश्य चञ्चल रहता है; किन्तु पीछे वायुमार्ग में पहुँच वायु जैसा हो जाता है। उस समय ध्यान योग का जानकार जन, खेद, क्लेश, तन्द्रा और मात्सर्य को त्याग कर, मन वारंवार ध्यान में लगावे। योगी जब ध्यान का अभ्यास करता है। तब प्रथम उसे विचार, फिर विवेक और अन्त में वितर्क नामक ध्यान करने का अभ्यास हो जाता है। समाधि में रहने वाले मुनि जन, मन में भले ही कष्ट पावें, तो भी उन्हें खेद न करना चाहिये और अपने आत्मा के हित के लिये उन्हें समाधि-योग का अनुष्ठान करना चाहिये। धूल, राख और सूखे गोबर की चूर के ढेर एकत्र कर, उन पर जल छिड़कने से, उनसे एकदम खिलौने नहीं बनते। क्योंकि उनमें चिकनापन नहीं होता; किन्तु जब वे जल में कुछ

देर तक भींगते रहते हैं; तब उनमें चिकनापन आ जाता है और तब उनसे जैसे चाहो वैसे खिलौने बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार योग का साधन करते करते जब मन कोमल हो जाता है, तब उसे ब्रह्म की ओर लगाते हैं। जब मन वश में कर लिया जाता है, तब अन्य इन्द्रियाँ भी वश में हो जाती हैं। हे राजन्! नित्य योग का अभ्यास कर प्रथम मन, बुद्धि और पाँचों इन्द्रियों को ध्यानमार्ग में स्थित करे। ऐसा करने से चित्त अपने आप शान्त हो जाता है। समाधि द्वारा मन को वश में करने वाले योगी को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अन्य किसी प्रकार के उद्योग से अथवा देवता के अनुग्रह से भी नहीं मिल सकता। अतः ध्यान-योग-निरत पुरुष ध्यानयोग द्वारा प्राप्त सुख में अपने आप रुचि रखने लगता है। योगी लोग तो योग द्वारा मोक्ष तक पा लेते हैं।

एकसौ छियानवे का अध्याय

जपयोग

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! आपने मुझे चारों आश्रमों के कर्त्तव्य बतलाये, राजधर्म सुनाया, प्रसङ्गवश बड़े बड़े इतिहास सुनाये, अनेक पुण्यदायिनी कथाएँ सुनायीं, तिस पर भी मेरे मन में एक सन्देह अब तक बना हुआ है। कृपया उसे भी आप मिटा दें। वह यह कि, आप मुझे यह बतलावें कि, पवित्र मंत्र का जप करने से जपकर्त्ता को क्या फल मिलता है? जप करने वालों को मरने के बाद कौनसी गति मिलती है? जप का पूरा पूरा विधान क्या है? हे अनघ! यह सब आप मुझे बतलावें। जापक शब्द का वास्तविक अभिप्राय क्या है? क्या जापक शब्द से सांख्य, योग और क्रिया की विधि पर चलने वाले पुरुष को समझा जाय? जप यज्ञ की विधि कौनसी है? वास्तव में जप

वस्तु है क्या पदार्थ ? मैं आपको सर्वज्ञ मान कर ही ये सब प्रश्न करता हूँ। अतः आप मुझे मेरे इन समस्त प्रश्नों के उत्तर दें।

भीष्म जी बोले—इन प्रश्नों के उत्तर में, मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ। उसमें यम, काल और ब्राह्मण की कथा है। ब्रह्मदृष्टा मुनियों ने वेदान्त और योग नामक दो शास्त्रों का उल्लेख किया है। वेदान्त शास्त्र में जप करने से संन्यास का सम्बन्ध बतलाया है और सांख्य शास्त्र में और योग शास्त्र में जप की आवश्यकता नहीं बतलायी गयी। वेदान्त और योग शास्त्र में मनो-निग्रह और इन्द्रिय-निग्रह का साधन जप ही को माना है। जो जप द्वारा स्वर्गादि लोक प्राप्त करना चाहता हो, उसे सत्य बोलना चाहिये, हवन करना चाहिये, एकान्त में रहना चाहिये, ध्यानमग्न रहना चाहिये। विषयों से उत्पन्न होने वाले दोषों की ओर दृष्टि रखे। यह भी एक प्रकार का तप है। इन्द्रियों को वश में कर उन्हें तत्व प्राप्ति रूप दम गुण के सेवन में संलग्न करे। क्षमा रखे, परदोषों को दोषदृष्टि से न देखे। परिमित भोजन करे। बन्धन में डालने वाले विषयों को अपने काबू में कर ले। थोड़ा बोले और मन को शान्त रखे—ऐसा जप यज्ञ स्वर्गादि देने वाला है। इसीसे इसे प्रवर्त्तक यज्ञ कहते हैं। अब तुम्हें मोक्षप्रद निवर्त्तक यज्ञ का वर्णन सुनाता हूँ। सुनो। जपपरायण ब्रह्मचारी जिस विधि द्वारा निवृत्त होता है उस विधि को सुनो ! ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम तो मेरी बतलायी विधि के अनुसार आचरण करना चाहिये। क्योंकि निवृत्त-मार्गावलम्बी जन को व्यक्त और अव्यक्त—दोनों का सहारा न लेना चाहिये।

निवृत्त मार्ग पर पहुँचने की विधि यह है। जपकर्त्ता को कुशासन पर बैठना चाहिये, उसे अपने हाथ में कुशा को रखना चाहिये। चुटिया में कुश बाँधे और अपने चारों ओर कुश रखे। मध्य भाग भी कुश से आच्छादित कर दे। वह यावत् विषयों को प्रणाम करे और फिर कभी भी विषयों की भावना अपने मन में न करे। मन की सहायता से मन को मन ही

में लय करे। तदनन्तर जीव को ब्रह्म की सत्ता मान कर, सर्व-हितकारी गायत्री मन्त्र को जपे। जप करते समय ब्रह्म का ध्यान करे और समाधि में बैठे मन को तल्लीन कर, यह भावना करे कि, मैं देहेन्द्रिय से भिन्न हूँ। अन्त में गायत्री मन्त्र को भी न जपे। गायत्री का मन्त्र इस लिये जपना चाहिये कि उससे ध्यान समाधि प्राप्त हो जाय। जप द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है। तप से वह इन्द्रिय को जीत लेता है। अतः उसमें राग द्वेष रह ही नहीं जाता। जो राग द्वेष शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों से रहित होता है, वह दुःख पड़ने पर खिन्न नहीं होता और साँसारिक विषयों में वह फँसता भी नहीं। न तो वह काम्य कर्म करता है और न कर्म फल भोगने की इच्छा करता है। अपने को कर्त्ता समझ वह अहङ्कारवश मन को इधर उधर नहीं घूमने देता। वह किसी का अपमान भी नहीं करता और न स्वयं क्रियाहीन होता है। वह सदा ध्यानमग्न रहता है, ध्यान द्वारा वह तत्व को निश्चित करता है, ध्यान में चित्त की एकाग्रता रूप समाधि लगा, क्रमशः वह ध्यान करना भी छोड़ देता है। जब वह एक एक कर समस्त अवलम्बनों को त्याग देता है, तब उसे वह सुख प्राप्त होता है, जो निर्वीज समाधि में रहने वाले योगी प्राप्त किया करते हैं। वह योग की अणिमादि सिद्धियाँ नहीं चाहता; किन्तु कामना रहित हो कर वह मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय रूपी लिङ्ग शरीर को त्याग कर, ब्रह्म को प्राप्त करता है। यदि उसे ब्रह्म रूप सुख प्राप्त करने की इच्छा न हुई तो वह अपनी इच्छा के अनुसार ब्रह्मलोकादि लोक प्राप्त करता है और संसार में उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। जब उसे आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह योगी मोक्ष रूपी ब्रह्म का अनुभव कर, कामनाओं से शून्य एवं जन्म मरण से रहित हो, रजोगुण शून्य परम शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

एक सौ सत्तानवें का अध्याय

जप करने वालों की गतियाँ

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! आपने बतलाया कि जापक को योगसिद्धि द्वारा उत्तम गति प्राप्त होती है, सो उसे क्या यह एक ही गति मिलती है अथवा अन्य कोई और गति भी?

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! जापकों की गतियों का वर्णन तुम ध्यान दे कर सुनो। जापक भी अनेक प्रकार के नरकों में गिरते हैं। जो जापक विधि के अनुसार जप नहीं करता और मंत्र का एक अंग जपता है, वह निस्सन्देह नरक में पड़ता है। जो जापक अहङ्कार रख कर जप करते हैं, वे सब भी नरक में गिरते हैं। दूसरों का अपमान करने वाला जापक भी नरक में गिरता है। जो मोह के वशवर्ती हो जापक फल प्राप्त करने की इच्छा से जप करता है, उसको जिस जिस फल प्राप्ति में रुचि होती है, उस उस फल को भोगने के लिये उसे उसके योग्य शरीर भी धारण करना पड़ता है। जापक का, अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करने का अनुराग ही उसे नरक में ले जाता है और उसे नरक से छुटकारा भी नहीं मिलता। भोग और दुष्ट मति का अन्त नहीं। जिस जापक में यह ज्ञान नहीं, वह चञ्चलमन जापक भी नरकगामी होता है। जो यह नहीं समझ सकता कि भोगों का परिणाम दुःखप्रद है, वह मूर्ख जापक जप करता हुआ, साँसारिक विषयों में फँस, मोहवश नरकगामी होता है और अपनी दुष्टबुद्धि के लिये उसे नरक में पछताना पड़ता है, वैराग्य उत्पन्न हुए विना जो जापक हठ जप करने लगता है। वह आग्रही जापक यथाविधि जप नहीं कर सकता, क्योंकि उसका मन तो एकाग्र होता ही नहीं। अतः उसे अन्त में नरकगामी बनना पड़ता है।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भीष्म जी! स्वाभाविक, मायातीत व्यक्त ब्रह्म में मन लगा कर रहने वाले जापक को क्यों पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है?

भीष्म जी बोले—कामादि दोषों से दूषित बुद्धि द्वारा जप करने वाले जापक को विविध नरकों में पड़ना पड़ता है, जप करना तो श्रेष्ठ है ही, किन्तु मेरा कहना यह है कि दुष्टबुद्धि के कारण उसमें दोष उत्पन्न होते हैं।

एकसौ अट्ठानवे का अध्याय

नरकगामी जापक

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भीष्म पितामह! मुझे यह सुनने का कौतूहल हो रहा है कि, कैसा जापक नरकगामी होता है?

भीष्म जी बोले—हे निर्दोष! तुम्हारा जन्म धर्म के अंश से हुआ है, स्वभावतः तुम धर्मनिष्ठ हो। अतः तुम सावधान हो कर, इस विषय सम्बन्धी वेदवाक्य मुझसे सुनो। हे तात! महा बुद्धिमान् देवताओं के स्थान विविध प्रकार की आकृतियों वाले, विविध रूप धारी, विविध फल देने वाले और दिव्य हैं, उनके पास यथेच्छाचारी विमान हैं और सभा-स्थान हैं। उनके लोक में कमलों वाले सरोवर हैं, वहाँ चारों लोकपालों के, शुक्र के, बृहस्पति के, देवताओं के, विश्वे देवताओं के, साध्य देवों के, अश्विनीकुमारों के, चन्द्रमा के, वसुओं के तथा अन्य देवताओं के स्थान हैं। परमात्मा के स्थान के सामने ये समस्त स्थान नरक तुल्य हैं। इसीसे उन्हें नरक तुल्य बतलाया है। परमात्मा के धाम में न तो किसी का नाश होता है, न वहाँ किसी प्रकार का भय है। वह धाम तो स्वभाव सिद्ध है। वहाँ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभि-

निवेश का नाम निशान भी नहीं है। वह धाम प्रिय हेतु और अप्रिय हेतु से भी वर्जित है। वहाँ सत्वादि तीनों गुणों का अभाव है। पञ्चभूत, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, अविद्या, वायु—आठ पुरियाँ कहलाती हैं। वह धाम इनसे भी रहित है। यथेच्छ विषय प्राप्त होने के कारण उत्पन्न होने वाला हर्ष और उसके उपभोग से उत्पन्न होने वाले आनन्द का भी वहाँ अभाव है। वह धाम वाह्य एवं आभ्यन्तरिक शोक से रहित है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल भी उसमें से ही उत्पन्न होते हैं। काल की प्रभुता उस धाम पर नहीं चलती। प्रत्युत वह धाम काल के ऊपर भी प्रभुता करता है। वह तो स्वर्ग का भी प्रभु है। जो पुरुष अपने स्वरूप का दर्शन करता है, वही उस धाम में जाता है और वहाँ पहुँच उसे फिर शोक नहीं करना पड़ता। उसीका नाम परम धाम है। उसके सामने अन्य लोक नरक तुल्य हैं। हे राजन्! इन समस्त नरकों का वर्णन मैंने यथावत् सुना दिया। परमात्मा के धाम से तुलना करने पर अन्य सब लोक नरक सिद्ध होते हैं।

एकसौ निन्यानवे का अध्याय

कालादि का संवाद

युधिष्ठिर ने कहा—हे भीष्म पितामह! *काल, †मृत्यु, ‡यम, इक्ष्वाकु और ब्राह्मण का जो संवाद हुआ था, उसको आप मुझे पूर्ण रीति से सुनाइये।

भीष्म ने कहा—इस विषय में यह पुरातन इतिहास उदाहरण के

---

*आयु की गणना रखने वाला देवता।

†प्राण को शरीर से अलग करने वाला देवता।

‡पुण्य और पाप का फल देने वाला देवता।

रूप में कहा जाता है। सूर्यपुत्र इक्ष्वाकु, ब्राह्मण, काल और मृत्यु में जो बातचीत हुई थी, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। सुनो।

कौशिक गोत्री पिप्पलाद का पुत्र बड़ा यशस्वी और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था। षडङ्गवेद पढ़ा हुआ था, वह बड़ा बुद्धिमान् था और जपपरायण था। उसके छः हो अङ्गों में परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो गया था। वह चारों वेदों को पढ़ा हुआ था और हिमालय की तलैटी में रहता था। उसको नियम पूर्वक गायत्री मंत्र का जप करते तथा ब्राह्मणोचित तप करते हुए एक सहस्र वर्ष बीत गये। एक हजार वर्ष बीत जाने पर, सावित्री देवी ने प्रत्यक्ष हो उसे दर्शन दिये और कहा— मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ। किन्तु उस समय पिप्पलाद का पुत्र जप में था अतः वह चुपचाप जप करता रहा और सावित्री देवी से कुछ भी न बोला, वेदमाता सावित्री देवी उस पर प्रसन्न हो गयी थीं। अतः उस पर अनुग्रह कर सावित्री देवी ने उसके जप की सराहना की। जब उस दिवस का नियत संख्यात जप पूर्ण हो गया—तब वह धर्मात्मा ब्राह्मण खड़ा हो गया और देवी के चरणों में सीस रख यह बोला—हे देवी ! बड़े आनन्द की बात है कि, तुमने मेरे ऊपर प्रसन्न हो मुझे दर्शन दिये। अब आप मुझे यह वर दें कि, मेरा मन सदा जप में लगा रहे।

सावित्री ने कहा—हे विप्रर्षे ! बतलाओ तुम क्या चाहते हो ? बतलाओ, मैं तुम्हारी सब मनोकामनाएँ पूरी करूँगी।

इस पर उस ब्राह्मण ने बारबार यही कहा—जप करने की अभिलाषा मेरी उत्तरोत्तर बढ़ती जाय। मेरा मन एकाग्र होता जाय।

यह सुन देवी ने मधुर वाणी में उत्तर दिया—तेरी जैसी याचना है तदनुसार ही तुझे मिलेगा। फिर उसकी भलाई के लिये देवी ने यह भी कहा—जप करने वाले ब्राह्मणश्रेष्ठ जिस नरक में गये हैं, उसमें तू नहीं जायगा। किन्तु तू स्वभावसिद्ध और सराहनीय ब्रह्म के धाम में जायगा। तूने जिस कार्यसिद्धि के लिये आराधना की है, वह तेरा कार्य भी

सिद्ध होगा। तू नियमों का पालन करता हुआ ध्यान लगा कर जप कर। धर्म तेरे निकट आवेगा। साथ ही काल, मृत्यु और यमराज भी तेरे पास आवेगा। फिर न्यायपूर्वक उनके साथ तेरा विवाद होगा।

भीष्म बोले—यह कह भगवती सावित्री देवी अपने धाम को चली गयीं। वह ब्राह्मण भी इन्द्रियों को और क्रोध को जीत सत्यप्रतिज्ञ हो और अद्वेष्टा बन, जप करने लगा। देवताओं के सौ वर्षों तक वह जप करता रहा। बुद्धिमान ब्राह्मण का जप पूर्ण होते ही धर्मदेव ने प्रसन्न हो कर, उस ब्राह्मण को दर्शन दिये और कहा—

धर्म बोले—हे ब्राह्मण! मैं धर्म हूँ। मेरी ओर देख। तुझे देखने को आया हूँ। तू जो जप कर रहा है उसका फल तू पा चुका। अब उसके विषय में मैं जो कुछ कहता हूँ उसे तू सुन। हे सत्पुरुष! तूने देवलोक और मर्त्यलोक जीत लिये। तू देवलोकों को अतिक्रम कर आगे जायगा। हे मुने! अब तू शरीर त्याग कर, जिस लोक में जाना चाहे, जा। तुझे बड़ा सुख प्राप्त होगा।

ब्राह्मण ने कहा—हे धर्म! तुम्हारे बतलाये लोकों में जा कर मैं क्या करूँगा। अब तुम्हारी जहाँ जाने की इच्छा हो वहाँ जाओ। मैं इस सुख-दुःख पूर्ण शरीर को नहीं त्यागूँगा।

धर्म ने कहा—हे मुनिवर! यह शरीर तो तुझे अवश्य त्यागना ही पड़ेगा। अतः या तो तू स्वर्ग में जा। नहीं तो तू जो चाहता हो सो बतला।

ब्राह्मण बोला—हे विभो! मैं शरीर त्याग कर स्वर्ग में वास करना नहीं चाहता। मैं शरीर छोड़ स्वर्ग में जाना नहीं चाहता।

धर्म बोला—अपने शरीर में अनुराग मत रख, किन्तु शरीर त्याग कर सुखी हो और रजोगुण रहित स्वर्गादि लोकों में जा। वहाँ जाने पर तुझे शोक करने का अवसर ही न आवेगा।

ब्राह्मण ने कहा—हे महाभाग्यशाली धर्म! मैं गायत्री मंत्र का

जप कर आनन्द करूँगा। मुझे लोकों से प्रयोजन ही क्या है? यदि तुम सदेह मुझे स्वर्ग जाने को कहो, तो भी मैं नहीं जाऊँगा।

धर्म बोले—हे ब्राह्मण! यदि इस शरीर को त्यागने की तेरी इच्छा नहीं है तो देख, ये काल, मृत्यु और यम तेरे ही निकट आ रहे हैं।

भीष्म जी बोले—हे युधिष्टिर! तदनन्तर यम, काल और मृत्यु ने उस विप्र के निकट जा इस प्रकार कहा—

यम बोले—तू ने अच्छा तप किया है, तेरा आचरण भी उत्तम है, इसका उत्तम फल तो तू पा चुका।

काल ने कहा—मैं काल हूँ और तेरे ही निकट आया हूँ। तुझे जप करने का फल मिल चुका और यह समय तेरे स्वर्ग में जाने का है।

मृत्यु ने कहा—हे धर्मज्ञ ब्राह्मण! तुझे विदित हो कि मैं मृत्यु हूँ और तुझे लेने को यहाँ आया हूँ।

ब्राह्मण बोला—हे सूर्यनन्दन यम! हे महात्मा काल! हे मृत्यु देव! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। कहिये मैं आप सब की क्या सेवा करूँ?

भीष्म ने कहा—यह कह, उस ब्राह्मण ने उनको अर्घ्य, पाद्य दिया और प्रसन्न हो कर कहा—बतलाइये, मैं अपनी शक्ति के अनुसार आपका कौन काम करूँ।

हे धर्मराज! इसी समय तीर्थयात्र के लिये गये हुए राजा इक्ष्वाकु भी वहाँ जा पहुँचे, जहाँ ये देवता जमा हुए थे। राजाओं में श्रेष्ठ उस राजर्षि इक्ष्वाकु ने उन सब की पूजा कर, उन्हें नमस्कार किया और फिर उन सब से कुशल पूछी। जापक ब्राह्मण ने राजा इक्ष्वाकु को आसन दे अर्घ्य पाद्य से उनका पूजन किया और कुशल समाचार पूछ कर, वह कहने लगा—

हे राजन्! तुम भले आये। तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारी जो इच्छा हो सो कहो। मैं शक्ति के अनुसार तुम्हें देने को तैयार हूँ।

राजा बोले—मैं राजा हूँ और तुम अध्ययनादि षट्कर्मों के करने

वाले एक ब्राह्मण हो। मैं तुम्हें सुवर्ण रत्न आदि बहुमूल्य द्रव्य देना चाहता हूँ। अतः तुम्हें जितना धन अपेक्षित हो, वह मुझे बतलाओ।

ब्राह्मण बोला—राजन्! ब्राह्मण दो प्रकार के होते हैं और धन भी दो प्रकार के होते हैं। उन दो में एक त्यागी और दूसरे संग्रही हैं। मैं दान लेना त्याग चुका हूँ। अतः जो ब्राह्मण संग्रही अर्थात् दान लेते हों उन्हें तुम दान दो। मैंने तो दान लेना त्याग दिया है। तुम्हें यदि कोई वस्तु अपेक्षित हो तो बतलाओ। तपोबल से मैं आपका कार्य सिद्ध कर सकता हूँ।

राजा बोला—हे द्विजवर! मैं क्षत्रिय हूँ। अतः "दो" यह कहना तो मुझे मालूम ही नहीं। देने की बात में तो "युद्ध दो" ही कहा करता हूँ।

ब्राह्मण ने कहा—तुम जैसे अपने कर्त्तव्य-पालन में निरत रहते हो, वैसे ही मैं भी अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ सन्तुष्ट रहता हूँ। अतः तुममें और मुझमें विशेष अन्तर नहीं है। तुम्हें जो अच्छा जान पड़े वह तुम करो।

राजा ने कहा—तुम पहले कह चुके हो कि तुम शक्ति के अनुसार देने को तैयार हो। अतः हे ब्राह्मण! मैं तुमसे तुम्हारे जप का फल माँगता हूँ।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! तुम भी तो मुझसे अभी कह चुके हो कि सिवाय "युद्ध दो" कहने के मैं अपनी वाणी से किसी अन्य वस्तु की याचना नहीं करता। अतः तुम मुझसे युद्ध की याचना क्यों नहीं करते?

राजा बोला—हे ब्रह्मन्! मैं तुम्हारे साथ तीव्र वाक्‌युद्ध करता हूँ। क्योंकि ब्राह्मण वाणी रूपी वज्र से सम्पन्न कहलाते हैं और क्षत्रिय बाहु-जीवी कहलाते हैं।

ब्राह्मण बोला—मैं तो अपनी प्रतिज्ञा पर पूर्ववत् दृढ़ हूँ। बतलाओ

मैं तुम्हें क्या दूँ ? मैं दूँगा अपनी शक्ति के अनुसार। जो कुछ मेरे पास वैभव होगा वह भी तुम्हें दूँगा। विलम्ब मत करो। बतलाओ तुम्हें क्या चाहिये ?

राजा ने कहा—सौ वर्षों तक निरन्तर जप करने का जो फल तुम्हें मिला है, वह यदि तुम्हें देना हो तो मुझे दे दो।

ब्राह्मण ने कहा—मैंने जो जप किया है उसके परम फल में से आधा फल तो मैं बिना सोचे विचारे तुम्हें देता हूँ और यदि तुम मेरे जप का सम्पूर्ण ही फल लेना चाहते हो तो वही ले लो।

राजा ने कहा—तुम्हारा मङ्गल हो। मुझे तुम्हारे जप के फल की आवश्यकता नहीं। मैं अब जाता हूँ; किन्तु जाने के पूर्व तुम मुझे यह बतला दो कि मैंने जप का जो फल तुमसे माँगा, उसका महत्व क्या है ?

ब्राह्मण ने कहा—मुझे जप करने से जो फल मिला है, उसकी महिमा मुझे नहीं मालूम। किन्तु मैं अपने जप का फल तुम्हें दे चुका। इस बात के यह काल, मृत्यु और यमराज साक्षी हैं।

राजा ने कहा—जब तुम्हें अपने जप के फल की महिमा स्वयं ही नहीं मालूम तब यह मुझे क्या फल देगा ? यदि तुम मुझे इस फल की महिमा नहीं बतला सकते, तो यह फल तुम्हींको मिले। मैं सन्दिग्ध फल को लेना नहीं चाहता।

ब्राह्मण बोला—हे राजर्षे ! मैं एक बार जो वचन कह चुका वह कह चुका। अब मैं अपने कथन के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। मैं तुम्हें अपने जप का फल वाचा दे चुका। अतः तुम्हें यह बात मान लेना उचित है। मैं जब जप करने बैठा था, तब किसी कामना से जप नहीं किया था। अतः मैं इस जप के फल की महिमा क्या बतला सकता हूँ ? तुम्हींने जब मुझसे मेरे जप का फल माँगा था, तब मैंने वह तुम्हें दिया। अतः अब मैं अपनी ज़बान न लौटूँगा। तुम धैर्य पूर्वक सत्य की रक्षा करो। इस पर भी यदि हे राजन् ! तुम मेरा कहना न मानोगे, तो तुम्हें

असत्य भाषण का घोर पाप लगेगा। राजन्! तुमको तो कदापि असत्य न बोलना चाहिये। मैं तो अपने कथन को अन्यथा कर ही कैसे सकता हूँ। मैं बिना विचारे अपने जप का फल तुम्हें देने का वचन हार चुका हूँ। अतः यदि तुम यथार्थ सत्यवादी हो तो बिना सङ्कोच के तुम मेरे जप का फल ग्रहण करो। क्योंकि तुम्हारे याचना करने पर मैंने वह तुम्हें दिया है, अतः तुम उसे लो और सत्य से मत डिगो। जो पुरुष असत्य भाषण करता है, उसे इस लोक और परलोक में सुख नहीं मिलता। उसके पूर्वज पितरों का भी उसके द्वारा उद्धार नहीं होता। फिर वह आगे की पीढ़ियों को क्या तारेगा? तारने की जैसी शक्ति सत्यभाषण में है, वैसी शक्ति यज्ञ, दान और नियमपालन में नहीं है। तुमने आज तक जितना तप किया है और आगे जो तप करोगे, उसका फल, सत्य भाषण के फल के बराबर नहीं हो सकता। सत्य ही एकाक्षर वाची ब्रह्म है, सत्य ही अविनश्वर वेद है। क्योंकि वेद भी सत्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। वेदों में सत्यभाषण की बड़ी महिमा गायी गयी है। सत्य से धर्म और इन्द्रियों का दमन होता है। सत्य वेद और वेदाङ्ग रूप है। सत्य ज्ञान रूप है, सत्य विधि रूप है, सत्य व्रतोपवास रूप है और सत्य प्रणव (ओंकार) रूप है। प्राणियों की उत्पत्ति सत्य से हुई है। अतः समस्त सन्तान सत्य रूप है, सत्य ही के प्रताप से वायु डोलता है, सूर्य तपता है, अग्नि जलता है और स्वर्ग भी सत्य के आधार पर ही अवलम्बित है। यज्ञ, तपस्या, वेदों का स्वाध्याय, स्तोभ नाम का सामगान, मंत्र और सरस्वती सत्य ही में हैं। सत्य और धर्म का महत्व और लघुत्व जानने के लिये, पूर्व काल में ये दोनों तुला में रख तोले गये थे। तब धर्म की अपेक्षा सत्य गुरुतर निकला था। जहाँ धर्म है वहाँ ही सत्य है। सत्य द्वारा ही सब की वृद्धि होती है। अतः हे राजन्! तुम सत्य पर स्थिर रहो। असत्य भाषण क्यों करते हो? तुमने ही "दो" शब्द कह कर याचना की थी।

अब तुम अपने उस शब्द को अन्यथा करना क्यों चाहते हो? यदि तुमने मेरे कथनानुसार जप का फल ग्रहण न किया तो तुम्हें असत्य-भाषण का पाप लगेगा और तुम धर्मभ्रष्ट हो जाओगे तथा मारे मारे फिरोगे। जो देने की प्रतिज्ञा कर, देता नहीं और जो माँग कर फिर लेता नहीं, वे दोनों ही मिथ्या बोलने वाले समझे जाते हैं। अतः तुम्हें अपनी बात मिथ्या नहीं करनी चाहिये।

राजा ने कहा—हे ब्रह्मन्! क्षत्रिय का धर्म है प्रजापालन और शत्रु के साथ युद्ध करना। तब मैं तुमसे दान क्यों कर ले सकता हूँ।

ब्राह्मण बोला—मैंने तुम्हें दान लेने के लिये लालच नहीं दिखलाया था और न मैं दान लेने को, तुम्हें तुम्हारे घर से बुलाने गया था। तुमने तो मेरे घर पर आ कर याचना की है। फिर तुम दान लेते क्यों नहीं?

धर्म ने कहा—तुम दोनों को विदित होना चाहिये कि मैं धर्म हूँ। तुम दोनों अब मत झगड़ो। मैं तो यह चाहता हूँ कि, इस ब्राह्मण को दान देने का और इस राजा को सत्यभाषण का फल मिले।

स्वर्ग बोला—राजन्! तुमको विदित हो कि, मैं मूर्त्तिमान् स्वर्ग यहाँ आया हूँ। तुम दोनों झगड़ो मत। तुम दोनों को बराबर फल मिलेगा।

राजा बोला—मुझे स्वर्ग की आवश्यकता नहीं है। हे स्वर्ग! तुम जहाँ से आये हो वहीं लौट कर चले जाओ। यदि यह ब्राह्मण स्वर्ग जाना चाहता हो तो यह मेरे तप का फल ले ले।

ब्राह्मण बोला—लड़कपन की अबोध अवस्था में, मैंने किसी के आगे यदि हाथ पसारा हो तो पसारा हो; मुझे स्मरण नहीं, किन्तु मैं तो अब गायत्री का जपानुष्ठान करता हूँ और दान लेना त्यागे बैठा हूँ। हे राजन्! बहुत दिनों से दान लेना त्यागे बैठा हूँ। फिर तुम

लालच क्यों दिखलाते हो ? मुझे जो कुछ करना होगा, मैं स्वयं कर लूँगा। किन्तु तुमसे तुम्हारे तप का फल मैं नहीं लूँगा। क्योंकि दान लेना त्याग, मैं तो रात दिन स्वयं तप करने और स्वाध्याय में लगा रहता हूँ।

राजा बोला—यदि ऐसा ही है तो एक काम करो। तुम अपने जप का आधा फल मुझे दे दो और मेरे कर्मों का आधा फल तुम ले लो। द्विजवर्य ! दान लेना तो ब्राह्मण का जन्म सिद्ध अधिकार है और क्षत्रिय का धर्म है कि वह दान दे। यदि यह बात तुमने सुनी हो तो हम दोनों के फल एकत्र हो, हम दोनों को बराबर बराबर मिलें। मेरी तो यही इच्छा है। यदि तुम यह चाहते हो कि, दोनों के एकत्रित फल को हम दोनों न भोगें तो तुम मेरे तप का समस्त फल ले लो। यदि तुम मेरे ऊपर अनुग्रह करना चाहते हो तो तुम मेरे तप का समस्त फल ग्रहण कर लो।

भीष्म जी कहने लगे—हे युधिष्ठिर ! राजा और ब्राह्मण में जब इस प्रकार कथोपकथन हो ही रहा था, कि इतने में काम और क्रोध दो पुरुषों के रूप में विकराल रूप धारण कर वहाँ जा पहुँचे। वे दोनों एक दूसरे के कन्धों पर अपने अपने हाथ रखे हुए थे। वे ब्राह्मण और राजा के निकट जा कहने लगे—

एक ने कहा—मैं तुझसे कुछ नहीं माँगता।

दूसरा बोला—तू मुझसे धन ले। हम दोनों में यही झगड़ा हो रहा है। राजा निकट है ही अतः इसका निबटारा राजा कर देगा।

पहले ने कहा—मैं सत्य कहता हूँ। तू तो मेरा पहले का कर्ज़दार है।

दूसरा बोला—तेरा यह कहना सरासर झूठ है कि, मैं तेरा कर्ज़दार हूँ।

बातों ही बातों में वे दोनों क्रोध में भर गये और दोनों की आँखें लाल हो गयीं। वे राजा से बोले—

राजन्! हम लोगों का झगड़ा आप मेंट दें। जिससे हममें से किसी को पाप का भागी न बनना पड़े।

उन दो पुरुषों में एक का नाम विकृत और दूसरे का नाम विरूप था। विरूप नामक पुरुष ने कहा—हे नरव्याघ्र राजन्! यह विकृत मुझ से एक गोदान का फल माँगता है। मैं इसे उसका फल देता हूँ पर यह उसे लेना नहीं चाहता।

विकृत बोला—हे राजन्! विरूपाक्ष मेरा कुछ भी नहीं धरता। मुझे उससे कुछ भी पावना नहीं है। तिस पर भी यह सत्य के बदले असत्य बात कह रहा है।

राजा ने कहा—विरूप! बतला तो तुझे अपने इस मित्र का कुछ देना है? तेरा उत्तर जान लेने के बाद मुझे जो उचित जान पड़ेगा, वही मैं करूँगा।

राजा के इस प्रश्न को सुन कर, विरूप बोला—विकृत का मैं ऋण-धर्त्ता कैसे हूँ, सुनिये! इसने पुण्य-फल पाने के लिये तप किया और ब्राह्मण को एक गोदान दिया। तब मैं इसके निकट गया और इससे उस गोदान का फल माँगा। तब शुद्धान्तःकरण से विकृत ने मुझे गोदान का फल दे दिया। तब मैंने प्रायश्चित्त के लिये एक पुण्य कार्य किया। मैंने बड़ी दुधार दो कपिला गायें मोल लीं। फिर वे दोनों गाएँ मैंने उञ्छवृत्ति वाले एक श्रेष्ठ ब्राह्मण को श्रद्धापूर्वक और यथाविधान दान कर दीं। उन दोनों गौओं के दान का फल ले, मैं अब इसे इसके दिये हुए फल से दुगुना फल दे रहा हूँ; किन्तु यह नहीं लेता। बस यही हमारा झगड़ा है। हम दोनों में कौन निर्दोष है और कौन अपराधी, इसका आप निर्णय कर दें। हम दोनों विवाद करते करते निर्णय कराने को आपके निकट आये हैं। अब चाहे आप न्याय करें चाहे अन्याय, किन्तु इस झगड़े का

फैसला आप कर दें। इसने मुझे जैसे दान दिया है, यदि वैसे ही आज यह दान मुझसे लेने को उद्यत न हो तो आप धैर्य धारण पूर्वक हम दोनों को उचित मार्ग प्रदर्शित करें।

राजा बोला—हे विकृत! तुझे जब विरूप तेरा पावना देना चाहता है, तब तू उसे लेता क्यों नहीं? तुझको अपना पावना झटपट ले लेना चाहिये।

विकृत ने कहा—यह विरूप मुझसे कहता है कि, यह मेरा ऋणी है। पर मेरा कहना है कि, मैंने तुझे जो दिया है, वह ऋण के रूप में नहीं दिया। मैंने जो दिया है वह मैंने तुझे दे डाला है। अतः तू मेरा क़र्ज़दार नहीं है। तू जहाँ चाहे वहाँ जा।

राजा ने कहा—हे विकृत! यह विरूप तुझे जब तेरा पावना चुका रहा है और तू उसे लेता नहीं, तब मुझे तो यह बात उचित नहीं जँचती। मैं तो तुझे इसके लिये दण्डार्ह समझता हूँ।

विकृत ने कहा—राजर्षे! मैंने जो वस्तु विरूप को दे डाली अब उसे मैं क्यों लौटाऊँ? इस पर भी यदि आप मुझे ही दोषी समझते हैं तो आप जो उचित समझ मुझे दण्ड दें।

विरूप बोला—हे विकृत! मैं जो तुझे दे रहा हूँ, यदि उसे तूने न लिया, तो यह धर्मोपदेष्टा राजा तुझे दण्ड देवेगा ही।

विकृत ने कहा—तूने तो मेरे घर आ, स्वयं ही गोदान का फल माँगा था। तब मैंने उसे दिया था। ऋण तो माँगा न था। फिर मैं दान को वापिस क्यों लूँ? अतः मैं कहता हूँ कि, तू जहाँ जाना चाहता हो वहाँ जा।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! तुमने इन दोनों के कथन तो सुन ही लिये। अब तुम मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा कर, मैं जो तुम्हें देना चाहता हूँ, उसे तुम ले लो। इसमें आगा पीछा न करो।

राजा ने कहा—जैसे इन दोनों का मामला पेचीदा है, वैसे ही मेरा

और तुम्हारा मामला है। यह झगड़ा कैसे समाप्त होगा। यदि मैं ब्राह्मण के जपफल को नहीं लेता, तो मैं महापाप का भागी बने बिना नहीं रह सकता।

तदनन्तर राजा ने विकृत और विरूप से कहा--तुम झगड़े को निपटा लेने के बाद यहाँ से जाना। मुझे इस बात का बड़ा ख्याल है कि, मेरे राजधर्म में कहीं कलङ्क न लग जाय। राजा को अपना धर्म पालना चाहिये।

उनका धर्म शास्त्र निर्धारित कर चुका है। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं ने बरजोरी ब्राह्मण-धर्म को अपने मन में स्थान दिया।

ब्राह्मण ने कहा—ले तू अपना पावना; ले तेरी याचना के अनुसार मैं देने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अतः मैं तेरा कर्ज़दार हूँ। तू अपना ऋण ले ले। यदि तू न लेगा तो मैं तुझे निश्चय शाप दूँगा।

राजा ने कहा—धिक्कार है राजधर्म को जिसका ऐसा निर्णय है। अस्तु जो तू दे रहा है, उसे मैं इस लिये लेना उचित समझता हूँ कि दोनों का धर्म समान रूप से सुरक्षित रहे। दान लेने के लिये मैंने अपने जिस हाथ को कभी नहीं पसारा, वही हाथ आज मैं पसारता हूँ।

यह कह राजा ने आगे कहा—हे ब्राह्मण! तेरे ऊपर मेरा जो कुछ पावना निकलता हो उसे अभी तू चुका दे।

ब्राह्मण बोला—गायत्री जप का मुझे जो कुछ फल मिला हो और मेरा जो कुछ सञ्चित पुण्य हो वह सब तू ले ले।

राजा बोला—हे द्विजवर्य! मेरे हाथ पर जो जल पड़ा है इसे मैं तुझे देना चाहता हूँ। अतः तू मेरा यह दान ले। मैं चाहता हूँ कि, हम दोनों को साथ साथ और समान फल मिले।

इन दोनों के इस कथोपकथन को सुन विरूप ने कहा—राजन्! तुझे विदित होवे कि, हम दोनों काम और क्रोध हैं। हमने ही तुझसे यह कार्य करवाया है। तू अपने दोनों के लिये एक साथ फल चाहता है,

से तुम दोनों को एक साथ समान लोकों की प्राप्ति होगी। यह विकृत मुझसे कुछ भी नहीं लेना चाहता। अतः हम फैसला कराने आये हैं।

हम काल, मृत्यु, धर्म, क्रोध और काम और तुम दोनों; तुम्हारे सामने कसौटी पर परख लिये गये। अब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ निज पुण्य प्रताप से जाओ।

भीष्म जी बोले—हे राजन्! जापक को जो फल मिलता है; वह मैंने तुम्हें बतला दिया। उस जापक ब्राह्मण की गति, स्थान और लोक जिस प्रकार उसने जीते थे वह भी मैं तुझे बतला चुका। गायत्री मंत्र का जप करने वाले ब्राह्मण परमेष्ठी ब्रह्मलोक में, अथवा अग्निलोक में अथवा सूर्य-लोक में जाते हैं। यदि वे तैजसभाव से उन लोकों में से किसी लोक में रहते हैं, तो वे प्रेम से मोहित हो, तदनुरूप गुण धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार चन्द्रलोक, वायुलोक, भूलोक अथवा व्योम में अनुरक्त जापक को उसका अभिलषित लोक मिलता है। जब उसे उन लोकों से अरुचि हो जाती है, तब वह सर्वोत्तम अविनाशी लोक में जाता है। वह परमेष्ठी से मोक्ष-धाम में पहुँचता है। वहाँ जाने पर उसे शान्ति मिलती है। वह अहङ्कार-शून्य हो जाता है। उसे सुख दुःखादि द्वन्द्व नहीं सताते। वह ब्रह्म को प्राप्त कर सुखपूर्वक रहता है। वह जिस ब्रह्मधाम में जाता है; वहाँ जाने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता। उसका नाम अक्षर है। वहाँ न दुःख है न बुढ़ापा। वहाँ बड़ी शान्ति विराजमान है। इस अक्षर स्थान का पुरुष *चार लक्षणों से रहित और †छः वृत्तियों से मुक्त है। उसमें ‡सोलह लक्षण भी नहीं पाये जाते। इसीसे गायत्री मंत्र का जप करने वाला, ब्रह्मलोक को पार कर, उपाधि रहित, चेतन पुरुष को प्राप्त करता है। यदि कहीं जापक के मन में विषयों के प्रति अनुराग हुआ और

*आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष और चित्त—ये चार लक्षण हैं।

†क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु—ये छः वृत्तियाँ हैं।

‡पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और मन—ये सोलह लक्षण हैं।

उसे उस परमपुरुष की प्राप्ति की कामना न हो, तो वह सर्वात्मक आकाश नामक कारण का अभिमानी होता है। वह मन में जो चाहता है, वही उसे मिलता है या वह परम विरक्त बन जाता है और समस्त लोकों को नरक तुल्य देखता है। उसका मन समस्त विषयों की ओर से हट जाता है। तब वह मुक्त हो, निर्गुण स्थान में जा सुख से विहार करता है।

हे युधिष्ठिर! जापक की यह गति है। मैंने तुम्हें यह सुना दी। अब तुम क्या सुनना चाहते हो?

दोसौ का अध्याय

जापक की मुक्ति

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! जब विरूप ने यह कहा, तब दोनों ब्राह्मणों ने तथा राजा ने उसको क्या उत्तर दिया? यह तो आप मुझे बतलावें। वे दोनों क्या उसी स्थान पर गये जो आपने कहा, अथवा पुनः उनमें कुछ कहा सुनी हुई? उन दोनों ने वहाँ क्या किया?

भीष्म ने कहा—हे राजन्! उस ब्राह्मण ने राजा के कथनानुसार वहाँ समागत धर्म, मृत्यु, यम, स्वर्ग और पहले से वहाँ वर्तमान ब्राह्मणों को प्रणाम किया और उन सब का पूजन कर उसने राजा से कहा—हे राजर्षे! तू मेरे जपफल के प्रभाव से श्रेष्ठत्व को प्राप्त हो। मुझे तू आज्ञा दे। मैं पुनः जप करूँ। राजन्! सावित्री देवी का मुझे यह वरदान है कि, जप करने में मेरी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी।

राजा बोला—यदि मुझको अपने जप का फल देने से तेरे जप की सिद्धि निष्फल हो गयी हो तो मेरे साथ चल और आधा बाँट ले और अपने जप का फल ले ले।

ब्राह्मण ने कहा—इन सब के सामने तूने बड़ा उद्योग किया है। अतः आओ चलें और हम सब समान फल के भागी हों और अपने गन्तव्य स्थान को चलें।

उन दोनों के इस निश्चय को जान कर देवताओं और लोकपालों सहित इन्द्र वहाँ जा पहुँचे। उनके साथ साध्य, विश्वेदेवा, मरुद्गण, नदियाँ, पर्वत, समुद्र और अनेक तीर्थ, बड़े बड़े वाजों को बजाते हुए वहाँ आये। तप, वेदान्त, वेद, *स्तोभ, सरस्वती देवी, देवर्षि नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा, हूहू, सपरिवार चित्रसेन, नागासिंह मुनि, देव, प्रजापति भी वहाँ पहुँचे।

हे राजन्! सहस्रों फनोंवाले अचिन्त्य देव विष्णु भी वहाँ पहुँचे। उस समय आकाश में वाद्यध्वनि होने लगी। आकाश से उन दोनों महात्माओं पर पुष्पवृष्टि की गयी। अप्सराएँ नाचने लगीं। तदनन्तर मूर्तिमान स्वर्ग में जा उस ब्राह्मण से कहा—

हे ब्राह्मण! तू सिद्ध है। हे राजन्! तू भी सिद्ध है।

हे धर्मराज! उन दोनों पुरुषों ने परस्पर उपकार किया था। अतः उन दोनों ने एक साथ विषयवासना में फसाने वाली इन्द्रियों से अपने मनों को हटा लिया। प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान को हृदयों में रख, उन्होंने अपने मनों को प्राण और अपान से मिला दिया। फिर उन दोनों ने पद्मासन मार दोनों भवों के बीच में अपनी दृष्टि स्थिर कर दी। इस प्रकार उन दोनों ने अपने शरीर छोड़ दिये। उनका शरीर चेष्टाशून्य हो गया, आँखें पथरा गयीं। उन दोनों ने सुषुम्ना में हो कर, प्राण सहित मन को ब्रह्माण्ड में पहुँचा दिया। उस समय ब्रह्मान्ध्र को फोड़ ब्राह्मण के सिर से एक तेजपुञ्ज निकला और वहाँ से वह स्वर्ग को चला गया। यह देख सब लोग हाहाकार करने लगे। लोगों से प्रशंसित उस ब्राह्मण का वह तेज ब्रह्मा के शरीर

*सामगान.प्रपूरक ही हो या हायि हावु आदि स्वर।

में जा कर लीन हो गया। ब्रह्मा ने उस तेज में अंगुष्ठ प्रमाण पुरुष को देख उसका आगत स्वागत कर उसका सत्कार किया और इस प्रकार मधुर वचन कहे—जो फल योग द्वारा मिलता है वही फल निश्चय ही जापक को भी प्राप्त होता है। योगियों को जो फल मिलता है, वह तो इन सदस्यों ने प्रत्यक्ष देख ही लिया, किन्तु जापक को इससे भी अधिक फल मिलता है। यह दिखलाने के लिये ही ब्रह्मा ने उठ कर उसका स्वागत किया था। तदनन्तर ब्रह्मा ने उस तेज से कहा—तू अब मुझमें रह। तदनन्तर ब्रह्मा ने उसे जीव और ब्रह्म की एकता अर्थात् अपनी और उस जीव की एकता प्रकट की तब समस्त दुःखों से छूट, उस ब्राह्मण ने ब्रह्मा के मुख में प्रवेश किया। राजा भी उस जापक ब्राह्मण की तरह ब्रह्मा के शरीर में प्रवेश कर गया। तदनन्तर देवताओं ने ब्रह्मा को प्रणाम कर उनसे कहा—जाप का फल उत्तम होता है। क्योंकि आपने स्वयं ही जापक के तेज को अभ्युत्थान दे, उसका सम्मान किया है। आपने ये सब प्रयास जापक के लिये ही किया है। हम सब भी यहाँ जापक के पीछे आये हैं। आपने इन दोनों का समान सम्मान कर दोनों का एक समान सत्कार किया है। योगी और जापक को समान फल की प्राप्ति होती है—यह बात हमने आज ही जानी है। अब दोनों सब लोकों को अतिक्रम कर जहाँ जाना चाहेंगे जा सकेंगे।

ब्रह्मा ने कहा—जो पुरुष महास्मृति, वेद और मनुस्मृति आदि अनुस्मृतियों का पाठ करता —उन दोनों को मेरा यह लोक प्राप्त होता है। योग-प्रेमी इसी प्रकार मरने पर मेरे लोक में निस्सन्देह आते हैं। अब मैं कार्यान्तर में लगता हूँ। तुम लोग भी जा अपने अपने लोकों को पधारो।

भीष्म ने कहा—ब्रह्मा यह कह उसी समय वहाँ ही अन्तर्धान हो गये और देवता भी इन्द्र से अनुमति माँग अपने स्थानों को चले गये। हे राजन्! फिर वे सब महात्मा धर्म का सत्कार कर, प्रसन्न होते हुए उनके

पीछे हो लिये। हे राजन्! जापक के फल और उसकी गति के सम्बन्ध में मैंने जो सुना था, वह तुम्हें सुना दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?

दोसौ एक का अध्याय

मनु-बृहस्पति-संवाद

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! ज्ञानयोग का, वेदाध्ययन का और नियम-पालन का क्या फल मिलता है? जीवात्मा को जानने का क्या उपाय है? आप मुझे यह बतलावें।

भीष्म ने कहा—तुम्हारे इस प्रश्न के उत्तर में, मैं तुम्हें प्रजापति मनु और बृहस्पति का संवादात्मक एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूँ।

एक दिन देवता और ऋषियों की मण्डली में श्रेष्ठ महर्षि बृहस्पति ने मनु को वैसे ही प्रणाम किया, जैसे शिष्य, गुरु को करता है और उनसे यह एक प्राचीन प्रश्न पूछा।

भगवन्! इस जगत का कारण क्या है? कर्मकाण्ड के विधान की क्या आवश्यकता थी? ब्राह्मण ज्ञान द्वारा क्या फल पाते हैं? जो तत्व वेदमंत्रों से भी प्रकट नहीं हुआ, वह तत्व कौन सा है? त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का वर्णन करने वाले शास्त्र, वेदमंत्रों के ज्ञाता महानुभाव विविध यज्ञ कर के तथा गो-दान कर के जिस फल को प्राप्त करते हैं, वह फल क्या है? वह कैसे और कहाँ से मिलता है?

हे भगवन्! वह पुरातन वस्तु कौन सी है, जिससे चराचर यह जगत, पर्वत, आकाश, जल और स्वर्ग उत्पन्न हुए हैं? मनुष्य को जिस वस्तु का पहले ज्ञान होता है, उसीको पाने की वह इच्छा करता है तथा उद्योग करता है। मैं तो उस परम सनातन पदार्थ को पाने का अभिलाषी हूँ।

अतः मैं तो मिथ्या उद्योग क्यों कर सकता हूँ। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ज्योतिष, निरुक्त और सकल्प व्याकरण तथा शिक्षा मैंने पढ़ी है। किन्तु आकाशादि के उपादान कारण को मैं नहीं जानता। अतः आप मुझे यह बात सामान्यतः और विशेषतः समझाइये। मैं ज्ञानफल और कर्मफल को भी जान लेना चाहता हूँ। आत्मा एक शरीर को त्याग कर, अन्य शरीर में कैसे चला जाता है? यह भी आप कहैं।

प्रजापति मनु ने कहा—जिसको जो वस्तु अच्छी लगती है, उसीको वह अच्छी बतलाता है और जो वस्तु अच्छी नहीं लगती उसे वह बुरी बतलाता है। अच्छी वस्तु को पाने और बुरी वस्तु को न पाने के लिये ही संसार में कर्म का विधान प्रवृत्त हुआ है। प्रिय और अप्रिय वस्तुओं में से एक भी वस्तु मुझे प्राप्त न हो—इसी लिये जगत में ज्ञान की विधि चली है। वेद में काम्यक कर्मकाण्ड का विधान वर्णित है। कामनाओं से मुक्त जन ही परब्रह्म को पाते हैं। किन्तु जो सुखाभिलाषी है वह विविध कर्ममार्गों में निरत रहता है। अन्त में वह नरकगामी होता है।

बृहस्पति ने कहा—सुख और दुःख इनमें सुख इष्ट और दुःख अनिष्ट है। अतः सुख ग्रहणीय और दुःख त्याज्य है। प्राणि मात्र ऐसा चाहते हैं। इस चाहना के लिये मनुष्य कर्म करता है और अपनी इच्छा पूरी करता है।

मनु ने कहा—कामनाओं से मुक्त पुरुष ही परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है; किन्तु परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने का विधान बतलाते हुए कर्म-विधि का निरूपण किया गया है। कर्मभोग कामना वालों को आकर्षित करता है। जो पुरुष कामना रहित होते हैं, वे परब्रह्म को पाते हैं। आत्मा पहले कर्म कर के रागादि दोषों से छूटता हुआ शुद्ध हो जाता है। सत् और असत् विषय को जानने वाला आत्मा धर्म कर्म में निरत रहता है। अनन्तर मोक्ष-सुख-प्राप्ति का अभिलाषी बन, जब वह कर्ममार्ग से सर्वथा मुक्त हो जाता है, तब वह कामनारहित परब्रह्म को प्राप्त करता है।

विधाता ने इन सब को रचना मन, कर्म से की है। समस्त जन इन्हीं दो मार्गों में से किसी एक पर चलते हैं। इष्ट कर्म अन्तवान हैं, और मोक्ष रूपी अविनाशी फल को उत्पन्न करता है; परन्तु उस अविनाशी फल को पाने के लिये फलप्राप्ति की इच्छा को मन से दूर कर देने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। जैसे रात्रि बीत जाने पर प्रातःकाल के समय अन्धकार में खड़े हुए मनुष्य को उसके नेत्र आत्मा की सहायता से, उसके लिये पथदर्शक हो जाते हैं और झाड़ झंकार बचा कर निकल जाते हैं वैसे ही विवेक के साथ सहयोग करने वाली बुद्धि त्याज्य बुरे कर्मों को जान लेती है। रास्ते में कभी सर्प, कुश, गढ़े आदि को देख उन्हें बचा कर, लोग निकलते हैं और बहुत से उन्हें न जान कर उनसे हानि उठाते हैं। अब मैं ज्ञान की विशेष महिमा तुम्हें बतलाता हूँ। यज्ञकर्म का फल निम्न पाँच बातों में सम्मिलित हैं। अन्यत्र नहीं है। यथा १ समस्त यज्ञीय मंत्रों की यथाविधि योजना, २ यज्ञ की शास्त्रोक्त विधि, ३ यज्ञ के योग्य दक्षिणा-प्रदान, ४ यज्ञ के लिये उपयोगी अन्न का संग्रह और ५ मन की एकाग्रता। वेद कहते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति के लिये कर्म त्रिगुणात्मक रूप हैं। यज्ञ याज्ञादि कर्म मंत्रों से किये जाते हैं। अतः यह मंत्र भी गुणात्मक हैं। विधि तीन प्रकार की हुआ करती हैं। इसी प्रकार विधेय कर्म भी तीन प्रकार का होता है। और उसका फल भी तीन प्रकार का होता है। अतः उस फल के भोक्ता शरीरधारी भी तीन ही प्रकार के होते हैं। शब्द, रूप, रस, पवित्रता स्पर्श तथा सुगन्धि ये सभी कर्म के फलानुसार प्राप्त होते हैं और स्वर्ग में इन कर्मों के फल भोगे जाते हैं। ज्ञानियों का तो कथन यह है कि, ये फल मनुष्य को इसी मृत्युलोक में भी मिल जाते हैं। जीव शरीर से जो जो कर्म करता है, वे फल उसी धारण कर के ही भोगने पड़ते हैं। क्योंकि सुख का स्थान तथा दुःख का स्थान लिङ्ग शरीर ही है। मनुष्य के वाणी द्वारा किये गये कर्म का फल उसे वाणी द्वारा ही प्राप्त होता है।

मानसिक कर्मों के फल मन ही से भोगने पड़ते हैं। फल की कामनाएं रखने वाला मनुष्य कर्मफल में मानसिक आस्था रख कर, जैसे जैसे गुणों वाले कर्म करता है, वह वैसे ही वैसे गुण से युक्त हो कर, कर्म के शुभाशुभ फल को भोगता है। जैसे कोई मत्स्य जल के प्रवाह के साथ साथ बहता चला जाता है (स्वेच्छा से नहीं); वैसे ही किया हुआ कर्म स्वभावतः पुरुष के साथ खिंचा चला जाता है। उसमें शुभ कर्म का सङ्ग पा कर देहधारी प्रसन्न होता है और अशुभ कर्म को पा कर खिन्न होता है। यह देहधारियों का स्वभाव है।

[नोट—यहाँ तक कर्मयोग कहा आगे ज्ञानयोग की चर्चा की गयी है।]

मैं अब तुम्हें उस परम तत्त्व का उपदेश देता हूँ, जिससे यह सारा जगत उत्पन्न हुआ है। जिसको जान कर मन-निग्रही पुरुष जगत् के पार हो जाता है। वेद जिसका प्रकाश नहीं कर सकते, सुनो वह विविध प्रकार की गन्धों से रहित है। शब्द, स्पर्श और रूप से रहित है। वह बुद्धि-ग्राह्य नहीं है। क्योंकि उसका आकार नहीं है। वह श्वेतादि रङ्ग रूप वाला नहीं है। ये सब कुछ न होने पर भी उसने प्रजा के भोगों के लिये शब्द आदि पाँच विषयों को उत्पन्न किया है। वह स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं है। न सत (मुख्य) है और न असत् अर्थात् शून्य ही है अथवा वह सदसत् या अनिर्वचनीय भी नहीं है। ब्रह्मवेत्ता उस अक्षर ब्रह्म को जानते हैं और वेद भी जानते हैं कि, उसका नाश नहीं होता।

———

दोसौ दो का अध्याय

ब्रह्म-प्राप्ति के उपाय

मनु जी बोले—उस अविनाशी ब्रह्म से आकाश (अर्थात् माया, सबल ब्रह्म), आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी और पृथिवी पर सारा जगत् उत्पन्न हुआ।

यहाँ तक उत्पत्तिक्रम बतला अब आगे लयक्रम का वर्णन किया जाता है।

पृथिवी से उत्पन्न शरीर का लय जल में, जल का तेज में, तेज का पवन में और पवन का लय आकाश में होता है। जो आत्मा को अविनाशी जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उनका पुनर्जन्म नहीं होता। अक्षरब्रह्म गर्म या ठंढा नहीं है। उसमें कोमलता अथवा कठोरता भी नहीं है। उसका स्वाद मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्तादि भी नहीं है। वह शब्द वाला नहीं है, गन्धवाला नहीं है, रूपवाला नहीं है; किन्तु प्रमाता आदि स्वरूप से रहित है। त्वचा-इन्द्रिय स्पर्श को जानती है। जिह्वा से रस का ज्ञान होता है। घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान होता है। आँखों से रूप जाना जाता है। किन्तु जो अध्यात्म तत्व से अनभिज्ञ हैं, वे सब इन इन्द्रियों द्वारा, विषयातीत आत्मा के ज्ञान से भी अनभिज्ञ हैं। अतः गुरोपदिष्ट साधन द्वारा रसना को रसास्वादन से, घ्राणेन्द्रिय को गन्ध विषय से, श्रवणेन्द्रिय को शब्द विषय से, त्वचा को स्पर्श विषय से, नेत्रों को रूप विषय से निवृत्त कर, यदि चाहे तो मनुष्य अपने सर्वोत्तम मूल रूप को प्राप्त कर सकता है।

कहा जाता है कि, कर्त्ता, कर्म, निमित्त, कर्म का देश, उसका फल और सङ्कल्प का कारण स्वरूप वह आत्मा है, जो सब में व्याप्त है और समस्त कर्म करता है। वेदमंत्रों के कथनानुसार जो प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है,

जो सब का हेतु रूप, परम रूप और केवल अद्वितीय रूप है, सब वस्तुओं का रचयिता होने के कारण वह कारण कहलाता है। उसको छोड़ और सब कार्यरूप हैं। जैसे कर्मशील मनुष्य को शुभाशुभ कर्मों का खरा खोटा फल, क्रमशः मिलता है और खरा खोटा कर्मफल परस्पर विरोधी होने पर भी जैसे एकत्र रहते हैं वैसे ही शुभाशुभ कर्म से जकड़े हुए इस जड़ शरीर में भी अपने कर्म से स्वभाव रूप परम कारण, ज्ञान जड़ न हो कर, उसके साथ रहता है।

जिस प्रकार प्रज्वलित दीपक अपने प्रकाश से अपने चारों ओर रखे पदार्थों को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ, उच्च वृक्ष पर स्थापित दीपक की तरह हैं। वे जब ज्ञान द्वारा उद्बोधित होती हैं, तब वे अन्य पदार्थों पर भी प्रकाश डालती हैं। एक राजा के अनेक मन्त्री हुआ करते हैं। वे उस राजा के वशवर्त्ती हो, पृथक पृथक काम किया करते हैं। इसी तरह शरीरस्थ पाँचों इन्द्रियाँ, ज्ञानाधीन हैं। ज्ञान उन सब में श्रेष्ठ है! जैसे अग्नि एक होने पर भी उसमें से बहुत सी लपटें निकलती हैं, और पीछे शान्ति हो जाती है, पवन एक होने पर भी उसमें वेग उत्पन्न होते हैं और पीछे बंद हो जाते हैं, सूर्य एक होने पर भी उसमें से असंख्य किरणें निकलती हैं, पदार्थों को तपाती हैं, और फिर ठंढी पड़ जाती हैं। नदी एक होने पर भी उसमें जल आता है, बहता है, और नष्ट हो जाता है—वैसे ही ज्ञान-सत्ता सदा एक होने पर भी शरीरधारी जन्मते हैं, जीवित रहते हैं और अन्त में नष्ट हो जाते हैं। जैसे काठ को रगड़ने से धुआँ और अग्नि निकलता है, किन्तु यदि वह काठ कुल्हाड़ी से चीरा जाय तो उसके भीतर धुआँ या आग नहीं देख पड़ती, वैसे ही शरीर के भीतर चैतन्यता किस स्थान पर है, यह जानने के लिये यदि उदर चीरा जाय, हाथ पैर काटे जायँ, तो वह चैतन्यता उसमें नहीं देख पड़ती। यदि वे काठ एकत्र कर मथे जायँ, तो धुआँ और अग्नि दोनों देख पड़ते हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान् जन भी योग साधनादि उपायों से यदि शरीर

के चैतन्य को देखा चाहे तो वह देख सकता है। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्नावस्था में अपने शरीर, अपनी बुद्धि, अपनी चैतन्यता को शरीर से पृथक् पड़ा देखता है, वैसे ही मनुष्य को मरण के समय मन, बुद्धि, श्रोत्र आदि दसों इन्द्रियाँ तथा पाँचों प्राणों सहित सत्रह तत्वों के लिङ्गशरीर को आत्मा से भिन्न न जानने के कारण ही—अन्य शरीर धारण करना पड़ता है। माया से परे आत्मा जन्म, वृद्धि, क्षय और मरण में लिप्त नहीं होता; किन्तु पूर्व-कृत-कर्मों के फल के कारण शरीरस्थ आत्मा, एक शरीर छोड़ दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। यह बात दूसरों को नहीं देख पड़ती। आत्मा की रूपरेखा, किसी को भी आँखों से नहीं देख पड़ती। आत्मा को कोई छू भी नहीं सकता। इन्द्रियों द्वारा आत्मा का कोई काम नहीं बन सकता। इन्द्रियादि के भाव आत्मा को देख नहीं सकते। जैसे किसी के देखते हुए जब कोई वस्तु आग में डाली जाती है, तब आग के तेज और ताप के कारण वह किसी एक दूसरे रूप को धारण करती हुई सी जान तो पड़ती है, किन्तु यथार्थ में ऐसा होता नहीं; वैसे ही आत्मा का स्वरूप शरीर के कारण रूप धारण करता हुआ सा जान पड़ता है। जिस समय आत्मा तटस्थ रह कर और एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण करता है, उस समय उसका प्रथम शरीर पाँचों तत्वों में चला जाता है और वह अन्य शरीर धारण कर, उस शरीर जैसे रूप वाला हो जाता है। मरणोन्मुख मनुष्य, जब मरने लगता है, तब उसके पञ्च-भूतात्मक शरीर के पाँचों तत्व, पञ्च-महाभूतों में लीन हो जाते हैं और विविध पदार्थों का आश्रय ग्रहण करने वाली तथा विविध प्रकार के कार्य करने वाली इन्द्रियाँ अपने अपने गुणों में प्रवेश कर जाती हैं, यथा श्रोतेन्द्रिय आकाश के गुण शब्द का, घ्राणेन्द्रिय पृथिवी के गुण गन्ध का, चक्षु इन्द्रिय अग्नि के गुण तेजोमय रूप का, रसना जल के गुण रस का और त्वचा वायु के गुण स्पर्श का आश्रय ग्रहण करती है। पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विषय पञ्च-महाभूतों में विद्यमान हैं। दसों इन्द्रियाँ मनोनुगामिनी

हैं और बुद्धि स्वभाव (चैतन्य) का अनुसरण करती है। जीव नवीन शरीर में जा, पूर्वकृत निज समस्त शुभाशुभ कर्मों का फल पाता है। जैसे जल-जन्तु अनुकूल धार में बहे चले जाते हैं, वैसे ही इस जन्म में किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल, मन का अनुसरण करते हैं। जैसे चलायमान वस्तु दृष्टि-पथ में आती है और छोटी वस्तु बड़े रूप वाली जान पड़ती है, जैसे दर्पण से मनुष्य अपनी मुखाकृति देख लेता है, वैसे ही आत्मा यद्यपि सूक्ष्म और अदृश्य है, तथापि वह बुद्धि का विषय है।

तत्वज्ञानी अनादिकाल से साथ लगे हुए भ्रमों को समूल उखाड़ कर फेंक देते हैं। जैसे नौकारूढ़ मनुष्य को तटवर्ती अचल वृक्ष चलते हुए देख पड़ते है, वैसे ही कूटस्थ निर्विकारी आत्मा, बुद्धि के विकार से विकारी जान पड़ता है। जैसे चश्मे से वा दुरबीन से छोटा बड़ा दिखलायी पड़ने लगता है, वैसे ही सूक्ष्म कूटस्थ आत्मा को बुद्धि द्वारा स्थूल जगत का रूप दिखलायी पड़ने लगता है। जो मनुष्य अपना मुख देखना चाहता है, उसे जैसे दर्पण के सिवाय देखने का अन्य कोई साधन नहीं है, वैसे ही आत्मा निज अज्ञान द्वारा कल्पित बुद्धि रूप दर्पण में देखने पर, उसे एक ही वस्तु आकाशादि अनेक रूपों में देख पड़ती है। किन्तु वह भ्रान्ति जो अनादि काल से चली आती है, आत्मज्ञान से दूर हो जाती है और उसके पुनः उत्पन्न होने की सम्भावना भी नहीं रह जाती। अतएव भ्रान्ति ज्ञान को दूर करने के लिये, आत्म ज्ञान प्राप्ति के लिये चेष्टा करे।

एकसौ तीन का अध्याय

जीवात्मा का शरीरान्तर में प्रवेश

मनु जी बोले—हे बृहस्पति! मन और इन्द्रियों के साथ रहने वाला जीव पहले दीर्घ काल तक भोगे हुए विषयों को कालान्तर में स्मरण

करता है। किन्तु स्वप्नावस्था में (जब समस्त इन्द्रियाँ लय को प्राप्त हो जाती हैं) तब विषयानुभवी ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता रूपिणी बुद्धि के स्वरूप को धारण करने वाला एवं सर्वोत्तम एक चिदात्मा ही है। जब जीवात्मा एक ही साथ अथवा अनेक बार विद्यमान इन्द्रिय-जन्य विषयों का सम्मान नहीं करता है, किन्तु उन्हें सर्वत्र से एक-स्थान पर एक प्रकार, अपने निकट एकाकार बना रखता है; तब वह भिन्न भिन्न वस्तुओं में विचरता है। इसीसे वह इष्ट रूप है। वह शरीरस्थ आत्मा सब के परे और स्वतंत्र है। रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण के अनुसार बुद्धि की तीन अवस्थाएं हैं। यथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। तीनों अवस्थाओं के दुःख सुख आत्मा से पृथक हैं। क्योंकि वे तो तीन प्रकार के गुणों के कारण उत्पन्न हुए हैं। यह बात आत्मा को मालूम है। आत्मा इन्द्रियों में वैसे ही प्रविष्ठ है, जैसे पवन एक काष्ठ-खण्ड में।

मनुष्य आँखों से आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। त्वचा उसे स्पर्श नहीं कर सकती। आत्मा शब्दरहित है। अतः कान उसे सुन नहीं सकते। श्रुतियों तथा आप्त-पुरुषों के कथनानुसार आत्मा की विद्यमानता मानी जाती है। इन्द्रिय सम्बन्धी जो ज्ञान जिस इन्द्रिय में रहता है, वह इन्द्री भी ज्ञान होने के बाद, इन्द्रिय रूप में अपना अस्तित्व नहीं बचा सकती। कान, नाक, आँख आदि इन्द्रियों को अपने रूप अपने आप नहीं देख पड़ते। किन्तु आत्मा सर्वज्ञ होने के कारण सब को देखता है और सब इन्द्रियों को जानता है। जैसे हिमालय का अपर पार्श्व और चन्द्र का पृष्ठ भाग यदि किसी मनुष्य ने कभी देखा ही नहीं, तो यह नहीं कहा जा सकता है कि, ये पदार्थ हैं ही नहीं; वैसे ही सर्वभूतात्मा ज्ञानरूप, एवं सूक्ष्म परमात्मा यदि किसी को चर्मचक्षुओं से न देख पड़े, तो यह कोई नहीं कह सकता कि, वह है ही नहीं। जगत् में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। किन्तु देखने वाले यह नहीं जानते कि, यह जगत् ही प्रतिबिम्ब रूप है। ज्ञान का भी यही हाल है। ज्ञान

की उत्पत्ति अपने आप होती है। वह आत्मापरायण या दूसरे का आश्रित नहीं है; किन्तु स्वयंसिद्ध है। स्थूल वस्तुओं की उत्पत्ति के पूर्व और लय होने के बाद अरूप मानने वाले विवेकी जन, बुद्धि साहाय्य से स्थूल स्वरूप वाली वस्तुओं की अरूपता को देखते हैं। इस प्रकार यद्यपि सूर्य की गति देखने में नहीं आती, तथापि उसके उदय एवं अस्त को देखने वाले जन, उसका गतिशील होना मानते हैं। इसी तरह विवेकी और विज्ञानी जन, बुद्धि रूपी दीपक की सहाता से, दूरस्थ ब्रह्म को देख सकते हैं और समीपस्थ पञ्चमहाभूतों को ब्रह्म में लय करने का उद्योग करते हैं।

यह बात तो निस्सदेह है कि, बिना उद्योग किये कोई कार्य पूरा नहीं हो सकता, जैसे मछुवे सूत निर्मित जाल से मछलियाँ पकड़ते हैं, जैसे मृगों के द्वारा मृग पकड़ाये जाते हैं, जैसे पक्षियों से पक्षी पकड़ लिये जाते हैं और जैसे गजों से गज पकड़े जाते हैं, वैसे ही ज्ञेय ब्रह्म भी अपने सजातीय ज्ञान द्वारा जाना जाता है। हमने सुना है कि, साँप के पैर साँप ही को देख पड़ते हैं, इसी प्रकार स्थूल देह और लिङ्ग शरीर में स्थित ज्ञेय आत्मा को आत्मा अर्थात् बुद्धि की वृत्ति ही जान पाती है। जैसे कोई मनुष्य किसी इन्द्रिय को इन्द्रियों की सहायता से नहीं देख सकते, वैसे ही पराबुद्धि भी शुद्धात्मा को नहीं देख सकती। अमावास्या के सूर्य के साहाय्य से उपाधि शून्य चन्द्रमण्डल देखने में नहीं आता तो भी यह कोई नहीं कहता कि चन्द्रमण्डल नष्ट हो गया। इसी प्रकार शरीर-धारी जीव भी देखने में नहीं आता। अतः उसका नाश होना नहीं माना जाता।

परन्तु चन्द्रमा का स्थूल शरीर नष्ट होने पर जैसे अमावास्या के दिन वह नहीं देख पड़ता, वैसे ही अन्नमय कोशादि कोशों से युक्त शरीर का नाश होने पर वृत्तिशून्य आत्मा भी नहीं देख पड़ता। जैसे चन्द्रमा आकाश के अन्य भाग में पहुँच कर, पुनः प्रकाशित होता है, वैसे ही,

देहधारी आत्मा भी. देहान्तर में पहुँच कर, प्रकाशमान हो जाता है। जन्मवृद्धि, क्षय, जैसे चन्द्रमण्डल के हमें प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं, वैसे ही इस शरीर का भी सम्बन्ध जन्म, वृद्धि और क्षय से है। शरीर जन्मता है, बढ़ता है और अवस्थान्तर भेद से उसमें उलट फेर भी होते हैं, तिस पर भी यह ज्ञान होता ही है कि वह शरीर अमुक का है। इसी प्रकार अमावास्या के दिन अदृश्य हुआ चन्द्रमा, जब पुनः देख पड़ता है, तब हम कहते हैं कि, यह वही चन्द्रमा है। इसी तरह देही आत्मा जब एक शरीर को त्याग कर, दूसरे शरीर में जाता है, तब भी वह चन्द्रमा की तरह एक ही होता है।

जैसे अन्धकार रूप राहु चन्द्रमा के निकट आता हुआ और उसे छोड़ कर जाता हुआ हमें नहीं देख पड़ता, वैसे ही चेतन आत्मा किस प्रकार एक शरीर को छोड़ दूसरे शरीर में जाता है हमें नहीं देख पड़ता। जैसे राहु अदृश्य और सूर्य के सम्बन्ध से चन्द्रमा जैसे दृश्य है, वैसे ही देही आत्मा भी देह के सम्बन्ध से दृश्य है। चन्द्र और सूर्य का वियोग होने से राहु नहीं जाना जाता। अमावास्या के दिन चन्द्रमा सूर्य के साथ रह कर नक्षत्रों से युक्त हो जाता है। अतः दिखलायी नहीं पड़ता। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि, चन्द्रमा नष्ट हो गया। इसी प्रकार एक शरीर के नष्ट होने पर यह नहीं कहा जा सकता कि, आत्मा का नाश हो गया। किन्तु वह कर्म के फल रूप अन्य शरीरों के साथ संयुक्त हो जाता है। सारांश यह कि, शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता।

दोसौ चार का अध्याय

आत्मा को देखने के उपाय

मनु ने कहा— हे बृहस्पति! स्वप्नावस्था में जब इन्द्रियों सहित स्थूल शरीर निद्राभिभूत हो जाता है, तब लिङ्ग शरीर कार्य करता है, इसी प्रकार सुषुप्ति के समय लिङ्ग शरीर को भी त्याग कर, एक ज्ञान ही रहता है। जैसे निर्मल जल में अपना रूप निज नेत्रों से देख पड़ता है, वैसे ही जब समस्त इन्द्रियाँ प्रसन्न होती हैं, तब ज्ञान द्वारा ज्ञेयात्मा का दर्शन होता है। जब जल हिलता है, तब उसमें अपना रूप नहीं देख पड़ता। वैसे ही जब इन्द्रियाँ चञ्चल होती हैं, तब बुद्धि द्वारा ज्ञेयात्मा नहीं देख पड़ता। अविद्या की उत्पत्ति अज्ञान से होती है। अविद्या से राग आदि में मन फँस जाता है। तब मन के वश में रहने वाली पाँचों इन्द्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं। विषयमग्न और मोहमुग्ध अज्ञानी पुरुष, जगत् के व्यवहार से कभी उपराम को प्राप्त नहीं होता। किन्तु कर्माकर्म के साथ, विषय भोग करने के लिये उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है। पाप कृत्यों के कारण मनुष्य की तृष्णा नष्ट नहीं होती। साँसारिक वस्तुओं में सदा आसक्ति रखने से जिस जिस वस्तु की चाहना रखनी चाहिये, उससे अन्य वस्तु की मन में कामना रहने से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु जब पापकर्म नष्ट हो जाते हैं, तब पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे किसी पुरुष को निर्मल दर्पण में अपना स्वरूप देख पड़ता है, वैसे ही वह अपने आत्मा में अपना स्वरूप देखता है। यदि इन्द्रियदमन न की गयीं, तो मनुष्य को दुःखी होना पड़ता है। यदि इन्द्रियाँ नियम में रहती हैं, तो मनुष्य सुखी होता है। अतः मनुष्य को उचित है कि, वह इन्द्रिय-जन्य विषयों से मन को हटावे। इन्द्रियों की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि, बुद्धि की अपेक्षा जीवात्मा और जीवात्मा की अपेक्षा परमात्मा उत्तम है। अव्यक्त से ज्ञान, ज्ञान से बुद्धि, बुद्धि से मन

उत्पन्न होता है। मन जब श्रोत्रादि इन्द्रियों से संयुक्त होता है, तब उसे शब्दादि विषयों का भली-भाँति अनुभव प्राप्त होता है। जो मनुष्य शब्दादि विषयों को तथा प्रकृति से उत्पन्न स्थूल और कारण शरीर को त्याग देता है, वह मुक्त होता है। जैसे सूर्य उदय होते ही किरणजाल विस्तारित करते हैं और अस्त होने के समय जैसे वे उसे संवरण कर लेते हैं, वैसे ही आत्मा शरीर में प्रवेश कर, इन्द्रिय रूपी किरणों से इन्द्रियों के पाँचों विषयों को प्राप्त करता है और जब वह शरीर त्यागता है; तब इन्द्रिय रूपी किरणों को समेट लेता है। प्रवृत्त-धर्माचरणी पुरुष कर्मवश बारंबार उत्पन्न होता है और मरता है। जो मनुष्य विषय-भोग त्याग देता है उसकी शब्दादि भोग की अभिलाषा शान्त हो जाती है। जब उसे विषयादि से रहित आत्मा का ज्ञान होता है, तब उसकी वासनाएं भी नष्ट हो जाती हैं। जब बुद्धि विषयों का सङ्ग त्याग मन की प्रधानता वाले पदार्थ अर्थात् अस्मिता में ठहरती है; तब मन भी ब्रह्म में लीन होता है। ब्रह्म इन्द्रियातीत है और तर्कगम्य नहीं है। बुद्धि द्वारा ही वह प्राप्त किया जा सकता है। इन्द्रियों की सहायता से मन विषयों में और विषय मन में लीन हो जाते हैं, मन बुद्धि में लीन हो जाता है और बुद्धि चैतन्य जीव में लय हो जाती है और जीव परब्रह्म में लय हो जाता है। इन्द्रियों से मन की सिद्धि नहीं हो सकती, मन बुद्धि को नहीं जान सकता, बुद्धि व्यक्त जीव को नहीं जान सकती। किन्तु सूक्ष्म स्वरूप चिदात्मा ही इन सब को देख सकता है।

दोसौ पाँच का अध्याय

दुःख विमोचन और ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय

मनु ने कहा—हे बृहस्पति! शारीरिक रोग और मानसिक खेद के विद्यमान होने पर चिन्तित न हो, ऐसे समय योगसाधन भी नहीं किय

जा सकता। दुःख से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय दुःख की चिन्ता न करनी है। यदि दुःख के लिये चिन्ता की गयी, तो दुःख दुःखी पुरुष को घेर लेता है और बारंबार उस पर आक्रमण करता है। अतः ज्ञान द्वारा मानसिक दुःख को दूर करे और दवा दर्पन से शारीरिक रोगों को मिटावें। लड़कों की तरह, दुःखी होने पर बैठ कर रोवे नहीं, तरुण स्त्री, रूप, जीवन, धन-संग्रह, निरोगता और प्रिय-जनों का संयोग ये सब नाशवान् हैं। अतः विवेकी जन को इनकी माया में न फँसना चाहिये। एक जन को देश भर के दुःख के लिये दुःखी होना अनुचित है, किन्तु यदि देश भर का दुःख दूर करने का उपाय सूझ जाय, तो उसे दूर कर दे, स्वयं दुखी न हो। मनुष्य-जीवन में सुखावसरों की अपेक्षा दुःखावसर बहुत आया जाया करते हैं। जो मनुष्य इन्द्रियों के मोह में फँस जाता है, उसे मृत्यु के मुख में गिरना पड़ता है। वह ज्ञानीजन जो सुख दुःख दोनों को त्याग देता है, वह शोक करता ही नहीं और वही अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त करता है।

विषय प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने से जितना दुःख होता है, उतना ही दुःख उनकी रक्षा करने में होता है। तिस पर भी उनका नाश हो जाता है। अतः यदि विषयों का नाश हो, तो उसका विचार भी न करना चाहिये। ब्रह्म, ज्ञान के विषयों से मुक्त माना जाता है। मन जो ज्ञानेन्द्रियों से संलग्न रहता है, जब ज्ञानेन्द्रियों से जुड़ जाता है, तब बुद्धि विषयाकार वृत्तिरूप हो कर, प्रकाशित होती है। बुद्धि जिस समय कर्मजन्य संसार के साथ मिल कर मनन-रूपी-चित्त की वृत्ति में जा ठहरती है; तब योगी लोग, समाधि द्वारा परब्रह्म को जान लेते हैं। जैसे जल पर्वतशिखर से निकल कर, ढालू भूमि की ओर बहता है, वैसे ही बुद्धि की वृत्तियाँ, अज्ञान से छूट कर, इन्द्रियों से जा मिलती हैं। तदनन्तर वे रूपादि विषयों की ओर दौड़ती हैं। किन्तु जब निर्गुण ध्येय-वस्तु, जो अज्ञान का कारण है, बुद्धि की वृत्ति में जा मिलती है, तब जैसे

सोने के कसौटी पर कस कर, देखने से सुवर्ण का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म का भी यथार्थ ज्ञान होता है। इन्द्रियों के विषयों का अनुभव कराने वाला मन है। इस मन को ही विषयों से हटाना चाहिये। विषयासक्त मन निर्गुण ब्रह्म को कभी नहीं दिखला सकता। अतः इन्द्रियों के समस्त द्वारों को बंद कर के मन में स्थित करना और उस मन को बुद्धि में लय कर के एकाग्र करने से बुद्धि से परे परमात्मा की प्राप्ति होती है। समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेने से मन वैसे ही बुद्धि में लय हो जाता है, जैसे गुणत्रय के पीछे पञ्च-महाभूतों की तन्मत्राएँ निवृत्त हो जाती हैं। निश्चयात्मक तथा भीतर अर्थात् अहङ्कार में प्रवृत्ति करने वाली तथा व्यवसाय के गुणों वाली बुद्धि मन में रहती है। उस समय मन को छोड़ और अन्य कोई भी उत्तम अवस्था में नहीं रहता। जो मन, मनमाने गुणों के साथ एक हो जाता है, वह जब ध्यान द्वारा श्रेष्ठत्व प्राप्त कर लेता है, तब वह समस्त गुणों को छोड़, निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करता है। अव्यक्त को जनाने के लिये दृष्टान्त नहीं है। क्योंकि जहाँ वाणी का व्यापार ही नहीं, फिर उसे कोई जान कैसे सकता है? अतः तप द्वारा, अनुमान द्वारा, मनन रूप युक्ति से, शमदमादि गुणों से, ब्राह्मण आदि जाति के योग्य धर्मों का पालन कर के तथा वेदान्त के परम तत्त्व को सुन कर, अन्तरात्मा को पवित्र बनाना चाहिये। तब ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि गुणों से छूट कर ही पुरुष सूक्ष्म दृष्टि से वाह्य-रूप को देख सकता है। ज्ञेय परब्रह्म, गुणाभाव होने के कारण किसी प्रकार भी प्रकृति से तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता। जब वह निर्गुण हो जाता है, तभी ब्रह्म प्राप्त होता है। किन्तु सगुण पुरुष ब्रह्म से बहिर्मुख रहता है। यथार्थ में बुद्धि का ऐसा स्वभाव ही है। क्योंकि जैसे आग, लकड़ी में सञ्चारित होती है, वैसे ही बुद्धि का गुणों में सञ्चार होता है। सुषुप्ति अवस्था में जैसे पाँच इन्द्रियाँ अपने अपने कर्मों से रहित हो जाती हैं, वैसे ही परब्रह्म भी सदैव प्रकृति से शून्य रहता है

प्रकृति ही समस्त शरीर-धारियों की प्रेरक है, यही उन्हें स्वर्ग में पहुँचाती है। किन्तु, जब ये प्रवृत्ति से रहित हो जाते हैं; तब उनकी मुक्ति होती है। जीव, माया, बुद्धि, विषय, इन्द्रियाँ, अहङ्कार और अभिमान की मूल संज्ञा है। इन सब की पहली प्रवृत्ति प्रधान से होती है और दूसरी सृष्टि पाँच तन्मात्राओं, ग्यारह इन्द्रियों और अहङ्कार से मैथुन द्वारा नियमपूर्वक होती है। धर्म, श्रेय की वृद्धि करने वाला है और अधर्म अनिष्टकारक है। विषयों में प्रीति रखने वाला रागी पुरुष प्रलय-काल में प्रकृति को प्राप्त करता है और विरक्त जन प्रकृति को नष्ट कर, आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है।

दोसौ छः का अध्याय

ब्रह्मप्राप्ति निवृत्त मार्ग ही से होती है

मनु ने कहा—हे बृहस्पति ! जब मन और पाँचो इन्द्रियाँ मय उनके विषयों के वश में कर ली जाती हैं, तब मणि में पिरोये हुए डोरे की तरह शरीर में ओतप्रोत ब्रह्म का दर्शन होता है। जैसे सुवर्ण के हार में डोरा रहता है, वैसे ही वह डोरा मोती की माला, मूंगों की माला, चाँदी की माला और मिट्टी की बनी माला में भी रहता है। इसी उदाहरण के अनुसार जीव निज कर्मानुसार गौ, घोड़ा, मनुष्य, हाथी, मृग, कीट, पतङ्ग में भी व्याप्त रहता है। जीवात्मा जिस शरीर से जो जो कर्म करता है, उस उस शरीर से उसे उस कर्म का फल भोगना पड़ता है। जिस प्रकार भूमि में एक ही रस होता है फिर भी उसमें जैसी खाद डाली जाती है उसमें वैसा ही रस उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार अन्तरात्मा भी बुद्धि को प्रकाशित करता है और बुद्धि पूर्व-जन्म-कृत कर्मों के अनुसार होती है। प्रथम विषय ज्ञान होता है। पश्चात् उस विषय को प्राप्त

करने की इच्छा होती है। इच्छा उत्पन्न होने पर उस इच्छा को पूर्ण करने का उद्योग आरम्भ किया जाता है। इस उद्योग को अभिसन्धि कहते हैं। अभिसन्धि के बाद कर्म की उत्पत्ति होती है और कर्म करने बाद उसका फल उत्पन्न होता है। अतः कर्म ज्ञेय स्वरूप है और ज्ञान सत् तथा असत् रूपी है। सत् असत् से अभिप्राय चेतन और जड़ से है। चेतन तथा जड़ सम्बन्धी ज्ञान का, शरीर का, बुद्धि का और सञ्चित कर्मों का नाश हो जाने पर, जो दिव्य फल प्राप्त होता है, उसीको ज्ञेय पदार्थ में रहने वाला ज्ञान समझना चाहिये।

ज्ञेय तीन प्रकार के परिच्छेदों से रहित और सर्वोत्तम है। योगी उसे अपने आत्मा के भीतर देखते हैं; किन्तु विषयासक्त अज्ञानी जनों को आत्मास्थित उस परमात्मा के दर्शन नहीं होते। पृथिवी की अपेक्षा जल का, जल की अपेक्षा तेज का, तेज की अपेक्षा पवन का और पवन की अपेक्षा आकाश का, आकाश की अपेक्षा मन का, मन की अपेक्षा बुद्धि का, बुद्धि से काल का और काल की अपेक्षा विष्णु का परिमाण अत्यधिक है। भगवान् विष्णु ही से इस सारे जगत् की उत्पत्ति हुई है। भगवान् विष्णु का न आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है। इसीसे भगवान् विष्णु अव्यय हैं—अविनाशी हैं। वे सब प्रकार के दुःखों के परे रहते हैं। क्योंकि दुःख तो ज्ञाता, ज्ञेय आदि विभागों से सम्पन्न होने के कारण अन्तवान कहा जाता है। भगवान् विष्णु ही परब्रह्म पदवाच्य हैं। वे ही परमधाम और परमपद कहलाते हैं। उन्हींको प्राप्त कर जीवात्मा को फिर काल के फंदे में नहीं फँसना पड़ता। यह सब विश्वप्रपञ्च जो हमें देख पड़ता है गुणों द्वारा प्रकाशित है। किन्तु ब्रह्म निर्गुण (हेय गुणों से रहित) होने के कारण सब से श्रेष्ठ है। कर्म से विरक्ति होना ही धर्म है। इसी धर्म के द्वारा मोक्ष मिलता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के मंत्र देहाश्रित हैं और वाणी के अग्रभाग से बाहिर निकलते हैं। अतः यत्नसाध्य और नाशवान् हैं।

इससे ब्रह्म प्राप्त कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि शरीराश्रित न हो कर शरीर के अधिष्ठान रूप आत्मा के आश्रय ब्रह्म स्थित है। ब्रह्म आदि, मध्य और अन्त रहित होने के कारण प्रयत्न-साध्य भी नहीं है। वह ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद का आदि है। फिर जिसकी आदि है उसका अन्त भी देखा जाता है, किन्तु ब्रह्म की न तो आदि किसी ने सुनी और न उसका अन्त ही सुना गया। इसीसे ब्रह्म अनन्त और अव्यय कहलाता है। अव्यय होने के कारण वह दुःखरहित है। अतः उसमें मान अपमान आदि द्वन्द्व नहीं हैं। दैव की उलटी कृपा होने के कारण तथा उपयुक्त उपायों के अभाव से तथा कर्म से होने वाले विघ्नों के कारण, जिस मार्ग से कर्म की प्राप्ति हो सकती है, उसे मनुष्य देख नहीं सकते। साँसारिक विषयों की सिद्धि के कारण, उत्तम स्वर्गसुख प्राप्ति की कामना होने के कारण तथा मन में ब्रह्म को छोड़ अन्य पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा वर्तमान होने के कारण, यह जीव परब्रह्म को नहीं पा सकता। क्योंकि मनुष्य इस संसार में जिन विषयों को देखता है, उन्हींको प्राप्त करने की उसके मन में इच्छा उत्पन्न होती है और जो विषयों के अभिलाषी होते हैं, वे ब्रह्मप्राप्ति की अभिलाषा करने ही क्यों लगे? क्योंकि परब्रह्म तो निर्विषय है। अज्ञानवश जो लोग कुत्सित विषयों के दास बने हुए हैं, वे योगगम्य उत्तम विषयों को कैसे जान सकते हैं? ध्यान द्वारा सूक्ष्म मन से जो लोग ब्रह्म को जानते हैं; वे वाणी से उसे कह नहीं सकते। मन जो है वह मन द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार चक्षुगम्य विषय चक्षु द्वारा ग्रहण किया जा सकता है।

मनुष्य को उचित है कि,—वह ज्ञान से अपनी बुद्धि को निर्मल करे, बुद्धि से मन को निर्मल करे और मन से सकल इन्द्रियों को वश में करे। ऐसा करने पर ही अक्षर परब्रह्म को वह प्राप्त कर सकता है। ध्यान परिपक्व न होने के कारण बुद्धि की आसक्ति से रहित एवं श्रवण,

मनन आदि द्वारा मन की सम्पन्नता से युक्त पुरुष, किसी पदार्थ की चाहना न करने वाले निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होता है। जैसे वायु काठ में रहने वाले अग्नि को प्रज्वलित न करता हुआ उसे त्याग देता है, वैसे ही कामनाओं से विकल पुरुष भी अपने शरीर के भीतर स्थित आत्मा का त्याग कर देता है और उसे जानने का उद्योग नहीं करता। जब विषय आत्मा में लय कर दिये जाते हैं, तब मन, बुद्धि से परे रहने वाले आत्मा को पाता है, किन्तु जब विषयों को पृथक् पृथक् ग्रहण किया जाता है, तब वह बुद्धिकल्पित ब्रह्मलोक तक का ऐश्वर्य उसे प्राप्त हो जाता है। इस विधान के अनुसार जो पुरुष विषयों को नाश करने में लगता है, वह विषयों से रहित होने पर ही ब्रह्म के स्वरूप को जान पाता है। पुरुष अव्यक्त है। किन्तु जब वह गुणों से युक्त होता है, तब उसके कर्म भी व्यक्त होते हैं और जब शरीर नष्ट हो जाता है, तब वह पुनः अव्यक्त हो जाता है। वस्तुतः आत्मा कामनाओं से रहित और क्रियाशून्य है। किन्तु सुख-दुःख-प्रद इन्द्रियों से युक्त वह लिङ्ग शरीर को धारण कर, स्थूल शरीर के रूप में, परिणाम को प्राप्त पञ्च-भूतों को धारण करता है। किन्तु लिङ्ग रूप में अन्तर्यामी परमात्मा नहीं होते। इसीसे उसमें गति आदि नहीं होती और वह कर्म भी नहीं कर सकता।

यद्यपि इस धरामण्डल का अन्त किसी ने नहीं देखा, तथापि तुम समझ लो कि, पृथिवी का अन्त कहीं न कहीं अवश्य है। जैसे समुद्र में चलता हुआ जहाज़ प्रबल तरङ्गों के उठने पर खड़ा हो जाता है और अनुकूल पवन उसे तट पर पहुँचा देता है, वैसे ही आसक्ति से विकल मनुष्य श्रेष्ठत्व को प्राप्त कर सकता है। यद्यपि सूर्य जगत् का प्रकाश कर्त्ता है, तथापि अस्त होने के समय वह किरणजाल को समेट, फिर प्रकाशकर्त्ता नहीं रह जाता अर्थात् निर्गुण हो जाता है।

इसी प्रकार समस्त आसक्तियों से रहित और तपोनिष्ठ मुनि निर्गुण

और अव्यय ब्रह्म को प्राप्त करता है। मनुष्य उस परब्रह्म को जान कर ही अमरत्व प्राप्त करता है, जो जन्म मरण रहित है, जो विवेकी जनों का परम स्थान है, जो स्वयंसिद्ध है, जिससे सब की उत्पत्ति होती है, और जिसमें सब लय होते हैं, जिसका कभी नाश नहीं होता और जो निश्चय ही विद्यमान है।

दोसौ सात का अध्याय

परब्रह्म श्रीकृष्ण

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! कमलनयन, अविनाशी, प्राणी-मात्र के उत्पादक, किन्तु स्वयं उत्पत्ति रहित, सर्वव्यापक, प्राणियों को बनाने बिगाड़ने वाले, जिनको लोग नारायण, हृषीकेष, गोविन्द और केशव कहते हैं—जो सर्वथा अजेय हैं, उनका चरित्र मैं ठीक ठीक सुनना चाहता हूँ।

भीष्म ने कहा—मैंने उनका चरित्र जमदग्निनन्दन परशुराम, देवर्षि नारद और व्यासमुनि के मुख से सुना है। हे तात! असित देवल ऋषि, महातपस्वी मुनि वाल्मीकि और मार्कण्डेय भी गोविन्द की विस्मयोत्पादिनी कथा कहा करते हैं। हे राजन्! भगवान् केशव सब के अन्तर्यामी भी होने के कारण सब के नियन्ता है। वे अनेक रूप धारण कर सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। अब मैं तुम्हें शार्ङ्गधनुषधारी केशव के उन कर्मों को सुनाता हूँ, जो ब्राह्मणों को विदित हैं। मैं गोविन्द के वे चरित्र भी तुम्हें सुनाऊँगा, जिन्हें पुराणों के ज्ञाता जानते हैं। गोविन्द समस्त प्राणियों के आत्मा हैं। वे महात्मा हैं और पुरुष-श्रेष्ठ हैं। उन्होंने वायु, अग्नि, जल, आकाश और पृथिवी को उत्पन्न किया है। ये पञ्चमहाभूत कहलाते हैं। पृथिवी को उत्पन्न करने के

पूर्व सर्वेश्वर परमात्मा जल ही में रहते थे। सकल तेजों के आधार स्वरूप पुरुषोत्तम ने जल में शयन करने के बाद अहङ्कार को उत्पन्न किया। जगत् में अहङ्कार की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई।

सुनते है, उन्होंने मन सहित अहङ्कार को उत्पन्न किया था। वही अहङ्कार समस्त भूतों को तथा भूत और भविष्यत् को धारण करने वाला है। तदनन्तर सूर्य के समान तेजस्वी और एक दिव्य कमल उन पुरुषोत्तम की नाभि से निकला। हे तात! उस कमल से सर्वलोक पितामह ब्रह्मा जी समस्त दिशाओं को प्रकाशित करते हुए निकले। ब्रह्मा जी के प्रादुर्भूत होने के बाद तमोगुणी एक असुर, जिसका नाम मधु था—उत्पन्न हुआ। तब ब्रह्मा जी की भलाई के लिये पुरुषोत्तम ने उस उग्रकर्मा असुर का वध किया। क्योंकि वह ब्रह्मा को मार डालने के लिये तैयार हो गया था। हे तात! मधु दैत्य का वध करने के कारण ही यादव अथवा विवेकी पुरुष, देवता दानव और मनुष्य, भगवान् श्रीकृष्ण को मधुसूदन कहते हैं। तदनन्तर ब्रह्मा ने मानसिक सात पुत्र उत्पन्न किये। इन सातों में सब से छोटे दक्ष थे। ब्रह्मा के सातों मानसिक पुत्रों के नाम ये हैं—१ मरीचि, २ अत्रि, ३ अङ्गिरा, ४ पुलस्त्य, ५ पुलह, ६ क्रतु और ७ दक्ष। इन सब में मरीचि ज्येष्ठ थे। उसने कश्यप नामक एक मानसिक पुत्र उत्पन्न किया। मरीचि बड़े तेजस्वी, और वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ थे। ब्रह्मा ने अपने अँगूठे से दक्ष प्रजापति को उत्पन्न किया। यह दक्ष प्रजापति मरीचि से भी बड़े थे। दक्ष प्रजापति के पहले तेरह लड़कियाँ हुईं। इन तेरहों में दिति सब से बड़ी थी। धर्म के विशेषज्ञ एवं पवित्रयशा एवं महायशस्वी मरीचिनन्दन कश्यप, दक्ष प्रजापति की समस्त पुत्रियों के पति बनें। तेरह के बाद धर्मज्ञ दक्ष प्रजापति ने दस कन्याएँ और उत्पन्न कीं और उन दसों को धर्म के साथ विवाह दिया।

धर्म ने उनमें से वसु, अपार तेजस्वी रुद्र, विश्वे देव, साध्य देवता,

और मरुद्गण को उत्पन्न किया। इन तेइस लड़कियों के अतिरिक्त दक्ष प्रजापति के सत्ताईस कन्याएँ और भी थीं। उनका विवाह महाभाग चन्द्रमा के साथ हुआ था।

[नोट—उक्त वर्णन में धर्मदेव और चन्द्रदेव की उत्पत्ति कैसे हुई—इसका वर्णन नहीं आया]

कश्यप की अन्य स्त्रियों ने गन्धर्व, अश्व, गौ, पक्षी, किम्पुरुष, मत्स्य, उद्भिज्ज और वनस्पति आदि उत्पन्न किये। अदिति ने महाबलवान् एवं श्रेष्ठ देवताओं को उत्पन्न किया। इन्हींसे वामन रूप में भगवान् विष्णु ने जन्म लिया था। ये ही गोविन्द थे और समस्त देवताओं से श्रेष्ठ थे। इन्हींके विक्रम से देवताओं की सम्पत्ति बढ़ी। इन्हींने दानवों को पराजित किया था। ये दानव दिति के पुत्र थे और असुर कहलाते थे।

दनु नाम्नी स्त्री ने विप्रचित्ति आदि मुख्य मुख्य दानवों को उत्पन्न किया था और दिति ने बड़े बलवान, समस्त असुरों को उत्पन्न किया था। भगवान मधुसूदन ने दिवा, रात्रि, ऋतुएँ, पूर्वाह्न, अपराह्न आदि रचे। फिर उन्होंने ध्यान धर कर, मेघों को तथा स्थावर जङ्गम पदार्थों को उत्पन्न किया और महातेज से इस विश्व को तथा अन्य सब पदार्थों सहित पृथिवी को उत्पन्न किया। फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने मुख से सैकड़ों उत्तम ब्राह्मण, दोनों भुजाओं से सैकड़ों क्षत्रिय, दोनों जंघाओं से सैकड़ों वैश्य और दोनों चरणों से सैकड़ों शूद्र उत्पन्न किये। इस प्रकार महात्मा विष्णु ने चारों वर्ण उत्पन्न कर, धाता को समस्त प्राणियों का अधिष्ठाता नियुक्त किया।

महाकान्तिशाली ब्रह्मा जी ने वेदविद्या का प्रचार किया। फिर भगवान् केशव ने भूतगण और मातृगण के अध्यक्ष विरूपाक्ष को रचा। तदनन्तर, पापियों को दण्ड देने के लिये उन्होंने यम को, देवताओं के धनागार के रक्षक धनपति अर्थात् कुबेर को और जलचरों के स्वामी

वरुणदेव को उत्पन्न कर इन्द्र को देवताओं के राजा के पद पर नियुक्त किया। सत्ययुग के लोग जब तक जीना चाहते थे, तब तक जी सकते थे। उन्हें यमराज का भय न था। उस युग में मैथुनी सृष्टि भी न थी। उस युग में सङ्कल्प मात्र से सन्तान उत्पन्न होते थे। त्रेतायुग में भी मैथुनी सृष्टि का आरम्भ नहीं हुआ। किन्तु पुरुष द्वारा स्त्री को छूते ही सन्तान उत्पन्न होती थी। द्वापर से मैथुनी सृष्टि होने लगी और कलियुग में जोड़ी बाँध मनुष्य सन्तानोत्पत्ति करने लगे।

हे युधिष्ठिर—समस्त प्राणियों के प्रभु के विषय में मैंने तुम्हें यह सुनाया। ये ही समस्त प्राणियों के अध्यक्ष हैं। अब तुम इस भूतलवासी पापी प्राणियों का भी वृत्तान्त सुन लो। दक्षिण देश के आन्ध्रप्रान्तीय समस्त लोग, गुह, पुलिन्द, शबर, चुचुक और मद्रकों को तुम पापी जानो। यौन, काम्बोज, गान्धार, किरात और बर्बर जाति के लोग उत्तर दिक्-वासी पापी हैं, उन्हें तुम चाण्डाल और गृद्धपक्षी की तरह अपावन समझो। ये भूतल पर सदा पापकर्म ही किया करते हैं। सत्ययुग में ये सब पैदा नहीं हुए थे। इनकी वृद्धि तो त्रेतायुग में हुई है। त्रेता और द्वापर की सन्धि के महाघोर समय में क्षत्रिय परस्पर युद्ध करने लगे थे। हे धर्मराज! इस प्रकार श्रीकृष्ण से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। सर्वज्ञ देवर्षि नारद का कथन है कि, श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं और महात्मा हैं। हे राजन्! हे भरत सत्तम! श्रीकृष्ण ने भी सनातन धर्म को यथार्थ रीत्या माना है। सत्यपराक्रमी एवं महाबाहु कमलनयन श्रीकृष्ण की महिमा विचार तक में नहीं आ सकती! वे केवल मनुष्य ही नहीं हैं, किन्तु पुराण-पुरुषोत्तम हैं।

दोसौ आठ का अध्याय

प्रजापति वंश और दिक्ऋषिगण

युधिष्ठिर ने पूँछा—हे पितामह ! प्रथम प्रजापति कौन था ? और प्रत्येक दिशा में रहने वाले महाभाग ऋषि कौन कौन थे ?

भीष्म ने कहा—अपने प्रश्न का उत्तर सुनो। प्रजापति तथा दिक्-वासी ऋषियों का वर्णन मैं करता हूँ। सृष्टि के आरम्भ में स्वयंभू और सनातन भगवान् ब्रह्मा जी ही थे। उनके सात महात्मा पुत्र थे। उनके नाम इस प्रकार थे मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलत्स्य, पुलह, क्रतु और महा-भाग्यशाली वसिष्ठ। वे सब अपर ब्रह्मा जैसे थे। पुराण वालों ने उन्हें अपर ब्रह्मा ही बतलाया है। अत्रि के वंश में ब्रह्मयोनि और सनातन रूप भगवान् प्राचीनवर्हि राजा उत्पन्न हुआ। उसके दस पुत्र हुए। वे प्राचेतस कहलाये। उन दस प्राचेतसों में एक दक्ष नामक प्रजापति भी था। उसके दो नाम थे। एक दक्ष और दूसरा "क"।

मरीचि से कश्यप हुए। कश्यप का दूसरा नाम था अरिष्टनेमि।

अत्रि का पुत्र राजा सोम हुआ। वह बड़ा वीर्यवान् और धनवान् था। उसने देवताओं के एक सहस्र वर्षों तक ईश्वराराधन किया।

भगवान् अर्यमा और उनके पुत्र, हुकुमत करने वाले और समस्त प्राणियों के सृष्टा रूप थे। राजा शशविन्दु के दस हज़ार स्त्रियाँ थीं और प्रत्येक स्त्री के एक एक हज़ार पुत्र थे। अतः शशविन्दु के सब मिला कर दस लाख पुत्र थे। वे अपने ऊपर किसी अन्य की हुकूमत नहीं चाहते थे। पुराणज्ञ ब्राह्मणों का कहना है कि, समस्त प्रजाजनों की उत्पत्ति शशविन्दु ही से हुई है। प्रजापति शशविन्दु के महावंश ही में यथासमय वृष्णि वंश की उत्पत्ति हुई। यहाँ तक तो प्रथितयशा प्रजा-पतियों का वर्णन मैंने सुनाया, अब मैं तुम्हें त्रिलोक स्वामी देवताओं का वृत्तान्त सुनाता हूँ। भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता,

महाबली विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवें विष्णु—द्वादश आदित्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम कश्यप है। नासत्य तथा दस्त्र दोनों अश्विनीकुमार हैं और ये दोनों आठवें आदित्य के पुत्र हैं। पहले तो वे देवता कहलाते थे, किन्तु पीछे वे दो प्रकार के पितर कहलाने लगे। त्वष्टा का पुत्र प्रथितयशा श्रीमान् विश्वरूप हुआ। अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष और रैवत, हर, बहुरूप, देवाधिपति त्र्यम्बक, सावित्र, जयन्त और सब के लिये अजेय पिनाकी और पूर्व वर्णित अष्टवसु—प्रजापति मनु के समय में देवता कहलाते थे। वे प्रथमदेव और दो प्रकार के पिता भी कहलाते थे। सिद्धों और साध्यों में शील और युवावस्था के कारण दो विभाग थे। प्रथम भाग में देवता और दूसरे में मरुत थे। इनमें आदित्य क्षत्रिय हैं और मरुत वैश्य। महाभयानक तप करने वाले अश्विनीकुमार की गणना शूद्रों में है और अंगिरावंशी देवगण ब्राह्मण कहलाये। इस प्रकार देवताओं में चार वर्ण हैं। जो मनुष्य सवेरे उठ इन देवताओं का स्मरण करता है, वह जान कर या अनजाने किये हुए एवं सांसारिक पापों से छूट जाता है।

यवक्रीत, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, औशि, कक्षिवान, और बल अंगिरा के पुत्र कहलाते हैं। ये सब तथा मेधातिथिनन्दन कण्व, बर्हिषद् तथा तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाले विख्यात, सप्तर्षि पूर्व दिशा में रहते हैं। उन्मुच, विमुच, पराक्रमी स्वस्त्यात्रेय, प्रमुच, इध्मवाह, मित्रावरुणनन्दन, प्रतापी अगस्त्य दक्षिण दिशा में रहते हैं। उषङ्गु, कवष, धौम्य, परिव्याध, महर्षि एकत, द्वित तथा त्रित और अत्रिनन्दन शक्तिमान् सारस्वत पश्चिम दिशा के वासी हैं। आत्रेय वसिष्ठ, महर्षि कश्यप, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, ऋचीकनन्दन जमदग्नि—उत्तर दिशा में रहने वाले हैं। भिन्न भिन्न दिशाओं में रहने वाले तीक्ष्ण तेजधारी ऋषियों का यही वृत्तान्त है। यह मैंने तुम्हें सुना दिया। ये महर्षि विश्व के द्रष्टा और स्रष्टा रूप हैं।

जो मनुष्य इन ऋषियों के गुण गाता है, उसके समस्त पाप छूट जाते हैं। ये महर्षि जिस जिस दिशा में रहते हैं, यदि कोई मनुष्य उस दिशा में जाय तो वह समस्त पापों से छूट जाता है और सकुशल लौट कर अपने घर आ जाता है।

दोसौ नौ का अध्याय

वाराह भगवान् की कथा

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाबाहो! अविनश्वर भगवान् श्री कृष्ण की महिमा मैं पूर्ण रूप से सुनना चाहता हूँ। उनके कर्म और उनका तेजमय चरित्र मुझे आप सुनाइये। उन महात्मा ने किस लिये पशु-योनि में जन्म लिया था। यह मैं जानना चाहता हूँ।

भीष्म जी बोले—एक दिन मैं आखेट खेलने वन में गया था। वहाँ मैंने सहस्रों मुनियों को मार्कण्डेय के आश्रम में बैठा हुआ देखा। मधुपर्क से उन्होंने मेरा आतिथ्य किया। मैंने उसे ग्रहण कर, ऋषियों को धन्य-वाद दिया। वहीं मुझे महर्षि कश्यप ने आनन्ददायिनी एक दिव्य कथा सुनायी। वही कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ। तुम ध्यान दे कर उसे सुनो।

पूर्वकाल में बड़े बड़े दानव थे। वे जैसे लोभी थे, वैसे ही क्रोधी भी थे। इनमें मुख्य था नरकासुर। वे सब के सब मदोन्मत्त हो गये थे। देवताओं की बढ़ती उन दानवों से न देखी गयी। अतः वे देवताओं को सताने लगे। बेचारे देवगण और देवर्षिगण उनसे घबड़ा कर इधर उधर भागे। तो भी उन्हें शान्ति न मिली।

देवताओं ने देखा कि, पृथिवी सङ्कट में फसी है। भयङ्कर दानवों से दबी हुई पृथिवी पाप के भार से दबी जाती है। देवता पृथिवी को हर्ष-शून्य, कष्टमयी और दुष्टों की मार से पीड़ित देख, विकल हुए और वे

सब अदितिनन्दन, लोकपितामह ब्रह्मा जी के निकट गये और उनसे इस प्रकार प्रार्थना कर कहने लगे। हे ब्रह्मदेव ! दानव लोग हमारा नाश किये डालते हैं। यह दुःख अब हम कैसे सहन करें ? इसके उत्तर में स्वयं ब्रह्मा ने उनसे कहा—इसके लिये मुझे जो करना था वह मैं कर चुका हूँ। वरदान द्वारा दानव एवं असुर बलवान् हो गये हैं और बल के मद में चूर हैं। वे मूर्ख अव्यक्त भगवान् विष्णु को नहीं जानते। अतः भगवान् विष्णु वाराह रूप धारण किये हुए हैं। उनको तुम सब भी नहीं हरा सकते। पृथिवी तल के नीचे जहाँ असंख्य भयानक और नीच दानव और असुर रहते हैं, वहाँ वे जा कर, उनका नाश करेंगे। ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन कर, देवताओं को बड़ी प्रसन्नता हुई।

वाराह रूप धारण कर भगवान् विष्णु पाताल में घुस गये और दैत्यों की ओर जाने लगे। यह देख उन असुरों ने एक साथ उस दिव्य पशु पर आक्रमण किया। क्योंकि उनका काल निकट आ पहुँचा था। अतः उन्होंने क्रोध में भर उस वाराह को पकड़ लिया और उसे चारों ओर से घसीटने लगे। यद्यपि वे दानव विशाल वपुधारी और विपुल बल-शाली थे; तथापि वे वाराह जी का कुछ न कर सके। अतः दानवों के मुखिया बड़े विस्मित हुए। वे मन ही मन भयभीत हो गये। उनमें से सहस्रों दानवों ने अपने मन में सोचा कि, अब हमारा कुशल नहीं है। तब योगात्मा और योगसारथि देवाधिदेव भगवान् वाराह जी योग धारण कर गर्जे। उस गर्जना को सुन दैत्य और दानव बहुत घबड़ाये। क्योंकि उस गर्जना से दसो दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठीं। सुनने वाले क्षुब्ध हो उठे। इन्द्रादि देवगण भी घबड़ा गये। यहाँ तक कि, स्थावर जङ्गमात्मक सारा जगत उस समय मोहित हो निश्चेष्ट हो गया। इस गर्जना ही से बहुत से दानवों की जानें निकल गयीं और वे पृथिवी पर गिर पड़े। तब रसातल में पहुँच वाराह जी, देवशत्रु दैत्यों के माँस, मेदा और अस्थियों के ढेरों को खुरियों से खोदने लगे। पद्मनाभ, महा-

योगी, भूताचार्य और प्राणेश्वर वाराह जी अपने सिंहनाद से सनातन देव कहलाते हैं। उस सिंहनाद को सुन देवगण पितामह ब्रह्मा जी के निकट गये और उनसे बोले—हे प्रभो! यह कैसा सिंहनाद है? हम तो कुछ भी नहीं समझ पाये। यह किस जाति के प्राणी का शब्द है और इसको करने वाला है कौन? इस सिंहगर्जन को सुन, सारा जगत् त्रस्त हो रहा है। देवता, दानव, इस शब्द को सुन मोहित हो गये हैं।

देवगण इस प्रकार ब्रह्मा जी से कह ही रहे थे कि, उसी समय वाराह रूपधारी भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए। तब महर्षि उनकी स्तुति करने लगे। पितामह बोले—हे देवताओ! यह महाबली और महातेजस्वी विष्णु दानवों के राजाओं का संहार कर पृथिवी के नीचे से निकल आये हैं। तुम इनके दर्शन करो। ये ही महायोगी प्राणियों के आत्मा हैं और प्राणियों में प्रवेश कर विराज मान हैं। ये ही सब प्राणियों के प्रभु हैं। ये ही योगियों, मुनियों तथा आत्मा के आत्मा हैं। ये ही सर्वविघ्ननाशक श्रीकृष्ण हैं। अतः तुम स्थिर हो जाओ और क्षुब्ध मत हो। इन अमित कान्ति वाले, महाभाग्यशाली और बड़ी प्रभा वाले भगवान् वाराह ने बड़ा अच्छा काम कर; पुनः निज रूप धारण किया है। ये पद्मनाभ हैं। अतः इनसे भयभीत मत हो और न शोक और दुःख ही करो। ये ही उत्पन्न करने वाले, ये ही पालन करने वाले, ये ही संहार करने वाले काल रूप हो, इन लोकधारी महात्मा ही ने वह गर्जना की थी। ये ही महाबाहु सर्वलोक-प्रणम्य हैं। ये अपनी प्रतिज्ञा से कभी च्युत नहीं होते। ये कमलनयन समस्त मुनियों के आदिकारण और प्रभु हैं।

———

दोसौ दस का अध्याय

परमयोग-वर्णन

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! अब आप मुझे यह बतलावें कि परमयोग क्या है ? जिसके जान लेने से मुझे मुक्ति मिल जाय ?

भीष्म जी ने कहा—इसके उत्तर में मैं तुम्हें मोक्ष सम्बन्धी गुरु शिष्य-संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ। ऋषिश्रेष्ठ और ब्रह्म-विद्या-पारग एक आचार्य थे। वे बड़े तेजस्वी, सत्यभाषी और जितेन्द्रिय थे। एक समय महाबुद्धिमान् कल्याण चाहने वाले तथा अत्यन्त सावधान एक शिष्य ने उनके चरणों में सीस नवा प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर उनसे यह पूछा, हे भगवन् ! यदि आप मेरी सेवा से मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो आप मेरे एक बड़े सन्देह को दूर कर दें। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी उत्पत्ति कहाँ से है। मेरे जन्म का परम कल्याण क्या है ? समस्त प्राणी समान हैं और उनके उपादान कारण पञ्चमहाभूत भी समान हैं। फिर उनका क्षय और प्रादुर्भाव क्यों होता है ? वेदों में वर्णाश्रमधर्म सम्बन्धी जो व्यापक वचन हैं, उनकी मैं यथार्थ व्याख्या सुनना चाहता हूँ।

आचार्य ने कहा—हे महाधीमान् शिष्य ! तूने मुझसे बड़े निगूढ़ प्रश्न किये हैं और बिना उत्तम ज्ञानी हुए अन्य कोई ऐसे प्रश्न पूछ नहीं सकता। इन प्रश्नों में अध्यात्म ज्ञान भरा है और इनके उत्तर समस्त विद्याओं और शास्त्रों के सारांश से युक्त हैं। विश्वात्मा, ब्रह्म रूप वेद का मुख प्रणव अर्थात् ओंकार है। वह वासुदेव, सत्य, ज्ञान, यज्ञ, सहनशीलता, दम और सरलता रूपी है। वेदज्ञ जन जिन्हें सनातन पुरुष, विष्णु, उत्पत्ति प्रलयकारक इन्द्रियातीत और सनातन ब्रह्म कहते हैं, वही ब्रह्म वृष्णिकुल में जन्मा है। उनका वृत्तान्त मैं तुझे सुनाता हूँ। सुन। अमित तेजस्वी देवदेव भगवान् विष्णु की महिमा ब्राह्मण क ब्राह्मण से, क्षत्रिय को

क्षत्रिय से, वैश्य को वैश्य से और महामना शूद्र को शूद्र से सुननी चाहिये। तू भी श्रीकृष्ण का कल्याणप्रद चरित्र सुनने का अधिकारी है। अतः मैं सर्वोत्तम श्रीकृष्ण-चरित्र तुझे सुनाता हूँ; सुन।

परमात्मा श्रीकृष्ण काल-चक्र रूप हैं। उनका न आदि है और न उनका अन्त है। उत्पत्ति और प्रलय उनके गुण हैं। इनसे उनके यथार्थ रूप का बोध होता है। समस्त प्राणी उनका आश्रय ग्रहण कर, विश्व-चक्र की तरह घूमते रहते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! मुनियों का मत है कि केशव अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, अमृत हैं, सनातन ब्रह्म हैं तथा पुरुषोत्तम हैं। वे परम अव्यय परमात्मा देवताओं, ऋषियों, यक्षों, राक्षसों, नागों, असुरों और मनुष्यों को रचते हैं। उन परमात्मा ने युग के आरम्भ में वेदों को, शास्त्रों को तथा सनातन लोकों के धर्मों को बनाया। प्रत्येक वस्तु का प्रलय कर चुकने के बाद, नवीन युग के आरम्भ में वे पुनः इस प्रकृति की रचना करते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न ऋतुओं के आने जाने पर उनके सूचक लक्षण दिखलायी पड़ते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक युग के आरम्भ में अनेक प्राणी भी अनेक प्रकार से उत्पन्न हुआ करते हैं। युगादि काल के योग से जिस समय जो जो भासता है, उस पदार्थ का ज्ञान भी लोकव्यवहार से हो जाता है। प्रत्येक युग के अन्त में समस्त वेद और शास्त्र लय हो जाते हैं; किन्तु युगारम्भ में ब्रह्मा के आज्ञानुसार महर्षिगण अपने तपोबल से लय हुए वेदों और शास्त्रों को फिर पाते हैं। वेदज्ञ भगवान् ब्रह्मा ने वेद, बृहस्पति ने वेदाङ्ग, भृगुनन्दन शुक्राचार्य ने जगत्-हितार्थ नीति शास्त्र का उपदेश दिया है। नारद मुनि गान्धर्व वेद के ज्ञाता हैं। अतः लोक-हितार्थ उन्होंने गान्धर्व वेद का उपदेश दिया। इसी प्रकार भरद्वाज ने धनुर्विद्या, गार्ग्य ने देवर्षियों के चरित्र, मुनि कृष्णात्रेय ने चिकित्साशास्त्र का प्रचार किया। न्याय वेदान्तादि दर्शन शास्त्र की रचना भिन्न भिन्न विद्वानों ने की है। इनमें युक्ति से, वेद से और इन्द्रिय-जन्य प्रमाणों से प्राप्त अनुभव द्वारा जिस ब्रह्म का वर्णन उन महर्षियों ने किया

है, उन्हीं ब्रह्म की तू उपासना कर। जो ब्रह्म अनादि हैं वे सर्वोत्तम हैं, उन्हें देवता और ऋषि भी नहीं जानते। वे जगत् को धारण करने वाले प्रभु नारायण अपने को स्वयं ही जानते हैं। उन्हीं नारायण से ऋषियों ने, मुख्य देवताओं ने, दैत्यों ने तथा प्राचीन राजर्षियों ने समस्त दुःख निवृत्ति के लिये औषध रूपी ज्ञान प्राप्त किया है। जिस समय प्रकृति, पुरुष के अधिष्ठान से युक्त हो, अनेक पदार्थों की रचना करती है; उस समय धर्म अधर्म का हेतुरूप यह जगत उत्पन्न होता है। एक दीपक से जैसे अन्य सहस्रों दीपक जलाये जा सकते हैं और जैसे उस दीपक में किसी प्रकार की कमी नहीं होती, वैसे ही सृष्टि रच कर भी उस प्रकृति में कुछ भी न्यूनता नहीं आती। क्योंकि वह अनन्त है।

प्रथम कर्म को ले अव्यक्त से बुद्धि अर्थात् महतत्त्व की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहङ्कार से शब्द तन्मात्रा रूप आकाश, आकाश से स्पर्श तन्मात्रा रूप वायु, वायु से रूप तन्मात्रा रूप अग्नि, अग्नि से रस तन्मात्रा रूप जल तथा जल से गन्ध तन्मात्रा रूप पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पञ्चतन्मात्राएँ अव्यक्त महतत्त्व और अहङ्कार को ले, आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। इन्हीं आठ में सारा जगत् प्रतिष्ठित है। जब इस पृथिवी में विकार प्राप्त होता है, तब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच विषयों और एक मन तथा सोलह तत्वों की उत्पत्ति होती है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं। पैर, गुदा, उपस्थ, हस्त और वाणी ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं।

ये व्यापक चित्त रूप हैं, क्योंकि इन सब में मन की व्याप्ति है। जब रस को पहचानना होता है या वाणी से कुछ कहना होता है, तब मन ही वाणी रूप हो जाता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न इन्द्रियों द्वारा प्रकट होने वाला मन, सकल पदार्थ रूप है। शरीर के भीतर सोलह तत्त्व भिन्न भिन्न स्थानों में रहा करते हैं। ये ही देवता रूपी, ये ही सब प्रकार

के ज्ञान उत्पन्न करते हैं, शरीरस्थ (अन्तर्यामी परमात्मा की) ये देवता उपासना करते हैं।

जिह्वा में जल का गुण है, गन्ध में पृथिवी का गुण है, कानों में आकाश का गुण है, नेत्रों में अग्नि का गुण है, स्पर्श में वायु का गुण है। इस प्रकार समस्त भूतों में उन उन देवताओं के गुण विद्यमान हैं। मन को सत्वगुण का और सत्व को अव्यक्त अर्थात् प्रकृति का कार्य कहा है। अतः बुद्धिमान् जन को उचित है कि वह सकल पदार्थों के आत्मा रूपी प्रकृति को जाने। प्रवृत्ति से रहित कूटस्थ आत्मा है। यह प्रकृति से भी पर है। इसीके आश्रित हो सकल पदार्थ ठहरे हुए हैं और यही इस जगत् के समस्त व्यापारों को चलाता है। नवद्वारों से युक्त हमारा यह पवित्र शरीर रूपी पुर शब्दादि भावों से युक्त है। इसीसे यह पुरुष* कहलाता है। यह पुरुष न कभी बुढ़ाता है और न कभी मरता है। मूर्तिमान् और मूर्तिरहित पदार्थों द्वारा उसका रूप दिखलाया जा सकता है। यह व्यापक और सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त है। बड़ी कठिनाई से यह जाना जाता है और यह समस्त प्राणियों का तथा सत्वादि गुणों का आश्रय-स्थल है। जैसे उपाधि के कारण दीपक छोटा या बड़ा हो जाता है, किन्तु उसका प्रकाश समस्त पदार्थों पर एक ही सा पड़ता है; वैसे ही आत्मा उपाधि के कारण समस्त प्राणियों में भिन्न भिन्न देख पड़ने पर भी ज्ञानात्मक रूप से वह एक ही है। कान जो कुछ सुनता हैं, उसको सुनने वाला जड़ कान नहीं—प्रत्युत आत्मा है। अतः सुनने वाला वह आत्मा ही है। इसी प्रकार देखने वाला भी चक्षु नहीं—आत्मा ही है। यह शरीर तो आत्मा का निमित्त रूप है। किन्तु समस्त कर्म करने वाला तो आत्मा ही है। यह सब होने पर भी जैसे लकड़ी में होने पर भी आग लकड़ी को चीरने से भी देख नहीं पड़ती, वैसे ही शरीर में आत्मा के विद्यमान होते भी वह देख नहीं पड़ता।

*पुरिषु शेते इति पुरुषः।

किन्तु दो लकड़ियों को परस्पर रगड़ने पर जैसे अग्नि देख पड़ने लगा है वैसे ही योग द्वारा आत्मा भी देख पड़ता है। जैसे नदी में जल रहता ही है, सूर्य के साथ किरणें रहती ही हैं; वैसे ही शरीर के साथ आत्मा भी रहता ही है। किन्तु आत्मा शरीरों को बदलता रहता है। अतः इसका सम्बन्ध भी अपार है।

जैसे स्वप्न में पाँचों इन्द्रियों के साथ आत्मा रह कर भी शरीर को त्याग आकाश में चला जाता है; वैसे ही मरने के पीछे भी आत्मा मृत शरीर को छोड़ सूक्ष्म पाँचों इन्द्रियों के साथ अन्य देश में चला जाता है। पूर्व-जन्म-कृत कर्मों से आत्मा बँधा हुआ है। अतः उसे दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। फल देने में शक्तिसम्पन्न कर्म द्वारा आत्मा को शरीरान्तरों में प्रविष्ट होना पड़ता है। देहधारी आत्मा एक शरीर त्याग कर, अन्य शरीरों में जिस प्रकार घुसता है, उसी प्रकार समस्त प्राणी निज पूर्व-जन्म-कृत कर्मों का फलाश्रित जिस प्रकार होता है, वह मैं तुझे बतलाता हूँ।

दोसौ ग्यारह का अध्याय

पूर्वजन्म की वासनाएँ और उनका नवीन शरीर से सम्बन्ध

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर! स्थावर और जङ्गम प्राणी चार प्रकार के होते हैं। इन सब की उत्पत्ति अव्यक्त से है और मरने पर वे सब अव्यक्त ही में लीन हो जाते हैं। अव्यक्त आत्मा में रहने वाला मन, अव्यक्त गुणों को धारण करता है। पीपल के बहुत छोटे बीज में पीपल का विशाल वृक्ष विद्यमान रहने पर भी अव्यक्त रूप से रहता है; किन्तु जब वह

बीज उगता है, तब पीपल का विशाल वृक्ष व्यक्त हो जाता है। फिर जब वह नष्ट हो जाता है, तब वह मिट्टी आदि में मिल, पुनः अव्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति हुआ करती है। लोहा जड़ होने पर भी चुम्बक को देखते ही उसकी ओर अपने आप आकर्षित हो जाता है; इसी प्रकार शरीर के व्यक्त होते ही, पूर्व-जन्म-कृत संस्कारों के अनुसार पूर्व-जन्म-कृत कर्मों से उत्पन्न धर्म और अधर्म आदि भाव तथा विद्या अविद्या आदि अन्य भाव, नवीन शरीर में आत्मा की ओर दौड़ते हैं। अज्ञान और माया से उत्पन्न हुए भाव, जो स्वरूपतः जड़ हैं शरीर के उत्पन्न होते ही, पुनः उसके साथ जुड़ जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी भाव आत्मा के साथ जुड़ जाते हैं। पहले चिदात्मा के सिवाय पृथिवी और आकाश, स्वर्ग, भूत, प्राण, सद्गुण और दुर्गुण तथा अन्य कोई भी वस्तु न थी। अज्ञानदूपित चिदात्मा के साथ, पृथिवी आदि किसी भी उपाधि का सम्बन्ध न था। आत्मा का रूप अविनाशी है। वह समस्त वस्तुओं और प्राणियों में व्याप्त है। वही मन का हेतु रूप है। वह सब प्रकार के भावों से रहित है। वेद का मत है कि, इस दृश्यमान् जगत की उत्पत्ति का हेतु अविद्या या माया है। आत्मा के रूप आदि भाव पूर्व कामनाओं के कारण होते हैं। जीव इन वासना रूप कारणों से युक्त हो कर, विविध प्रकार के कर्म किया करता है। उन कर्मों से उनमें तदाकार व्याप्ति होते ही, उनसे नवीन वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और उन नवीन वासनाओं से नवीन कर्म उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कर्मों को सञ्चित कराने वाला और आदि-अन्त-रहित एक बड़ा भारी चक्र चलता रहता है। जन्म मरण रूप संसार चक्र की अव्यक्त वासनाएँ नाभि है। देह इन्द्रियादि रूप व्यक्त पदार्थ उस चक्र के आरे हैं। ज्ञान क्रिया आदि विकार उस चक्र का घेरा है। रजोगुण उस चक्र की धुरी है। यह चक्र ऐसा है जिसे कोई विचलित नहीं कर सकता। इसी चक्र पर क्षेत्रज्ञ आसीन है। जैसे तेली तैल से युक्त तिलों को कोल्हू में डाल उन्हें पेरता है, वैसे ही रजोगुण

पूर्ण इस जगत् का अज्ञान जन्य सुख दुःखादि फल से दबा कर, उसे, जन्म-मरण के समुदाय रूपी इस संसार चक्र में पेरते हैं। यह जन्म-मरण-युक्त संसार तृष्णा के कारण अहङ्कार के वशवर्ती होता है और कार्य-कारण का संयोग होने पर, वह कर्म एक नया हेतु बन जाता है। कार्य का समावेश कारण में नहीं होता। किन्तु कार्य के प्रकट करने का काल ही कारण होता है। पूर्वकथित अष्टधा प्रकृति और षोड़श विकार कारणों के साथ जमा हो कर, परस्पर टकराया करते हैं और उनके ऊपर एक पुरुष उनका प्रभु बन कर, सदा विद्यमान रहता है।

धूल को उड़ाने वाले वायु के साथ उड़ने वाली धूल की तरह, पूर्व शरीर से सम्बन्ध युक्त और रजोगुण तथा तमोगुण से उत्पन्न हुए भावों वाला तथा पूर्व शरीर से उत्पन्न और कर्म रूप हेतुओं से बलवान् जीवात्मा क्षेत्रज्ञ के साथ ही साथ दौड़ता है। धूल उड़ाने के कारण यद्यपि वायु धूल वाला कहलाता है, तथापि वह वायु धूल का स्पर्श नहीं करता। इसी तरह क्षेत्रज्ञ पूर्वकथित भाव का स्पर्श नहीं करता और उपाधियाँ भी क्षेत्रज्ञ को स्पर्श नहीं करतीं। जैसे वायु धूल से पृथक् है; वैसे ही विवेकी जन भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को जान ले।

देह आदि का आत्मा के साथ एकीभाव होने के कारण मनुष्य को आत्मा की प्रकृति का ज्ञान नहीं हो पाता।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! गुरु ने इस प्रकार अपने शिष्य का सन्देह मिटा दिया। भीष्म जी ने कहा—ये सब तो है ही, किन्तु दुःख का नाश और सुख की प्राप्ति के लिये कर्म पर ही सब निर्भर है। जैसे आग में भूने हुए बीज फिर नहीं जमते, वैसे ही ज्ञानाग्नि में भुने हुए अविद्या आदि समस्त क्लेश आत्मा को नहीं छू सकते।

दोसौ बारह का अध्याय

ज्ञान

भीष्म जी बोले हे धर्मराज ! कर्म करने में लगे हुए कर्मनिष्ठ पुरुष कर्म को उत्तम समझते हैं, किन्तु विज्ञानियों को विज्ञान के सिवाय और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। वेदज्ञ और वेदोक्त कर्मानुष्ठान अग्निहोत्रादि पर श्रद्धा रखने वाले पुरुष और शम दमादि पर श्रद्धा रखने वाले लोग बहुत ही थोड़े हुआ करते हैं। स्वर्ग और मोक्ष में मोक्ष बड़े की महत्त्व की वस्तु है। अतः जो पुरुष बुद्धिमान् होते हैं, वे प्रशंस्य निवृत्त रूप मोक्ष-मार्ग ही को चाहते हैं। पूर्वकाल में सत्पुरुषों ने कर्मानुष्ठान त्याग कर, निवृत्ति मय मार्ग को ही ग्रहण किया था। अतः उसीका सेवन करना बहुत अच्छा है। क्योंकि इसके द्वारा उत्तम गति प्राप्ति होती है। किन्तु शरीराभिमानी पुरुष निवृत्त मार्ग का पथिक नहीं बन सकता। क्योंकि वह तो रजोगुण और तमोगुण के भावों से युक्त हो, अज्ञानतावश अनेक झमेलों में फँसा रहता है, जो सम्बन्ध देह का आत्मा के साथ है। उस सम्बन्ध को नष्ट करने की चाहना रखने वाला किसी प्रकार का भी पाप न करे। यहाँ तक कि स्वर्गप्रद कर्मों का भी अनुष्ठान न कर, मुक्तिपथ ही को बनावे। उसे वे कर्म करने चाहिये, जो मोक्ष का द्वार खोलने वाले हैं। जिस प्रकार लोहा मिला सोना तपाने पर भी शोभायमाम नहीं होता, उसी प्रकार जिनका अन्तःकरण कर्म द्वारा शुद्ध नहीं होता, उनमें विज्ञान भी शोभायमान नहीं होता। ऐसों को उपदेश दिया हुआ ज्ञान निरर्थक जाता है। जो पुरुष धर्ममार्ग त्याग कर, लोभ और क्रोध के वशवर्त्ती होता है और पापकर्म करता है वह सपरिवार नष्ट हो जाता है। मोक्षार्थी पुरुष को साँसारिक शब्दादि विषयों में न फँसना चाहिये। क्योंकि यदि इन विषयों में अनुरक्ति रखी गयी हो, तो सत्त्वादि गुणों के कारण हर्ष, शोक और विषाद उत्पन्न होते हैं। इस शरीर की रचना पञ्चमहाभूतों

से एवं सत्त्व, रज और तम से की गयी है। इस शरीर में रहने वाला आत्मा निर्विकारी है और मन विकारयुक्त है। अतः मनुष्य इनमें से किस तत्व और किस गुण की प्रशंसा और किसकी निन्दा करे? मूर्खजन ही शब्दादि विषयों में अत्यधिक अनुराग किया करते हैं। उसीसे उनकी बुद्धि विपरीत हो जाती है। अतः वे यह नहीं जान सकते कि, हमारा शरीर पृथिवी का विकार मात्र है। कच्चे घर की रक्षा के लिये उसको मिट्टी से लहेसना लीपना आवश्यक है। वैसे ही पृथिवी से उत्पन्न इस शरीर की पृथिवी के विकार रूप अन्न से रक्षा करनी आवश्यक है; जिससे यह नष्ट न होने पावे। शहद, घी, दूध, तेल, माँस, निमक, गुड़, धान्य फल और मूल आदि समस्त पदार्थ जल और मिट्टी के विकार हैं। जैसे जैसे संन्यासी वन में रह कर, मधुर पदार्थों में प्रीति न रखते हुए शरीर के निर्वाह मात्र के लिये ग्राम से मिला हुआ नीरस अन्न खा कर निर्वाह करते हैं, वैसे ही इस संसार रूपी वन में बसने वाले लोग सदा परिश्रम करने में संलग्न रहें। जैसे रोगी रोग-निवृत्ति के लिये दवा खाता है, वैसे ही शरीर निर्वाहार्थ भोजन करे। सत्य, वाह्य एवं आभ्यन्तिरिक पवित्रता, सरलता, वैराग्य, अध्ययन आदि का तेज, मन को जीतने की वीरता क्षमा, शास्त्रश्रवण द्वारा उत्पन्न हुई बुद्धि, क्लेश के समय भी मन को सावधान रखने वाला प्रयत्न, मनन और तपस्या से, सामने आने वाले विषय रूप समस्त भावों से मन हटा कर, उदारचेता पुरुष शान्तिपूर्वक इन्द्रियों को जीते। यदि इन्द्रियाँ वश में न होंगी तो प्राणी सत्व, रज और तम से मोहित हो ज्ञानवश इस संसार में बराबर चक्र की तरह घूमता ही रहेगा। अतः ज्ञानी जन को अज्ञान-जन्य दोषों की भली-भाँति परीक्षा कर और उन्हें त्याग देना चाहिये। पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ, सत्व, रज, तम तथा परमात्मा सहित तीनों लोक, अहङ्कार ही में स्थित हैं। जैसे इस लोक में नियम के बंधन में बँधा हुआ काल ऋतुओं के लक्षण यथासमय दिखलाया करता है; वैसे ही अहङ्कार भी समस्त प्राणियों में यथासमय

देख पड़ता है और वह उनसे कार्य करता है। तीन गुणों में तमोगुण मोह उत्पन्न-कारक है। यह अन्धकार के समान है। क्योंकि इसकी उत्पत्ति अज्ञान से हुई है। सत्व, रज और तम ही से प्राणीमात्र सुख दुःख प्राप्त करते हैं।

अब तू इन तीनों गुणों के विशेष कार्य सुन। प्रसन्नता, हर्षोत्पन्न-प्रीति, असन्दिग्धता, धैर्य और स्मृति—सत्त्वगुण के कार्य हैं। काम, क्रोध, प्रसाद, लोभ, मोह, भय और परिश्रम रजोगुण के कार्य हैं। विषाद, शोक, अप्रसन्नता, मान, गर्व और दुष्टता—तमोगुण के कार्य हैं। इन दोषों के आधिक्य और इनकी न्यूनता की परीक्षा ले, फिर विचारे कि मुझमें जो अमुक दोष है वह कहाँ तक घटा बढ़ा है।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! मुमुक्षु को कौन कौन से दोषों का त्याग करना चाहिये। वे कौन से दोष हैं जो बराबर उत्पन्न होते हैं, मोह-वश उत्पन्न हुए वे दोष कौन से हैं, जो अन्त में व्यर्थ सिद्ध होते हैं। बलवान् दोष कौन से हैं? और निर्बल दोष कौन से हैं? बुद्धिमान् जनों को बुद्धि-पुरस्सर दोषों के कारणों सहित किस प्रकार विचार करना चाहिये, यह मेरा सन्देह आप मिटा दें।

भीष्म ने कहा—जिस पुरुष का आत्मा शुद्ध होता है, वह अपने दोषों को समूल नष्ट कर डालता है और वही पुरुष आवागमन से छूटता भी है। जैसे लोहे की छेनी की धार लोहे की बेड़ी को काट स्वयं भी नष्ट हो जाती है, वैसे ही सावधानता पूर्वक संस्कार की हुई युक्ति भी तमोगुण से उत्पन्न हुए दोषों को नष्ट कर के स्वयं भी शान्त हो जाती है। राजस, तामस और कामरहित शुद्ध सत्वगुण, समस्त देहधारियों के शरीरधारण में बीजरूप हैं; किन्तु मन को वश में रखने वाले पुरुष के लिये सत्वगुण ब्रह्मप्राप्ति का साधन माना जाता है। अतः मन को वश में रखने वाला पुरुष रजोगुण को और तमोगुण को त्याग दे। क्यों-कि रजोगुण और तमोगुण से रहित बुद्धि निर्मल होती है।

बुद्धि को वश में करने के लिये जो यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, उन्हें सांख्यवादी दुष्कर्म बतलाते हैं। अन्य मतवादी कहते हैं कि, मंत्र-प्रयुक्त यज्ञादि कर्म वैराग्य के हेतु हैं और शमदमादि शुद्ध धर्म की रक्षा का भी एक कारण हैं। अर्थात् रजोगुण से मनुष्य विविध धर्मकृत्य करता है, अर्थप्रद कार्य करता है और सब प्रकार की कामनाओं को सेता है। तमोगुणी पुरुष लोभ और क्रोध उत्पन्न करने वाले कार्य करता है। प्रति दिन आखेट खेलना आदि हिंसायुक्त कार्य वह करता है। वह निद्रा तन्द्रा से घिरा रहता है। सतोगुणी पुरुष श्रद्धावान् और विद्वान् होता है। उसका मन साफ होता है। वह श्रीमान् होता है और बुद्धि से सात्त्विक भावों को देखता है। अतः वैदिक कर्मों से काम क्रोधादि के कारणों के उत्पादक रजोगुण और तमोगुण के भावों को त्याग कर, सतोगुणी भावों का सेवन करना चाहिये।

दोसौ तेरह का अध्याय

निष्काम-वृत्ति और मोक्ष

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! रजोगुण और सतोगुण मोह उत्पन्न-कारक हैं। मोह से क्रोध, लोभ, भय और दर्प की उत्पत्ति होती है। अतः मोह का नाश करने से मनुष्य का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है और वह सर्वोत्तम, अलक्ष्य, अव्यय, व्यापक, अव्यक्त समस्त प्राणियों में व्यापक और देवश्रेष्ठ भगवान् विष्णु को पाता है। दैवी माया से जिनकी इन्द्रियाँ जड़ हो गयी हैं और जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है—वे विवेकहीन मनुष्य बुद्धिभ्रम के कारण अथवा ब्रह्म-स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण क्रोध के वशवर्त्ती हो जाते हैं। फिर क्रोध से काम, काम से लोभ और

मोह उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर *मान, †गर्व और ‡अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर क्रिया उत्पन्न होती है। फिर आपस में प्रीति होती है और उस प्रीति से फिर शोक पैदा होता है। इस प्रकार सुख दुःख उत्पादनी क्रिया का कार्य आरम्भ होने पर जन्मना और मरना पड़ता है। जन्म लेने वाले रज-वीर्योत्पन्न जीव को उस गर्भ में जहाँ विष्ठा और मूत्र के पङ्क में रुधिर टपकता है, रहना पड़ता है। तृष्णा से परास्त और क्रोध तथा मोह के बन्धन में पड़े हुए जीव को यदि पूर्ण रीति से काम क्रोध को जीतना अभीष्ट हो, तो वह स्त्रियों को, संसार रूपी वस्तु के धागों को बुनने वाली जाने। स्त्रियाँ स्वभावतः संसार की वृद्धि करने वाली हैं। अतः वे क्षेत्र रूपिणी कहलाती हैं और गुणों के कारण पुरुष क्षेत्रज्ञ कहलाता है। अतः पुरुष को प्रयत्नतः स्त्रियों का संसर्ग त्यागना चाहिये। प्रकृति देवी, क्षेत्रज्ञ आत्मा को बाँध लेती है। इसीसे उसे अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं? स्त्रियाँ शत्रु का नाश करने के लिये उत्पन्न की गयीं एक भयानक कृत्या हैं। वे अज्ञानियों को मोहित करती हैं। वे रजोगुण में तिरोहित इन्द्रियों की सनातन मूर्ति हैं। स्त्री के साथ समागम करते समय जो वीर्य स्खलित होता है उसीसे प्राणियों की उत्पत्ति होती है। अपनी देह से उत्पन्न जूँ आदि जीवों को जैसे मनुष्य त्याग देता है; वैसे ही मनुष्य अपने शरीर से उत्पन्न किन्तु यथार्थ में अपने नहीं—पुत्र नामक कीट को त्याग दे। वीर्य से अथवा स्वेद से जीव निज कर्मवश उत्पन्न होते हैं, किन्तु बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि, वह उक्त दोनों प्रकार के जीवों में आसक्त न हो। प्रत्युत उनकी उपेक्षा करे।

सत्वगुण का लय रजोगुण में और रजोगुण का तमोगुण में होता है। अव्यक्त तमोगुण को ज्ञान धक्का दे कर निकालता है और बुद्धि एवं

---

* अपने को पूज्य मानना "मान" कहलाता है।

† किसी भी नियम की परवाह न करना "गर्व" है।

‡ सब को तुच्छ जानना "अहङ्कार" है।

अहङ्कार के विषयों को उत्पन्न करता है। बुद्धि और अहङ्कार युक्त ज्ञान को देहधारी जीव का बीज कहते हैं। ऐसे ज्ञान का बीज जीव अथवा चिदात्मा कहलाता है। क्योंकि कर्मवश यथासमय आत्मा को जन्म धारण करना पड़ता है। वह कर्मवश बार बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमा ही करता है। जीव जैसे देहधारी के मन में स्वप्नावस्था में रमण किया करता है, वैसे ही उसमें कर्म के बीज भी भरे रहते हैं। ऐसे गुणों से युक्त देह-धारी क्षेत्रज्ञ जीव मातृ-गर्भ में निवास करता है। जब जीवात्मा एक शरीर को त्याग अन्य शरीर में जाता है, तब बीज रूप में रहने वाले कर्मों के कारण जो जो इन्द्रियाँ जागृत होती हैं, वे रोगी चित्त और अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं। शब्द की भावना करने वाले जीव को शब्द में प्रीति होने से श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होती है। रूप ग्रहण की भावना से नेत्र, गन्ध की भावना से नाक और स्पर्श की भावना से चर्म की उत्पत्ति होती है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान पञ्च-प्राण वायु भी उत्पन्न होते हैं। आगे पीछे और मध्य में शारीरिक और मानसिक दुःख युक्त और श्रोतादि उपाङ्गों से युक्त शरीर धारण कर जीव जन्म लेता है। यह जान लो कि, शरीर धारण करने ही से दुःखोत्पत्ति होती है और अहङ्कार दुःख को बढ़ाता है। जब अहङ्कार दूर हो जाता है, तब दुःख का भी अन्त हो जाता है। दुःख दूर होने ही में कुशल है। विरक्त पुरुष के दुःख दूर हो कर, जीव को मोक्ष मिलता है। इन्द्रियों की उत्पत्ति रजोगुण से होती है। उनका लय भी रजोगुण ही से होता है। अतः ज्ञानी पुरुष शास्त्रोक्त परीक्षा कर, व्यवहार करे। इन्द्रियों की विषय-लालसा पूर्ण होने पर भी यदि तृष्णा बनी हुई है, तो ऐसे पुरुष के पास ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं जातीं। इन्द्रियों के क्षीण होने पर जीव को पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता—जन्म-मरण के क्लेश से वह मुक्त हो जाता है।

दोसौ चौदह का अध्याय

इन्द्रिय-विजय का उपाय

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! मैं तुम्हें इन्द्रियों के जीतने का शास्त्रोक्त उपाय बतलाता हूँ; उसको यथार्थ रीत्या जान कर और शम दमादि का आश्रय ग्रहण कर, पुरुष परम गति को प्राप्त होता है। प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ माना जाता है। जो द्विज वेदशास्त्र में कुशल होता है, वह समस्त प्राणियों का आत्मा स्थानीय कहलाता है। वेदज्ञ ब्राह्मण सर्वदर्शी और सर्वज्ञ कहलाते हैं और जो ब्रह्मतत्त्व का निश्चय कर चुके हैं, वे श्रेष्ठ कहलाते हैं। जैसे अकेला अन्धा पुरुष रास्ता चलने में कष्ट उठाता है, वैसे ही तत्वज्ञान शून्य अज्ञानी मनुष्य इस संसार में सङ्कट में पड़ जाता है। इसीसे ज्ञानी पुरुष सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। धर्माभिलाषी पुरुष शास्त्र में लिखे अनुसार यज्ञ यागादि अनेक धर्मानुष्ठान करते हैं, किन्तु उन्हें इन कर्मों से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। ऐसे कर्मों से उन्हें श्रेष्ठ गुण प्राप्त होते हैं। इन गुणों के सम्बन्ध में, मैं तुमसे अब कहूँगा। मन, वाणी और शारीरिक पवित्रता, क्षमा, सत्य, धैर्य और स्मृति सब ब्राह्मणों में हुआ करते हैं। चाहे वे प्रवृत्ति-मार्गावलम्बी हों चाहे निवृत्ति-मार्गावलम्बी।

शास्त्र कहता है—ब्रह्मचर्य ब्रह्म स्वरूप है और यह सब धर्मों से श्रेष्ठ है। ब्रह्मचारियों को परमगति प्राप्त होती है। जो पाँचों प्राणों, मन, बुद्धि और दसों इन्द्रियों को मिला कर सत्रह अवयवों के संयोग से वर्जित है, जो शब्द और स्पर्श से रहित है, जिसे हम कानों से सुन नहीं सकते और नेत्रों से देख नहीं सकते, वह शुद्ध और अनुभव रूप परब्रह्म है। वह ब्रह्म निर्विकल्पावस्था में जाना जा सकता है। ब्रह्मचर्य का घनिष्ट सम्बन्ध मन से है। क्योंकि यह समस्त इन्द्रियों के सम्बन्ध से

वर्जित है। ऐसी दिव्य स्थिति केवल बुद्धि द्वारा ही होती है। जो लोग भली भाँति ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे मोक्ष पाते हैं। जो मध्यम रीत्या पालन करते हैं, उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है और जो सामान्य रीति से पालन करते हैं उन्हें उत्तम ब्राह्मण का जन्म प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्यव्रत का पालन बड़ी कठिन बात है, अतः मैं तुझे उस व्रत के भली भाँति पालन करने का उपाय बतलाता हूँ। सुन। ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने की अभिलाषा रखने वाले ब्राह्मण को बढ़ते हुए रजोगुण-जन्य कामादि वेगों को रोकना चाहिये। ब्रह्मचारी स्त्रियों के साथ वार्तालाप न करे। किसी नंगी स्त्री को न देखे, क्योंकि उसे देखने से कच्चे ब्रह्मचारी के मन में विषय-वासना उत्पन्न हो जाती है। और यदि दुर्बलमना किसी ब्रह्मचारी का मन काम आदि विषय-वासनाओं की ओर डोल जाय तो उसे* कृच्छ्रव्रत धारण करना चाहिये। उसे तीन दिन जल में बैठना चाहिये। यदि किसी ब्रह्मचारी को स्वप्न में कामना हो तो वह जल में गोता मार कर, तीन बार अघमर्षण मंत्र (ओंऋतं च सत्यं०) का जप करे। विवेकी जन को, ज्ञान प्राप्त कर और नियम में रहने वाले मन से, शरीर के पापी और रजोगुणी काम को भस्म कर देना चाहिये। शरीर के भीतर का मल मूत्र जैसे शारीरिक दृढ़ बन्धनों से बँधा है, वैसे ही आत्मा भी शरीर के भीतर दृढ़ बँधा हुआ है। भक्षित अन्न के रस; शरीरस्थ वात, पित्त, कफ, रक्त, त्वचा, माँस, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शरीर के नाड़ीजाल के मार्गों को परिपुष्ट किया करते हैं। शरीरस्थ पाँच इन्द्रियों की वृत्तियों को इधर उधर भटकाने वाली दस नाड़ियाँ हैं। इनसे सहस्रों सूक्ष्म नाड़ियों से सम्बन्ध है। जैसे नदियाँ यथासमय समुद्र में जल डाल उसे तृप्त करती हैं, वैसे ही रजोगुणजन्य कामादि से पूर्ण वे नाड़ियाँ शरीर रूपी सागर को तृप्त करती हैं। हृदय-मनोवाहक नाम्नी

---

*तीन दिन सवेरे, तीन दिन शाम को और तीन दिवस बिना माँगे प्राप्त भोजन करे—फिर तीन दिवस उपवास करे।

एक नाड़ी है। वह सङ्कल्प द्वारा मनुष्य के अङ्ग प्रत्यङ्ग से वीर्य को खींच उपस्थ से बाहिर गिरा देती है। उस नाड़ी के साथ बहुत सी और नाड़ियाँ भी हैं। इनमें से जो नाड़ियाँ नेत्रों से सम्बन्ध युक्त हैं, वे तेज को धारण करती हैं। जैसे दूध में मिला हुआ मक्खन रई से मथ कर निकालते हैं, वैसे ही सङ्कल्प तथा इन्द्रिय-जन्य स्त्री के दर्श स्पर्श रूपी मथानी से मथ कर शरीर से वीर्य निकाला जाता है। स्वप्न में स्त्री का सङ्ग किये बिना भी जब स्त्री का सङ्कल्प किया जाता है, तब स्त्री के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है और उस समय मनोवहा नाम्नी नाड़ी शरीर से सङ्कल्प द्वारा उत्पन्न वीर्य को बाहर निकाल देती है। महर्षि भगवान् अत्रि को वीर्य की उत्पत्ति का रहस्य अवगत है। खाये हुए अन्नादि पदार्थों का रस, मनोवाह नाड़ी और सङ्कल्प ये तीन वीर्य के बीज हैं। इसका देवता इन्द्र है। इसीसे वे इन्द्रिय कहलाती हैं। जो लोग जानते हैं कि अनुलोम प्रतिलोम स्त्रीगमन करने से वीर्य की गति वर्णसङ्करता बढ़ाने वाली होती है, उन्हें संसार के ऊपर वैराग्य उत्पन्न होता है और उसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। तथा उन्हें फिर शरीर धारण करना नहीं पड़ता।

पुनर्जन्म से उसी पुरुष को छुटकारा मिलता है, जो शरीर निर्वाह के लिये कर्म करता है। मन की सहायता से सत्त्व, रज और तम को एकसी दशा में रखता है और मनोवाह नाम्नी नाड़ी को प्राणों के साथ प्रेरित करता है। ज्ञानवान मन ही समस्त वस्तुओं का उत्पादक है। जो महात्मा पुरुष होते हैं, उनका मन प्रणव की उपासना से सिद्ध हो जाता है, अतः उनके मन में वासनाएँ नहीं रहतीं और उनका मन प्रकाशमान हो जाता है। अतः मन का मैल दूर करने के लिये मनुष्य को पुण्य कर्म करने चाहिये और रजोगुण तथा तमोगुण से मुक्त होना चाहिये। ऐसा करने से उस मनुष्य को अभीष्ट गति प्राप्त होती है। मनुष्य का युवावस्था में प्राप्त व्यावहारिक ज्ञान, वृद्धावस्था में दुर्बल हो जाता है

और समय पा कर, सत्कर्मों द्वारा बुद्धि को परिपक्व कर, सङ्कल्प का नाश करता है। जैसे पथिक विकट मार्ग को पार कर जाता है, वैसे ही वह देह और इन्द्रियों के बन्धन के पार जाने पर, वह अपने जाने हुए समस्त दोषों को दूर कर, मोक्ष पाता है।

दोसौ पन्द्रह का अध्याय

वैराग्य और मुक्ति

भीष्म जी कहने लगे— हे धर्मराज! इन्द्रियों के अपार विषयों में अनुरक्त प्राणी दुःख भोगा करते हैं; किन्तु जो महात्मा जन हैं; वे विषयों में आसक्त नहीं होते और परमगति को पाते हैं। जन्म, मरण और बुढ़ापे के दुःखों से तथा मन के सन्ताप से इस जगत को घिरा हुआ देख कर, बुद्धिमान् मनुष्य को मोक्ष के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। मनसा, वाचा और शरीर से सदा पवित्र रह कर, अहङ्कार को त्याग दे, मन में शान्ति रखे, आत्मज्ञानी हो, भिक्षा द्वारा अपना निर्वाह करे, किसी की चिन्ता न कर, सुखी रहे। यदि यह जान पड़े कि, प्राणियों पर दया करने से मन सांसारिक बन्धनों में फँस जायगा, तो यह समझ कर कि, सब जीव अपने पूर्व-जन्म-कृत शुभाशुभ फलों के अनुसार इस जन्म में सुख दुःख भोगते हैं, दया की ओर से उदास न हो जाय। मनुष्य शुभाशुभ जो कर्म करता है, उन खरे खोटे कर्मों के पुण्य, पाप उसे भोगने पड़ते हैं। अतः बुद्धिपुरस्सर शुभ कर्म करने चाहिये।

क्योंकि सुखी वही पुरुष हो सकता है, जो किसी का अनिष्ट नहीं करता, जो सदा सत्यभाषण करता है, जो प्राणिमात्र के साथ दयापूर्ण और प्रामाणिक व्यवहार करता है, जो सदा क्षमावान बना रहता है और जो कभी असावधानी नहीं करता। ऐसा पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है और

सुखी बना रहता है। अतः शास्त्रानुसार किसी भी प्राणी के साथ रागद्वेष न करे। किसी का अनिष्ट मन में भी न सोचे, गरीब हो कर अपने लिये दुर्लभ राज्य प्राप्ति की कल्पना न करे, मृत स्त्री पुत्रादि आत्मीय जनों की याद न करे। मन को ज्ञानोपार्जन में लगा दे, जिससे सफलता प्राप्त हो। वेदान्त-वाक्यों को सुनने से तथा मौन धारण करने से अथवा योग के अङ्ग, उपाङ्ग, यम, नियमादि, ध्यान धारणा का अभ्यास करने से मन की प्रवृत्ति ज्ञान की ओर होती है। जो सत्य बोलना चाहे और सूक्ष्म धर्म को देखना चाहे, उसे सत्य बोलना चाहिये। हिंसा, निन्दा, कपट, तीक्ष्णता, और क्रूर वाक्य मुँह से न निकाले; किसी की चुगली न खाय। बोलते समय बड़ा सावधान रहे और बहुत कम बोले। इस लोक और परलोक के समस्त व्यवहार वाणी ही से सम्बन्ध रखते हैं। यदि वैराग्य उत्पन्न हो गया हो तो बुद्धि का अनुग्रह प्राप्त मन ही से अपने पाप कर्मों को भी कह दे। रजो गुण भाव से प्रेरित मन जो कर्म करता है, उसे बड़ा दुःख भोगना पड़ता है और मरने के बाद नरक में जाता है। अतः मनसा, वाचा, कर्मणा ऐसा व्यवहार करे, जिससे आत्मा स्थिर हो। साँसारिक भार वहन करने वाले अज्ञानी लोग उन बकरा चुराने वाले चोरों के समान हैं, जो बकरे के भार से हाँफते जाते हैं और खटके के मार्गों से जाते समय सावधान रहते हैं। पिंड छुड़ा कर भागने वाले चोर को जैसे चोरी का माल पटक कर भागना पड़ता है, वैसे ही सुखाभिलाषी पुरुष को रजोगुण और तमोगुण सम्बन्धी कामों को छोड़ देना चाहिये।

उसी मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है, जो किसी प्रकार की कामना नहीं रखता, जो सब जँजालों से दूर रहता है, जो एकान्त में रहता है, जो स्वल्पाहारी है, जो तपस्वी और जितेन्द्रिय है, जो क्लेशों को ज्ञानाग्नि से भस्म कर चुका है, जिसका योग में अनुराग है और जिसका मन अपने वश में है। धैर्यवान् एवं बुद्धिमान् जन निसन्देह बुद्धि को अपने वश में कर सकता है। फिर जब बुद्धि वश में हो जाय, तब मन को और मन से

इन्द्रियों को अपने वश में कर लेना चाहिये। जिस मनुष्य ने इन्द्रियों को जीत लिया है और मन को अपने काबू में कर रखा है उसकी समस्त इन्द्रियाँ प्रकाशित हो जाती हैं और वह आनन्दित हो ब्रह्म के पास जाता है। जब इन्द्रियाँ मन में लय हो जाती हैं तब मन में ब्रह्म के प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार जब सचमुच इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं और आत्मा में शुद्ध सत्त्वगुण जागृत हो जाता है, तब वह पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हुआ माना जाता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त पुरुष को अपनी योगशक्ति नहीं दिखलानी चाहिये। किन्तु योग नियमानुसार आचरण कर इन्द्रियों को दमन करना चाहिये। योगमार्गावलम्बी पुरुष को ऐसे कार्य करना चाहिये जिनसे आचार और व्यवहार शुद्ध हो। अन्न के कारण कुलथी, तिल की भूसी, शाक, साँठी चावल, सत्तू, फल, मूल जो कुछ भी याचना करने पर मिलें, योगी उसीसे अपना निर्वाह कर ले। जो साधना आरम्भ कर दी हो, हज़ार विघ्न पड़ने पर भी उसे बंद न करे। जैसे आग धीरे धीरे सुलगायी जाती है, वैसे ही योगी ज्ञान के किसी भी कर्म को प्रदीप्त करे। ऐसा करने ही से योगी में धीरे धीरे सूर्य के प्रकाश की तरह ब्रह्म का प्रकाश उत्पन्न होता है। अनाधिष्ठान में वर्तमान अज्ञान तीनों लोकों के ऊपर चढ़ कर बैठता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में अज्ञान की व्याप्ति बनी रहती है और वह बुद्धि का अनुसरण करने वाले ज्ञान को आच्छादित कर देता है। दुष्टमना जन, आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो आत्मा को जाग्रतादि तीनों अवस्थाओं से युक्त मानता है। किन्तु यदि वस्तुतः देखा जाय तो आत्मा इन तीनों अवस्थाओं के परे है, अतः जो पुरुष इन अवस्थाओं के संयोग वियोग से आत्मा को पृथक् रखता है, वही रागशून्य माना जाता है और मोक्ष भी वही पाता है। ऐसा पुरुष काल, जरा और मृत्यु को जीत कर, सनातन एवं अमृत रूप तथा विकारशून्य ब्रह्म को प्राप्त करता है।

दोसौ सोलह का अध्याय

स्वप्न और स्वप्न आने के कारण

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! जो योगी ब्रह्मचारी, निष्काम ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना चाहे, वह निद्रा को स्वप्नदोष से दूषित समझ उसे त्याग दे। स्वप्नावस्था में देहस्थ आत्मा रजोगुणी और तमोगुणी बन जाता है और देहान्तर धारण करता हुआ सा जान पड़ता है। वह कामना युक्त विचरता हुआ सा मालूम पड़ता है और वैसे ही काम करता हुआ ज्ञानोपार्जन का अभ्यास करने के लिये, निरन्तर चिन्तवन में संलग्न रह, योगी सदैव जाग्रत रहता है। स्वप्नावस्था में पदार्थों का विषयों जैसे जान पड़ने का कारण है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियां लय हो जाती हैं, तो भी आत्मा देहधारी जैसा बर्त्ताव करता है। वास्तव में इसका कारण श्रीहरि ही जानते हैं। महर्षियों का कहना है कि, श्रीहरि का कथन पूर्ण सत्य है और बुद्धि में आता भी है। विद्वानों का कहना है कि, जब इन्द्रियाँ श्रान्त हो जाती हैं, तब देहधारियों को स्वप्न दिखलायी पड़ते हैं, किन्तु जब समस्त इन्द्रियाँ निद्राभिभूत हो जाती हैं, तब भी जाग्रत सङ्कल्प विकल्पात्मक मन लय नहीं होता। तभी स्वप्न आते हैं। सब लोग स्वप्न आने का मुख्य कारण यही मानते हैं। जैसे कार्य-संलग्न जाग्रत मनुष्य के सङ्कल्प मन से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही स्वप्न के भावों का सम्बन्ध मन के साथ है। कामनाओं और वासनाओं वाले पुरुष की जन्म जन्मान्तरों के भावों से उत्पन्न वासनाओं का स्वप्नावस्था में अनुभव होता है। जिस वस्तु का मन में एक बार भी अनुभव होता है, वे मन में छिपी रहती हैं! आत्मा सब का द्रष्टा है। अतः उन सब को गुप्त स्थान से निकाल बाहर ले जाता है। पूर्व-जन्म-कृत कर्मानुसार सत्त्व, रज या तम—जो गुण प्राप्त होते हैं और जिस समय जिस कर्म से

मन संस्कारित हो जाता है, उस समय उसमें सूक्ष्मभूत स्त्री धनादि के आकार स्वप्न में देख पड़ने लगते हैं। इस प्रकार इन आकारों के उत्पन्न हो जाने पर, सत्व, रज और तम में से कोई सा एक गुण जो पूर्वकर्मों द्वारा उत्पन्न हो चुकता है, वह मन में उदय होता है और सुख दुःख स्वरूप अन्तिम परिणाम को उत्पन्न करता है। कहते हैं, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न ये आकार जो रजोगुण, तमोगुण तथा अज्ञान के कारण देख पड़ते हैं, मनुष्य त्याग नहीं सकता। प्रसन्न और निर्मल इन्द्रियों के साथ रह कर मन, जाग्रत अवस्था में जो कल्पनाएँ करता है, वे ही वे उसे स्वप्न में देख पड़ती हैं। उस समय इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक धर्म से रहित होती हैं—वे किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करतीं। उपादान होने के कारण मन सब प्राणियों में निर्विघ्न रूप से व्याप्त है। वह आत्मा के प्रभाव से ऐसा हो जाता है। अतः आत्मा को जानना चाहिये। क्योंकि समस्त सत्त्व और उनसे निकले हुए विषय आत्मा में विद्यमान रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था जो स्वप्नावस्था का द्वार है, उसमें मनुष्य का व्यक्त शरीर लय को प्राप्त हो जाता है। मन उस शरीर व्यापी आत्मा में घुसता है, जो अव्यक्त है और जिस अधिष्ठान रूप में ये तमाम सत् असत् पदार्थ भास रहे हैं। यद्यपि आत्मा में प्रविष्ट मन, सब पदार्थों के आत्मा रूप अहङ्कार में रहता है, तथापि विद्वज्जन मन को यावत् साँसारिक पदार्थों से तथा अहङ्कार से भी उत्तम मानते हैं। जो योगी ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और मोक्ष में से किसी भी एक उत्तम गुण को प्राप्त करने के लिये मन में विचारता है, उस योगी का मन शुद्ध हुआ समझना चाहिये। शुद्ध मन अथवा आत्मा ही में आकाशादि सब वस्तुएँ विद्यमान हैं। इस प्रकार के विषयादि को देखना एक प्रकार का तप है। इस तप से मन सूर्य की तरह अज्ञानान्धकार के परे रहता है। देवता, तप, अग्निहोत्रादि वेदोक्त कर्म करते हैं। असुर तप का नाश करने वाले दम्भ, दर्प आदि

तम की उपासना करते हैं। अतः रजोगुणी देवता और तमोगुणी असुर ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर पाते। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण देवताओं तथा असुरों के गुण हैं। इनमें सत्व गुण देवताओं का है और रजोगुण तथा तमोगुण असुरों के हैं। जो शुद्धान्तःकरण पुरुष सात्विक भावों से उत्कृष्ट, उत्तम ज्ञान स्वरूप, अमृत, स्वयं-प्रकाश और सर्वव्यापी अक्षर ब्रह्म को जानते हैं, वे परमगति पाते हैं। तत्वदर्शी पुरुष बुद्धि और युक्ति से यह सब कह सकते हैं। इन्द्रियों को तथा मन को बाह्य विषयों से हटा कर आत्मा में यदि लय कर दिया जाय तो अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

दोसौ सत्रह का अध्याय

प्रकृति-पुरुष-सम्बन्ध

भीष्म जी कहने लगे—जो पुरुष परम ऋषि नारायण वर्णित *वस्तु चतुष्टय, †व्यक्ताव्यक्त को नहीं जानता—वह ब्रह्म को जान ही नहीं सकता। व्यक्त अर्थात् शरीर नाशवान है और अव्यक्त मृत्यु के परे है अर्थात् अविनाशी है। भगवान् नारायण ने प्रवृत्ति रूप धर्म का निरूपण किया है। वह प्रवृत्ति रूप धर्म स्थावर जङ्गमात्मक तीनों लोकों के लिये है। निवृत्ति रूपी धर्म में सनातन और अव्यक्त परब्रह्म समावेशित हैं। रजोगुणी प्रजापति ब्रह्मा ने प्रवृत्ति धर्मोपदेश किया। संसार में बारंबार जन्म लेना प्रवृत्ति कहलाता है और जन्म से छूटना निवृत्ति अथवा परमगति है। परमात्मा के स्वरूप का सदा चिन्तवन करने वाला तथा मुक्ति और संसार के स्वरूप को

---

* वस्तु चतुष्टय ये हैं—स्वप्न, सुषुप्ति, सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म।

† व्यक्ताव्यक्त—देह और अव्यक्त चिदात्मा।

निश्चय के साथ जानने की अभिलाषा रखने वाला निवृत्त-परायण, मनन-शील पुरुष परम गति प्राप्त करता है। तत्वज्ञ जन को उचित है कि वे प्रकृति पुरुष का सम्बन्ध जान लें। इन दोनों से भी उत्तम तीसरा महान तत्व ईश्वर है। नित्यानित्य वस्तुओं को समझने में निपुण पुरुष क्लेशादि वर्जित परमात्मा का विशेष रूप से साक्षात्कार करे। प्रकृति और पुरुष अनादि अनन्त हैं। इनको जानने के लिये अन्य कोई प्रमाण नहीं है। दोनों ही नित्य हैं। दोनों ही ध्रुव हैं और दोनों महान् से भी महान् हैं। अतः उभय समानधर्मी हैं। इन दोनों के विरुद्ध धर्म ये हैं। प्रकृति में सत्व, रज और तम गुण हैं। इसका धर्म उत्पत्ति करना है। क्षेत्रज्ञ पुरुष या आत्मा का लक्षण प्रकृति के लक्षण से भिन्न है। पुरुषत्व के गुण रहित होने पर भी प्रकृति एवं महत्वादि के विकारों के कार्यों का द्रष्टा है; किन्तु सब गुणों से उत्तम है। क्षेत्रज्ञ और ईश्वर दोनों चिद्रूप हैं। ये दोनों उन गुणों से रहित हैं, जिनसे ज्ञान हो सके। अतः ये दोनों अन्य समस्त पदार्थों से भिन्न हैं। पुरुष और प्रकृति के सम्भोग से जीवतत्व की उत्पत्ति होती है। यह इन्द्रियों से कर्म करता है। अतः वह कर्त्ता है। इन्द्रियों द्वारा जो कर्म किये जाते हैं, वे जन्म देने वाले हैं और इन्हींसे जीव का अस्तित्व जाना जा सकता है। इस प्रकार यदि व्यवहार दृष्टि से देखा जाय तो जीव तीसरा तत्व है। यद्यपि शब्द संज्ञा से, मैं कौन हूँ? वह कौन है? इस प्रकार के प्रश्न किये जा सकते हैं, तथापि वास्तव में जीव का बीज कुछ भी नहीं है—केवल एक परमात्मा ही है। पगड़ी धारी के सिर पर जैसे पगड़ी के तीन पेच होते हैं, वैसे ही देही अर्थात् आत्मा भी सत्त्व, रज, तम—तीन गुणों से लिपटा हुआ है। जैसे पगड़ी वाला पगड़ी से भिन्न है, वैसे ही आत्मा भी तीनों गुणों से भिन्न है। इस प्रकार चार प्रकार के हेतुओं से लिपटे हुए इन चारों विषयों को जान लेना परमावश्यक है। जो इनको भली भाँति जान लेता है, वह ज्ञेय सिद्धान्तों का निराकरण करते समय मोह में नहीं

पड़ता । जो अपना बड़ा भारी अभ्युदय चाहता है उसे अपना मन शुद्ध रखने की बड़ी आवश्यकता है, इन्द्रिय एवं शरीर सम्बन्धी उग्र तपस्या कर के किसी प्रकार के फल की इच्छा न रखते हुए भोग का साधन करना चाहिये। तीनों लोक प्रत्येक खण्ड में आभ्यन्तरीण साधना वाली योगशक्ति से व्याप्त हैं। यह योग समस्त विश्व को प्रकाशयुक्त करता है। योगी के हृदयाकाश में सूर्य और चन्द्र योग-शक्ति, से प्रकाशित रहते हैं। योग का फल ज्ञान है। मनुष्य के लिये योग का वर्णन बड़ी अच्छी रीति से किया गया है। जो कर्म रजोगुण एवं तमोगुण को नष्ट करने वाले हैं, वे सत्य-लक्षणाक्रान्त योग के अन्तर्गत हैं।

ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक योग कहलाते हैं। मन और वाणी का दमन करना मानसिक योग कहलाता है। विधिज्ञ द्विजों के घरों से मिला हुआ भिक्षान्न सब अन्नों से उत्तम है। ऐसे अन्न का नियमानुसार सेवन करने से मनुष्य के रजोगुणजन्य पाप नष्ट हो जाते हैं। जो योगी ऐसे अन्न से अपना जीवन निर्वाह करता है, उसकी इन्द्रियाँ क्रमशः अपने विषयों से विरक्त हो जाती हैं। अतः योगी को उचित है कि, वह उसी अन्न का सेवन करे।

योग में लगे हुए मन से सावधान मनुष्य धीरे धीरे जिस ज्ञान को पाता है, उसको बहु-यत्न-पूर्वक अन्तकाल में उसे अपना लेना चाहिये। रजोगुण से रहित देही शब्दादि युक्त सूक्ष्म शरीर को धारण करता है और आकाश में विचरण करता है, जब उसके मन में कर्म करने पर भी विकार उत्पन्न नहीं होता, तब प्रकृति में वह लय हो जाता है। जब इस स्थूल शरीर का नाश हो जाता है और जब जीव स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों प्रकार के शरीरों से छूट जाता है, तब वह मोक्ष पाता है। प्राणी मात्र का जन्म और मरण अविद्या से उत्पन्न कारणों से हुआ करता है। जब मनुष्य ब्रह्मज्ञानी हो जाता है, तब

धर्माधर्म सम्बन्धी नियम उसे बाधा नहीं दे सकते। किन्तु जो पुरुष सत्य के विरुद्ध भाव ग्रहण कर लेता है, उसकी बुद्धि समस्त भावों की उत्पत्ति तथा लय में जुटी रहती है। धृति से अपने शरीर को धारण करने वाले, बुद्धि से अपने चित्त को जीतने वाले और इन्द्रियों के प्रत्याघातों से अपने को पृथक् रखने वाले कितने ही योगी सूक्ष्मता के कारण इन्द्रियों का सेवन करते हैं।

योग द्वारा मन को शुद्ध कर लेने वाले कितने ही योगी शास्त्रोक्त व्यवस्था के अनुसार क्रमशः चलते हैं और उत्तम भाव में पहुँचते हैं। तब उनको बुद्धि द्वारा ब्रह्म की पहचान होती है। जो लोग अत्यन्त श्रेष्ठ हैं वे अन्य किसी वस्तु का आश्रय लिये बिना ही आत्म-स्वरूप-स्थित ब्रह्म का आश्रय लेते हैं। कितने ही मूर्ति द्वारा ब्रह्म की उपासना करते हैं। कितने ही सगुण ब्रह्म के उपासक हैं। कितने ही निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। इसका वर्णन विद्युत के चिरस्थायी प्रकाश की तरह और अक्षर रूप से किया गया है। तप द्वारा अपने पापों को भस्म करने वाला महात्मा अपनी बुद्धि के अनुसार ब्रह्म की उपासना कर, अन्त में परम गति प्राप्त करता है। सोपाधि ब्रह्म के सोपाधि विशेषण को शास्त्र की दृष्टि से त्याज्य समझे और स्थूल देह के अध्यास से रहित अव्यक्त ब्रह्म को परमतत्त्व जाने। जिनका चित्त ज्ञान प्राप्त करने में अनुरागवान् हो गया है, वे मर्त्यलोक से मुक्त हो जाते हैं। सब प्रकार की आसक्तियों का त्याग हो जाने पर, ऐसे लोग ब्रह्म को प्राप्त करते हैं और उनको परमगति मिलती है। ब्रह्मवेत्ताओं ने इस धर्म को ब्रह्म प्राप्ति वाला धर्म बतलाया है।

जो लोग अपने ज्ञानानुसार ईश्वरोपासना करते हैं, वे भी परम गति पाते हैं। जो रागादि दोषों से रहित और अचल ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, उनको उत्तम लोक प्राप्त होते हैं। यदि उनमें ज्ञानाधिक्य हुआ तो वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। जो शुद्धान्तःकरण वाले

जन हैं, उनको ज्ञान ही से तृप्ति होती है। जिन्होंने आसक्ति तथा सकल कामनाओं को छोड़ दिया है, वे अपने स्वभावानुसार अव्यक्त गुणवाले, दिव्य और जन्म मृत्यु से रहित भगवान् विष्णु को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म निज आत्मा ही में रहता है। यह जान कर वे समस्त विकारों से शून्य हो जाते हैं और फिर उन्हें इस धराधाम पर जन्म नहीं लेना पड़ता है। वे लोग अक्षर एवं अव्यय परम स्थिति को पा जाने पर सुख से रहते हैं। मोहमुग्ध पुरुष इस भ्रम ही में पड़े रहते हैं कि पुरुष और आत्मा कोई पदार्थ हैं भी या नहीं। तृष्णा से बँधा यह जगत् चक्र की तरह घूमा करता है और कमलनाल के तारों की तरह सब में ओतप्रोत हो रहा है। इसी प्रकार जिसका आदि और अन्त नहीं है, उस तृष्णा रूपी तन्तु से यह सारा शरीर व्याप्त है। जैसे दरज़ी सुई में डोरा डाल वस्त्र को चारों ओर से गूँथ देता है, वैसे ही तृष्णा रूपी सुई भी संसार रूपी सूत्र को चारों ओर से गूथे हुए है। जो पुरुष प्रकृति को, प्रकृति के विकारों को और सनातन पुरुष को यथार्थ रीत्या जानता है, वह तृष्णा से रहित हो मुक्ति पाता है। जगत-गति रूप भगवान् नारायण ऋषि ने प्राणि मात्र पर दया कर, मोक्ष का यह साधन बतलाया है।

दोसौ अठारह का अध्याय

सदसद्भाव

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! मोक्ष के तत्व को जानने वाले मिथिलाधिपति सकल ऐश्वर्यों को त्याग, किस प्रकार मुक्त हुए थे?

भीष्म जी बोले—पूर्वकाल में मिथिलापुरी में राजा जनक के वंश में जनदेव नामक एक राजा थे। देहपात के बाद ब्रह्मप्राप्ति के लिये वे सदा-

चिन्तित रहते और तदनुकूल धर्माचरण करने में लगे रहते थे। उनके राजभवन में सदैव सौ आचार्य बने रहते थे और वे आश्रम धर्मों का उस राजा को उपदेश दिया करते थे। उन आचार्यों में प्रायः परस्पर शास्त्रार्थ भी हुआ करता था। शास्त्रार्थ के विषय होते थे—शरीर का नाश होने पर सब का नाश हो जाता है अथवा मरने के बाद पुनः जन्म लेना पड़ता है? आत्मा का स्वरूप क्या है? किन्तु राजा जनदेव को उन आचार्यों के शास्त्रार्थ से सन्तोष नहीं होता था।

एक दिन कपिलानन्दन पञ्चशिख नामक एक ऋषि घूमते फिरते मिथिला नगरी में जा निकले। पञ्चशिख जी मोक्षधर्म के पूर्ण ज्ञाता थे। वे सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित थे और उनको धर्म में किसी प्रकार का भी सन्देह न था। पण्डित उन्हें ऋषिश्रेष्ठ मानते थे। मनुष्यों में स्वभावतः जो कामनाएँ हुआ करती हैं वे भी इन ऋषिश्रेष्ठ में न थीं। वे जहाँ चाहते वहाँ रहते थे और दुर्लभ उपदेश लोगों को दिया करते थे। लोगों को प्रायः ऐसा जान पड़ता था कि, साँख्यशास्त्रवादी पण्डित कपिल को प्रजापति और परमर्षि कहते हैं। वही पञ्चशिख के रूप में भ्रमण करते हैं। आसुरि नामक ऋषि के पञ्चशिख प्रधान शिष्य थे और वे चिरञ्जीव कहलाते थे। वे एक बार मानसिक यज्ञ कर चुके थे। उनका वह मानसिक यज्ञ एक सहस्र-वर्ष-व्यापी था। वे बड़े दृढ़ मन के थे और उन्होंने ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाले यज्ञ और विधि का पालन शास्त्रोक्त विधान से किया था। आत्मा जिन अन्नमय, प्राणमय आदि पाँच कोशों से आवृत है, उन कोशों को वे जानते थे। ब्रह्मोपासना सम्बन्धी पञ्चकर्मों में वे निरत रहते थे। वे शमदमादि पञ्चगुणों से युक्त थे। इसीसे वे पञ्चशिख के नाम से प्रसिद्ध थे।

पञ्चशिख जी एक दिन साँख्यमतवादी मुनियों के निकट गये और उनसे परमार्थ प्राप्ति के विषय में प्रश्न किया। एक बार पञ्चशिख के गुरु आसुरि भी यही प्रश्न अपने गुरु से कर चुके थे और गुरोपदेश तथा अपने

तपोवल से आसुरि शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को भलीभाँति समझ गये थे और उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी थी। एक दिन ऋषिमण्डल में आसुरि ने उस एक अक्षर रूप अविनाशी ब्रह्म का, जो अनेक रूप से देख पड़ता है, वर्णन किया था। उन्हीं आसुरि के यह पञ्चशिख शिष्य थे। पञ्चशिख को कपिला नाम्नी एक ब्राह्मणी ने अपना दूध पिला कर पाला पोसा था। वह कपिला ब्राह्मणी आसुरि ऋषि की माता थी। इसीसे पञ्चशिख को लोग कपिलानन्दन कहा करते थे। पञ्चशिख को ब्रह्म में पूर्ण श्रद्धा थी। कापिलेय का यह वृत्तान्त, हे धर्मराज ! मुझे मारकण्डेय मुनि ने सुनाया था। सर्वधर्मज्ञ एवं धर्मात्मा पञ्चशिख, जनक के पास गये। उनके पास जा उन्हें विदित हुआ कि, जनक के मन में समस्त आचार्यों में समान सम्मान है। तब उन्होंने राजा जनक को उत्तम ज्ञान दिया और समस्त आचार्यों को युक्तियुक्त वार्तालाप से मोहित कर डाला। कापिलेय मुनि से ज्ञानोपदेश सुन कर, राजा जनक उन पर प्रसन्न हुए और अन्य समस्त आचार्यों को छोड़, वे उनके ही अनुयायी बन गये। तब उन्होंने ज्ञानोपदेश के सर्वथा अधिकारी एवं अभिवादनशील, राजा जनक को मोक्षधर्म का उपदेश दिया, जो साँख्य शास्त्रानुसार है।

पञ्चशिख ने राजा जनक को यह उपदेश दिया—प्रथम तो जन्म होना ही बड़े शोक की बात है। क्योंकि यज्ञ याग आदि कर्मों के फल नाशवान् हैं; अतः शोक के ये कारण हैं। यह समझ कर इनको त्याग देने का पञ्चशिख ने राजा को उपदेश दिया। वे बोले—इस जगत् से ले कर ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोक नाशवान् हैं और दुःख के मूल हैं। अतः इन समस्त लोकों की प्राप्ति की कामना को त्याग देना चाहिये। जिस फलप्राप्ति के लिये लोग धर्माचरण करते हैं और जिसके लिये पुण्य फल की आवश्यकता समझी जाती है; वह ऐसा नहीं, जिस पर श्रद्धा की जाय। क्योंकि वह तो नाशवान्, चञ्चल और अध्रुव है। नास्तिकों

का कथन है कि, प्रत्यक्ष तो देह का नाश ही देख पड़ता है। इसीसे देह से आत्मा को भिन्न पदार्थ मानने वाले शास्त्रों के अनुयायी उन नास्तिकों से हार जाते हैं। उनका कथन है कि, आत्मा का अभाव ही मृत्यु है। शरीर को क्लेश मिलना, शरीर का बुढ़ाना, रोगग्रस्त होना आदि शारीरिक दशाएँ भी मृत्यु के समान ही हैं। किन्तु इस लोक में जो वस्तु है ही नहीं—उसका भी अस्तित्व मान लेने से तो वन्दीजन राजा की स्तुति में उस राजा का जो अजर अमर होना कहते हैं, वह भी सत्य होना चाहिये। किसी वस्तु का अस्तित्व है या नहीं और जिसका अस्तित्व मान लिया गया है उस वस्तु का अस्तित्व नहीं है यदि ऐसा कहा जाय, तो फिर क्यों सामान्यजन, जीवनयात्रा के व्यवहार का निश्चय करने में लगते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण ही अनुमान और शास्त्र प्रमाणों का मूल है। प्रत्यक्ष प्रमाण से शास्त्र प्रमाण का बोध होता है। किन्तु अनुमान प्रमाण तो कुछ है ही नहीं। देह से भिन्न स्वतंत्र आत्मा नहीं है—इसका विचार करते समय अनुमान प्रमाण से काम लेना व्यर्थ है। बीज में पत्र, पुष्प, फल, फूल तथा छाल को उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है। जिस घास या जल को गौ ग्रहण करती है, उसीसे दूध घी आदि उत्पन्न होते हैं। ये अपने कारण के रूप से भिन्न होते हैं; भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएँ यदि जल में घोल कर रखी जाँय, तो लकड़ी जो अपने मूलकारण से भिन्न होती है, उत्पन्न होती हुई देखी जाती है। इसी तरह वीर्य से शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार युक्त उसके गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जब दो लकड़ियाँ परस्पर रगड़ी जाती हैं, तब आग उत्पन्न होती है। सूर्यकान्त पत्थर जब सूर्य की किरणों को स्पर्श करता है; तब उससे भी अग्नि उत्पन्न होता है। यदि कोई खनिज वस्तु अग्नि में तपायी जाय, तो जलस्पर्श होते ही—वह जल को सुखा देती है। इसी तरह जड़ शरीर, मन तथा स्मृति आदि गुणों की उत्पत्ति के विषय में भी समझ लेना चाहिये। जैसे चुम्बक पत्थर, लोहे को अपनी ओर

आकर्षित करता है; वैसे ही इन्द्रियों का दमन मन द्वारा होता है। नास्तिकों की ये युक्तियाँ मिथ्या हैं। क्योंकि चैतन्य के अभाव में शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। मृत्युकाल में शरीर के साथ चैतन्य का नाश नहीं होता, क्योंकि शरीर वहाँ पड़ा देख पड़ता है। इससे यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है कि, शरीर आत्मारूप नहीं है, किन्तु आत्मा शरीर से एक भिन्न पदार्थ है, जो शरीर को सचेष्ट बनाता है। यदि शरीर और आत्मा एक ही पदार्थ होते, तो एक साथ दोनों का अभाव हो जाना चाहिये था, किन्तु ऐसा न हो कर, मृत्यु होने के बाद मनुष्य का मृत शरीर कितनी ही देर तक बराबर दिखलायी पड़ता है। किन्तु वह चैतन्य पदार्थ नहीं देख पड़ता। नास्तिकों का मत खण्डन करने के लिये एक युक्ति और भी है कि, उनके मतानुसार किये हुए कर्म नष्ट हो जाते हैं। इन कारणों से जड़ शरीर की सिद्धि होती है। अजड़ अर्थात् अमूर्त आत्मा का सादृश्य, मूर्त जड़ के साथ कभी नहीं हो सकता।

(अब बौद्धमत को लीजिये)—कितनों ही का कहना है कि अज्ञान कर्मवासना, लोभ, मोह तथा अन्य दोषों का सेवन ही पुनर्जन्म के कारण हैं। उनका यह भी कहना है कि, अविद्या क्षेत्र है। जिस प्रकार भूमि में बीज बोया जाता है, वैसे ही कर्म ही बीज है। इस बीज को अङ्कुरित करने वाला तृष्णा रूपी जल है। जब तक सुप्तावस्था में और प्रलय-काल में, अविद्या का समूह संस्कार रूप से गुप्त रहता है, तब तक मर्त्यशील यह शरीर नाश को प्राप्त होता है। अविद्या के समूह से दूसरा शरीर उत्पन्न हो जाता है, तब देह का नाश हो जाता है। इसीको (बौद्ध लोग) निर्वाण कहते हैं।

यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि यदि किसी प्राणी का इस प्रकार जन्म हुआ मान लिया जाय और वह यदि पुण्य पाप के कारण स्वरूप जन्म और सङ्कल्प से भिन्न हो तो यह क्यों कर कहा जा सकता है कि, उस प्राणी का उसके पूर्वजन्म के साथ सादृश्य है। अतः इससे यही

अनुमान होता है कि अमुक प्राणी के विविध जन्मों का आपस में सादृश्य नहीं है। क्षणिक विज्ञान-वादी के मतानुसार यदि आत्मा क्षणिक विज्ञान रूप मान लिया जाय, तो फिर कोई भी प्राणी दान धर्म करने में, विद्या प्राप्त करने में अथवा तपोबल सम्पादन करने में प्रीतिवान् क्यों कर हो सकता है? क्योंकि एक आत्मा जो कुछ धर्म करेगा उसका फल तो दूसरे पावेंगे। एक दूसरा कारण और भी है। पूर्व-जन्म-कृत एक के दुष्कृत से इस जन्म में अन्य प्राणी को दुःखी देखा जाता है अथवा एक के सत्कर्म से दूसरे का प्रसन्न होना, इस लोक के लिये निश्चित है। इसी प्रकार का निश्चय अदृश्य आत्मा के विषय में भी तो होना चाहिये। फिर पूर्व-जन्म सम्बन्धी क्षणिक पृथक् विज्ञान, पूर्व-जन्म के विज्ञान से भिन्न है। इस पृथक् विज्ञान की उत्पत्ति जैसी बतलायी जाती है, वैसी वह है नहीं। (पूर्वजन्म सम्बन्धी) विज्ञान शरीर नाश होने तक ही रहने वाला है। अतः वह क्षणिक है—शाश्वत नहीं है। अन्तवान विज्ञान जो पीछे निकलता है, दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता। यदि प्रथम विज्ञान के नाश को दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति का कारण मानें तो एक मूसल के कुचले मृत शरीर से दूसरे शरीर की उत्पत्ति भी होनी चाहिये। हेतुवादी कह सकता है कि, आत्मा विज्ञान का आश्रय रूप है। किन्तु उसका यह कथन दोषपूर्ण होगा। जैसे कोई निर्मित घर काल पा कर पुराना हो जाता है और उसके पुराने खंभे गिर पड़ते हैं और वह घर भी गिर पड़ता है, वैसे ही जब आत्मा जरा मृत्यु से घिर जाता है, तब पूर्व विज्ञान, इन्द्रियाँ, मन, वायु, रुधिर, माँस, हड्डी एक एक कर सब नष्ट हो जाते हैं और अपने मूल धातु में मिल जाते हैं।

यदि यह कहा जाय कि, आत्मा बुद्धि आदि गुणों से रहित, शुद्ध, अकर्त्ता और अभोक्ता है, तो इससे तो दानधर्म का फल उसे मिलेगा ही नहीं, तब वेदवाक्य और लोकव्यवहार व्यर्थ हो जाँयगे। मन में इस प्रकार के अनेक तर्क उठा करते हैं। कुछ भी निश्चय नहीं किया जा

सकता। तर्कशील जन विविध प्रकार के विचार किया करते हैं और उन विचारों के दास बन जाते हैं। अन्त में किसी एक विचार पर उनकी बुद्धि दृढ़ हो जाती है। वे उस पर वृक्ष की जड़ की तरह अपनी जड़ जमा कर मरण होने तक अटल रहते हैं। इस प्रकार समस्त प्राणी खरे खोटे उद्यमों से दुःखी होते हैं; किन्तु उन्हें सन्मार्ग पर वे ही लाते हैं। जैसे महावत उत्पथ-गामी गज को सन्मार्ग पर ले आता है, वैसे ही वेद भी उसे सन्मार्ग पर ले जाते हैं। ऐसे अनेक शुष्क ज्ञानी ऐसे अनेक पदार्थ चाहते हैं, जो इनके मन को सुखदायी हों, किन्तु उन्हें उन पदार्थों से मिलता दुःख ही है। इतना ही नहीं, ये लोग पराधीन हो कर, सुख प्राप्त किये बिना ही मर भी जाते हैं। जो अवश्य ही नष्ट होने वाला है, उस शरीर को धारण करने वाले और अनिश्चित जीवन बिताने वाले पुरुष को अपने शरीर से भिन्न स्त्री पुत्रादि से प्रयोजन ही क्या है? जो पुरुष क्षण भर में इन सब को त्याग कर चल खड़ा होता है, उसे मरने के बाद पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। पृथिवी, आकाश, जल, अग्नि और वायु ये सदा शरीर की रक्षा किया करते हैं। जो लोग ऐसे विचार वाले हैं, वे अशान्ति के आगार इस नाशवान् शरीर के ऊपर प्रीति क्यों कर रखने लगे। वास्तव में नाशवान् शरीर में किसी भी प्रकार का आनन्द नहीं है।

कपट और छल से रहित परम कल्याणकारी आत्मज्ञान कराने वाले वचनों को सुन कर राजा जनक को बड़ा विस्मय हुआ। वह कहने लगा।

दोसौ उन्नीस का अध्याय

पुनर्जन्म और मोक्ष

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! जब पञ्चशिख ने राजा जनदेव को ऐसा उपदेश दिया: तब उसने यह पूछा—मरने के बाद प्राणी की मुक्ति या पुनर्जन्म होता है कि, नहीं?

जनदेव ने कहा—भगवन् ! मर जाने के बाद मनुष्य को सुषुप्ति या मूर्छावस्था की तरह, किसी बात का विशेष ज्ञान नहीं रह जाता। तब ज्ञान और अज्ञान में अन्तर ही क्या रहा ? ऐसी दशा में तो अज्ञान से हानि और ज्ञान से लाभ ही क्या है ? हे द्विजवर ! यदि मोक्ष का यही स्वरूप है, तो समस्त धर्म, कर्म और यम, नियम आदि का फल नाशवान् हुआ और तब एक समझदार और पागल पुरुष में अन्तर ही क्या रहा ? यदि मोक्ष में दिव्य सुख नहीं है अथवा स्वर्गादि फलों की तरह मोक्ष भी नाशवान् है; तो फिर वह कौन सा फल है, जिसके ज्ञान का निश्चय किया जाय। इस विषय में जो निश्चय मत हो वह आप बतलावें।

भीष्म जी बोले—राजा को अन्धकाराच्छादित अथवा भ्रम में निमग्न रोगी की तरह देख, पञ्चशिख ने पुनः उसे अपने वचनों से शान्त कर, उससे यह कहा—

राजन् ! मोक्ष का नाश नहीं है। क्योंकि लय का अस्तित्व भी तो कुछ नहीं है। हमें तो यह शरीर केवल इन्द्रिय और मन का सञ्चय अर्थात् एकत्रित होना देख पड़ता है। यद्यपि इन सब का पृथक् पृथक् अस्तित्व है; तथापि ये अन्योन्याश्रित हो कर्म करते हैं। पाँच धातुओं से यह शरीर उत्पन्न होता है। शरीर के सङ्गठन में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—पाँचों तत्त्व स्वभावतः एकत्र हो जाते हैं और फिर यथासमय स्वभावतः ये पाँचों पृथक् भी हो जाते हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी के एकत्रित होने पर शरीर बनता है। अतः शरीर कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। ज्ञान जठराग्नि और प्राणवायु है। यही प्राण कहलाता है। यही वायु है। ये तीन ही कर्म के संग्रह रूप कहलाते हैं। इन्द्रियाँ उनके शब्द स्पर्शादि विषय और इन विषयों को प्रकाशित करने वाली वृत्तियाँ चेतना, मन, पञ्चप्राण वायु तथा जठराग्नि से उत्पन्न होने वाले रस और धातु की उत्पत्ति पूर्वकथित तीन पदार्थों से अर्थात् ज्ञान, वायु और जठराग्नि से हुई है।

श्रवण, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन सब इन्द्रियों के विषयों ने अपने अपने गुण, मन से लिये हैं। यही मन सब का कारण रूप है। मन चेतन आत्मा का प्रतिविम्ब है। मन की तीन अवस्थाएं हैं—यथा सुख, दुःख और सुख दुःख का अभाव। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, रूपाश्रित द्रव्य हैं। ये छः गुण मरण पर्यन्त ज्ञानसिद्धि कराने वाले हैं। ब्रह्मप्राप्ति के लिये कर्म-संन्यास, समस्त अर्थों का निर्णय, इन सब का आश्रय इन्द्रियाँ हैं। विद्वानों का कथन हैं कि, सत्यनिर्णय ही जीवन का प्रधान फल है और वही मोक्ष का वीज रूप या मूल रूप है। बुद्धि मोक्ष या ब्रह्म को प्राप्त करने वाली है। जो पुरुष इस नाशवान् शरीर और इन्द्रियों के विषयों को आत्मा रूप से देखता है उस मिथ्या ज्ञान युक्त पुरुष के दुःखों का नाश कभी होता ही नहीं। किन्तु जो साँसारिक विषयों को अनात्म मान कर, उनको त्याग देते हैं वे कभी दुःखी नहीं होते। क्योंकि दुःख का अधिष्ठान तो ऐसे जनों के पास रहता ही नहीं। अब मैं तुम्हें मोक्ष के लिये साँख्य-शास्त्र नामक सर्वश्रेष्ठ शास्त्र के सिद्धान्त सुनाता हूँ; सुनो।

मुमुक्षुओं के लिये सदा अनुष्ठेय कर्म यही है कि, वे कर्म और वैभव को त्याग दें। जो लोग इन्हें नहीं त्यागते और सोचते हैं कि, हम इन्हें त्यागे विना भी सुख शान्ति से रह सकेंगे; उन्हें अविद्या रूपी दुःखदायी क्लेश सहने पड़ते हैं। द्रव्य का त्याग करने और संग्रह की प्रवृत्ति के नाश के लिये यज्ञादि वैदिक कर्म हैं। भोग का त्याग करने के लिये व्रत है। सुख त्याग के लिये तप है और सर्वत्याग के लिये योग है। क्योंकि सर्व-त्याग ही सर्वोत्तम त्याग है। दुःख विनाश के लिये सर्वप्रकार से भेदशून्य त्याग रूप भोग का मार्ग तुझे बतलाता हूँ। जो इस मार्ग से चलते हैं, वे समस्त दुःखों का नाश कर सकते हैं। जो इस मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें दुःख और शोक सहने पड़ते हैं। प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठवें मन की बात कही; अब मैं यह बतलाऊँगा कि, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ

और छठवाँ प्राण—चित्त में क्यों कर रहते हैं? दोनों हाथ कर्मेन्द्रिय हैं। दोनों पैर गतीन्द्रिय; लिङ्ग जननेन्द्रिय तथा आनन्देन्द्रिय, मल-त्याग के लिये गुह्येन्द्रिय और शब्द विशेष उच्चारण के लिये वाक्-इन्द्रिय है। इन पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ छठवाँ मन है। इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन को मिला कर ग्यारह इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इन ग्यारह इन्द्रियों को जान कर, तुरन्त बुद्धि के साथ विचार कर के मन को त्याग दे। श्रोत्र इन्द्रिय है, शब्द विषय है। चित्त श्रोता है और श्रवण क्रिया है। विषय और श्रोता में तीन उपयोगी हैं। ऐसे ही स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में भी तीन तीन की आवश्यकता है। इस प्रकार पञ्चत्रयी को मिलाने से पन्द्रह होते हैं। ये शब्दादि तन्मात्राओं के ज्ञान के लिये उपयोगी हैं। इनके अनुभव से स्थूल इन्द्रियाँ धर्म और धर्म में संलग्न मन, क्रमशः जीव के निकट आते हैं। मन के विषय रूपी तीन गुण और हैं। यथा सात्त्विक, राजस और तामस। इन तीन गुणों से प्रहर्ष आदि तीन वृत्तियों में से युक्त तीन प्रकार का अनुभव उत्पन्न होता है। इष्टवस्तु को सुनने से हर्ष, इष्टवस्तु को देखने से प्रीति, इष्टवस्तु के मिलने से आनन्द, इष्ट वस्तु के समागम से सुख और चित्त की शान्ति—यदि ये सब वैराग्य द्वारा अपने आप या इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से उत्पन्न हों तो इसे सत्त्व गुण का लक्षण जानना चाहिये। असन्तोष, परिताप, शोक, लोभ और क्षोभ न होना ये रजोगुण के लक्षण हैं। ये किसी न किसी कारण से अथवा विना कारण ही के अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न और तन्द्रा यदि ये किसी भी रीति से उत्पन्न हों तो तमोगुण के लक्षण हैं। शरीर में अथवा मन में जब मोह एवं प्रीतियुक्त भाव जान पड़े, तब सत्वगुण के भाव का उदय जान लेना चाहिये। जब मन में असन्तोष और अप्रीति उत्पन्न करने वाला भाव हो, तब समझे कि, रजोगुण प्रवृत्त हुआ है। जब शरीर अथवा मन में मोह उत्पन्न हो और जब विचार करने पर

भी तर्क काम न दे और कुछ भी विचार समझ में न आवे, तब समझ ले कि तमोगुण का उदय हुआ है। श्रोत्रेन्द्रिय आकाश के आश्रित है। क्योंकि वह स्वयं आकाश रूप है। श्रोत्र शब्द का आश्रय रूप है। जब शब्दविज्ञान चल रहा हो, तब शब्द तथा आकाश का ज्ञान नहीं होता; किन्तु जब शब्द का ज्ञान हो रहा हो, तब श्रोत्र और आकाश—दोनों का ज्ञान होता है। इसी प्रकार त्वचा, चक्षु, जिह्वा और पाँचवी नासिका के विषय में जान लेना चाहिये। स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सब मन के विषय हैं। क्योंकि वे मन रूप ही हैं। अपने अपने विषयों में लगी हुई पाँचों इन्द्रियाँ और पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ एक जगह रहा करती हैं। इन दसों के संयोग से ग्यारहवें रूप में मन रहता है और मन में वारहवीं बुद्धि रहती है। यदि कहा जाय, वारहों एक स्थान पर नहीं रहते, तो उन सब का सुषुप्ति अवस्था में लय हो जाय। किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः ये वारहों एकत्र रहते हैं यह ठीक है। किन्तु ये आत्मा से अलग रहते हैं। इसीसे इन वारहों का आत्मा के साथ रहना लौकिक व्यवहारानुसार सामान्यतः कहा गया है। स्वप्नद्रष्ट पुरुष इन्द्रियों की पूर्ववासना के अनुसार अपनी इन्द्रियों को उनके सूक्ष्म रूपों में देखता है और स्वयं भी सत्त्व, रज, तम से छूट जाता है। अतः उसे अपनी इन्द्रियों का उनके साथ अस्तित्व मानना पड़ता है। जाग्रत अवस्था की तरह सङ्कल्पात्मक शरीर से, वह क्रिया करता है तथा डोलता फिरता है जिसका कुछ ही काल में नाश हो जाता है। जो चल है और तमोगुण से जिसकी चित्त में उत्पत्ति होती है, उसे विद्वान् तमोगुणी सुख कहते हैं। यह स्थूल शरीर से उत्पन्न होता है। मोक्ष-सुख वह सुख है, जिसका वर्णन वेदों ने किया है। उसमें दुःख का लेश भी नहीं है। यद्यपि दोनों में एक ही प्रकार का अनिर्वाच्य तथा सत्य को आच्छादित करने वाला तम सा जान पड़ता है; तथापि वास्तव में यदि देखा जाय तो मोक्षसुख किसी प्रकार के तम से दूषित नहीं है। जैसे गुण सुषुप्त अवस्था में होते हैं, वैसे ही

गुण मोक्ष में भी होते हैं। इनकी उत्पत्ति कर्म से होती है और वे सर्वथा ग्राह्य माने जाते हैं। अविद्याक्रान्त कितने ही पुरुषों में ये गुण दृढ़ता के साथ संलग्न हुआ करते हैं। किन्तु अविद्या से छूटे हुए ज्ञानी पुरुष के पास ये गुण फटकने नहीं पाते। पूर्वकथित पञ्चमहाभूतों के समूह को अध्यात्म शास्त्री क्षेत्र बतलाते हैं और मानसिक भाव को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। इस प्रकार समस्त प्राणी अनादि काल से अविद्या के कारण कर्माधीन बन कर, अपने आप कार्य में संलग्न रहते हैं। ऐसी दशा में किसका नाश माना जाय और कौन सनातनी माना जाय। उस शाश्वत आत्मा का नाश तो हो ही नहीं सकता।

जैसे क्षुद्र नदियाँ बड़ी भारी नदियों में समा कर अपने नाम और रूप को जना देती हैं और बड़े नद भी समुद्र में समा कर, अपना नाम और रूप गवाँ देते हैं वैसे ही प्राणी का भी मोक्ष होता है। वह सब के उत्पत्तिस्थान परमात्मा की ओर जाता है और उसमें लीन हो फिर जन्म नहीं लेता। मरने के बाद क्या संज्ञा होती है और जीव के सब ओर से ग्रहण किये हुए शरीर में प्रविष्ट होने से उसकी क्या गति होती है ऐसे विमोक्ष बुद्धि आत्मा को जो जानता है और प्रमाणशून्य हो इसे खोजता है, वह अनिष्ट कर्मफलों में लिप्त नहीं होता। जैसे जल से सींचा हुआ कमलपत्र नहीं कुम्हलाता, वैसे ही वह भी कभी नहीं कुम्हलाता। साँसारिक फंदों से छूट कर, जब जीव सुख दुःख को त्याग देता है, तब उसकी ऊर्ध्वगति होती है। जो मनुष्य बाल बच्चों की मोह-ममता में नहीं फँसता और देवताओं की प्रसन्नता के लिये किये जाने वाले यज्ञादि कर्मों के फंदों में नहीं फसता, वह पुरुष जब सुख और दुःख को त्याग देता है और समस्त आसक्तियों के पार हो जाता है, तभी वह पाँच प्राण, मन बुद्धि और दस इन्द्रियों से सम्पन्न लिङ्गशरीर से छूट कर परमपद को जाता है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य बतलाने वाली श्रुतियों का यथार्थ भाव जिसने समझ लिया है, जिसने शास्त्रोक्त

माङ्गलिक साधनों को साध लिया है, वह जरा मृत्यु के भय से रहित हो सुख से सोता है।

जब पाप-पुण्य-जन्य सुख दुःखादि नष्ट हो जाते हैं, तब किसी वस्तु में आसक्ति रह ही नहीं जाती। उस समय उस पुरुष का सगुण ब्रह्म में अनुराग उत्पन्न होता है और बुद्धि द्वारा उसे निर्गुण ब्रह्म का रहस्य जान पड़ता है। रेशम का कीड़ा अपनी लार के तन्तुओं से बनाये हुए घर में जैसे रहता है, वैसे ही जीव की भी अविद्या से अधोगति होती है। उसे अपने कर्ममय घर में रहना पड़ता है। फिर जैसे रेशम का कीट अपने तन्तुओं को छोड़ देता है वैसे ही जीव भी निज कर्म-निर्मित शरीर रूपी गृह को त्याग देता है। मिट्टी का डेला जैसे पत्थर पर गिर चूर चूर हो जाता है, वैसे ही जीव भी जब मुक्त होता है, तब दुःख से छूट जाता है। जैसे रुरु जाति का मृग चुपचाप अपने जीर्ण शृङ्ग को त्याग और जैसे सर्प चुपचाप केचुल को त्याग सुखी होते हैं, वैसे ही जीव भी संसार को त्याग कर, दुःख से छूट जाता है। आसक्ति-शून्य पक्षी जल में गिरते हुए वृक्ष को छोड़ कर उड़ जाता है, वैसे ही साँसारिक आसक्ति को त्यागने से केवल सुख दुःख ही को नहीं—वल्कि षोड़श विकारों वाले लिङ्ग शरीर को त्याग जीव उत्तम गति को पा जाता है।

भीष्म जी बोले—ऐसा ज्ञान पा कर, राजा जनक ने एक दिन अपने नगर को आग से जलते देख कर कहा था—इस जलती हुई मिथिला नगरी में मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है। राजा जनक ने पञ्चशिखाचार्य के मतानुसार मोक्ष ज्ञान सम्बन्धी उपदेश को सुन, शोक और चिन्ता त्याग दी थी और वे परम सुखी हुए थे।

हे राजन्! मोक्ष-ज्ञान सम्बन्धी इस अध्याय को जो लोग पढ़ते और विचार करते हैं, वे वैसे ही मोक्ष को पाते हैं, जैसे मिथिलाधिपति ने पञ्च-शिख के समागम से मोक्ष पाया था। उसे कभी दुःखी नहीं होना पड़ता। उसके साथ कोई उत्पात नहीं करता और पीछे उसे मोक्ष मिलता है।

दोसौ बीस का अध्याय

दम

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! अब आप मुझे वे उपाय बतलावें जिनसे मनुष्य को सुख मिले और वह इस संसार में निर्भय हो घूमें फिरे, सिद्ध हो जाय और दुःखी न हो।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! वेदाध्ययनशील और अनुभवी वृद्ध-जनों ने साधारणतः सब वर्णवालों के लिये और विशेषतः ब्राह्मण के लिये, इन्द्रिय-निग्रहकारी दम गुण की बड़ी प्रशंसा की है. जिसमें दम गुण का अभाव है, उसका कोई भी काम भली भाँति नहीं हो सकता। समस्त क्रियाएँ, तप और सत्य—दम ही के अधीन हैं। दम तेज की वृद्धि करता है। दम एक पवित्र गुण माना गया है। दम की सहायता से पाप एवं भय से छूटा हुआ पुरुष, बड़े बड़े फल पाता है। दम का साधनकर्त्ता सुख से सोता है, सुख से जागता है, सुख से जगत में विचरता है और उसका मन भी आनन्दित रहता है। इससे हर प्रकार की मानसिक घबड़ाहट रोकी जा सकती है। दम द्वारा रजोगुण को जीता जा सकता है। दम के कारण ही कामादि अनेक विकार आत्मा से पृथक् रहते हैं।

जिस प्रकार व्याघ्रादि हिंसालु जीवों से निर्बल मनुष्यादि जीवों को सदा भयभीत रहना पड़ता है, उसी प्रकार दमरहित प्राणियों से अन्य प्राणियों को भयभीत रहना पड़ता है ! ऐसे ही दमरहित पुरुषों के निग्रह के लिये स्वयम्भू ब्रह्मा ने राजा की रचना की है। चारों आश्रमों के धर्मों को यथार्थ रूप से पालन करने का जो फल होता है, दम का पालन करने पर, उससे भी श्रेष्ठतर फल प्राप्त होता है। दम की बड़ी प्रशंसा की गयी है। दम की प्रशंसा करने वालों ने दम के लक्षण के जो हेतु बतलाये हैं, उन्हें तुम सुनो। दमयुक्त पुरुष की पहचानें ये हैं।

वह कृपण नहीं होता, आवेश में नहीं आता, सन्तोषी होता है। उसमें श्रद्धा होती है और क्रोध नहीं होता। वह सरल स्वभाव होता है। साँसारिक विषयों पर वार्तालाप करना उसे नहीं रुचता। वह निरभिमानी, गुरु-सेवा-परायण और सत्यभाषी होता है। वह न तो किसी के साथ डाह करता है और न किसी की चुगली खाता है। वह समस्त प्राणियों के प्रति दया प्रदर्शित करता है। वह प्रजा प्रतिनिधियों अथवा राज-प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में बातचीत नहीं करता। वह स्तुति निन्दा से दूर रहता है। वह आने वाले सुख दुःख के लिये हर्षित या विषादित नहीं होता। वह सदा मोक्ष-प्रद प्रयत्नों में लगा रहता है। दमशील पुरुष किसी से शत्रुता नहीं करता, वह रागद्वेष रहित हो, सब का सत्कार करता है। वह सदाचारी, शीलवान्, शुद्धचित्त, धैर्यवान् और कामादि दोषों को जीतने वाला होता है।

दमशील पुरुष की संसार में प्रतिष्ठा होती है और जब वह मरता है, तब उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ऐसा पुरुष अन्य प्राणियों को उन वस्तुओं को दिलवा कर, जो सहायता विना प्राप्त नहीं हो सकतीं, परम हर्षित होता है। वह सदा समस्त प्राणियों के हित में निरत रहता है। वह किसी से द्वेष नहीं करता। वह एक विशाल सरोवर की तरह क्षुब्ध न होने वाला, धीर और वीर होता है। वह ज्ञान से तृप्त रहता है और सदा प्रसन्न रहता है। दान्त पुरुष सब प्राणियों का प्रणम्य होता है और किसी से नहीं डरता। वह पुरुष बुद्धिमान् और सन्तोषी कहलाता है जो बड़ी से बड़ी सम्पत्ति पा कर भी हर्षित नहीं होता और दुःखी होने पर जो विषाद नहीं करता। ऐसा पुरुष दान्त और द्विज कहलाता है। जो पुरुष शास्त्रज्ञ है और वेदोक्त कर्म करता है, सन्मार्ग पर चलता है और अपने अन्तःकरण को पवित्र रखता है; वह दान्त पुरुष बड़ा पुण्यफल भोगता है। दुष्टजनों में ईर्ष्या का त्याग, क्षमाशीलता, शान्ति, सन्तोष, प्रियवादित्व, सत्य, दान और अतृष्णापन का अभाव होता है और काम,

क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, निन्दा आदि दुर्गुण उनमें स्वभावतः होते हैं। काम, क्रोध और लोभ को जीते। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। उग्र तप करे। कठोर व्रत का पालन करे। ऐसा जो दान्त पुरुष होता है, उसे उचित है कि, संसार के अनित्यत्व को समझ कर, वह शरीरपात के समय की प्रतीक्षा करता हुआ, शान्तिपूर्वक इस लोक में विचरे।

दोसौ इक्कीस का अध्याय

पुनर्जन्म और मोक्ष

युधिष्ठिर ने पूछा—हे धर्मराज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को व्रत की दीक्षा से दीक्षित हो और देवताओं को अर्पण करने के बाद बचे हुए हविष्य और मद्य माँसादि स्वर्गलोक अथवा पुत्रादि प्राप्ति की कामना से खाना उचित है या नहीं ? ऐसे लोग वेदोक्त कर्मानुष्ठान करने के अधिकारी हैं या नहीं ? आप मुझे यह बतलावें।

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर ! जो द्विजाति अवैदिक व्रतों को धारण कर, किसी कार्य की सिद्धि के लिये अभक्ष्य माँसादि खाते और अपेय मद्यादि पदार्थ पीते हैं, वे स्वेच्छाचारी हैं। जो वेदोक्त व्रतों को धारण कर, स्वर्ग अथवा पुत्रादि प्राप्ति की कामना से एवं वेदोक्त विधि से माँस मदिरा का सेवन करते हैं, वे स्वर्ग में जाते हैं। यद्यपि यह बात ठीक है; तथापि ऐसे लोगों को पुण्य क्षीण होने पर, पुनः इस लोक में आना पड़ता है।

युधिष्ठिर ने कहा—उपवास कर के शरीर को क्लेश देने का नाम ही क्या तप है ? क्या इसे ही सचमुच तप समझा जाय या तप कोई अन्य वस्तु है ?

भीष्म जी ने कहा—जो मनुष्य मासिक या पाक्षिक व्रतोपवास

किया करते हैं, वे समझते हैं कि वे तप करते हैं, किन्तु जो ऐसा करते हैं, उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त करने में विघ्नों का सामना करना पड़ता है। अतः सत्पुरुषों के मतानुसार ऐसा करना तप नहीं कहलाता। आत्म-विद्या के लिये उपयोगी तप यह है—ऐसा कोई कर्म न करे जिससे किसी प्राणी को भयभीत होना पड़े। समस्त प्राणियों का आदर सत्कार करें। यह उत्तम कोटि का तप है। जो पुरुष इस प्रकार का बर्त्ताव करता है, वह उपवास न कर के भी सदा उपवासी कहलाता है और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न कर के भी वह सदा ब्रह्मचारी कहलाता है।

हे राजन्! जो पुरुष इस प्रकार धर्माचरण करना चाहता है, वह मुनि अथवा देवता जैसा माना जाता है। वह सदा जाग्रत माना जाता है। वह भले ही गृहस्थी ही में क्यों न रहे, वह धर्म-कर्म-निरत माना जाता है। जो द्विज कभी माँस भक्षण नहीं करता, सदा पवित्र रहता है, सदा अमृत जैसा स्वादिष्ट पदार्थ खाता है, देवता और अतिथि का पूजन करता है, वह यज्ञ के अवशिष्ट अन्न का भोक्ता कहलाता है। वह आतिथ्य व्रत का व्रती कहलाता है और वह देवताओं और ब्राह्मणों में श्रद्धा रखने वाला कहलाता है।

युधिष्ठिर ने पूछा—इस प्रकार का तप करने वाला, उपवास रखने वाला, ब्रह्मचारी, हविष्यभोजी और आतिथ्य करने वाला क्यों कहलाता है?

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! जो मनुष्य सवेरे और रात्रि के समय भोजन करता हो और बीच में कुछ न खाता हो, उसे सदा उपवासी जानना चाहिये। जो पुरुष केवल ऋतुकाल में अपनी पत्नी के साथ गमन करता हो, जो ज्ञान में निष्ठावान् हो, जो सदा सत्यभाषण करता हो, वह ब्रह्मचारी है। जो पुरुष वेदोक्त कर्मों में छोड़ अन्य कभी माँस नहीं खाता, वह माँसाहारी नहीं है। जो नित्य दान देता है, वह

पवित्रात्मा कहलाता है। जो दिन में नहीं सोता, वह जाग्रत कहलाता है। हे धर्मराज ! जो माता पिता आदि पोष्य वर्ग को, सेवकों तथा अतिथियों को भोजन करा के, पीछे स्वयं भोजन करता है, उसको ही तुम सदा अमृत खाने वाला समझो। जो द्विज पोष्यवर्ग को भोजन कराये बिना स्वयं भोजन नहीं करता, वह पुरुष अपने ऐसे बर्त्ताव के प्रभाव से स्वर्गगामी होता है। जो पुरुष देवता, पितर, माता, पिता आदि पोष्यवर्ग और अतिथियों को भोजन कराने के बाद बचे हुए अन्न से अपना पेट भरता है, वह शास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार विघसाशी अर्थात् यज्ञशिष्ट अन्न भक्षण करने वाला कहलाता है। ऐसे लोगों को अगणित लोकों की प्राप्ति होती है और अप्सराओं सहित देवता और ब्रह्मा जी ऐसे लोगों के घरों पर जाते हैं। जो देवताओं और पितरों के साथ, अन्नादि का उपयोग करते हैं, वे पुत्र-पौत्रवान् जन आनन्द में जीवन बिताते हैं और शरीरत्याग के बाद उनकी सर्वोत्तम गति होती है।

दोसौ बाइस का अध्याय

इन्द्र और प्रह्लाद का कथोपकथन

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! इस संसार में प्रत्येक खरा खोटा कर्म, कर्त्ता के लिये सुख या दुःख का हेतु माना गया है। अतः उस खरे खोटे कर्म का कर्त्ता पुरुष कोई है या नहीं ? मुझे इस विषय में बड़ा सन्देह है। अतः आप मेरा सन्देह दूर करें।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! इस प्रसङ्ग में इन्द्र और प्रह्लाद का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास है, जो इस प्रकार कहा जाता है। असुरराज प्रह्लाद को कोई कामना नहीं थी। वे उत्तम कुल में जन्मे थे

और निष्पाप थे। वे बहुत पढ़े हुए थे और उनमें आलस्य और अहङ्कार न थे। वे सतोगुणी, दान्त और धर्मात्मा थे। वे निन्दा और स्तुति को समान मानते थे। इन्द्रियों को अपने वश में रखते थे, एकान्त स्थान में रहना उन्हें रुचता था। उन्हें स्थावर-जङ्गमात्मक अखिल विश्व के प्राणियों की उत्पत्ति और उनके नाश का ज्ञान था। यदि उन्हें कोई अप्रिय वस्तु मिलती, तो वे क्रोध नहीं करते थे और प्रिय वस्तु मिलने पर हर्षित नहीं होते थे। उनके लिये सुवर्ण और मिट्टी के ढेले समान थे। आनन्दरूप, चैतन्य परमात्मा के अस्तित्व में उन्हें पूर्ण निश्चय था। निर्णय करने योग्य विषयों का वे निर्णय करने वाले थे। वे प्राणियों के उच्चनीच भावों के ज्ञाता थे और सब में ब्रह्मदृष्टि रखते थे। वे बड़े जितेन्द्रिय भी थे।

एक दिन इन्द्र उनकी बुद्धि की थाह लेने के लिये एकान्त में उनके निकट गये और उनसे पूछा—जिन गुणों से पुरुष इस लोक में मान्य हो सकता है, मेरी समझ में प्रायः वे समस्त गुण तुममें हैं। तिस पर भी रागद्वेष रहित तुम्हारी बुद्धि बालकों जैसी जान पड़ती है। तुम आत्मज्ञानी हो, अतः तुम बतलाओ तुम्हारे मतानुसार आत्मज्ञान का उत्तम साधन कौन सा है? हे प्रह्लाद! यद्यपि तुम बँधनों में बँध गये, स्थानभ्रष्ट हो गये, शत्रुओं के वश में जा पड़े और राज-लक्ष्मी से भी हीन हो गये हो; तथापि तुम शोक करने योग्य वस्तुओं के लिये भी शोक नहीं करते। हे दैत्यनन्दन! तुम विपत्ति में फस कर भी सुखी और शान्त जान पड़ते हो—यह बात आत्मज्ञान के कारण से है अथवा उत्तम धैर्य से?

जब देवराज ने इस प्रकार प्रश्न किये, तब निश्चयात्मिका बुद्धि वाले, धैर्यवान् दैत्यनन्दन प्रह्लाद ने मधुर शब्दों में व्यक्तिगत अनुभव से कहा—प्रह्लाद जी बोले—जो मनुष्य पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति और नाश को न जानने के कारण अज्ञानी बना हुआ है, वही मोह में भी

फसता है; किन्तु जो उनकी उत्पत्ति और नाश का रहस्य जानता है, वह मोहित नहीं होता। समस्त भावों और अभावों की उत्पत्ति स्वभावतः हुआ करती है और यथासमय वे नाश को भी प्राप्त हो जाते हैं, अतः इन भावों और अभावों को उत्पन्न करने के लिये, किसी भी प्रकार के पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है। जब पुरुषार्थ ही की आवश्यकता नहीं है, तब उनका कर्त्ता कोई क्यों होने लगा? पुरुष स्वयं तो कुछ करता नहीं। इस पर भी उसे कर्त्तापने का जो अभिमान हो जाता है, इसका कारण अविद्या है। जो पुरुष अपने को शुभाशुभ कर्मों का करने वाला मान बैठता है, वह दूषित बुद्धि वाला समझा जाना चाहिये। उसकी बुद्धि तत्व का निश्चय कर ही नहीं सकती।

हे इन्द्र! यदि पुरुष ही कर्त्ता भी होता तो वह निज भलाई के लिये जो कर्म करता, वे सफल होने चाहिये थे। किन्तु दिखलायी तो इसके विपरीत ही पड़ता है। अपने कल्याण के लिये उद्योग-परायण जन, सदा अनिष्टों को दूर करने का प्रयत्न किया करते हैं, तो भी कुछ अनर्थ होता ही है और उन्हें इष्टफल की प्राप्ति भी नहीं होती। ऐसी दशा में पुरुषार्थ का फल कहाँ रहा? साथ ही कितने ही पुरुषों को विना उद्योग किये ही इष्टवस्तु मिल जाती है और उनके अनिष्ट नष्ट होते देखे जाते हैं। अतः ये सब स्वभाव की करामात है। यही नहीं और भी कितनी ही विचित्रताएं भी हैं। लोग बुद्धिमान् हो कर भी रूपहीन और बुद्धिहीन पुरुषों से धन पाना चाहते हैं। इस प्रकार शुभाशुभ समस्त गुण यदि लोगों को अपने आप मिल जाया करें, तो फिर लोग अपने को मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ—यह अभिमान क्यों कोई किया करे? सब कुछ अपने आप होता है—इसका मुझे पूर्ण निश्चय है। मोक्ष की प्राप्ति और आत्मज्ञान की उत्पत्ति भी स्वभावतः ही होती है।

कोई कोई लोग यह मानते हैं, कि शुभाशुभ घटनाएं कर्म के

कारण हुआ करती हैं। उस कर्म के विषय में मैं तुम्हें विस्तार से सुनाता हूँ; सुनो। जिस प्रकार एक काक अन्न खाते समय काँ काँ कर के अन्य काकों को जता देता है कि, यहाँ अन्न है, उसी प्रकार समस्त कर्म अपने लक्षण स्वयं ही बतला दिया करते हैं। जो जन केवल विकारों का ज्ञाता है और उनके उपादान कारण अर्थात् परब्रह्म को नहीं जानता, उसे अज्ञानवश, अभिमान हो जाता है, किन्तु जो प्रकृति से परब्रह्म को जानता है, वह पुरुष कभी अभिमान नहीं करता। समस्त पदार्थ स्वभाव ही से होते हैं। जिसे यह रहस्य मालूम है, उसका दर्प या अभिमान कुछ नहीं कर सकता।

हे इन्द्र! मुझे जब यह बात मालूम है कि, धर्म की समस्त विधियाँ और समस्त प्राणी अनित्य अर्थात् नाशवान् हैं तब मैं शोक क्यों करने लगा? यह सारा विश्व तो नाशवान् है न? मुझमें ममता, कामना और बन्धन नहीं है। अपने और अपने शरीर के अभिमान से मैं रहित हूँ। इसीसे मैं प्राणियों की उत्पत्ति और उनका नाश देखता हुआ, अपना समय आनन्द में विताया करता हूँ। जो आत्मज्ञानी पुरुष, अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखता है, जिसमें तृष्णा और कामनाओं का अभाव हुआ करता है, जो आत्मज्ञान के प्रकाश से समस्त पदार्थों को देखा करता है उसे न तो परिश्रम करना पड़ता है और न किसी वस्तु के लिये चिन्तित होना पड़ता है। विश्वोत्पादिनी प्रकृति में और उसके विकार रूपी धर्म तथा अधर्म के फल स्वरूप सुख दुःख के ऊपर न मेरा अनुराग है और न उनसे द्वेष। मुझे तो अपने साथ द्वेष करने वाला कोई नहीं देख पड़ता। मुझे अपना शत्रु भी कोई नहीं देख पड़ता।

हे इन्द्र! स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में भी मुझे कभी किसी प्रकार की कामना नहीं होती। मुझे आत्मा को पहचानने में क्लेश नहीं होता। समस्त पदार्थों से विभक्त आत्मा सुखी हो—यह बात भी नहीं है। क्योंकि मेरे मन में तो किसी प्रकार की भी कामना नहीं है।

इन्द्र ने कहा—हे प्रह्लाद ! इस प्रकार का ज्ञान और शान्ति क्यों कर प्राप्त हो सकती है ? आप मुझे इस बात का ठीक ठीक उपाय बतलावें।

प्रह्लाद बोले—हे इन्द्र ! सरलता से, सावधानता से, आत्मा की विशुद्धता से, जितेन्द्रियत्व से और वृद्ध पुरुषों की सेवा करने से, मनुष्य को मोक्ष मिलता है। मनुष्य स्वभावतः ज्ञानप्राप्त करता है। स्वभावतः उसे शान्ति मिलती है। तुम्हें जो कुछ पदार्थ देख पड़ते हैं, वे सब स्वभावतः प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार के दैत्यराज प्रह्लाद के उत्तरों को सुन कर, इन्द्र विस्मित और प्रसन्न हुए और इन्द्र ने प्रह्लाद के उत्तरों की सराहना की। फिर त्रिलोकीनाथ इन्द्र, दैत्यराज प्रह्लाद का पूजन कर और बिदा माँग, अपनी राजधानी को चले गये।

दोसौ तेईस का अध्याय

दैत्यराज बलि और देवराज इन्द्र

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! जिस राजा की राजलक्ष्मी नष्ट हो गयी हो, जो कालदण्ड से कुचल गया हो, उसे क्या समझ कर पृथिवी पर विचरना चाहिये।

भीष्म जी बोले—हे राजन् ! इस प्रसङ्ग में देवराज इन्द्र और विरोचन-नन्दन बलि का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास दृष्टान्त रूप से मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सुनो। एक दिन इन्द्र समस्त असुरों को जीत, लोकपितामह ब्रह्मा जी के निकट गये और हाथ जोड़ तथा प्रणाम कर, उनसे कहा—राजा बलि कहाँ है ? याचकों को धन देते देते जिसका धनागार कभी रीता नहीं होता था, वह राजा बलि बहुत खोजनें पर भी मुझे

नहीं मिलता। अतः हे ब्रह्मन्! आप मुझे बतलावें कि, बलि है कहाँ? वायु, वरुण, सूर्य और चन्द्र रूप राजा बलि कहाँ है? अग्नि रूप से समस्त प्राणियों को तप्त करने वाला तथा जल रूप राजा बलि नहीं देख पड़ता। हे ब्रह्मन्! बतलाइये वह कहाँ है? राजा बलि सूर्य रूप से उदय हो कर, समस्त दिशाओं को प्रकाशित किया करता था और अस्त भी होता था। सावधानता पूर्वक यथासमय जलवृष्टि करने वाला राजा बलि मुझे देख नहीं पड़ता। आप बतलावें वह कहाँ है?

ब्रह्मा जी बोले—मघवन्! तेरा मुझसे राजा बलि के सम्बन्ध में प्रश्न करना ठीक नहीं। क्योंकि किसी से प्रश्न करते समय प्रश्नकर्ता को मिथ्या-भाषण नहीं करना चाहिये। अतः मैं स्वयं तुझे बतलाये देता हूँ कि, बलि कहाँ है? हे शचीपते! ऊटों में, बैलों में, गधों में, घोड़ों में जो प्राणी सब से बड़ा हो और शून्यगृह में वास करता हो, उसे ही तू बलि जान।

इन्द्र ने कहा—ब्रह्मन्! आप मुझे यह भी बतला दें कि, यदि सूने घर में बलि से मेरी भेंट हो जाय, तो क्या मैं उसका वध करूँ या न करूँ?

ब्रह्मा जी बोले—बलि मारने योग्य नहीं है—अतः तू उसका वध मत करना। यदि तुझे इन्द्रपद पाने की अभिलाषा है तो, तू उससे नीति की और न्याय की बातें पूछना।

भीष्म जी बोले, हे धर्मराज! जब ब्रह्मा जी ने इन्द्र से इस प्रकार कहा; तब वे ऐरावत हाथी पर सवार हो एवं राजलक्ष्मी से सुशोभित हो—उस समय पृथिवी पर जा विचारने में लगे। भगवान् ब्रह्मा जी के कथनानुसार उन्होंने राजा बलि को एक खड़हर में गधे के रूप में निवास करते पाया। तब इन्द्र ने उनसे पूछा—हे बलि! तू गधे की योनि में घास खा कर, जीवन के दिन बिताता है। इस अधम योनि में जन्म पाने का तुझे दुःख है कि नहीं, मैं इस समय जिस दशा में तुझे देख रहा हूँ—इसमें इसके

पूर्व मैंने तुझे कभी नहीं देखा था। तू शत्रुओं के अधीन हो गया है। राजलक्ष्मी और तेरे मित्रों ने तुझे त्याग दिया है। तेरी यह दशा देख, मुझे बड़ा दुःख होता है। हे राजा बलि! तेरे पास अगणित वाहन थे। तू सगे सम्बन्धियों से घिर कर, सब लोगों में अपना सिक्का विठाता था। मेरी कुछ भी परवाह न कर तू जहाँ चाहता, वहाँ फिरा करता था। तेरे अधीनस्थ दैत्य तेरे आज्ञानुवर्ती थे। तेरे राजत्व काल में विना जोते ही अनाज पैदा होता था। किन्तु इस समय तू इस दुःख में फँसा है। अतः तुझे अपनी इस दशा पर कभी दुःख भी होता है? तू तो बड़ा तेजस्वी था। उस समय तू समुद्र के पूर्वतट पर खड़ा हो अपने सम्बन्धियों को धन बाँटा करता था। उस समय तू कैसा हर्षित रहा करता था? भली-भाँति सुसज्जित तेरे विहार-स्थानों में सुवर्ण जैसी कान्ति वाली और कमलपुष्पों के हार पहने हुए सहस्रों देवाङ्गनाएं बहुत वर्षों तक नाचा करती थीं। हे दानवराज! जब उस समय के वैभव का तुझे स्मरण हो आता होगा, तब तेरे मन में कैसे विचार उठते होंगे? तेरे सिर पर रत्नजड़ित विशाल छत्र ताना जाता था। दस हज़ार गन्धर्व छः सात प्रकार का नृत्य तेरे सामने किया करते थे। जब तू यज्ञानुष्ठान किया करता था, तब बड़ा मोटा और सोने का यज्ञस्तम्भ खड़ा किया करता था। जिस समय तूने दस करोड़ गोदान दिये थे और जिस समय दस सहस्र गोदान किये थे, उस समय तेरे मन में कैसे भाव उत्पन्न हुए थे? * शम्याक्षेप की विधि के

---

* नीचे मोटा और ऊपर पतला छत्तीस अंगुल का डंडा शम्या कहलाता है। बलवान् पुरुष से वह डंडा फिकवाया जाता है। वह जहाँ जा कर गिरे उतनीभूमि के भीतर यज्ञ-मण्डपादि बनवाये जाते और वहीं यज्ञ किया जाता है। एक यज्ञ समाप्त होने पर पुनः वह डंडा फिकवाया जाता है और जहाँ पर वह डंडा गिरे, वहाँ फिर यज्ञ किया जाता है। ऐसा स्थल देवयजन कहलाता है। ऐसे हर एक देवयजन स्थान में यज्ञ कर, राजा बलि ने समस्त पृथिवी की प्रदक्षिणा कर डाली थी।

अनुसार यज्ञ करते करते तूने सारी पृथिवी पर भ्रमण किया है। उस समय तेरे मन में क्या भाव थे? हे असुरराज! अब तो मुझे न तो वह तेरी सोने की झारी, न तेरा वह सोने का छत्र और न वह तेरा सोने की डंडी का चँवर ही देख पड़ता है। वह ब्रह्मा की दी हुई माला भी तो तेरे पास नहीं देख पड़ती।

बलि ने कहा—हे देवराज! मेरी सोने की झारी, छत्र, चँवर और ब्रह्मा की दी हुई माला तू मेरे पास नहीं देखता। तूने मेरे जिन अमूल्य रत्नों के सम्बन्ध में प्रश्न किये हैं, उन्हें मैंने गुफा में छिपा दिया है। जब मेरे अच्छे दिन बहुरेंगे, तब तू उन्हें पुनः देख लेना। आज तू धनी है और मैं निर्धन हूँ। अतः मुझ निर्धन के आगे तेरा आत्मप्रशंसा करना तेरे कुल के यश के अनुरूप नहीं है। बुद्धिमान, ज्ञानी, क्षमाशील और जितेन्द्रिय महात्मा विपत्ति आ पड़ने पर दुःखी नहीं होते और न बढ़ती के समय आपे के बाहिर होते हैं। हे पुरन्दर! तू बड़ा तुच्छबुद्धि है। इसी से तो डींगे हाँकता है। किन्तु यदि कभी तेरी दशा मेरी जैसी हो गयी तो तू ऐसी डींगे न मारेगा।

दोसौ चौबीस का अध्याय

काल की महिमा

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर! सर्प की तरह फुँसकारते हुए राजा बलि से देवराज इन्द्र ने अट्टहास कर पुनः यह कहाः—

इन्द्र बोले—हे बलि! जब तू अपने ज्ञाति वाले हज़ारों पुरुषों के बीच चला करता था, तब तू हमें कुछ भी नहीं गिनता था, उस समय तू सब लोगों को सताता था और अपनी हुकूमत जनाता था। परन्तु आज तो तुझे तेरे कुटुम्बियों ने भी त्याग दिया है—अतः तेरे मन में

कुछ भी शोक होता है या नहीं ? पूर्वकाल में तूने समस्त लोक जीत लिये थे। उस समय तू बड़ा प्रसन्न रहता था, किन्तु आज तू प्रत्यक्ष ही अधोगति को प्राप्त हो रहा है। अतः अब भी तुझे शोक होता है कि नहीं ?

बलि बोला—इन्द्र ! समय के उलटफेर से समस्त साँसारिक पदार्थ अनित्य हैं। यह जान कर मैं दुःखी नहीं होता। हे देवराज ! प्राणियों के शरीरों को क्षणभङ्गुर जान कर मुझे ज़रा भी दुःख नहीं होता। मुझे यह गधे की योनि मेरे दोष से नहीं मिली। शरीर और जीवन एक साथ उत्पन्न होते हैं। साथ ही बढ़ते हैं और साथ ही नष्ट हो जातेहैं। गधे की योनि में, मैं सदा तो रहूँगा ही नहीं। यह बात मुझे मालूम है। अतः मैं ज्ञान के सहारे सब जान कर कभी दुःखी नहीं होता। जैसे नदियों की अन्तिम गति समुद्र है, वैसे ही शरीरधारियों की अन्तिम गति मरण है। जिन्हें यह तत्व विदित है, वे मोहित नहीं होते। जो पुरुष रजोगुण और तमोगुण से मुग्ध हो जाने के कारण देहस्वभाव को नहीं जानते, जिनकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, वे दुःखी होते हैं और पछताते हैं। जो बुद्धिमान हैं, वे समस्त पापों को नष्ट कर डालते हैं। पापशून्य पुरुष सतोगुणी हो जाता है। सतोगुणी होने पर वह पुरुष प्रसन्न रहता है। किन्तु बुद्धिहीन जन सत्त्वगुण से भ्रष्ट हो जाता है। बारंबार जन्मधारण करने वाले लोग इन्द्रियों और उनके विषयों के वशीभूत हो जाने के कारण शोक और दुःख में पड़ जाते हैं। कामनाओं के चरितार्थ होने के विषय में जय विजय, जीना मरना, कर्मरूप सुख दुःख से मुझे द्वेष नहीं है, न मुझे इनकी अभिलाषा ही है।

जब कोई पुरुष। किसी को मारता है, तब उसके केवल शरीर को मारता है, इस पर भी जो पुरुष यह सोचता है कि, मैंने अमुक को मारा, वह वास्तव में स्वयं ही मारा हुआ है। वास्तव में मारने वाला और मारा हुआ—दोनों जन सत्य को नहीं जानते। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य

को हटाने पर अथवा अन्य को मार डालने पर, अपने पुरुषार्थ को सराहता है। किन्तु उस पुरुष को जान लेना चाहिये कि, वह स्वयं कर्त्ता नहीं है। वह कर्म जिसकी वह प्रशंसा करता है, उसका वास्तविक कर्त्ता तो कोई और ही है। जगत् की उत्पत्ति और उसका नाश कौन करता है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि, उत्पन्न हुआ पुरुष ही अपनी उत्पत्ति और नाश करने वाले कर्म का कर्त्ता है। यह भी जान लेना उचित है कि, इस प्रकार जो पुरुष कर्त्ता माना जाता है, उसका रचयिता भी कोई है। पृथिवी, जल, वायु, तेज और आकाश नामक पञ्चमहाभूतों ही से शरीरधारियों की उत्पत्ति होती है। इस पाञ्चभौतिक शरीर के लिये मुझे शोक नहीं है। मनुष्य भले ही विविध विद्याओं का ज्ञाता हो, चाहे वह एक ही विद्या जानता हो, चाहे वह बली हो चाहे निर्बल, चाहे वह भाग्यवान् हो चाहे अभागा,—सब को वेगवान काल हड़प जाता है। जब मुझे यह मालूम है कि काल ने मेरा तिरस्कार किया है, तब मुझे शोक करने की आवश्यकता ही क्या है? कोई मनुष्य एक वस्तु को जलाता है, किन्तु वास्तव में वह वस्तु पहले ही की जली हुई है। एक आदमी दूसरे आदमी को मारता है, किन्तु वह तो पहले ही मारा जा चुका है। जिसे एक जन नाश करता है, उसका नाश तो पहले ही हो चुकता है। जिस वस्तु की प्राप्ति का विधान पहले ही हो चुका है, वही वस्तु उसे मिलती है। यह काल महासागर रूप है। कालरूपी महासागर में टापू नहीं है। इस महासागर का आरपार भी नहीं है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर भी इस अविच्छिन्न धाराप्रवाह से बहने वाले कालप्रवाह का अन्त नहीं देखने में आया। यह काल समस्त वस्तुओं का नियामक है और दिव्यरूप है। हे इन्द्र! यदि मुझे यह ज्ञात न होता कि, काल सर्व-संहारक है, तो मुझे हर्ष, शोक, गर्व, क्रोध होता। तू मुझे इस खड़हर में घास खा कर जीवन बिताते देख, मेरी निन्दा क्यों करता है? मैं यदि मन करूँ तो विविध भयानक रूपों को धारण कर सकता

हूँ और तुझे मेरे उन भयङ्कर रूपों को देख भागते ही बन आवेगा। काल ही सब कुछ देता है और काल ही सब कुछ छीन लेता है। क्योंकि काल सब का नियामक है। अतएव हे इन्द्र! तुझे अपने पुरुषार्थ का व्यर्थ अभिमान न करना चाहिये। इन्द्र! मैं जब पहले क्रुद्ध होता था; तब सब थरथरा उठते थे। इन्द्र! मुझे इस लोक के सनातन नियम अवगत हैं। अतः तुझे भी उन्हें जान कर अभिमान न करना चाहिये। ऐश्वर्य का नाश—ये मनुष्याधीन नहीं हैं। तेरी बुद्धि तो एक बालक जैसी हो रही है। यह जैसी पहले थी वैसी ही आज भी है। अब भी चेत और आँखें खोल। तू जान ले कि, देवता, पितर, मनुष्य, गन्धर्व सर्प, राक्षस—सब मेरे वश में थे। मेरी बुद्धि की मत्सरता से मुग्ध हुए जन यह कहते हुए मेरे शरण में आते थे कि, जिस दिशा में विरोचन-नन्दन बलि है, उसे नमस्कार है। किन्तु इन्द्र! आज तो मैं राजपद से भ्रष्ट हो रहा हूँ। अतः अब वैसा सन्मान मेरा कोई भी आदमी नहीं करता।

मुझे इसका तनिक भी दुःख नहीं है। मैं इस विषय में दृढ़ हूँ। जब बड़े बड़े कुलीन दर्शनीय और प्रतापी राजा अपने मंत्रियों सहित दुःख में जीवन बिताते हुए देखे जाते हैं, तब लोग कहते हैं, इसके भाग्य में ऐसा ही लिखा था। हे इन्द्र! नीच कुलोत्पन्न मूर्ख और बेढंगा राजा अपने मंत्रियों सहित सुखमय जीवन बिताता हुआ देखा जाता है। तब भी लोग यही कहते हैं—यह सब भाग्य का खेल है। सुशीला रूपवती स्त्री भाग्यहीना देखने में आती है और सुलक्षणों से रहित कुरूपा स्त्रियाँ सुखमय जीवन बिताती हुई देखी जाती हैं।

हे इन्द्र! मुझे यह जो गधे की योनि प्राप्त हुई है, यह मेरे कर्मदोष का फल नहीं है और तू जो ऐसी उत्तम दशा में है, यह भी तेरे पुरुषार्थ का फल नहीं है। न तो तूने अपनी समृद्धि के लिये कोई कर्म विशेष किया है और न मैंने अपनी इस दुरवस्था के लिये कुछ किया है। समृद्धि और निर्धनता क्रमशः आया जाया करती है। आज मैं देख रहा हूँ कि, तू

श्रीमान् और कान्तिमान है। देवताओं के साथ तू मेरे सामने आया है और गरज रहा है। यदि काल ने मुझे न पकड़ लिया होता, तो मेरी यह दशा न होती। तेरे हाथ में वज्र रहते भी मैं एक ही मूके से तुझे भूशायी कर देता; किन्तु यह समय मेरे लिये पराक्रम प्रदर्शन करने का नहीं है; किन्तु शान्तिमय जीवन विताने का है। क्योंकि काल ही सब को यत्र तत्र पहुँचाता है। वह ही सब का प्रेरक है और सब का अन्त करने वाला है। एक समय वह भी था, जब दानवों के राजा लोग मेरे सामने माथा टेकते थे और बल और गर्व से गरजता हुआ मैं, शत्रुओं के हृदय दहला देता था। इस पर भी काल ने मुझे अपने अधीन कर लिया। तब दूसरों की तो हकीकत ही क्या है।

हे देवराज! बारह आदित्यों के तेज को मैं एकाकी ही धारण करता था, उन बारह में तू भी था। हे इन्द्र! मैं जल को धारण करता था और उस जल की वृष्टि भी करता था। मैं तीनों लोक तपाता था और उजियाला भी करता था। मैं प्रजा की रक्षा करता था और उसको लूट भी लेता था। मैं सब को देता था, और पीछे ले भी लेता था। मैं लोगों को पकड़ लेता और पीछे उन्हें छोड़ भी देता था। उस समय मैं एक शक्तिशाली राजा था। किन्तु वही आज मैं काल की सेना से घेरा जा कर, राज्य से हीन हो इस दशा को प्राप्त हो रहा हूँ।

हे इन्द्र! बाह्य रीति से जो काम मेरे द्वारा होते हैं उनका कर्त्ता मैं नहीं हूँ। तू भी अपने कर्मों का कर्त्ता नहीं है। हे इन्द्र! काल सब का रक्षक है और काल ही सब का नाशक है। वेदवेत्ताओं का कथन है कि पक्ष और मास उस काल के शरीर हैं। वह शरीर दिन रात रूपी कपड़े से ढका हुआ है। ऋतुएँ उसकी इन्द्रियाँ हैं। संवत्सर उसका मुख है। उत्तम बुद्धि वाले लोग कहते हैं कि, इस समस्त विश्व को ब्रह्मरूप समझना चाहिये। आत्मा को आच्छादित करने वाले* पाँच कोशों को ब्रह्मरूप

---

*अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय–ये पाँच कोश हैं।

जानना चाहिये। ब्रह्म गहरे और गहन महासागर के समान है। उसका न तो आदि है और न अन्त है। वही क्षर तथा अक्षर रूप है। यह विद्वानों का मत है। यद्यपि ब्रह्म उपाधि से शून्य है, तथापि प्रतिबिम्ब रूप से स्थित बुद्धि में प्रविष्ट होता है और ऐसा होने पर, वह सोपाधि बन जाता है। तत्त्वज्ञ ब्रह्म को शाश्वत मानते हैं। अपरिच्छिन्न आत्मा को ढकने के लिये वह अविद्या के कारण परिच्छेद वाले भावों को उत्पन्न करता है। अतः काल रूप ब्रह्म समस्त प्राणियों की गति है। ऐसे काल को अतिक्रम कर तू जा ही कहाँ सकता है। दौड़ने से वह काल पीछे नहीं रह जाता है और खड़े रह जाने पर उससे पिंड नहीं छुट सकता।

†पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ ब्रह्म को न तो देख सकती हैं और न जान ही सकती हैं। कुछ लोग ब्रह्म को अग्नि कहते हैं, कितने ही ब्रह्म को प्रजापति कहते हैं। कुछ लोग ब्रह्म को ऋतु रूप बतलाते हैं, कितने ही उसे मास रूप, कितने ही उसे पक्ष रूप, कितने ही उसे दिन रूप, कितने ही उसे घड़ी रूप, कितने ही उसे प्रातःकाल रूप, कितने ही उसे अपराह्न रूप, कितने ही उसे मध्यान्ह रूप और कितने ही उसे क्षण रूप बतलाते हैं। जो एक पदार्थ है, उसके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न बातें कहते हैं। किन्तु जिसके अधीन समस्त पदार्थ हैं, उस ब्रह्म को तू शाश्वत समझ। हे इन्द्र! तेरे पूर्व बड़े बड़े बलवान और करतब वाले इन्द्र न मालूम कितने हो गये और चले गये। तू भी उन्हींकी तरह चला जायगा। यद्यपि तू बलवान् और देवताओं का राजा है; तथापि जब तेरा समय पूरा हो जायगा, तब महाबली काल तुझे भी राज्य से च्युत कर ठंढा कर देगा। क्योंकि काल तो सर्व-संहार-कारक है। अतः क्या मैं, क्या तू और क्या वे जो हम लोगों के पूर्व हो चुके हैं—कोई भी काल को अतिक्रम नहीं कर सकता। जिस लक्ष्मी को तूने प्राप्त किया है

---

†प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति-युक्त—ये पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ हैं।

और जिसे तू सर्वोत्तम समझ रहा है, वह राजलक्ष्मी प्रथम मेरे पास थी, किन्तु वह राजलक्ष्मी माया का एक खेल है और एक जगह स्थिर हो कर नहीं रहती। हे शक्र! तुझसे भी बढ़ कर श्रेष्ठ सहस्रों जनों के पास यह राजलक्ष्मी रह चुकी है और मुझे त्याग तेरे पास चली गयी है। हे इन्द्र! फिर कभी तू ऐसा गर्व मत करना। तुझे तो शान्ति धारण करनी चाहिये। यदि कहीं राजलक्ष्मी को यह मालुम हो गया कि, तू मिथ्या अभिमानी है, तो वह तुझे भी छोड़ कर चल देगी।

दोसौ पच्चीस का अध्याय

राजश्री का साक्षात्कार

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! तदनन्तर इन्द्र ने महाबली राजा बलि के शरीर में से प्रज्वलित राजलक्ष्मी को निकलते देखा। तेज से जाज्वल्यमान, उस राजलक्ष्मी को देख, दैत्यनाशक इन्द्र बड़े विस्मित हुए। विस्मय-विस्फारित नेत्रों से राजलक्ष्मी को देख, इन्द्र ने बलि से पूछा।

इन्द्र बोले—हे बलि! यह दर्शनीय कौन स्त्री तेरे शरीर से निकल बाहिर खड़ी हुई है। यह बाजूबन्द पहने हुए है और इसकी चमचमाती चोटी देखते ही बन आती है।

बलि ने कहा—यह आसुरी देवी है अथवा मानवी स्त्री है—यह तो मैं स्वयं ही नहीं जानता। अतः तू स्वयं पूछ देख। अथवा तू जैसा उचित समझे वैसा कर।

इन्द्र ने पूछा—हे शुचिस्मिते! हे शिखण्डिनी! बलि के शरीर से निकलने वाली तू कौन है? मुझे तेरा नाम अविदित है। अतः तू अपना

नाम बतला। हे सुभ्रू ! तू निज तेज से प्रकाशित है। दैत्यराज बलि को त्याग, मेरे निकट खड़ी हुई तू कौन है ? तू मेरे प्रश्न का उत्तर दे।

लक्ष्मी ने उत्तर दिया—मुझे विरोचन नहीं जानता। विद्वान् मुझे दुःसहा और अन्य कितने ही लोग मुझे *विधित्सा कहते हैं। हे इन्द्र ! मेरे नाम मूर्ति, लक्ष्मी और श्री भी हैं। तू ही क्या, मुझे तो कोई भी देवता नहीं जानता।

इन्द्र ने कहा—हे दुःसहा ! बलि के शरीर में चिरकाल वास कर अब तू इसे क्यों छोड़ती है ?

लक्ष्मी ने उत्तर दिया—हे शक्र ! धाता या विधाता मुझे कोई अपने अधीन नहीं कर सकता। जब समय आता है, तब मैं एक स्थान से दूसरे स्थान को चली जाती हूँ। अतः तुझे इस बलि की निन्दा न करनी चाहिये।

इन्द्र बोले—हे शिखण्डिनी ! बलि को त्यागने का कारण क्या है ? हे शुचिस्मिते ! यह भी बतला कि, मुझको तो तू न त्यागेगी ?

लक्ष्मी बोली—इन्द्र ! सत्य, दान, व्रत, तप, पराक्रम और धर्म में मेरा निवास है। राजा बलि को सत्यादि ने त्याग दिया है। अतः मैं भी इसे त्यागती हूँ। बलि प्रथम ब्राह्मण-भक्त, सत्यवादी और जितेन्द्रिय था। पीछे यह ब्राह्मण-द्वेषी बन गया और जूठे हाथों इसने घृतपात्र को छुआ। आरम्भ में यह यज्ञानुष्ठान में रत रहता था, परन्तु पीछे से यह अज्ञान से मूढ़ हो, कालाक्रान्त हो, सब के सामने दर्प के साथ कहने लगा कि, मैं तो सदा लक्ष्मी की उपासना किया करता हूँ। हे इन्द्र ! ऐसे दर्पयुक्त वचनों के कारण मुझे इसके शरीर से बाहिर निकल आना पड़ा है। मैं अब तेरे शरीर में वास करूँगी। तू सावधान हो कर, तप और पराक्रम से मुझे धारण कर।

---

*विधित्सा—कर्म का फलरूप।

इन्द्र बोले—हे कमले! देवताओं, मनुष्यों और अन्य समस्त प्राणियों में कोई भी ऐसा नहीं है जो अकेला तुझे सदैव के लिये अपना सके।

श्री ने कहा—हे इन्द्र! तेरा कहना सत्य है। देवताओं, असुरों राक्षसों और गन्धर्वों में ऐसा कोई नहीं है—जो सदा के लिये मुझे अपना सके।

इन्द्र ने पूछा—हे शुभे! अब तू मुझे यह बतला कि, मैं किस प्रकार चलूँ जिससे तू सदा मेरे पास बनी रहे। जो ठीक ठीक बात हो, वह तू मुझे बतला।

लक्ष्मी ने उत्तर दिया—अच्छा, मैं तुझे बतलाती हूँ कि, मैं सदैव तेरे निकट कैसे रह सकती हूँ; सुन। वेदों के कथनानुसार तू मेरे चार भाग कर।

इन्द्र बोले—मैं अपनी शक्ति और बल के अनुसार तुझे धारण करूँगा। हे लक्ष्मी! मैं सदा सावधान रहूँगा और तेरे विरुद्ध कोई अपराध न करूँगा। प्राणियों को धारण करने वाली पृथिवी ही मनुष्यों को धारण किये हुए है। अतः तेरा एक पाद वह धारण कर लेगी।

लक्ष्मी जी बोलीं—मैं उस चतुर्थांश को त्यागती हूँ। यह चतुर्थांश धरणी पर रहे। अब तू मेरे दूसरे पाद को रखने का स्थान बतला।

इन्द्र बोले—मनुष्यों में तरल पदार्थों के रूप में रहने वाला जल मनुष्यों की विविध प्रकार से सेवा करता है। अतः तेरा दूसरा चतुर्थांश जल में रहे। जल उसे धारण कर सकता है।

लक्ष्मी बोलीं—तथास्तु, ऐसा ही होगा—अब तीसरा चतुर्थांश कहाँ रखा जाय।

इन्द्र ने कहा—वेदों, यज्ञों और देवताओं का निवासस्थान अग्नि

है। अतः तू अपना तीसरा चतुर्थांश अग्नि में स्थापित कर। अग्नि भली भाँति उसे रख सकेगा।

लक्ष्मी बोलीं—बहुत ठीक तीसरा चतुर्थांश मैंने अग्नि को दिया। अब चतुर्थ चतुर्थांश रखने का स्थान तू मुझे बतला।

इन्द्र बोले—मनुष्यों में जो ब्राह्मणरक्षक, सत्यवादी और सज्जन जन हैं, तेरा चतुर्थ चतुर्थांश वे लें। क्योंकि वे ऐसा कर सकते हैं।

लक्ष्मी जी बोलीं—तथास्तु। ऐसा ही सही। हे इन्द्र! इस प्रकार तूने प्राणियों में मेरा विभाग कर दिया है। किन्तु मेरी वहाँ रक्षा तुझे करनी होगी।

इन्द्र बोले—मैं अब जो कहता हूँ उसे सुन। मैंने भिन्न भिन्न प्राणियों में तुझे विभाजित किया है। जो प्राणी तेरा अपराध करेगा—उसे दण्ड मैं दूँगा।

इस पर लक्ष्मी-परित्यक्त दैत्यराज बलि ने कहा—

बलि बोला—सूर्य का जितना प्रकाश पूर्व में है, उतना ही पश्चिम में भी है। इसी प्रकार सूर्य का जितना प्रकाश उत्तर में है उतना ही दक्षिण में भी है। किन्तु इस समय तो सूर्यदेव अपने समस्त प्रकाश को समेट, सुमेरु पर्वत के मध्य बसे हुए ब्रह्मलोक में प्रकाश कर रहे होंगे। जब सूर्य सब ओर से हट कर, केवल ब्रह्मलोक में प्रकाश करेंगे; तब फिर देवासुर संग्राम होगा। उस संग्राम में, मैं तुम सब को हराऊँगा।

अपने राज्य नाश की बात सुन, इन्द्र क्रुद्ध हो गये। वे बोले—ब्रह्मा जी की आज्ञा है कि, बलि मारा न जाय, इसीसे मैं तेरे मुख से ऐसी बातें निकलने पर भी तेरा वध नहीं करता। हे दैत्यराज! अब तू जहाँ जाना चाहे वहाँ जा। जा तेरा कल्याण हो। किन्तु सूर्य मध्य भाग में रह कभी न तपेगा। क्योंकि ब्रह्मा तो पहिले ही से उसके लिये काल निर्दिष्ट कर चुके हैं। इसीसे तो वह प्रकाश देता और तपता

हुआ सदा घूमा ही करता है। वह छः मास उत्तर में और छः मास दक्षिण में घूमता है और लोकों में सरदी गर्मी पहुँचाया करता है।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! जब इन्द्र ने बलि से यह कहा, तब बलि दक्षिण दिशा को चला गया और इन्द्र उत्तर दिशा की ओर चल दिये। बलि के अहङ्कारशून्य वाक्यों को सुन कर, इन्द्र उसी समय आकाश-मार्ग में चले गये।

दोसौ छब्बीस का अध्याय

इन्द्र और नमुचि

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर ! दर्पशून्यता के सम्बन्ध में यज्ञकर्त्ता इन्द्र का और नमुचि असुर का संवादात्मक एक प्राचीन वृत्तान्त इस प्रकार लोग कहा करते हैं। धनशून्य हो जाने पर भी समुद्र जैसे गम्भीर अन्तःकरण में किसी प्रकार का भी क्षोभ न मानने वाले तथा उत्पत्ति एवं लय के तत्त्व के ज्ञाता, नमुचि के निकट जा, इन्द्र ने कहा—हे नमुचि ! तेरी मुश्कें बँध गयीं, तू राज्यभ्रष्ट हो गया, राजलक्ष्मी ने तुझे त्याग दिया और तू शत्रुओं के अधीन हो गया। अपनी इस दुरवस्था का तुझे कुछ शोक है अथवा अब भी तू मौज में ही है ?

नमुचि ने उत्तर दिया—अनिवार्य के लिये शोक करने से शरीर सन्तप्त होता है, शत्रु प्रसन्न होते हैं। उसके शोक को कोई नहीं बँटा सकता। अतः हे इन्द्र ! मुझे ज़रा भी शोक नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि, ये सब पदार्थ नाशवान् हैं। मुझे यह भी मालूम है कि, सन्ताप से रूप नष्ट हो जाता है। सन्ताप भी नष्ट हो जाता है। सन्ताप से आयु और धर्म क्षीण होते हैं। इसीसे ज्ञानी पुरुष द्वेष द्वारा उत्पन्न सन्ताप

को त्याग कर, हृदयस्थित स्वरूपवान कल्याण अर्थात् मोक्ष ही का मन में सदा चिन्तवन किया करते हैं। मनुष्य जब जब मोक्ष के साधनों की ओर दत्तचित्त होता है—तभी उसके समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं। इस जगत् का एक ही शासक है—दूसरा नहीं है। वह शास्ता ही गर्भ में रहते समय गर्भस्थ प्राणी की रक्षा करता है और जल जैसे नीचे को बहे वैसे ही मैं भी उसकी आज्ञा का पालन किया करता हूँ। मुझे बन्धन और मोक्ष का तत्व विदित है। मुझे यह भी मालूम है कि, ज्ञान मोक्ष का श्रेष्ठ साधन है, तो भी मैं श्रवणादि अभ्यास से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। मैं जो कर्म करता हूँ, सो केवल शुभाशुभ आशाओं को चरितार्थ करने के लिये करता हूँ, शास्त्र मुझे जिस ओर नियोजित करता है, उसी ओर मैं लग जाता हूँ। जिसे जो वस्तु जिस प्रकार प्राप्त होने वाली होती है, वह उसे उसी प्रकार मिलती है और जो बात जैसी बनने वाली होती है, वह वैसी ही बन जाती है। विधाता जिस जिस गर्भ में प्राणी को डालता है, वहीं वहीं उस प्राणी को रहना पड़ता है; जीव अपने इच्छानुसार नहीं बसता। विधाता की विधान की हुई अवस्था में सहर्ष रहने वाला मनुष्य कभी मोहित नहीं होता। कालक्रम से प्राप्त सुखों दुःखों में पड़, प्राणी घबड़ा जाया करते हैं; किन्तु जो ऐसे दुःखों सुखों को अपना कर्त्तव्य समझता है, वही सचमुच दुःखी होता है। ऋषियों, देवताओं, महासुरों, वेदाभ्यास करते करते बूढ़े हुए लोगों में और वन में रहने वाले मुनियों में, कौन ऐसा है, जिस पर एक न एक बार आपत्ति न पड़ी हो। किन्तु जो विवेकी जन सत् असत् का तत्व समझते हैं, वे उस आपत्ति से घबड़ाते नहीं। विवेकीजन कभी क्रुद्ध नहीं होते। उनकी किसी पदार्थ में आसक्ति नहीं होती। वे दुःख में दुःखी और सुख में सुखी नहीं होते। धन न रहने पर या सङ्कट में पड़, वे दुःखी नहीं होते; किन्तु हिमालय पर्वत की तरह अचल अटल बने रहते हैं; जो पुरुष परमसिद्धि पाने पर मोहित नहीं होता, जो

दुःख पड़ने पर दुःख से घबड़ाता नहीं और जो सुख दुःख में समान भाव से रहता है—वही पुरुष सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। मनुष्य किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो उसे कभी सन्तप्त न हो कर, सदा मग्न रहना चाहिये। शरीरस्थ बढ़े हुए मनोविकार को मनुष्य उक्त रीत्या वर्त्ताव कर, नष्ट कर डाले। यदि मानसिक विकार नष्ट न किये गये तो, ऐसे पुरुष के लिये दुःख ही दुःख है। वेदज्ञों की सभा में, स्मृतिज्ञों की सभा में अथवा लौकिक न्यायान्याय का निर्धारण करने वाली सभा में जाने पर भी जो पापी नहीं डरते, वे सभाएँ अपने नाम को चरितार्थ नहीं करतीं।

जो बुद्धिमान् जन धर्म के तत्व को जान कर, धर्म का निर्णय करता है और तदनुसार ही वर्त्ताव करता है, वह श्रेष्ठ सभासद् है। बुद्धिमान् जन सङ्कट के समय विकल नहीं होता। वृद्धावस्था को प्राप्त *गौतम यद्यपि गृहस्थाश्रम से भ्रष्ट हो गया था और बड़े भारी सङ्कट में पड़ गया था, तथापि वह विकल नहीं हुआ था। मंत्रबल, पराक्रमबल, बुद्धिबल पुरुषार्थबल से अथवा शील तथा सदाचार से तथा धन सम्पत्ति से भी कोई अलभ्य वस्तु नहीं मिलती। जब अलभ्य वस्तु इतने साधनों से भी प्राप्त न हो तो इसके लिये शोक करने की आवश्यकता ही क्या है?

विधाता ने मुझे उत्पन्न करने के पूर्व ही मेरे लिये करने अनकरने कामों का तथा भोगों का विधान बना दिया था। मैं तदनुसार ही बर्तता भी हूँ। अतः मृत्यु मेरा क्या बिगाड़ कर सकती है? सुख हो या दुःख—जो भोगना है, वह तो भोगना ही पड़ता है। प्राणी जहाँ जाने वाला होता है, वहाँ जा कर ही मानता है। साथ ही जो जन काल की गति का रहस्य जान, विविध प्रकार के दुःखों में पड़ कर भी व्याकुल नहीं

*यह सङ्केत अहल्यापति गौतम से सम्बन्ध रखता है, जिसने अपनी पत्नी अहल्या को व्यभिचारिणी जान उसे त्याग दिया था और इस प्रकार वह गृहस्थाश्रम से भ्रष्ट हो गया था।

होता, और जो सकल दुःखों में भी धैर्य धारण किये रहता है, वही सर्व-श्रेष्ठ पुरुष है।

दोसौ सत्ताइस का अध्याय

बलि और इन्द्र का संवाद

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह! जिस मनुष्य पर घोर सङ्कट हो और जिसके कुटुम्बियों का तथा धन सम्पत्ति का नाश हो गया हो—वह किन कल्याणप्रद उपायों का आश्रय ग्रहण करे? इस संसार में मुझे आपको छोड़ और कोई यथार्थ उपदेशक नहीं देख पड़ता। अतः आप मुझे उपदेश दें।

भीष्म जी बोले—हे राजन्! जब किसी का पुत्र या स्त्री मर जाती है या जब किसी का धन वैभव नष्ट हो जाता है और जब कोई पुरुष किसी बड़े भारी सङ्कट में फँस जाता है, तब एक मात्र धैर्य ही उसके लिये परम कल्याण का साधन समझा जाता है। जो पुरुष धैर्यवान् है, उसका शरीर जीर्ण नहीं होता। प्रत्युत शोकशून्य होने से वह अपना मन हर्षित रख सकता है और मन के प्रसन्न रहने से शरीर भी नीरोग रहता है, शरीर के आरोग्य रहने पर मनुष्य धनोपार्जन कर सकता है और जो पुरुष सतोगुणी वृत्ति में रहता है, उसे ऐश्वर्य, धैर्य और कार्य-पटुता की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में बलि और इन्द्र का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास इस प्रकार कहा जाता है; सुनो। मैं तुम्हें पुनः सुनाता हूँ।

हे धर्मराज! पूर्वकाल में देवासुर-संग्राम हुआ था। उस युद्ध में बहुत से दैत्य और दानव मारे गये थे। युद्ध हो चुकने के बाद बलि राजा हुआ। किन्तु विष्णु ने उसे छल कर समस्त लोकों पर अपना अधिकार जमा

लिया और तब विष्णु ने इन्द्र को पुनः देवताओं का आधिपत्य सौंपा। देवताओं का राज्य स्थापित होते ही वर्णाश्रम व्यवस्था पुनः स्थापित हुई और तीनों लोक समृद्धशाली हो गये। ब्रह्मा जी भी मन ही मन प्रसन्न हुए। उस समय इन्द्र चार दांतों वाले गजराज ऐरावत पर सवार हो और रुद्रों, वसुओं, आदित्यों, अश्विनीकुमारों, ऋषियों, गन्धर्वों सर्पों, सिंहो, पुरुषों एवं अन्य महात्माओं से घिरे हुए, तीनों लोकों में घूमने फिरने के लिये प्रस्थानित हुए। घूमते फिरते वे समुद्र-तट-वर्त्ती एक पर्वत के निकट जा निकले। उस पर्वत की एक गुफा में दैत्यराज विरोचन का पुत्र बलि देख पड़ा और वे उसके निकट गये। देवराज इन्द्र को देवताओं से घिरे हुए ऐरावत पर सवार देख, बलि न तो क्रुद्ध और न दुःखी ही हुआ। राजा बलि के मन में अपने घोर शत्रु को ऐश्वर्यवान् देख कर भी विकार उत्पन्न न हुआ। वह निडर हो जहाँ का तहाँ स्थित रहा। तब ऐरावत गजारूढ़ इन्द्र ने राजा बलि से कहा—मुझे इस दशा में देख, तुझे शोक क्यों नहीं होता? इसका कारण क्या तेरी शूरता है? अथवा वृद्धजन-सेवा अथवा तपोबल अथवा मन की शुद्धता? सामान्य जन के लिये तो ऐसा बर्त्ताव करना बड़ा कठिन काम है। शत्रुओं ने तुझे जीत लिया है। तू सर्वोत्तम राजसिंहासन से भ्रष्ट हो चुका है, तिस पर भी तू शोकान्वित नहीं हो रहा! इसका कारण क्या है? पूर्व समय में जब तू दैत्यों का राजा था; तब तू बड़े बड़े उत्तम भोग भोगा करता था। किन्तु इस समय तेरा धन, रत्न और राज्य शत्रुओं के हाथ में चला गया है। तो भी तू शोकान्वित क्यों नहीं है, जब तू अपने पैतृक राजसिंहासन पर आसीन था, तब तू देवरूप था? किन्तु अब जब तू राजा नहीं रहा और शत्रुओं ने तेरा सर्वस्व छीन लिया, तब भी तू शोक क्यों नहीं करता? तुझे शत्रुओं ने वरुणपाश में जकड़ लिया, मेरे वज्र से तू घायल भी हो गया। तेरी स्त्री, तेरा धन तुझसे छिन गया। इस पर भी तू शोकान्वित नहीं है! तेरी राजलक्ष्मी नष्ट हो गयी, तू वैभव-भ्रष्ट हो गया,

तो भी तू शोक नहीं करता ! त्रैलोक्य का राज्य हाथ से निकल जाने पर, तुझे छोड़ और कौन जीवित रहना चाहेगा ? इस प्रकार के और भी कठोर वचन इन्द्र ने बलि से कहे। बलि ने सहर्ष उन सब को सुना और अपने साथ स्पर्धा करने वाले इन्द्र से यह कहा—

बलि बोला—हे इन्द्र ! जब दैवी विपत्ति से मैं घिरा हुआ हूँ; तब मेरे सामने तू डींगे हाँक कर, क्या फल पावेगा ? मैं देख रहा हूँ कि, तू मेरे आगे आज वज्र ताने खड़ा है। किन्तु पहले तू इस प्रकार मेरे सामने खड़ा नहीं हो सकता था। इस समय किसी न किसी तरह तूने यह सामर्थ्य पाया है। किन्तु तुझे छोड़ और कौन ऐसा निर्लज्ज होगा जो ऐसे महाक्रूर वचन कहने का साहस करे। जो शक्तिशाली पुरुष, अपने वश में आये हुए शत्रु के प्रति दया प्रदर्शित करता है, वही पण्डित माना जाता है। जब दो आदमी आपस में लड़ते हैं, तब दोनों तो जीत सकते नहीं। दो में एक हारता और एक जीतता है। अतः हे देवराज ! तू अपने मन में यह न समझ लेना कि, मैंने निज बल पराक्रम से सब को जीत लिया। अतः प्राणिमात्र का राजा हो गया। मैं जो इस शोच्य दशा को प्राप्त हो गया हूँ सो अपनी करनी से नहीं और तू जो इस उत्तमदशा को प्राप्त हुआ है सो अपनी करतूत से नहीं। इस समय तू जैसी उत्तम दशा में है, वैसी ही उत्तम दशा में एक समय मैं भी था और इस समय मैं जैसी शोच्य दशा में हूँ, इसी दशा को आगे तू भी प्राप्त होगा। अतः अपने को क्लिष्टकर्मा समझ, अभिमानवश मेरा अपमान तू मत कर। क्योंकि उलट फेर करने वाले काल के विधानानुसार सुख दुःख रूपी कसौटी पर चढ़ना पड़ता है। हे शक्र ! उसी काल के प्रभाव से तुझे आज इन्द्रपद प्राप्त हुआ है कुछ अपनी करनी से नहीं। काल ने जैसे आज तुझे इस पद पर बिठा दिया है, वैसे ही जब मेरा अभ्युदय-काल आवेगा; तब काल मुझे भी राजसिंहासनारूढ़ कर देगा। निश्चय ही इस समय मैं तेरी बराबरी का नहीं हूँ और एक दिन मैं जैसा होऊँगा, वैसा तू

नहीं होगा। मात-पितृ-सेवा, देव-पूजन, तथा अन्य बहुत से शुभ कर्म भी मनुष्यों को सुखप्रद नहीं होते । विद्या, तप, दान, मित्र और बन्धु बान्धव भी काल द्वारा सताये हुए पुरुष की रक्षा नहीं कर सकते। जो दुःख अवश्य आने वाला होता है, उसे हज़ार यत्न करने पर भी मनुष्य रोक नहीं सकता। समय के पलटा खाने पर बुद्धिबल और शरीरबल भी कुछ काम नहीं आते। जब काल किसी पुरुष का नाश करने लगता है, तब उसको कोई नहीं बचा सकता। इस पर भी हे इन्द्र! तू अपने को कर्त्ता रूप मानता है यह तेरे दुःख ही का कारण है। यदि पुरुष ही कर्त्ता हो, तो वह अन्य किसी का निर्मित क्यो हो? किन्तु वह कर्त्ता तो किसी अन्य का निर्मित है। अतः उस एकमात्र कर्त्ता—परमात्मा के और कोई कर्त्ता तो हो ही नहीं सकता। कालप्रभाव से मैंने तुझे जीता था और कालप्रभाव ही से तूने मुझे हराया है। समस्त गतिशीलों की गति काल ही है। वही सब का संहार करता है। किन्तु हे इन्द्र! तू गँवार बुद्धि वाला है। अतः तुझे अपना विनाश नहीं जान पड़ता। बहुत से लोग यह जानते हैं कि, तूने अपने पुरुषार्थ से विश्व का प्रभुत्व प्राप्त किया है। अतः तू बड़ा मान्य है।

मुझ जैसा लोकदशा का जान कर, यदि काल प्रभाव से राज्यभ्रष्ट हो जाय, तो उसे शोक क्यों करना चाहिये? सदा काल के वश में रहने वाला मैं, तथा मेरी जैसी बुद्धि वाला कोई अन्य पुरुष यदि विपद्ग्रस्त हो जाय और समुद्र में पड़ी भग्न नौका जैसी दशा को वह प्राप्त हो जाय, तो भी वह घबड़ावे क्यों? हे इन्द्र! मैं, तू और अन्य जो देवताओं के अधीश्वर होते वे सब उसी मार्ग से चले जाँयगे, जिस पर हो कर सैकड़ों इन्द्र चले गये। हे इन्द्र! निश्चय ही तू आज निर्भीक और राजलक्ष्मी का कृपापात्र बना हुआ है, किन्तु जब समय पलटा खायगा, तब मेरी तरह काल तुझे भी राज्यभ्रष्ट कर देगा। देवताओं के प्रत्येक युग में न मालूम कितने इन्द्र हो गये और कितने आगे और होंगे। काल को

अतिक्रम करना असम्भव है। इस देवराजपद को प्राप्त कर, तू अपने को श्रेष्ठ मान बैठा है। परन्तु तू आज जिस पद पर है, उस पर न मालूम कितने आ चुके और कितने चले गये। अनन्त काल तक इस पद पर अचल कोई नहीं रहा। तिस पर भी तू मूर्ख अपने पद को अनन्त काल व्यापी अटल अचल समझे बैठा है। जो विश्वसनीय नहीं है, उस पर तू विश्वास किये बैठा है। जो वस्तु नाशवान् है उसे तू अविनाशी समझ रहा है। हे इन्द्र! जिसे काल घेर लेता है—वह ऐसा समझने लगता है। तुझे मोह ने घेर रखा है। इसीसे तू राजलक्ष्मी को अपनी समझ बैठा है। किन्तु याद रख यह राजलक्ष्मी मेरे पास या तेरे पास कभी स्थिर नही रहने की। इस राजलक्ष्मी को पहले भी बहुत भोग चुके हैं। उन सब को त्याग कर अब वह तेरे पास आयी है। यह चञ्चला राजलक्ष्मी कुछ दिनों अवश्य तेरे निकट रहेगी; किन्तु जैसे गौ अपना स्थान छोड़ अन्यत्र चल देती है, वैसे ही यह राजलक्ष्मी तुझे त्याग दूसरे के पास चली जायगी। इस राजलक्ष्मी ने इतने अधिक राजाओं का नाश किया है कि, उनकी गणना भी मुझसे नहीं की जा सकती। हे इन्द्र! तेरे पीछे भी बहुत से राजा होंगे। वृक्ष, औषध, रत्न, प्राणी, वन और खानों से सम्पन्न इस पृथिवी को जिन राजाओं ने भोगा है, वे आज कहीं दिखलायी भी नहीं पड़ते। राजा पृथु, ऐल, मय, भीम, नरकासुर, शम्बरासुर, अश्वग्रीव, पुलोमा, स्वर्भानु, अमितध्वज, प्रल्हाद, नमुचि, दक्ष, विप्रचित्ति, विरोचन ह्रीनपेध, सुहोत्र, भूरिहा, पुष्पवत् वृष, सत्येषु, ऋषभ, बाहु, कपिलाक्ष, विसूपक, वराहाश्व, रुचिप्रभ, विश्वजित्, प्रतिरूप, विषाण्ड, विष्कर, मधु, हिरण्यकशिपु, कैटभ तथा अन्य अनेक दैत्य, दानव तथा राक्षस एवं अन्य जन पहले हो गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से दानवराज, दैत्यराज, राक्षसराज और नृप हो चुके हैं। काल ने उन सब को नष्ट कर डाला, क्योंकि काल सब से बलवान् है।

हे इन्द्र ! अकेले तूने ही सौ यज्ञ नहीं किये; किन्तु इन सब ने सौ यज्ञ कर के उस जगत्स्रष्टा की पूजा की थी। वे सब धर्मपरायण थे और नित्य यज्ञ किया करते थे। वे सब व्योमचारी और वे सब सामने ही युद्ध करने वाले थे। उन सब के शरीर बड़े दृढ़ थे और उनके भुजदण्ड लोहदण्ड जैसे थे। इनको सैकड़ों भाषाएं मालूम थीं और इच्छानुसार रूप धर सकते थे। उनके बारे में यह भी नहीं सुना गया कि, वे सब के सब हार ही गये हों। वे सब सत्यव्रती, इच्छानुसार विहार करने वाले, देवव्रती, बहुअधीत, सामर्थ्यवान, अपने लोकों में सम्मान प्राप्त और ऐश्वर्यों के भोगने वाले थे। वे सब यथोचित दान देते थे और किसी से द्वेष नहीं करते थे। वे समस्त प्राणियों पर समान दृष्टि रखते थे। वे सब दाक्षायणी के पुत्र प्रजापति-वंशोत्पन्न थे। वे स्वयं प्रजापति थे और बड़े बलवान् थे। उनमें ऐसा तेज था कि, वे सब वस्तुओं को भस्म कर डालते थे और तेजस्वी थे। किन्तु काल ने उनको भी न छोड़ा। जब तेरा भोगकाल पूरा होगा और तुझे यह वसुधा त्यागनी पड़ेगी, तब तू शोक करेगा। अतः काम और भोग की इच्छा तू त्याग दे और राजलक्ष्मी के मेद को भी त्याग दे। ऐसा करने से जब तेरे राज्य का नाश होगा, तब तुझे भी शोक न व्यापेगा। तुझे दुःख से दुःखी और सुख से सुखी न होना चाहिये। तू भूत और भविष्यत् की चिन्ता को त्याग कर, वर्तमान काल से अपना काम साध। सदा सतर्क रहने वाले काल ने सदा उद्योगशील मुझको घेर लिया था। हे इन्द्र ! मुझे क्षमा करना। कुछ हो दिनों बाद वह काल त्रस्त करता हुआ तेरे निकट भी आवेगा।

हे इन्द्र ! तूने कठोर वचन कह, मुझे विदीर्ण कर डाला है; किन्तु तो भी मैं शान्ति भाव से बैठा हूँ। अतः निस्सन्देह तू अपने को बहुत मान रहा है। इस काल ने पहले मेरा पीछा किया था, अब यह तेरा पीछा करेगा। हे देवराज ! काल पहले मुझे राज्यभ्रष्ट कर चुका

है। इसीसे तू ऐसे गर्वीले वचन कहता है। किन्तु पहले जब मैं कुपित होता था, तब मेरे सामने खड़े हो लड़ने का किसी को साहस नहिं होता था। हे इन्द्र ! काल बड़ा बलवान् है। उसीने मेरा सर्वनाश किया है और तुझे उस बली काल ने सहायता दी है। इसीसे तो तू मेरे सामने खड़ा है। देवताओं के एक हज़ार वर्षों तक तू इन्द्रपद पर रहेगा। तदनन्तर तेरा भी अन्त होगा। यद्यपि इस समय भी मैं बली हूँ, तथापि मैं स्वस्थ नहीं हूँ। इसी प्रकार तेरा जब पतन होगा, तब तू भी इसी दशा को प्राप्त होगा। मैं त्रिलोकीनाथ के सर्वोच्च पद से गिरा हूँ और तू स्वर्ग में इन्द्रपद पर आरूढ़ है। यह मर्त्यलोक बड़ा अद्भुत है। यह काल का उलट फेर ही है कि, जिसने तुझे उपासना करने योग्य बना दिया है। नहीं तो क्या तू बतलावेगा कि, तूने कौन ऐसा काम किया था, जिससे तू इन्द्र हो गया है और मैंने कौन ऐसा कर्म किया था, जिससे मुझे इन्द्रपद से भ्रष्ट होना पड़ा।

काल बनाता भी है और बिगाड़ता भी है। कार्य की उत्पत्ति का अन्य कोई भी कारण नहीं है। ज्ञानी जन को नाश या विनाश, सुख दुःख, जन्म मरण आदि के प्राप्त होने पर न तो प्रसन्न होना चाहिये न दुःखी ही रहना चाहिये। हे इन्द्र ! तू मुझे जानता है और मैं तुझे पहचानता हूँ। इस लिये हे निर्लज्ज इन्द्र ! इस समय तू जिस दशा को प्राप्त है, वह दशा तुझे काल के कारण ही प्राप्त हुई है। तिस पर भी तू मेरे सामने खड़ा खड़ा डींगे हाँक रहा है। पहले मैं इन्द्र था, उस समय मेरा जैसा दबदबा था, वह तो तू जानता ही है। युद्ध सम्बन्धी मेरा उत्साह एवं पराक्रम एक आदर्श है। मैं देवासुर संग्राम में आदित्यों, साध्यों, रुद्रों और मरुतों को हरा चुका हूँ। तुझे तो यह बात भली भाँति मालूम है। जब लड़ने के लिये देवता और असुर एकत्र हुए थे, तब अकस्मात् आक्रमण कर, मैंने देवताओं को भगा दिया था और मैं वनों और वनवासियों सहित पर्वतों को कितनी ही बार उखड़वा कर

फिंकवा चुका हूँ। तीक्ष्ण नुकीले पर्वतों के शिखरों को तेरे सिर पर पटक मैं चूर चूर कर चुका हूँ; किन्तु इस समय मैं लाचार हूँ। काल कोई अतिक्रम नहीं कर सकता। यदि ऐसा न होता, तो यह विचार कर कि, तू वज्रधारी है, मैं तुझे न मार सकता। मेरा यह समय पराक्रम प्रदर्शन का नहीं है। किन्तु क्षमा-प्रदर्शन का है। हे इन्द्र! इसीसे तू मेरा ऐसा तिरस्कार कर रहा है और अपने लिये प्रतिकूल समय जान मैं सह रहा हूँ। किन्तु याद रख, तू जो मेरा अपमान कर रहा है, वह मेरे लिये सह्य नहीं है। समय पूरा हो जाने के कारण मुझे कालरूप अग्नि ने घेर लिया है और मैं कालरूप फाँसी में बँध गया हूँ। इसीसे तो तू मेरे सामने झूठी डींगें हाँक रहा है। श्यामवर्ण कालपुरुष को कोई अतिक्रम नहीं कर सकता। जैसे मनुष्य रस्सी से पशु को बाँध लेता है, वैसे ही भयानक काल ने मुझे बंदी कर रखा है। लाभ या हानि, सुख या दुःख, काम अथवा क्रोध, जन्म अथवा मरण, बन्धन या मोक्ष, सब काल के अधीन हैं। जैसे मैं कर्त्ता नहीं हूँ, वैसे ही तू भी कर्त्ता नहीं है। कर्त्ता तो सर्वसामर्थ्ययुक्त काल ही है। जैसे पके हुए फल को वृक्ष गिरा देता है, वैसे ही काल ने मुझे गिरा दिया है। काल के प्रभाव से एक पुरुष जो कार्य कर प्रसन्न होता है, वही कर्म यदि दूसरा पुरुष करे तो वह काल-प्रभाव से दुःखी होता है। मुझ जैसा कालज्ञ पुरुष काल से आक्रान्त होने पर भी शोकान्वित नहीं होता। मैं काल को जानता हूँ। अतः शोक नहीं करता। क्योंकि शोक करने से सहायता नहीं मिलती। शोकान्वित पुरुष का शोक आये हुए दुःख को दूर नहीं कर सकता। प्रत्युत शोकान्वित पुरुष की शक्ति को नष्ट कर डालता है। इसीसे मैं इस समय शोक नहीं करता।

जब बलि ने शतक्रतु, सहस्राक्ष एवं पाक दैत्य को दण्ड देने वाले इन्द्र से ये वचन कहे; तब इन्द्र का क्रोध ठंढा पड़ गया और वे कहने लगे—वज्रधारी मेरे हाथ को उठा हुआ देख तथा वरुणपाश

को देख, सर्व-संहारक मृत्यु भी डर जाती है; तब तेरी तो हकीकत ही क्या है! फिर तू तो है ही किस में? तू भयभीत इस लिये नहीं होता कि, तत्त्वज्ञ है और दृढ़ विचार वाला है। हे सत्य पराक्रमी! निश्चय ही तू बड़ा धैर्यवान् है। यही कारण है कि, तू नहीं घबड़ाता। इस संसार को नाशवान् जान कर भी कौन ऐसा शरीरधारी होगा, जो धन के ऊपर और अपने शरीर के ऊपर विश्वास करे; जैसे तू इस विश्व को अनित्य जानता है, वैसे ही मैं भी इसे विनश्वर जानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि, इस समय तू घोर; गुप्त, नित्य, गतिमान् और अविनाशी कालाग्नि में पड़ा हुआ है। मैं जानता हूँ कि, जिसको काल स्पर्श करता है, उसे फिर इस लोक में कोई नहीं बचा सकता। क्या स्थूल और क्या सूक्ष्म समस्त देहधारियों को काल चारों ओर से घेरे हुए है। काल का स्वामी कोई नहीं है। वह स्वयं सदा सतर्क रह प्राणियों को प्राप्त करता है। काल नित्य गतिशील है। उसके चंगुल में जो फँस जाता है, उसका फिर छुटकारा नहीं हो सकता। सतर्क काल असावधान प्राणियों को ताका करता है। काल कभी उद्योग-पराङ्मुख हुआ हो—यह आज तक कभी नहीं देखा गया। काल पुरातन सनातन धर्म है। काल का वर्त्ताव समस्त प्राणियों के साथ समान है। काल को न तो कोई पीछे ढकेल सकता है और न कोई उसको उल्लङ्घन ही कर सकता है। जैसे सूदख़ोर मूल में सूद जोड़ अपना पावना वसूल कर लेता है; वैसे ही काल दिन, रात, मास, क्षण, काष्ठा, लव और कला जोड़ कर, अवधि आने ही प्राणी को गटक जाता है। जो पुरुष यह कहता है कि, अमुक कार्य आज करूँगा, अमुक कार्य कल करूँगा, उसे काल वैसे ही घसीट कर ले जाता है, जैसे अकस्मात् आयी हुई नदी की बाढ़ वृक्ष को घसीट कर ले जाती है। अरे अमुक पुरुष अभी अभी था—वह कैसे मर गया! काल द्वारा पकड़े हुए प्राणियों के लिये ऐसे विलाप प्रायः सुनने में आया करते हैं। धन, योग, स्थान और ऐश्वर्य काल के भोज्य पदार्थ

हैं। काल आगे बढ़ता हुआ आता है और समस्त जीवों के प्राण हर कर ले जाता है। जो ऊपर को चढ़ता है, वही अन्त में नीचे गिरता है। जिसका अस्तित्व है, उसका ही अभाव हो कर, वह रूपान्तर को प्राप्त हो जाता है। आज हमें जो कुछ देख पड़ रहा है, वह नाशवान् और अस्थिर है। किन्तु इस बात को लोग बड़ी कठिनाई से समझ पाते हैं, किन्तु तेरी बुद्धि अटल और तत्त्व-ग्राहिणी होने से तुझे कष्ट नहीं होता। अब से कुछ ही समय पूर्व तू कौन था और अब क्या है, इसका विचार तू नहीं करता।

काल ऐसा बलवान् है कि, वह सारे विश्व पर आक्रमण कर, सारे लोक को अपने भीतर पका डालता है। काल यह नहीं देखता कि, अमुक बालक है, अमुक वृद्ध है; किन्तु वह तो सब का नाश करता चला जाता है। अतः जब किसी के गले में फाँसी डाल, काल घसीट कर ले जाता है, तब उसे कुछ भी चेत नहीं रहता। लोग ईर्ष्या, मिथ्याभिमान, लोभ, काम, क्रोध, भय, तृष्णा, भ्रम और गर्व में चूर रहने के कारण अपने आपको भूल जाते हैं। किन्तु तू तत्त्वज्ञ है, विद्वान् है, ज्ञानी है और साथ ही तपस्वी भी है। अतः तू हथेली पर रखे आँवले की तरह काल को साफ साफ देखता है।

हे विरोचन-नन्दन! तुझे काल की लीला भली भाँति विदित है। तू समस्त शास्त्रों में निपुण है; तू आत्मज्ञान से कृतकृत्य है और विकारों को अपने वश में रखने वाला है। इसीसे ज्ञानी जन तुझ से प्रीति रखते हैं। यह मुझे मानना पड़ता है कि, तूने समस्त लोकों का तत्त्व निज बुद्धिबल से जान लिया है। यद्यपि तूने सर्वत्र विहार किया है, तथापि तू मुक्त है। अतः तू बन्धन में कहीं भी नहीं पड़ा। तू जितेन्द्रिय है, अतः तेरे ऊपर रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव पड़ नहीं सकता। तू प्रीति और सन्ताप शून्य आत्मा का उपासक है। तुझे सब प्राणियों का सुहृद् अजातशत्रु तथा शान्तिकामी देख. मुझे तेरे ऊपर दया

आती है। मैं तुझ जैसे एक ज्ञानी जन को बन्धन में रखना नहीं चाहता।

अहिंसा परम धर्म है। अतः मेरे मन में तेरे ऊपर दया उत्पन्न हो गयी है। जब तेरा समय पलटा खायगा, तब अपने प्रजाजनों के दुष्कृतों के कारण तू जकड़े हुए वरुण के पाश से छूट जायगा। हे महा असुर! तेरा मङ्गल हो। जब वह अपनी बुढ़िया सास से घर का कामकाज करवावेगी, जब बुद्धिभ्रष्ट पुत्र अपने बाप को कामकाज करने की आज्ञा देगा, जब शूद्र लोग ब्राह्मणों से पैर धुलवावेंगे और ब्राह्मणी निडर हो शूद्रों के साथ खोटा काम करने लगेंगी, जब लोग विजातीय स्त्रियों की योनि में बीज छोड़ेंगे, जब काँसे के खाने पीने के बरतनों में घर का कूड़ा कचरा उठाया जाने लगेगा, जब निषिद्ध पात्रों में देवताओं को बलिदान दिया जायगा और जब वर्णाश्रम की मर्यादा भङ्ग हो जायगी; तब क्रमशः एक एक कर तेरा पैर पाश से छुटने लगेगा। तू मुझसे ज़रा भी मत डर और मेरे बतलाये हुए समय की प्रतीक्षा कर। तू दुःखी मत हो, शान्त हो। जा निरोग रह कर सुखी हो।

बलि से इस प्रकार कह, ऐरावत की पीठ पर सवार भाग्यवान् इन्द्र वहाँ से चल दिये। समस्त दैत्यों को परास्त कर, देवराज इन्द्र आनन्द से रहने लगे। वे समस्त लोकों के प्रभु हो गये। महर्षियों ने स्थावर जङ्गमात्मक विश्व के प्रभु, इन्द्र की स्तुति की। हिमनाशक अग्नि देव प्रज्वलित हो, रवि को ग्रहण करने लगे और इन्द्र भी अर्पण किये हुए अमृत को लेने लगे। उस समय सर्वत्र रहने वाले यज्ञकर्त्ता, श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने तेजस्वी इन्द्र का स्तव किया; तब इन्द्र भी क्रोध को शान्त कर, शान्त-स्वभाव के हो गये। वे स्वर्ग में जा, आनन्द से दिन बिताने लगे।

दोसौ अट्ठाइस का अध्याय

मनुष्य की उन्नति और अवनति के लक्षण

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! जब किसी पुरुष का भाग्योदय होने वाला होता है या किसी की अनुन्नति होने को होती है, तब उसके पूर्वलक्षण क्या होते हैं ? अब आप मुझे यह बतलावें ।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! जिस पुरुष की उन्नति से अवनति होने वाली होती है; उस पुरुष का मन ही उन्नति अवनति के पूर्व लक्षणों को बतला दिया करता है । इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला, लक्ष्मी और इन्द्र का संवादात्मक एक प्राचीन उपाख्यान है । हे धर्मराज ! मैं वही उपाख्यान कहता हूँ, तुम सुनो ।

ब्रह्म की तरह अमित तेजस्वी, निर्दोष, तपोबल से समस्त लोकों में होने वाली घटनाओं को एक साथ देखने वाले और ब्रह्मलोकवासी देवर्षियों के समान नारद जी जहाँ चाहते वहाँ जाते थे ।

एक दिन सबेरा होते ही वे स्नान करने के लिये ध्रुवद्वार से निकलने वाली आकाशगङ्गा के तट पर गये और गङ्गा में घुस उन्होंने स्नान किया । स्नान से निश्चिन्त हो जब नारद जी तट पर बैठे हुए थे, तब शम्बासुर एवं पाक नामक असुरों के संहारक, वज्रधर एवं सहस्राक्ष इन्द्र भी वहाँ जा आकाशगङ्गा में स्नान करने लगे । स्नान करने के बाद गायत्री मंत्र का कुछ थोड़ा बहुत जप भी किया । तदनन्तर वे उस नदी के मिहीन सुनहले बालू से युक्त तट पर जा बैठे । पुण्य-कर्मों से युक्त महर्षि-प्रोक्त प्रसिद्ध कथाएँ वहाँ आपस में कहीं सुनीं जाने लगीं । वे पूर्ववृत्तान्तों से परिपूर्ण कथाएँ थीं । वे दोनों जितेन्द्रिय पुरुष वहाँ बैठे आपस में वार्तालाप कर ही रहे थे कि, इतने में किरण जाल सहित सूर्यदेव उदय हुए । सूर्य के पूर्णमण्डल को देख, दोनों जन खड़े हो, उनकी स्तुति करने

लगे। इतने में उन दोनों ने देखा कि, पश्चिम दिशा में अपर सूर्य जैसा चमचमाता तेज का एक विम्ब आकाश में उदय हो गया है। धीरे धीरे वह प्रकाशयुक्त विम्ब उन दोनों की ओर आता हुआ देख पड़ा। वह भगवान् विष्णु का विमान था।

[नोट—जैसे आज कल मोटर-कारों में, रेल के इंजनों में और जहाज़ों में सर्चलाइट लैंप लगाये जाते हैं, वैसे ही प्राचीन काल के व्योमयानों में और रथों में भी प्रकाश की व्यवस्था रहती थी। इसीसे वे दूर से सूर्य की तरह देदीप्यमान जान पड़ते थे।]

वह विमान गरुड़ और सूर्य का बनाया हुआ था। वह आकाशचारी यान, अपने प्रकाश से तीनों लोकों को प्रकाशित करता हुआ अनुपम शोभायमान जान पड़ता था। जिस वस्तु को इन्द्र और नारद ने देखा, वे साक्षात् श्री लक्ष्मी जी थीं। वे श्री, सूर्य की तरह तेजोमयी और अग्नि की तरह जाज्वल्यमती सी देख पड़ती थीं। उनके शरीर पर जो गहने थे, वे ताराओं की तरह दमक रहे थे। उनके गले में मोती का हार पड़ा हुआ था। वे कमल के पत्र पर विराजमान थीं। ऐसी लक्ष्मी जी के उन दोनों ने दर्शन किये। सुन्दरिश्रेष्ठ लक्ष्मी विमान के अगले भाग से उतरीं और त्रिलोकप्रभु इन्द्र और देवर्षि नारद के निकट जा खड़ी हुईं। तब इन्द्र और नारद ने अपने नाम ले और हाथ जोड़ प्रणाम किया। तदनन्तर सर्वज्ञ इन्द्र ने लक्ष्मी देवी का पूजन किया और उनसे पूछा—हे चारुहासिनी आप कौन हैं? यहाँ आपका पधारना किस प्रयोजन से हुआ है? हे सुभ्रु! इस समय आपका आना कहाँ से हुआ है? और अब आप यहाँ से कहाँ जायगीं?

लक्ष्मी जी कहने लगीं—इस चराचरात्मक विश्व में मुझे अपनाने का सब लोग उद्योग किया करते हैं। मैं सूर्यरश्मियों के ताप से खिले हुए कमल-पुष्प से उत्पन्न हुई हूँ। मैं समस्त प्राणियों का कल्याण करने वाली हूँ। लोग मुझको पा कर, श्री और पद्ममालिनी कह कर पुकारते हैं।

हे बलसूदन ! मैं लक्ष्मी, भूति, श्री, श्रद्धा, मेधा, सन्नति, विजिति और स्थिति हूँ। मैं धृति, सिद्धि और समृद्धि हूँ। मैं स्वाहा और स्वधा हूँ। मैं प्रशांति और नियति अर्थात् भाग्यदेवी हूँ। मैं स्मृति हूँ। हे इन्द्र ! मैं विजयकामी राजाओं की सेना के आगे आगे चलने वाली ध्वजा में, धर्मनिष्ठ पुरुषों के घरों में, धर्मप्राण देशों में और नगरों में, युद्धक्षेत्र में पीछे पैर न रखने वाले विजयी वीर राजाओं के भवन में निवास करती हूँ। मैं सदा धर्माचरणशील एवं महाबुद्धिमान् ब्राह्मणों की रक्षा करने वाले, सत्यवादी, विनयी और दानी पुरुषों के पास रहने वाली हूँ। सत्य और धर्म से आबद्ध मैं पहले असुरों के यहाँ रहती थी। किन्तु जब वे पापी और झूठे सिद्ध हो गये, तब मैं उन्हें त्याग तुम्हारे पास चली आयी हूँ। अब मैं तुम्हारे पास रहना चाहती हूँ।

इन्द्र बोले--हे वरानने ! दैत्यों के कैसे आचरण देख कर आप उनके पास गयी थीं और कैसे आचरण देख आप वहाँ से चली आयीं ?

श्री ने कहा--हे देवराज ! जो लोग धर्मानुसार चलते हैं, जो धैर्यवान् हैं, जो उस मार्ग पर चलते हैं, जो स्वर्ग में पहुँचाने वाला है, उन्हीं प्राणियों के पास मैं रहती हूँ। जो दान देते, वेद पढ़ते, यज्ञयाग करते, पितृ, देव, गुरु एवं अतिथियों को पूजते हैं, उनमें मैं सत्यभाव से रहती हूँ। पहले जब दैत्य अपने घर स्वच्छ रखते थे, स्त्रियों को अपने वश में रखते थे, नित्य हवन करते थे, गुरु-सेवा-परायण रहते थे, मनोविकारों को वश में रखते थे, ब्राह्मणों की रक्षा करते थे और सदा सत्यभाषण किया करते थे, तब मैं उनके यहाँ रहती थी। जब वे पूर्ण श्रद्धालु, क्रोध को जीतने वाले, दानशील, दूसरों के गुणों को दूषित न करने वाले, पुत्रों, मंत्रियों, स्त्रियों और नौकरों चाकरों का पालन पोषण करने वाले थे और किसी से ईर्ष्या नहीं करते थे, तब मैं उनके निकट रहती थी। जब वे स्पर्धावान् हो, कभी आपस में प्रतिद्वन्द्वता नहीं करते थे, बड़े सन्तोषी थे और परोत्कर्ष असहिष्णु न थे, तब मैं उनके

यहाँ रहती थी। जब वे दानी, संग्रही, आर्य, दयालु और प्रसन्न होने पर प्रसन्न करने वाले को फल देने वाले, सरल स्वभाव, पूर्ण श्रद्धालु और जितेन्द्रिय थे, तब मैं उनके यहाँ रहती थी। जब वे अपने सेवकों और मंत्रियों को सन्तुष्ट रखते थे, कृतज्ञ थे, मधुरभाषी थे, सब का यथोचित सम्मान करने वाले, ध्यान देने वाले, लज्जालु और नियमित रूप से व्रतों का पालन करने वाले थे, तब मैं उनके निकट रहती थी। जब वे लोग पर्वकाल में अर्घ्यप्रदान करते थे, शरीर को भूषित रखते थे, उपवास और तप में लगे रहते थे, वेदों को गाते थे, तब मैं उनके निकट रहती थी। वे सूर्योदय के पूर्व जागते थे, प्रभात काल में कभी सोते न थे, रात में वे सत्तू और दही नहीं खाते थे, नित्य सवेरे उठ घृतादि मङ्गल पदार्थों के दर्शन किया करते थे, ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर, नित्य वेदाध्ययन किया करते थे और ब्राह्मणों का पूजन कर, उन्हें दान देते थे, तब मैं उनमें रहती थी। जब वे सदा धर्म की चर्चा किया करते थे, किसी से दान नहीं लेते थे, आधी रात होते ही सो जाते थे, और दिन में कभी सोते न थे, तब मैं उनके यहाँ रहती थी।

हे इन्द्र! जब वे दीनों, अनाथों, बूढ़ों, दुर्बलों, रोगियों और स्त्रियों के ऊपर दया करते थे; उनके भरण पोषण के लिये अपनी आय से कुछ अंश निकाल देने का समर्थन करते थे, जब वे विकलों को, खिन्नों को, उदासों को, भयभीतों को, रोगियों को, अपहृत धन वालों को, दुर्बलों, को, दीनों और पीड़ितों को सदा आश्वासन दिया करते थे; तब मैं उनके यहाँ रहती थी। जब वे कभी किसी को अन्याय से सताते न थे, प्रत्येक काम अनुकूल बुद्धि से करते थे, गुरुजनों और बड़े-बूढ़ों की सेवा करते थे, हर पदार्थ उनको अर्पण कर, जो बचता उसे अपने काम में लाते थे, सदा सत्य भाषण और तप किया करते थे; तब मैं उनके साथ रहती थी। जब वे स्वादिष्ट पदार्थ अकेले ही नहीं खाया करते थे, परस्त्रीगामी न थे, निज शरीरवत् सब

प्राणियों को समझ उन पर दया करते थे, जब वे आकाश (खुले मैदान), में पशुओं के साथ, निषिद्ध योनियों में और पर्वकाल में मैथुन नहीं करते थे, तब मैं उनके यहाँ रहती थी।

हे प्रभो! जब तक उनमें दानशीलता, चातुर्य, सरलता, शौच, दयालुता, मधुर भाषण और मित्रों के प्रति प्रेम बना हुआ था, तब तक मैं उनके साथ थी। प्रजोत्पत्ति से ले, बहुत दिनों तक उनमें निद्रा-तन्द्रा से अप्रीति रही। वे पर-स्त्री को देखने से असन्तुष्ट, विषादयुक्त होते थे और लम्पटता से विरक्त थे। उनके इन्हीं सद्गुणों को देख, उनके साथ मैं रहती थी। किन्तु जब समय बदला और उनके वे गुण दुर्गुणों के रूप में परिवर्तित हो गये, उनके शरीरों से धर्म, श्रेष्ठ गुण और नीति निकल गयी, वे सब काम और क्रोध के उपासक बन गये, गुणियों से द्वेष कर जब गुणहीन जन सभा में बैठ गुणियों की जीट उड़ाने लगे, युवकजन वृद्धों को अभ्युत्थान न देने लगे, युवकों ने जब वृद्धों को प्रणाम करना छोड़ दिया, पिता के सामने ही पुत्र अपनी हुकूमत दिखाने लगे, जो कभी सेवक का काम नहीं करते थे, वे ही जब लाज त्याग सेवकाई करने लगे और अधर्म और निन्द्य उपायों से धनोपार्जन करने वाले सन्मान के पात्र समझे जाने लगे, तब मैं उनका साथ छोड़ चल दी। जब वे रात के समय हो हल्ला कर द्वन्द्व मचाने लगे, उनके घरों में अग्निहोत्र की आग बुझ गयी, पिता पुत्र की आज्ञा की अवहेलना करने लगा और स्त्रियाँ पतियों का कहना टालने लगीं; तब मुझे उनका साथ छोड़ना पड़ा। जब उन लोगों ने बड़े बूढ़े, माता पिता, आचार्य, अतिथि और गुरुजन आदि मानार्ह लोगों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना त्याग दिया और माता पिता ने अपने पुत्रों का पालन करना छोड़ दिया, जब वे ब्रह्मचारियों को भिक्षा देना छोड़ बैठे और पितरों, अतिथियों, गुरुजनों तथा देवताओं का भाग निकाले बिना ही निर्लज्जतावश अन्न खा जाने लगे, तथा जब उनके रसोइयों ने मन, वाणी तथा शरीर की पवित्रता को विसर्जित कर दिया,

वे भोज्य पदार्थों को ढके बिना खुला छोड़ने लगे और उन पदार्थों को कौए और चूहे खाने लगे, तब मुझे उनका साथ त्यागना पड़ा।

जब वे ईख को ढक कर न रखने लगे और जूठे हाथों घृत छूने लगे, जब उनके घरों में कुदाली, दराँती, पिटारी और फूल के बर्तन तथा अन्य धातुओं के बने पात्र, जहाँ देखो वहीं पड़े रहने लगे और घर की बड़ी बूढ़ी ने उनकी सम्हाल करना छोड़ दिया—जब उन्होंने पुरानी दीवालों और घरों की मरम्मत करना छोड़ दिया, जब पशुओं को पाल कर उनके दाने चारे की सम्हाल रखना छोड़ दिया, तब मैंने भी उनको त्याग दिया। हे देवराज! बालक देखा करते हैं. और दानव बढ़िया पकवान स्वयं ही खा डालते हैं। वे पोष्यवर्ग को खिलाये बिना ही स्वयं खा लेते हैं। खीर, खिचड़ी, माँस, मालपुए, कचौड़ी आदि भोज्य पदार्थ अपने लिये ही बनवाने लगे हैं। सूर्योदय हो जाता है और वे पड़े पड़े सोया करते हैं; मानों प्रातःकाल भी उनके लिये रात है; उनके यहाँ रात दिन कलह मचा रहता है। दानवों के यहाँ बड़े बूढ़ों की सेवा नौकर चाकर तक नहीं करते हैं। वे अधर्मी दानव आश्रमवासी महात्माओं से अकारण द्वेष करने लगे। फिर उन लोगों में आपस में भी द्वेष होने लगा। प्रजा वर्णसङ्कर हो गयी। किसी में भी बाहरी भीतरी पवित्रता न रह गयी। उन लोगों ने वेद-वेत्ता ब्राह्मणों का आदर सत्कार करना छोड़ दिया और वे उन लोगों का मान सम्मान करने लगे जो वेद नहीं पढ़ते थे। वेद पढ़े हुए और अनपढ़े पुरुषों को वे एक समान समझने लगे। उन लोगों ने मान्यों का मान करना छोड़ दिया। उनकी टहलनियाँ दुष्टा हो गयीं। वे बहुमूल्य सोने चाँदी के गहने पहनने लगीं और बढ़िया कपड़े ओढ़ने पहिनने लगीं। वे कुलटा स्त्रियों की तरह भटकने लगीं और इधर उधर निगाहें दौड़ाने लगीं। पुरुष स्त्रियों के वेष धारण करने लगे और स्त्री बनने में उन्हें बड़ा आनन्द आने लगा। जिन लोगों की योग्यता पर मुग्ध हो उनके पूर्वजों ने ग्राम दिये थे, उन दाता दानवों के पुत्र ना-

स्तिक बन, उन दाताओं के जीते जी ही दान की हुई धन धरती छीनने लगे। अपने ज़रा से स्वार्थ के पीछे एक मित्र दूसरे मित्र की गुप्त बातें प्रकट कर, उसे आर्थिक क्षति पहुँचाने में हिचकिचाता नहीं।

बड़े बड़े प्रसिद्ध व्यापारी तक दूसरों का धन छीन लेना चाहते हैं। दानवों में जो शूद्र वर्ण के हैं, वे तप करने लगे हैं। उनमें ऐसे बहुत हो गये हैं, जो यम नियम और ब्रह्मचर्यव्रत पालन किये बिना ही वेदाध्ययन करने लगे हैं। शिष्यों ने गुरुओं की सेवा करनी छोड़ दी है और गुरु अपने शिष्यों के साथ मैत्री करने लगे हैं। उत्साहरहित बूढ़ी माता और बूढ़े पिता अपना सर्वस्व पुत्र को सौंप दाने दाने के लिये उनका मुख निहारने लगे हैं। शान्तमना ज्ञानीजन और समुद्र के समान गम्भीर बुद्धिवाले लोग खेती बारी आदि धंधे करने लगे हैं। मूर्खों और अज्ञानियों को वे लोग श्राद्ध में भोजन कराने लगे हैं। जो काम शिष्य को करने चाहिये, वे अब गुरु करने लगे हैं। अर्थात् शिष्य का काम है कि, वह अपने सन्देहों को दूर करने के लिये और कौन सा अधूरा काम पूरा करना है—इसका निर्णय करने के लिये, गुरु के पास जाय; किन्तु अब गुरु को शिष्य के पास जा, उसके सन्देहों को दूर करना पड़ता है। सास ससुर के सामने बहुएँ दास दासियों को डाँट डपट दिखाने लगीं। अपने पतियों को अपने पास बुला, उनको शिक्षा दे उन्हें ताने देने लगीं। पिताओं को अपने पुत्रों को प्रसन्न रखने की चिन्ता रहने लगी। बेचारे पिता पुत्रों से डर कर सारा धन पुत्रों को बाँट स्वयं कष्ट से दिन काटने लगे। आग लगने पर, चोरी होने पर, अथवा राजा द्वारा धनादि छीन लिये जाने पर, मित्र होने का दावा रखने वाले जन हँसी करने लगे। मित्र कृतघ्नी बन गये। दानवों में नास्तिकता आ गयी और वे पापी बन गुरुपत्नी तक के साथ खोटा काम करने लगे। वे अभक्ष्य पदार्थों को खाने लगे। उन्होंने मर्यादा तोड़ दी। उनमें जो तेजस्विता पहले थी वह अब उनमें नहीं रह गयी। इस प्रकार दैत्य विपरीत आचरण करने पर कटिबद्ध हो गये हैं। हे इन्द्र!

इसी लये मैं उनको त्याग तुम्हारे पास आयी हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो। हे देवराज! यदि तुम मेरा सम्मान करोगे तो अन्य देवगण भी मेरा सम्मान करेंगे। मैं जहाँ रहूँगी, वहाँ मेरी जैसी अन्य सात मेरी सहचरी देवियाँ और आठवीं जयादेवी भी आ कर रहने लगेंगी। मेरी उन सात सहचरियों के नाम ये हैं—आशा, श्रद्धा, धृति, क्षान्ति, विजिति, सन्नति, क्षमा। आठवीं का नाम जया है ही। हे इन्द्र! मैं अपनी सहचारियों सहित उन असुरों को त्याग कर, तुम्हारे पास चली आयी हूँ। मैं धर्मात्मा देवताओं के बीच रहना चाहती हूँ।

जब लक्ष्मी देवी ने यह कहा, तब देवर्षि नारद और इन्द्र ने श्री देवी को प्रसन्न मन से प्रणाम किया। उस समय अग्नि का मित्र वायु देवमार्ग में शान्त भाव से चलने लगा और मनमुग्धकारी सुगन्धि को फैलाने लगा, जिससे समस्त इन्द्रियाँ सुख का अनुभव करने लगीं।

जब यह वृत्तान्त देवताओं ने सुना तब वे सब दर्शन करने को वहाँ गये, जहाँ इन्द्र, नारद और लक्ष्मी जी विराजमान थीं। तदनन्तर देवराज सहस्राक्ष इन्द्र अपने स्नेही नारद जी सहित उस रथ पर सवार हो, जिसमें हरे रंग के घोड़े जुते हुए थे, देवसभा में गये। देवता लोग महर्षि नारद, वज्रधर इन्द्र और लक्ष्मी की बड़ी भारी शक्ति को तथा उनके अन्य गुणों को जानते थे। अतः वे लोग उन तीनों के अभिप्राय को जान कर, देवी के पराक्रम की प्रशंसा करने लगे और लक्ष्मी देवी के आगमन को शुभ मानने लगे। उस समय आकाश निर्मल हो गया और ब्रह्मा जी के लोक से अमृत की वर्षा होने लगी, बिना बजाये ही देवताओं के नगाड़े बज उठे। समस्त दिशाएं निर्मल हो गयीं और उनमें प्रकाश हो गया। यथासमय इन्द्र ने खेतों में वर्षा की। उस समय कोई भी धर्ममार्ग से विचलित नहीं होता था। पृथिवी अनेक रत्नों की खानों से सुशोभित हुई। देवताओं के लिये विजयसूचक वेदघोष तथा अन्य मधुर घोष सुन पड़ने लगे। दृढ़ व्रतधारी मनोबल वाले पुरुष

वेदोक्त यज्ञ याग कर मङ्गलमय मार्ग में निवास करने लगे। क्या मनुष्य, क्या देवता, क्या किन्नर, क्या यक्ष और क्या राक्षस—सभी समृद्धशाली हो प्रसन्न रहने लगे। यद्यपि पवन के चलने से वृक्ष कम्पायमान तो होते थे; तथापि फल नहीं गिरते थे। गौएं खूब दूध देने लगीं। वे समस्त कामनाएँ पूर्ण करने लगीं। कोई भी कठोर वचन नहीं बोलता था। जो अभ्युदयकामी जन ब्राह्मणों की सभा में जा, समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले इन्द्रादि देवताओं की, की हुई भगवती लक्ष्मी की इस पूजा का वृत्तान्त पढ़ते सुनते हैं, उनके समस्त मनोरथ पूरे होते हैं और वे लक्ष्मी को पाते हैं। हे कुरुसत्तम! तूने मुझसे जो पूँछा था उसका उत्तर मैंने इस आख्यान को सुना कर दे दिया। अब तुझे परीक्षा कर के तत्व बात जान लेनी चाहिये।

दोसौ उनतीस का अध्याय

ब्रह्मलोक में जाने योग्य जीव

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! अब आप मुझे यह बतलावें कि प्रकृति से पर एवं अविनाशी परब्रह्म के स्थान में जाने वाले पुरुष में शील, आचार, विद्या और पराक्रम कैसा होना चाहिये?

भीष्म ने कहा—निवृत्ति मार्ग में चलने वाला पुरुष स्वल्पाहारी और जितेन्द्रिय होता है। वही पुरुष प्रकृति से पर परब्रह्म के लोक में जाता है। इस सम्बन्ध में जैगीषव्य और देवल का संवादात्मक एक प्राचीन आख्यान इस प्रकार है।

एक वार बड़े ज्ञानी, धर्मात्मा एवं क्रोध-हर्ष-विवर्जित जैगीषव्य जी से जिनका अपर नाम असित है, देवल ने पूछा—हे जैगीषव्य! यदि आपको कोई प्रणाम करे तो आप प्रसन्न नहीं होते और यदि कोई आपकी

निन्दा करे तो आप अप्रसन्न नहीं होते। सो यह तो बतलाइये आपको ऐसा स्वभाव क्यों कर हो गया है? और ऐसा स्वभाव बना लेने से आपने क्या लाभ सोच रखा है?

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! जब देवल ने ऐसा प्रश्न किया, तब जैगीषव्य मुनि ने स्पष्ट शब्दों में उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया।

जैगीषव्य बोले—हे ऋषिप्रवर जो उत्तम गति की सीमा है, जो समस्त पुण्यकर्मा जनों के लिये शान्तिप्रद है; वह महाशान्ति क्या है? मैं यही तुम्हें बतलाता हूँ—सुनो। हे देवल! महात्मा पुरुषों को निन्दा और स्तुति करने वालों को एक सा समझना चाहिये। ऐसे महात्मा जन अपनी प्रतिज्ञा को तथा अपने पुण्यकर्मों को गुप्त रखते हैं। वे न तो किसी की कटु बात का प्रत्युत्तर देते हैं और न अहितकारी से बदला लेते हैं। वे तो मारने वाले पर भी हाथ नहीं उठाते। ऐसे ही लोग महात्मा कहलाते हैं। जो होनहार है उसके लिये वे शोक नहीं करते। यथासमय वे यथोचित कार्य करते हैं। बीती हुई बात के लिये वे शोक नहीं करते। हे देवल! शक्तिमान और दृढ़ व्रती पुरुष होनहार में हस्तक्षेप नहीं करते। यदि उनसे कोई प्रार्थना करने आता है, तो वे उसका काम वैसे ही कर देते हैं, जैसा होना चाहिये। वे परिपक्वज्ञान सम्पन्न होते हैं तथा वे बड़े बुद्धिमान होते हैं। वे क्रोध को जीत लेते हैं और इन्द्रियों को अपने वश में रख, मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का अनिष्ट नहीं करते। वे न तो किसी के साथ ईर्ष्या रखते हैं और न किसी की बुराई में रहते हैं। उनका धीर स्वभाव होता है। अतः वे किसी की बढ़ती देख जलते नहीं। फिर ऐसे लोग दूसरों की निन्दा स्तुति भला करने ही क्यों लगे। वे तो अपनी निन्दा या प्रशंसा को सुन न तो क्रुद्ध होते हैं और न प्रसन्न ही होते हैं। उनमें किसी प्रकार की कामना नहीं होती और वे सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं। वे कभी क्रोध नहीं करते और न कभी आनन्द ही मानते हैं। वे किसी

का अपराध भी नहीं करते । वे अपने हृदयस्थ अज्ञान की गाँठ को काट कर, सुख से भूमण्डल पर विचरते हैं। न तो उनके कोई बान्धव होते हैं और न वे स्वयं किसी के बान्धव होते हैं। इसी प्रकार न वे किसी से शत्रुता करते हैं और न उनका कोई शत्रु होता है। इस प्रकार रहने वाले पुरुष ही सदा शान्ति से रहते हैं।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! जो धर्मज्ञ पुरुष धर्मानुसार चलते हैं, वे सुखी होते हैं और जो धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे अन्त में दुःख भोगते हैं। मैं धर्मज्ञ पुरुषों के मार्ग पर चलता हूँ। अतः मैं किसी से ईर्ष्या क्यों करने लगा ? मनुष्य अपेक्षित वस्तु को चाहे जिस रीति से प्राप्त करे, न तो निन्दा से मेरी कुछ हानि होती है और न प्रशंसा से कुछ लाभ। तत्वज्ञानी पुरुष अपमान होने पर क्रुद्ध नहीं होता; प्रत्युत वह वैसे ही तृप्त होता है, जैसे कोई अमृतपान कर के तृप्त होता है। सुपात्र जन अपने सन्मान से प्रसन्न नहीं होते, प्रत्युत वे उससे वैसे ही घबड़ा जाते हैं, जैसे विष पीने पर कोई घबड़ा उठता है।

निर्दोष जन अपमान किये जाने पर भी इस लोक में आनन्द से सोते हैं और मरने बाद परलोक में निर्भय हो रहते हैं; किन्तु उसका अपमान करने वाला स्वयं नष्ट हो जाता है। जो बुद्धिमान् जन हैं, वे परमगति को चाहते हैं, वे इस प्रकार रह कर सुखी होते हैं और उनका भला होता है। जितेन्द्रिय पुरुष को समस्त यज्ञों का पूर्णफल प्राप्त होता है और अन्त में प्रकृति से पर अविनाशी ब्रह्म को वे प्राप्त करते हैं। परमगति को प्राप्त हुए इस पुरुष के पद को देवता, गन्धर्व, पिशाच और राक्षस भी नहीं पा सकते।

दोसौ तीस का अध्याय

नारद के श्रेष्ठ गुणों का बखान

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! अब आप मुझे यह बतलावें कि इस पृथिवी तल पर ऐसा पुरुष कौन है जो सब प्राणियों का अभिनन्दनीय, सर्वप्रिय और सर्व-गुण-सम्पन्न हो।

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में, मैं तुम्हें उग्रसेन और श्रीकृष्ण का नारद सम्बन्धी संवादात्मक एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूँ, सुनो।

उग्रसेन ने श्रीकृष्ण जी से पूछा—हे वासुदेव ! सभी लोग नारद जी के गुणानुवाद किया करते हैं। अतः मैं समझता हूँ कि, नारद जी बड़े ज्ञानवान हैं और सकल-गुण-सम्पन्न हैं। हे केशव ! आप बतलावें कि नारद जी में वे सब गुण किस प्रकार आये ?

श्रीकृष्ण ने उत्तर देते हुए कहा—हे राजन् ! मेरी समझ में नारद में जो सद्गुण हैं—उनका वर्णन मैं करता हूँ; सुनिये। नारद जी बड़े भारी पण्डित, देवता, सुशील और परम श्रद्धालु हैं। उन्हें अपने सद्गुण सम्पन्न होने का तिल बरोबर भी अभिमान नहीं है। वे जैसे ज्ञानी हैं वैसे ही सच्चरित्र भी हैं। इसीसे सब लोग उनका आदर करते हैं। नारद में रूखापन, क्रोध, चापल्य एवं भय नहीं है। वे सदा सतर्क रहने वाले और बड़े सुखी रहते हैं। अतः वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। नारद सब प्रकार सेवा करने योग्य हैं। वे काम या लोभ में फस अपनी कही बात को बदलते नहीं। इसीसे वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। वे आत्मज्ञानी, क्षमावान्, शक्तिमान्, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं। अतः वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। वे तेज, यश, बुद्धि, ज्ञान, विनय, जन्म और तप में सब से बड़े हैं, वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। वे सुशील हैं, सुन्दर

वस्त्रधारी हैं और उनका स्थान भी सुन्दर है। वे स्वच्छ भोजन किया करते हैं, सब के ऊपर प्रीति रखते हैं, उनका तन मन पवित्र है। वे मधुर भाषी हैं और उनमें ईर्ष्या नाम मात्र को भी नहीं है। इसीसे वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं।

नारद जी सब की भलाई चाहते हैं। उनमें पाप का लेश मात्र भी नहीं है। वे दूसरे को कष्ट में देख कभी प्रसन्न नहीं होते। अतः वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। वे वेदोक्त और पुराणोक्त कथाओं को सुन विषय वासनाओं से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। वे स्वभावतः वैराग्यवान् हैं। इसी से उनका कभी कोई अपमान नहीं करता, प्रत्युत सर्वत्र वे सम्मान पाते हैं। वे सब को समदृष्टि से देखते हैं। इसीसे उनका कोई शत्रु मित्र नहीं है। वे अपने मन के अनुकूल ही बोलते हैं। अतः वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। वे बहुश्रुत हैं। अतः वे बड़ी बड़ी कथाएं कहा करते हैं। वे शठता और लोभ से शून्य एक अच्छे पण्डित हैं। उनमें दीनता, क्रोध और लोभ हैं ही नहीं। अतः वे सर्वत्र सम्मान के पात्र समझे जाते हैं। किसी विषय, धन अथवा काम रूपी अर्थ के लिये उनका कभी किसी के साथ झगड़ा नहीं हुआ। उनमें कोई दोष रहा ही नहीं। अतः वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। उनकी परमात्मा में पूर्ण निष्ठा है। उनका मन उदात्त है। वे शास्त्रज्ञ, दयालु हैं; मोह और दोषों से रहित हैं। अतः वे सर्वत्र सम्मान के साथ पूजे जाते हैं। जैसे और लोग किसी न किसी वस्तु के बन्धन में हैं, वैसे नारद जी किसी भी वस्तु के बन्धन में न होने पर भी बन्धनयुक्त प्रतीत होते हैं। उन्हें किसी विषय में सन्देह नहीं है। वे सब को तत्वोपदेश करने वाले हैं। अतः वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं।

उन पदार्थों की ओर, जो कामना उत्पन्न करने वाले हैं उनका मन आकर्षित नहीं होता। वे अपने मुख अपनी प्रशंसा नहीं करते, किसी से डाह नहीं रखते। वे सब से मधुर वचन बोलते हैं। अतः वे सर्वत्र सम्मान के पात्र समझे जाते हैं। वे इस संसार में विविध प्रकार के चित्रों को

देखते हुए भी किसी की निन्दा नहीं करते। वे जगत् की उत्पत्ति का तत्व जानते हैं। अतः वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। वे किसी भी विज्ञान या शास्त्र की निन्दा नहीं करते न उनका तिरस्कार करते हैं। वे बड़ी बुद्धिमानी के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वे एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाते हैं। वे अपने मन को अपने वश में रखते हैं। अतः वे सर्वत्र सम्मान पाते हैं। श्रमसाध्य कार्यों में वे अच्छा परिश्रम करते हैं। उनमें ज्ञान और विवेक रूपिणी प्रज्ञा है। वे समाधि से कभी नहीं अघाते। वे कर्त्तव्य पालन में सदा तत्पर रहते हैं। वे कभी असावधान नहीं रहते हैं। अतः सर्वत्र सम्मान पाते हैं।

वे अकारण कभी लज्जित नहीं होते। दूसरों की भलाई जिसमें होती हो वे उस काम में लगाये जाने पर लग जाते हैं। वे लोगों के गुप्त भेद प्रकट नहीं करते। अतः सर्वत्र सम्मान पाते हैं। वे धन प्राप्त होने पर न तो प्रसन्न होते और न धन की हानि होने पर वे खिन्न होते हैं। उनकी बुद्धि दृढ़ और उनका आत्मा आसक्ति-रहित है। अतः उनका सर्वत्र सम्मान होता है।

नारद जी सर्व-गुण-सम्पन्न हैं। वे कार्यपटु हैं। उनका मन और शरीर पवित्र है। वे मङ्गलरूप हैं। वे समय के ज्ञाता हैं और प्रिय आत्मा को पहचानने वाले हैं। सर्व-गुण-सम्पन्न नारद जी का आदर कौन न करेगा?

दोसौ इकतीस का अध्याय

युग-प्रमाण

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति कहाँ से होती है? और वे किस में लय होते हैं? उनका ध्येय, यज्ञयाग रूप कर्म, काल और प्रत्येक युग में होने वाले आयु (उम्र) का

परिमाण कितना है? समस्त लोकों का पूर्ण तत्व, समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और उनका लय मैं जानना चाहता हूँ। इस जगत की उत्पत्ति और लय होने का वृत्तान्त मैं सुनना चाहता हूँ। हे पितामह! यदि आप मेरे ऊपर अनुग्रह करना चाहते हों, तो आप मेरे इन प्रश्नों का मुझे उत्तर दें। भृगु ने भरद्वाज के प्रश्नों के जो उत्तर दिये थे, वे आप मुझे सुना चुके हैं। उन उत्तरों को सुन मेरी बुद्धि बड़ी अच्छी हो गयी। मेरे मन में धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गयी और और मेरी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में जम गयी। इसीसे मैं दुबारा आपसे वही बात पूछता हूँ। आप जो मेरे लिये उपयुक्त समझें वह सुनावें।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! व्यास जी से ऐसे ही प्रश्न उनके पुत्र ने किये थे। अतः व्यासजी ने जो उत्तर अपने पुत्र को दिये थे, वे मैं तुम्हें सुनाता हूँ। साङ्गोपाङ्ग वेदों और उपनिषदों को पढ़ कर और धर्म के स्वरूप को भली भाँति देखने के लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने की इच्छा कर, धर्म के बारे में सन्देह रहित कृष्णद्वैपायन व्यास जी के सामने उनके पुत्र शुकदेव जी ने इस प्रकार अपना सन्देह प्रकट किया।

शुकदेव जी बोले—हे भगवन्! काल परम्परा से इस जगत का रचने वाला कौन है? ब्राह्मणों के कर्त्तव्य क्या क्या हैं? आप मुझे ये बतलावें।

भीष्म जी बोले—इस प्रकार पुत्र के पूछने पर भविष्यत् को जानने वाले, सर्वज्ञ और सब धर्मों के ज्ञाता व्यास जी कहने लगे, सृष्टि के आरम्भ में आदि-अन्त-जन्म-रहित, दिव्य, परिणामशून्य, अविचल, अविनाशी, तर्क से न जानने जाने वाले एक ब्रह्म ही थे। मुनियों ने कहा— आँख बंद कर के पुनः खोलने में जितना समय लगता है, उसे निमेष कहते हैं। ऐसे पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा होती है। तीस काष्ठाओं की एक कला होती है। तेंतीस कलाओं का एक मुहूर्त्त होता है। तीस मुहूर्त्तों का एक दिनरात, तीस दिनरातों का एक मास और बारह मासों का एक वर्ष होता है। गणितज्ञों ने एक वर्ष में दो अयन—उत्तरायण

और दक्षिणायन माने हैं। मर्त्यलोक के दिन और रात का विभाजक सूर्य है। रात प्राणियों के सोने के लिये है और दिन काम करने के लिये। मर्त्यलोक का एक मास पितरों का एक दिन रात के समान है। वे शुक्ल पक्ष में काम काज करते हैं। अतः शुक्ल पक्ष उनका दिन है और कृष्ण पक्ष सोने के लिये उनकी रात है। मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन रात है। उनके दिन रात का विभाग इस प्रकार है। उत्तरायण काल देवताओं का दिन और दक्षिणायन देवताओं की रात है। पूर्व में जो मर्त्यलोक-वासियों के रात दिन कहे गये हैं, उनके अनुसार तुम ब्रह्मा के रात दिन का वर्णन सुनो। तदनन्तर मैं सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग के पृथक् पृथक् वर्ष क्रम से कहूँगा। देवताओं के चार हज़ार वर्षों का सत्ययुग होता है। इसमें चार सौ वर्षों का प्रातःकाल और चार सौ वर्षों तक उसका सन्ध्यांश-काल होता है। सत्ययुग में देवताओं के ४८०० वर्ष होते हैं। शेष युगों के सम्बन्ध में प्रातःकाल, सन्ध्यांश तथा युग के वर्ष इन तीनों में एक एक चौथाई कम करने से हर एक युग की गणना हो जाती है। अर्थात् त्रेता युग की वर्ष संख्या तीन हज़ार वर्ष है। इसमें तीन तीन सौ वर्षों का प्रातःकाल और सन्ध्याकाल होता है। द्वापर युग में देवताओं के दो सहस्र वर्ष होते हैं और द्वापर के प्रातःकाल और सन्ध्याकाल दो दो सौ वर्षों के होते हैं। कलियुग में देवताओं के एक सहस्र वर्ष होते हैं और कलियुग के प्रातःकाल और सन्ध्याकाल एक एक सौ वर्षों के हुआ करते हैं। इन वर्षों के अनुसार ही शाश्वत और सनातन लोकों की स्थिति है।

हे तात! ब्रह्म-विद्या-विशारद पुरुष इसे शाश्वत ब्रह्मरूप मानते हैं। सत्ययुग में सम्पूर्ण रूप से धर्म वर्तमान था। उस युग में कोई भी किसी को अधर्मोपदेश नहीं करता था। क्योंकि वह युग सर्वश्रेष्ठ युग था। उस युग में कोई भी अधर्म से धनोपार्जन नहीं करता था। उस युग में वेद का पूर्ण रूप से प्रचार था।

त्रेताआदि अन्य युगों में अधर्म से उपार्जित धन तथा अधर्मोपदेश के कारण धर्म का क्रमशः एक एक पाद कम होता चला गया। चोरी, असत्यभाषण और कपट व्यवहार से अधर्म की वृद्धि होने लगी। सत्य-युग में कोई आदमी रोगी नहीं होता था। प्रत्येक जन के समस्त मनोरथ पूर्ण होते थे। उस युग में लोगों की पूर्णायु चार सौ वर्षों की थी। त्रेता में एक एक चतुर्थांश कम हो गयी। वेदाभ्यास, आयु, आशीर्वाद और वेद-फल युगानुसार कम होते चले गये। सत्ययुग में मनुष्यों के धर्म और थे, त्रेता, द्वापर और कलियुग में वे और ही हो गये। युग-परिवर्त्तन के साथ ही साथ धर्मों में भी कमी होती गयी।

सत्ययुग में तप मुख्य था, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ, कलियुग में दान की श्रेष्ठता मानी जाने लगी? विद्वानों के मतानुसार देवताओं का एक युग ऐसे बारह हजार वर्षों का होता है। ऐसे एक हज़ार युगों का ब्रह्मा का एक दिन कहलाता है। ब्रह्मा की रात का भी इतना ही परिमाण है। ब्रह्मा जी दिन के आरम्भ में इस सृष्टि को रचते हैं और उनकी रात्रि होने पर प्रलय-काल उपस्थित होता है। उस समय ब्रह्मा जी ध्यानावस्थित हो योगनिद्रा में शयन करते हैं। जब उनकी आँखें खुलती हैं, तब प्रलय-काल की समाप्ति होती है। जो मनुष्य ब्रह्मा के एक हज़ार युगों के दिन और एक हज़ार युगों की रात्रि को जानते हैं, वे ही रात और दिन के वास्तविक रहस्य के ज्ञाता हैं।

जब रात समाप्त होती है, तब ब्रह्मा जी जागते हैं और अपना स्वरूप माया से विकारयुक्त बनाते हैं। वे सब से प्रथम महतत्त्व की उत्पत्ति करते हैं। उसमें पञ्चभूतात्मक व्यक्त रूप वाला मन उत्पन्न होता है। ब्रह्मा की जाग्रति सृष्टि रूप और उनकी निद्रा प्रलयरूपिणी है।

दोसौ बत्तीस का अध्याय

जगत की रचना

व्यास जी कहने लगे—तेजोमय महत्तत्व रूप ब्रह्म ही जगत् का बीज है। उसीसे इस सारे जगत की उत्पत्ति हुई है। अन्य द्रव्य से शून्य एक मात्र एक ही भूत से यह सारा चराचरात्मक भूत समुदाय पैदा होता है। ब्रह्मा जी दिन के प्रातःकाल में जाग कर, माया द्वारा जगत की रचना करते हैं। उसमें सब से प्रथम रचना महत्तत्व की की जाती है। वही महतत्व आकाशादि पञ्चमहाभूतात्मक मन को रचता है। फिर वह मन प्रकाशमान चिदात्मा के ऊपर माया का आवरण डाल कर; सात पदार्थों की रचना करता है। वह मन आत्मा से बहुत दूर जाने वाला होता है। जगत् की रचना करने की इच्छा से जब वह मन प्रेरणायुक्त किया जाता है, तब वह सृष्टि के रूप में विविध प्रकार के आकार धारण करता है। उसी मन में आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश का गुण शब्द है। आकाश में विकार होने पर उससे सर्वगन्धवहा बलवान पवन उत्पन्न होता है। पवन का गुण स्पर्श माना गया है। जब वायु में विकार उत्पन्न होता है; तब उसमें देदीप्यमान तेज की उत्पत्ति होती है। वह तेज कान्तिमय शुक्र रूप को धारण करता है। उसका गुण रूप है। तेज में विकार उत्पन्न होने पर, उससे रस रूपी जल की उत्पत्ति होती है। यही उत्पत्ति सब की उत्पत्ति का आदि-स्थान मानी गयी है। ये पञ्चमहाभूत जिस जिस भूत से प्रथम उत्पन्न हुए हैं उस उस भूत के वे गुण क्रमशः ग्रहण करते हैं। इनमें केवल अपना ही गुण नहीं होता। किन्तु आगे आगे के प्रत्येक में पूर्व पूर्व के भूतों के गुण विद्यमान रहते हैं।

कितने ही पुरुष जल से गन्ध को ग्रहण कर, अज्ञानतावश कहते हैं कि, यह जल का गन्ध है; किन्तु वास्तव में गन्ध गुण गो वा पृथिवी का है। उसका जल में और वायु में जान पड़ना, पृथिवी के सम्बन्ध से होता

हैं। ये महाशक्तिमान और व्यापक सात पदार्थ एकत्र न होने के कारण प्रजा की रचना न कर सके। किन्तु पीछे वे सब मिले और शरीर का आश्रय ग्रहण किया। तब वे अवयवी कहलाये। पञ्चमहाभूत, मन और दस इन्द्रियाँ इन षोडश पदार्थों से यह मूर्तिमान देह की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार निर्मित शरीर में अपने अपने कर्मों के साथ पञ्चमहाभूतों का प्रवेश होता है। तदनन्तर प्राणी मात्र के आदिकर्त्ता परमात्मा अपनी उपाधि रूपिणी माया से स्वयं विमुक्त हो कर, प्रत्येक वस्तु को देखने के लिये सूक्ष्म शरीर में घुसते हैं। वे सब प्राणियों की रचना करते हैं। इसी लिये वे प्रजापति कहलाते हैं। ब्रह्मा का रूप धारण कर, वे देवलोक, ऋषिलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक को रचते हैं। वे नदी, समुद्र, महासागर, दिशा, पर्वत, वनस्पति, मनुष्य, किन्नर, राक्षस, पक्षी, पशु, मृग तथा सर्पों को रचते हैं। वे ही इन स्थावर जंगमात्मक समस्त वस्तुओं को रचते हैं और अविनश्वर एवं नश्वर वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं। जिन जीवों ने पूर्वसृष्टि में जैसे कर्म किये हैं इस सृष्टि में उन्हें तदनुरूप ही शरीर मिलता है। पूर्वसृष्टि में जो हिंसालु स्वभाव का था; वह इस सृष्टि में पुनः उसी स्वभाव का होता है। पूर्वसृष्टि में जो कोमल स्वभाव का था, वह इस वार की सृष्टि में पुनः उसी स्वभाव का होता है। क्योंकि पूर्वजन्म की वासना से युक्त जीवों को दूसरे जन्म में भी वैसे ही गुण प्रिय होते हैं। जगत् रूपी इस गोरखधंधे को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा, भिन्न भिन्न आकार वाले प्राणियों को रचते हैं। भूत मात्र में, पदार्थ मात्र का विचार करने वालों में कितने ही फलोत्पत्ति में पुरुषार्थ को श्रेष्ठ मानते हैं और कितने ही पण्डित दैव—प्रारब्ध को श्रेष्ठ समझते हैं। कितने ही कहते हैं कि, पुरुषार्थ और दैवाधीन कर्म फलोत्पत्ति करने वाला है। पुरुषार्थ, दैव और स्वभाव जब अलग अलग रहते हैं; तब कोई फल उत्पन्न नहीं होता। किन्तु जब तीनों एकत्र होते हैं, तब फलोत्पत्ति होती है।

इस प्रसङ्ग में कर्मवादियों का कहना है कि ऐसा ही है, ऐसा नहीं है और दोनों हैं ! किन्तु सत्यस्थों के मतानुसार इस जगत् का कारण ब्रह्म है। प्राणियों की मोक्ष का हेतु तप है और तप का मूल शम तथा दम हैं। पुरुष जो जो कामनाएँ करता है, उसकी वे सब कामनाएँ तपोबल से पूरी होती हैं। जगत्-रचयिता ब्रह्म भी तपोबल से प्राप्त होता है। वही ब्रह्म सब प्राणियों का नियन्ता है। ऋषि तप द्वारा वेद को पढ़ते हैं। सृष्टि के आरम्भ में स्वयम्भू ब्रह्मा ने ज्ञान रूपी आदि-अन्त-रहित, वेद रूपी वाणी को प्रवृत्त किया। ऋषियों के नाम, ब्रह्मा के रचे हुए सब पदार्थों के नाम और समस्त कर्मों के मार्गों का मूल वेद में है। सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने वेद के शब्दों में से समस्त दृश्य पदार्थों के नाम रचे। ऋषियों के तथा यावत् पदार्थों के नाम वेद में हैं।

रात्रि का अन्त होने पर, नवीन सृष्टि के रचना-काल में ब्रह्मा ने वैसे ही रचना की जैसी पूर्वकल्प में की थी। तदनन्तर ब्रह्मा ने ऋग्वेदादि के नाम, गृहस्थाश्रम, तप, वर्णाश्रम धर्म के साधनभूत सन्ध्योपासनादि कर्म, यज्ञ, कीर्ति, *त्रिविध ध्यान, सिद्धि तथा आत्मा के मोक्ष के लिये साधन वेद में बतलाये। जिस गहन ब्रह्म को वेदवेत्ताओं ने वेदों में एक देवरूप से कहा है और उपनिषदों में जिसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है, वह ब्रह्म पूर्व-कथित दस साधनों से जाना जा सकता है।

देहाभिमानी जीव को इस जगत् में अन्य पदार्थ अपने से भिन्न देख पड़ते हैं। किन्तु जिसको आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है, वह पुरुष बरजोरी द्वैतभाव को त्याग देता है। जो पुरुष ब्रह्म में पारङ्गत है अर्थात् जो पुरुष प्रणवोपासक है, वह परब्रह्म को पा जाता है। क्षत्रिय पशु-हिंसा युक्त यज्ञों को करते हैं। वैश्य चावल आदि हविष्यान्न से यज्ञ करते हैं। शूद्र सेवा रूप यज्ञ करते हैं। ब्राह्मण तप रूप यज्ञ करते हैं।

सत्ययुग में यज्ञविधान न था। क्योंकि उस युग में सब विधियाँ

---

*बकालोक, अपरालोक और शुद्धालोक—ये त्रिविध ध्यान हैं।

स्वयंसिद्ध थीं। त्रेतायुग में यज्ञविधि आरम्भ हुई। द्वापर में वे यज्ञ नष्ट होने लगे और कलि में तो सब का नाश ही हो गया। सत्ययुग के लोग अद्वैतनिष्ठ थे। वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद से सिद्ध होने वाली कामेष्टियों को द्वैतरूप देख कर तथा उनके फल को आत्मा से भिन्न एवं नाशवान् समझ कर तपस्या द्वारा योग साधते थे।

त्रेतायुग में बड़े बड़े प्रतापी ऋषि उत्पन्न हुए। चराचरात्मक जगत को बरजोरी नियम पालन के लिये उन्होंने बाध्य किया।

इस प्रकार त्रेतायुग में वेद और यज्ञ की मर्यादा थी और वर्णों तथा आश्रमों का पूर्ण प्रचार था। किन्तु द्वापरयुग में लोग अल्पायु होने के कारण धर्मच्युत होने लगे। कलियुग में तो सम्पूर्ण वेदों का ज्ञाता कोई देखने में आता ही नहीं। अधर्म की बढ़ती होने से वेद और वेदोक्त यज्ञ लुप्तप्राय हो गये।

सत्ययुग में चारों चरणों से धर्म रहता है और उस समय के जितेन्द्रिय, तपस्वी वेदान्त शास्त्रवेत्ता ब्राह्मणों में चतुष्पाद पूर्ण धर्म पाया जाता है। ये ब्राह्मण ही सत्ययुग रूप हैं। अन्य युगों में धर्मज्ञ पुरुष यज्ञ यज्ञादि से काम करते हैं। जैसे वर्षा-काल में चर अचर अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं और खूब बढ़ते हैं वैसे ही प्रत्येक युग में धर्म और अधर्म बढ़ते घटते रहते हैं। जैसे एक ऋतु के दुबारा आने पर उसके लक्षण पूर्ववत् दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वैसे ही प्रत्येक बार सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा और हर में उत्पत्ति और लय के गुण देख पड़ने लगते हैं। आदि-अन्त-शून्य एवं अनेक रूपधारी काल का यही वर्णन है। यही काल प्रजा को उत्पन्न करता है और यही प्रजा का नाश करता है। चारों प्रकार के प्राणी अपने आप सुख दुःख भोगते हुए, जीवन व्यतीत करते हैं। उन सब का मुख्याधिष्ठान काल ही है। अतः काल ही समस्त प्राणियों को धारण किये हुए उनका पालन कर रहा है। हे वत्स! सृष्टिकाल, सम्बन्धी तेरे प्रश्नों का यही उत्तर है।

दोसौ तैंतीस का अध्याय

प्रत्याहार का वर्णन

व्यास जी बोले, जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होता है, तब रात होती है। उस समय ब्रह्मा जी अपने शरीर में विद्यमान इस विश्व को अति सूक्ष्म रूप से धारण करते हैं। इसीका नाम प्रलय है। अब मैं इस प्रलय का वर्णन तुम्हें सुनाता हूँ। जब प्रलयकाल उपस्थित होता है, तब आकाशस्थित द्वादश आदित्य और सङ्कर्षण के मुख से निकले हुए अग्नि की सात ज्वालाएँ इस श्मशान जगत् को भस्म करने लगती हैं। भूमण्डल पर जो चराचर जीव होते हैं, वे प्रथम भस्म होते हैं और पृथिवी में मिल जाते हैं। स्थावर और जङ्गम पदार्थों के भस्म हो जाने पर, वृक्षों और तृणों से शून्य हुई भूमि कछुवे की पीठ जैसी देख पड़ने लगती है। तदनन्तर जल पृथिवी के गन्ध-गुण को ग्रहण करता है। जब पृथिवी अपने गन्ध-गुण से रहित हो जाती है, तब वह लय हुई मानी जाती है। फिर जल चारों ओर फैल जाता है और उससे बड़ा गर्जन करती हुईं तरङ्गें उठने लगती हैं। समस्त थल जलमय हो जाता है। वह जल या तो स्थिर रहता है या हलोरता है। जब जल तेज के गुण को ग्रहण करता है, तब गुणरहित जल तेज में लय को प्राप्त हो जाता है। चारों ओर फैले हुए अग्नि की लपटें आकाशस्थित सूर्य से टकराती हैं। उस समय आकाश जलने लगता है। तब वायु बहने लगता है। वह जब तेज के रूप और गुण को हर लेता है, तब तेज शान्त हो जाता है और वह वायु में लय को प्राप्त हो जाता है। अपनी तन्मात्रा अर्थात् शब्द को पा कर, वायु ऊपर नीचे सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। तथा समस्त दिशाओं में तिर्यक् गति से व्याप्त हो जाता है, तब आकाश, वायु के गुण को स्पर्श करता है और वह ध्वनि की तरह आकाश में प्रवेश करता है।

इस प्रकार नाद वाला आकाश रूप रस, स्पर्श, गन्ध एवं आकृति शून्य है और जो समस्त लोकों में इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों में शक्तिमान होता है—केवल वही रह जाता है। आकाश के गुण शब्द का मन में लय होता है। यही मन समस्त व्यक्त पदार्थों का आत्मा-रूप है। यह मन स्वयं अव्यक्त है। किन्तु व्यक्त वस्तुओं को मन में लय कर लेता है। सूक्ष्म मन में व्यक्त वस्तुओं के लय को ब्राह्म-प्रलय कहते हैं। मन के गुण को अपने मन में लय कराने के बाद चन्द्रमा मन को ग्रहण करता है। जब मन शान्त पड़ जाता है, तब उसका चन्द्रमा में प्रवेश होता है तथा वह सब ऐश्वर्यों से युक्त हो जाता है।

यह सङ्कल्प नामक चन्द्रमा चिरकाल से ईश्वर के वश में रहता है। इसका कारण यही है कि सङ्कल्प को बड़ा भारी काम करना होता है कि, वह बुद्धि की सहायता करने वाले मन की वृत्तियों का नाश करता है। जब ऐसा हो जाता है, तब ही उदात्त ज्ञान की दशा प्राप्त होती है। मैं का अनुभव करने वाला काल सर्वानुभव रूप विज्ञान को ग्रास कर जाता है और श्रुति के कथनानुसार काल का ग्रास बल अथवा शक्ति करती है। बल को काल ग्रास करता है। वह काल विद्या के वश में होता है। विद्यायुक्त ईश्वर आकाशस्थित उस नाद को अपने में मिला लेता है। वही अव्यक्त अथवा ब्रह्म है। वही सनातन अथवा सर्वश्रेष्ठ है। इसी ब्रह्म में मूल मात्र लय होते हैं।

परमात्मा रूप योगियों ने उपदेश के पात्र अपने शिष्यों को ब्रह्म-विद्या का जिज्ञासु जान कर, प्रलय की समस्त कथाएँ यथार्थ रीत्या, पूर्वापर के विचार के साथ, सन्देह रहित ही वर्णन की हैं। वही वर्णन मैंने तुझे सुनाया है। इस प्रकार आदिकाल में एक सहस्र युग का दिन और उसके अवसान में एक हज़ार युग की रात्रि होती है। उसीमें स्वयम्भु ब्रह्मा वारंवार सृष्टि का विस्तार और सृष्टि का संहार किया करते हैं।

दोसौ चौंतीस का अध्याय

ब्राह्मण-वर्णा

वेदव्यास जी बोले—हे शुक! अब मैं तुझे ब्राह्मणों के कर्त्तव्य बतलाता हूँ। जातकर्म से ले कर, समावर्त्तन संस्कार तक समस्त संस्कार वेद-वेत्ता आचार्य को करने चाहिये। साथ ही शिष्य को गुरुदक्षिणा देनी चाहिये। यज्ञोपवीत-संस्कार हो चुकने के बाद शिष्य को समस्त वेद पढ़ने चाहिये और गुरु-ऋण से मुक्त हो, वेदोक्त यज्ञ यज्ञादि के विधानों को जानने वाले ब्राह्मण का समावर्त्तन संस्कार होना चाहिये। फिर वह गुरु से आज्ञा माँग क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रमों से किसी एक आश्रम में प्रवेश करे। शरीरपात पर्यन्त शास्त्रोक्त विधि के अनुसार धर्माचरण करता रहे। या तो वह विवाह कर सन्तानोत्पत्ति करता हुआ गृहस्थाश्रम में रहे अथवा ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करे अथवा वन में गुरु के पास रहे या संन्यासी हो जावे, किन्तु अनाश्रमी बन कभी न रहे।

गृहस्थाश्रम सब धर्मों का मूल कहलाता है। क्योंकि गृहास्थाश्रम में मान, माया, मोह आदि के छूट जाने पर, मनुष्य दान्त हो जाता है। फिर वह जो कुछ कर्म करता है, उसमें उसे सिद्धि मिलती है। वेदज्ञ गृहस्थाश्रमी भी सन्तानोत्पत्ति कर, पितृऋण से उऋण हो। इसी प्रकार वेदाध्ययन कर ऋषिऋण से और यज्ञादि कर देवऋण से उऋण हो। इस प्रकार तीनों ऋणों से उऋण तथा कर्मों द्वारा पवित्र हो अन्य आश्रम में प्रवेश करे। दूसरा आश्रम वानप्रस्थाश्रम है। उसे धारण कर अत्यन्त पवित्र एवं विद्या के किसी केन्द्र में निवास करे। वहाँ रह कर वह उत्तम यश और परमात्मा के परम तत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। बड़ी भारी तपस्या करने से, पूर्ण विद्याभ्यास करने से, यज्ञ करने से अथवा

दान देने से ब्राह्मणों की यशोवृद्धि होती है। उसका वह यश तब तक जगत् में बना रहता है, जब तक वह पुण्यवानों के अनन्त लोकों में रहता है। ब्राह्मण तीनों वर्णों के लोगों को वेदाध्ययन करावे और स्वयं भी पढ़े। वह लोगों को यज्ञ करावे और स्वयं भी यज्ञ करे। वह न तो वृथा किसी को दान दे और न वृथा किसी से दान ले। यजमान अथवा शिष्य अथवा कन्या की ओर से यदि विपुल धनराशि प्राप्त हो तो उससे यज्ञ करे अथवा उसे दे डाले। किन्तु स्वयं ही उसका उपभोग न करे. देवता पितृ, ऋषि, गुरु, वृद्धजन, दुखिया, भूखे प्यासे लोगों के लिये यदि कुछ देना पड़े तो गृहस्थ ब्राह्मण को अवश्य देना चाहिये। क्योंकि गृहस्थ ब्राह्मण के लिये प्रतिग्रह के सिवाय सिद्धि प्राप्त का अन्य कोई उपाय है ही नहीं। काम, क्रोधादि आभ्यान्तरिक शत्रुओं से पीड़ित तथा निज शक्त्यानुसार ज्ञानोपार्जन के लिये प्रयत्नरत लोगों को यथाशक्ति धन और राँधा हुआ अन्न दे। पूज्य एवं सत्पात्र ब्राह्मणों को कोई वस्तु अदेय नहीं है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि, सत्पुरुषों को उच्चैःश्रवा घोड़ा तक दिया जा सकता है। कठोर व्रतधारी, सत्यसन्ध नामक राजा, वाँछित मनोरथ को प्राप्त कर और निज प्राणों से ब्राह्मण के प्राण बचा, स्वर्ग को गये। संकृति के पुत्र राजा रन्तिदेव ने महात्मा वसिष्ठ जी को शीतोष्ण जल प्रदान किया था; इससे उसने स्वर्ग में जा बड़ा गौरव प्राप्त किया था। अत्रिनन्दन बुद्धिमान इन्द्रदमन ने पूज्य एवं सत्पुरुषों को विविध प्रकार के धन दे कर अनन्त लोकों को प्राप्त किया था। उशीनरनन्दन राजा शिवि ने ब्राह्मणों के अर्थ अपने अङ्ग और प्रिय पुत्र को अर्पण कर, स्वर्ग प्राप्त किया था। काशीनरेश. प्रतर्दन ने ब्राह्मण को अपने दोनों नेत्र अर्पण कर दिये थे—अतः वह अब भी इस लोक और परलोक में अतुल कीर्ति भोग रहा है। देववृद्ध नामक राजा ने परम समृद्धि वाला सोने का अठकोना एक दिव्य छत्र ब्राह्मण को दान में दिया था—अतः वह अपनी प्रजा के साथ स्वर्गवासी हुआ था।

अग्निवंशीय महातेजस्वी पुत्र सांकृति शिष्यों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दे कर, सर्वोत्तम लोकों में गया था। प्रतापी राजा अम्बरीष ने ग्यारह अब्ज गोदान दिये थे, अतः वह प्रजा सहित स्वर्ग में गया था। सावित्री अपने दो कुण्डल ब्राह्मण को दे कर एवं जनमेजय अपनी देह ब्राह्मण के निमित्त त्याग कर, स्वर्ग में गया था। वृषादर्भ का पुत्र राजा युवनाश्व समस्त रत्न, प्यारी स्त्रियाँ और रमणीय घर दान कर, स्वर्ग में गये। विदेहपुत्र निमि ने अपना देश ब्राह्मण को दान में दे दिया था। परशुराम ने सारा भूमण्डल ब्राह्मणों को दान में दे डाला था और राजा गय ने नगरों समेत पृथिवी दान में दी थी।

एक बार जब वर्षा नहीं हुई और अकाल पड़ा, तब वसिष्ठ जी ने उसी प्रकार प्राणियों को जीवित रखा था, जिस प्रकार प्रजापति प्रजाओं को जीवित रखते हैं। करन्धम का पुत्र कृतात्मा मरुत्त, अङ्गिरा को अपनी पुत्री दे कर, तुरन्त स्वर्ग में चला गया था। महाबुद्धिमान् पाञ्चालराज ब्रह्मदत्त ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों को निधि और शङ्ख नामक दो अमूल्य रत्न प्रदान कर स्वर्ग प्राप्त किया था। राजा मित्रसह ने महात्मा वसिष्ठ जी को अपनी रानी मदयन्ती को दे, रानी सहित स्वर्ग प्राप्त किया था। बड़े यशस्वी राजर्षि सहस्रजित ब्राह्मणों के लिये अपने प्यारे प्राणों को त्याग कर, सर्वोत्तम लोकों में गये थे। राजा शतद्युम्न ने समस्त आवश्यक उपस्करों से परिपूर्ण एक सोने का घर ऋषि मुद्गल को भेंट में दिया था। अतः उसे स्वर्गवास प्राप्त हुआ। शाल्व देशाधिपति प्रतापी राजा द्युतिमान् ने ऋचीक को राज्य अर्पण कर स्वर्गलोक पाया था। राजर्षि लोमपाद ने अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृङ्ग को दे अपने सब अभीष्ट पूर्ण किये थे। राजर्षि मदिराश्व सुन्दर कटिवाली कन्या, हिरण्यहस्त नामक ऋषि को दे—देवप्रशंसि लोकों में गये थे। महातेजस्वी राजा प्रसेनजित, बछड़ों सहित एक लक्ष गोदान कर, उत्तम लोकों में गये थे। ये तथा और भी अनेक राजा, दान और तप कर के, स्वर्गवासी हुए थे। जब तक

वह धरा है, तब तक उन राजर्षियों की कीर्ति इस धराधाम पर बनी रहेगी। दान दे, यज्ञ कर और सन्तानोत्पत्ति कर, उन लोगों को स्वर्ग प्राप्त हुआ था।

दोसौ पैंतीस का अध्याय

ब्राह्मण वर्णोचित कर्म

व्यास जी बोले—वेदोक्त त्रयी विद्या, ऋक्, यजु, साम और अथर्वण वेदों के अक्षरों और अङ्गों से विचार कर, ब्राह्मणों को पढ़ना चाहिये। वेदोक्त षट् कर्म भगवान् को प्रसन्न करने वाले हैं। जो ब्राह्मण वेदाध्यन में पटु, आत्मज्ञान में प्रवीण, मानसिक बल सम्पन्न और भाग्यशाली होते हैं, वे ही जगत् की उत्पत्ति और उसके लय को जानते हैं। ब्राह्मण वेदकथित धर्मानुसार वर्त्ताव करे और शिष्ट जनोचित क्रिया करे। वह अपनी जीविका इस प्रकार चलावे कि, किसी भी प्राणी को पीड़ा न हो। वह सत्पुरुषों से ज्ञान सम्पादन करे। इन्द्रियों तथा उनकी वृत्तियों को दमन करे, शिष्ट बने और शास्त्रों में पूर्ण पटुता सम्पादन करे। समस्त कर्म स्वधर्मानुसार करने चाहिये। जब तक संसार में रहे; तब तक उसे समस्त कर्म सतोगुण विशिष्ट करने चाहिये। गृहस्थ ब्राह्मण के लिये छः कर्म करना अत्यावश्यक है। नित्य श्रद्धा के साथ पञ्चमहायज्ञ कर के, भगवान का पूजन करे। धैर्य रखे, असावधान न हो, इन्द्रियों को नियम में रखे, धर्म को समझे, आत्मा के स्वरूप को पहिचाने,। ब्राह्मण हर्ष, मद और क्रोध को त्याग देने पीछे दुःखी नहीं होता। दान, वेदाध्यन, यज्ञ, तप, लज्जा, सरलता और जितेन्द्रियत्व से ब्राह्मण के तेज की वृद्धि होती है, उसका पाप घटता है। अतः ब्राह्मण पापरहित हो, थोड़ा भोजन करे और इन्द्रियों को जीते। ब्राह्मण क्रोध,

काम को जीते और ब्रह्मपद प्राप्त करने की अभिलाषा करे। अग्नि एवं ब्राह्मण का पूजन करे और देवताओं को प्रणाम करे। कभी खोटी बात न बोले, अधर्मयुक्त हिंसा न करे। यह ब्राह्मणों के लिये सनातन कालीन बर्त्ताव है। कर्मों का ज्ञान प्राप्त कर, कर्म करे ऐसा करने से कर्म सिद्ध होता है। पाँच इन्द्रिय रूप जल वाली, घोर दुर्शन, लोभ रूपी तटों से युक्त, क्रोध रूपी कीचड़ से पूर्ण और दुर्विगाह्य नदी को बुद्धिमान् जन, कर्म द्वारा तर जाता है। उसे नित्य विचार करते रहना चाहिये। महामोह में डालने वाला काल, नित्य ही सामने खड़ा रहता है।

विधि निर्मित स्वभाव रूपी अनिवार्य प्रबल प्रवाह में यह समस्त जगत् में बहा हुआ चला जाता है। काल रूपी जल वाली महानदी में वर्ष रूपी भँवर वाले, मास रूपी तरङ्गों वाले, ऋतु रूप वेग वाले, पक्ष रूपिणी लता एवं तृणों वाले, श्रवणसुख रूपी प्रबल प्रवाह वाले, वेद एवं यज्ञ रूपी नौका वाले, प्राणियों में धर्म रूपी द्वीप वाले, अर्थ और काम रूप स्रोतों वाले, सत्य वाक्य और मोक्ष रूपी तटों वाले, परहित कामना रूपी पेड़ों को बहाने वाले, युग रूपी कुण्डों वाले तथा ब्रह्म के कार्य रूप प्रवाह वाले संसारसागर में विधाता निर्मित प्राणी यमसन्दिर की ओर बहे जाते हैं। जो लोग धीर और बुद्धिमान् हैं, वे इस संसार रूपी भयङ्कर महासागर के पार सहज में हो जाते हैं, किन्तु जिनके पास बुद्धि और ज्ञान रूपी नौका नहीं है—वे अज्ञानी पुरुष इस भयङ्कर प्रवाह में पड़ करेंगे क्या? बुद्धिमान् जन तो इस संसारसागर के पार हो भी जाते हैं किन्तु मूर्ख मनुष्य पार नहीं हो सकते। बुद्धिमान् मनुष्य दूर ही से सब जगह दोषों और गुणों को देखा करता है और क्या ग्रहणीय है और क्या त्याज्य है—इसका विचार कर, गुणों को ग्रहण करता हुआ, दोषों को त्याग दिया करता है। कामासक्त, चञ्चलमना, अल्पबुद्धि और मूर्ख मनुष्य संशयग्रस्त होता है। वह काल नदी के पार नहीं हो सकता। क्योंकि जो संशय को लिये हुए बैठा रहता है, वह आगे नहीं बढ़ सकता। जो

ज्ञान रूपी नौका से रहित है, वह दोष रूपी महान भार को कैसे सहन कर सकता है। अतः वह नदी में डूब जाता है। जो काम रूपी नक्र द्वारा पकड़ लिया जाता है, वह ज्ञानी होने पर भी पार होने के लिये ज्ञान रूपी नौका का उपयोग कर सकता। अतः चतुर ज्ञानी पुरुष संसार सागर के पार होने के लिये प्रयत्न करे और पार हो जाय। अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे। कुलीन ब्राह्मण को उचित है कि वह न तो किसी को वेदाध्यन करावे, न किसी को यज्ञ करावे और न किसी से दान ले। अर्थात् इन कर्मों से अपनी जीविका न करे। उसे तो वेदाध्यन स्वयं करना चाहिये। स्वयं यज्ञ करे और दान दे। जिस तरह बने उस तरह संसार-सागर के पार हो। संस्कारित, जितेन्द्रिय, संयमी आत्मा को दमन करने वाले जन को इस संसार-सागर के पार होने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती। गृहस्थ को क्रोध न करना चाहिये। वह ईर्ष्या न करे, नित्य पञ्चयज्ञ करे और देवता पितर तथा अतिथि को भोजन करा चुकने बाद भोजन करे। वह सत्पुरुषों के धर्म का आचरण करे। लोगों को दुखी न करे। अनिन्दित आजीविका प्राप्त करने की इच्छा करे। वेद एवं विज्ञान के तत्व में प्रवीण शिष्ट पुरुषों के आचार को पालन करने वाला चतुर और अपने धर्मानुसार क्रिया करने वाला पुरुष कर्मसाङ्कर्य नहीं करता। क्रियाकुशल पुरुष श्रद्धालु जितेन्द्रिय, बुद्धिमान् ईर्ष्या रहित और धर्माधर्म को विशेष रूप से जानने वाला होता है। वह पुरुष सब दुस्तर स्थानों के पार हो जाता है। जो ब्राह्मण धैर्यवान्, प्रमाद-रहित, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, धर्म का ज्ञाता, आत्मज्ञानी, हर्ष मद और क्रोध से रहित होता है, वह कभी दुःख नहीं पाता। शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण का यह बर्त्ताव पुरातन है। जो ब्राह्मण पूज्य और ज्ञानी हो कर समस्त कर्म करता है, उसको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है। मूर्ख मनुष्य धर्माचरण की इच्छा करने पर भी अधर्माचरण करता है। धर्म के धोखे में अधर्म करने वाले जन इस संसार में बहुत हैं। वे इसी प्रकार

अधर्म करने की कामना रख धर्म करते हैं। धर्म क्या है और अधर्म क्या है उसको न जानने वाला मूर्ख मनुष्य सदा जन्म मरण के बन्धन में जकड़ा रहता है।

दोसौ छत्तीस का अध्याय

ज्ञान और मोक्ष

व्यास ने कहा—हे शुक! जिस मनुष्य को शान्ति रूपी मोक्ष को प्राप्त करना भाता हो, उसे ज्ञानवान् होना चाहिये। क्योंकि ज्ञानरूपी नौका के विना मनुष्य इस भवसागर के पार नहीं पहुँच सकता और बीच ही में डूबता उतराता रहता है। वह धार में बह जाता है; किन्तु पार नहीं पहुँच पाता। अतः विवेकी जन के लिये यह आवश्यक है कि, वह ज्ञान रूपी नौका को पा कर संसार-सागर के पार हो। आत्मा और शरीर के लक्षण को जानने वाला बुद्धिमान् पुरुष, ज्ञान रूपी नौका की सहायता से अज्ञानियों को भी भवसागर के पार कर देते हैं। किन्तु अज्ञानी जन जब स्वयं पार नहीं हो सकते, तब दूसरे को पार वे कर ही कैसे सकते हैं? रागादि दोषों से मुक्त, स्त्री-सङ्ग-विवर्जित मुनि—देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष, आहार, संहार, मन और दर्शन रूपी बारह प्रकार के योगों की साधना करे। श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाला पुरुष अपनी बुद्धि से, वाणी और मन को नियम में रखे। जो मनुष्य शान्ति पाना चाहे, वह ज्ञान से अपने आत्मा को नियमन करे। चाहे कोई ब्राह्मण ऋक आदि वेदों का ज्ञाता हो, अथवा ज्ञाता न हो चाहे वह यज्ञ करता हो, चाहे यज्ञ न करता हो चाहे वह महापापी ही क्यों न हो; चाहे वह वीर हो, चाहे महाभीरु—वह इन योगसाधनों से महा दुर्गम जरामरण

रूपी सागर के पार हो जाता है। जिसने इस प्रकार योगसाधन कर ब्रह्म की प्राप्ति कर ली है, वह वेदोक्त कर्मों में उत्तीर्ण तो हो ही जाता है; किन्तु ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की कामना रखने वाला भी कर्म के पार हो जाता है। यह जीवात्मायुक्त शरीर एक श्रेष्ठ रथ है। इस रथ में सारथि के बैठने का स्थान, यज्ञादि कर्मों का ज्ञान, अनकरने कार्यों से बचने वाली लज्जा उस रथ का रक्षक रूप है। पूर्वोक्त उपाय और अपाय इस रथ के कूबर अर्थात् आधारदण्ड हैं। इस रथ की धुरी है शरीरस्थ अपान वायु। जीव रूपी घोड़ों को बाँधने के लिये बुद्धि और आयु रूपी रस्सियां हैं। चेतना धुरी के आगे का काठ है। सदाचार का आग्रह उस रथ के पहिये की धार है। देखना, छूना, सूघना—ये चार उसके घोड़े हैं। प्रज्ञा उसकी नाभि है। समस्त धर्मशास्त्र चाबुक हैं। शास्त्र-ज्ञान इस रथ का सारथि है। क्षेत्रज्ञ आत्मा उस रथ पर सवार है। श्रद्धा एवं दम उसके आगे दौड़ने वाले साईस और उस रथ की देखभाल रखने वाले हैं। यह रथ पवित्रता रूपी पथ पर चलने वाला है। ध्यान रूपी निर्दिष्ट स्थान पर यह रथ पहुँचेगा। ऐसे दिव्य रथ पर सवार शरीरस्थ जीव; ब्रह्म के निकट पहुँच जाता है। ऐसे रथ पर सवार हो जो पुरुष ब्रह्म की सन्निधि में शीघ्र पहुँचना चाहता हो, उसे शीघ्र पहुँचने के लिये क्या करना चाहिये? अब हम यह बतलाते हैं।

किसी एक वस्तु पर अपना मन लगाना धारणा है। नियम-पालन-निरत, योगी सप्तविध धारणाओं का अभ्यास करे। दूरस्थ अथवा निकटस्थ विषयों के सम्बन्ध में इन सप्त धारणाओं में से अनेक दूसरी धारणाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इन धारणाओं की सहायता से योगी क्रमशः भूमि, आकाश, जल, वायु, तेज अहङ्कार से बुद्धिगम्य ऐश्वर्य को प्राप्त करता है और वह सिद्ध हो जाता है, तब वह क्रमशः अव्यक्त से परे वाले ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। व्रत और विधि के अनुसार योग साधन में संलग्न योगियों के अनुभवों को अब मैं यथाक्रम तुझे सुनाता हूँ। फिर मैं निज शरीर

आत्मदर्शन करने वाले योगी को जो सिद्धियाँ (पृथिवी का जयादि) प्राप्त होती हैं—उनका भी वर्णन करूँगा। गुरोपदिष्ट विधि से स्थूल शरीर का अध्यास त्याग देना चाहिये। तदनन्तर योगी वह संक्षिप्त रूप से निम्नाङ्कित रूपों को देखता हुआ आत्मदर्शन पा जाता है। प्रथम योगी जब ध्यान करता है तब उसे कुहरे की तरह कोई सूक्ष्म वस्तु आकाश में परिपूर्ण देख पड़ती है। जब वह कुहरा शान्त हो जाता है, तब उसे अन्य रूप देख पड़ता है। फिर ध्यानाभ्यासी योगी को निज हृदयाकाश में जल भरा देख पड़ता है। जब वह जल अदृश्य हो जाता है, तब उसे उसी स्थान पर वह्नि अर्थात् तेज देख पड़ता है। जब वह तेज लय हो जाता है, तब पानी पिलाये हुए शस्त्र की तरह प्रकाशमान वायु का रूप जल के बाद देख पड़ता है। तदनन्तर ब्रह्म प्राप्त की इच्छा रखने वाले योगी का आत्मा परम स्वेतता और आकाश की तरह सूक्ष्मता को प्राप्त होता है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न दशाओं को प्राप्त होने के बाद, जो फल प्राप्त होते हैं, वे अब मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सुनो। ऐसे योगी को भूतत्व पर प्रभुता प्राप्त होती है और वह उस ऐश्वर्य से सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। वह अपर प्रजापति के सदृश हो जाता है। उसे कोई क्षोभ नहीं पहुँचा सकता। वह निज शरीर से सब प्रकार के प्राणी उत्पन्न कर सकता है। उसे जब वायुतत्व पर प्रभुता प्राप्त हो जाती है, तब वह अपनी उंगली से, हाथ से, पैर से, पृथिवी को थरथरा देता है। जिस योगी का अधिकार आकाश तत्व पर हो जाता है, वह आकाश तत्व के साथ एकतः प्राप्त कर आकाश में प्रकाशित होता है और जब चाहता है, तब अदृश्य हो जाता है। जो जल तत्व को जीत लेता है, वह यदि चाहे तो समस्त जलाशयों के जल को पी सकता है। अग्नि-तत्व को जीत लेने वाला योगी ऐसा तेजस्वी हो जाता है कि, उसकी ओर कोई ताक नहीं सकता और जब उसके भीतर का अग्नि शान्त

पड़ता है, तब देखा जा सकता है। इस प्रकार जब पञ्चमहाभूत और अहङ्कार को योगी अपने वश में कर लेता है, तब उसमें सर्वव्यापकत्व आ जाता है। वह समस्त पदार्थों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह व्यक्त जीव, उस अव्यक्त परमात्मा में लय को प्राप्त हो जाता है, जिससे जगत् निकलता और व्यक्त रूप से देख पड़ता है।

हे शुक! अब मैं तुझे अव्यक्त का निरूपण करने वाली विद्या का ज्ञान कराता हूँ। किन्तु प्रथम तू सांख्य कथित व्यक्त पदार्थ का वर्णन सुन ले। यद्यपि ज्ञान के पचीस तत्वों का वर्णन योग और सांख्य में समान रूप से पाया जाता है, तथापि उनमें जो विशेषताएं हैं, उन्हें मैं कहता हूँ, सुन। उत्पत्ति-वृद्धि-जीर्ण-मरण-शील पदार्थ व्यक्त कहलाते हैं। जो इनके विपरीत है—वही अव्यक्त है। वेदों में और वेदान्त शास्त्र में दो आत्माएं कहे गये हैं—एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा। इनमें जीवात्मा पूर्वोक्त कथित चार लक्षणों वाला अर्थात् उत्पत्तिशील, वृद्धिशील, जराशील और मरणशील है। अतः वह व्यक्त कहलाता है। उसकी उत्पत्ति अव्यक्त से हुई है। वह चेतन और अचेतन रूप है। यह सत्व और क्षेत्रज्ञ का निरूपण मैंने तुझे बतलाया। वेद के मतानुसार यह इन्द्रियों के विषयों में आसक्त है। सांख्यशास्त्र के मतानुसार, प्राणी को इन्द्रियों के विषयों से दूर रहना चाहिये। ममता, अहङ्कार, द्वन्द्वभाव और संशय से रहित योगी, जो किसी से न तो द्वेष करता, न असत्य बोलता है, उसे चाहे कोई मारे चाहे कोई उसकी निन्दा करे, चाहे उसका कोई बुरा चीते—किन्तु वह उसकी भलाई ही करता है। जो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को दण्ड नहीं देता, जो समस्त प्राणियों को एक दृष्टि से देखता है, वह भी ब्रह्म को प्राप्त करता है। जो किसी भी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं करता और जो मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहता है, जो अपने शरीर के निर्वाह मात्र के लिये परिश्रम करता है, जो किसी की वस्तु की लालसा नहीं रखता, जिसे अप्रिय वस्तु मिलने पर दुःख

नहीं होता, जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर रखा है, जो आवश्यक कर्मों ही को करता है, जो अपने वेशभूषा की परवाह नहीं करता, जो पूर्णकाम हो चुका है, जो समस्त प्राणियों को समान समझ उनके साथ समान भाव रखता है, जो पत्थर या मिट्टी के ढेले और सोने की डेली में अन्तर नहीं समझता, जो प्रिय और अप्रिय वस्तु को समान मानता है, जो धीर होता है, जो अपनी निन्दा और स्तुति को समान समझता है, जिसे किसी कामना की स्पृहा नहीं रह गयी, जो ब्रह्मचर्य को पालता है, जो अपने व्रत और नियम में दृढ़ है, जो किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता—वह योगी सांख्य मतानुसार मुक्ति पाता है। यह सांख्य मतानुसार मोक्ष है। अब योग शास्त्र के मतानुसार जिस प्रकार मोक्ष होती है, उसे सुनो। जो योगी अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों से विरुद्ध हो उनको अतिक्रम कर जाता है और उनके प्रलोभन में नहीं फसता वही मोक्ष पाता है। इस प्रकार मैंने तुमसे सांख्य और योग द्वारा मोक्ष प्राप्ति के उपाय बतलाये। इन दोनों के फल में कुछ भी अन्तर नहीं है।

दोसौ सैंतीस का अध्याय

ज्ञान का स्वरूप

व्यास जी बोले—हे शुक! संसार-सागर में निमग्न पुरुष धैर्य धारण पूर्वक और ज्ञान रूपी नौका का आश्रय ले आत्मा को शान्ति-प्रद एवं मुक्तिदायी ज्ञान का आश्रय ग्रहण करे।

शुकदेव जी ने पूछा—हे व्यास जी! ज्ञान का स्वरूप क्या है? विद्या क्या है? प्रवृत्ति रूप और निवृत्त रूप धर्म क्या है? आप यह मुझे बतलावें। क्योंकि इन बातों को जान लेने पर मनुष्य संसार-सागर के पार हो जाता है।

व्यास जी ने कहा—मूर्ख जन समझ बैठता है कि अधिष्ठान की सत्ता बिना ही स्वभाव ही से अहङ्कारादि उत्पन्न हो भासते हैं। वे ऊहापोह की पटुता रहित मूर्ख शिष्यों को, वैसे ही उपदेश से प्रसन्न करते हैं, किन्तु वे किसी भी तत्व सम्बन्धी सत्य का अनुसन्धान नहीं कर सकते। जिनका यह दृढ़ निश्चय है कि यह संसार स्वभाव ही से उत्पन्न होता है वे क्या मूंज से सींक नहीं निकाल सकते? उन अल्प बुद्धि वाले पुरुषों का जो दोनों पक्षों का आश्रय ले, स्वभाव ही को जगत की उत्पत्ति का कारण मानते हैं, कल्याण कभी हो ही नहीं सकता। मोहमुग्ध मन से उत्पन्न स्वभाव को कारण मानने वाले पुरुषों का नाश हो जाता है। वे जन्म मरण के चक्कर ही में पड़े रहते हैं। अब मैं तुझे परिभाव का, जो प्रकृति की सहायता से उत्पन्न होता है, सत्य स्वरूप बतलाता हूँ। बुद्धिमान् पुरुष यत्न करने पर भी खेती बारी करता है, घरद्वार खरीदता है। बुद्धिमान जन विहारस्थल, बावड़ी, कूप और बगीचे बनवाता है। मन्दिर खड़े कराता है और भिन्न भिन्न औषधियों का प्रयोग करता है। बुद्धि द्वारा सब वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। बुद्धि से मनुष्य का परम श्रेय होता है। यद्यपि समस्त राजा एक से होते हैं, तथापि उनमें जो बुद्धिमान् होते हैं, वे अन्य सब राजाओं पर हुकूमत करते हैं। प्राणी के भीतर रहने वाले *पर और †अपर का ज्ञान प्रज्ञा से होता है। समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों की विद्या ही परम-गति है। ये सब भी प्रज्ञा द्वारा ही जाने जाते हैं। समस्त प्राणी जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज भेद से चार प्रकार के होते हैं। ये भी बुद्धि द्वारा ही जाने जाते हैं। प्राणियों में स्थावरों की अपेक्षा जङ्गम श्रेष्ठ माने गये हैं। क्योंकि निश्चेष्ट प्राणियों से सचेष्ट प्राणी उत्तम हैं। द्विपाद और बहुपाद जंगमों में द्विपाद प्राणी श्रेष्ठ हैं। द्विपाद प्राणियों के भी दो भेद हैं। एक भूचर और दूसरे खेचर। इन दोनों में

---

* पर—चिदात्मा। † अपर—माया।

भूचर श्रेष्ठ हैं। ये प्राणी अन्नभक्षी हैं। इन भूचर प्राणियों के भी दो भेद हैं। एक उत्तम और दूसरे मध्यम। उत्तमों से मध्यम श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वे जाति और धर्म का पालन करते हैं। मध्यमों में भी दो भेद हैं। धर्मज्ञ और धर्म को न जानने वाले। इनमें धर्मज्ञ श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वे कार्य और अकार्य का ज्ञान न रखने के कारण विवेकी हैं। धर्मज्ञ भी दो प्रकार के हैं। एक वेदज्ञ और दूसरे वेद को न जानने वाले इनमें वेदज्ञ श्रेष्ठ हैं। क्योंकि उनमें वेद प्रतिष्ठित है। वेदज्ञ भी दो प्रकार के हैं, एक वेद का प्रवचन करने वाले, दूसरे केवल वेद का पाठ करने वाले। इनमें वेद का प्रवचन करने वाले श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वे सब धर्मज्ञों के ज्ञाता हैं। धर्मपूर्वक, कर्म तथा फल सहित जो वेदों का ज्ञान देते हैं उन प्रवचनकर्त्ता महात्माओं ही से धर्म और वेद प्रकट होते हैं। प्रवचनकर्त्ता भी दो प्रकार के हैं। एक आत्मतत्वज्ञ दूसरे आत्मतत्व को न जानने वाले। इनमें प्रथम श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वे जीवन मरण के रहस्य के ज्ञाता हैं।

धर्म दो प्रकार का है। प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म। जिनको इन दोनों धर्मों का रहस्य मालूम है, वे सर्वज्ञ सर्ववेत्ता, त्यागी, सत्य-सङ्कल्प, भीतर बाहर से पवित्र और सामर्थ्यवान हैं। जिस पुरुष ने ब्रह्मज्ञान में सब कर्मों की समाप्ति कर ली है, जो वेद शास्त्र में कुशल है, और परब्रह्म में लीन होने का जो ठान ठाने बैठा है, उसको देवता ब्राह्मण कहते हैं।

हे तात ! जो ज्ञानी मनुष्य, भीतर बाहिर रहने वाले अधियज्ञ और अधिदैवत रूप परमात्मा को देखता है, उसको देवता और द्विज जानना चाहिये। ऐसे महात्माओं के आधार पर ही यह जगत टिका हुआ है। वे जन्म, मरण तथा सब प्रकार के प्राणियों का अतिक्रम करते हैं और चारों प्रकार के प्राणियों के ईश्वर हैं और स्वयंभू के समान हैं।

दोसौ अड़तीस का अध्याय

कर्म-मीमांसा

व्यास जी ने कहा—हे शुक! ब्राह्मणों का यह सनातन आचार शास्त्रोक्त है। ज्ञानीजन कर्म द्वारा सर्वत्र सिद्धि प्राप्त करता है। असन्दिग्ध कार्य ही सिद्ध होता है। कर्म स्वभाव ही से आवश्यक है अथवा ज्ञान प्राप्ति का साधन होने के कारण वह काम्य ऐच्छिक है? कर्मों के सत्य स्वरूप के विषय में यदि शङ्का कोई उठावे तो कहा जायगा कि, ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्म करना आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो कर्मों को नित्य मानना चाहिये, काम्य नहीं। अब मैं तुझे प्रमाण तथा अनुमान से इस बात को समझाता हूँ; सुन।

कुछ लोगों का मत है कि, कर्म में पुरुषार्थ कारण रूप है। कितने ही कहते हैं कि दैव, ग्रह अथवा काल कारण है। कुछ लोग कहते हैं कि, स्वभाव या स्वरूप की सत्ता ही कारण है। कितने ही कहते हैं कि, दैव और पुरुषार्थ ये दो ही कर्म के कारण हैं। कुछ लोग कहते हैं कि, दैव, पुरुषार्थ एवं स्वभाव—तीनों ही कर्म के कारण हैं। कुछ लोग इन तीन में एक एक ही को कारण रूप मानते हैं। कितने ही तीनों के एकीकारण को कर्म का कारण रूप मानते हैं। कर्मासक्त अनेक जन वस्तुओं के विषय में कहते हैं कि, कर्म है और बहुत से कहते हैं कि, कर्म नहीं है। अनेक जनों का कहना है कि, कर्म है—यह नहीं कहा जा सकता, ऐसा नहीं है। इसके विपरीत मतवाले कहते हैं कि, वह नहीं है, यह न कहा जा सके, ऐसा नहीं है। योगीजन ब्रह्म को सब का कारण रूप जानते हैं। त्रेता, द्वापर, कलियुग में मनुष्यों को मोक्ष के ठीक मार्ग के सम्बन्ध में शङ्का होती है। सत्ययुग के लोग तपस्वी शान्तात्मा और सतोगुणी होते हैं। सत्ययुग के मनुष्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में कुछ भी भेद नहीं मानते थे। राग और द्वेष को

त्याग कर, वे तपश्चर्या करते थे। जो मनुष्य सदा तपश्चर्या किया करता है तथा नियमों को पूर्ण रीत्या पालता है, वह पुरुष तप के प्रभाव से मन में जो जो कामनाएँ करता है उन सब को तप द्वारा प्राप्त कर लेता है। तप द्वारा पुरुष ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है और तब उसमें जगत को उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। तप से वह ब्रह्मा बन, सब प्राणियों का प्रभु हो जाता है।

वेद में ब्रह्म का वर्णन किया गया है, किन्तु गहन ब्रह्म को वेदज्ञ भी नहीं जानते। वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया गया है। किन्तु कर्मयोग द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। क्षत्रिय हिंसा रूपी यज्ञ करते हैं। वैश्य हविर्यज्ञ करते हैं; शूद्र सेवा रूपी यज्ञ करते हैं और ब्राह्मण जपयज्ञ करते हैं। कर्म-परायण रहने से और वेदाध्ययन करने से द्विजत्व प्राप्त होता है। यदि कोई ब्राह्मण विहित यज्ञ को करे या न करे, किन्तु उसे प्राणि मात्र का मित्र होना आवश्यक है। तभी वह ब्राह्मण कहला सकता है।

त्रेता के आरम्भ में वेदाध्ययन, यज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म अच्छी तरह होते थे। द्वापर युग में सम्पूर्ण आयु के नाश के कारण उनका लोप होने लगा। द्वापर और कलियुग में वेदव्यामोह का भय होने लगे। कलियुग के अन्त में उनका दर्शन कभी किसी को हुआ या नहीं हुआ। कलियुग में अधर्म प्रधान युग होने से वर्ण तथा आश्रम धर्म नष्ट हो जाते हैं। गौ का दूध दुर्लभ हो जाता है! भूमि का रस नहीं रहता और औषधियों का स्वाद नष्ट हो जाता है। अधर्म के बढ़ने से वेद लुप्त हो जाते हैं। वेदों के धर्म को मानने वाले ब्राह्मण वेदविद्या को वैसे ही बेचने लगते हैं, जैसे लोग स्थावर जङ्गम पदार्थों को बेचते हैं। वे वेतन ले कर, वेद-विद्या पढ़ाते हैं और स्वयं यज्ञ कर, उसका फल बेच देते हैं। मेघ जल वृष्टि द्वारा जैसे समस्त पदार्थों को पुष्ट करता है, वैसे ही वेद भी वेदाध्यायी को पुष्ट करते हैं।

यथार्थ में काल अनेक रूप धारण करता है। उस काल का न तो आदि है और न अन्त ही। काल प्रजा की उत्पत्ति करता है औा काल ही उसका संहार करता है। काल प्राणि मात्र की उत्पत्ति का वीज है, काल उनका पोपण करता है। काल प्राणियों का नाश करने वाला और नियामक है। जिस काल में सुख दुःख युक्त अनेक प्राणी स्वभावतः रहते हैं, उस काल का स्वरूप मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ। हे वत्स ! जगत्तोत्पत्ति, काल, धारण, वेदकर्ता कार्य और क्रिया सम्बन्धी तेरे प्रश्नों के ये ही उत्तर हैं।

दोसौ उनतालोस का अध्याय

ब्रह्म-प्राप्ति

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! जब परमर्षि वेदव्यास जी ने इस प्रकार अपने पुत्र शुकाचार्य को उपदेश दिया, तब उसे सुन कर, शुकाचार्य उस उपदेश की सराहना करते हुए मोक्षधर्म के विषय में पूछने लगे।

शुकदेव जी ने पूछा—भगवन् ! अब आप मुझे यह बतलावें कि, बुद्धिमान वेद-वेदाङ्ग-वित्, यज्ञशील, कृतिबुद्धि और ईर्ष्यारहित पुरुष प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से अवोधगम्य एवं अलौकिक ब्रह्म को किस रीति से जान सकता है ? आप बतलावें कि ब्रह्म की प्राप्ति किन साधनों से हो सकती है। क्या ब्रह्म तप द्वारा अथवा ब्रह्मचर्य व्रत पालन द्वारा अथवा त्याग द्वारा अथवा बुद्धि द्वारा अथवा सांख्य शास्त्र के मत द्वारा या योग द्वारा जाना जा सकता है ? मनुष्य के लिये वे कौन से उपाय हैं, जिनसे वह मन और इन्द्रियों की एकाग्रता का सम्पादन कर सकता है ?

व्यास जी बोले—जब तक पुरुष समस्त पदार्थों को त्याग कर, विद्याबल और तपोबल सम्पादन नहीं करता, तब तक उसे सिद्धि नहीं मिलती। स्वयम्भू ब्रह्मा जी की प्रथम सृष्टि पञ्चमहाभूत है। वे पञ्च-महाभूत देहाभिमानी जीवों में रहते हैं। अर्थात् मूढ़ जन उन्हींको आत्मा मान बैठता है। पृथिवी से देह उत्पन्न होती, जल से शरीर में चिकनापन आता है, अग्नि तत्व से उभय नेत्र उत्पन्न होते हैं, वायु तत्व से प्राण अपान आदि वायु की उत्पत्ति होती है, आकाशतत्व से नेत्र कर्ण आदि के अवकाश वाले भागों की उत्पत्ति होती है। चरणों के देवता विष्णु हैं। हाथों के देवता इन्द्र हैं, उदर का देवता अग्नि है। वह उदर में भोजन की इच्छा उत्पन्न करता है। कानों में श्रोतेन्द्रिय रहती है। जिह्वा में वाक्इन्द्रिय रहती है और उसकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती जी हैं।

कान, नाक, चक्षु, जिह्वा और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और ये शब्द आदि विषयों को ग्रहण करती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन्द्रियों के ये पाँच विषय, इन्द्रियों से भिन्न समझना चाहिये। सारथि जैसे अश्वों को सदा वश में रखता है, वैसे ही मन इन्द्रियों को वश में रखता है और जैसे वह चाहता है, वैसे ही उन्हें चलाता है। हृदयस्थ भूतात्मा जीव, मन को सदैव अपने अधीन रख, उसे कामों में लगाता रहता है। समस्त इन्द्रियों का राजा मन है। वह नियम (उत्पत्ति) और निसर्ग (लय) करने की सामर्थ्य वाला है। बुद्धि की उपाधि वाला जीव भी उसे कार्य में लगा सकता है और उसे निश्चेष्ट कर सकता है। इन्द्रियाँ, उनके विषय, स्वभाव-जन्य गुण, बुद्धि की वृत्ति, मन, प्राण, अपान, जीव—ये देहधारियों के शरीरों में सदा रहने वाले इन्द्रियों के विषय हैं।

बुद्धि के आवासस्थल इस सचेतन शरीर का वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है। अतः शरीर बुद्धि का आश्रय नहीं है, प्रत्युत शब्द स्वरूप त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति बुद्धि का आश्रय रूप है। चिदात्मा भी बुद्धि का

आश्रय नहीं है। क्योंकि वासना द्वारा ही बुद्धि उत्पन्न की जाती है; किन्तु वासना रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण को उत्पन्न नहीं करती। अतः प्राज्ञ पुरुष पाँच इन्द्रियों, पाँच इन्द्रियों के विषयों और छः स्वभावादि गुणों से—अर्थात् सोलह गुणों से युक्त सत्रहवाँ चिदात्मा है। मन को संयम में रखने वाला ब्राह्मण अपनी बुद्धि से अपने मन के द्वारा चिदात्मा को देखता है। उस महान् आत्मा के दर्शन इन चर्मचक्षुओं से नहीं होते। किन्तु वह सकल इन्द्रियों द्वारा देखा जाता है। साथ ही वह सब से पर—मनोरूपी दीपक के प्रकाश से देख पड़ता है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध शून्य है। वह शरीर रहित है। उसमें इन्द्रियाँ भी नहीं हैं। तो भी वह चिदात्मा शरीर ही में देखा जा सकता है। वह अव्यक्त आत्मा है, परम है और समस्त प्राणियों में रहता है।

जो पुरुष गुरु से ज्ञानोपार्जन कर, उसका दर्शन पा जाता है, उसे मरने के बाद ब्रह्म की प्राप्ति होती है। सत्कुलोद्भव, ज्ञानी पुरुष, ब्राह्मण में; अपने शिष्य में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में समान दृष्टि रखता है। परमात्मा में सारा जगत व्याप्त है। स्थावर जंगमात्मक समस्त वस्तुओं में ब्रह्म व्याप्त है। वेद का शब्द आत्मा के जितने प्रदेश में सीमान्त है, उतना ही आत्मा भी परमात्मा के प्रदेश को रोकता है। जब कोई प्राणधारी समस्त भूतों को आत्मा में और आत्मा को समस्त भूतों में व्याप्त देखता है, तब वह ब्रह्म रूप हो जाता है। ब्रह्म अनेक रूप से वाणी का विषय बन कर रहता है और कोई पुरुष जितने अंश से अपने को ब्रह्म रूप मानता है उतने अंश में वह ब्रह्म रूप हो जाता है। जिस पुरुष को सदा ऐसा ज्ञान बना रहता है, वही मोक्ष पाता है।

समस्त प्राणियों के आत्मा रूप, प्राणी मात्र के हितैषी, मार्ग रहित, ब्रह्म प्राप्ति की कामना रखने वाले जन के रास्ते में देवता भी दिङ्मूढ़ हो जाते हैं; किन्तु मनुष्य उस मार्ग पर चलता है। ब्रह्मज्ञानी कर्मयोग यज्ञादि कर्मों को त्याग देता है। तब देवताओं को उनका भाग नहीं

मिलता। इससे देवता विकल हो जाते हैं। जैसे जल में जलचरों के मार्ग का और आकाश में आकाशचारी प्राणियों के मार्ग का कोई चिन्ह नहीं देख पड़ता, वैसे आत्मतत्व-दर्शी की गति को भी कोई नहीं देख पाता।

काल स्वयं ही समस्त प्राणियों को पकाता (उत्पन्न करता) है और पचाता अर्थात् नष्ट करता है, किन्तु किस काल से काल उत्पन्न होता है यह बात किसी को नहीं मालूम।

जिस परब्रह्म के विषय में मैं कह रहा हूँ, वह न ऊँचा है, न तिरछा है, न टेढ़ा है, न नीचा है, न मध्य में है। वह किसी स्थान विशेष में नहीं है, जहाँ जाने से मिल सके। ये सारे लोक उस मुक्त पुरुष के स्वरूप में निवास कर रहे हैं। कोई भी वस्तु उसके स्वरूप के बाहिर नहीं है। तीर की तरह तेज़ जाने वाला अथवा मन के समान वेग से चलने वाला जन यदि सदा तेज़ी से चला करे, तो भी वह ब्रह्म के परे नहीं जा सकता। वह कारणभूत ब्रह्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और बड़े से भी बड़ा है। उसके हाथ पैर सर्वत्र फैले हुए हैं। उसके नेत्र, मस्तक और मुख सर्वव्यापी हैं। उसके कान सब ओर हैं। वह इस जगत में सर्वत्र व्याप्त है। वह अणोरणीयान् महतो महीयान् समस्त देहधारियों के शरीरों में व्याप्त है। किन्तु देख नहीं पड़ता। क्षर अक्षर—दोनों आत्मा ही के रूप हैं। क्षर स्वरूप सब प्राणियों में रहता है और अक्षर स्वरूप, दिव्य एवं अविनाशी है। यद्यपि वह स्वरूप स्थावर जङ्गमात्मक सारे जगत् का नियन्ता है, चञ्चलता रहित तथा उपाधि दोषों से अपराजित है; तथापि वह नव द्वार वाले पुर में घुस, गति आदि कर्मों को किया करता है। गति सुख दुःख रूपों का पृथकत्व तथा नव पदार्थों के समुदाय के सम्बन्ध से अजन्मा ब्रह्म को, तत्ववेत्ता हंस अर्थात् कर्मकर्त्ता कहा करते हैं। हंस पद से जिस जीव नामक अक्षर का बोध कराया गया है वही कूटस्थ अक्षर है। उस अक्षर को पाने वाला पुरुष जन्म मृत्यु से छूट जाता है।

दोसौ चालीस का अध्याय

योग

व्यास जी बोले—हे वत्स ! तेरे पूछने पर मैंने तुझे सांख्य मतानुसार ज्ञान का स्वरूप बतलाया। अब तेरे पूछे हुए योग सम्बन्धी प्रश्न का मैं उत्तर देता हूँ। सुन हे तात ! बुद्धि, मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को सर्वश्रेष्ठ ज्ञान कहते हैं। शान्त, दान्त, अध्यात्म-तत्व-चिन्तक आत्मा में विश्राम पाने वाले पवित्रकर्मा ज्ञानी पुरुष ही से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वे ही इसका उपदेश दे सकते हैं। ज्ञानी पुरुष जब योगसाधन का अभ्यास करने लगे, तब उसे सर्वप्रथम पाँच दोषों को त्यागना चाहिये। अर्थात् वह काम, क्रोध, मोह, भय और पाँचवे स्वप्न को त्याग दे। अर्थात् शम वा शान्ति से क्रोध को, सङ्कल्पत्याग से काम को बुद्धि से निद्रा को, धृति से शिश्न और उदर को जीते। हाथों और पैरों की रक्षा नेत्रों से करे। फिर मन से नेत्रों और कानों की रक्षा करे। अप्रमाद से भय को त्यागे और बुद्धिमान् जनों की सेवा कर दम्भ को त्याग दे।

इस प्रकार योगसाधन करने वाला पुरुष सावधान हो, नित्य योग के दोषों को जीते, वह अग्नि और ब्राह्मणों का पूजन करे। देवताओं को वह नमस्कार करे। मन को दुखाने वाली और हिंसा से पूर्ण वीरोचित कर्कश वाणी कभी न बोले। ब्रह्म तेजोमय और बीजरूप है। उस बीज से उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ उस बीज का साररूप है। समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई और उस स्थावर जंगमात्मक का ब्रह्म देखने वाला है। ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शारीरिक पवित्रता, आचार की पवित्रता तथा इन्द्रियों का दमन—ये सब तेजवृद्धिकारक और पापनाशक हैं।

समस्त प्राणियों में समभाव रख, सहज में जो कुछ प्राप्त हो उससे

सन्तुष्ट रहने वाला मनुष्य समस्त कामनाएं सिद्ध कर लेता है और वह ब्रह्मज्ञान को भी पाता है। योगी ब्रह्मपद की इच्छा रखने के पूर्व पापों का नाश कर डाले, सतोगुण वृत्ति धारण कर ले, स्वल्पाहार करने का अभ्यास कर ले, इन्द्रियों को जीत ले और काम क्रोध को अपने वश में कर ले। योगी सावधानता पूर्वक मन एवं इन्द्रियों को एकाग्र कर, रात के प्रथम और अन्तिम भाग में ध्यानस्थ रहे और मन को आत्मा में लगावे।

जिस योगी की कोई इन्द्रिय यदि किसी विषय में आसक्त हो जाती है, तो उसकी प्रज्ञा वैसे ही वह जाती है, जैसे भरी हुई मशक में एक छोटा सा छिद्र हो जाने से उसका सारा जल वह जाता है। योगी मन को वैसे ही अपने वश में करे, जैसे मछुवा जाल काटने वाले मत्स्य को पकड़ता है। तदनन्तर वह आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को अपने वश में करे। योगाभ्यासी पुरुष इन इन्द्रियों को निग्रह करे और मन को अपने अधीन कर ले। फिर वह समस्त सङ्कल्पों को त्याग कर, मन को बुद्धि में स्थापित करे। पाँचों इन्द्रियों का ध्येय के साथ अनुसन्धान कर, योगी उन्हें मन में लगावे। जब ये सब मन के अधीन हो जाते हैं, तब सङ्कल्प-जन्य-मलिनता अपने आप छूट जाती है और योगी प्रसन्न हो जाता है। उस समय धूमरहित अग्नि की तरह अथवा चमचमाते सूर्य की तरह अथवा आकाश में कौंधती हुई बिजली के समान, योगी को अपने हृदय में ब्रह्म देख पड़ने लगता है। जो महात्मा ब्राह्मण मन को जीतने वाला होता है, जिसमें धैर्य, बुद्धि और प्राणिमात्र के हित की वासना होती है, वही पुरुष परमात्मा का दर्शन पाता है।

जो योगी ऐसा कठोर व्रत धारण कर और यम नियमादि का पालन कर, छः मास तक एकान्त वास कर, योगाभ्यास करता है, वह अक्षरात्मा की बरोबरी पा जाता है। किन्तु योगसाधन में योगी के

सामने बड़े बड़े विघ्न उपस्थित होते हैं। कभी कभी तो ध्येय वस्तु का लय हो जाता है और कभी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। कभी आवर्त अर्थात एक ही शरीर में भिन्न भिन्न भावों का आविर्भाव हो जाता है। कभी दिव्य गन्धादि का ग्रहण, दूर से शब्द, श्रवण और दूरस्थ रूप दर्शन होता है। योगी को कभी अद्भुत स्पर्शों तथा रसों का अनुभव होता है। उसे कभी जाड़ा और कभी गर्मी लगने लगती हैं। उसमें वायु की तरह आकाश में चलने फिरने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। उसे ऐसा जान पड़ता है, मानों उसे समस्त शास्त्रों का अर्थज्ञान हो गया। उसे कभी कभी कोई अत्यन्त रूपवती स्त्री मिल जाती है।

जब ऐसी सिद्धियाँ योगी को प्राप्त हों, तब उनको विघ्न समझ योगी को उनका त्याग कर देना चाहिये। योगी को अपने आत्मा ही के भीतर समस्त पदार्थों का संहार करना चाहिये। योगाभ्यासी को उचित है कि वह इन्द्रियों को अपने अधीन कर, चुपचाप त्रिकाल पर्वतशिखर पर, चैत्य अर्थात् किसी पुराने मन्दिर में, अथवा वृक्षाग्र के नीचे बैठ कर योगाभ्यास करे। योगी अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर और मन को एकाग्र कर आत्मा का चिन्तवन वैसे ही करे, जैसे धनलोलुप धन की चिन्ता किया करता है। योगाभ्यासी योगाभ्यास के समय मन को उद्विग्न न होने दे। मन को वश में करने के लिये उन सब उपायों से काम ले, जिनसे मन वश में हो सकता है। योगाभ्यास के समय उन उपायों से विरत न हो। पर्वतों की निर्जन गुफाओं में देवमन्दिरों में अथवा किसी शून्यग्रह में योगी मन को एकाग्र कर रहे। योगी मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के संग में न रहे। क्योंकि वस्तु-संग्रह अथवा लोगों का साथ ही योगियों के लिये दुःखदायी होता है। योगी सब की ओर से उपेक्षा रखे। वह स्वल्पाहार करे, लाभ होने पर न तो प्रसन्न हो और न, हानि होने पर खिन्न हो। अपने निन्दक और प्रशंसक को एक दृष्टि से देखे। किसी के शुभाशुभ पर ध्यान न दे और वायु की तरह सङ्ग में असङ्ग वृत्ति रखे।

पूर्वोक्त रीत्या आचरण करने वाला योगी पुरुष मन को स्वस्थ रख, दूसरों के कामों को साधता हुआ, सर्वत्र समदृष्टि रख और छः मास तक नित्य नियम में रह, प्रणव (ओंकार) रूप ब्रह्म का दर्शन पा कर, ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। प्राणियों को दुर्लभ सुवर्ण प्राप्ति के लिये दुःखी देख कर भी सुवर्ण की डेली को मिट्टी की डेली जैसा समझे। विरक्त पुरुष को धनसंग्रह के कर्मों से अपना मन हटा लेना चाहिये। धन के लोभ में उसे न फंसना चहिये। धनोपार्जन की कामना रखने वाला पुरुष चाहे उच्च वर्ण का हो चाहे नीच वर्ण का हो या धर्मात्मा कोई स्त्री हो, यदि वे योगाभ्यासी हैं, तो उन्हें परमगति मिलती है। अजन्मा, अजर, सनातन, निश्चल, इन्द्रिय-रहित, प्रत्यक्ष, अणु से भी छोटे हैं और बड़े से बड़े परमात्मा को वही पुरुष देखता है, जो सकल सङ्गों से मुक्त है और जिसने अपना मन अपने वश में कर लिया है।

भीष्म जी बोले—महात्मा महर्षि गुरु के बतलाये और शास्त्रप्रसिद्ध वचनों के शब्दार्थ मन लगा कर विचारे। तदनन्तर स्वयं मन द्वारा उसकी परीक्षा ले। तब विवेकी जन शास्त्रकथित प्रसिद्ध ब्रह्मा की तरह हो कर ब्रह्मलोक में जाता है और ब्रह्मलोक में ब्रह्म के समान सुखों को भोगता है। जब ब्रह्मा की मुक्ति होती है, तब उसकी भी मुक्ति होती है।

दोसौ इकतालीस का अध्याय

कर्म करना और न करना

शुकदेव जी ने पूछा—हे पितृदेव! वेद एक जगह कहता है कि, तू समस्त कार्यों को कर, दूसरी जगह कहता है कि, तू कर्म को त्याग दे। अतः आप बतलावें कि, ज्ञान द्वारा कौन सी गति प्राप्त होती है और कर्म

द्वारा कहाँ जाना पड़ता है? मैं यह सुनना चाहता हूँ। आप कृपया मुझे बतलावें। क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी विषय हैं।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! जब शुकदेव जी ने इस प्रकार पूछा तब उनके पिता और पराशर के पुत्र वेदव्यास जी बोले—अच्छा ज्ञान-मार्ग और कर्ममार्ग के सम्बन्ध में मैं तुझे स्पष्ट रीत्या समझाये देता हूँ। इनमें एक क्षर है, दूसरा अक्षर है। इनमें जो क्षर है वह कर्म मय है और जो अक्षर है वह ज्ञानमय है। ज्ञान द्वारा जीव जिस दिशा को जाता है और कर्म द्वारा जीव जिस दिशा को जाता है, उन दोनों में गहन अन्तर है। इसे तू एकाग्र मन कर के सुन।

यदि किसी आस्तिक पुरुष के निकट आ, कोई नास्तिक कहे कि, धर्म नहीं है, तो जितना दुःख उस आस्तिक को होता है, उतना ही दुःख मुझे तेरे इस प्रश्न को सुन कर हो रहा है। वेद में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग बतलाये गये हैं। कर्म अथवा अविद्या जीव को बंधन में डालने वाली है और ज्ञान अर्थात् विद्या मुक्ति देने वाली है। अतः जीवन रूपी पार को देखने वाले योगी धर्म त्याग देते हैं। सोलह विकारों से युक्त जीव मरणानन्तर कर्मवश पुनः शरीर धारण करता है और ब्रह्मज्ञान पा कर मरने पर नित्य-अव्यक्त तथा विकार रहित स्वरूप को पाता है। कर्म बुद्धि वाले लोग कर्म की प्रशंसा करते हैं और सदा आवागमन के चक्कर में पड़े रहते हैं। किन्तु ब्रह्मज्ञानी कुशलता से धर्म के स्वरूप को जानते हैं। वे लोग कर्म की प्रशंसा वैसे ही नहीं करते, जैसे नदी का जल पीने वाला पुरुष कूप अथवा बावड़ी के जल की प्रशंसा नहीं करता। कर्म करने वाले को उसके कर्म का फल सुख दुःख अथवा जन्ममरण प्राप्त होता है; किन्तु ज्ञानी को वह स्थान प्राप्त होता है, जहाँ जीव को शोक करना नहीं पड़ता। उस स्थान में पहुँच न तो मरना पड़ता और न शरीर धारण कर जन्मग्रहण ही करना पड़ता है। वहाँ जाने से अहंभाव भी नहीं व्यापता और वहाँ जाने से जीव का जीव रूप भी नहीं

रह जाता। इस स्थान में उत्तम, अव्यक्त, अचल, कूटस्थ, नित्य, अव्याकृत, बिना कष्ट के प्राप्त होने वाला, अहङ्कारशून्य और भेदरहित ब्रह्म विराजमान है। उस स्थान में न दुःख है और न सुख है। वहाँ सङ्कल्पों का भी अभाव है। वहाँ रहने वाले महात्माओं का सब पर समान भाव रहता है। वे सब के साथ मैत्री रखते हैं और सदा सब के हितसाधन में संलग्न रहते हैं।

हे तात! तू इस प्रकार समझ कि, विद्यासम्पन्न पुरुष अन्य तरह का होता है और कर्म करने वाला पुरुष दूसरी तरह का होता है। विद्यासम्पन्न पुरुष शमन पा कर, वैसे ही रहता है, जैसे चन्द्रमा अमावास्या के दिन सूक्ष्म कला में रहता है। महर्षि याज्ञवल्क्य *ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है। आकाश में टेढ़े डोरे की तरह प्रतिपदा का चन्द्रमा देख पड़ता है। उसे देखने से कर्मासक्त पुरुष की प्रकृति का अनुमान होता है। अर्थात् कर्म-मार्ग-गामी पुरुष प्रतिपदा के चन्द्र की तरह घटता बढ़ता रहता है। कर्मासक्त पुरुष का विकारात्मा एकादश भाव युक्त शरीरवाला तथा सोलह कला से सूक्ष्म रूपवाला हो, जन्म धारण करता है। कमल में जल की बूंद रहती है, किन्तु वह कमल से भिन्न है। इसी प्रकार विराट शरीर में जो देव रहता है वह उस विराट शरीर से भिन्न है। उसका नाम क्षेत्रज्ञ है। यह क्षेत्रज्ञ नित्य है और योग से मन तथा बुद्धि दोनों का अतिक्रमण करने वाला है। तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण—ये बुद्धि के गुण हैं। शरीरस्थ आत्मा का गुण बुद्धि है। आत्मा परमात्मा से आता है। चैतन्य शरीर जीव का गुण रूप कहलाता है। जीव ही सब शरीर में चेष्टा कराता है; जिसने सातों लोक जीत लिये हैं, वह जीव से पर है। जानकार लोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद इस प्रकार बतलाते हैं।

---

* बृहदारण्यक उपनिषद् में।

दोसौ बयालीस का अध्याय

ब्रह्मचर्य-व्रत के नियम

शुकदेव जी बोले—मैंने समझा कि, सृष्टि दो प्रकार की है। इन दोनों में एक क्षर प्रधान पुरुष से आरम्भ होती है और वह चौबीस तत्व रूप सृष्टि ईश्वर से हुई है। दूसरी सृष्टि—विषयों सहित इन्द्रियों की सृष्टि है, जो ऐश्वर्य से उत्पन्न होती है। इन दो में यद्यपि पहली सृष्टि श्रेष्ठ है; तथापि इस जगत में युगानुसार होने वाले सदाचार को मैं पुनः सुनना चाहता हूँ। मैं सत्पुरुषों के आचरणों को पुनः सुनना चाहता हूँ। वेद आज्ञा देता है कि, तू कर्म कर और फिर वहीं पर वेद कहता है कि, तू कर्म का त्याग कर। इन परस्पर विरुद्ध आज्ञाओं के होते हुए क्या समझा जाय? आप विवेचना पूर्वक मुझे इन दोनों वेदाज्ञाओं का अर्थ समझा दें, मैं संसार की धर्माधर्म-रूपिणी रीति को जानना चाहता हूँ। गुरोपदेश से मैं पवित्र हो चुका हूँ। धर्माचरण से बुद्धि को संस्कारित कर, संसार से मुक्त हो, अविकारी परब्रह्म के दर्शन करना चाहता हूँ।

व्यास जी बोले—हे वत्स! आरम्भ में ब्रह्मा ने मनुष्यों के लिये जो वृत्ति निर्दिष्ट की थी, उसके अनुसार तत्कालीन महर्षि बर्त्ताव करते थे। उन महर्षियों ने ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर तीनों लोक जीत लिये थे। बुद्धिपूर्वक विचार कर, जिस काम से अपनी भलाई हो, वही यत्न-पूर्वक करना चाहिये। वन में रह कर कन्द, फल खा कर, कठिन तपस्या करना, तीर्थस्थानों में विचरना, प्राणीमात्र पर दया रखना, वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करना, गृहस्थों के घरों में जब धूम न देख पड़े और मूसल का धमाका न सुन पड़े; तब भिक्षा माँगने का समय हुआ जान, भिक्षा माँगने जाय और जो कुछ मिले, उससे निर्वाह करे। जो इस प्रकार रहता है, उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। तू स्तुति या प्रशंसा की अपेक्षा न कर,

शुभ अथवा अशुभ को न त्याग, जो कुछ मिल जाय उसका भोजन कर और वन में अकेला विचर।

शुकदेव जी ने पूछा—हे व्यास जी! कर्म कर और कर्म न कर, ये दोनों वेदवचन प्राकृत जनों के कथनानुसार प्रमाण-विरुद्ध हैं। यदि ये दोनों सप्रमाण हैं तो ठीक हैं, किन्तु यदि ये परस्पर-विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक हैं तो शास्त्रवचनों को कैसे कोई मान सकता है? दोनों वचन प्रामाणिक कैसे माने जा सकते हैं? मैं यह स्पष्ट रीति से सुनना चाहता हूँ। कर्मों का अविरोधी मोक्ष, ज्ञान से कैसे प्राप्त हो—मैं यह जानना चाहता हूँ।

भीष्म जी ने कहा—इस प्रकार सत्यवती-नन्दन व्यास जी से शुकदेव द्वारा पूछे जाने पर, व्यास जी ने अपार तेज सम्पन्न अपने पुत्र का सत्कार कर, उससे इस तरह कहा।

व्यास जी बोले—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—यदि अपने अपने आश्रमों के धर्मों के अनुसार चलें तो भी वे ज्ञानी की गति पाते हैं। अथवा वे पुरुष शास्त्रोक्त विधि के अनुसार चारों आश्रमों का सेवन करते तथा द्वेष शून्य रहते हैं। तब कहीं परब्रह्म को जानने के वे अधिकारी होते हैं। परब्रह्मपद प्राप्ति के लिये चार आश्रम रूपी चार डंडों की एक नसैनी है, इसी नसैनी पर चढ़ पुरुष ब्रह्मलोक में जाता है। धर्मार्थ कुशल अपने आयु का चतुर्थांश ब्रह्मचर्य में बितावे। उस आश्रम में वह किसी से द्वेष न करे, ब्रह्मचर्य पालन के समय गुरु या गुरुपुत्र के पास रहे। गुरु के घर रहते समय गुरु के सोने के पीछे ब्रह्मचारी स्वयं सोवे और गुरु के जागने के पूर्व जागे। जो कार्य शिष्य के अथवा सेवक के करने के हैं, वे सब गुरु के कहने के पूर्व ही ब्रह्मचारी कर डाले। तदनन्तर गुरु के आगे जा खड़ा हो और दास की तरह रहे। गुरु के समस्त काम करने के पीछे अभ्युदय की इच्छा रखने वाला शिष्य गुरु के निकट जा कर पढ़े और गुरु के चरणों के निकट बैठ कर, भलीभाँति ध्यान दे।

सदैव साधारण रीत्या रहे। किसी की निन्दा न करे। जब गुरु पढ़ाने को बुलावे तब जा कर पढ़े। भीतर बाहिर से पवित्र रहे। प्रत्येक कार्य में चतुरता दिखलावे। उत्तम गुणों को धारण करे। प्रसङ्गानुकूल प्रिय बात कहे; इन्द्रियों को वश में रखे और शान्ति दृष्टि से गुरु को निहारे।

जब तक गुरु भोजन न कर लें; तब तक स्वयं भोजन न करे और जब तक गुरु जलपान न कर लें; तब तक जलपान न करे। गुरु जी जब खड़े हों तो ब्रह्मचारी शिष्य खड़ा हो। जब वे बैठें तब वह भी बैठ जाय। गुरु के सोने के पूर्व ब्रह्मचारी कभी न सोवे। दोनों हाथ उठा गुरु के दहिने चरण को दहिने हाथ से और वाम चरण को वाम हाथ से स्पर्श करे। फिर गुरु को प्रणाम कर कहे, हे भगवन्! मुझे पढ़ाइये। हे भगवन्! मैं अमुक कार्य कर चुका और अमुक कार्य करूँगा। हे गुरो! आप और जो कार्य कहेंगे, वह भी मैं करूँगा। इस प्रकार यथाविधि गुरु से बातें करे और उनकी आज्ञा से सब बातें कहे। सब काम कर चुकने पर, गुरु को इसकी सूचना दे और कोई बात उनसे न छिपावे। ब्रह्मचारी के लिये जिन गन्धों का और रसों का निषेध है; उन रसों और गन्धों का समावर्तन संस्कार तक सेवन न करे। यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी के लिये अन्य और नियम जो विस्तारपूर्वक कहे हैं; वे सब ब्रह्मचारी को पालने चाहिये। ब्रह्मचारी को सदा गुरु के निकट रहना चाहिये। फिर ब्रह्मचर्याश्रम के पीछे समावर्त्तन संस्कार कर के गृहस्थाश्रम में आना चाहिये। इस प्रकार वेद पढ़ने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर, आयु का चतुर्थांश व्यतीत कर फिर ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त कर और गुरुदक्षिणा दे, यथाविधि समावर्त्तन संस्कार करे। आयु के दूसरे चतुर्थांश में गृहस्थ हो, फिर धर्मशास्त्रानुसार सजातीय स्त्री के साथ विवाह कर के, अग्निहोत्री बने और अग्नि की उपासना करता हुआ, गृहस्थाश्रमोचित व्रतों का पालन करे।

दोसौ तैंतालीस का अध्याय

गृहस्थाश्रमोचित कर्म

व्यास जी बोले, हे शुक! आयु का दूसरा चतुर्थांश घर में गृहस्थ बन व्यतीत करना चाहिये। गृहस्थ धर्मशास्त्रानुसार सजातीय स्त्री के साथ विवाह कर, अग्नि लावे और उस अग्नि में नित्य हवन करता हुआ गृहस्थोचित व्रतों का पालन करे। धर्मशास्त्रियों ने गृहस्थ की आजीविका के साधन बतलाये हैं। प्रथम कुसूल-धान्य वृत्ति अर्थात् तीन साल के लिये अन्न का संग्रह कर घर में रखना, दूसरी कुम्भ-धान्य-वृत्ति अर्थात् एक वर्ष के योग्य अनाज का संग्रह और तीसरी अश्वस्तन-वृत्ति अर्थात् केवल एक दिन के योग्य अन्न का संग्रह। चौथी कपोत-वृत्ति अर्थात् *उञ्छ वृत्ति। इन चार आजीविकाओं में क्रमशः एक से दूसरी श्रेष्ठ है। यह धर्मनिष्ठों का मत है। इन चार में से किसी एक वृत्ति द्वारा गृहस्थ ब्राह्मण अपना निर्वाह कर ले। जो प्रथम वर्णित आजीविका से निर्वाह करना चाहे उसे भजन, भोजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह छः कर्म करने चाहिये। दूसरी वृत्ति ग्रहण करने वाले गृहस्थ ब्राह्मण को भजन, अध्ययन और तीन कर्म करने चाहिये। तीसरी वृत्ति अवलम्बन करने वाले को केवल दान और अध्ययन करना चाहिये और चौथी वृत्ति से जीवन-निर्वाह करने वाले गृहस्थ ब्राह्मण को केवल स्वाध्याय कर अपना जीवन विताना चाहिये। गृहस्थ ब्राह्मण के लिये धर्मशास्त्रों में अनेक पुण्यप्रद व्रत बतलाये गये हैं। उनमें से कुछ का वर्णन मैं करता हूँ।

---

*जब खेतिहर अनाज खलिहान से उठा कर ले जाता है, तब कुछ अन्न के दाने खलिहान में पड़े रह जाते हैं। उनको बीन कर उनसे अपना निर्वाह कर लेना उञ्छ-वृत्ति कहलाती है।

गृहस्थ अपने लिये ही भोजन न बनावे और न निष्प्रयोजन पशुहिंसा करे। गृहस्थ प्राणधारियों में बकरे आदि को और अप्राणियों में पीपल आदि को केवल यज्ञार्थ ही यजुर्वेद के मंत्रों को पढ़ता हुआ काटे। वह कभी विधिरहित हिंसा न करे। गृहस्थ को दिन में तथा रात्रि के प्रथम और अन्तिम भाग में न सोना चाहिये। उसे उभय सन्ध्या कालों में भोजन न करना चाहिये। ऋतुकाल के अतिरिक्त अन्य दिनों में स्त्री-सहवास न करे, गृहस्थ घर आये हुए किसी ब्राह्मण को भूखा न रखे, उसका पूजन करे। अपूजित कभी न रखे। अतिथि-सत्कार नित्य करे। हव्य कव्य ग्रहण करने वाले वेदविद्या-स्नातक और व्रतस्नातक, वेद-शास्त्र-पारदर्शी ब्राह्मणों का नित्य पूजन करे। जो पुरुष स्वधर्म से निर्वाह करता है जो जितेन्द्रिय, क्रियावान और तपस्वी है, वह हव्य और कव्य को ग्रहण करने का पात्र माना जाता है, अर्थात् देवता और पितरों के कार्य में वेदशास्त्र सम्पन्न ब्रह्मणों को जिमावे। गृहस्थ को अपने लिये बनाये हुए भोजन में सब का भाग समझना चाहिये। यह शास्त्र की आज्ञा है। अर्थात् नखकेश बढ़ाने वाले दम्भियों का, अपने धर्माचरण का निज मुख से बखान करने वालों का, अकारण अग्निहोत्र त्यागियों का, गुरु से कपट रखने वालों का और चाण्डाल तक समस्त देहधारियों का गृहस्थ के भोजन में भाग रहता है। गृहस्थ एक सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण से ले कर एक अधमाधम चाण्डाल पर्यन्त को उनकी योग्यतानुसार भोजन दे। पाक न बनाने वाले ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि को भी गृहस्थ अन्न दे।

गृहस्थ को उचित है कि वह सदा विघस और अमृत का भोजन करे। यज्ञशेष अन्न की अमृत संज्ञा है और वह हवि सदृश माना जाता है। जो पुरुष माता, पिता, गुरु आदि पोष्यवर्ग को भोजन कराने के पीछे भोजन करता है, वह पुरुष विघसाशी कहलाता है। पोष्यवर्ग के जिमाने पर बचा हुआ अन्न विघस कहलाता है और यज्ञशेष अन्न अमृत।

गृहस्थ अपनी स्त्री ही से सदा सन्तुष्ट रहे और उससे प्रीति रखे। उसे अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखना चाहिये। गृहस्थ को कभी किसी से ईर्ष्या न करनी चाहिये जो ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति वाले, सम्बन्धी, बान्धव, माता, पिता, गोत्र की स्त्रियाँ, भाई, पुत्र, पुत्रवधू, लड़की और नौकरों के साथ झगड़ा न करना चाहिये। जो बटवारे के समय भाइयों से नहीं झगड़ता, वह समस्त पापों से छूट जाता है। जो मनुष्य इन सब को जीत लेता है, उसने मानों निस्सन्देह समस्त लोक जीत लिये। गृहस्थ को आचार्यसेवा करने से ब्रह्मलोक, पितृसेवा से प्रजापति लोक, अतिथि सेवा से इन्द्रलोक, ऋत्विज-सेवा से देवलोक, गोत्रियों की सेवा से अप्सराओं के लोक और जातिसेवा से विश्वे देवताओं का लोक मिलता है। नाते रिश्तेदारों की सेवा करने से दिशाओं की प्राप्ति होती है। बूढ़ों, बालकों, रोगियों और दुर्बलों की सेवा करने से आकाशगमन की शक्ति प्राप्त होती है।

ज्येष्ठ भ्राता पिता के समान है। अपनी स्त्री और पुत्र अपने ही शरीर हैं। दासवर्ग अपने शरीर की छाया हैं। पुत्री बड़ी दया की पात्री मानी जाती है। यदि ये लोग कभी अपना तिरस्कार भी करें, तो बिना खिन्न हुए उसे सह लेना चाहिये। बदले में उनका तिरस्कार न करना चाहिये। गृहस्थ को गृहस्थाश्रमोचित धर्मों में लगे रहना चाहिये। गृहस्थ विद्योपार्जन करे, धर्म में निष्ठा बनाये रखे और दुःख को जीते। धर्मनिष्ठ पुरुष को लोभ में फस काम न करना चाहिये। गृहस्थ के लिये तीन वृत्तियाँ निर्वाह के लिये हैं और पहली से अगली अगली श्रेष्ठतर है। इसी प्रकार चार आश्रमों में एक दूसरे से उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर हैं। अपने अभ्युदय की इच्छा रखने वाले को, इन सब नियमों का पालन करना चाहिये। कुम्भीधान्य, उञ्छशिल तथा कापोती वृत्ति इन तीन प्रकार की आजीविका वाले पुरुष, जिस देश में वास करते हैं—

उस देश की निश्चय ही उन्नति होती है। जो पुरुष आनन्द पूर्वक रह कर प्रथमोक्त वृत्ति से गृहस्थी चलाता है, वह पुरुष अपने से दस पहली और दस पीछे की पीढ़ियों को पवित्र करता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह पुरुष मान्धाता आदि चक्रवर्ती नरेश की गति को प्राप्त होता है अथवा जितेन्द्रिय पुरुषों को मिलने वाली गति प्राप्त करता है। उदारमना गृहस्थों के हितार्थ ही स्वर्गलोक की रचना की गयी है। आरोहक की इच्छानुसार गमन करने वाले विमानों से पूर्ण एवं वेदवर्णित स्वर्गलोक उनको मिलता है। गृहस्थाश्रम में नियमानुसार रहने वाले पुरुष को स्वर्गलोक मिलता है। ब्रह्मा जी ने स्वर्गलोक पाने के लिये गृहस्थाश्रम बनाया है, अतः यथाक्रम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद, पुरुष को मरने पर स्वर्गलोक प्राप्त होता है और स्वर्ग में ऐसे पुरुष का बड़ा सम्मान होता है। गृहस्थाश्रम के बाद परमोदार एवं श्रेष्ठ तीसरा वानप्रस्थ आश्रम है। शरीर सुखा कर, अस्थिचर्मावशिष्ट शरीर धारण कर और वन में रह कर तप द्वारा शरीर त्यागने वाले तपस्वियों के लिये यह आश्रम है। अब मैं तुम्हें इस वानप्रस्थ आश्रम में रहने वालों के कर्त्तव्यों का वर्णन सुनाता हूँ; सुन।

दोसौ चौवालीस का अध्याय

वानप्रस्थाश्रमोचित कर्त्तव्य

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! गृहस्थों की वृत्तियों का वर्णन तुम सुन चुके। अब मैं तुम्हें शुक से व्यास जी द्वारा कहे गये वानप्रस्थों के कर्त्तव्य सुनाता हूँ; सुनो।

जब गृहस्थ पुरुष घर गृहस्थी में रह और गृहस्थाश्रमोचित व्रताचरण करता करता ऊब जाय, तब उसे क्रमशः कापोती वृत्ति का त्याग कर देना चाहिये और वन में जा कर रहना चाहिये।

व्यास जी कहने लगे हे वत्स! तेरा मङ्गल हो। अब तू समस्त लोकों के आत्मा रूप, सोच समझ कर, प्रवृत्त होने वाले, पवित्र देश वासी वानप्रस्थियों के कर्त्तव्यों को सुन। हे शुक! गृहस्थ जब देखे कि उसके सिर के बाल सफेद हो गये, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयीं और पौत्र उत्पन्न हो गया है, तब उसे उचित है कि वह वन में जा कर निवास करे। आयु का तृतीय चतुर्थांश वानप्रस्थाश्रम में व्यतीत करे। इस आश्रम में रह कर यथासमय अग्निहोत्र के अग्नियों का आराधन करे और देवताओं का पूजन करे। उसे इस आश्रम के समस्त कर्त्तव्यों का पालन करते हुए, नियम पूर्वक भोजन करना चाहिये। दिन के छठवें भाग में वानप्रस्थ भोजन करे। बड़ी सावधानी से गृहस्थाश्रम के ही अग्निहोत्रों और समस्त यज्ञाङ्गों को वानप्रस्थाश्रम में रखे। विना जोते हुए खेत में उत्पन्न अन्न—यथा जौ, धान, नीवार, विघसान्न से अपना निर्वाह करे। अतिथि को खिलाने के बाद जो बचे, वह खाय। इस तृतीयाश्रम में भी *पाँच मुख्य यज्ञों में घृताहुति दे। वानप्रस्थाश्रम वालों के लिये, गृहस्थों जैसी चार वृत्तियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं। कितने ही वानप्रस्थ तो नित्य अन्न ला कर आहार करते हैं, कितने ही एक मास तक के लिये अन्न का संग्रह रखते हैं। कितने ही एक वर्ष तक के लिये अनाज इकट्ठा कर के रखते हैं और कुछ लोग बारह वर्ष के लिये अन्न जमा कर लिया करते हैं। अनाज इस लिये एकत्र किया जाता है कि, उससे अतिथि सत्कार और यज्ञ यागादि किये जा सकें।

वर्षा ऋतु में वानप्रस्थ को खुले स्थान में और हेमन्त ऋतु में जल में और ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तापनी चाहिये। वानप्रस्थ खुले स्थान

---

* १ अग्निहोत्र, २ दर्शपौर्णमास, ३ चातुर्मास्य, ४ पशुयज्ञ और ५ सोमयज्ञ—ये पाँच मुख्य यज्ञ हैं।

में उठते, बैठते और सोते हैं। वे अंगूठे के बल खड़े रहते हैं। वे खुले मैदान या रसनों में पड़ा रहना पसंद करते हैं।

कोई कोई वानप्रस्थ कच्चा अन्न दाँतों से चबा कर खा लेते हैं, कितने ही धान्य और फलों को पत्थर से कुचर कर खाते हैं। कितने ही शुक्ल पक्ष में दिन में एक वार जौ के आटा की लपसी पी कर रहते हैं। कितने ही कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक वार लपसी पी कर रहते हैं। अनेक लोग किसी वस्तु के अचानक प्राप्त होने पर उसीसे काम निकाल लेते हैं और कितने ही दृढ़व्रती पुरुष मूलों पर, फलों पर, पुष्पों पर, अपनी योग्यतानुसार निर्वाह कर लिया करते हैं। इस प्रकार वे वैखानसव्रत का पालन करते हैं। ऐसी ही अन्यदीक्षाएं चतुर एवं धर्मनिष्ठजनों ने वान·प्रस्थों के लिये बतलायी हैं।

चतुर्थ आश्रम संन्यासाश्रम है। इसमें उन धर्मों का पालन किया जाता है, जो उपनिषदों में वर्णित हैं। संन्यासी को शान्त, उपरत, तितिक्षु और सावधान हो, अपने आत्मा में आत्मा का दर्शन करना चाहिये। संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य, गृहस्थाश्रम एवं वानप्रस्थाश्रम से भिन्न हैं। इस युग में भी समस्त पदार्थों के सत्य को जानने वाले विद्वान् ज्ञानी ब्राह्मण, संन्यासाश्रम के कर्त्तव्यों का पालन करना जानते हैं। अगस्त्य, सप्तर्षि, मधुच्छन्दस्, अघमर्षण, सांकृति, सुदिवा, तण्डि, यथा-वास, कृतश्रम, अहोवीर्य, काव्य, ताण्ड्य, धीमान मेधातिथि, बलवान कर्ण, निर्वाक, अत्यन्त परिश्रमी शून्यपाल आदि अनेक ऋषि गण आश्रमो-चित कर्त्तव्यों को कर स्वर्ग सिधारे हैं।

हे तात! बहुत से शापानुग्रह समर्थ महर्षियों, यायावर ऋषियों तथा उग्रतपा और धर्मनिपुण अनेक ऋषियों ने तथा असंख्य ब्राह्मणों ने वानप्रस्थ धर्म को स्वीकार किया था। वैखानस, वालखिल्य, सैकत, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि बहुत से उग्रतपा एवं जितेन्द्रिय, तपोबल को प्र-त्यक्ष दिखाने वाले ऋषिगण, इस वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण कर, स्वर्ग पा

चुके हैं। नक्षत्रों और तारों में उनकी गणना नहीं है। वे निडर हो अपने दमकते हुए शरीर से प्रकाशित हो रहे हैं।

जब बुढ़ापे से पुरुष का शरीर जीर्ण हो जाय और रोग शरीर को घेर लें, तब वानप्रस्थाश्रम से निकल आयु का चतुर्थ चतुर्थांश भाग, संन्यासाश्रम अङ्गीकार कर व्यतीत करे। जब संन्यासाश्रम में प्रवेश करे, तब एक एक दिवस व्यापी प्रजापति इष्ट अथवा त्रैधातवी इष्ट कर, अपनी सब सम्पत्ति ब्राह्मणों को दक्षिणा में दे डाले तथा वेदोत्सर्ग करे। वह आत्मयाजी अर्थात् अपना जीवित श्राद्ध करे। आत्मा में प्रीति रखे, स्त्री आदि का त्याग कर, एक आत्मा के साथ ही क्रीड़ा करे। अग्निहोत्र की अग्नियों को आत्मा में धारण करे। संन्यासी को इस प्रकार समस्त परिग्रहों को त्याग देना चाहिये। किन्तु यदि पूर्ण वैराग्य उत्पन्न न हुआ हो तो एक-दिन-व्यापी ब्रह्मयज्ञ, इष्टियाँ; दर्श पौर्णमास आदि यज्ञ करे। जब तक आत्मा के साथ परमात्मा का सम्बन्ध न हो, तब तक ही ये यज्ञ करे। संन्यासी शरीरपात पर्यन्त गार्हपत्याग्नि को अपने हृदय में, अन्वाहार्याग्नि को मन में और आहवनीयाग्नि को मुख में धारण करे रहे और इन तीनों अग्नियों में मानसिक हवन करे तथा बुभुक्षा न लगने पर भी प्राणाग्निहोत्र के विधान से पञ्चवायु को यजुर्वेद के मन्त्रों से पाँच अथवा छः आहुतियां दे। भोज्य पदार्थ की निन्दा कभी न करे। सिर के तथा शरीर के अंगों के मैल को छुड़ा डाले। नाखून कटवा डाले। कर्म कर के पवित्र हुआ पुरुष संन्यासाश्रम में जावे।

जो द्विज समस्त प्राणियों को अभय दान दे कर, संन्यास धारण करता है, उस द्विज को मरने के बाद, तेजोमय लोक मिलते हैं। वह मुक्त हो जाता है। आत्मतत्वदर्शी पुरुष सुशील और निष्पाप होता है। उसे कोई काम करने की इच्छा ही नहीं होती। उसमें मोह या रोष नहीं रहता। वह न किसी का स्नेही, न मित्र और न शत्रु ही होता है। वह सुख दुःख से उदासीन रहता है और निष्काम बन जगत् में विचरता है।

संन्यासी सम नियमों का पालन करे। संन्यासी को अपना वर्ण त्याग कर, शास्त्रोक्त मंत्रोच्चारण पूर्वक शिखा सूत्र विसर्जन करने चाहिये। जो ऐसा करता है, वह इस लोक और परलोक में पराक्रमी होता है और इच्छानुसार जीवन व्यतीत कर, तुरन्त ही मुक्ति पाता है। क्योंकि वह आत्मा के स्वरूप को जानता है और नियमों के बंधनों से मुक्त धर्म में रहता है अर्थात् अन्य आश्रमों के नियमों के झमेले में नहीं पड़ता। जितेन्द्रिय संन्यासी को निश्चय ही मुक्ति मिलती है। वानप्रस्थाश्रम के बाद संन्यासाश्रम है। वह परम श्रेष्ठ और बहु श्रेष्ठ गुण वाला है। वह तीनों आश्रमों से श्रेष्ठ है। इस संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य मैं तुझे बतलाता हूँ; सुन!

दोसौ पैतालीस का अध्याय

संन्यासाश्रमोचित कर्त्तव्य

शुकाचार्य ने पूछा—यज्ञ याग करने वाला और परब्रह्म को जानने की जिज्ञासा रखने वाला वानप्रस्थाश्रमी पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार, आत्मा को परमात्मा के साथ किस प्रकार मिलावे?

व्यास जी ने उत्तर देते हुए कहा—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों में मानसिक एवं शारीरिक पवित्रता सम्पादन कर, आत्मयोग साधन करने के लिये वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिये। फिर परमार्थ चिन्तन जिस प्रकार करना चाहिये उसे तू सुन। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में रह कर जब मान, माया आदि की लालसाएं शिथिल पड़ जायँ, तब सर्वश्रेष्ठ संन्यासाश्रम ले। मैं तुझसे अब संन्यासाश्रम सम्बन्धी धर्मों का निरूपण करता हूँ। उन्हें जान कर तू तदनुसार बर्त्ताव करना। मुक्ति पाने के लिये तुझे किसी की सहायता न ले कर अकेले ही योगाचरण करना

चाहिये। क्योंकि जो पुरुष अकेला विहार कर के आत्मा के स्वरूप का दर्शन करता है, वह सर्वत्र व्यापक होने से किसी को नहीं त्यागता। ऐसा संन्यासी मोक्षसुख से भी भ्रष्ट नहीं होता। संन्यासी होम के अग्नि का स्पर्श न करे। एक ही स्थान पर न रहे और भिक्षा के लिये ही ग्राम में जावे। दूसरे दिन के लिये अन्न की चिन्ता न करे। मुनिव्रत धारण कर हृदयस्थ आत्मा को परमात्मा में स्थिर करे। लघु भोजन करे। जो आहार करे वह नियम पूर्वक करे। एक बार से अधिक भोजन न करे। पानी पीने के लिये नारियल का टुकड़ा रखे, वृक्ष के नीचे आराम करे। गेरुआ वस्त्र धारण करे। किसी को साथ में न रख, एकाकी विचरे। सब प्राणियों की उपेक्षा करे। संन्यासी के ये ही लक्षण हैं। जैसे भयभीत हाथी कूप में गिर पड़ने पर, उससे नहीं निकल सकता, वैसे ही परनिन्दक संन्यासी इस भवकूप से नहीं निकल सकता; किन्तु जो संन्यासी अपनी निन्दा सुन कर भी निन्दक की निन्दा नहीं करता, वही सच्चा संन्यासी हो सकता है। संन्यासी को अनकहनी बातें न कहनी चाहिये, न सुननी चाहिये। वह ऐसी कोई बात न कहे जो किसी ब्राह्मण को बुरी लगें। उसे सदा ऐसे वचन कहने चाहिये, जिनसे ब्राह्मणों का कल्याण हो। अपनी निन्दा सुन संन्यासी को चुपचाप बैठा रहना चाहिये। ऐसा मौनावलम्बन ही इसकी परमोपासना है। जो संन्यासी अकेला ही आत्मबल से पूर्वाकाश में उदीयमान सूर्य की तरह समस्त देश को व्याप्त करे रहता है या अपने आत्मबल से देश को अगणित मनुष्यों और पदार्थों से व्याप्त किये रहता है और किसी का साथ न कर, असङ्ग हो, एकाकी रहता है, उस संन्यासी योगी को देवता ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं। देवता उसीको ब्राह्मण समझते हैं जो अपने समस्त अंगों को सब प्रकार के वस्त्रों से आच्छादित कर लेता है और जो कोई भोजन करा दे उसीसे अपना निर्वाह कर लेता है और सब प्रकार के स्थानों में शयन कर सकता है। जो पुरुष लोगों की संगति से

सर्वसम्पर्क की तरह डरा करता है, देवता उसीको ब्राह्मण समझते हैं। जो पूर्ण तृप्ति को नरक रूप और स्त्रियों को शव रूप त्याज्य समझता है, देवता उसीको ब्राह्मण समझते हैं। जो मान पाने पर हर्षित नहीं होता, अपमान होने पर क्रुद्ध नहीं होता और जो समस्त प्राणियों को अभय देता है, उसीको देवता ब्राह्मण समझते हैं। संन्यासी न तो मृत्यु का और न जन्म ही का अभिनन्दन करे। किन्तु वेतनभोगी सेवक की तरह सदा मृत्यु की प्रतीक्षा किया करे। वह अपने मन को वाणी के दोष से दूषित न करे, सब पापों से दूर रहे और किसी को अपना शत्रु न बनावे। भला ऐसे पुरुष से कोई क्यों डरने लगा। जिससे कोई नहीं डरता और जो किसी से नहीं डरता, ऐसे मोहशून्य पुरुष को कहीं से भी भय नहीं होता। जैसे हाथी के पैर में मनुष्य, घोड़ा और ऊँट आदि के पैर समा जाते हैं, वैसे ही इन्द्रादि समस्त पद भी योगी के हृदय में समाये रहते हैं। इस प्रकार समस्त धर्म और अर्थ अहिंसा धर्म के अन्तर्गत हैं। जो मनुष्य हिंसा नहीं करता वह मोक्ष पाता है। जो पुरुष हिंसा नहीं करता, सब पर समान दृष्टि रखता, सत्य बोलता है, धैर्य धारण करता, जितेन्द्रिय रहता और समस्त प्राणियों का शरण रूप होता है; वह सर्वोत्तम गति को पाता है। ज्ञान से तृप्त, निर्भय और कामना रहित पुरुष को मृत्यु अतिक्रम नहीं कर सकता। वह ही मृत्यु को अतिक्रम करता है। देवता भी उसीको ब्राह्मण जानते हैं। जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में अहंभाव नहीं रखता, जो मुनि जो आकाश की तरह निर्मल है, जो किसी वस्तु में ममत्व नहीं रखता, जो एकान्त विहारी है, शान्त प्रकृति है, जिसका जीवन धर्म के लिये है, जिसका धर्म अपने हरिभक्त शिष्य और उत्तराधिकारियों के लिये होता है—उसीको देवता ब्राह्मण समझते हैं। जो पुरुष अभ्युदय की कामना नहीं रखता और इसी लिये कार्य का आरम्भ नहीं करता, जो पुरुष प्रणाम और स्तुति से मिलने वाले सुख की वासना से शून्य

है तथा समस्त बन्धनों से मुक्त है, उसीको देवता ब्राह्मण मानते हैं। जो प्राणियों के दुःख से दुःखी और भय से त्रस्त हो जाता है, उस श्रद्धालु पुरुष को कोई कर्म नहीं करना चाहिये। क्योंकि समस्त कामों में हिंसा भरी हुई है। योगी प्राणियों को अभयदान दे। क्योंकि अभय-दान सब दानों से बढ़ कर है। जो पुरुष आरम्भ ही से अहिंसा-व्रत-परायण हो जाता है, उसको मुक्ति मिलती है। वह समस्त प्रजा से अभय रहता है। जिस प्रकार वानप्रस्थ प्राणाय स्वाहा आदि मंत्र पढ़ कर खुले हुए मुख में पांच या छः ग्रास होमते हैं, वैसे ही जो पुरुष मुख में आहुति न देख कर मन और इन्द्रियों का आत्मा में हवन करता है, वह मानो वैश्वानर अग्नि में हवन करता है। यह सारा जगत वैश्वानर रूप है। अतः शरीर के जिस अंग में चाहे उसकी उपासना करे। आत्मा का भजन करने वाला नाभि से हृदय तक के स्थानों में रहने वाले चैतन्य में मन और प्राणों को लय करता है। इस प्रकार आत्मा में अग्निहोत्र करने से देवताओं सहित सब लोक और प्राणी तृप्त हो जाते हैं। जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों को धारण करने वाले त्रिगुणात्मक ईश्वर को तथा सकल उपाधि शून्य अति सूक्ष्म परमात्मभाव का ज्ञाता है, मनुष्य तथा देवता उसके पुण्य की प्रशंसा करते हैं। जो सर्व-वेद-वित् यज्ञादि कर्मकाण्ड की विधि, सम्पूर्ण निरुक्त और आत्मशरीरस्थ आत्मा के तत्त्वभाव को जानता है—उस सर्वेश्वर की समस्त देवता भी सेवा करने को लालायित रहते हैं।

जो पृथिवी से असङ्ग है और अनन्त आकाश में परिमाण शून्य है, जो सुवर्ण निर्मित है, जो अण्ड से उत्पन्न हुआ है और उसीमें रहता है, जो बहुबिन्दु से अलंकृत है, जिसके पक्षी की तरह दो पंख हैं, जो चम-चमाती किरणों से प्रकाशित हो रहा है; उसे जो पुरुष अपने हृदय में देखता है उसकी सेवा देवता भी करना चाहते हैं। जो पुरुष कालचक्र

का सदा ध्यान रखता है, जो नित्य भ्रमण करता हुआ भी कभी जीर्ण नहीं होता, वह अजर कहलाता है।

जो सब प्राणियों के जीवन को निगलने वाला है, जिस चक्र की छः ऋतुएं नाभि हैं, द्वादश मास जिस चक्र के आरे हैं, अमावास्या, संक्रान्ति आदि जिसके पर्व हैं, जिसके मुख की ओर यह सारा विश्व नष्ट होने के लिये दौड़ा चला जाता है और वहाँ से पुनः नीचे आता है, उस पुरुष की देवता भी पूजा करते हैं। परमात्मा सुषुप्ति अवस्था रूप है और सुषुप्ति अवस्था विश्व का शरीर रूप है। वह समस्त प्राणियों में व्याप्त है। सुषुप्ति अवस्था में रहने वाला जीव इन्द्रियों को तृप्त करता है। जब वे तृप्त हो जाती हैं तब वे सुषुप्ति को तृप्त करती हैं। तेजोमय तथा नित्य रूप होने से जीव को आदिरहित कहते हैं। उसे भय से शून्य अनन्त लोकों की प्राप्ति होती है। उससे कोई प्राणी नहीं डरता और न उसे किसी प्राणी का भय होता है। वही सच्चा ब्राह्मण है जो स्वयं न तो निन्दापात्र बनता है और न दूसरे की निन्दा करता है। ऐसे पुरुष ही को परमात्मा के दर्शन होते हैं। जो पुरुष मोहरहित होता है जिसके पाप नष्ट हो जाते हैं; वह पुरुष इस लोक और परलोक भोगने को नहीं जाता किन्तु मुक्ति पाता है। ऐसे संन्यासी को रोष अथवा मोह नहीं होता। वह मिट्टी के ढेले और सुवर्ण की डेली को समान समझता है। वह किसी कोष का सञ्चय नहीं करता। उसका न तो कोई शत्रु होता है और न वह मानापमान ही की चिन्ता करता है। वह तो संसार में उदासीन हो विचरा करता है।

दोसौ छियालीस का अध्याय

जीवात्मा और परमात्मा

व्यास जी ने कहा—हे शुक! देह, इन्द्रिय, मन आदि प्रकृति के विकारों के सहारे क्षेत्रज्ञ जीवात्मा रहता है। प्रकृति के विकार को क्षेत्रज्ञ का ज्ञान नहीं होता। जैसे सारथि अच्छे सीखे हुए और दृढ़ शरीर वाले उत्तम घोड़ों से अपने समस्त कार्य सिद्ध करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ भी पाँचो इन्द्रियों तथा छठवे मन से अपने काम सिद्ध करता है। इन्द्रियों से उनके विषय श्रेष्ठ हैं। विषयों से मन श्रेष्ठ है। बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ है। महान् आत्मा से अव्यक्त श्रेष्ठ है। अव्यक्त से अमृत अर्थात् चिदात्मा श्रेष्ठ है। उस चिदात्मा से कोई श्रेष्ठ नहीं है। वह सर्वश्रेष्ठ और वही परमगति है। वह परमात्मा गुप्त रूप से समस्त प्राणियों में रहता है। उपाधि वाले रूपों के कारण स्पष्ट रीति से नहीं मालूम होता है; परन्तु तत्ववेत्ता योगी योग द्वारा सूक्ष्म हुई बुद्धि से उसे देखते हैं। योगी पाँच इन्द्रियों और छठे मन को तथा इन्द्रियों के विषयों को बुद्धि से महतत्त्व रूप अन्तरात्मा में लीन करे और ध्येय, ध्यान और और ध्याता का स्मरण करे। ध्यान द्वारा वाह्य वृत्तियों को रोक कर, मन को उपरत करे। फिर ईश्वरभाव को भी लय कर के शान्त स्वभाव हो कर रहे। जो योगी इस प्रकार रहता है, वह अमृतपद प्राप्त करता है। किन्तु जिस मनुष्य का मन इन्द्रियों के वश में हो जाता है और जिसकी स्मृति चलायमान हो जाती है, उसका आत्मा काम क्रोधादि को अर्पण कर, मर जाता है। अतः सब कामनाओं को नाश कर, चित्त स्थूलबुद्धि को सूक्ष्मबुद्धि में स्थापित कर, इसके प्रभाव से पुरुष काल को भी नष्ट कर सकता है और काल उसका नाश नहीं कर सकता।

योगी पुरुष अपने मन को स्वच्छ कर, इस लोक के शुभ-अशुभ को

त्याग सकता है। अन्तःकरण की प्रसन्नता का लक्षण यह है कि, जिसका अन्तःकरण प्रसन्न हो गया है वह सुषुप्ति अवस्था की तरह सुखानुभव करता है। वह योगी वायु रहित स्थान में दीपशिखा की तरह स्थिर रहता है। लघु भोजन करने वाला और चित्त को शुद्ध रखने वाला जो योगी इस प्रकार पहिली तथा पिछली रात्रि में जीवात्मा को परमात्मा में लय करता है—वह योगी आत्मा में परमात्मा को देखता है। हे वत्स! यह सब उपदेश वेदों का रहस्य रूप है। यह उपदेश कोरे अनुमान अथवा शास्त्रज्ञान से समझ में नहीं आता. किन्तु यह केवल अनुभवगम्य है। समस्त धर्मव्याख्यानों से और सम्पूर्ण सत्याख्यानों से तथा दस सहस्र ऋग्वेद की ऋचाओं से निकाला हुआ अमृतोपम है। दही को मथकर जैसे मक्खन निकाला जाता है और काष्ठ को रगड़ जैसे अग्नि निकाला जाता है, वैसे ही मैंने अपने पुत्र के लिये यह ज्ञानामृत निकाला है। सब विद्वानों को यह ज्ञानामृत पान करना चाहिये।

हे वत्स! इस सार का भी सार निकाल, उसे तू अपने शिष्यों को उपदेश देना। किन्तु अशान्तिमना, अदान्त और अतपवी को यह ज्ञानोपदेश मत देना। वेदज्ञान से शून्य, गुरुसेवा से वञ्चित, ईर्ष्यालु, कुटिल और आज्ञानुसार न चलने वाले के लिये यह ज्ञान नहीं है। जो तर्कशास्त्र से दग्ध हो रहा है, जो चुगलखोर है उसे भी यह ज्ञान नहीं बताना चाहिये। किन्तु जो शास्त्र की प्रशंसा करने वाले हैं, प्रशंस्य आचरण वाले, शान्ति एवं तपस्वी को, प्रिय पुत्र को अथवा आज्ञापालन करने वाले शिष्य को यह धर्मरहस्य बतलाना। यदि रत्नों से पूर्ण समस्त पृथिवी भी कोई दे, तो भी इसका उपदेश अनधिकारी को मत देना। इससे भी अधिक गुप्त, आत्म सम्बन्धी मानवी ज्ञान से अगम्य, जिसे महर्षि ही जानते हैं और जिसका वर्णन उपनिषदों में पाया जाता है यदि उस विषय को भी तू जानना चाहेगा, तो मैं तुझे उपदेश दूँगा। हे वत्स! तुझे कोई सन्देह हो, या जिसे तू सर्वोत्तम समझता है; यदि

उसके विषय में भी तू जिज्ञासा करेगा, तो मैं तुझे बतलाऊँगा। मैं तेरे निकट ही बैठा हूँ। बतला अब तू क्या जानना चाहता है?

दोसौ सैतालीस का अध्याय

अध्यात्म-शास्त्र

शुकदेव जी ने पूछा—भगवन्! अध्यात्म शास्त्र क्या है? उसे किस प्रकार जानना चाहिये। आप इस सम्बन्ध में जो जानते हों, वह आप मुझे बतलावें।

व्यास जी बोले—अध्यात्म शास्त्र का मनुष्य से सम्बन्ध है। उस अध्यात्म शास्त्र के विषय में, मैं अब कहता हूँ; सुन। प्रथम तो अध्यात्म शास्त्र की व्याख्या सुन पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्चमहाभूत हैं। यद्यपि ये पञ्चमहाभूत सब में हैं, तथापि समुद्र तरङ्गवत् ये सब में भिन्न भिन्न रूप से देख पड़ते हैं। निज अङ्गों को सङ्कोचन और प्रसारण करने वाले कछुवे की तरह पञ्चमहाभूत, अगणित आकारों में बसने से जन्म और नाश के फेरफार में पड़ते रहते हैं। यह स्थावर जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत भी पञ्चमहाभूतों का बनाया हुआ है और इसकी उत्पत्ति तथा प्रलय पञ्चमहाभूतों में होती रहती है। इन सब पदार्थों में पञ्चमहाभूत ही भरे हुए हैं। इन पञ्चमहाभूतों के भिन्न भिन्न परिमाण से ये भिन्न भिन्न पदार्थों में बाटे गये हैं।

शुकदेव जी बोले—भिन्न भिन्न पदार्थों में वर्त्तमान पञ्चमहाभूतों की विषमता का ज्ञान कैसे हो? उनमें इन्द्रियाँ और गुण कौन कौन हैं? यह कैसे समझा जाय?

व्यास जी ने कहा—हे शुक! पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ तथा गुण कितने हैं, वे कैसे उत्पन्न हुए हैं, इन सब बातों को तू ध्यान दे कर

सुन। मैं तुझे क्रमानुसार यथार्थ रीत्या सुनाता हूँ। शब्द, श्रोत्र, इन्द्रियाँ एवं शरीर के अन्य छिद्रों की उत्पत्ति आकाशतत्व से है। प्राण, चेष्टा तथा स्पर्श गुण वायु के हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति वायु से हुई है। रूप, नेत्र और जाठराग्नि की उत्पत्ति तेज से है। रसना, रस और स्नेह की उत्पत्ति जल से हुई है। घ्रेय, नासिका एवं शरीर की उत्पत्ति पृथिवी तत्व से है। इन्द्रियों सहित पञ्चमहाभूतों के ये ही विकार अथवा प्रपञ्च हैं।

वायु से स्पर्शगुण, जल से रसगुण, तेज से रूपगुण, आकाश से शब्दगुण और पृथिवी से गन्धगुण उत्पन्न हुआ है। मन, बुद्धि और स्वभाव की उत्पत्ति भी पञ्चमहाभूतों से है। वे शब्दादि गुणों से श्रोत्रादि कार्य रूप को प्राप्त होने से शब्दादि गुणों को अतिक्रम नहीं कर सकते। जैसे कछुआ अपने समस्त अंग सकोड़ लेता है, वैसे ही बुद्धि भी इन्द्रियों को फैला कर, पुनः उसे सकोड़ लेती है। पादतल से मस्तक पर्यन्त समस्त शरीर में जो अहंभाव का अनुभव होता है, वह श्रेष्ठ बुद्धि का कार्य है। शब्दादि पाँच विषयों में बुद्धि विकृत हो रही है। पाँच इन्द्रियाँ, छटवाँ मन भी बुद्धि का ही विकार है। यदि बुद्धि न हो, तो गुण कहाँ से आवें और गुणों के अभाव में इन्द्रियाँ कैसे प्रसिद्ध हों? मनुष्य शरीर में पाँच इन्द्रियाँ हैं, छठवाँ मन है, सातवी बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ है। नेत्र बाह्य वस्तुओं को देखता, मन उनके विषय में तर्कना करता है, बुद्धि उसका निर्णय करती है और इन सब से स्वतंत्र रहने वाला और साक्षी स्वरूप क्षेत्र से कहलाता है। रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण की उत्पत्ति निज निज योनियों से हुई है। ये समान रूप से देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणियों में रहते हैं। अपने अपने कार्यों से ये गुण जाने जाते हैं। जो आत्मा पर कुछ भी प्रीति करता है, जो अत्यन्त शान्त तथा शुद्ध प्रतीत हो, उसे सत्वगुण समझना चाहिये। जिसका मन सन्तप्त और शरीर पीड़ित रहता हो, जो प्रकृति को भड़काने वाला हो, उसे रजोगुण समझना

चाहिये। जो मोहोत्पादक हो कार्या-कार्य के निर्णय में बाधा डालने वाला हो, हर प्रकार से तर्क करने पर भी जो वस्तु का वास्तविक ज्ञान न होने दे और अज्ञान से परिपूर्ण हो, वह तमोगुण है। अकस्मात् अर्थात् किसी कारण से अत्यन्त हर्ष और प्रीति तथा हर्ष यदि उत्पन्न हो तथा आत्मा एवं मन शान्त जान पड़े, तब समझ ले कि, अब सतोगुण का प्राधान्य है। यदि अभिमान आ जाय, झूठ बोलने लगे, लोभ और मोह आ घेरा किसी की बात न सही जाय, तब समझना चाहिये कि रजोगुण का प्राधान्य है। जब सकारण अथवा अकारण मोह, निद्रा प्रमाद निद्रा, तन्द्रा अथवा अज्ञान प्रवृत्त हो, तब जानले कि तमोगुण का प्राधान्य बढ़ रहा है।

दोसौ अड़तालीस का अध्याय

मन, बुद्धि और आत्मा

व्यास जी कहने लगे—मन सङ्कल्प द्वारा बहुत से पदार्थों को उत्पन्न करता है। बुद्धि उन पदार्थों को निश्चय करती है। अन्तःकरण उन पदार्थों की अनुकूलता प्रतिकूलता का निर्णय करता है। इस प्रकार तीन तरह के कर्मों की प्रेरणा होती है। इन्द्रियों से, उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन श्रेष्ठ है और मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से आत्मा श्रेष्ठ है। सामन्यतः बुद्धि ही मनुष्य का आत्मा है, जब बुद्धि अपने आत्मा के विषय में घट पट आदि विविध आकार पैदा करती है तब वह मन कही जाती है। इससे जान पड़ता है कि, प्रत्येक इन्द्रिय, क्रियाशक्ति और विषय के कारण भिन्न भिन्न हैं। इसीसे इन्द्रिय रूप विकार को प्राप्त होना पड़ता है। बुद्धि जब श्रवण करती है तब वह कान रूप हो जाती है। जब वह स्पर्श करती है, तब वह स्पर्शेन्द्रिय रूप हो जाती है। जब

देखती है, तब नेत्रेन्द्रिय रूप हो जाती है और जब वह आस्वादन करती है तब वह रसनेन्द्रिय रूप हो जाती है। जब बुद्धि गन्ध ग्रहण करती है, तब वह घ्राणेन्द्रिय रूप बन जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि बुद्धि भिन्न भिन्न क्रियाओं के कारण भिन्न भिन्न रूप से विकारों को पाती है। बुद्धि के विकारों को ही इन्द्रिय कहते हैं और उनमें अदृश्य रूप से क्षेत्रज्ञ रहता है। पुरुष में रहने वाली बुद्धि सात्विक आदि तीन भावों में रहा करती है। यह किसी समय हर्षित और किसी समय विषादित होती है और किसी समय उसमें न सुख रहता और न दुःख। जिस प्रकार विशाल तरंगों वाला नदीपति महासागर विशालता को अतिक्रम कर जाता है, वैसे ही निरोध के समय सात्विक आदि भाववाली बुद्धि सात्विकादि तीनों भावों को लाँघ जाती है—अथवा बुद्धि का विविधपना शान्त हो जाता है। जब बुद्धि में किसी प्रकार की वासना उत्पन्न होती है, तब वह मन रूप हो जाती है। जो इन्द्रियाँ देखने से भिन्न भिन्न जान पड़ती हैं, वे सब बुद्धि में रहती हैं। अतः योगाभ्यासी को रूप, गन्ध आदि का बोध कराने वाली इन्द्रियों को निश्चय ही अपने वश में कर लेना चाहिये। जब बुद्धि किसी इन्द्रिय को अपने काबू में कर लेती है, तब वह बुद्धि जो इन्द्रिय-भिन्न नहीं है, वस्तु स्वरूप हो कर मन में घुसती है। इसी प्रकार प्रथम मन रूपादि विषयों का सङ्कल्प करता है, फिर बुद्धि से अनुगृहीत इन्द्रिय उसको ग्रहण करती हैं, किन्तु अनुक्रम से विषयों को ग्रहण करती हैं। एक ही समय में नहीं। सत्व, रज और तम की स्थिति मन, बुद्धि और अहङ्कार में रहती है। जैसे रथ के पहिये के आरे पहिये में लगे रहने के कारण, जहाँ जहाँ रथ जाता है, वहाँ ही वहाँ उसके साथ रहते हैं, वैसे ही तीनों गुण भी मन आदि का अनुसरण करते हैं। तब मन, बुद्धि और अहङ्कार, उन पदार्थों के पीछे छाया रूप से फिरते हैं, जिनकी उत्पत्ति के कारण मन, बुद्धि और अहङ्कार हैं।

दैव के भरोसे रह कर, संसार से उदासीन रहने वाले त्यागी जनों

को तथा योगियों को परब्रह्म के स्वरूप को आड़ में करने वाले अज्ञान को नष्ट कर डालना चाहिये। इसके लिये प्रथम मन को दीपक बनाना पड़ता है। योग द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही ज्ञान व्यावहारिक विषयों से निवृत्त हुए जन को अनायास प्राप्त हो जाता है। जो विद्वान् पुरुष इस जगत को बुद्धि की कल्पना मात्र जानता है, वह मोह में नहीं फँसता। न तो वह शोक से पीड़ित होता है और न वह हर्षित ही होता है। वह सदा मत्सरहीन रहता है, जब पवित्र इन्द्रियों वाले धर्मात्मा जन भी इन्द्रियों की सहायता से परमात्मा को नहीं देख सकते, तब मन को वश में न रखने वाले, कामनाओं की दासी इन्द्रियों से कोई आत्मा को कैसे जान सकता है। परन्तु जब वे मन द्वारा इन्द्रियों की वृत्तियों को भली-भाँति वश में कर लेते हैं, तब दीपक के प्रकाश से प्रकाशित हुई वस्तु की आकृति जैसे दृष्टिगोचर होती है अथवा जानने में आती है, वैसे ही उस को आत्मज्ञान भी प्राप्त होता है। आत्मा को ढकने वाले अज्ञान का जब ज्ञान से वैसे ही नाश हो जाता है, जैसे प्रकाश से अन्धकार का और वस्तुओं का वास्तविक रूप प्रकट होने लगता है, तब ही आत्मा का दर्शन होता है।

जिसका आत्मा मुक्त है वह योगी संसार में रहता हुआ भी सत्वादि गुणों में तथा दोषों में वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे जलचर प्राणी जल में। बुद्धिमान पुरुष विषयसेवी होने पर भी विषयासक्त न हो कर, बन्धन में नहीं पड़ता। इसी लिये वह दोषों से अलिप्त रहता है। जो पुरुष अपने कर्मों को यथोचित रीत्या कर के, पीछे विराम पाता है और जिसकी सदा आत्म-तत्व ही में प्रीति रहती है और जो समस्त प्राणियों का आत्मा रूप हो गया है और जो तीनों गुणों से अपने को सङ्गहीन रखता है, उसी पुरुष की इन्द्रियाँ और बुद्धि आत्माकार बन जाती हैं। यद्यपि गुणों को आत्मा का बोध नहीं होता, तथापि आत्मा गुणों को सदा जानता है। क्योंकि गुणों का द्रष्टा और रचयिता आत्मा है। इस

प्रकार सूक्ष्मबुद्धि और चैतन्य में भेद जानना चाहिये। एक गुणों का रचयिता है, दूसरा नहीं। प्रकृति के कारण भिन्न हैं; किन्तु वे रहते सदा एकत्र ही हैं। सत्व, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ वैसे ही एक दूसरे में रहते हैं और एक दूसरे से भिन्न भी हैं, जैसे जल में रहने वाली मछली जल में भी है और उससे भिन्न भी है, अथवा भुनगे गूलरफल में हैं भी और उससे भिन्न भी हैं अथवा सींक मूँज में है भी और उससे भिन्न भी है।

दोसौ उनचास का अध्याय

मन बुद्धि और आत्मा

व्यास जी बोले हे शुक! जो विषय हमको घेरे रहते हैं, वे सब बुद्धि के पैदा किये हुए हैं। उनके साथ आत्मा सम्बन्ध न रखता हुआ उनके ऊपर और उनसे अलग रह कर विद्यमान है। समस्त विषयों की उत्पादिका बुद्धि है। विषयों की उत्पत्ति के अनुसार सत्वादि तीन गुण सदा अदला बदला करते हैं। किन्तु क्षेत्रज्ञ अथवा आत्मा अपनी शक्ति से, उनसे असङ्ग रहता हुआ उन पर आधिपत्य जमाता है। बुद्धि से जो गुण रचे जाते हैं वे सब गुण बुद्धि के स्वभाव का अनुसरण करते हैं। जैसे मकड़ी अपने शरीर से तन्तुओं को उत्पन्न करती है, वैसे ही बुद्धि भी अपने स्वरूप ही से गुणों को रचती है।

कितने ही कहते हैं कि, मनुष्य योगाभ्यास से अथवा तत्वज्ञान होने से, सत्वादि गुणों से मुक्त हो जाता है, परन्तु इससे गुण नष्ट नहीं होते। क्योंकि वह प्रवृत्ति नहीं रखता। किन्तु अनेक जन यह भी कहते हैं कि, ज्ञान द्वारा गुण नष्ट किये जा सकते हैं। अतः दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार उभय पक्षों पर विचार कर के निज बुद्धि-के अनुसार एक पक्ष को संशयशून्य हो स्वीकार कर के पुरुष अपने आत्मा

में लीन हो महान् हो जावे। आत्मा आदि है और अन्तरहित है। यह जान कर प्रत्येक पुरुष को क्रोध एवं हर्ष को त्याग, नित्य मत्सर रहित हो कर, बर्त्ताव करना चाहिये। इस प्रकार बुद्धि की धर्म रूप दृढ़ और विद्या से टूटने वाली हृदय की गाँठ को काटने पर जिसके समस्त संशय नष्ट हो चुके हैं। वह शोक न करे और सदा सुख में मग्न रहे। आत्मा के स्वरूप को न जानने वाले लोग इस संसारसागर में वैसे ही निमग्न हो जाते हैं; जैसे तैरना न जानने वाला नदी में कूद पड़ने पर डूब जाता है। जो पुरुष आत्मा को चित्स्वरूप जानता है और उसे ज्ञान स्वरूप मानता है, वह कभी दुखी नहीं होता। जो पुरुष प्राणियों की उत्पत्ति, नाश तथा जन्म की विषमता एवं विचित्रता को जानता है उसे बड़ा उत्तम सुख प्राप्त होता है।

अपने शुभ कर्मों के कारण ब्राह्मण योनि में उत्पन्न विप्र ही इस ज्ञान को विशेष रूप से जानता है। आत्म-ज्ञान मन और इन्द्रियों का निग्रह कर, मोक्ष देने के लिये पर्याप्त है। आत्म-स्वरूप का ज्ञान होने से पुरुष शुद्ध और पाप रहित हो जाता है। इस ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञानी का और लक्षण क्या हो सकता है? विद्वान्, आत्मा को जान कर और कृतकृत्य हो मुक्ति पाता है। मरण के अनन्तर अज्ञानी जनों को परलोक में जैसा भय लगता है, वैसा ज्ञानियों को नहीं। सनातन गति जो ज्ञानी पुरुष को प्राप्त होती है, उससे बढ़ कर श्रेष्ठ अन्य गति नहीं है। कितने ही लोग, स्त्री आदि भोग्य सामग्री को दोष पूरित देख, उनकी ओर दोष दृष्टि से देखते हैं; तब कितने ही अज्ञानी अपने को भोग न मिलने से और अन्य लोगों को उसे मिलते देख, शोक करते हैं। किन्तु जो विवेक द्वारा, नाशवान और अविनाशी दोनों प्रकार के भोगों को जानते हैं, वे भोग्य पदार्थों के नष्ट होने पर शोक नहीं करते, ऐसे लोग ही कुशल होते हैं। फलाभिलाष न रख कर, जो मनुष्य कर्म करता है; उसको शुभाशुभ अर्थात पाप और पुण्य का कुछ फल नहीं मिलता।

दोसौ पचास का अध्याय

परम धर्म

शुक ने पूछा—हे व्यास जी ! इस संसार में जो कर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ हो, जिससे बढ़ कर अन्य धर्म हो ही नहीं, वह आप मुझे बतलावें।

व्यास जी बोले—जिस धर्म का मूल सब से प्राचीन है, जो ऋषियों का स्थापित किया हुआ है और जो सब से श्रेष्ठ है, उस धर्म का वर्णन मैं तुझे सुनाता हूँ। तू सावधान हो कर सुन। इन्द्रियों के चक्कर में मन पड़ जाया करता है। अतः तू प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों को वश में कर ले। ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों को विषय की ओर जाते समय वैसे ही रोकें; जैसे पिता अपने पुत्र को असन्मार्गगामी होने से रोकता है। मन और इन्द्रियों को असन्मार्ग से हटा कर, उन्हें उचित मार्ग पर लाना तप है। यही सब धर्मों से बड़ा और समस्त धर्मों से श्रेष्ठ है। बुद्धिबल से पाचों इन्द्रियों और मन को वश में कर, अगणित विचारों को उत्पन्न करने वाले व्यावहारिक विषयों की चिन्ता न कर, मनुष्य को आत्मतृप्त बना रहना चाहिये। इस प्रकार इन्द्रियाँ और मन वाह्य एवं आभ्यन्तरिक विषयों से निवृत्त हो कर, जिस समय सब के अधिष्ठान रूप, ब्रह्म में निवास करने लगेंगे, उस समय तुझे अपने भीतर ही सनातन परमात्मा का दर्शन होने लगेगा।

यह आत्मा सब का आत्मा है महान् है और धूम रहित अग्नि की तरह है। नित्य और अनित्य पदार्थों का नित्य विवेचन करने वाले महात्मा ब्राह्मण आत्मा का दर्शन करते हैं। जिस प्रकार बहु शाखाओं वाला वृक्ष, फल फूल से लदा हुआ होने पर यह नहीं जानता कि मुझमें फूल कहाँ और फल कहाँ हैं, उसी प्रकार, आत्मा को भी यह भान नहीं होता कि, मैं कहाँ से आया हूँ और अब मुझे कहाँ जाना है। वह यह नहीं जानता कि इस शरीर में एक और अन्तरात्मा

है, जो सब कुछ देखता है। पुरुष ज्ञान रूपी प्रदीप्त दीपक के प्रकाश से स्वयं ही अन्तः स्थित आत्मा का दर्शन करता है। तू अपने आत्मा को अपने आप देख ले और शरीर से आत्मबुद्धि दूर कर, सर्वज्ञ बन जा। सर्प जैसे केंचुली से छूट स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही पुरुष समस्त पापों से छूट कर, शुद्ध हो जाता है। वह इस लोक में ही परम ज्ञान सम्पादन कर, अन्य शरीर के सम्बन्ध से रहित हो, जीवनमुक्त का सुख पाता है। संसार रूपिणी एक भयङ्कर नदी है। उसकी धाराएं चारों ओर वह रही हैं। वह नदी सम्पूर्ण जगत को अपने प्रवाह में वहाये लिये जा रही है। पाँच इन्द्रिय रूपी मगर (नक्र) उसमें रहते हैं। मन और सङ्कल्प उस नदी के तट हैं। लालसा और मोह रूपी तृणों से वह ढकी हुई है। मैथुनेच्छा एवं क्रोध रूपी सर्प उसमें घूमा करते हैं। उसके कीचड़ से भरे किनारे पर से चढ़ने के लिये सत्य रूपी सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। असत्य रूपी क्षोभ से वह नदी क्षुब्ध हो उठती है और क्रोध रूपी पङ्क उसमें भरा है। इस नदी का उद्गम स्थान अव्यक्त है और वह बड़े वेग से वह रही है। जिनका आत्मा पापमुक्त नहीं हुआ—वे इस नदी के पार नहीं जा सकते। काम रूपी नक्रों से भयङ्कर और लवालव भरी हुई इस संसार रूपिणी नदी को ज्ञान से पार कर, यह नदी भवसागर में गिरती है और जाति तथा जातिधर्म की वासना रूपी पाताल के कारण दुस्तर है। निज कर्म ही इस नदी का उद्गम स्थान है। उसमें वचन रूपी भँवर पड़ रहे हैं। यह नदी दुस्तर होने पर भी ज्ञानी, धैर्यवान और मन को जीतने वाले महात्मा इसको तर जाते हैं। इस नदी के पार होने पर तुझे आत्मज्ञान होगा। तब तू वाहिर भीतर से शुद्ध हो जायगा, तब तू अपने मन को अपने वश में रख सकेगा और सब प्रकार दुःखों से छूट जायगा। तेरी बुद्धि उत्तम होने पर तू ब्रह्मवत् हो जायगा। संसार के प्रत्येक फसाद से निकल आने पर, तेरा आत्मा प्रसन्न हो जायगा। तेरे सब पाप छुट जावेंगे। पर्वत शिखरा-

रूढ़ पुरुष, जैसे नीचे मैदान पर चलने फिरने वाले प्राणी देखता है; वैसे ही तब तू इस संसार को देखेगा। हर्ष विषाद का प्रभाव न पड़ने पर और किसी प्रकार की कुत्सित बुद्धि न रखने से तू समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और नाश को देख सकेगा। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ एवं तत्वज्ञानी उत्तम मुनि और विद्वानों ने इस जीवन रूपी नदी के पार होने के लिये इसे ही श्रेष्ठ धर्म रूपी उपाय बतलाया है।

हे वत्स! यह व्यापक आत्मा सम्बन्धी ज्ञान इन्द्रियों का निग्रह करने वाले, विवेकी पुरुषों ही को बतलाना चाहिये। हे तात! मैंने तुमसे जो आत्मज्ञान कहा—उसकी सत्यता अपने आप अनुभव करने पर ही समझ में आ सकती है। यह सब से बढ़ कर गोपनीय और श्रेष्ठ ज्ञान है। ब्रह्म नाम और रूप रहित है। वह न पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक ही है। वह सुख तथा दुःख से परे है। वह प्राणियों के भूत और भविष्यत् की उत्पत्ति का कारण रूप है। पुरुष हो अथवा स्त्री—जो कोई इस योगधर्म को जान लेता है, वह फिर जन्म ग्रहण नहीं करता। भिन्न भिन्न ऋषियों ने भिन्न भिन्न प्रकार के मत प्रकट किये हैं। मैंने जो मत तेरे प्रश्न के उत्तर में कहा है, वह मोक्षप्रद है। उचित रूप से मैंने तुझे वह मत समझाया है। भिन्न भिन्न मत कभी फलप्रद होते हैं, कभी नहीं होते। पर मेरा मत निश्चय ही मोक्षप्रद है।

हे पुत्र! भक्तिमान्, गुणवान्, जितेन्द्रिय पुत्र के पूंछने पर जैसे मैंने तेरे प्रश्न का उत्तर दिया है, वैसे ही पिता को प्रसन्न हो कर अपने पुत्र को अथवा गुरु को अपने शिष्य को यथार्थ उत्तर देना चाहिये।

दोसौ इक्यावन का अध्याय

परम धर्म स्वरूप वर्णन

व्यास जी ने कहा—मनुष्य को रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी विषयसुख की ओर अनुरागवान् न होना चाहिये। उसे मान, पराक्रम और कीर्ति का प्रलोभन भी न होना चाहिये। तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों का यही आचार है। ब्रह्मचर्य का पालन कर, समस्त वेदों का अध्ययन करने से और गुरुसेवा कर, ऋक, यजुः और साम वेद को जान जाने पर ही ब्राह्मण द्विज नहीं माना जाता। परन्तु जो सब प्राणियों को सम्बन्धियों की समान मानता है, जो समस्त वस्तुओं का ज्ञाता है, वही ब्रह्म को जानता है। वही समस्त वेदों का ज्ञाता है। जो पुरुष आत्मज्ञान से सन्तुष्ट रहने वाला और समस्त कामनाओं से रहित है, वह कभी भी नहीं मरता। ऐसे पुरुष को ब्रह्मवित् समझना चाहिये। जो ब्राह्मण अनेक इष्टियाँ करता है; किन्तु दयालु और कामना रहित न होने से कभी ब्रह्मविद् नहीं होता। जब पुरुष किसी भी प्राणी से भयभीत नहीं होता और न उससे किसी प्राणी का द्वेष ही होता है, तब उसे ब्रह्म प्राप्त होता है। पुरुष जब मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी में पापबुद्धि नहीं रखता, तब वह ब्रह्म को पाता है। इस जगत का एकमात्र बन्धन कामना है। इसे छोड़ और कोई बन्धन नहीं है। जो पुरुष कामना के बन्धन से मुक्त हो जाता है, वह पुरुष ब्रह्मरूप है। जो पुरुष कामना-शून्य है, वह धुमैले मेघों से मुक्त एवं निर्मल चन्द्रमा की तरह पापों से मुक्त हो जाता है। ऐसा पुरुष सावधानी से काल की प्रतीक्षा करता हुआ, जीवन बिताता है। जैसे कुम्हार के चाक पर से घड़ा आदि उतार लेने पर भी, गति में भरा हुआ वह चाक अवधि पर्यन्त घूमा ही करता है, वैसे ही ब्रह्मवित् पुरुष के कर्मों का जब नाश हो जाता है; तब भी वह निष्कर्मा रह कर, इस संसार में जीवन्मुक्त हो घूमा करता है। चारों

ओर से जल आ कर समुद्र में गिरता है, तब भी वह उमड़ता नहीं। इसी प्रकार समस्त कामनाएं भरी रहने पर भी वह पुरुष क्षुब्ध नहीं होता। किन्तु कामना करने वाले पुरुष को शान्ति नहीं मिलती। जिस पुरुष की समस्त कामनाएं लीन हो जाती हैं, उस पुरुष की समस्त अभिलाषाएं सङ्कल्प मात्र ही से पूर्ण हो जाती हैं। किन्तु कामनाओं की कामना करने वाला कामकान्त* नहीं माना जाता। क्योंकि वह देहधारी जीव कामना करने से स्वर्ग प्राप्त अवश्य करता है। किन्तु पुण्य भोग पूरा होने पर, वह पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेता है।

वेद का रहस्य सत्य, सत्य का रहस्य दम, दम का रहस्य दान, दान का रहस्य तप, तप का रहस्य त्याग, त्याग का रहस्य सुख, सुख का रहस्य स्वर्ग, स्वर्ग का रहस्य शम है।

सन्तोष प्राप्ति के लिये बुद्धि की निर्मलता की इच्छा करे। यह उत्तम है और ब्रह्मसूचक है। यह सत्वबुद्धि, शोक तथा तृष्णा से भरे हुए सङ्कल्पों को गला कर, अन्त में उनका सम्पूर्णतः नाश कर डालती है। सन्तोषी ममतारहित, शान्त, प्रसन्नमना और शोक तथा मत्सर रहित छः लक्षणों वाला पुरुष, ज्ञान से अघा कर, मोक्ष पाता है।

जो पुरुष देहाभिमान न रख, शरीरस्थ आत्मा को सत्वगुण की प्रधानता वाले† छः गुणों से जानता है तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ज्ञानगम्य आत्मा को जानता है, वही मोक्ष पाता है।

अध्यात्मज्ञान कृत्रिम नहीं है। अतः वह नष्ट नहीं हो सकता। वह तो स्वाभाविक है। ऐसे पुण्य रूप आत्मज्ञान को जो प्राप्त करता है, उसे अविनश्वर सुख प्राप्त होता है। चंचल मन को रोक कर, आत्मा में स्थिर करना चाहिये। मन को आत्मा में स्थिर करने पर जैसा सुख

---

* कामनाओं से मनोहर।

† सत्य, दम, दान, तप, त्याग और शम।

मिलता है, वैसा सुख एवं सन्तोष अन्यत्र नहीं मिल सकता। जिसके न खाने पर ही तृप्ति होती है, जिससे धनरहित होने पर भी धन मिलता है, जिससे स्नेह—घृतादि खाये बिना ही बल बढ़ता है, उस आत्मज्ञान को जो जानने वाला है, वही सच्चा तत्वज्ञानी है। जो अपनी इन्द्रियों के द्वारों को भली भाँति रोक कर ब्रह्म का ध्यान किया करता है, आत्मा पर प्रीति करने वाला वही ब्राह्मण शिष्ट कहलाता है। उस परमतत्व में मन को लगाने वाले कामना रहित पुरुष के समस्त सुखों की वृद्धि वैसे ही होती है; जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की।

पाँच तन्मात्राएं, महतत्त्व तथा प्रकृति और गुणों को जो मुनि त्याग देता है, वह मनुष्य अपने दुःखों को वैसे ही नष्ट कर डालता है, जैसे सूर्य अन्धकार को। समस्त कर्मत्यागी, गुणैश्वर्य को उल्लङ्घन करने वाला और साँसारिक विषयों से वञ्चित ब्रह्मवेत्ता पुरुष, वृद्धावस्था को और मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। जब पुरुष समस्त सङ्गों से छूट कर, सब प्राणियों में समभाव रखता है, तब शरीर में इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों के रहने पर भी उनको अतिक्रम करता है। जब वह परम कारण रूप परब्रह्म को पा जाता है, तब वह प्रकृति को अतिक्रम कर, इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता।

दोसौ बावन का अध्याय

इन्द्रियों का तथा पञ्चतत्वों का सम्बन्ध

व्यास जी ने कहा—हे शुक! मान तथा अपमान आदि द्वन्द्वों का और धर्म तथा अर्थ का सेवन करने वाला शिष्य यदि मोक्ष पाना चाहे, तो गुणवान आचार्य को उचित है कि, उस अध्यात्म शास्त्र का उपदेश उसे करे, जो मैंने तुझे सुनाया है। आकाश, वायु, अग्नि, जल

और पृथिवी, भाव, अभाव और काल की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों से हुई है। समस्त प्राणियों में यह विद्यमान रहते हैं। आकाश अवकाशात्मक है। श्रोतेन्द्रिय आकाशमय है। शरीर का ज्ञान कराने वाले वेद, शास्त्रज्ञ विद्वान, शब्द को आकाशात्मक भूत से उत्पन्न हुआ आकाश गुण समझे। चरण और अपान वायु मय हैं और स्पर्श वायु का गुण है। ताप, जठराग्नि, प्रकाश, शरीरस्थ उष्णता, नेत्र—ये सब तेजोमय हैं। लाल, सफेद और काले आदि तरह तरह के रंगों वाले पदार्थ उसके रूप हैं। गीलापन,* क्षुद्रता और स्निग्ध (चिकनाहट) ये तीन जल के गुण हैं। शरीर का रुधिर, मज्जा तथा दूसरे सब स्निग्ध पदार्थ जलरूप हैं। रसधर्ममयी जिह्वा इन्द्रिय जल की है और रस जल का गुण है। हड्डियां, दाँत, नाखून, डाढ़ी, रोएँ, मस्तक के केश, कड़ी नाड़ियाँ, स्नायु, और जावड़े—ये सब कड़े पदार्थ पृथिवी के विकार रूप हैं। घ्राणेन्द्रिय जिसको नासिका कहते हैं—पृथिवी जानना चाहिये और गन्ध पृथिवी का गुण है। भूत अपने गन्ध गुण के अतिरिक्त पिछले भूतों के गुणों को भी ग्रहण करते हैं। समस्त प्राणियों में अविद्या, काम तथा कर्म नामक दूसरे भूत भी हैं। मुनि जानते हैं कि पञ्चभूतों में से अनेक तत्वों की उनके परिणाम और गुण सहित उत्पत्ति होती है। इन पञ्चतत्वों के अतिरिक्त भावना, ज्ञान और कर्म के तीन तत्व और भी हैं। नवाँ तत्व मन और दसवीं बुद्धि है। ग्यारहवाँ अनन्तात्मा सर्वस्वरूप तथा सर्वोत्तम है।

सङ्कल्प विकल्प मन के धर्म हैं, किसी विषय का निश्चय करना बुद्धि का स्वरूप है। आत्मा कर्म के साथ संयुक्त हो कर, जीवत्व को पाता है और उसका नाम क्षेत्रज्ञ हो जाता है। जो मनुष्य सब प्राणियों

---

* भीतर घुस कर पार्थिव पदार्थों के अवयवों के संयोग को शिथिल करना रूप सूक्ष्मता।

को कालात्मक पुण्य पापादि संस्कारों से दूषित समझ कर भी स्वरूपतः उनको निर्दोष जानता है, वह मोहोत्पन्न कर्मों में लिप्त नहीं हो सकता।

दोसौ त्रेपन का अध्याय

आत्मा का दर्शन तत्वज्ञानी कर सकते हैं

व्यास जी बोले—हे शुक! शास्त्राभ्यासी पण्डित एवं योगी, शास्त्र कथित योग से आचरण में आने वाले कर्मों द्वारा शरीरस्थ आत्मा को सूक्ष्म शरीर में आवृत हुआ देखते हैं। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है और उस स्थूल शरीर से जिसमें वह रहता है, सर्वथा भिन्न है। स्थूल शरीर से विलग हुआ और विश्व में भटकता हुआ जीव मनुष्य को नेत्रेन्द्रिय से वैसे ही नहीं देख पड़ता, जैसे सूर्यरश्मियां निविड़ अन्धकार में आकाश के प्रत्येक भाग में विद्यमान होने पर भी, स्थूल देख पड़ने लगती हैं। योगी लोग अपने और अन्य लोगों के स्थूल शरीर में सत्व प्रधान लिङ्ग शरीर को वैसे ही प्रत्यक्षतः देखते हैं, जैसे प्रकाशवान् सूर्य का किरणमण्डल जल में देख पड़ता है।

लिङ्गशरीर, स्थूलशरीर से भिन्न है। आत्म-स्वरूप-वित् एवं जितेन्द्रिय योगी अपने आत्मा से उन सूक्ष्म एवं लिङ्ग शरीरों को देखते हैं। जागृत अवस्था अथवा सुषुप्ति दशा में रात दिन समान रूप से, अपनी बुद्धि के सङ्कल्प और कर्मजन्य कामादिक रजोगुण का त्याग कर एवं योगाभ्यास कर, योग द्वारा जो ऐश्वर्य पाता है, उस ऐश्वर्य से योगी अपने लिङ्गदेह को वश में रखने में समर्थ होता है। जो जीवात्मा ऐसे योगी में निवास करता है, वह *सत्रह सूक्ष्म गुणों से सदा युक्त रहता है। वह अजर और अमर है, वह सुखात्मक लोकों में घूमा करता

---

* पञ्चमहाभूतों की पञ्चतन्मात्रा, प्रकृत तथा अहङ्कार।

है। अकेले योगी ही को लिङ्ग शरीर नहीं देख पड़ता; किन्तु अज्ञानी भी उसका अनुभव करते हैं। मन और बुद्धि के वश में रहने वाला साधारण जन भी स्वप्न में अपने और दूसरे के सूक्ष्म शरीर को जान कर, सुख दुःख का अनुभव किया करता है। जीव स्वप्न में भी सुख दुःख, पाता है और उस अवस्था में वह क्रोध और लोभ के वशवर्ती हो दुःख भोगता, स्वप्न में विपुल धन प्राप्त कर वह सुखी होता है और पुण्य कर्म कर के जागृत पुरुष की तरह उसका फल भोगता है। बड़े विस्मय की बात है कि जीव गर्भस्थान में रहने के समय और अग्नि के बीच रहते हुए भी दस मास के दीर्घकाल को उदर में रह कर व्यतीत करने पर भी जठरस्थ अन्न की तरह पचता नहीं।

जीवात्मा—ईश्वर का अंश है। वह सब प्राणियों में आत्मा रूप से निवास करता है, किन्तु जो रजोगुणी एवं तमोगुणी पुरुष हैं, उन्हें सब के शरीरों में रहने वाले जीवात्मा के दर्शन नहीं होते। किन्तु जो लोग उसे देखना चाहते हैं, वे योगशास्त्रोक्त विधि के अनुसार योग साधन करते हैं और वे चेतन-रहित स्थूल शरीरों को और ब्रह्मा के प्रलय के समय भी जिनका नाश नहीं होता, ऐसे अमूर्तिमान लिङ्ग और कारण शरीरों को अतिक्रम कर जाते हैं।

अन्य आश्रमों और अन्तिम संन्यासाश्रम के लिये जो कर्त्तव्य बतलाये गये हैं, उनमें मन या बुद्धि की सब क्रियाएं रोकी जाती हैं और जिनमें योग मुख्य साधन माना गया है, उनमें ज्ञान और ध्यान के सम्बन्ध को शाण्डिल्य मुनि ने छान्दोग्य उपनिषद् में भली भाँति कहा है। जो पुरुष *सप्त सूक्ष्मों तथा †महेश्वर को छः अंगों को जानता है—

* १ इन्द्रियाँ, २ इन्द्रियों के विषय, ३ मन, ४ बुद्धि, ५ महत्तत्त्व, ६ अव्यक्त (प्रकृति) और ७ पुरुष—ये सप्त सूक्ष्म हैं।

† १ सर्वज्ञता, २ तृप्ति, ३ अनादि बोध, ४ स्वातंत्र्य, ५ अप्रतिहत दृष्टि और ६ विभु की अनन्त शक्ति—ये महेश्वर के छः अंग हैं।

और जिसे यह ज्ञात है कि, यह जगत् त्रिगुणात्मिका प्रकृति—अविद्या का परिणाम है—वह पुरुष गुरु-उपदिष्ट वेदान्त वाक्यों को सुन कर ध्यान लगा—परब्रह्म का साक्षात् दर्शन पाता है।

दोसौ चौवन का अध्याय

कामना

व्यास जी कहने लगे—हे शुक! मनुष्य के हृदय रूपी स्थल में कामना रूपी एक अद्भुत वृक्ष उगता है। उसकी उत्पत्ति मोहरूपी बीज से होती है। क्रोध और अहङ्कार उस वृक्ष के गुद्दे (स्कन्ध) हैं। कार्य करने की इच्छा रूपी क्यारी में वह खड़ा है। इस वृक्ष की जड़ अज्ञान है और प्रमाद रूपी जल से यह सींचा जाता है। असूया इस वृक्ष के पत्ते हैं, पूर्व-जन्म-कृत पाप इसका सार है। मोह और चिन्ता इसकी बड़ी बड़ी डालियाँ हैं। शोक इसकी छोटी शाखाएं हैं। भय इसका अङ्कुर है। इसे तृष्णा रूपी लता ने चारों ओर से घेर रखा है। कितने ही महालोभी पुरुष इस वृक्ष का फल पाने की इच्छा से अपने आप लोहे की बेड़ियों में फँस कर, फलप्रद इस वृक्ष के चारो ओर बैठ कर, इसकी उपासना किया करते हैं। किन्तु जो पुरुष उन लोहमयी बेड़ियों को तोड़ कर, उस वृक्ष को काट गिराता है वह पुरुष साँसारिक सुख दुःख को त्याग कर उन दोनों से अर्थात् सुख दुःख से छूट जाता है। किन्तु जब मूढ़ जन इन्द्रियों के विषय रूपी साधनों से इस काम रूपी वृक्ष की वृद्धि करता है, तब वे साधन इस वृक्ष की वृद्धि करने वाले का वैसे ही नाश कर देते हैं, जैसे विष की गाँठें रोगी का नाश कर देती हैं।

किन्तु पुण्यात्मा लोग, ज्ञानबल से निर्विकल्प समाधि रूपी खड्ग द्वारा, उस महा वृक्ष को, जिसकी अविद्या और अज्ञान रूपिणी जड़ें, चारों

ओर फैली हुई हैं; बरजोरी काट डालते हैं। जो पुरुष यह जानता है कि फलप्राप्ति की कामना से किये जाने वाले काम बन्धन के कारण होते हैं वह जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

महात्माओं ने इस शरीर को पुर बतलाया है। इस पुर में बुद्धि रानी का राज्य है। मन इसका मंत्री है। मन द्वारा बुद्धि के उपभोग के लिये उपस्थित की गयीं और विषय रूपी धन को लाने वालीं इन्द्रियाँ इस शरीर रूपी पुरी में वास करने वाली नगरनारियाँ हैं, जिनका लालन पालन करने को मन तरह तरह के कर्म करने में प्रवृत्त होता है। राजसाहङ्कार और तामसाहङ्कार नामक इस मन के दो महान् दोष हैं। मन के सहायक रूप वे दोनों दोष परस्त्रीगमनादि वर्जित कर्मों से उसे सुख दिलाते हैं। जब इस शरीर रूपी नगरी में राजस और तामस अहङ्कार के कारण मन को धर्म का या अधर्म का वास्तविक ज्ञान नहीं रहता और तामस अहङ्कार के कारण वह मानसिक धर्म को अपना ही धर्म मान बैठता है, जब दुष्ट मन से दूषित नागरिक रूपिणी इन्द्रियों की स्थिति अनिश्चित हो जाती है तब वे धन पुत्रादि से जिन्हें बुद्धि हितकर मान प्रयत्न करती है, उनसे अनर्थ होता है और अन्त में उस बुद्धि का नाश होता है। नाश होने के पूर्व मन जिन विषयों का स्मरण करता है, उनके विषयों के नष्ट हो जाने पर, वह मन खिन्न होने लगता है। सङ्कल्प की बुद्धि यदि अलग कर ली जाय तो वह केवल मन कहलाती है। जब मन किसी प्रकार के निश्चय पर पहुँच जाता है तब वही बुद्धि कहलाता है। मन और बुद्धि में यही भेद है। जब बुद्धि में प्रतिबिम्ब रूप से रहने वाले आत्मा में रजोगुण व्यापता है तब वह मन रजोगुण के साथ मित्रता करता है। उस समय मन, मनोरूप उपाधि वाले आत्मा को और नागरिक इन्द्रियों को अपने वशवर्ती बना दुःख देता है।

———

दोसौ पचपन का अध्याय

व्यास और शुक संवाद का सार

भीष्म जी बोले—धर्मराज ! भूतों की गणना के सम्बन्ध में व्यास जी के मुख से जो प्रशंसनीय वचन निकले, उन्हें तुम सुनो। हे वत्स ! यह अध्यात्म शास्त्र प्रज्वलित अग्निवत् है। किन्तु धूम से आवृत अग्नि की तरह शुकदेव जी से उन्होंने कहा था। अज्ञान को निश्चय ही नष्ट करने वाले वह विषय मैं तुझे सुनाता हूँ। १, स्थितिशीलता, २ गुरुत्व ३ काठिन्य ४ धनधान्योपार्जनी शक्ति, ५ विशालता, ६ गन्ध ७ गन्ध ग्रहण शक्ति, ८ संघात् (अवयवों को मिलाने की शक्ति), ८ स्थापना अर्थात् मनुष्यादि को आश्रय देना, १० तत्व पदार्थों को धारण करना और सर्व-सहन शक्ति—ये दस पृथिवी के गुण हैं।

१ शीतलता, २ रस, ३ गीलापन, ४ तरलता, ५ घनीभाव, ६ स्नेह ७ सौम्यता, ८ जिह्वा, ९ टपकना और १० पार्थिवी पदार्थों को पचाना,—ये दस गुण जल के हैं।

१ प्रचण्डत्व, २ दहनशक्ति, ३ ताप ४ पाक, प्रकाश, ६ शोक,! ७ लघुता, ८ तीक्ष्णता ९ राग और १० ऊर्ध्वगति का स्वभाव—ये दस गुण अग्नि के हैं। १ अनुष्णाशीत स्पर्श २ जिह्वा में निवास, ३ चेष्टा में स्वातन्त्र्य, ४ बल, ५ त्वरा, ६ मल मूत्र त्याग की शक्ति, उत्क्षेपण कर्म अर्थात् किसी हल्के पदार्थ को ऊपर जाने की शक्ति, ८ श्वासोच्छ्वास की चेष्टा, ९ प्राणरूपे चित्त की उपाधि और १० जन्म तथा मरण—ये दस वायु के गुण हैं।

१ शब्द, २. व्यापकत्व, ३ छिद्रत्व, ४अश्रयाभाव, ५ अनालम्ब, ६ निराकारता, ७ विकारों का अभाव, ८ कहीं न रुकना, श्रवणेन्द्रिय का मूल कारण और १० शरीर के अन्य छिद्र—ये दस आकाश के गुण हैं।

इस प्रकार पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न पचास गुण हैं।

१ तर्कना शक्ति २ व्यक्ति, ३ स्मरण, ४ भ्रान्ति, ५ मनोरथ की वृत्ति, क्षमा, ७ वैराग्य, ८ रागद्वेष एवं ९ चञ्चलता—ये नव गुण मन के हैं।

१ इष्ट और अनिष्ट, २ वस्तुनाश, ३ उत्साह, ४ चित्त की स्थिरता, ५ संशय और प्रत्यक्षादि प्रमाणावृत्ति,—ये पाँच बुद्धि के गुण हैं।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! बुद्धि के पाँच गुण और पञ्चेन्द्रिय के गुण कैसे होते हैं ? ये सब बातें सूक्ष्म ज्ञान की आप मुझे बतलावें !

भीष्म जी बोले—बुद्धि के साठ गुण हैं, क्योंकि बुद्धि में पञ्चमहाभूतों का भी समावेश है। ये समस्त गुण नित्यचैतन्य के साथ मिश्रित हैं। वेद कहता है कि, हे वत्स ! पञ्चमहाभूत और उनकी विभूतियाँ परमात्मा ने वैसे ही उत्पन्न की हैं, जैसे आत्मा। अतः वे विभूतियाँ नित्य नहीं हैं इस वेद-सिद्धान्त के विरुद्ध अन्य मतवादियों के सिद्धान्त भी मैंने तुझे सुनाये। यदि विचारा जाय तो ये सब सिद्धान्त सदोष हैं। किन्तु वेदोक्त सिद्धान्त ही निर्दोष है और युक्तियुक्त है। अतः अब तू मुझसे नित्यसिद्ध परब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जान कर परब्रह्म के ऐश्वर्य से शान्त बुद्धि वाला बन जा।

दोसौ छप्पन का अध्याय

मृत्युवर्जित विश्व और ब्रह्मा का रोष

युधिष्ठिर ने कहा—ये समस्त राजा निर्जीव हो अपनी सेना के बीच भूमि पर पड़े अनन्त निद्रा में निद्रित हैं। ये बड़े बलवान थे, तिस पर भी यह निर्जीव हो पड़े हैं। इनमें से प्रत्येक राजा के शरीर में दस सहस्र हाथियों के समान बल था। ये सब बड़े भयङ्कर थे। हाय ! इन राजाओं को इनके समान बल वाले राजाओं ने मार डाला है। वे ऐसे पराक्रमी, तेज

और बल वाले थे कि, इनको रण में मारने वाला मुझे तो कोई देख नहीं पड़ता। ये बड़े बड़े बुद्धिमान राजा निर्जीव हो भूमि पर पड़े शयन कर रहे हैं और अब ये 'मृतक' के विशेषण से पुकारे जाते हैं। ये भयङ्कर पराक्रमी राजा अब मरे हुए कहे जाते हैं। अतः ये मृत क्यों कहलाते हैं—यह मेरे मन में सन्देह है। मरा कौन? मृत्यु आती कहाँ से है? वह किसकी भेजी आती है और इस लोक में आ कर वह क्यों प्रजा का संहार करती है। हे पितामह! अब मुझे यही सब बतलाइये।

भीष्म जी बोले—हे तात! सत्ययुग में अनुकम्पक नामक एक राजा हो गया है। उसके बैरियों ने युद्ध में उसे पकड़ लिया। उसके समस्त वाहन लड़ाई में नष्ट हो गये। उसके एक पुत्र था, जिसका नाम हरि था। वह नारायण के समान बलवान था। वह भी अपनी सेना सहित मारा गया था। इस प्रकार वह राजा भी शत्रु के अधीन हो गया था और पुत्र के मरण के शोक से दुःखी हो रहा था और शान्ति जीवन व्यतीत कर रहा था। इसी बीच में एक दिन नारद जी के उसे दैवात् दर्शन हो गये। उसने समस्त बीता हुआ वृतान्त नारद जी को सुना कर कहा—रण में मुझे मेरे बैरियों ने पकड़ लिया है और लड़ाई में लड़ते लड़ते मेरा पुत्र भी मारा गया है।

उस राजा के ऐसे नैराशपूर्ण वचनों को सुन कर, तपोधन नारद ने उस राजा के मन से पुत्र-शोक दूर करने के लिये, उसे एक व्याख्यान सुनाया। नारद जी कहने लगे—हे राजन्! मैं तुझे एक विस्तृत व्याख्यान ज्यों का त्यों सुनाता हूँ। सुन! आरम्भ में महा तेजस्वी पितामह ने यह जगत बनाया। एक दूसरे का समागम होने से प्रजा बहुत बढ़ गयी। तिस पर उस समय प्रजा जनों में कोई मरता न था। ब्रह्मा जी ने ऐसा होना उचित न समझा। क्योंकि इस जगत में उस समय इतने प्राणी बढ़ गये कि साँस लेने को भी अवकाश न रह गया।

हे राजन्! तब ब्रह्मा जी ने प्रजा का संहार करना विचारा। इस

वृद्धिशील प्रजा का संहार क्यों कर रहे हो, इस विषय पर ब्रह्मा जी ने बहुत सोचा विचारा। किन्तु संहार का उन्हें कोई उपाय न सूझ पड़ा। तब तो हे महाराज! वे बड़े कुपित हुए। उस समय उनके शरीराकाश से आग निकलने लगी। उस अग्नि से ब्रह्मा जी ने समस्त दिशाएँ भस्म कर डालीं। क्या आकाश, क्या पृथिवी, क्या स्वर्ग और क्या स्थावर जङ्गमात्मक यह विश्व—सब जल उठे और भस्म हो गये।

लोकपितामह ब्रह्मा जी के कुपित होने पर जब सारा विश्व भस्म हो गया, तब महादेव जी उनका कोप शान्त करने को उनके शरण में गये। उस समय ब्रह्मा जी ने शिव जी से कहा—हे स्थाणु! तुम वर माँगो। मैं तुम्हें वर देने के लिये उपयुक्त पात्र समझता हूँ। तुम जो चाहो सो वर माँग लो। मैं अभी तुम्हें वही वर दे दूँगा।

दोसौ सत्तावन का अध्याय

मृत्यु की उत्पत्ति

शिव जी ने कहा—हे प्रभो! सृष्टि के हितार्थ मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। भगवन्! यह सृष्टि आप ही की बनायी हुई है। अतः आप इस पर कुपित न हों। आपके रोपानल से वह भस्म हुई जाती है। यह देख मुझे बड़ी दया आती है। अतः हे जगत्पते! आप इस जगत पर कोप न करें।

ब्रह्मा जी ने कहा—न तो मुझे क्रोध ही है और न मैं प्रजा को उत्पत्ति को बंद ही कर देना चाहता हूँ; मैं तो पृथिवी का भार हल्का करने को इसका संहार कर रहा हूँ। हे महादेव! जब पृथिवी देवी प्रजा के भार से पीड़ित हो गयी और बोझ से दब कर जल में डूबने लगी, तब उसने प्रजा का संहार करने के लिये मुझे बाध्य किया। मैंने पृथिवी

का भार कम करने के लिये बहुत सोचा विचारा, किन्तु जब मुझे कोई उपाय न सूझा तब मेरे मन में बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ।

स्थाणु बोले—हे देवदेव! प्राणियों का संहार करने के लिये आप क्रुद्ध न हों। आप प्रसन्न हों और इस हत्याकाण्ड को बंद कर दें। देखिये! जल से पूर्ण समस्त सरोवर, सब प्रकार के तृण, वनस्पतियाँ और स्थावर जङ्गमात्मक चार प्रकार के जीवों सहित यह विश्व जल कर भस्म हुआ जाता है। इस विश्व में अब एक भी जीव नहीं रह जायगा। हे भगवन्! अतः आप प्रसन्न हों। मैं यही वर माँगता हूँ। यह प्रजा नष्ट होने पर पुनः न आवेगी। अतः आप अपने क्रोध को अपने तेज से शान्त करें। हे पितामह! इन जीवों के हितार्थ, अन्य उपाय हूँढने की आवश्यकता है। ऐसा कीजिये जिससे जो जीव बचे हुए हैं, वे अब भस्म न हों। मैं चाहता हूँ कि प्रजा नष्ट हो निर्वंश न होने पावे। हे लोकेश्वर! आपने मुझे अहङ्कार के अधिष्ठाता-पद पर नियत किया है। हे जगन्नाथ! यह स्थावर-जङ्गमात्मक जगत आपसे उत्पन्न हुआ है। अतः हे ईश्वरेश्वर! मैं आपको प्रसन्न कर, आपसे याचना करता हूँ कि, यह प्रजा समूल नष्ट न हो कर, जन्म-मरण-शील हो।

नारद जी कहने लगे—शिव जी के इन वचनों को सुन कर, मन तथा वाणी को नियम में रखने वाले ब्रह्मा जी ने अपना तेज अपने अन्तरात्मा में लीन कर लिया। लोकपितामह ब्रह्मा ने प्रलयाग्नि का अपने में उपसंहार कर, प्रजा का समूल नाश बंद किया और प्रजा के लिये जन्म-मरण का विधान रचा। ब्रह्मा जी ने जब रोषानल का उपसंहार किया, तब उनकी समस्त इन्द्रियों के साहाय्य से एक स्त्री उत्पन्न हुई। इस स्त्री के शरीर पर लाल और काले रंग का वस्त्र था। उसके नेत्रों का अधोभाग और भीतर का भाग श्याम वर्ण का था। उसकी हथेलियाँ काले रंग की थीं और उसके कानों में सुन्दर कुण्डल थे। वह दिव्य अलंकारों से सुसज्जित थी। वह स्त्री ब्रह्मा जी की दहिनी ओर जा खड़ी हुई। जगदीश्वर

ब्रह्मा जी ने तथा शिव जी ने उसे देखा और उसे अपने निकट बुला उससे कहा—हे मृत्यो ! तू इस प्रजा का नाश कर, मैंने क्रोध में भर इसी लिये तुझे बनाया है । हे स्त्री ! तू मूर्ख और विद्वान् में भेदभाव न रख कर मेरे आदेशानुसार सब प्रजा का संहार कर । हे कामिनी ! किसी पर विशेषता प्रदर्शित न कर, तू समस्त प्रजा का संहार कर । मेरी आज्ञा से तेरा परम कल्याण होगा । ब्रह्मा जी के इस कथन को सुन कर, कमल-माला-धारिणी मृत्यु देवी अत्यन्त विषाद युक्त हो गयी और चिन्तित हो रो पड़ी । हे राजन् ! उसने अपने आँसू नीचे न गिरने दिये और उन्हें हथेलियों में ले लिये । फिर उसने लोक-हितार्थ, लोकपितामह ब्रह्मा जी से प्रार्थना की ।

दोसौ अट्ठावन का अध्याय

मृत्युदेवी और ब्रह्मा जी का वार्तालाप

नारद जी ने कहा—विशाल नयनी उस मृत्यु देवी ने अपना दुःख स्वयं ही दूर किया । उसने अपने आँसू पोंछ डाले और हाथ जोड़ सिर नवा कहने लगी—देवताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी आपसे उत्पन्न मुझ जैसी स्त्री ऐसा क्रूर कर्म कैसे कर सकती है, जिससे समस्त जीवों को भयङ्कर त्रास उत्पन्न हो । मैं तो पाप से बहुत डरती हूँ । अतः आप तो मुझे कोई भी धर्ममय काम करने का आदेश दें । आप स्वयं देख रहे हैं कि, मैं कितनी भयभीत हो रही हूँ । अतः आप मुझे कृपापूर्ण दृष्टि से निहारें । जिन लोगों ने मेरे प्रति कभी द्रोह नहीं किया, उन निरपराध बालकों, वृद्धों और तरुणों को मैं मार नहीं सकती । हे जीवेश्वर ! मैं आपको प्रणाम करती हूँ । आप मुझ पर प्रसन्न हों । मैं मनुष्यों के प्यारे पुत्रों को, मित्रों को, भ्राताओं को, माताओं को और पिता माँ को नहीं मार सकती । क्योंकि ऐसा करने से उन लोगों के सम्बन्धी मुझे शाप देंगे । उस शाप से मैं डरती हूँ ।

जिन लोगों के सगे नातेदार मारे जावेंगे, उन दीन जनों के आँसुओं से तर नेत्र अनन्त काल तक मुझे जलाया करेंगे। अतः मैं बहुत डरती हूँ और मैं आपके शरण में आयी हूँ। हे देव! हे प्रभो! मैं आपको प्रसन्न करती हूँ। आप मुझ पर प्रसन्न हों। हे लोकपितामह! मेरी यह इच्छा है कि, मैं तप कर आपको प्रसन्न करूँ।

ब्रह्मा जी बोले—हे मृत्यो! मैंने तो प्रजा का संहार करने को तुझे उत्पन्न किया है। अतः जा और प्रजा का संहार कर, अपना काम पूरा कर। अपने कर्त्तव्य के औचित्य अनौचित्य का विचार न करा कर। क्योंकि यह कार्य अवश्य होना चाहिये। इसमें कुछ भी हेर फेर नहीं हो सकता। मैं तुझसे जैसा कहता हूँ, तू जा कर वैसा ही कर।

हे महाभुज! हे परपुरञ्जय राजन्! ब्रह्मा जी की इस बात को सुन कर मृत्यु देवी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और उनके सामने देखती हुई वह खड़ी हो रही। ब्रह्मा जी ने उससे बारंबार कहा, किन्तु वह चुपचाप ही खड़ी रही और निश्चेष्ट सी जान पड़ने लगी। तब देवदेव ब्रह्मा जी यह देख चुप हो गये। मृत्यु देवी के ऐसे धर्ममय विचारों को सुन, ब्रह्मा जी मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए और मुसक्या कर उन्होंने विश्व की ओर देखा अजेय भगवान् ब्रह्मा जी का क्रोध शान्त हो गया; तब सुनते हैं कि, मृत्यु देवी ब्रह्मा जी के निकट से चली गयी।

हे राजन्! वह कन्या संहार करने की बात न मान कर, बड़ी शीघ्रता से मायापुरी (हरिद्वार) के धेनुक नामक तीर्थ में गयी और वहाँ रह कर उसने एक पैर से खड़े हो पन्द्रह वर्ष महादुष्कर तप किया। जब वह तप कर रही थी, तब महातेजस्वी ब्रह्मा उसके निकट गये और कहने लगे। हे देवी! तू मेरा कहना मान ले। किन्तु हे तात! मृत्यु देवी ने तब भी ब्रह्मा का कहना न माना और एक पैर से खड़े हो सात वर्षों तक उसने पुनः तप किया। हे मानद! फिर उसने एक पैर से खड़े रह कर, सोलह पद्म वर्षों तक तप किया। फिर उसने दस सहस्र वर्षों तक

वनों में मृगों के साथ रह तपस्या की। फिर उस देवी ने बीस सहस्र वर्षों तक वायुभक्षण कर, तप किया। फिर इतने ही वर्षों तक मौन धारण कर उसने वाङ्मय तप किया। फिर आठ सहस्र वर्षों तक जल में रह कर उसने तप किया। हे राजन्! वह कन्या कौशिकी नदी के तट पर पहुँची। वहाँ वह वायु पी और जल का आहार कर फिर तप करने लगी। वहाँ से, वह कन्या गङ्गा के तट पर गयी—फिर मेरु पर्वत पर गयी। वहाँ काठ के समान निश्चेष्ट हो प्रजा की हितकामना से वह तप करती रही। वहाँ से वह, हिमालय-शिखर पर, जहाँ देवताओं ने यज्ञ किया था गयी। वहाँ हे राजेन्द्र! पैर के अंगूठे पर खड़े हो, उसने एक निखर्व वर्षों तक तप किया। इतनी दीर्घकालीन एवं कठिन तपस्या कर मृत्यु देवी ने ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया, तब सर्वलोकपितामह ब्रह्मा जी ने जा कर मृत्यु से कहा—हे पुत्रि! तू यह क्या कहती है? तू मेरा कहना मान ले। यह सुन ब्रह्म जी से मृत्यु ने कहा—हे देव! मैं पुनः आपका अनुग्रह चाहती हूँ और विनती करती हूँ कि मुझे प्रजा का संहार न करना पड़े। पाप लगने के भय से भयभीत मृत्यु देवी से ब्रह्मा जी कहने लगे—हे मृत्यु देवी! तू प्रजा का संहार करने में लग जा। इससे तुझे अधर्म नहीं लगेगा। हे कल्याणि! मैं तुझसे जो कह चुका हूँ वह किसी प्रकार भी अन्यथा नहीं हो सकता। सनातन धर्म द्वारा मैं और अन्य देवता सदा तेरी भलाई में लगे रहेंगे। अन्य जो तेरी कामनाएं तेरे मन में होंगी, उनको मैं पूरी करता हूँ, प्रजा व्याधियों से पीड़ित हो मरेगी, अतः तेरे ऊपर कोई दोष न लग सकेगा। तू पुरुषों में पुरुष रूप से, स्त्रियों में स्त्री रूप से और नपुंसकों में नपुंसक रूप से रहेगी। तुझे पाप ज़रा सा भी न लगेगा।

जब ब्रह्मा जी ने इस प्रकार कहा, तब भी मृत्यु देवी ने हाथ जोड़ कर कहा—हे अविनाशी देवेश! मैं प्रजा का नाश नहीं कर सकूँगी।

इस पर ब्रह्मा जी ने पुनः उससे कहा—हे मृत्यु देवी! तू प्रजा का

संहार कर, मैं तेरे लिये कोई ऐसा उपाय ढूँढूंगा कि जिससे तुझे प्रजा का नाश करने का पाप न लगे। हे मृत्यो! मैंने तेरे नेत्रों से निकले हुए जो आँसू देखे हैं, और जिन्हें तूने अपनी अञ्जलि में रोक लिया था, वे यथासमय व्याधियों का रूप धारण कर मनुष्यों का नाश करेंगे। अन्त समय निकट आते ही तू काम और क्रोध को एकत्र कर, जीवों की ओर भेजना। ऐसा करने से धर्म तेरा साथ देगा और निरपेक्ष भाव से धर्म पालन करने से तुझे पाप भी न लगेगा। अतः तुझे जो अधिकार दिया जाता है उसे तू इच्छानुसार स्वीकार कर और प्राणियों को काम क्रोध से मुक्त कर के उनका संहार कर।

इस पर मृत्यु देवी शाप के भय से भीत हो ब्रह्मा जी से कहने लगी—अच्छा मैं आपके कथनानुसार ही कार्य करूँगी।

यह कह उस दिन से मृत्यु देवी ने अपना कार्य आरम्भ किया। वह अन्त समय में प्राणियों के निकट काम और क्रोध को भेजने लगी और उनके द्वारा वह प्राणियों के प्राण हरने लगी। मृत्यु देवी ने जो आँसू गिराये थे, वे मनुष्यों के लिये विविध प्रकार के रोग बन गये। जब कोई आदमी मरने को होता है, तब वे ही आँसू रोग बन उसके शरीर को पीड़ित किया करते हैं। अतः किसी को भी किसी मृत व्यक्ति के लिये शोक नहीं करना चाहिये।

हे राजसिंह! जैसे सुषुप्ति अवस्था में समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं; किन्तु जागते ही वे फिर अपने कार्य करने लगती हैं वैसे ही मनुष्य जब मरता है तब वह शान्त हो जाता है; किन्तु परलोक में पहुँच उसे पुनः इन्द्रियां प्राप्त होती हैं और वे अपने अपने कार्य करने लगती हैं। इस शरीर में रहने वाला प्राणवायु बड़ा भयङ्कर शब्द करने वाला है और उसमें बड़ा ओज है। वह समस्त प्राणियों का प्राण रूप और इन्द्रियों का देवता है। जब इस शरीर का पात हो जाता है, तब वह प्राचीन शरीर से निकल कर, भिन्न रूप से नये शरीर में चला जाता है। इसीसे

वह इस शरीर के समस्त तत्वों से श्रेष्ठ माना गया है। देवताओं के पुण्य जब क्षीण होते हैं, तब उन्हें मानवी योनि में जन्म लेना पड़ता है। अतः हे राजसिंह ! तू अपने पुत्र के लिये शोक मत कर। तेरा पुत्र स्वर्ग में पहुँच कर, सुख भोग रहा है।

ब्रह्मा जी ने इस प्रकार मृत्यु देवी को उत्पन्न किया है और जब समय आता है, तब वह यथार्थ रीत्या प्राणियों के प्राणों का संहार करती है। मृत्यु के जो आँसू निकले थे, वे रोग बन गये और जब मरणकाल आता है, तब वे प्राणियों का संहार करते हैं।

दोसौ उनसठ का अध्याय

धर्म और उसकी उपयोगिता

युधिष्ठिर ने पूछा कि पृथिवी के समस्त मनुष्य धर्म के विषय में शङ्का किया करते हैं। अतः आप मुझे धर्म का स्वरूप बतलावें। यह भी बतलावें कि धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई ? धर्म इसी लोक के लिये उपयोगी है अथवा परलोक में काम आता है ? अथवा धर्म उभय लोकों के लिये उपयोगी है ?

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! वेद, धर्मशास्त्र और सदाचार ये तीन धर्म के मूल हैं और चौथा प्रयोजन भी धर्म का लक्षण है। यह विद्वानों का कथन है। 'प्राचीन कालीन ऋषिगण धर्ममय और अधर्म' मय कर्मों की मीमांसा कर गये हैं। वे लोकव्यवहार सम्बन्धी धार्मिक नियम भी बना गये हैं। धर्म इस लोक और परलोक—दोनों लोकों में मनुष्य को सुख देने वाला है। धर्मकर्म न करने के कारण पापियों को सुख नहीं मिलता। वे पाप के भागी होते हैं। बहुत से कहते हैं कि पापी पाप से कभी नहीं छूटता; किन्तु अनेक लोगों का यह भी मत है

कि यदि आपत्तिकाल में मिथ्याभाषण करना पड़े तो उसका दोष नहीं लगता। धर्मात्मा मनुष्य को यदि कभी आपत्ति काल में कोई अधर्म कृत्य करना ही पड़े तो उसे उस अधर्म कृत्य का फल पापमय नहीं; प्रत्युत पुण्यमय मिलता है। धर्म का मूलाधार आचार है और आचारवान् होने पर ही तुम्हें धर्म का ज्ञान हो सकता है। चोर दूसरों का द्रव्य चुरा लेता है और उस चोरी के धन से धर्म का ढोंग भी रचता है। जब देश में अराजकता फैल जाती है तब चोर दूसरे का धन चुरा कर, सुख भोगता है। किन्तु जब उस चोर के धन को अन्य चोर चुरा लेते हैं, तब वह इसकी फर्याद ले कर राजा के निकट जाना चाहता है और अपने माल की चोरी होने पर उसे बड़ा क्रोध उत्पन्न होता है। यह सब होने पर भी वह तब भी दूसरों के उस सुरक्षित धन की, जिसका वे लोग उपभोग कर रहे हैं, चुराने की बड़ी उत्कण्ठा रखता है। चोर की ऐसी नियत तो होती है, किन्तु अपना माल चोरी जाने पर वह भय एवं शङ्का को त्याग, बड़ी ईमानदारी जताता हुआ, राज-द्वार में फरियाद करने को जाता है; किन्तु वह निज दुश्चरित्रता पर ज़रा भी ध्यान नहीं देता।

इस संसार में सत्यभाषण श्रेयप्रद है। सत्य से अधिक कोई भी वस्तु उत्तम नहीं है। सब जगत् सत्य के आधार पर टिका हुआ है और सब सत्य ही में रहता है। पापिष्ट और बड़े बड़े क्रूर कर्म करने वाले लोग भी सत्य की शपथ खा कर आपस में एक दूसरे के प्रति द्रोह नहीं करते और सत्य का आश्रय ले कर, पाप कर्म किया करते हैं। जब यह लोग अपनी अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करते हैं तभी निश्चय इनका नाश हो जाता है।

पर धन कभी न चुराना चाहिये—यह सनातन का नियम है। ऐसा सनातन कालीन नियम होने पर भी बलवान पुरुष समझते हैं कि धर्म को चलाने वाले तो निर्बल पुरुष थे; किन्तु भाग्यवश जब किसी

बलवान का भाग्य फूटता है और वह दुर्बल और भिक्षुक हो जाता है, तब उसको भी धर्ममार्ग पर चलना भला जान पड़ता है। महाबली पुरुष भी विना धर्म किये सुखी नहीं होते, अतः तुम्हें भी कभी कुटिलता मय बर्त्ताव किसी के साथ करने की कल्पना भी अपने मन में न करनी चाहिये। जो पुरुष सत्य व्यवहार करता है उस सत्यवादी मनुष्य को न तो दुर्जनों का न चोरों का और न राजा ही का भय रहता है। किसी का नाम मात्र के लिये भी बुरा न चीतने वाला सत्यवादी पुरुष सदा भय रहित रहता है और बाहिर भीतर से वह पवित्र बना रहता है।

चोर सब से वैसे ही डरता है जैसे रमने से बहका हुआ मृग बस्ती में जा हरेक से डरता है। जो स्वयं पापी होता है, वह अपनी तरह दूसरों को भी पापी समझता है। जो पुरुष पुण्यात्मा होता है वह सदा प्रसन्न रहता है और सर्वत्र निर्भय रहता है। ऐसे पुरुष में यदि कोई दुराचरण होता है, तो उसे वह दूसरों में नहीं देखता। जो जीव सदा परहित परायण रहते हैं, उनका कथन यह है कि, दान देना श्रेष्ठ धर्म है; किन्तु जो धनी होता है वह समझता है कि दान देने की प्रथा कृपणों अर्थात् धनहीनों ने चलायी है। किन्तु दुर्भाग्यवश जब कभी कोई धनी निर्धन हो जाता है, तब वही पुरुष दानधर्म की प्रशंसा करने लगता है।

एक बात और है। वह यह कि अति धनवान पुरुषों को भी इस संसार में सुख प्राप्त नहीं होता। पुरुष दूसरे के किये जिस काम को बुरा समझे उस काम को स्वयं भी दूसरों के साथ न करे। जो पुरुष पर स्त्री गामी है उसे उस पुरुष को बुरा भला कहने का कुछ भी अधिकार नहीं जो उसकी स्त्री के साथ गमन करता है। किन्तु व्यभिचारी पुरुष भी जब अपनी स्त्री को व्यभिचाररत देखता है तब उससे यह देखा नहीं जाता। जो मनुष्य स्वयं जीवित रहना चाहता है वह दूसरों की हत्या क्यों करने लगा। बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिये कि वे सदा यह विचार अपने मन में रखे कि जो वस्तु उन्हें अपेक्षित है वह वस्तु दूसरों को भी मिलनी

चाहिये। अतः स्वयं भोगने के बाद जो धन बचे। उस धन को निर्धनों में बाँट देना चाहिये। विधाता ने इसी लिये तो धन की वृद्धि के लिये सूदख़ोरी की प्रथा चलायी है। मनुष्य को, धन पास होने पर यज्ञ करना चाहिये जिसे देवता भी सामने आ कर खड़े हों। धन होने पर दान देना यज्ञ करना—मानों धन की शोभा है।

धर्मात्मा जनों का मत है कि, प्रसन्नतापूर्वक जो मिल जाय, वह सब धर्म ही है। हे युधिष्ठिर! धर्माधर्म का लक्षण यही है कि जो व्यवहार अपने को अच्छा न लगे वही व्यवहार दूसरों के साथ भी वर्त्ता जाय और जो व्यवहार अपने को अच्छा न लगे—वह व्यवहार दूसरों के साथ भी न करे। विधाता ने लोककल्याणार्थ, सूक्ष्म धर्म की रचना की। सज्जनों के चरित्र उत्तमताओं से परिपूर्ण हुआ करते हैं। हे कुरुसत्तम! मैंने तुम्हें धर्म का यह उत्तम लक्षण बतलाया। अतः तुम किसी प्रकार का भी कपट व्यवहार करने की कल्पना भी मत करना।

दोसौ साठ का अध्याय

धर्माधर्म की व्याख्या

युधिष्ठिर ने कहा—आपका कहना है कि, सूक्ष्म विचार कर के धर्म की रचना की गयी है, सत्पुरुष के आचरण से उसका मान होता है और वह भिन्न भिन्न कार्यों के अङ्कुश में रहता है। उसके लक्षण वेद में कहे गये हैं। मैं समझता हूँ कि अपनी प्रतिभा शक्ति के द्वारा अनुमान से धर्माधर्म को जान सकता हूँ और इनमें जो भेद है वह भी मेरी समझ में आ सकता है। मेरे मन में बड़े बड़े सन्देह उठ रहे थे। उन सब को आपने दूर कर दिया। किन्तु हे राजन्! मैं आपसे एक बात और पूछता हूँ। यह प्रश्न मैं दुराग्रह वश या वितण्डावाद करने के लिये नहीं करता, किन्तु जिज्ञासु बन कर,

करता हूँ। जब देहधारी प्राणी अपने आप जन्म लेते हैं, जीते हैं और स्वभावानुसार शरीर को त्यागते हैं तब वेदों के अथवा शास्त्रों के पाठ मात्र से धर्माधर्म का निर्णय क्यों कर किया जा सकता है। सुखी पुरुषों का धर्म कुछ और होता है और दुःखियों का दूसरा। आपत्ति काल में कौन से धर्म का व्यवहार करना चाहिये। इस बात का निश्चय कोरे वेद-पाठ से कोई कैसे कर सकता है? आपके कथनानुसार सत्पुरुषों के आचरण को धर्म मानना चाहिये। क्योंकि सन्त लोग वे कहलाते हैं जो वैसा धर्माचरण करते हैं। इसमें लक्ष्य और लक्षण अन्योन्याश्रयी हैं। इनमें क्या साध्य है और क्या असाध्य है—इसका निर्णय नहीं हो सकता। इससे यह भी निर्णय नहीं होता कि सत्पुरुषों के आचरण किसे कहना चाहिये। क्योंकि बहुधा देखा जाता है कि सामान्य जन अधर्माचरण करता है किन्तु वह धर्माचरण जैसा प्रतीत होता है और कोई कोई असामान्य महान् पुरुष ऊपर से अधर्ममय प्रतीत होने वाला कर्म कर धर्माचरण करता है। जो शास्त्रवेत्ता हैं वे भी मेरे इस संशय के समर्थक हैं। क्योंकि मैंने सुना है कि युग युग में वेद भी क्षीण होते चले जाते हैं अर्थात् युगानुसार धर्माचरणों में भी हेरफेर हुआ करता है। सत्ययुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग के धर्म पृथक पृथक होते हैं। अर्थात् मानवी शक्ति के अनुसार युग युग में धर्म की व्यवस्था की गयी है। जब वेदोक्त धर्म भी सब समय एक से नहीं रहते तब वेदवाक्य नितान्त सत्य है—यह कह देना केवल लोगों के मनोरञ्जन के लिये हो तो हो। फिर स्मृतियों की उत्पत्ति भी वेदों से हुई है। अतः स्मृतियों का विस्तार भी बहुत बड़ा है। वेद प्रमाण माने जाते हैं। अतः उनके आधार पर निर्मित स्मृतियाँ भी प्रामाणिक मानी जाती हैं। किन्तु जब किसी श्रुतिवाक्य का स्मृति-वाक्य से विरोध जान पड़े, तब दोनों को प्रामाणिक कैसे माना जाय। महाबली दुरात्मा एक बार जब किसी धर्मक्रिया को नष्ट कर डालते हैं, तब उस क्रिया का नाश हो जाता है। धर्म का भेद हम जानें या न जानें

अथवा उसे जानने की शक्ति हममें हो या न हो, किन्तु धर्म का स्वरूप खड्ग की धार से भी सूक्ष्म है और पहाड़ से भी बड़ा है। पहले तो उसका स्वरूप गन्धर्व नगर जैसा देख पड़ता है। किन्तु जब विद्वज्जन उसे खोजने लगते हैं। तब वह अदृश्य हो जाता है। स्मृतियुक्त सनातन धर्म कलियुग के अन्त में वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे गौओं के जल पीने के छोटे छोटे निपानों और खेतों की क्यारियों का जल सूख कर नष्ट हो जाता है। क्योंकि कलियुगी बहुत से पुरुष बहुत सी कामनाओं से दम्भी बन जाते हैं और श्रद्धाहीन हो धर्म तो करते हैं बहुत से दूसरों की इच्छा के अनुसार चलते हैं और बहुत से पुरुष अपनी दुर्वृत्तियों को पूर्ण करने के लिये धर्म का स्वांग रचा करते हैं। यद्यपि ऐसा होता हुआ देखा जाता है तथापि दुर्वृतिकों को चरितार्थ करने के लिये जो धर्माचरण किया करते हैं उसे बुरा नहीं कह सकते। साधु पुरुषों के धर्माचरण को देख दुष्ट जन उसे धर्म का ढकोसला बतलाते तथा उनकी ओंठ उड़ाते हैं एवं उन्हें पागल कहा करते हैं। बहुत से महापुरुषों ने धर्म त्याग कर, राजनीति ग्रहण की है। अतः सब महापुरुषों के आच-रण सब के लिये हितकर नहीं हो सकते। धर्म के एक एक अङ्ग की साधना से पुरुष महाप्रभावशाली बन जाते हैं; किन्तु वही धर्माचरण दूसरों के पक्ष में बाधक सिद्ध होता है तीसरा पुरुष मनमाना धर्माचरण कर योग्यता प्राप्त करता हुआ देखा जाता है। *

एक आचरण से एक पुरुष की लोग प्रशंसा करते हैं और उसी आचरण से दूसरे पुरुष के धर्म का नाश होता है। ऐसा कोई आचरण नहीं जो सर्वथा सर्वमान्य हो। इससे ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व कालीन विद्वान् जिस आचार को ,धर्म के अन्तर्गत मान गये हैं वही आज तक बराबर धर्म माना जाता है और जो आचार प्रणाली वे बना

---

* यह श्लोक विश्वामित्र, परशुराम और वसिष्ठ की ओर सङ्केत करने को कहा गया।

गये हैं। उस पर ही सब चल रहे हैं और वही प्रणाली सनातन धर्म मानी जाती है।

दोसौ इकसठ का अध्याय

तुलाधार और जाजलि का वार्त्तालाप

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! तुम्हारी शङ्का की निवृत्ति के लिये मैं तुम्हें तुलाधार और ऋषि जाजलि का संवादात्मक एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूँ।

एक वनवासी महातपस्वी ब्राह्मण जिसका नाम, जाजलि था घूमता फिरता समुद्र तट पर जा निकला और वहाँ बैठ तप करने लगा और वह ब्राह्मण वानप्रस्थाश्रमी था। अतः नियमित आहार करता था और फटे पुराने चिथड़े मृगचर्म से अपना शरीर ढके हुए था। उसके सिर पर जटा जूट थे। अनेक वर्षों तक तप करते करते उसके शरीर पर मैल जम गया। वह तपस्वी योगी मौनव्रत धारण कर तप किया करता था। हे राजन् समुद्र तट पर बैठ तपस्या करने वाले वे ऋषि एक दिन साँसारिक समस्त पदार्थों को देखने की कामना से (सूक्ष्म शरीर धारण कर) मन की तरह वेग पूर्वक घूमने फिरने लगे। वन, नदी सरोवर से युक्त सागर रूपी मेखला वाली समूची पृथिवी को देख वे फिर समुद्र तट पर जा कर रहने लगे। एक दिन वे सोचने लगे कि इस स्थावर जङ्गमात्मक जगत में मेरे समान तपस्वी अन्य कोई नहीं है। आकाशचारी ताराओं और नक्षत्रों में से भी कोई मेरे समान तेज नहीं चल सकता। फिर जलचर तो हैं ही किस गिन्ती में। समुद्रतट पर वे ऐसे अदृश्य रूप में रहते थे कि राक्षस उन्हें नहीं देख सकते थे। वे जब मन ही मन इस प्रकार विचार कर रहे थे, तब पिशाचों ने उनसे कहा—तुमको ऐसा गर्व नहीं करना चाहिये।

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण-पृथिवी में महा यशस्वी तुलाधार नामक एक वैश्य है। उसे भी ऐसा गर्व नहीं है।

जब उन पिशाचों ने इस प्रकार जाजलि से कहा तब जाजलि ने कहा—अच्छी बात है। मैं तुलाधार से जा कर मिलूँगा। जाजलि के यह कहते ही पिशाचों ने जाजलि को समुद्र से उठा कर बाहर खड़ा कर दिया और बोले—हे द्विजवर्ग! तुम इस मार्ग से तुलाधार के पास चले जाओ। यह सुन जाजलि उदास हुए और तुलाधार के घर की ओर जाते हुए वाराणसी पुरी में पहुँचे। तुलाधार इसी नगरी में रहता था। वे तुलाधार से मिले और उससे कहा।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! पहले आप मुझे यह तो बतला दें कि जाजलि ने ऐसा कौन सा कठोर तप किया था, जिससे उन्हें ऐसी सिद्धि मिली थी।

भीष्म जी बोले—जाजलि ने बड़ी कठिन तपस्या की थी। वे प्रातः सायं स्नान कर आचमन करते थे और भली भाँति अग्नि का आराधन करते थे और वेद का स्वाध्याय किया करते थे। स्वआश्रमानुकूल व्यवहार करने से उनके चेहरे पर तेज विराजता था। वे वन में रह कर तप करते थे, उन्हें अपने धर्माचरण का गर्व न था। वर्षा ऋतु में वे खुली जगह में रहते थे और हेमन्त ऋतु में वे जल में बैठ कर तप करते थे व अनेक कष्टदायी आसनों से बैठ कर, खुले मैदान में तप करते थे।

वर्षा ऋतु में एक दिन वे खुले स्थान पर बैठे हुए थे। उस समय मूसलधार जल बरसने लगा। उस जलवृष्टि को उन्होंने अपने सिर पर झेल लिया। हे राजन्! उन्हें बारम्बार वन में जाना पड़ता था। अतः उनके सिर के बालों में धूल गर्दा भरी हुई थी। अब जल से सिर केवल तर हो जाने से उनकी जटाएँ उलझ गयीं। एक दिन जाजलि ने निराहार रह कर, केवल वायु पान कर और लकड़ी की तरह निश्चेष्ट भाव से रह कर, तप किया। जब वे पेड़ के ठूठ की तरह बिना हिले

तप कर रहे थे; तब एक कुलिङ्ग पत्ती ने उनकी जटाओं में अपना घोंसला बना लिया।

वे ऋषि परम दयालु थे। अतः उन्होंने अपनी जटा में बने उस तृण के घोंसले में रहने वाले पत्ती को हटाया नहीं और उसका घोंसला भी जहाँ का तहाँ रहने दिया। वे तपस्वी हिलते तो थे ही नहीं, अतः पत्ती का जोड़ा निर्भय हो उनकी जटाओं में सुख से रहने लगा। जब वर्षा ऋतु बीत गयी और शरद् ऋतु आरम्भ हुई तब उन पत्तियों ने अपने घोंसले में किसी प्रकार की शङ्का न कर अंडे रखे। यह बात उन ऋषि को अवगत हो गयी। तब भी वे हिलेडुले नहीं और जहाँ के तहाँ खड़े रहे। क्योंकि वे धर्मात्मा स्वभाव के पुरुष थे। वह पत्ती का जोड़ा दिन में चुगने जाता और शाम को बसेरा लेने उनके मस्तक पर बने घोंसले में निर्भय हो चला आता था और रहता था। कुछ दिनों बाद अंडे फोड़ उनमें से शावक निकले। उन ऋषि के मस्तक पर वे बच्चे बढ़ने लगे। किन्तु ऋषि जहाँ के तहाँ खड़े रहे। यथासमय उन पत्तीशावकों के पंख निकल आये। तब उन मुनि को मालूम हुआ कि उनके पंख निकल आये हैं। यह देख ऋषि को बड़ी प्रसन्नता हुई। पत्ती का जोड़ा भी अपने बच्चों को पंखों से युक्त देख बहुत प्रसन्न हुआ और बच्चों सहित निर्भय हो रहने लगा। बच्चे सवेरा होते ही माता पिता के साथ उड़ कर जाते और शाम को लौट कर चले आते थे। यह देख कर भी वे ऋषि ज़रा भी नहीं हिलते डुलते थे। धीरे धीरे माता पिता ने उन्हें स्वतन्त्र कर दिया। अब वे अकेले उड़ जाने लगे। वे पत्ती समस्त दिन बाहर रहा करते। किन्तु शाम होते ही लौट आते थे। जब उन बच्चों में शक्ति आ गयी, तब वे कभी कभी पाँच पाँच दिनों तक बाहर रहते थे और छठवें दिन उन ऋषि के मस्तक पर निवास करने के लिये आते थे। तब भी जाजलि वहाँ से हिलते न थे। जब ये पत्ती बलवान हो गये, तब कितने ही दिनों तक अपने घोंसले की ओर नहीं आते थे।

हे राजन् ! एक दिन वे पक्षी गये हुए एक मास तक लौट कर नहीं आये। तब जाजलि ऋषि वहाँ के वहाँ ही खड़े रहे। जब उन मुनि को यह निश्चय हो गया कि वे पक्षी घोंसला छोड़ कर सदा के लिये चले गये हैं, तब वे वहाँ से हटे और उनके मन में गर्व उत्पन्न हुआ। वे समझने लगे कि अब मैं सिद्ध हो गया। अपनी जटा में पल कर बड़े हुए पक्षियों को देख, सुव्रत एवं उदारमना जाजलि मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। वे उस स्थान को त्याग नदी पर गये और नदी में स्नान कर, उन्होंने आचमन किया। फिर अग्नि में हवन किया। फिर उदयकालीन सूर्य का उपस्थान किया। फिर दोनों भुजाओं पर ताल मार उन्होंने आकाश की ओर देखा और अभिमान में भर कहने लगे। मैंने बड़ा धर्मकार्य किया है। ऐसा कहने के बाद ही जाजलि ने यह आकाशवाणी सुनी—हे जाजलि ! तू धर्म करने में तुलाधार के समान नहीं है। तुलाधार नामक एक बुद्धिमान जन काशी में रहता है। हे द्विज ! तू जैसा अभिमान प्रदर्शित करता है, वैसा तो वह भी प्रदर्शित नहीं करता है।

हे राजन् ! यह बात सुन कर जाजलि मुनि बड़े क्रुद्ध हुए और वे तुलाधार से मिलने के लिये सारे भूमण्डल पर भ्रमण करने लगे। जहाँ सायंकाल हो जाता, वहीं वे विश्राम करने लगते थे। इस प्रकार वे घूमते घामते काशी में जा पहुँचे। वहाँ जा कर उन्होंने देखा कि तुलाधार दूकान पर बैठा माल बेच रहा है। व्यापार से जीविका चलाने वाले तुलाधार ने जब जाजलि को अपने निकट आते देखा, तब वह हर्षित हो गया और उनका आतिथ्य किया। तदनन्तर तुलाधार ने उन ऋषि से कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! आप निश्चय जाने कि जब आप मेरे पास आने को प्रस्थानित हुए थे तभी मुझे आपके आगमन की बात मालूम हो गयी थी। अब मैं आपसे एक बात कहता हूँ। उसे आप सुनें। आपने समुद्र के तल में बैठ बड़ा कठोर तप किया है। यह ठीक है। किन्तु आप धर्म का लक्षण नहीं जान पाये। हे द्विज ! जब आप तपःसिद्ध हुए, तब

आपके मस्तक पर पक्षियों के बच्चे उत्पन्न हुए और आपने उन बच्चों की भली-भाँति रक्षा की। जब बच्चों के पंख निकल आये और वे चुगने के लिये उड़कर जाने लगे तब उनकी रक्षा करने का आपके मन में अभिमान उत्पन्न हो गया और आप अपने को कर्मनिष्ठ मानने लगे। उसी समय आकाशवाणी हुई और आपको मेरा नाम मालूम हुआ। इससे आपके मन में अमर्ष उत्पन्न हुआ, अतः आप मुझसे मिलने को यहाँ पधारे हैं। हे द्विजवर्य ! आप आज्ञा दें कि, मैं आपका क्या प्रिय कार्य करूँ ?

दोसौ बासठ का अध्याय

अहिंसा ही परम धर्म है

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज ! जब उस बुद्धिमान् तुलाधार ने इस प्रकार कहा, तब जप-कर्त्ताओं में श्रेष्ठ बुद्धिमान् जाजलि ने तुलाधार से कहा—हे महाबुद्धिमान् वैश्यनन्दन ! तू सब प्रकार के रसों, सुगन्धित द्रव्यों और जड़ी बूटियों का व्यापार करता है। तुझे ऐसी नैष्ठिकी बुद्धि क्यों कर प्राप्त हुई ? तुझे ऐसा ज्ञान क्यों कर प्राप्त हुआ ?

भीष्म जी बोले, हे धर्मराज ! जब उस यशस्वी ब्राह्मण ने इस प्रकार तुलाधार से पूछा, तब धर्म और अर्थ के ज्ञाता उस वैश्य ने धर्म का सूक्ष्म रूप निरूपण करना आरम्भ किया।

तुलाधार बोला—हे जाजलि ! जो अविनाशी सनातन धर्म है, उसे मैं सरहस्य जानता हूँ। जिस पौराणिक धर्म को सब लोग जानते हैं, उससे यह धर्म पृथक नहीं है। वह धर्म यही है कि, समस्त प्राणियों के हित-साधन में संलग्न रहना और सब के साथ सौहार्द्र रखना; किसी भी प्राणी से द्रोह न करना। आपत्तिकाल में यत्किञ्चित द्रोह कर के आ-जीविका चलावे। यही उत्तम धर्म है। हे जाजलि ! मैं ऐसी ही जीविका से अपना निर्वाह कर रहा हूँ।

यह मेरा घर दूसरों की काटीं लकड़ियों और घासफूस से बना हुआ है। लाख का रस, पद्मक, तुङ्ग और कस्तूरी आदि विविध सुगन्धित द्रव्य, मद्य के अतिरिक्त घी आदि विविध रस पदार्थ, बाहर से ख़रीद कर और उनमें बिना मिलावट किये मैं बेचा करता हूँ। हे विप्रर्षे! आप यह निश्चय जान रखें कि धर्म के स्वरूप को वही जानता है, जो सब का मित्र होता है और जो मनसा, वाचा, कर्मणा प्राणिमात्र के हित में तत्पर रहता है। मैं न तो किसी के अनुकूल और न किसी के प्रतिकूल ही रहता हूँ। मैं न किसी का विरोधी और न किसी का द्वेषी ही हूँ। मुझे किसी वस्तु की कामना भी नहीं है। मैं समस्त वस्तुओं और समस्त प्राणियों में समान वृत्ति रखता हूँ। यह तराजू सब के लिये एक सी है। न तो मैं किसी के काम की प्रशंसा करता हूँ न किसी की निन्दा। हे विप्रेन्द्र! जैसे आकाश की रंगत क्षण क्षण में परिवर्तित हुआ करती है, वैसे ही इस संसार में मनुष्यों की रंगत भी क्षण क्षण में बदला करती है। मैं समस्त प्राणियों में समान दृष्टि रखता हूँ। मेरी दृष्टि में सुवर्ण की डेली और मिट्टी की डेली में कुछ भी अन्तर नहीं है। देवताओं के कोप से अन्धे, बहरे और पागल हुए पुरुष भी एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर लंबी साँसें लेते हुए अपना जीवन किसी न किसी तरह व्यतीत किया ही करते हैं। इसी प्रकार तुम मेरे निहारने को भी समझो। कामभोगों में मेरी स्पृहा वैसे ही नहीं है, जैसे वृद्धों, आतुरों और रोगादि से दुर्बल पुरुषों की समस्त प्रकार के भोगों में नहीं हुआ करती। जिस पुरुष से संसार का कोई भी पुरुष नहीं डरता और वह भी किसी से नहीं डरता, समझना चाहिये उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो गयी है। जब कोई पुरुष मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का भी बुरा नहीं चाहता, तब वह ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। जो भूत, भविष्यत् और किसी धर्म के बन्धन में नहीं है, और जो किसी प्राणी से नहीं डरता, उसीको अभय-पद अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

जो पुरुष कटुवाणी बोलता है, उग्र दण्डविधान करता है और जिसे देख सब प्राणी वैसे ही थरथर काँपने लगते हैं, जैसे काल को देख कर, मनुष्य बड़े भय में पड़ता है। जो बूढ़े हैं, नाती पोतों वाले हैं, जो वेदाज्ञा के अनुसार चलते हैं उन महात्माओं के आचरणों को देख कर, मैं उनका अनुकरण करता हूँ। लोग जब सदाचार के किसी अंश में विरोध पाते हैं, तब वे सनातन धर्म को छोड़ बैठते हैं। ऐसे स्थलों पर बड़े बड़े विद्वान् एवं जितेन्द्रिय एवं काम-क्रोध-जित भी भ्रम में पड़ जाते हैं। हे जाजलि! जो बुद्धिमान् एवं जितेन्द्रिय पुरुष मन को पवित्र रख, द्रोह को त्याग देते हैं और सत्पुरुषों के आचरण को पालते हैं, वे शीघ्र ही पुण्यफल प्राप्त कर मोक्ष पाते हैं। इस जगत् में पुरुष का संयोग दैवेच्छा से पुत्रादि के साथ वैसे ही हो जाता है और यथासमय उनसे उनका विलगाव हो जाता है। जैसे दैवेच्छा से नदी की धार में उतराता हुआ काठ दूसरे काठ से मिल जाता है और थोड़ी दूर तक साथ साथ उतराता हुआ चला जाता है और फिर एक दूसरे से बिलग हो जाता है। नदी की धार में बहते हुए उस काठ से अन्य काठ, तृण, कंडे आदि भी उससे मिल जाते हैं। इन सब का संयोग उस काठ को दैवेच्छा ही से प्राप्त होता है। अपनी इच्छा या किसी कार्य विशेष को करने के उद्देश्य से नहीं होता। हे मुने! कोई भी प्राणी जिससे कभी उद्विग्न नहीं होता उसे भी कभी किसी प्राणी से उद्विग्नता नहीं होती। हे जाजलि! जिस प्रकार समस्त जलचर प्राणी बड़वानल से डर कर समुद्र के तट पर चले आते हैं, उसी प्रकार जिससे सब लोग भेड़िये की तरह भयभीत हो भागते हैं, वह भी स्वयं महान् भय में पड़ जाता है। अभयदान की विधि इस प्रकार इस जगत् में प्रकट हुई है। प्राणिमात्र को अपनी शक्ति के अनुसार इसका सेवन करना चाहिये। जो पुरुष सहायकों वाला और धनाढ्य होता है, वह पुरुष अभयदान से ऐश्वर्य और परलोक में सद्‌गति पाता है। इसी लिये, विद्वान लोग, धनी

और सहायक रखने वाले को अच्छा समझते हैं। जो पुरुष नश्वर सुख की अपने मन में कामना रखता है; वह कीर्ति के लिये अभयदान देता है। जो पुरुष निपुण होता है, वह अभयदान का सेवन परब्रह्म की प्राप्ति के लिये करता है। तप, यज्ञ, दान, सत्य और चातुर्य के साथ व्यवहार से, जो फल मिलता है, वही फल मनुष्य को अभयदान से प्राप्त होता है। जो मनुष्य समस्त प्राणियों को अभयदान देता है, उसे भी अभयत्व फल प्राप्त होता है। सब धर्मों में अहिंसा धर्म सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि अहिंसा धर्म का पालन करने से कोई भी प्राणी किसी प्रकार कभी भी उद्विग्न नहीं होता। उसे समस्त प्राणियों से अभय प्राप्त होती है। किन्तु गृह में रहने वाले सर्प से जिस प्रकार सब लोग डरते हैं, वैसे ही जिससे सब लोग डरते हैं, उसे न तो इस लोक में और न परलोक ही में धर्म का फल मिलता है। समस्त प्राणियों के आत्मारूप और सब प्राणियों को आत्मारूप देखने वाला तथा ब्रह्मलोकादि स्थानों से रहित पुरुष के पक्ष में ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति की कामना रखने वाले देवता भी मोह में पड़ जाते हैं। अभयदान सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है। हे जाजलि! मैंने आपसे सब सत्य ही सत्य बातें कहीं हैं आप मेरे कथन पर श्रद्धा रखिये। काम्य कर्म करने वाले पुरुष का भाग्य प्रथम अच्छा होता है, किन्तु स्वर्गादि लोकों से च्युत होने पर और इस लोक में आने पर वह पुनः दुर्भाग्ययुक्त हो जाता है। उसके सत्कर्म के क्षय को देख कर, ज्ञानी जन उसके कर्म की प्रशंसा नहीं करते। हे जाजलि! धर्म की गति अति सूक्ष्म है। वेद में धर्म की जो व्याख्या की गयी है, वह स्वर्ग और ब्रह्म प्राप्ति के लिये है। किन्तु धर्म का स्वरूप अत्यन्त गूढ़ है। वह इतना सूक्ष्म है कि वह पूर्ण रीत्या समझ ही में नहीं आता। कितने ही सदाचारी पुरुषों के आचरण से और कितने ही विरुद्ध वचनों से धर्म का निर्णय कर लिया करते हैं। जो पशुओं के अण्डकोशों को विदीर्ण कर डालते हैं और उनकी नाक में

नाथ छेदते हैं, बैलों से बहुत सा बोझ ढुलवाते हैं, रस्सियों से बाँध उन्हें पकड़ रखते हैं, प्राणियों को मार कर उनका माँसादि खा जाते हैं उनको आप नष्ट क्यों नहीं करते? मनुष्य ही तो मनुष्य को दास बना कर, मौज उड़ाते हैं और उनको मार कर तथा क़ैद कर, रात दिन क़ैदखाने में उनसे काम लेते हैं। मार और क़ैद के कष्ट ऐसे नहीं हैं, जिनसे पुरुष अज्ञात हो। उनकी निन्दा आप क्यों नहीं करते? किन्तु आप मेरे देश की निन्दा करते हैं। यदि मैं अधर्ममय कर्म करता हूँ तो क्या उन लोगों के कर्म मेरे इस अधर्ममय कर्म की अपेक्षा अधिक अधर्ममय नहीं हैं? प्रत्येक प्राणधारी में पाँच इन्द्रियां और पञ्चमहाभूतों के देवता रहते हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, ब्रह्मा, प्राण, यज्ञ, मन आदि समस्त देवगण सब में रहते हैं।

इस जगत में तो ऐसे लोग भरे पड़े हैं, जो जीवित प्राणियों के व्यवसाय की आय से अपना निर्वाह करते हैं। जब वे ऐसा करते हैं, तब मरे हुओं को बेच कर निर्वाह करने वालों का तो विचार ही क्या करना? छाग—बकरा अग्नि का रूप है। मेष—वरुण का रूप है, अश्व—सूर्य का रूप है, पृथिवी—विराट रूप है। धेनु और उसका बछड़ा—चन्द्रमा का रूप हैं। जो लोग, इन प्राणियों को बेचते हैं, उनका जय कभी नहीं होता। हे ब्रह्मन्! तेल, घी, मधु और औषधियां बेचने में दोष ही क्या है?

हे जाजलि! अनेक ऐसे भी मनुष्य हैं जो उन पशुओं को जो मच्छरों और डांसों से रहित स्थानों में पाले पोसे गये हैं और जो अपनी माताओं के परम प्रिय हैं, महान् कष्ट देते हैं। उन्हें डाँसों और मच्छरों से पूर्ण दलदलों में रखते हैं और उनसे अपने इच्छानुसार बोझा उठवाते हैं। तब वे पीड़ित हो दुःखी होते हैं। अनेक पुरुष यज्ञीय पशुओं को ही बहुत दुःख देते हैं। मैं ऐसे कर्मों की अपेक्षा बालहत्या को भी अधिक नहीं समझता। बहुत से खेती को अच्छा समझते हैं।

किन्तु देखा जाय तो यह पेशा भी बड़ा भयङ्कर है। खेत जोतते समय लकड़ी का हल, अपने फल से पृथिवी तथा उसमें रहने वाले अगणित जीवों का नाश करता है। हे जाजलि! आप ज़रा हल में जुते बैलों की दशा पर तो ध्यान दीजिये। वेद में गौ और बैल को अघ्न्या न मारने योग्य बतलाये गये हैं, तब क्या उनको मारना ठीक है? अतः जो मनुष्य गौ या बैल को मारता है वह महापातकी है। पूर्वकाल में बड़े बड़े योगियों और ऋषियों ने राजा नहुष से कहा था कि तूने गोहत्या की है। अतः वेदवाक्यानुसार तूने मातृहत्या की है। तूने बैल को मार कर प्रजापति की हत्या करने का पापकर्म किया है। हे नहुष! तूने अनकरना काम किया है। अतः तेरे पीछे हमें भी पीड़ित होना पड़ेगा। हे जाजलि! उन ऋषियों ने वह पाप एक सौ एक रोगों के रूप में बना कर, सब प्राणधारियों को बाँट दिया था। गोहत्या करने वाले नहुष से, उन ऋषियों ने कहा था। तूने भ्रूणहत्या की है। अतः हम तेरे हवि को अग्नि में नहीं होमेंगे।

किन्तु पीछे जब उन तत्वार्थदर्शी, महात्मा एवं शान्त ऋषियों तथा यतियों ने निज तपोबल से देखा, तब उन्हें विदित हुआ कि नहुष ने जानबूझ कर गोहत्या नहीं की। किन्तु प्रमादवश नहुष से वह काम बन पड़ा था। हे जाजलि! इस प्रकार का भयङ्कर, अकल्याणकर आचार जगत् में प्रचलित है और आप भो उसे प्राचीन कालीन मान, अन्धपरम्परा से कर रहे हैं और बुद्धि से काम ले यह नहीं विचारते कि इसके चलने का कारण क्या है। जिस कर्म के करने में अधर्म प्रतीत होता है, ऐसा कर्म करने के पूर्व भली भाँति सोच विचार कर लेना चाहिये। लोक-परम्परा समझ और आँखें बंद कर, ऐसे कामों को न करना चाहिये।

हे जाजलि! मुझे भले ही कोई दुःख दे अथवा सुख दे, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। इस सम्बन्ध में मैं अपना विचार आपको बतलाता हूँ।

सुनिये। मैं तो दोनों को समान मानता हूँ। मुझे उनमें से न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय। पण्डितों ने ऐसे ही धर्म की प्रशंसा की है। ऐसे ही युक्तियुक्त धर्म का योगीजन सेवन करते हैं तथा धर्मात्मा पुरुष बड़ी निपुण दृष्टि से ऐसे धर्म को देखा करते हैं।

दोसौ त्रेसठ का अध्याय

हिंसा का कारण दम्भ है, धर्म नहीं।

जाजलि बोले—हे तुलाधार! तूने निवृत्ति रूप धर्म का प्रतिपादन किया है, इससे तो प्राणियों के लिये स्वर्ग का द्वार बंद होता है। उन की आजीविका बंद होती है। खेती बारी से तो अनाज पैदा होता है, जिसे खा कर तू भी जीवित है। हे वैश्य! मनुष्य पशुओं की सहायता से कृषि और औषधियों पर अपना निर्वाह करते हैं। पशु और औषधियों से यज्ञ होते हैं। किन्तु तेरा सिद्धान्त तो नास्तिकों जैसा है। यदि जीवनोपयोगी व्यवहार त्याग दिये जाँय, तो इस जगत का अन्त ही हो जाय।

तुलाधार बोला—हे विप्र! मैं नास्तिक नहीं हूँ। विना हिंसा किये भी निर्वाह हो सकता है। कैसे? यही मैं अब आपको बतलाता हूँ। मैं यज्ञ की निन्दा नहीं करता। किन्तु यज्ञ के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता जन विरले ही हैं। जो यज्ञ ब्राह्मण के लिये रचे गये हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ और ऐसे यज्ञ के ज्ञाता ब्राह्मणों को भी मैं प्रणाम करता हूँ। किन्तु शोक के साथ कहना पड़ता है कि जिस यज्ञ का विधान ब्राह्मणों के लिये किया गया था, उन्हें वे भूल गये और वे क्षत्रियोचित यज्ञ करने लगे। जो अति श्रद्धावान् हैं, उनको धनलोलुप नास्तिकों ने वेद का ऊटपटाँग अर्थ समझा, देखने में सत्य से जान पड़ने वाले, किन्तु परिणाम में असत्य सिद्ध होने वाले अनेक प्रकार के यज्ञ चला दिये हैं। अमुक

यज्ञ में अमुक वस्तु देनी चाहिये, प्रथम कहा हुआ यज्ञ प्रशंस्य है—आदि अनेक बातें कही जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि चोरी आदि अनेक दूषित काम करने पड़ते हैं। किन्तु यज्ञ में तो उत्तम रीति से उपार्जित द्रव्य हव्य में लगाना उचित है, इसीसे देवता प्रसन्न होते हैं। नमस्कार रूपी हवि, औषधि रूपी हवि और स्वाध्याय अथवा वेदगान रूपी हवि आदि अनेक प्रकार के हवि शास्त्र में वर्णित हैं। उनके द्वारा यदि यज्ञ में देवपूजन किया जाय तो उससे देवगण प्रसन्न होते हैं। असाधु जनों के पापी पुत्र होते हैं। लोभी बाप के लोभी पुत्र उत्पन्न होता है और जो सन्तोषी होता है उसके सन्तोषी सन्तान उत्पन्न होते हैं। यदि यजमान और ऋत्विज किसी कामना को पूर्ण करने के लिये यज्ञ करते हैं, तो उनकी प्रजा भी सकाम होती है। यदि वे निष्काम कर्म करते हैं तो यज्ञ द्वारा वैसे ही सन्तान पैदा होते हैं। यज्ञ से वैसे ही शुद्ध प्रजा होती है जैसे निर्मल आकाश से स्वच्छ जल की वृष्टि होती है।

हे ब्रह्मन्! अग्नि में जो आहुति छोड़ी जाती हैं, वे सूर्यमण्डल में पहुँचती हैं और सूर्यमण्डल से जलवृष्टि होती है। जलवृष्टि होने पर अनाज पैदा होता है और अन्न से (वीर्य और वीर्य से) प्रजा उत्पन्न होती है। पूर्वकालीन लोग निष्काम भाव से यज्ञ किया करते थे। उनकी समस्त कामनाएँ पूरी हुआ करती थीं। उस समय बिना जोते अनाज पैदा होता था। जगत्-हितैषी ऋषियों और मुनियों के आशीर्वादात्मक मंत्रों से औषधियाँ और वनस्पतियाँ पैदा होती थीं। प्राचीन कालीन पुरुष किसी कामना की पूर्ति के लिये यज्ञ नहीं किया करते थे। जो पुरुष किसी फल की कामना से यज्ञ करता है, वह अगले जन्म में दुष्ट, धूर्त, लोभी धनसंग्रही होता है। जो पुरुष वेदवाक्यों में कुतर्क करते हैं उन्हें अपने उन पाप पूरित विचारों के लिये नरकगामी होना पड़ेगा। ऐसों का आत्मा पापिष्ठ होने से, कभी मोक्ष नहीं पाता। जो पुरुष वेदोक्त कर्मों को, नित्य कर्म की तरह समझता है, यदि किसी दिन नागा हो तो

वह भयभीत हो जाता है जो पुरुष यज्ञ यज्ञादि कर्मों को ब्रह्मरूप मानता है और जो पुरुष जगत् में अपने को कर्त्ता नहीं समझता, वही शुद्ध ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मण के अधूरे या दोषयुक्त कर्मों को या शूकरादि से अपवित्र किये गये कर्मों को, वेदवेत्ता श्रेष्ठ ही बतलाते हैं। किन्तु कर्म फल प्राप्ति के लिये किया गया कर्मफल, यदि अधूरा छूट जाय, तो इसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

जो लोग परम पुरुषार्थ पाने को उत्सुक हैं, जिनमें किसी वस्तु का लोभ नहीं है, जो भविष्यत् के प्रबन्ध को बुरा समझते हैं, जो मत्सरशून्य हैं, वे ही पुरुष यज्ञ के रूप में सत्य बोलते और इन्द्रिय दमन कर सकते हैं। जो शरीर और आत्मा के भेद को जान गये हैं, जो भोग में कुशल होते हैं, जो प्रणव का जप किया करते हैं, वे दूसरों को भी सन्तुष्ट रख सकते हैं। क्योंकि ओंकार ब्रह्मरूप है, समस्त देवता आत्मरूप हैं और ब्रह्मवेत्ता में उनका निवास है। ब्रह्मवेत्ता सदा सन्तुष्ट रहता है। ब्रह्मवेत्ता के भोजन द्वारा तृप्त होने पर समस्त देवता तृप्त हो जाते हैं। जैसे कोई पुरुष समस्त रसों से तृप्त हो चुका हो उसके आगे कोई भी स्वादिष्ट पदार्थ ला कर यदि रखा जाय, तो वह उसे खाना पसंद नहीं करता, वैसे ही ब्रह्मज्ञान से तृप्त पुरुष को अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। वह तो उसीसे सदा तृप्त बना रहता है। ऐसी बुद्धि धर्म ही से होती है। क्योंकि ज्ञानियों की आधार-भित्ति तो धर्म ही है। धर्म ही उसके लिये सुखप्रद है। जो ऐसा समझता है वह कार्याकार्य का निर्णय भी कर सकता है। ऐसा पुरुष अपने आत्मा ही से सारे जगत् की उत्पत्ति समझता है। कितने ही ज्ञानी एवं विज्ञानी जन इस भवसागर के पार होना चाहते हैं। ऐसे पुरुष परम श्रद्धालु और सात्त्विक होते हैं। वे अत्यन्त पवित्र एवं पवित्र जनों के आश्रयस्थल, परब्रह्म के स्थान में जाते हैं, जहाँ से लौट कर न तो उनको पुनः मर्त्यलोक में आना पड़ता है और न जहाँ किसी प्रकार की पीड़ा या कष्ट होता।

जो ब्रह्मवेत्ता सतोगुणी पुरुष होते हैं, वे तो स्वर्गप्राप्ति की कभी कामना ही नहीं करते। वे धन से होने वाले यज्ञ को कभी नहीं करते। वे तो सन्मार्गगामियों के चले हुए मार्ग का अनुसरण करते हैं और वे ऐसा यज्ञ करते हैं जिसमें किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी पड़ती। वे तो वनस्पतियों और औषधियों को हवि मानते हैं। अतः धनलोलुप ऋत्विज ऐसों को यज्ञ तक नहीं कराते। किन्तु ज्ञानी ब्राह्मण अपने आत्मा ही को यज्ञीय सामग्री समझ, प्रजा के कल्याणार्थ यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ में वे अपने मानसिक सङ्कल्पों को होमते हैं। इसीसे धन के लालची ऋत्विज ऐसे ज्ञानियों को यज्ञ नहीं कराते। वे तो ऐसे लोगों को यज्ञ करवाते हैं जो मोक्षप्राप्ति की कभी इच्छा भी नहीं करते—प्रत्युत जो स्वर्ग पाने को लालायित रहते हैं और नाशवान् पथ के पथिक हैं।

जो सत्पुरुष होते हैं, वे तो सर्वत्र समबुद्धि रख कर स्वधर्मानुकूल आचरण करते हैं और दूसरों के लिये स्वर्ग जाने का रास्ता बना देते हैं। दो प्रकार के ऐसे आचरणों को देख, मैं सब पर सद्भाव रखता हूँ। धूमादि अर्थात् पुनरावृत्ति के मार्ग वाले अथवा अर्चिरादि—या अपुनावृत्ति के मार्ग वाले ज्ञानवान विद्वान् ब्राह्मण जिस कामना के लिये यज्ञ करते हैं उस यज्ञ के द्वारा हे महामुने! वे देवयान या पितृयान मार्ग से जाते हैं। सकाम कर्म करने वाले को पुनः इस लोक में आना पड़ता है, किन्तु निष्काम करने वाले को इस लोक में नहीं आना पड़ता। यद्यपि दोनों प्रकार के कर्म करने वाले देवयान मार्ग से जाते हैं, तथापि उनको जो फल प्राप्त होता है, उसमें बड़ा तारतम्य है। ज्ञानियों के समस्त सङ्कल्प सिद्ध होते हैं। उसके खेत को बैल स्वयं ही जोतते हैं, उसकी गाड़ी खींचते हैं तथा गौएं बिना दुहे ही अपने आप दूध देती हैं। ज्ञानी पुरुष जब यज्ञ करना चाहता है, तब स्वयं ही यज्ञस्तूप खड़ा कर लेता है और यज्ञ कर उत्तम दक्षिणाएँ बाँटता है। जिस पुरुष ने योगाभ्यास से अपना मन शुद्ध कर लिया है, वह पुरुष यज्ञ के लिये गौ अर्थात् इन्द्रिय की

हिंसा कर सकता है। किन्तु हे विप्र! जो ऐसे ज्ञानी नहीं हैं, उनको औषध और वीज आदि यज्ञ करने चाहिये। क्योंकि ऐसा ही त्याग उत्तम माना गया है। अब मैं आपको सच्चे त्यागियों की पहचान बतलाता हूँ। अकाम कार्य को आरम्भ करने वाले किसी को नमस्कार प्रणाम न करने वाले, किसी की खुशामद न करने वाले और उस पुरुष को, जिसके सब कर्मफल क्षीण हो गये हैं, देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।

हे जाजलि! जो पुरुष दूसरे को वेद नहीं पढ़ाता, जो यज्ञ नहीं करता, और सत्पात्र विप्र को दान भी नहीं देता, यदि वह उत्तम गति पाना चाहे तो उसे वह गति कैसे मिल सकती है? क्योंकि जो ब्राह्मण ब्राह्मणोचित धर्मों को पूर्ण रीति से पालता है, उसीको परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

जाजलि ने पूछा—हे वणिकपुत्र! मैंने आज तक आत्मयागी मुनियों का रहस्य नहीं सुना। क्योंकि वह महागूढ़ विषय है। उसे समझना सहज नहीं है। अतः तुम से मैं पूछता हूँ। आरम्भ में ऋषियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। अतः उन्होंने इस धर्म का प्रचार जगत में नहीं किया। हे वैश्य! तुम कहते हो कि पशुभाव सम्पन्न मनुष्य आत्मा रूपी तीर्थ में यज्ञ कर ही नहीं सकते। अतः वे किस कर्म से सुख पा सकते हैं—यह बात तुम मुझे बतलाओ। मुझे तुम्हारे कथन पर पूर्ण श्रद्धा है।

तुलाधार ने उत्तर दिया—यज्ञ तो प्रायः अनेक पुरुष किया करते हैं। किन्तु उनका यज्ञ यज्ञ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसे पुरुष तो किसी प्रकार के यज्ञ करने के अधिकारी नहीं हैं। किन्तु जो श्रद्धावान हैं; वे एक गौ से ही वाह्य यज्ञ सम्पन्न कर सकते हैं। वे घी दूध दही आदि की पूर्णाहुति दे कर, यज्ञ करते हैं। गौ की पूछ पकड़, पितृतर्पण करते हैं, गौ के सींगों का अभिषेक कर, गौ की खुरी की मट्टी से स्नान कर, तथा गौ के शरीर का स्पर्श कर, यज्ञ फल पाते हैं। वेदोक्त प्रमाण से

बिना स्त्री के यज्ञ नहीं हो सकता, किन्तु मेरी बतलायी विधि से पशु हिंसा न कर, घी आदि से यज्ञ करने वाला पुरुष यदि बिना स्त्री का भी हो तो वह श्रद्धारूपिणी स्त्री की कल्पना कर यज्ञ कर सकता है। समस्त पशुओं से पुरोडाश ही पवित्र है। समस्त नदियाँ सरस्वती के समान हैं। समस्त पर्वत पवित्र हैं। अतः हे विप्र! आप सारे तीर्थों में चक्कर न काटो। क्योंकि आत्मा ही तीर्थ रूप है। जो पुरुष ऐसे धर्मों का जिनमें हिंसा नहीं है, पालन करता है और सामर्थ्य तथा विद्वत्ता आदि कारणों के तारतम्य को देख कर, यज्ञीय धर्म पालन करने की इच्छा करता है—उसे पवित्र लोकों की प्राप्ति होती है।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! सत्पुरुषों से प्रशंसित, युक्तियुक्त एवं अहिंसामय धर्मों को तुलाधार ने सराहा।

दोसौ चौसठ का अध्याय

परम श्रेष्ठ श्रद्धा

तुलाधार कहने लगा—हे जाजलि! मैंने जिस अहिंसा पथ का वर्णन अभी किया है। उसी पर सत्पुरुष चलते हैं अथवा आप स्वयं चल कर अनुभव कर लें। ऐसा करने से आपको इस मार्ग की उत्कृष्टता का अनुभव अपने आप हो जायगा। आकाश में बहुत्त से बाज आदि पक्षी उड़ा करते हैं, उनमें वे भी पक्षी हैं जो आपके जटाजूट में उत्पन्न हुए थे। देखिये! वे सब पक्षी अपने हाथ पैर समेट घोसलों में घुसने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनको आप बुलावें। आपने अपने मस्तक पर, जिन पक्षियों को पाल पोस कर बड़ा किया था वे पक्षी यहाँ उड़ रहे हैं। इनका आप सत्कार करें। तब वे आप का भी पिता को तरह सत्कार करेंगे।

हे जाजलि! सचमुच आप इनके पिता हैं। अतः आप अपने बच्चों को बुलावें।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! तदनन्तर जाजलि ने उन पक्षियों को बुलाया। तब उन्होंने अहिंसा सम्बन्धी धर्म के सम्बन्ध में कहा—अहिंसा युक्त कर्म कर्त्ता को इस लोक तथा परलोक में प्रत्यक्ष फल देता है। हिंसा युक्त कर्म श्रद्धा का नाश करने वाला है और अश्रद्धा विश्वासघाती का नाश करती है। जब यह कह कर पक्षी उड़ गये, तब तुलाधार फिर कहने लगा—जिनके हानि लाभ बराबर हैं जो श्रद्धावान हैं। जो इन्द्रियों का दमन करते हैं, जिनकी मनोवृत्ति शान्त है। वे ही पुरुष यज्ञ करना चाहते हैं। वे यज्ञकर्त्ता होने का अभिमान नहीं करते। ऐसे ही को यज्ञ का पूर्ण फल मिलता है। ब्रह्म सम्बन्धी श्रद्धा सूर्य की प्रकाशमती पुत्री है। वह लोक-पालन-कर्त्री तथा शुद्ध जन्म देने वाली है। जप तथा ध्यान से उत्पन्न हुए पुण्यफल से भी अधिक पुण्य फल देने वाली है। मन तथा वाणी से किये गये दोष युक्त कर्मों का श्रद्धा समाधान करती है। श्रद्धारहित कर्म की रक्षा मन और वाणी नहीं कर सकते। इस श्रद्धा के सम्बन्ध में ब्रह्मा की गायी हुई गाथाओं को प्राचीन कालीन लोग इस प्रकार गाया करते थे। देवताओं ने यज्ञीय कर्म में पवित्र होने पर भी श्रद्धाहीन पुरुष के धन को तथा श्रद्धालु होने पर भी शारीरिक अपवित्रता युक्त पुरुष के धन को समान माना है। इसी प्रकार वेदाध्यायी कृपण जन के धन को और उदारमना ब्याजखोर के धन को एक सा माना है। देवताओं ने उन दोनों का विचार कर, उनके अन्न को यज्ञ में समान समझा था। यह देख प्रजापति उनसे बोले—तुम्हारी यह कल्पना समान नहीं है; किन्तु विषम कल्पना है। उदारमना पुरुष का अन्न श्रद्धा के कारण पवित्र है और कृपण का अन्न श्रद्धाहीन होने से अपवित्र है। अतः उदारमना सूदखोर का अन्न ले लेना उचित है। किन्तु जो वेदवेत्ता हो कर भी कृपण हो उसका अन्न न लेना चाहिये। जो श्रद्धा रहित है वह देवताओं को बलि देने का अधिकारी नहीं है। अतः उसका अन्न ग्रहण न करना चाहिये। यह धर्मवेत्ताओं का सिद्धान्त है। अश्रद्धा से बढ़ कर

पाप नहीं है और श्रद्धा पाप से मुक्त करने वाली है। जैसे सर्प केंचुली त्यागता है वैसे ही श्रद्धालुजन पापों से मुक्त होता है। श्रद्धा सहित निवृत्ति मार्ग का अवलंबन करना, समस्त पवित्र वस्तुओं से उत्तम है। जो मनुष्य निर्दोष, शीलवान और श्रद्धालु हो, उस पुरुष को पवित्र समझना चाहिये। श्रद्धालु पुरुष को तपस्या, सदाचार और धैर्य से क्या सम्बन्ध? प्रत्येक मनुष्य में श्रद्धा रहती है, परन्तु वह सात्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन तरह की मानी गयी है। इनमें जैसी जिसकी श्रद्धा हो, उसको वैसा ही जानना चाहिये। धर्मवेत्ता सत्पुरुषों ने इस प्रकार धर्म का स्वरूप वर्णन किया है। मैंने धर्म-जिज्ञासु बन, धर्मदर्शन नामक ऋषि से प्रश्न किया था। उनसे ही मैंने धर्म ज्ञान प्राप्त किया था। हे विप्र! आप भी श्रद्धावान हो जाओ। श्रद्धावान होने से आप परब्रह्म को प्राप्त कर सकोगे। जिस पुरुष को वेद वाक्यों पर श्रद्धा होती है और जो पुरुष वेदोक्त कर्म करने में श्रद्धा रखता है, उसे धर्मात्मा समझना चाहिये। हे जाजलि! जो पुरुष अपना कर्म श्रद्धापूर्वक करता है, उसीको श्रेष्ठ मानना उचित है।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! तदनन्तर महाबुद्धिमान तुलाधार ने अनेक विधि से अहिंसामय धर्म का जाजलि को उपदेश दिया। श्रेष्ठ तुलाधार ने जिस अविनाशी सनातन अहिंसात्मक धर्म को कहा था, उसका वह स्वयं पूर्ण ज्ञाता था। हे कुन्तीनन्दन! सुप्रसिद्ध पराक्रमी तुलाधार के बहुत से सज्जनों के मान्य तथा यथार्थ धार्मिक सोदाहरण उपदेश को सुन कर, जाजलि का मन शान्त हुआ था। बतलाओ अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?

दोसौ पैसठ का अध्याय

सर्वश्रेष्ठ धर्म अहिंसा ही है

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! प्रजाजनों पर अनुग्रह कर, राजा विचख्नु ने हिंसा की निन्दा और अहिंसा की प्रशंसा करते हुए जो कथा कही थी, उसका वर्णन इस प्रकार है।

एक समय एक यज्ञमण्डप में एक बैल मारा गया था। उस गोमेध यज्ञ में गौओं का वध हो रहा था। उस समय अन्य गौएँ बड़ा विलाप करने लगीं। यह देख कर तथा क्रूर ब्राह्मणों को यज्ञ में सहायता करते हुए देख कर, राजा ने निश्चय पूर्वक यह वचन कहा कि, जगत् में गौ बैलों का कल्याण हो। जब हिंसा धर्म चल रहा था, तब उस राजा ने इस प्रकार अशीर्वादात्मक वचन कहा था। वह राजा आगे बढ़ कर बोला कि, जो धर्मशास्त्र की मर्यादा को उल्लंघन करने वाले हैं, जो बुद्धिहीन हैं, जो नास्तिक शङ्काशील हैं और जो यज्ञ आदि धर्मकार्य कर, नामवरी चाहते हैं—वे ही यज्ञ में पशुवध को अच्छा समझते हैं। धर्मज्ञ मनु ने यज्ञादि समस्त वैदिक कर्मों में हिंसा का निषेध किया है। तिस पर भी कितने ही अविचारी लोग यज्ञ में पशुओं की हिंसा किया करते हैं। अतः शास्त्रवेत्ता पुरुष को सूक्ष्म धर्म का आचरण करना चाहिये। किसी प्राणी को पीड़ा न देना—यह धर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है। ज्ञानी पुरुष मनुष्यों के समीप में रह कर कठिन व्रत धारण करे, वेदोक्त फल बोधक कर्मों को त्याग कर गृहस्थाश्रम का त्याग करे। फल की इच्छा तो कृपण किया करते हैं। यज्ञों को, वृक्षों को और यज्ञ के स्थम्भों को मान दे कर, ज्ञानी मनुष्य वृथा ही माँस नहीं खाते। क्योंकि माँस भक्षण करना कोई अच्छा काम नहीं है। यज्ञ में मद्यपान करना, मत्स्य व माँस खाना, मधुपीना, आसव पीना, तिल मिश्रित भात खाना, धूर्तों की चलायी पद्धति है। यज्ञ में तो इनका निषेध है। धूर्तों ने दुराग्रहवश और लोभ एवं मोह

में फँस, यह कुत्सित प्रथा चलायी है। किन्तु पवित्र ब्राह्मण समस्त प्रकार के यज्ञों में विष्णु का वास मानते हैं। विष्णु की पूजा तो दूध और फूलों से करनी चाहिये। वेदोक्त यज्ञों में काम आने वाले वृक्षों से भी विष्णुपूजन किया जा सकता है। यज्ञ में शुद्धान्तःकरण से सतोगुणी संस्कार से जो कुछ होमा जाता है, उन सब को देवता अङ्गीकार करते हैं।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भीष्म जी! आपत्तियाँ शरीर का नाश करती हैं और शरीर आपत्तियों का नाश करना चाहता है। तब हिंसाकर्त्ता की आपत्तियाँ क्यों कर नष्ट हों और कार्यारम्भ न करने वाले पुरुष का शरीर-निर्वाह कैसे हो?

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! मनुष्य को ऐसा वर्त्ताव करना चाहिये, जिससे न तो दुःख प्राप्त हो और न मृत्यु के मुख ही में पड़ना पड़े। इस प्रकार वर्त्ताव कर, कर्म करना चाहिये जिससे सामर्थ्यवान हो धर्माचरण कर सके।

दोसौ छियासठ का अध्याय

चिरकारी का वृत्तान्त

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! धर्मसङ्कट के समय, जब गुरु की आज्ञा के अनुसार कोई हिंसामय कार्य करने की आवश्यकता हो, तब क्या करना चाहिये? क्या ऐसे धर्मसङ्कट में उतावली या विलम्ब कर, उस कार्य की परीक्षा करे? आप सब प्रकार मेरे पूज्य हैं। अतः आप मुझे इस प्रश्न का उत्तर दें।

भीष्म जी बोले—इस प्रश्न के उत्तर में, मैं तुम्हें अङ्गिरस-कुलोत्पन्न चिरकारी का एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूँ। वह इस प्रकार है। हे चिरकारिन्! अर्थात् चिरकाल तक विचार कर कार्य करने वाले—तेरा मङ्गल हो। जो मनुष्य कोई भी कार्य क्यों न हो—पहले भली भाँति

सोच विचार करने के बाद उसे करता है, वह बुद्धिमान् है, वह जो काम करता है उसमें वह चूकता नहीं।

गौतम नामक महर्षि का चिरकारी नामक एक पुत्र था। वह दीर्घ काल तक सोच विचार करने के बाद काम किया करता था। वह सब कामों को करने के पूर्व बहुत विचार करता। वह बहुत देर तक जागता था और बहुत देर तक सोता था और बहुत देर बाद प्रत्येक कार्य का करना स्वीकार करता था। इसीसे उसका नाम लोगों ने चिरकारी रख छोड़ा था।

कम बुद्धि वाले और अदूरदर्शी लोग उसको आलसी और निर्बुद्धि समझते थे। एक बार उसके पिता महर्षि गौतम अपनी स्त्री के व्यभिचार को देख, बड़े कुपित हुए और वे अपने अन्य पुत्रों से न कह कर, चिरकारी से बोले—तू अपनी माता को मार डाल। जप करने वालों में श्रेष्ठ, महाभाग्यशाली, शास्त्रज्ञ गौतम इस प्रकार पुत्र से कह कर और कुछ न बोले और योगाभ्यास करने के लिये वन में चले गये। चिरकारी ने अपने पिता के आदेश को मान लिया, किन्तु वह अपने स्वभावानुसार पिता के वचनों पर चिरकाल तक विचार करता रहा और पिता का आदेश तत्काल ही पालन न किया। वह मन ही मन विचारने लगा कि, मैं पिता की आज्ञा का पालन क्यों कर करूँ। ऐसा कैसे हो कि पिता की आज्ञा भी न टले और माता का वध भी मुझे न करना पड़े। मैं क्या करूँ जिससे इस धर्मसङ्कट में असत्पुरुषों की तरह मुझे न फसना पड़े। प्रथम तो स्त्री जाति, फिर मेरी जननी। भला स्त्री जाति और विशेष कर माता का वध कर, कौन सुखी रह सकता है! साथ ही पिता की आज्ञा की अवहेलना कर, भला कौन प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है? पिता का कहना मानना और माता की रक्षा करना—मेरे लिये धर्म है। यह किस प्रकार हो सकता है कि, मुझे इन दोनों धर्मों का अतिक्रमण न करना पड़े।

वेद में कहा है पिता अपने शील, चरित्र, गोत्र, और कुल को स्थिर रखने के अभिप्राय से अपनी स्त्री के उदर में गर्भ स्थापन करता है और स्वयं ही उत्पन्न होता है। मेरी माता और मेरे पिता ने मिल कर मुझे पुत्र रूप से उत्पन्न किया है। अतः मुझे भली भाँति सोच विचार कर काम करना चाहिये। जन्म होने के बाद* जातकर्म करते समय पिता जो वचन कहता है और †उपनयन संस्कार के समय वह जो वचन कहता है, वे पिता की मान्यता को दृढ़ करने वाले हैं। पिता अपने पुत्र का अन्नादि से पोषण कर, उसे वेदाभ्यास करवाता है। अतः वह उसका उत्तम गुरु है। पिता जो कुछ कहता है, पुत्र के लिये वह परम धर्म है। वेद का यही निश्चय है। पिता का पुत्र आनन्दस्थान है। पुत्र का जो कुछ है, वह पिता का ही है। शरीर आदि जो कुछ देने योग्य है, उसे एक पिता ही देता है। अतः पुत्र को पिता के वचनों का पालन करना आवश्यक है और पिता की आज्ञा में विचार करने की आवश्यकता भी नहीं है। क्योंकि जो पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करता है, उसके पाप दूर हो जाते हैं और वह पवित्र हो जाता है। योग्य वस्त्रादि पदार्थ भोज्य अन्न आदि पदार्थ, प्रवचन, वेदाध्ययन और समस्त सांसारिक व्यवहार, गर्भाधानादि संस्कार और सीमन्तोन्नयन संस्कार ये सब पिता के अनुग्रह ही से मिलते हैं और हुआ करते हैं। पिता धर्म स्वरूप है, पिता स्वर्ग है, पिता परम तप है। पिता के प्रसन्न होने से सब देवता प्रसन्न होते हैं। पिता अपने पुत्र को जो आशीर्वाद देता है, वे सब पुत्र को फलीभूत होते हैं। पिता जब पुत्र का अभिनन्दन करता

* पिता जातकर्म के समय कहता है—अश्मा भव अर्थात तू पत्थर की तरह पोढ़ा हो और परशुर्भव अर्थात् फरसे की तरह शत्रु का काटने वाला हो।

† उपनयन कर्म के समय पिता कहता है "आत्मा वै पुत्र नामासि" हे पुत्र! तू मेरा आत्मा स्वरूप ही है।

है; तब पुत्र के समस्त पाप दूर हो जाते हैं। डंठल से पुष्प अलग हो जाता है, वृक्ष से फूल अलग हो जाता है, किन्तु स्नेहवश पिता से पुत्र नहीं छोड़ा जाता है; भले ही पुत्र से पिता को क्लेश ही प्राप्त क्यों न हो। अतः पिता का गौरव करना पुत्र का धर्म है।

इस सम्बन्ध में विचार करने पर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि, पुत्र के लिये पिता कोई साधारण वस्तु नहीं है। साथ ही जब मैं माता के विषय में सोचता हूँ, तब जान पड़ता है कि, मेरे पञ्चमहाभूतात्मक इस शरीर को बनाने वाली तो मेरी माता ही है। जैसे अरणी अग्नि को उत्पन्न करती है, वैसे ही जननी पुत्र के पाञ्चभौतिक शरीर को उत्पन्न करती है। माता मनुष्य-शरीर के लिये अरणी रूपिणी है। माता समस्त दुखियों के दुःखों को दूर करने वाली है। माता जब तक जीवित रहती है, तब तक पुरुष सनाथ माना जाता है। माता के मरने पर पुरुष अनाथ-निराधार हो जाता है। यदि कोई पुरुष नितान्त निरधन हो गया हो और घर में जा कर यदि अरी माता! कह कर पुकारे; तो उसका दुःख दूर हो जाता है। माता के जीवित रहते, पुत्र को बुढ़ापा भी नहीं सताता। पुत्र पौत्र हो गये हों और स्वयं सौ वर्ष ही का क्यों न हो गया हो, तब भी यदि माता जीवित है; तो पुत्र को अपनी माता के निकट दो वर्ष के बालक की तरह आनन्द मिलता है। पुत्र शक्तिशाली हो या शक्तिहीन, पुत्र हृष्टपुष्ट हो या दुर्बल, किन्तु माता यथाविधि पुत्र की रक्षा करती है। माता को छोड़ पुत्र की रक्षा करने वाला और कोई नहीं है। जब माता का वियोग होता है, तब पुत्र बूढ़ा सा हो जाता है। तब वह दुःखी होता है और उसे संसार सूना जान पड़ता है। माता के समान छाया और रक्षक दूसरा कोई नहीं है। माता जैसा सहारा दूसरा नहीं है और माता से बढ़ कर और कोई प्रिय वस्तु नहीं है। माता अपने पुत्र को उदर में रखती है। अतः वह धात्री कहलाती है। पुत्र को जनती है, अतः वह जननी कहलाती है। माता पुत्र

को स्तनपान कराती है और पुत्र के शरीर को पुष्ट करती है; अतः वह अम्बा कहलाती है। वीरप्रसवनी होने से वह वीरप्रसू कहलाती है। बालक पुत्र की परिचर्या करने से माता शुश्रू कहलाती है। माता प्रत्येक व्यक्ति का निज शरीर कही जाती है। ऐसा कौन चित्त-शक्ति सम्पन्न पुत्र होगा जो अपनी उस माता का वध करे जिसने अपने पुत्र के मज्जा रहित मस्तक को सूखी तूमड़ी की तरह पृथिवी पर कभी लोटने नहीं दिया। जब स्त्री और पुरुष सन्तानोत्पत्ति की कामना से मैथुन करते हैं; तब दोनों ही पुत्रप्राप्ति की कामना करते हैं। किन्तु माता की कामना पिता की कामना से बलवती होती है। पुत्र के पिता को और गोत्र को जानने वाली माता ही तो है। गर्भ में बालक के आते ही माता के मन में बालक के प्रति स्नेह का अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है और तब पुत्र उत्पन्न होता है। यह सब होने पर भी पुत्र पर अधिकार पिता ही का होता है। विवाह-काल में पुत्र अपनी स्त्री का पाणिग्रहण करता हुआ कहता है कि, अपनी स्त्री के साथ रह कर, मैं धर्म अर्थ और काम का सम्पादन करूँगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा कर, पाणिग्रहण कर के भी जो पुरुष परस्त्रीगामी होता है, वह प्रतिष्ठा का पात्र नहीं समझा जाता।

स्त्री का भरण पोषण करने से पति भर्ता कहलाता है और उस का पालन करने से पति। किन्तु जब पुरुष से ये दोनों गुण नष्ट हो जाते हैं; तब वह न भर्ता कहला सकता है और न पति। विचार करने पर जान पड़ता है कि, स्त्रियाँ अपराधिनी नहीं होतीं—अपराधी तो पुरुष ही होते हैं। पर-स्त्री-सेवन से पुरुष को पाप विशेष होता है। भर्ता स्त्रियों के लिये परम देवता है। पति का रूप धर एक पुरुष (इन्द्र) मेरी जननी के निकट आया। मेरी माता ने धोखा खा उसे अपना पति जाना और अपना उत्तम शरीर उसके अर्पण कर दिया, (इसमें माता का अपराध ही क्या है ?)। स्त्रियों का कुछ भी अपराध नहीं होता, अपराध तो पुरुष ही करते हैं। स्त्रीजाति तो स्वभावतः अल्पबल

वाली होती है। इसीसे उसे सब कामों के लिये पुरुष का मुख ताकना पड़ता है। अतः यदि पुरुष बरजोरी व्यभिचार करे—तो इसमें स्त्री का दोष ही क्या है। प्रत्युत अपराधी तो पुरुष है। मैथुन सम्बन्धी तृप्ति के लिये स्त्रियों ने इन्द्र से जो वरदान माँगा था, उसे स्मरण करने पर, इन्द्र ही व्यभिचार का दोषी सिद्ध होता है। इस लिये मेरी माता बिल्कुल निर्दोषा है।

मेरे पिता ने जिसका वध करने की मुझे आज्ञा दी है, वह एक तो स्त्री है, फिर वह मेरी गर्भधारिणी जननी है। तीसरे वह पातिव्रत धर्म का पालन करती है। अतः मेरे लिये तो वह सब प्रकार से पूज्या ही है। ज्ञानहीन पशु तक माता को मारना उचित नहीं समझते। दूसरी ओर पण्डित कहते हैं कि, पिता देवसमूहवत् है और माता देवताओं और मनुष्यों के समूह के समान है। कोई भी कार्य क्यों न हो—उसे आरम्भ करने के पूर्व चिर काल तक विचार करने का स्वभाव होने के कारण गौतमनन्दन चिरकारी का बहुत समय विचार ही विचार में बीत गया। इतने में चिरकारी के पिता वन से लौट कर आ गये। तपनिरत, महाबुद्धिमान मेधातिथि (गौतम) जब लौट कर अपने आश्रम में आये, तब चिरकाल तक विचार करने के अनन्तर उनको विश्वास हो गया कि, उनका, भार्यावध की आज्ञा देना उचित नहीं है। अतः वे अपनी उस आज्ञा के लिये बड़े सन्तप्त हुए। वे आत्मज्ञानी थे। अतः मन को शान्त कर वे पश्चात्ताप करने लगे और दुःखी हो मन ही मन कहने लगे—त्रैलोक्यनाथ इन्द्र, ब्राह्मण वेश में अतिथि बन कर मेरे आश्रम में आया था। मैंने वार्त्तालाप से उसको शान्त कर, उसका स्वागत करते हुए उसका यथायोग्य पूजन किया था। अर्घ्य और पाद्य दे उसने जो माँगा, वही मैंने उसे दिया था। फिर मैंने उससे यह भी कहा था—मैं आपके अधीन हूँ। मैंने यह सब इस लिये किया था कि, मेरे ऐसे बर्त्ताव को देख, वह मेरे साथ मित्रों जैसा बर्त्ताव करेगा, किन्तु

उसने कामविह्वल होने के कारण मेरी स्त्री के साथ खोटा काम किया, इसमें मेरी स्त्री अहल्या का कुछ भी दोष नहीं है। मेरी स्त्री निरपराधिनी है। मैं भी अपराधी नहीं हूँ। आकाश-मार्ग-गामी देवराज इन्द्र मेरी स्त्री के सौन्दर्य को देख, कामातुर हो मोहित हो गया था। अतः धर्मतः वह अपराधी नहीं है। अपराध तो मेरे योगाचरण का प्रमाद है। डाह करने से दुःख उत्पन्न होता है। यह ऊर्ध्वरेता मुनियों का कथन है। ईर्ष्या की उत्पत्ति अविचार से है। मैं ईर्ष्यावश होने के कारण पापसागर में निमग्न हो गया हूँ। हा! मैंने स्त्री का वध करवाया। सो भी अपनी ही पत्नी का। पतिव्रता, पति के दुःख को वटाने वाली भार्या की हत्या कराने के कारण मुझे इस पाप से कौन छुड़ावेगा! 'प्रमादवश मैंने उदारमना चिरकारी को स्त्रीवध की आज्ञा दी थी। यदि आज कहीं उसने अपने नाम को सार्थक किया हो तो मैं पाप से बच जाऊँगा। हे चिरकारी! तेरा मङ्गल हो। यदि आज तू विलम्ब कर काज करेगा, तो ही तू चिरकारी [illegible]।

आज तू विलंब से काम करने के कारण मेरा, अपनी जननी का, मेरे सम्पादित तप का और मातृहत्या के महापाप से अपना उद्धार कर सकेगा। तुझमें स्वभावतः चिरकारीपना है। आज तेरा चिरकारी नाम सार्थक हो। तेरी जननी ने चिरकाल तक तेरे जन्म की आशा की थी—तुझे चिरकाल तक गर्भ में रखा था, अतः हे चिरकारी! तू अपना नाम सार्थक कर। मेरी आज्ञा का पालन करने से तुझे दुःखी होना पड़ेगा। यदि इस विचार से चिरकारी ने विलंब किया हो अथवा अभी विचार करता हुआ वह ऊँघ रहा हो तो वड़ी अच्छी वात हो।

हे राजन्! मार्ग में इस प्रकार पछताते हुए महर्षि गौतम अपने आश्रम में पहुँचे। वहाँ पहुँच उन्होंने चिरकारी को सामने ही खड़ा पाया। चिरकारी पिता को देख वहुत खिन्न हुआ। उसके हाथ का हथियार नीचे गिर पड़ा। तव पिता को शान्त करने के लिये उसने पिता के चरणों में

अपना सीस रख दिया। गौतम अपने पुत्र को चरणों में लोटते देख और अपनी पत्नी को लाज से पत्थर सी निश्चेष्ट हुई देख, बहुत हर्षित हुए। उनका आश्रम एक निर्जन वन में था। अतः वे पत्नी और पुत्र सहित वहाँ रहने लगे।

अहल्या को मार डालने की आज्ञा अपने पुत्र को दे, गौतम वन में अन्यत्र चले गये थे। तब से उनका पुत्र चिरकारी हाथ में शस्त्र ले खड़ा खड़ा विचार ही कर रहा था। उसे जब गौतम ने अपने चरणों में सीस रख प्रणाम करते देखा, तब उन्होंने समझा कि, माता का वध करने में उतावली करने से वह घबड़ा गया है और क्षमायाचना करता हुआ मेरे चरणों पर लोट रहा है। किन्तु वास्तविक परिस्थिति देख, गौतम ने चिरकारी की बड़ी प्रशंसा की और बहुत देर तक वे उसके मस्तक को सूँघते रहे। फिर दोनों हाथों से पकड़ और छाती से लगा, वे उससे कहने लगे—हे वत्स! तू दीर्घायु हो। बुद्धिमान गौतन ने प्रसन्न हो इस प्रकार पुत्र का अभिनन्दन किया। फिर बोले—हे चिरकारी तेरा कल्याण हो। तू इसी प्रकार सब काम करने के पूर्व भली भाँति विचार कर लिया कर। हे शान्तात्मन्! आज तूने चिरकाल तक विचार कर, मुझे सदा के लिये सुखी किया है।

तदनन्तर विद्वान और ऋषि गौतम ने अपने चिरकारी धीर पुरुषों का गुणानुवाद करते हुए यह गाथाएँ गायी थीं कि, यदि किसी मित्र को मारना हो तो चिरकाल तक विचार करे। फिर मारे। यदि कोई कार्य आरम्भ कर दिया हो, तो उसे छोड़ने के पूर्व भी चिरकाल तक सोच विचार करे। चिरकाल तक विचार कर चुकने के बाद, मित्र को बहुत दिनों तक निभावे। क्रोध करने, दर्प दिखाने, अभिमान करने, द्रोह करने, पाप कर्म करने और किसी का अनिष्ट करने में, यदि चिरकाल तक विचार कर के कार्य किया जाय, तो ऐसा करने वाले की प्रशंसा होती है। यदि बान्धवों, स्नेहियों, सेवकों अथवा स्त्रियों को अपराध स्पष्ट रीत्या समझ न

पड़े तो चिरकाल तक सोच विचार कर निर्णय करने वाले पुरुष की सराहना होती है।

हे भरतवंशी राजन्! गौतम को इस बात से बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ कि, उनके पुत्र ने बहुत समय तक विचार कर उनके आदेशानुसार कार्य करने में विलंब कर दिया। अतः प्रत्येक पुरुष को देर तक सोच विचार कर हरेक काम में हाथ डालना चाहिये। जो पुरुष ऐसा करता है वह कभी सन्तप्त नहीं होता। जो पुरुष चिरकाल तक क्रोध को दबाये रखता है और प्रत्येक कार्य को करने के पूर्व भली भाँति चिरकाल तक विचार करता है, उसे कभी पछताना नहीं पड़ता। वृद्ध जनों का सत्कार कर और उनके निकट बैठ कर, उनका पूजन करना चाहिये। कर्त्तव्य के सम्बन्ध में चिरकाल तक विचार कर, उसे करने न करने का निश्चय करे। जो पुरुष चिरकाल तक विद्वानों की उपासना करता है और उनके उपदेशानुसार चि... ल तक अपने आत्मा को नियन्त्रण में रखता है, वह चिरकाल तक ... पाता है। धर्मोपदेष्टा पुरुष से यदि धर्म सम्बन्धी कोई प्रश्न किया जाय तो उसे उचित है कि भली भाँति देर तक विचार करने के बाद उत्तर दे। ऐसा करने से उसे चिरकाल तक सन्तप्त नहीं होना पड़ता। महा तपस्वी गौतम अपने पुत्र चिरकारी सहित धर्मानुष्ठान करते हुए चिरकाल तक उस आश्रम में रहे और अन्त में पुत्र सहित स्वर्गवासी हुए।

दोसौ सरसठ का अध्याय

राजा द्युमत्सेन और सत्यवान का उपाख्यान

युधिष्ठिर ने पूछा, हे पितामह! अब आप मुझे यह बतलावें कि, राजा किसी का अनिष्ट किये बिना प्रजा की रक्षा कैसे करे?

भीष्म जी ने कहा—ऐसे स्थलों पर राजा द्युमत्सेन और सत्यवान

के संवादात्मक प्राचीन इतिहास का दृष्टान्त दिया जाता है। कहा जाता है कि एक दिन राजा द्युमत्सेन की आज्ञा से कई एक अपराधी वधार्थ वध्यस्थान को, रक्षकों के साथ जा रहे थे। उन्हें देख सत्यवान ने अपने पिता से वह बात कही, जो अन्य कोई कभी नहीं कह सकता था। सत्यवान ने कहा—अनेक बार धर्म अधर्म रूप हो जाता है और अधर्म धर्म रूप हो जाता है। कोई भी क्यों न हो, उसका वध करना किसी भी दशा में धर्म नहीं माना जा सकता।

[नोट—आज जो संसार में फाँसी दण्ड के विरुद्ध आन्दोलन जन-समाज में चल रहा है —वह अनूठा नहीं है। इस उपाख्यान से विदित होता है कि, प्राणदण्डाज्ञा के विरुद्ध मत बहुत प्राचीन है। राजकुमार सत्यवान् का मत है कि वध्यजन का भी वध न करना चाहिये। क्योंकि सब कुछ होने पर भी राजा का अधिकार प्रजा के जीवन पर नहीं है। क्योंकि जब राजा किसी को जीवित नहीं कर सकता, तब वह किसी को जान से मार भी नहीं सकता। जो देता है वही ले भी सकता है। ईश्वर समस्त प्राणधारियों को जन्म देता है; अतः वह उनका संहार भी कर सकता है। राजा में यह क्षमता नहीं है। अतः राजा के हाथ में यह अधिकार रहना न चाहिये कि, वह किसी के प्राण ले सके।]

द्युमत्सेन ने उत्तर दिया—हे राजकुमार! यदि वध्य अपराधी को भी प्राणदण्ड न दिया जाय और उसकी भी रक्षा करना धर्म हो, तो चोर की रक्षा करने से तो सारा राजतन्त्र ही चौपट हो जायगा। अमुक वस्तु मेरी है—अमुक वस्तु मेरी नहीं है, कलियुग में यह विचार नहीं रहेगा। यदि दुष्टों को दण्ड दिये बिना लोकव्यवहार चलाने का तुझे कोई उपाय विदित हो तो बतला।

सत्यवान् ने कहा—तीन वर्णों अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को ब्राह्मण के अधीन कर दे। इससे तीनों वर्ण धर्मपाश में बँध जायँगे। उस दशा में प्रतिलोम और अनुलोम जातियाँ जैसे सूत, मागध आदि

जातियाँ) भी तीनों वर्णों के समान आचरण करने लगेंगी। यदि इस पर भी तीनों वर्णों में से कोई अधर्म करे तो ब्राह्मण को उचित है कि, वह उसे राजा के पास ले जावे और कहे कि, यह पुरुष मेरे कहने में नहीं चलता। ऐसा कहने पर राजा उस पुरुष को दण्ड दे। अपराधों का भली भाँति विचार कर तथा न्यायशास्त्र को भली भाँति अवलोकन कर, प्राणान्त दण्ड को त्याग, तथा अपराधी के अपराध की गुरुता को देख, दण्ड देना उचित है। किन्तु नीतिशास्त्र और अपराधी के अपराध का विचार किये बिना राजा को दण्ड देना उचित नहीं। राजा दुष्टों को नष्ट करता है—यह सत्य है। किन्तु यदि विचार कर के देखा जाय तो राजा के द्वारा बहुत से निरपराधी भी नष्ट कर डाले जाते हैं; जैसे एक चोर का वध कर, राजा उस चोर के माता, पिता, स्त्री तथा उसके बालबच्चों का भी नाश कर डालता है। अनेक पुरुष दुष्ट होने पर भी साधुसमागम से, समय पा कर शिष्ट हो जाते हैं। कभी कभी दुष्टों के उत्तम सन्तान भी उत्पन्न होते हैं। अतएव दुष्टों को प्राणदण्ड दे उनका समूल नाश करना, सनातन धर्म के अनुकूल कार्य नहीं माना जा सकता। अपराधी को तो ऐसा दण्ड देना उचित है, जिससे अपराधी के अपराध का प्रायश्चित्त हो जाय। राजा का सब धन छीन ले। नाक कान कटवा उसे अङ्ग भङ्ग कर दे, किन्तु अपराधी को जान से मरवा, उसके आश्रित स्त्री एवं बालबच्चों को कष्ट न देना चाहिये।

यदि अपराधी, पुरोहित को अथवा अन्य किसी पुरुष को अपना ज़मानतदार बना, प्रतिज्ञा करे कि, मैं फिर ऐसा काम कभी नहीं करूँगा, तो राजा उसे छोड़ दे। क्योंकि प्रजापति का ऐसा आदेश है। यदि मृग-चर्म एवं दण्डधारी कोई ब्राह्मण अपराध करे, तो वह भी दण्डनीय है। यदि बड़े लोग अपराध करें तो वे भी दण्डनीय समझे जाने चाहिये। यदि वे वारंवार अपराध करें तो पूर्ववत् उन्हें न छोड़े।

राजा द्युमत्सेन बोले—जब तक पापियों का नियंत्रण किया जाता

है, तब तक ही धर्म की लोगों में प्रवृत्ति रहती है। यदि अपराधियों को प्राणदण्ड न दिया जाय, तो वे धर्म का तिरस्कार करने लगते हैं। पूर्वकाल में प्रजा सहज में वश में रखी जा सकता थी। क्योंकि उस समय प्रजा कोमल स्वभाव की थी। प्रायः सत्यभाषण करती थी। उसमें ईर्ष्या नाम मात्र की थी। प्रजाजन क्रोध को मार सकते थे। उस काल में अपराधियों की भर्त्सना करना ही पर्याप्त दण्ड समझा जाता था। तभी से ताना देने की प्रथा भी प्रचलित हुई है। फिर अपराधी की सम्पत्ति अपहृत करने की और दण्ड देने की प्रथा चली। इस युग में अपराधी को दण्ड देने का विधान है। यह ऐसा दुष्टतापूर्ण युग है कि, एक का वध होते देख कर भी अन्य लोग आईन की कुछ भी परवाह नहीं करते। अतः प्राणान्त दण्ड देना अनिवार्य है। चोर तो—क्या मनुष्य, क्या देवता, क्या गन्धर्व और क्या पितर, किसी के भी सगे नहीं हैं। यहाँ तक कि कोई भी किसी का नहीं है। जब श्रुति की यह आज्ञा है तब अपराधियों को प्राणदण्ड देने में अड़चन ही किस बात की है? चोर तो श्मशान पर पड़े शवों तक के आभूषण चुरा लाते हैं। वे पिशाचों से पीड़ित पुरुषों के वस्त्र उतारना चाहते हैं। मैं तो उन पुरुषों को निर्बुद्धि समझता हूँ; जो चोरो से धर्मपालन की आशा करते हैं अथवा उनकी शपथों पर विश्वास करते हैं।

सत्यवान् बोला—यदि आप चोर डाकुओं का वध किये विना शिष्टों की रक्षा नहीं कर सकते तो किसी यज्ञ में उनको होम कर उनका परलोक सुधारना ही अच्छा है।

[नोट—इसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि, कोई ऐसा यज्ञ कीजिये, जिससे आपके राज्य में चोर पैदा हों ही नहीं और यदि हों भी तो उनका या तो नाश हो जाय अथवा वे साधु बन जायँ।]

राजा को प्रजा की रक्षा करने तथा उन्हें आबाद करने के लिये बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जब किसी धर्मात्मा राजा को

अपने राज्य में चोरों के होने का पता चल जाता है, तब वह लज्जित हो जाता है, अतः वह बड़ी कठिनाइयों से उन चोरों का नाश कर प्रजा को सुखी करता है। प्रजा जन तो केवल भयप्रदर्शन ही से गुणवान बन जाते हैं। जो अच्छे राजा होते हैं वे अपराध करने पर भी अपराधी का वध नहीं करते। वे तो सद्व्यवहार से प्रजा का शासन कर, विजय-प्राप्त करते हैं; क्रूर अथवा अधम दण्ड विधान से नहीं। राजा यदि उत्तम आचरण करता है; तो प्रजा भी उसका अनुसरण करती है। ऐसी उत्तम प्रजा को देख निकृष्ट प्रजाजन भी उसका अनुसरण करने लगते हैं। क्योंकि मनुष्यों का स्वभाव ऐसा होता है कि, वे अपने बड़ों का अनुकरण करते हैं। यदि राजा स्वयं सावधान न रह कर दूसरों को उपदेश दे तो उस अजितेन्द्रिय और विषयी राजा का प्रजा उपहास करती है। जो पुरुष उद्दण्डता अथवा मोह वश राजा के प्रति कुछ भी अशिष्ट व्यवहार करता है, उसे तो हर तरह से दण्ड देना उचित है। दण्ड देने ही से उस पुरुष का पाप दूर होता है और फिर वह वैसा नहीं करता। यदि राजा पापियों को यथेष्ट दण्ड देना चाहे तो उसे सर्वप्रथम अपने मन को अपने वश में कर लेना चाहिये। तदनन्तर अपने पुत्र, स्त्री, भाई आदि समीप के सम्बन्धी भी यदि अपराध करें, तो राजा उनको भी दण्ड दे। यदि इस लोक में पापकर्म करने वाले नीच मनुष्यों को कठोर दण्ड न दिया जाय, तो पापी बढ़ जाते हैं और धर्म नष्ट हो जाता है। प्रथम एक दयालु ब्राह्मण ने मुझे यह उपदेश दिया था। हे तात! दयावश प्रजा को आश्वासन देने वाले, पूर्ववर्ती पितामहों ने भी मुझे यही उपदेश दिया था। वे दयापरवश हो प्रजाजनों को आश्वासन दिया करते थे। वे कहा करते थे कि, कृतयुग में राजा प्रजा को अहिंसामय शिक्षा से वश में रखे। त्रेतायुग में राजा धर्म के तीन चरणों से, द्वापर में धर्म के दो चरणों से और कलियुग में धर्म के एक चरण से पृथिवी को विजय करे। किन्तु जब कलियुग आरम्भ होता है; तब राजा के पापकर्मों के कारण धर्म के चतुर्थ चरण का सोलहवाँ

भाग पृथिवी पर रह जाता है। हे सत्यवान ! यदि सत्ययुग की आईन का बर्त्ताव कलियुग में किया जाय, तो कलियुगी प्रजा में वर्णसङ्करता फैल जाय और मनुष्य एक दूसरे को नष्ट कर डालें। राजा को उचित है कि, अपराधी के वय, शक्ति और काल का विचार कर, दण्ड दे। स्वयम्भू-पुत्र मनु ने प्राणियों पर अनुग्रह कर, मोक्ष प्राप्ति के लिये ऐसा ही उपदेश दिया है।

दोसौ अड़सठ का अध्याय

कपिल-गौ-संवाद

युधिष्ठिर ने कहा--हे पितामह ! ऐश्वर्य, ज्ञान, यश, श्री, वैराग्य और धर्मप्रद योगधर्म, गृहस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम, अविरोध-पूर्वक किस प्रकार उपयोगी हो सकते हैं ?

हे पितामह ! आप सुख और मोक्षप्रद धर्म का विस्तार पूर्वक वर्णन मुझे सुनाइये। गृहस्थ धर्म और योगधर्म का फल एक ही है, तब इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ?

भीष्म जी बोले—गृहस्थ धर्म और योग अर्थात् संन्यास धर्म दोनों ही महासुखप्रद और साथ ही महादुस्तर भी हैं। दोनों का फल भी महान् है और इन दोनों धर्मों का सत्पुरुष ही आचरण कर सकते हैं। हे पार्थ ! तुम सावधान हो कर, इन दोनों धर्मों की प्रामाणिकता मुझसे सुनो। ऐसा करने से तुम्हारे धर्म सम्बन्धी समस्त संशय दूर हो जायँगे। इस प्रसङ्ग में कपिल और गौ का संवादात्मक एक पुरातन इतिहास इस प्रकार है। उसे हे युधिष्ठिर ! तुम सुनो।

सुनते हैं, पूर्वकाल में राजा नहुष के घर एक दिन त्वष्टा देवता अतिथि बन कर आये थे। उनको मधुपर्क देने के लिये नहुष ने सत्य से

तत्कालीन प्रथा और वेदों के मतानुसार आलम्भन के लिये एक गौ मँगवायी। यह देख, उदारमना, सतोगुणी संयमप्रिय, सत्यज्ञानी, नियमित आहारपरायण, धर्म में स्थित, सर्वथा निर्भय, श्रेष्ठ, दृढ़ और सत्व-बुद्धि-सम्पन्न कपिल मुनि सहसा कहने लगे—"लानत है वेदों पर।" यह सुन स्यूमरश्मि ऋषि, योगबल से गौ के शरीर में घुस गये और कपिल जी से प्रश्नोत्तर कर कहने लगे—हे कपिल! चुप रहो। वेदों में हिंसा धर्म को देख यदि तुम वेदों को धिक्कारते हो, तो जितने अहिंसात्मक धर्म हैं—उनका आधार क्या हो सकता है? वेद के विज्ञान को धैर्यवान और तपस्वी जन ही जान सकते हैं। वेदोक्त समस्त वचन ऋषियों द्वारा प्रादुर्भूत हो परम्परा से प्राप्त हुए और नित्य ज्ञानात्मा परमेश्वर के निज के हैं। जो परमेश्वर सब प्रकार की तृष्णाओं से परे हैं, जिसे किसी प्रकार का सन्ताप नहीं है, जिसे किसी प्रकार के फल की इच्छा नहीं है, वह पूर्ण काम होने से फिर भी कार्य का आरम्भ नहीं करता। उसके वाक्यों में यदि यह कहा जाय कि, अमुक काम उत्तम और अमुक निकृष्ट है तो वेद को कौन मानेगा? वेदवाक्यों में विषमता क्यों होने लगी, वेद में तो किसी प्रकार की भी विषमता नहीं है।

कपिल जी बोले—मैं वेदों की निन्दा थोड़े ही करता हूँ। मैं यह भी नहीं कहता कि, उनमें विषमता है। किन्तु यह मैंने सुना है कि, भिन्न भिन्न आश्रमों के लिये भिन्न भिन्न कर्म हैं। किन्तु कर्म भिन्न भिन्न होने पर भी उनका फल एक ही है, जिस प्रकार संन्यासी को परमपद प्राप्त होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ को भी। क्योंकि चारों आश्रम देवयान में ले जाने वाले हैं और सनातन हैं। इन आश्रमों में कौन बलवान और कौन निर्बल है—इसका बोध तो इनके फल ही से हो सकता है। इस प्रकार जान कर वेदोक्त यज्ञ कर के स्वर्गादि सुख प्राप्त करे। यह वेद का मत है। जब कार्य का आरम्भ न

करना ही श्रेयस्कर है, तब कर्म का आरम्भ करने से दोष ही लगेगा। जब शास्त्र की यह मर्यादा है तब कर्म की विधि बलवान है अथवा निर्बल यह जानना भी तो बड़ा कठिन है। यदि कोई धर्म अहिंसा से श्रेष्ठ हो और शास्त्र तथा वेद के अतिरिक्त प्रत्यक्ष रीति से भी तुम्हें देख पड़ा हो तो मुझे बतलाओ।

स्यूमरश्मि ने कहा—वेद कहता है "स्वर्गकामो यजेत"—अर्थात् स्वर्गकामी को यज्ञ करना चाहिये। यह श्रुति बहुधा कही सुनी जाती है। प्रथम फल प्राप्त होने की आशा से यज्ञारम्भ किया जाता है। सुनते हैं बकरा, घोड़ा, मेढ़ा, गौ, पक्षियों का समुदाय, ग्राम्य और वन्य औषधियां सब जीवों के अन्न हैं। नित्य सबेरे तथा सायंकाल लोग अन्न खाया करते हैं। वेद कहता है कि पशु तथा धान्य यज्ञीय अङ्ग हैं। प्रजापति ने पशुओं और धान्यों को यज्ञ के साथ ही बनाया है। भगवान् प्रजापति ने देवताओं से कहा है कि प्राणियों के साहाय्य से यज्ञ करो। *सात ग्राम्यपशु और †सात वन्यपशु वेद में यज्ञ कार्य योग्य बतलाये गये हैं। इनमें से एक से एक चढ़ उतर कर हैं। यही नहीं, किन्तु वेदवेत्ता तो कहते हैं, कि यह सारा जगत् यज्ञ के लिये ही रचा गया है। यह पूर्वजों और पूर्वजों के पूर्वजों की भी आज्ञा है। तब ऐसा कौन पण्डित है, जो शक्त्यानुसार यज्ञीय हिंसा के लिये जीवों को न ढूँढ़े? निकृष्ट पशु, मनुष्य, वृक्ष और औषधियाँ भी स्वर्ग जाने की कामना करती हैं; किन्तु उनके लिये स्वर्ग जाने का उपाय यज्ञ को छोड़ और नहीं है। औषधियां, पशु, वृक्ष, लताएं, घी, दूध, दही, हविष्यान्न भूमि, दिशाएं, श्रद्धा, समय, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और सोलहवाँ

---

* गौ, बकरा, मनुष्य, घोड़ा, मेढ़ा, खच्चर और गधा—ये सात ग्राम्य पशु हैं।

† सिंह, व्याघ्र, शूकर, भैंसा, हाथी, रीछ, वानर—ये सप्त वन्य पशु हैं।

यजमान और गृहपति नाम का सत्रहवां अग्नि—ये सब यज्ञ के अंग कहे जाते हैं। वेद कहता है कि, यज्ञ जगत की जड़ है। घी, दूध, दही गोबर, अमिक्षा (फटा दूध), (बैल का,) चर्म, उसके पूँछ के बाल, सींग और खुर के द्वारा यज्ञ पूर्ण होता है। किस किस यज्ञ में क्या वस्तु चाहिये—यह वेद में लिखा है। वेद में वर्णित समस्त वस्तुओं को एकत्रित कर, यजमान उन ऋत्विजों की सहायता से यज्ञ पूर्ण करे—जिनको उसने दक्षिणा दी हैं। यावत् पदार्थ यज्ञ के लिये ही उत्पन्न किये गये हैं। वेद में ऐसा लिखा हुआ है—सो ठीक ही है। पूर्वकालीन मनुष्य करते भी ऐसा ही थे। निष्काम यज्ञकर्त्ता यज्ञ में प्राणिहिंसा नहीं करते। फलाभिलाष से ऐसे लोग कार्यारम्भ नहीं करते। वे किसी से द्रोह नहीं करते, किन्तु यज्ञ को अवश्य-करणीय कर्त्तव्य समझ, उसे वे निष्काम बुद्धि से करते हैं। औषधि आदि यज्ञ के अङ्ग, यज्ञस्तूप आदि यज्ञीय अलौकिक साधनों से यथाविधि यज्ञ किया जाता है। तब ये सब यज्ञीय सामग्री परस्पर निज निज कार्यों से उपकार करती हैं। कर्म-प्रवर्त्तक ब्राह्मण ग्रन्थों का अवलोकन कर विद्वान यज्ञादि कर्म का विधान जान सकते हैं। इन यज्ञादि कर्मों का वेद प्रतिपादन करते हैं और उन वेदों को ऋषियों ने माना है और उन्हींके आधार पर, स्मृतियों की रचना की गयी है, यज्ञों की उत्पत्ति ब्राह्मण ग्रन्थों से हुई है और उनका आधार भी ब्राह्मण ग्रन्थों पर ही अवलम्बित है। सारा जगत यज्ञ का अनुसरण करता है और यज्ञ जगत का अनुसरण करते हैं। प्रणव से वेदोत्पत्ति हुई है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार यज्ञ करता है और जिसके यज्ञ में नमः स्वाहा, स्वधा और वषट्—इन पदों का प्रयोग होता है—उस पुरुष को तीनों लोकों में कुछ भय नहीं होता। यह वेदसिद्ध है और महर्षि भी ऐसा ही कहा करते हैं।

जो पुरुष ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद जानता है, उसीको ब्राह्मण समझना चाहिये। अग्न्याधान-कर्त्ता को जो फल मिलता है तथा अन्य

यज्ञकर्त्ता जो फल पाते हैं वे सब आपको विदित ही हैं। अतः समस्त पुरुष यज्ञ को करावें। क्योंकि जो द्विज यथाविधि यज्ञ करता है, वह मरने के बाद स्वर्ग में जाता है। साथ ही यह भी निश्चित है कि, जो पुरुष यज्ञ नहीं करता, उसे इसलोक में सुख नहीं मिलता। वह परलोक में भी सुख नहीं पाता। वेदार्थ के जानने वाला पुरुष यह बात भली भाँति समझता है कि, यज्ञ यागादि कर्म तथा आत्मज्ञान वेद में दोनों एक से माने गये हैं।

दोसौ उनहत्तर का अध्याय

कर्म का फल नाशवान है

कपिल बोले—यज्ञ यागादि द्वारा प्राप्त होने वाला फल नाशवान होता है; यह समझ कर, यम नियमादि को पालन करने वाले यति, ज्ञान-मार्ग का आश्रय ले कर, परब्रह्म की प्राप्ति करते हैं। समस्त लोकों में योगियों की कामनाएं पूरी होती हैं। उनकी गति को कोई नही रोक सकता। वे योगी द्वन्द्वादि भावों से रहित होते हैं। वे किसी को नमस्कार नहीं करते, आशीर्वाद नहीं देते। क्योंकि वे तो कामपाश से मुक्त होते हैं। उनका सर्वस्व है ज्ञान। वे पापों से मुक्त होते हैं। वे ज्ञान के स्वामी हैं, पाप रहित हैं, पवित्र और निर्मल रहते हैं और वे आनन्द से सर्वत्र गमन करते हैं। मोक्ष और नाशवान् समस्त वस्तुओं का निज बुद्ध्यानुसार विचार कर के, एक नियम पर आते हैं; वे ब्रह्मनिष्ठ हैं, ब्रह्मस्वरूप हैं और ब्रह्म ही में आश्रय करने वाले हैं। वे शोक-मोह-विवर्जित और रजोगुण से रहित होने के कारण उन्हें सनातन लोक मिलते हैं। वे तो ऐसी गति वाले हैं। अतः उन्हें गृहस्थाश्रम से प्रयोजन ही क्या है?

स्यूमरश्मि ने कहा—यदि वह ज्ञाननिष्ठा जो संन्यासधर्म पालन से

मिलतीं हैं, उत्तम हो और वही परम गति प्राप्ति का कारण हो, तो गृहस्थाश्रम का महत्व तो और भी अधिक बढ़ जाता है। क्योंकि गृहस्थाश्रम के विना तो कोई अन्य आश्रम रह ही नहीं सकता। जैसे माता के आश्रय से समस्त प्राणी जीवित रहते हैं, वैसे ही अन्य आश्रम भी गृहस्थाश्रम का आश्रय ले कर ही अपना निर्वाह करते हैं। यज्ञ याग भी गृहस्थ करता है, तप भी गृहस्थ करता है, समस्त प्राणी सुखेच्छा से जो कुछ कर सकते हैं, उसकी जड़ गृहस्थाश्रम ही तो है। समस्त प्राणधारी सन्तानोत्पत्ति से आनन्दित होते हैं। यह सन्तानोत्पत्ति केवल गृहस्थाश्रम ही में हो सकती है, अन्य किसी आश्रम में नहीं। सब प्रकार की घास और धान्य आदि के पौधे, पर्वत पर उगने वाली सोमलता आदि औषधियों का मूल गृहस्थाश्रम ही है। अर्थात् गृहस्थ इनको काम में लाते हैं। इस विश्व में जीव को छोड़ अन्य वस्तु नहीं देख पड़ती। जगत की उत्पत्ति का कारण गृहस्थ ही हैं। कोई कहता है कि गृहस्थाश्रम से मोक्ष नहीं मिलती। क्या उनका यह कथन सत्य है? जो श्रद्धा, बुद्धि और सूक्ष्म दृष्टि से रहित हैं जो काने, अंधे, बदनाम, गृहस्थाश्रम को चलाने में असमर्थ, आलसी, थके हुए और पूर्वजन्म के अपने कर्मों से सन्ताप करने वाले हैं, वे ही मूर्ख त्याग में शमगुण की विशिष्टता बतलाते हैं। वैदिक कर्म और गृहस्थाश्रम—त्रैलोक्य हितार्थ सनातन कालीन मर्यादा के अनुसार सदा से चले आते हैं। यही कारण है कि वेदज्ञ, जन्म ही से पूज्य माने जाते हैं। गर्भाधान के लिये तीनों वर्णों के लोगों के लिये वैदिक मंत्रों से युक्त विधान की आवश्यकता है। वैदिक मंत्रों को पढ़ कर किये गये संस्कारों से द्विजों का इस लोक में तथा परलोक में अवश्य ही कल्याण होता है। देहधारी की मृत्यु के पीछे, उसके शरीर का अग्निदाह करने में, तर्पण करने तथा भोजन देने में, वैतरणी तरने के लिये गोदान करने में तथा पिण्ड को जल से स्नान कराने में वैदिक मन्त्रों की आवश्यकता है। पितरों के अर्चिष्मन्त, वर्हिषद और क्रव्याद तीन

गुण हैं। वे मृतक के उद्देश्य से वैदिक मंत्रो द्वारा की गयी श्राद्धक्रिया को अङ्गीकार करते हैं। उन क्रियाओं की पुष्टि वेदमंत्रों ही से होती है। इस प्रकार जब वेद पुकार रहे हैं और मनुष्य कहते हैं कि मनुष्य पितरों का देवताओं का और ऋषियों का ऋणिया है; तब मोक्ष तों बिना गृहस्थाश्रम के मिल ही नहीं सकता। धनहीन एवं आलसी पण्डितों ने असत्यता पूर्ण किन्तु सत्य जान पड़ने वाले तथा वेदार्थ का ज्ञान न कराने वाले मोक्ष मार्ग को चलाया है। जो ब्राह्मण वैदिक विधि से यज्ञ करता है, उसे पाप नहीं लगता। यज्ञ करने पर यजमान यज्ञ में होमे हुए पशुओं के साथ स्वर्ग में जाता है और उसकी समस्त कामनाएं पूरी होती हैं। वह उन पशुओं के मनोरथ को पूर्ण कर, उनको भी सन्तुष्ट करता है। शठतापूर्वक अथवा कपट व्यवहार कर, अथवा वेदों को तुच्छ समझ कर, किसी को परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती।

कपिल ने कहा—यदि आपकी ही बात मान ली जाय और कर्म करना अनिवार्य हो तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये, दर्शश्राद्ध, पौर्णमास श्राद्ध, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य रूप आदि वैदिक कर्मों को भी बुद्धिमान जनों को करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करना सनातन धर्म है। फिर हिंसामय कर्म को करना, जिन लोगों ने संन्यासाश्रम ग्रहण कर लिया है, जो सब कर्मों से निवृत्त हो चुके हैं, जो धैर्यधारी हैं, जो ज्ञान द्वारा अमृत अर्थात् हवि, स्वाध्याय और प्रजा से तृप्त होने वाले देवताओं, ऋषियों और पितरों को तृप्त करते हैं, जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझते हैं, और प्राणिमात्र को समान समझते हैं, गुणाभिलाषी देवता ऐसे निर्गुण पुरुष के पदलाभ करने में मोहित हुआ करते हैं। गुरु के उपदेश द्वारा मनुष्य *चार द्वार वाले, †चार मुख वाले शरीर में स्थित पुरुष को ‡चार

* बाहु, वाणी, उदर और उपस्थ—ये चार द्वार हैं।

† देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये चार मुख हैं।

‡ विराट, सूत्रात्मा, अन्तर्यामी और शुद्ध स्वरूप ये चार प्रकार हैं।

प्रकार का जानता है। देवता भी चार द्वार वाले अर्थात् हाथ, वाणी, उदर और उपस्थ वाले होते हैं। अतः शरीर धारियों को उन्हें अपने वश में रखना उचित है। जो मनुष्य पाँसों से चौपर नहीं खेलता, परधन नहीं चुराता, नीचों को यज्ञ नहीं कराता, क्रोध में भर किसी को मारता पीटता नहीं, वही मनुष्य अपने हाथों और पैरों को भली भाँति नियंन्त्रण में रख सकता है। किसी को गाली न दे, व्यर्थ बकवाद न करे, किसी की चुगली नहीं खावे किसी की निन्दा न करे, झूठी बात न बोले, सदा थोड़ा बोले, सदा सावधान रहे। जो ऐसा करता है, उसका वाणी रूप द्वार उसके वश में रहता है। जो न तो निराहार रहता और न अधाधुन्ध खाता ही है, जो लोभ नहीं करता, जो निर्वाह मात्र के लिये अन्न का संग्रह करता है तथा सज्जनों के सत्सङ्ग में रहता है, वह उदर रूपी द्वार को वश में रख सकता है। हे वीर! धर्मानुसार विवाहिता भार्या को छोड़ अन्य स्त्री के साथ भोग न करना चाहिये। फिर ऋतुकाल को छोड़ अन्य समय विवाहिता स्त्री के साथ भी मैथुन न करे। अपनी स्त्री ही में अनुराग रखे और दूसरी स्त्री की ओर अपना मन तक न जाने दे; जो मनूत्य इस प्रकार का वर्त्ताव करता है, वही अपनी उपस्थ इन्द्रिय को नियम में रखता है। हे द्विज! जो विद्वान् पुरुष अपने दोनों हाथ, दोनों पैर, उदर उपस्थ और वाणी को अपने कावू में रखता है, वही द्विज है और उसीके सकल मनोरथ पूर्ण होते हैं, किन्तु जो इन चार द्वारों को वश में नहीं रखता, उसके समस्त काम निष्फल होते हैं! ऐसा मनुष्य यदि तप करता है तो उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है। ऐसे मनुष्य को शरीर को कष्ट देने से भी कुछ फल नहीं मिलता। देवता उसीको ब्राह्मण कहते हैं, जो अपने पास डुपट्टा तक नहीं रखता, जो विना बिछौने के भूमि पर सो रहता है, जो भुजा का तकिया बनाता है और जितेन्द्रिय होता है। जो मननशील पुरुष मन को एकाग्र कर, विवाहित दम्पति के सुख और आनन्द को अकेले ही भोगता है तथा दूसरों के सुख, दुःख पर ध्यान नहीं

देता, जो *प्रकृति और †विकृति को जानता है, उसको देवता ब्राह्मण कहते हैं। जो प्राणियों से अभय रहता है और जिससे समस्त प्राणी अभय रहते हैं; जो समस्त प्राणियों का आत्मा रूप है, उसीको देवता ब्राह्मण जानते हैं।

दान और यज्ञक्रिया के फल द्वारा चित्त शुद्ध हुए बिना मनुष्य, ब्राह्मणत्व क्या पदार्थ है—जान ही नहीं सकता। मूढ़ लोग यह जाने बिना ही स्वर्ग जाने की इच्छा किया करते हैं, किन्तु परब्रह्म प्राप्ति की कभी कामना नहीं करते। अनादिकाल से सदाचार चला आ रहा है। उसके एक अंश का पालन भी कठिनाई से होता है; किन्तु मुमुक्षु जनों को इसका सदा ही सेवन करना चाहिये। सदाचार का फल नाशवान नहीं है। वह प्रत्येक धर्म में सूक्ष्म रूप से व्याप्त है। वह आपत्तिरहित और कामादि विषयों के अधीन नहीं है। सदाचार-परायण जन, महातपस्वी बन कर, उनके अ-ज्ञान को नष्ट कर डालते हैं। किन्तु मूढ़ पुरुष सदाचार के थोड़े से अंश का भी पालन नहीं कर सकते। ऐसे मूढ़ जन तो अविनाशी-फल-प्रद पर-मैश्वर्य से पूर्ण, योग के कार्यों को फलहीन मान बैठते हैं। उन्हें वेदवि-रुद्ध मानते हैं। आपत्तिकाल के धर्मों के विरुद्ध सुकाल का धर्मरूपी सदा-चार, ज्ञान का सत्व है और उसके ऊपर काम, क्रोध आदि का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। यज्ञ यज्ञादि का जानना कठिन है और यदि वे किये भी जाँय तो उनका फल नाशवान होता है। यह तुम्हें भली भाँति मालूम है।

स्यूमरश्मि बोले—वेद में कर्म करने और कर्म न करने की—दोनों आज्ञाएँ हैं। तब इस विषय में वेद का प्रमाण कैसे माना जा सकता है? वेद में तो ये दोनों मार्ग स्पष्ट रूप से वर्जित किये गये हैं। अतः षडैश्वर्य युक्त हे कपिल! आप इन दोनों के रहस्य मुझे बतलावें।

* प्रकृति-ब्रह्म। † विकृति-द्वैत।

कपिल कहने लगे—आप ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत योगमार्ग में स्थित हो कर इस जीव के शरीर में उसका प्रत्यक्ष दर्शन कीजिये। आप कर्मठ हो कर जो कामना किया करते हैं, उस सुखादि का अनुभवरूप में प्रत्यक्ष फल क्या है?

स्यूमरश्मि बोले—हे ब्रह्मन्! मेरा नाम स्यूमरश्मि है। मैं तत्वज्ञान प्राप्त करने को इस ग्राम में आया हूँ। जिगीषा वृत्ति से आपसे प्रश्न नहीं करता। किन्तु अपने कल्याणार्थ आपसे प्रश्न करता हूँ। अतः हे भगवन्! आप मेरे इस घोर सन्देह को दूर करें। आपने मुझसे कहा है कि जो कोई ब्रह्मप्राप्ति के साधनभूत योगमार्ग का सेवन करेंगे, वे इन्द्रिय सहित इस शरीर हीं में ब्रह्म को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। मैं जानता हूँ कि वह कौन सी वस्तु है जो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होती है? तर्क वितर्क को छोड़ कर, मैंने आगमों का अर्थ यथार्थ रूप से जाना है। वेद वाक्यों और वेदवाक्यों के अर्थों का निर्णय करने वाले तर्कशास्त्र को मैं शास्त्र मानता हूँ। आश्रम-धर्म त्याग किये बिना ही शास्त्रानुकूल व्यवहार करना उचित है! ऐसा करने से शास्त्र फल दे ही रहे हैं। आगमों ने जो अन्तिम निर्णय किया है, उससे तो मोक्षद्वार प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ना चाहिये। जैसे विदेश जाने वाली नाव के पीछे पार जाने वाले यात्रियों की नाव बाँध दी जावे तो वे यात्री निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँचते, वैसे ही पूर्वजन्मों की वासनाओं से बँधी हुई कर्मरूपिणी नौका पर हम सवार हैं। हम दुष्ट बुद्धियों को वह कर्मरूपी नाव जन्म मृत्यु रूपी महासागर के पार कैसे करेगी?

भगवन्! आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें। मैं आपके शरण हूँ। अतः आप मुझे शिष्य समझ कर पढ़ावें। साँसारिक विषयों का पूर्ण रीत्या त्याग करने वाले, पूर्ण सन्तोषी, समस्त शोकों से रहित तथा समस्त प्रकार के रोगों से रहित सत्कर्म को छोड़ अन्य कर्म न करने वाले, सङ्गविवर्जित और कर्मरहित पुरुष तो मुझे एक भी नहीं देख पड़ता। आप

जैसे पुरुष भी मेरी तरह ही हर्षित और विषादित होते हैं। अन्य लोगों की तरह आप भी इन्द्रियों के विषयों के शिकार बने हुए हैं। चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के मनुष्यों की प्रवृत्ति सुख प्राप्ति के लिये होती है। इस बात का मैं अनुभव कर चुका हूँ। सुख का निर्णय कर के मुझे आप अविनाशी सुख का उपदेश दें।

कपिल ने कहा—भिन्न भिन्न शास्त्र कर्म की भिन्न भिन्न पद्धतियाँ बतलाते हैं। उनके अनुसार किये गये कर्म, फल देते हैं और उन मतों के अनुसार यदि शम दम आदि के काम में लाया जाय तो आत्मनिग्रह एवं भोग का साधन किया जा सकता है। ऐसा करने से योगी को मोक्ष पद मिलता है। जो पुरुष शास्त्र कथित, साधनों को कर, ज्ञान सम्पादन करता है उसका वह ज्ञान साँसारिक अज्ञान को नष्ट कर डालता है। किन्तु ज्ञान बिना वैदिक कर्मों को करने पर भी जन्म मृत्यु के चक्र से छुटकारा नहीं मिलता। मुझे तुम ज्ञानी तथा नाशवान समस्त विकारों से रहित जान पड़ते हो। क्या द्वैत को छोड़ सर्वत्र आत्मदर्शन करने की योग्यता तुममें कभी आ सकती है? शास्त्र का यथार्थ ज्ञान न रखने वाले अनेक वितण्डावादी वितण्डावाद के बल से, और रागद्वेष से पराजित होने के कारण, अहङ्कार के वशवर्ती हो गये हैं। वे शास्त्र का यथार्थ अर्थ नहीं जानते। वे शास्त्रों का उल्टा पुल्टा अर्थ करने के कारण शास्त्र-दस्यु कहलाते हैं। ये शास्त्र-दस्यु समझते हैं कि ब्रह्म नहीं है। अतः वे ब्रह्म की निन्दा करते हैं और शम दमादि का नियम पालन नहीं करते। वे दम्भी होने के कारण मोहित हो जाते हैं। ऐसे लोग ब्रह्म विद्या को निष्फल जानते हैं। उनके मन में कभी ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणों को जानने की कभी इच्छा भी नहीं होती। ऐसे तमोगुणी शरीर वालों का तम ही मुख्य अवलम्बन है। जिस मनुष्य की जैसी प्रकृति होती है वह वैसी ही प्रकृति के वश में हो जाता है? तमः प्रकृति से उत्पन्न द्वेष काम क्रोध, दम्भ, असत्य, मद, आदि गुण ही की उसमें प्रधानता रहती है। ध्यान, धारणा एवं समाधि

रूपी संयमी जो संन्यासी परमगति प्राप्ति की कामना रखते हैं वे ध्यान-पूर्वक विचार कर, शुभ को ग्रहण कर अशुभ को त्याग देते हैं।

स्यूमरश्मि बोला—हे ब्राह्मण! मेरा कथन शास्त्रानुमोदित होने के कारण यथार्थ है। शास्त्र का यथार्थ ज्ञान हुए बिना, वाणी प्रवृत्ति नहीं होती। जो आचार न्याययुक्त नहीं है उसे वेद भी नहीं मानता। अतः ऐसा आचार शास्त्रानुमोदित नहीं माना जा सकता। शास्त्र मर्यादा को भङ्ग कर कोई भी शास्त्रोक्त कर्म नहीं किया जा सकता। जो वेदविरुद्ध प्रवृत्ति है वह शास्त्र विरुद्ध भी है—यह शास्त्र का मत है।

ऐसा होने पर भी अनेक प्रत्यक्ष प्रमाणवादी पुरुष जगत को ही देखते हैं। वे लोग शास्त्रकथित अकृताभ्यागम, कृतकर्म का नाश और अकृत की प्राप्ति आदि को भी नहीं मानते। वे भी तुम्हारी तरह इन्द्रियों के विषयों में फसे हुए हैं। किन्तु अन्तर इतना ही है कि तुममें आत्मज्ञान है और उनमें अज्ञान। यद्यपि चारों वर्णों और चारों आश्रमों की प्रवृतियाँ भिन्न हैं; तथापि उनका अन्तिम अवलम्ब एक ही है। तुमने मेरे मन में ब्रह्म का प्रकाश कर के मेरा मन शान्त कर दिया है। मैं तो बुद्धिहीन और अज्ञानी हूँ ही। इसीसे मेरी बुद्धि तुच्छ वस्तुओं पर रहा है। क्योंकि मैं तो अज्ञान से घिरा हुआ हूँ। जो पुरुष योगी हो कर कृतकृत्य हो गया हो, जिसने मन को जीत लिया हो, जो केवल शरीर का आश्रय कर के ही फिरता हो, जिसने अपने आत्मा को सब प्रकार से अपने वश में कर लिया हो, जो नीतिशास्त्र में पारङ्गत हो और जो निस्पृह होने के कारण जगत को तृणवत त्याज्य समझता हो, वही पुरुष वैदिक कर्म काण्ड को त्याग सकता है। उसीको यह अधिकार है कि वह बतलावे कि मोक्ष है। किन्तु जो पुरुष घरगृहस्थी में फँसा हुआ है, उसके लिये इस मार्ग पर चलना महा कठिन है। दान, वेदाध्ययन, यज्ञ, प्रजा को उत्पन्न करना और सरलता—ये सब महा कठिन कार्य हैं। 'किन्तु यदि इन कर्मों' को कर के भी कर्त्ता को मोक्ष न मिले, तो इन कर्मों को तथा इन कर्मों के

कर्त्ता को धिक्कार है। क्योंकि उसका श्रम निरर्थक ही है। यदि कोई वेद वाक्यों को न मान कर, कर्म न करे तो वह नास्तिक माना जाता है। अतः हे भगवन्! मैं कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में से कर्मकाण्ड के अनुगत ज्ञान को अविलंब आपके मुख से सुनना चाहता हूँ। इसी लिये हे ब्रह्मन्! मैं आपके शरण में आया हूँ। आप मुझे इस विषय का उपदेश दें। आपको मोक्षमार्ग का जो ज्ञान हो, वही आप मुझे सुनावें। मैं उसीको सुनना चाहता हूँ।

दोसौ सत्तर का अध्याय

मोक्षमार्ग का वर्णन

कपिल ने कहा—भगवन् धार्मिक विषयों में वेदवाक्य प्रमाण माने जाते हैं। कोई भी वेदवाक्य को अप्रमाण नहीं मानता। ब्रह्म दो प्रकार का माना गया है। शब्दब्रह्म अर्थात् वेद और दूसरा परब्रह्म। जो शब्दब्रह्म अर्थात् वेदोक्त कर्मकाण्ड को जानता है, वही परब्रह्म अर्थात् ज्ञानकाण्ड अथवा आत्मशुद्धि को भी जान सकता है। वेद में गर्भाधान नामक जो संस्कार कहा गया है, उस संस्कार से पिता, जिस शरीर को उत्पन्न करता है, वह शुद्ध किया जाता है। संस्कार होने के बाद उसकी द्विज संज्ञा होती है। ऐसा द्विज ही ब्रह्मविद्या का उपयुक्त पात्र है। कर्म का फल मन की शुद्धि है। वह चित्तशुद्धि अनन्त फल वाले मार्ग की ओर ले जाती है। उसका वर्णन मैं तुमसे कहता हूँ। मन की शुद्धि कर्म द्वारा हुई कि नहीं—यह बात कर्म करने वाला ही जान सकता है। वेद अथवा प्रमाण से इसका निर्णय नहीं हो सकता। जो निष्काम हैं, भविष्य के लिये धन संग्रह नहीं करते, जिनमें लोभ नहीं है, जो कृपा और असूया से शून्य हैं, वे ही कर्त्तव्य समझ कर, यज्ञ करते हैं। धन का

सदुपयोग सत्पात्र को दान देना है। जो कभी पापकर्म नहीं करता, जो वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों के करने में सदा संलग्न रहता है, जिनके मन के सङ्कल्प सिद्ध हो जाते हैं, जिन्होंने निज सम्पादित ज्ञान से ब्रह्मस्वरूप का निश्चय कर लिया है, जो क्रोध नहीं करते, जो असूया रहित हैं, जो अहङ्कार और मत्सरशून्य हैं, जो योगनिष्ठ हैं, जिनके जन्म, कर्म और विद्या पवित्र हैं तथा जो प्राणिमात्र के हित में तत्पर रहते हैं, वे सुपात्र कहलाते हैं। उन्हींको धन देने से धन का साफल्य होता है। पूर्वकाल में अनेक *राजा गृहस्थ होने पर भी अपने अपने कर्म किया करते थे और बहुत से गृहस्थ† ब्राह्मण भी यथाविधि योगाभ्यास किया करते थे। वे सब प्राणियों पर समदृष्टि रखते थे और सरल स्वभाव के थे। वे सन्तोषी थे और निश्चित ज्ञानसम्पन्न थे। वे धर्म तथा सत्य सङ्कल्पादि धर्म के फल का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले थे। उनके आचार और विचार पवित्र थे। उनकी सोपाधिक और निरुपाधिक दोनों ब्रह्म में पूर्ण श्रद्धा थी। वे प्रथम अपने चित्त को शुद्ध करते थे, फिर व्रत करते थे, वे कष्टप्रद समय में और दुर्गम स्थानों में धर्माचरण करते थे। उसमें ही उन्हें परम सुख प्राप्त होता था। यत्र तत्र भ्रमण करने के कारण उन्हें किस प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता था। वे सत्य धर्माचरणी होने से बड़े तेजस्वी हो गये थे। वे विषयों की ओर दौड़ने वाली बुद्धि का अनुसरण न कर, शास्त्र ही का अनुसरण करते थे। वे धर्मानुसार वर्त्ताव करते थे। वे अन्य लोगों की तरह छली कपटी न होने के कारण दूषित भी नहीं थे। वे धर्म की समस्त मुख्य विधियों को मानते थे। इसीसे उनको कभी प्रायश्चित्त करना नहीं पड़ता था। क्योंकि जो मनुष्य वेद-विधि के अनुसार कर्म करता है और कराता है, उसको प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता। किन्तु जो शक्ति रहित और पवित्र नियम का यथार्थ रीत्या

---

* यथा जनकादि राजा। † यथा याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मण।

पालन नहीं करता है, उसीको प्रायश्चित्त भी करना पड़ता है। यह श्रुति का मत है।

प्राचीन कालीन यज्ञकर्त्ता बहुत से ब्राह्मण वेदत्रयी का अध्ययन करते करते वृद्ध हो जाते थे। वे पवित्र सच्चरित और बड़े यशस्वी होते थे। वे सदा यज्ञ में ब्रह्म का भजन करते थे और कामना रहित थे। वे ज्ञानवान होने के कारण जगत के बन्धन से मुक्त थे। उनके यज्ञ और वेदाध्ययन शास्त्रोक्त विधि से होते थे और उनके आचरण शास्त्रानुमोदित थे। वे समयानुसार शास्त्राध्ययन करते थे। काम तथा क्रोध रहित होने के कारण उनके सङ्कल्प भी सफल होते थे। वे बड़े कठोर आचरणों का पालन करते थे। वे अपने सदाचरण के कारण विख्यात थे। स्वभाव से ही वे पवित्रात्मा, सरल स्वभाव, सदा धर्मपालक और अपने कर्मों में संलग्न रहते थे। ऐसे पुरुषों के समस्त काम निष्काम होने पर, ब्रह्मरूप फल को देने वाले थे। सनातन काल की श्रुति भी इसी प्रकार सुनने में आती है। ऐसे महा मनस्वी अपने कठिन कर्म और कठिन आचार करने वाले और अपने कर्मों से पूर्ण रीत्या सन्तुष्ट रहने वाले पुरुषों का सदाचार रूपी तपोबल संसार के अज्ञान का नाशक एक भयङ्कार शस्त्र है। ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं कि सदाचार आश्चर्य जनक है, पुरातन है और प्राचीन काल से चला आता है। वह सब धर्मों में सूक्ष्म रूप से रहता है। उसी आचार रूपी सूक्ष्म धर्म का सब वर्ण के लोग पालन करते थे और उसमें किसी प्रकार का तारतम्य नहीं होता था। किन्तु ऐसे धर्म का पालन करने में जब सब असमर्थ हो गये, तब उस धर्म को चार आश्रमों में विभाजित कर दिया। जिनकी वृत्ति उत्तम है वे घर छोड़ कर और संन्यास ग्रहण कर, यथाविधि सदाचार का पालन करते हुए, परमगति प्राप्त करते हैं। वनवासी वानप्रस्थ भी अपने सदाचार का पालन कर, परमगति प्राप्त करते हैं। ब्रह्मचारी भी सदाचारी बन, परम गति प्राप्त करते हैं। सदाचारी ब्राह्मण तारा रूप हो, नक्षत्रों की तरह आकाश में प्रकाशित हो रहे हैं। वसिष्ठादि

ऋषि वैराग्यवान होने के कारण सन्तोष धारण कर, योगवल से वेदोक्त ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं।

ऐसे लोगों को यदि कारण-विशेष-वश कभी मातृगर्भ में आना भी पड़े तो वे पापयोनियों में उत्पन्न होने के कष्टों से पीड़ित नहीं होते। किन्तु जैसे एक मनुष्य एक घर छोड़ दूसरे घर में चला जाता है, वैसे ही एक शरीर को छोड़ वे दूसरे शरीर में चले जाते हैं। गुरु-सेवा-परायण ब्रह्मचारी एवं आत्मज्ञानी योगी ब्राह्मण ही ब्रह्मवेत्ता कहलाते हैं। उनको छोड़ और कौन ब्रह्मवेत्ता हो सकता है। पूर्व-जन्म-कृत कर्मों के अनुसार ही मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं। तब वे कर्मानुसार सुख दुःख भोगते हैं। जिनके राग द्वेष आदि दोष पक गये हैं और जिनका आत्मा शुद्ध हो गया है उनको ब्रह्म का साक्षात्कार होने के कारण सारा जगत ब्रह्ममय देख पड़ने लगता है। यह सनातन जनश्रुति है। तृष्णाशून्य, शुद्धमना, मुमुक्षु मनुष्य का जो धर्म है वह चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिये समान ही है। यह वेद का कथन है। जो ब्राह्मण शुद्ध चित और जिते-न्द्रिय होता है वही इस उत्तम ज्ञान को पा सकता है। जो सन्तोषी है वही परम ज्ञानी है। जो त्यागी है वही ज्ञानी है। मोक्षदायिनी विद्या का ज्ञान सम्पादन करना, ब्राह्मण के लिये परमावश्यक है। यह सनातन से और यति सम्प्रदाय में परम्परा से प्रवर्तित है। अनेक वार परब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला यह त्यागधर्म अन्य आश्रम धर्मों के साथ मिल जुल भी चुका है और अब भी मिल जुल जाता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष अपनी वैराग्य शक्ति के अनुसार उसकी उपासना करते हैं। वैराग्य से उन धर्मसेवियों का कल्याण होता है। किन्तु जो दुर्बलेन्द्रिय पुरुष हैं वे तो इसका सेवन करने से दुःखिया के दुःखिया ही बने रहते हैं। पवित्र मना पुरुष ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा करने से संसार से छूट जाता है।

स्यूमरश्मि ने कहा—हे ब्रह्मन्! जो प्राप्त वैभव को त्याग देते हैं दान देते हैं, यज्ञ करते हैं अध्ययन करते हैं, और संन्यास धारण करते

हैं इन सब में वे कौन कौन से लोग हैं; जिन्हें मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती है ? आप मुझे इसका यथार्थ वर्णन सुनावें।

कपिल ने उत्तर दिया—जो गृहस्थाश्रम को पालता है, वही श्रेष्ठ और गुणवान है। किन्तु त्याग से जो सुख शान्ति प्राप्ति होती है वह गृहस्थाश्रम में नहीं है। त्यागी को बड़े भारी दृश्य सुख मिलते हैं। तुम स्वयं उसका अनुभव कर रहे हो।

स्यूमरश्मि ने पूछा—आप कह चुके हैं कि मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु जो गृहस्थ जन हैं उनकी श्रद्धा कर्म ही में होती है; परन्तु अब आप कहते है कि समस्त आश्रमों का परिणाम मोक्ष ही है। अतः जब ज्ञान और कर्म—उभय समान हैं तब इन दोनों में एक दूसरे से कोई श्रेष्ठतर या निकृष्टतर नहीं है। तब नहीं समझ पड़ता कि ज्ञान प्रधान है या कर्म प्रधान। अतः आप यथार्थ रीत्या यह विषय मुझे समझा दें।

कपिल बोले—कर्म द्वारा तो स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर की शुद्धि होती है, किन्तु ज्ञान मोक्ष का साधन और परमगति है। जब कर्म करने से चित्त के दोष दूर हो जाते हैं और ब्रह्मानन्द रूपी ज्ञान ही में मनुष्य स्थित रहता है. तब जो सब प्राणियों पर दया, क्षमा, शान्ति अहिंसा, सत्य और सरलता मय व्यवहार करता है, किसी से द्रोह नहीं रखता, जो निरभिमान रहता है, जो लज्जालु है, सहनशील है और सब कर्मों से जिसकी उपरति हो जाती है वही ज्ञानी इन ब्रह्मप्राप्ति के उपायों द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करता है। जो लोग पण्डित होते हैं वे कर्म के स्वरूप को निर्णीत कर और उसके दोषों को दूर कर, आत्मा को स्वच्छ और निर्मल बना लेते हैं। शान्त स्वभाव, शुद्धमना, ज्ञाननिष्ठ और सन्तोषी ब्राह्मण, जिस गति को पाता है, उसे विद्वानों ने परमगति माना है। परमगति के स्वरूप का निर्णय करने वाले वेद, ज्ञातव्य कर्म, ब्रह्मज्ञान और कर्मानुष्ठान का सम्पादन कर, जो निरहङ्कार

देख पड़ते है, वे पण्डितों द्वारा वेदवेत्ता कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त जो लोग केवल श्वास प्रश्वास ही लेते हैं वे चाम की धौंकनी की तरह हैं। वेदवेत्ता पुरुष समस्त ज्ञातव्य विषयों को जानता है। क्योंकि उसमें ज्ञातव्य समस्त विषयों का वर्णन है। वास्तव में भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, इन सब विषयों का स्वरूप वेद में हैं। समस्त शास्त्रों के देखने पर यह निश्चय होता हैं कि यह दिखलायी पड़ने वाला जगत् प्रतीत होने पर विद्यमान होता है और जब वास्तविक बोध हो जाता है तब उसका अभाव हो जाता है। ज्ञानियों के लिये तो वह जगत माया नगरी की तरह असत् है! किन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में यह वास्तव में अयथार्थ होने पर भी वज्रपिञ्जर की तरह दृढ़ है। ज्ञानियों को यह जगत विशेष लयस्थान रूप और निर्विशेष लयस्थान रूप दिखलायी पड़ता है। यह वेद वाक्य से निश्चित होता है। जब पुरुष समस्त वस्तुओं को त्याग देता है तब वह निर्विकल्प समाधि में जाता है और तब उसको सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। जो ब्रह्म अबाधित सत्व रूप है जो ब्रह्म अधिष्टान रूप होने के कारण मूर्तामूर्त प्रपञ्च रूप है, जो ब्रह्म सब को आत्मा रूप से जान पड़ता है जो ब्रह्म स्थावर और जङ्गम रूप हैं, जो ब्रह्म सब से बढ़ कर कल्याण रूप है, जिस ब्रह्म से अव्यक्त का प्रादुर्भाव होता है; वही अविनश्वर परब्रह्म है। दुःखरहित परमानन्द को देने वाली तथा कल्याण देने वाली तीन वस्तुएँ हैं अर्थात् इन्द्रियों को जीतने की क्षमता, क्षमा और निष्काम कर्म करने की प्रवृत्ति होने पर सब प्रकार के कर्मों से विरत होना। इन तीन गुणों के सहारे वह पुरुष जिसके बुद्धि रूपी नेत्र खुल गये हैं अकृत्रिम आकाश की तरह संगरहित सनातन, अविनाशी, परब्रह्म का स्वरूप जान लेता है। उस परब्रह्म और परब्रह्मवेत्ता को मैं प्रणाम करता हूँ।

दोसौ इकहत्तर का अध्याय

धर्म की श्रेष्ठता

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! वेदों में तो धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों का वर्णन है। अतः आप मुझे यह बतलावें कि, इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ कौन है?

भीष्म जी बोले—पूर्वकाल में कुण्डधार ने प्रीतिपूर्वक, भक्त के लिये जो उपकार किया था, वह वृतान्त सुना कर, मैं तुम्हें तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ।

एक बड़ा निर्धन ब्राह्मण था। एक बार उसने फलप्राप्ति की इच्छा से धर्म करना आरम्भ किया, किन्तु यज्ञादि धर्म कार्य करने के लिये धन की आवश्यकता होने पर, उसने प्रथम धन प्राप्ति के लिये घोर तप किया। अपने मनोरथ की सिद्धि के उद्देश्य से उसने परम भक्ति पूर्वक देवताओं का पूजन किया; किन्तु ऐसा करने पर भी उसे धन की प्राप्ति न हुई। तब वह मन ही मन कहने लगा कि वह कौन सा ऐसा देवता है, जिसे मनुष्यों ने जड़ नहीं बनाया और जो मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाय।

इस प्रकार शान्त-चित्त से सोचते विचारते समय उसने देखा कि, उसके निकट देवताओं का सेवक कुण्डधार नामक मेघ खड़ा हुआ है। महाभुज कुण्डधार को देख; उस ब्राह्मण को उस पर भक्ति उत्पन्न हुई। वह मन ही मन कहने लगा—यह देवता निर्भय हो मेरी भलाई करेगा, क्योंकि इस का रूप ही ऐसा प्रकट कर रहा है। यह देवताओं के पास रहने वाला है और अन्य मनुष्य इसके पास आते भी नहीं। अतः यह मुझे शीघ्र ही विपुल धन देगा। यह निश्चय कर उस ब्राह्मण ने धूप, दीप चन्दन, पुष्प और विविध भाँति के बलिदानों से उस देवकिङ्कर का पूजन करना आरम्भ किया। ऐसा करने से कुछ ही दिनों बाद वह देवसेवक इस ब्राह्मण पर

प्रसन्न हो गया और इस प्रकार बोला—शास्त्र में ब्रह्महत्यारे, मद्यप, चोर और व्रत भङ्ग करने वाले के लिये तो प्रायश्चित्त विधान लिखा है; किन्तु कृतघ्नी के लिये कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है। आशा का बेटा अधर्म है, असूया का बेटा क्रोध है, कपट का बेटा लोभ है; किन्तु कृतघ्नता निस्सन्तान है। यह सुन वह ब्राह्मण कुशा बिछा उन पर सो रहा, उसने कुण्डधार के प्रताप से स्वप्न में समस्त प्राणियों को देखा। उस ब्राह्मण में शम, दम, तप और भक्ति आदि गुण विद्यमान थे। वह शुद्धान्तःकरण वाला और समस्त भोगों का त्याग करने वाला था। अतः उसे कुण्डधार की भक्ति करने का परिचय मिला।

हे युधिष्ठिर! उस ब्राह्मण ने स्वप्न में देखा कि, महाकान्तिमान् मणिभद्र नामक देवता, देवताओं के बीच खड़ा हुआ है और वह याचक को फल दे रहा है। वह देवताओं की आज्ञा से उन याचकों को उनके कर्मों के फलानुसार राज्य और धन बाँट रहा था। किन्तु जो पापी थे, उनके राज्य और धन को वह छीन लेता था। उस समय समस्त यक्षों और देवताओं के सामने, महाकान्तिमान् कुण्डधार पृथिवी पर लेट गया। यह देख, उदारमना मणिभद्र ने देवताओं की आज्ञा से कुण्डधार से पूछा—तू क्या चाहता है?

कुण्डधार ने उत्तर देते हुए कहा—यदि देवता मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं अपने भक्त ब्राह्मण पर कृपा करवाना चाहता हूँ। उसके ऊपर अनुग्रह किया जाय, वह सुखी हो—मेरी यही प्रार्थना है। मणिभद्र ने देवताओं से यह बात कही—फिर महाकान्ति वाले कुण्डधार से मणिभद्र ने देवताओं की आज्ञा से कहा।

मणिभद्र बोला—हे भद्र उठ! तेरा मङ्गल हो। तू कृतकृत्य हो गया। तू सुखी हो। यदि यह ब्राह्मण धन चाहता है तो मैं इसे धन देने को तैयार हूँ। मैं देवताओं की आज्ञा से यह जितना धन चाहेगा दूँगा।

हे युधिष्ठिर! इस पर कुण्डधार ने विचारा कि, मानव शरीर का कुछ

ठीक नहीं। क्योंकि वह क्षणभङ्गुर है। अतः ब्राह्मण को तप करना चाहिये। यह समझ उसने कहा—

कुण्डधार बोला—हे धनद देवता! मैं इस ब्राह्मण की ओर से धन की प्रार्थना नहीं करता, किन्तु मैं तो अपने भक्त इस ब्राह्मण के लिये किसी और ही अनुग्रह की प्रार्थना करता हूँ। मैं यह नहीं चाहता कि, मेरे भक्त ब्राह्मण को मणियों और मोतियों से परिपूर्ण पृथिवी का राज्य मिल जाय अथवा उसे बहुमूल्य रत्नों की राशि मिल जाय। मैं तो चाहता हूँ कि, मेरा भक्त ब्राह्मण धार्मिक हो जाय। इसकी बुद्धि धर्म कार्यों में लगी रहे। यह धर्म ही को मुख्य माने। बस मैं इस पर आप लोगों का यही अनुग्रह चाहता हूँ।

मणिभद्र ने कहा—हे कुण्डधार! धर्म का फल राज्य और विविध प्रकार के सुख हैं, वह ब्राह्मण शारीरिक कष्टों से मुक्त हो, उन फलों का उपभोग करे।

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर! किन्तु जब कुण्डधार ने बारम्बार उस ब्राह्मण की ओर से धर्म ही के लिये याचना की, तब देवता बहुत प्रसन्न हुए। उस समय मणिभद्र ने कहा—हे कुण्डधार! समस्त देवगण तेरे ऊपर और इस तेरे भक्त ब्राह्मण के ऊपर प्रसन्न हैं। यह ब्राह्मण धर्मात्मा होगा और इसकी बुद्धि धर्म में रहेगी। हे युधिष्ठिर! अपना मनोरथ सिद्ध होने पर और उस ब्राह्मण के लिये अत्यन्त दुर्लभ वर प्राप्त कर, सफल मनोरथ कुण्डधार बड़ा प्रसन्न हुआ।

जब उस ब्राह्मण की आँख खुली, तब उसने देखा, कि उसके निकट अनेक महीन कपड़े पड़े हैं। उसने उन बहुमूल्य वस्त्रों की ओर ध्यान नहीं दिया, प्रत्युत उन्हें देख उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। मन ही मन वह ब्राह्मण कहने लगा—जब कुण्डधार ही मेरे कर्मानुष्ठान का अभिप्राय नहीं समझ पाया; तब और कौन समझेगा। अतः अब मैं वन में

जाऊँगा और वहीं धर्माचरण करता हुआ जीवन बिताऊँगा। मेरे लिये अब इसमें ही कल्याण है।

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज! तदनन्तर वह वैराग्य-सम्पन्न ब्राह्मण देवताओं की कृपा प्राप्त कर, वन में गया और वहाँ घोर तप करने लगा। वह देवताओं और अतिथियों को फल मूल अर्पण करने के बाद जो बचता उसीसे अपना निर्वाह करता था। तप करते करते वह धर्म में पूर्ण निष्ठावान हो गया। क्रमशः उसने फल मूल खाना भी त्याग दिया। वह केवल पत्ते खा कर, रहने लगा। कुछ दिनों बाद पत्ते खाना छोड़, वह केवल जल पी कर रहने लगा। फिर जल पीना छोड़ कर, वह केवल वायु पी कर ही रहने लगा। किन्तु आश्चर्य की बात है कि, इस प्रकार बहुत वर्ष बीत जाने पर भी उसका शरीर न बिगड़ा। धर्म में पूर्ण निष्ठा रख, उग्र तप करते करते जब उसे बहुत दिन बीत गये तब उसकी दिव्य दृष्टि हो गयी।

उस समय उसने सोचा कि, यदि मैं किसी पर अनुग्रह कर, उसे धनवान होने का वरदान दूँ तो मेरा वचन व्यर्थ न जायगा। यह विचार उत्पन्न होते ही वह हर्षित हो गया और उसने पुनः तप करना आरम्भ किया। अब तपोबल से उसमें ऐसी क्षमता आ गयी कि, वह सङ्कल्प मात्र से बड़े बड़े काम कर सकता था। इस समय उसने सोचा कि, यदि मैं किसी पर अनुग्रह कर, उसे राज्य दूँ तो वह कुछ ही काल बाद राजा हो जायगा। मुझे विश्वास है कि, मेरा वचन ख़ाली न जायगा।

हे राजन्! जब वह ब्राह्मण इस प्रकार मन ही मन कह रहा था, तब उसके तपप्रभाव और भक्ति से प्रसन्न हो, कुण्डधार ने उसे दर्शन दिये। तब उस ब्राह्मण ने, कुण्डधार के निकट जा, उसकी यथाविधि पूजा की। इस समय उस ब्राह्मण को कुण्डधार को देख बड़ा आश्चर्य हुआ।

यह देख कुण्डधार ने कहा—हे द्विज! तुझे अब द्रव्य प्राप्त हो गया है, अतः अब तू राजाओं और जगत् के प्राणियों की गति को भी

देख। तदनन्तर उस द्विज ने दूर खड़े हो कर, जब देखा, तब उसे सहस्रों राजा लोग नरक में पड़े हुए देख पड़े।

कुण्डधार बोला—तूने बड़ी भक्ति के साथ मेरा पूजन किया था और जब तुझे धन न मिला, तब तू बड़ा दुःखी हुआ था, किन्तु अब बतला उस समय मैंने तेरे साथ भलाई की थी अथवा बुराई। मैं तो अब भी तुझसे कहता हूँ कि, जो मनुष्य विषय-सुख-भोगी हैं, उनकी गति तू देख ले। ऐसे लोगों के लिये स्वर्ग का फाटक कभी नहीं खुलता।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! तब उस ब्राह्मण ने देखा कि, इस संसार के बहुत से लोगों को काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद, निद्रा तन्द्रा और आलस्य ने घेर रखा है।

कुण्डधार बोला—देखा, इन्हीं दुर्गुणों ने समस्त प्राणी बँधे हुए हैं। देवता मनुष्यों से डरते हैं, इसीसे तो ये दुर्गुण, मनुष्यों के कामों में सदा विघ्न डाला करते हैं। देवताओं की आज्ञा हुए बिना कोई मनुष्य धर्मनिष्ठ नहीं हो सकता। यह धर्मनिष्ठा ही का फल है कि, तुझमें यह क्षमता आ गयी है। तू दूसरों को धन और राज्य दे सकता है।

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज! कुण्डधार की बात सुन कर, उस धर्मात्मा ब्राह्मण ने कुण्डधार के चरणों में अपना सीस नवाया और कहा—आपने सचमुच मेरे साथ बड़ा उपकार किया है। आप स्नेह को न पहचान कर काम एवं लोभ के वश में हैं। मैंने आपके प्रति जो पहले विरक्ति प्रकट की थी, उसे आप क्षमा कीजिये।

कुण्डधार बोला—मैंने तेरे सब अपराध क्षमा किये।

यह कह कुण्डधार ने उस ब्राह्मण को अपने हृदय से लगाया और वह वहीं अन्तर्धान हो गया।

कुण्डधार की कृपा से तपःसिद्ध वह ब्राह्मण भी समस्त लोकों में विचरने लगा। तपोबल से मनुष्य आकाशचारी हो सकता है। तपोबल

से मनुष्य जिस वस्तु का चिन्तवन करता है, वह वस्तु उसे मिल जाती है। धर्मबल, योगबल से मनुष्य में समता आती है और इससे उस मनुष्य को परम गति प्राप्त होती है। देवता, द्विज, सन्त, वृद्ध, चतुर पुरुष और चारण आदि सभी तो कर्मनिष्ठ पुरुष का पूजन करते हैं—धनाढ्य और कामियों की पूजा वे नहीं करते। हे धर्मराज! तुम अपने ऊपर यह देवताओं का अनुग्रह समझो कि, तुम्हारी धर्म में बुद्धि है। देखा जाय तो धन में कुछ भी सुख नहीं है। किन्तु धर्म में अकथनीय सुख विद्यमान रहता है। धर्म से परम सुख की प्राप्ति होती।

दोसौ बहत्तर का अध्याय

हिंसापूर्ण यज्ञ की निन्दा

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! यज्ञ और तप विविध प्रकार के हैं और उनसे प्राप्त होने वाले फल भी विविध प्रकार के हैं। इनमें से धन और सुख पाने के लिये, प्रत्युत धर्मार्थ की प्राप्ति के लिये कौन सा यज्ञ करना उचित है। कृपया आप मुझे अब यह बतलावें।

भीष्म जी बोले—नारद जी ने एक बार एक उञ्छवृत्ति-जीवी ब्राह्मण का उपाख्यान कहा था—वही मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

धर्मात्मा जनों से भरे पूरे विदर्भ देश में उञ्छवृत्ति से निर्वाह करने वाला एक ब्राह्मण रहता था। उसने एक बार यज्ञ करने का विचार किया। उसके यज्ञ में श्यामाक (साँवा) की रोटियां और सूर्यपर्णी तथा सुवर्चला का शाक बनाया। सूर्यपर्णी और सुवर्चला के शाक बड़े कड़वे और स्वादहीन होते हैं, किन्तु उस ब्राह्मण के तपोबल से वे स्वादिष्ट हो गये। वह ब्राह्मण वानप्रस्थाश्रम में था और किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता था। अतः वह योगी हो गया था। उसने वन में रह कर, फलों से स्वर्ग-फल-प्रद यज्ञ किया था।

उस ब्राह्मण का सत्य नाम था और उसकी स्त्री का नाम पुष्कर-धारिणी था। वह स्त्री परम पवित्र थी और कठोर व्रत करते करते कृश हो गयी थी। वह पति के इस यज्ञविधान को जिसमें कोई जीव नहीं मारा गया था अच्छा नहीं समझती थी। वह अपने पति के क्रोधी स्वभाव से डरती थी। अतः शाप के भय से वह चुपचाप अपने पति के साथ यज्ञकर्म में बैठ कर, यज्ञकार्य सम्पादन करती थी। वह स्त्री मोर के गिरे हुए पंखों से बने वस्त्र पहनती थी। यद्यपि उस ब्राह्मण की इच्छा यज्ञ करने की न थी, तब भी उसे अपने होता पति की आज्ञा मान, यज्ञकार्य करने पड़ते थे।

सत्य नामक उस ब्राह्मण के आश्रम के निकट एक और आश्रम था जिसमें शुक्र-वंश-सम्भूत पर्णाद नामक एक धर्मवेत्ता ऋषि रहते थे। वे हिरन का रूप धारण कर, मनुष्य की बोली में सत्य से बोले—तुम यह कर्म उचित नहीं करते। जिस विधि से तुम यह यज्ञ कर रहे हो, उससे तो यह यज्ञ अविधि माना जायगा। अतः मैं कहता हूँ कि, आप मेरा वध कर, मेरे माँस से आहुति दीजिये। तब आप शुद्ध हो कर स्वर्ग में पहुँचेगे।

इतने ही में सूर्यमण्डल की अधिष्ठात्री देवी, दिव्य रूप धारिणी सावित्री वहाँ प्रकट हुईं। वे भी सत्य से बोलीं कि, तू इस मृग का माँस होम कर यज्ञ कर। ऐसा आग्रह करने वाली सावित्री देवी से सत्य ने कहा—मैं अपने सदा के साथी इस मृग का वध आपके अनुरोध से नहीं करूँगा।

जब सत्य ने यह कहा; तब सावित्री देवी वहाँ से हट कर चली आयीं और यज्ञ के छिद्रों को देखने के लिये, वे यज्ञाग्नि में हो कर, रसातल में चली गयीं। उस समय हाथ जोड़े खड़े हुए सत्य से उस मृग ने पुनः प्रार्थना की कि, तुम मुझे अग्नि में होम दो। किन्तु सत्य ने उसे छाती से लगा—उससे कहा—तू यहाँ से चला जा।

यह सुन वह हिरन आठ पग चल कर फिर लौट आया और कहने लगा—हे सत्य ! तुम निस्सङ्कोच हो कर, मेरा वध करो। मैं यह सत्य कहता हूँ। क्योंकि यज्ञ में वध किये जाने पर मुझे सद्गति प्राप्त होगी। मैं तुमको दिव्य दृष्टि देता हूँ। उससे तुम अप्सराओं और महात्मा गन्धर्वों के विचित्र विमानों को देखो।

तदनन्तर उस द्विज ने बड़ी स्पृहा के साथ, यह सब देखा और फिर मृग को देख कर, अन्त में निश्चय किया कि हिंसा ही से स्वर्ग मिलता है। वह हिरन धर्म था किसी कारण से बहुत समय तक हिरन के रूप में वन में रहता था। धर्म अपनी मुक्ति के लिये यज्ञ में हव्यरूप हो कर हिरन के शरीर से छूट गया; किन्तु यज्ञ में पशु की हिंसा करना, उत्तम विधि नहीं है। उस ब्राह्मण ने हिरन की हिंसा करने से अपने बड़े भारी तप के फल को नष्ट कर डाला। अतः यज्ञ में हिंसा करना मुख्य कर्त्तव्य नहीं है। तदनन्तर भगवान् धर्म ने उस ब्राह्मण के यज्ञानुष्ठान में आचार्य बन कर, उससे अहिंसात्मक यज्ञ करवाया था। तब उस द्विज ने तप कर के अपनी स्त्री के मन के समान उत्तम स्थिति पा कर, मन का समाधान किया।

फलतः अहिंसात्मक धर्म ही सम्पूर्ण फलों को देने वाला है। इस प्रकार मैंने तुमसे ब्रह्मवेत्ताओं के आचरित सत्य धर्म का वर्णन किया है।

दोसौ तिहत्तर का अध्याय

पाप, पुण्य, वैराग्य और मोक्ष

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! मनुष्य को किस प्रकार पाप लगता है ? किस प्रकार उसे पुण्य प्राप्त होता है ? मनुष्य के मन में वैराग्य उत्पन्न कैसे होता है और मोक्ष उसे कैसे मिलता है ?

भीष्म ने कहा—हे धर्मराज ! यद्यपि तुम स्वयं धर्मज्ञ हो, तथापि तुम इस लिये पूछते हो कि, जिससे तुम्हारा धार्मिक भाव और भी दृढ़ हो जाय। मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का यथार्थ ज्ञान पाने के बाद, उनको प्राप्त करने की प्रथम इच्छा प्राप्त करता है। हे भरतवंशी श्रेष्ठ राजन् ! इनमें से किसी भी एक विषय का इन्द्रिय का लाभ या अलाभ होता है, तब उसके मन में राग अथवा द्वेष की उत्पत्ति होती है। उसको जिसके ऊपर राग होता है, उसे पाने के लिये वह बड़ा भारी उद्योग करता है और अपने को प्रिय लगने वाले, रूप, गन्ध, आदि विषयों का वारंवार सेवन करता है। धीरे धीरे राग उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर द्वेष उत्पन्न होता है, फिर लोभ और अन्त में मोह उत्पन्न होता है। जब मनुष्य लोभ और मोह से पराजित हो रागद्वेष के अधीन हो जाता है, तब उसकी बुद्धि धर्माचरण की ओर नहीं रहती। कपटमय धर्माचरण से वह छल द्वारा धनोपार्जन करना चहता है। हे कुरुवंश के पुत्र ! जब उसे एक वार कपट द्वारा धन मिल जाता है, तब वह सदा कपट ही से धनोपार्जन करना चाहता है। हे भरतवंशिन् ! ऐसा करने से उसके सगे सम्बन्धी और स्नेही उसे बहुत समझाते हैं, किन्तु वह नहीं मानता। प्रत्युत तर्क वितर्क कर, अपने अनुचित कर्म का समर्थन करता तथा शास्त्रीय प्रमाण देता है। काम और मोह के वश होने से उसका पाप अविलम्ब बढ़ने लगता है। उसके विचार पापमय हो जाते हैं। अतः वह पापकर्म करने लगता है। वह मन ही मन सदा पापमय कर्म करने के मंसूबे बाँधा करता है। सदा पापमय वचन बोलता है और पापमय कर्म किये ही जाता है। धर्मात्मा पुरुषों को उसके दोष देख पड़ते हैं। किन्तु उस जैसे पापी जनों के साथ उसकी मैत्री हो जाती है। किन्तु ऐसा पुरुष न तो इस लोक में और न परलोक ही में सुख पाता है।

यह पापी पुरुषों की दशा है। अब पुण्यात्माओं की दशा का वर्णन भी सुनो। जो पुण्यशील जन होते हैं, वे सदा परहित में निरत

रहते हैं और पुण्यमय कर्म कर उनको सद्गति प्राप्त होती है। जो पुरुष आरम्भ ही से रागद्वेषादि दुर्गुणों से दूर रहता है, जो सुख दुःख के कारणों को जानता है, जो महात्माओं की सेवा करता है, जिसकी बुद्धि सत्सङ्ग से और साधुसेवा से शुद्ध हो गयी है, उसको धर्म ही में सुख मिलता है। वह पुण्यमय कर्म द्वारा ही अपना निर्वाह करता है और पुण्यमय उपायों ही से प्राप्त धन वह स्वीकार करता है और उस धन से वह धर्म के मूल को सींचता है और अच्छे गुणों की वृद्धि करता है। धर्मात्मा पुरुष के मित्र भी धर्मात्मा होते हैं।

मित्र, धन तथा पुत्रादि पाने के बाद ऐसे पुरुष इस लोक में और परलोक में सुख पाते हैं। हे राजन्! धर्मात्मा पुरुष पाँचों विषयों पर प्रभुत्व करता है। वह इसीको धर्म का फल समझता है। हे युधिष्ठिर! धर्मात्मा पुरुष पुण्यफल को पा कर, हर्ष से फूल नहीं जाते। ऐसे दस्य फल से तृप्त न हो कर, वे ज्ञान रूप दृष्टि से वैराग्य पाते हैं। इस प्रकार ज्ञानदृष्टि प्राप्त कर, वे लोग रस, गन्ध और कामादि में नहीं फँसते। जब शब्द, स्पर्श तथा रूप का वे विचार नहीं करते, तब वे कामनाओं से मुक्त हो जाते हैं। यह होने पर भी वे धर्म को कभी नहीं छोड़ते। जब ऐसे लोग ज्ञानदृष्टि द्वारा जगत् को नाशवान् देख लेते हैं; तब वे पुरुष धर्म के फल स्वरूप स्वर्गादि सुखों की भी कामना नहीं करते; किन्तु मोक्ष के लिये ही प्रयत्न करते हैं। धर्मात्मा पुरुष पापकर्म और पापमय विचार को त्याग कर धीरे धीरे वैराग्य ग्रहण कर, धर्मात्मा हो जाता है। फिर उसे मोक्ष प्राप्त होती है। हे तात! तूने मुझसे पाप, धर्म, वैराग्य और मोक्ष के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया, उसके ये ही उत्तर हैं। धर्मराज! तुम सदा धर्माचरण करना। क्योंकि हे कुन्तीपुत्र! धर्मात्माओं को अनन्त कालीन सिद्धि मिलती है।

दोसौ चौहत्तर का अध्याय

निष्काम योग

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! आपने बतलाया कि मोक्ष की प्राप्ति उपाय से होती है न कि अनुपाय से। अतः मैं उस उपाय को यथार्थरीत्या सुनना चाहता हूँ।

भीष्म जी ने कहा—हे श्रीमान् ! तुममें सूक्ष्म वस्तुओं की परीक्षा, बड़ी निपुणता से करने का जो गुण है, वह ठीक है। अतः हे निर्दोष ! तुम योग्य उपाय से धर्मादि समस्त पदार्थों को सदा खोजा करो। घड़ा बनाने के समय कुम्हार की जो बुद्धि होती है, वह घड़ा बन जाने बाद नहीं रहती। इसी तरह जिन कारणों से मनुष्य धर्म को, वृद्धि तथा सम्पत्ति का साधन मानता है, वे सब मोक्षप्रद नहीं हैं। जो मार्ग पूर्व-सागर की ओर जाता है, वह पश्चिम समुद्र की ओर नहीं जाता। मोक्ष का मार्ग एक ही है। मोक्षकामी को क्रोध का नाश क्षमा से, कामना का नाश सङ्कल्प-त्याग से और निद्रा का नाश आलस्य को त्याग भगवान के ध्यान रूप सात्विक ध्यान से करे। सावधानता पूर्वक बर्त्ताव कर लोकापवाद से उत्पन्न हुए भय को त्याग दे। क्षेत्रज्ञ में मन लगा प्राणवायु को अपने वश में करे। धैर्य धारण कर; इच्छा, द्वेष और स्त्रीकामना को जीते। विपरीत ज्ञान रूप भ्रम का, अज्ञान रूप संमोह का और अनेक कोटि का स्पर्श करने वाले संशयज्ञान का सत्य ज्ञान के अभ्यास से नाश करे। तत्ववेत्ता ज्ञानाभ्यास से निद्रा को जीते, वह वातपित्तादि उपद्रवों का तथा ज्वर, अतीसार आदि रोगों का, गुणकारी शीघ्र पचने वाले मिताहार से नाश करे। लोभ और मोह का सन्तोष से नाश करे और तत्वदर्शन से साँसारिक समस्त विषयों को त्याग दे। अधर्म का नाश दया से करे। समस्त प्राणियों पर सम

दृष्टि रख कर धैर्य सम्पादन करे। उत्तर काल का विचार न कर आशा जीते। अभिलाषा को त्याग कर अर्थ को जीते।

पण्डित, जगत के सकल पदार्थों को नश्वर समझ उनके प्रति अनुरक्ति को त्याग दे। योग सेवन कर क्षुधा का त्याग करे। करुणा से मानसिक अभिमान को और सन्तोष से तृष्णा को जीते। उद्योग से तन्द्रा को जीते। वेद पर पूर्ण विश्वास रख, वेदविरुद्ध तर्कों को जीते। मौन रह कर बकवाद को और भय को वीरता से जीते। वाणी आदि वाह्य इन्द्रियों के व्यापार को मन में लय करे। मन विषयों की कामना करता है। उसे बुद्धि में लीन करे। बुद्धि का ज्ञान नेत्र से लय करे और आत्मज्ञान रूपी बुद्धि की वृत्ति को परम चैतन्य में लीन करे और आत्मा को आत्मा में लय करे। इस प्रकार पवित्र कर्म करने वाला पुरुष मन को शान्त कर, शान्त मन से योग की क्रियाओं को जाने और उसके अनुसार वर्त्ताव करे और योगसाधन में जो पाँच विघ्न हैं— उन्हें त्याग दे। ये पाँच दोष इस प्रकार हैं—काम, क्रोध, लोभ, भय और पाँचवीं निद्रा। ये योग-साधन में विघ्नकारक हैं। ये विघ्नकारक दोष हैं। काम, क्रोध, लोभ, भय और पाँचवी निद्रा। इन पाँचों दोषों को त्याग और वाणी को संयम में रख कर, योगसाधन का अभ्यास करे योग में ध्यान, अध्यन, दान, सत्य, लज्जा, नम्रता, क्षमा, पवित्रता शुद्ध आहार और इन्द्रिय संयम से तेज की वृद्धि होती है। पाप का नाश होता है। जब योगी के सङ्कल्प सिद्ध होते हैं, तब वह इन्द्रियों को जीत कर, तथा मिताहार कर के, काम और क्रोध को जीत लेते हैं। तदनन्तर वह अपने आत्मा को परब्रह्मपद में पहुँचाते। योगी के लिये मूढ़ता को, सङ्ग को, काम को और क्रोध को त्याग कर, योग-मार्ग का सेवन कर, दैन्य शून्य और गर्व रहित होना आवश्यक है। योगी को निर्भय रहना चाहिये और एक ही स्थान पर घर वा मठ बना कर रहना चाहिये। उसे तो निष्काम हो कर, मन, वाणी और

शरीर का निग्रह करना चाहिये। क्योंकि मोक्ष प्राप्ति का यही परम पवित्र और निर्मल मार्ग है।

दोसौ पचहत्तर का अध्याय

नारद-असित-देवलक संवाद

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! इस विषय में देवर्षि नारद और असित देवल के संवादात्मक प्राचीन इतिहास का प्राचीन कालीन लोग उदाहरण दिया करते हैं। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ वृद्ध असित देवल मुनि को सुखासीन देख, नारद जी ने उनसे जीवों के लय और उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पूछा—

नारद मुनि ने कहा—हे ब्रह्मन्! यह दृश्यमान स्थावर-जङ्गमात्मक जगत किससे उत्पन्न हुआ है और प्रलयकाल में यह किसमें लीनहोता है? आप मुझे यह बतलावें।

असित मुनि बोले—असित देवल मुनि ने कहा—परमात्मा समस्त प्राणियों की बुद्धि वासना से प्रेरित हो कर, सृष्टि रचना के समय, जिन तत्वों से जगत की रचना करता है उनको भूतचिन्तक और मनीषी लोग पञ्चमहाभूत कहते हैं। बुद्धि से प्रेरित हुआ काल पञ्चमहाभूतों से अन्य भूतों की उत्पत्ति करता है। हे नारद! पञ्चमहाभूतों को सनातन कालीन ध्रुव और आदि अन्त-रहित समझना चाहिये। युगात्मक काल छठवाँ है। काल समेत यह छः तत्व तेजोसम्पन्न महतत्व के स्वभावतः कार्य हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच तत्व हैं। इन पञ्चमहा तत्वों से अन्य कोई तत्व श्रेष्ठ नहीं है। यह बात निस्सन्देह है। क्योंकि यावत् दृश्यमान पदार्थ पञ्चमहाभूतमय होते हैं। इन पञ्चमहाभूतों के अतिरिक्त जो अन्य तत्व श्रुति से, युक्ति से अथवा लौकिक अनुमान से सत्

सिद्ध करे, तो उसका कहना असत्य ही समझना चाहिये। आप यह समझें कि छः तत्वों ने ही कार्य रूप से इस जगत में प्रवेश किया है। किन्तु ये छः बुद्धि सत्त्व में से उत्पन्न होने पर भी असत् हैं। पञ्चमहाभूत, काल, पूर्वजन्म का संस्कार और अज्ञान—ये आठों अनादि अनन्त हैं तथा प्रत्येक प्राणी के जन्म और मरण के हेतु हैं। नाश होने बाद प्राणि मात्र इन्हीं आठों में लीन हो जाते हैं और जब पुनः जन्म लेते हैं; तब इन्हींसे उनकी उत्पत्ति होती है। प्राणियों के शरीर पृथिवी से, श्रोतेन्द्रिय आकाश से, चक्षु इन्द्रिय सूर्य से, गति वायु से और रुधिर जल से उत्पन्न होते हैं। उभय नेत्र, कर्ण, नासिका, त्वचा और पाँचवीं जिह्वा—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और इनके भिन्न भिन्न विषय हैं। यह ज्ञानियों का मत है। देखना, सुनना, सूंघना, स्पर्श, रस ग्रहण—ये इन इन्द्रियों के विषय हैं। पाँचों इन्द्रियों का पाँचों विषयों के साथ पाँच प्रकार का सम्बन्ध है। युक्ति के अनुसार इन पाँच गुणों की सादृश्यता जाननी चाहिये। पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप रस गन्ध—ये पाँच प्रकार के विषय हैं। इनको पाँच इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न रूप से ग्रहण करती हैं। किन्तु इन्द्रियों को यह विदित नहीं है। ये गुण हम में हैं। किन्तु क्षेत्रज्ञ—जीव इन इन्द्रियों से शब्दादि विषयों का अनुभव करता है। इन इन्द्रियों से चित्त श्रेष्ठ है। चित्त से मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव श्रेष्ठ है। चैतन्यमय प्राणी प्रथम इन्द्रियों से पृथक पृथक विषयों का चिन्तवन करता है। तदनन्तर उन सब को मन द्वारा विचारता है, फिर बुद्धि की सहायता से उनको प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इन्द्रियाँ जिन विषयों को ग्रहण करती हैं बुद्धिमान पुरुष उनका निर्णय करता है। अध्यात्म विचार करने वाले महर्षिगण चित्त, श्रोत्रादि पाँचों इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन आठों को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। हाथ, पैर, गुदा, लिङ्ग और मुख को कर्मेन्द्रिय कहते हैं। अब इन कर्मेन्द्रियों के कर्मों को आप सुनें। बोलने और भोजन करने को मुख-इन्द्रिय

से काम लिया जाता है । चलने का काम पैरों से लिया जाता है । काम करने के लिये हाथ हैं । गुदा और लिङ्ग के कर्म्म समान हैं अर्थात् यह भीतर की वस्तु बाहिर निकालने वाले हैं । गुदा मल निकालती है और लिङ्ग मूत्र और मैथुन के समय वीर्य निकालता है । छठवीं कर्मेन्द्रिय बल अर्थात् पञ्चवृत्ति प्राण है । इस तरह सब ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों और उनके गुणों का मैंने वर्णन किया । यह वर्णन शास्त्रानुकूल है । जब इन्द्रियाँ काम करते करते शान्त हो जाती हैं तब वे काम बंद कर विश्राम करती हैं । जब इन्द्रियों का उनके स्वामी से वियोग होता है, तब ही मनुष्य को निद्रा आ घेरती है । इस प्रकार इन्द्रियों के विराम पाने पर भी मन विश्राम नहीं करता। वह तो निद्रावस्था में भी विषयसेवन किया करता है। इस अवस्था का नाम स्वप्नावस्था है । जागृति अवस्था में वासनामय सात्विक, राजस और तामस भाव प्रसिद्ध हैं । ये ही सब भाव स्वप्नावस्था में बने रहते हैं । ये भाव भोग देने वाले कर्म के साथ मिल जाते हैं । आनन्द, कर्मसिद्धि, ज्ञान और परम वैराग्य—ये सत्व गुण के लक्षण हैं । चैतन्य प्राणी की जैसी भावना जागृत अवस्था में होती है वैसी स्मृति जिस वासना का कारण है, वह स्मृति आनन्दादि भावों का स्वप्नावस्था में भी अनुभव करती है । फिर कर्मानुसारिणी वासना सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी जीवों में जाग्रत अवस्था में जैसी होती है, उनके स्वप्नावस्था में भी वह वैसे ही रहती है । अतएव जाग्रत और स्वप्नावस्था के भाव समान हैं । सुषुप्ति में मन का अभाव होने से समस्त कल्पनाओं का अभाव होता है । यह सुषुप्ति अवस्था सदा वाञ्छनीय है । सनातन जीव इस शरीर में पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, बलात्मक प्राण, चित्त, मन, बुद्धि; सत्त्व, रज और तम (इन सत्रहों) का आश्रय ले कर भोक्ता बन कर रहता है । ये समस्त सत्रह गुण शरीर के साथ देहधारी जीवों में रहते हैं । जब उनसे भोक्ता जीव का बिछोह हो जाता है; तब शरीर और उसमें रहने वाले गुण भी वियुक्त हो जाते हैं । इन बीस गुणों से पृथक

इक्कीसवाँ महतत्व नामक एक पदार्थ है। उसका नाम है प्राण। उसके सहित ही यह शरीर रहता है। उस महतत्व के प्रभाव ही से देह का नाश होता है। पञ्चमहाभूतों की शक्ति क्षीण होने पर और पुण्यफल का भोग पूरा होने पर उत्पन्न प्राणी पञ्चत्व को प्राप्त होता है अर्थात् मर जाता है और इस जन्म में सञ्चित किये हुए पापों और पुण्यों से प्रेरित नवीन शरीर में वह प्रवेश करता है। काल की प्रेरणा, अविद्या, तथा कर्म से जीव दूसरे देह को पाता है। जैसे घर में रहने वाला कोई मनुष्य घर के गिर जाने पर दूसरे घर में जा कर रहने लगता है। फिर दूसरे के गिरने पर तीसरे घर में जा कर रहने लगता है, वैसे ही जीव एक शरीर को त्याग दूसरे शरीर में, जो अविद्या, काल तथा कर्मों से निर्मित होता है; प्रवेश करता है। जो विवेकी हैं जो आत्मदर्शी हैं—वे देहपात होने पर भी सन्ताप नहीं करते; किन्तु अज्ञानी पुरुष भ्रान्तिवश देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध मान, देहत्याग से सन्तप्त हुआ करते हैं। इस जीव का कोई सम्बन्धी नहीं है। इसी तरह यह जीव भी किसी का सम्बन्धी नहीं है। जीव तो अकेला है और स्वयं ही अपने शरीर को सुख दुःख देता है और अपने आप उपभोग करता है। जीव न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता ही है। यथासमय जब जीव तत्वज्ञानी हो जाता है और कर्मफल पूर्ण हो जाता है; तब यह जीव शरीर से छूट कर मुक्ति पाता है। यह जीव पुण्य अथवा पाप के कारण उत्पन्न होता है। पाप और पुण्य के क्षीण होने पर, शरीर भी क्षीण हो जाता है। उस समय शरीरहीन जीव ब्रह्म को प्राप्त करता है। जीव को पुण्य और पाप का नाश करने के लिये आत्मज्ञान की आवश्यकता है। क्योंकि आत्मज्ञान प्राप्त होने पर ही पाप और पुण्य का नाश होता है और जीव को ब्रह्म की प्राप्ति होती है। विद्वानों का मत है कि, ऐसा होने पर ही जीव को परमगति मिलती है।

———

दोसौ छिहत्तर का अध्याय

तृष्णा का त्याग

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! हम लोग बड़े पापी एवं क्रूर जन हैं। हमने धन के पीछे अपने भाइयों, पितरों, पौत्रों सम्बन्धियों, स्नेहियों और पुत्रों का वध किया है। हे पितामह ! आप बतलावें हमारी यह धन-तृष्णा कैसे छूटे ? हाय ! हमने तृष्णा के वश में हो पापकर्म किये हैं। सो इस तृष्णा से हमारा पिंड कैसे छूटेगा ?

भीष्म जी बोले—तुम्हारे इस प्रश्न का वही उत्तर है जो माण्डव्य ऋषि को राजा जनक ने दिया था। राजा विदेह ने कहा था कि इस संसार में मेरा निजू कुछ भी नहीं है। इस धारणा से मुझे बड़ा सुख मिलता है। यह सारी मिथिला नगरी भस्म हो रही है, किन्तु इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। यदि ज्ञानी पुरुष को ब्रह्मलोक पर्यन्त का ऐश्वर्य मिले, तब भी वह उसको दुःखदायी ही समझता है। किन्तु अज्ञानी को छूँछे शुष्क विषय भी मोहित कर देते हैं। इस संसार में कामोद्भव जो कुछ सुख है तथा जो दिव्य सुख है वह सुख उस सुख का सोलहवें भाग के भी समान नहीं है, जो तृष्णा के क्षय होने पर प्राप्त होता है। काल-क्रम से बछड़े के जैसे सींग बढ़ते हैं, वैसे ही धन की वृद्धि के साथ तृष्णा भी बढ़ती है। ममतावश यदि मनुष्य किसी वस्तु को अपनी समझता है, तो उस वस्तु के नष्ट होने पर, उस वस्तु के कारण मन बड़ा सन्तप्त होता है। अतः कामना की बाढ़ को रोकना चाहिये। कामनाओं पर प्रेम करने से वे दुःखदायिनी हो जाया करती हैं। यदि किसी को धन मिल जायं, तो उस धन को किसी धर्मकार्य में लगा दे। मनुष्य को उचित है कि, वह सब प्रकार की तृष्णाओं को त्याग दे। विद्वान पुरुष आत्मवत् सब प्राणियों को देखता है। वह विशुद्ध तथा कृतकृत्य हो कर,

समस्त वस्तुओं को त्याग देता है। पण्डित जन सत्य असत्य को, शोक और हर्ष, प्रिय तथा अप्रिय, भय तथा अभय को त्याग कर परम शान्ति प्राप्त कर निर्भय हो जाता है। किन्तु मूढ़ जन तो उसे बड़ी चेष्टा करने पर भी नहीं त्याग सकता। जो तृष्णा पुरुष के जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होती, जो मनुष्य के जीवन का एक बड़ा भारी रोग है, उस तृष्णा को जो पुरुष त्याग देता है, वही सुख पाता है। जो धर्मात्मा पुरुष है और अपने चरित्र को चन्द्रमा की तरह तेजस्वी और निर्मल रखता है और समस्त पापों से मुक्त रहता है, वह पुरुष सुखी रहता है और इस लोक और परलोक में उसकी ख्याति होती है।

राजा जनक के इन वचनों को सुन कर, माण्डव्य मुनि प्रसन्न हुए और जनक की प्रशंसा कर, मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हुए।

दोसौ सत्तर का अध्याय

पिता-पुत्र-संवाद

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! समस्त प्राणियों को भयभीत करने वाला यह काल सब को अतिक्रम कर, आगे बढ़ता चला जाता है—अतः मनुष्य कौन से कल्याणजनक मार्ग का आश्रय ले।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! इस विषय में पिता-पुत्र का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास है। वह इस प्रकार है; सुनो।

स्वाध्याय-निरत एक ब्राह्मण के महाबुद्धिमान मेधावी नामक एक पुत्र था। मोक्षधर्मपटु मेधावी ने मोक्षधर्म में अपटु अपने पिता से पूछा—मनुष्यों की आयु सदा घटती रहती है। यह जान कर मनुष्य को क्या करना चाहिये? आप मुझे ऐसा उपाय बतावें, जिससे मैं उस उपाय को काम में ला सकूँ।

पिता ने कहा—हे पुत्र ! मनुष्य को उचित है कि वह प्रथम तो ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर वेदाध्ययन करे। फिर पितरों को प्रसन्न करने के लिये सन्तानोत्पत्ति करे, अर्थात् गृहस्थ हो। गृहस्थाश्रम में अग्न्याधान लेकर उसमें नित्य हवन करे। फिर यज्ञ यागादि कर वन में वानप्रस्थ बन कर रहे। तदनन्तर संन्यासी होवे।

पुत्र ने पूछा—हे पिता ! जब आप देख रहे हैं कि, क्रमशः इस जगत् का नाश होता चला जाता है और अव्यर्थ विपत्तियों ने मनुष्यों को चारों ओर से घेर लिया है, तब आप एक धीर मनुष्य की तरह क्योंकर बोल रहे हैं ? पिता ने कहा—संसार का नाश कैसे हो रहा है ? लोगों को किन अव्यर्थ विपत्तियों ने घेर लिया है ? तू ऐसी बातें कह कर मुझे क्यों डरा रहा है ?

पुत्र ने उत्तर दिया—मृत्यु देवी लोगों का संहार कर रही है। बुढ़ापे ने लोगों को घेर रखा है और रात दिन रूपी विपत्तियाँ विघ्न डाल रही हैं। तब भी आप क्यों सचेत नहीं होते ? जब मैं देखता हूँ कि सभलने के लिये एक क्षण का भी अवकाश न दे कर मृत्यु मनुष्यों को घसीट कर ले जाता है, तब फिर मैं ज्ञानी हो कर, उसकी प्रतीक्षा क्यों कर करूँ ? अल्प-तोया-सरोवर-वासी मत्स्य जैसे सुख नहीं पाता, वैसे ही प्रत्येक रात्रि के साथ साथ जिसकी आयु क्षीण होती है, उस मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है। बागवान जैसे वृक्षों से पुष्प तोड़ लेता है, वैसे ही मृत्यु उसे पकड़ कर ले जाती है—भले ही उसकी मनोकामनाएँ अधूरी ही क्यों न रहें। अतः कल करने योग्य काम को भी आज ही कर डालना चाहिये। समय बिताना उचित नहीं, क्योंकि कौन कह सकता है कि आज कौन मर जायगा ?

अधूरे काम रहने पर भी मृत्यु पकड़ कर ले जाती है। अतः बुढ़ापे की प्रतीक्षा न कर, युवावस्था ही से धर्माचरण करना आरम्भ कर दे। क्योंकि जीवन का भरोसा ही क्या है ? धर्माचरण करने से इस लोक और

परलोक में अनन्त सुख मिलता है। मोहमग्न पुरुष पुत्र तथा स्त्री के भरण पोषण में लग, ईमानदारी या बेईमानी से उन्हें सन्तुष्ट रखते हैं। जिसका मन पुत्र और पशुओं से सम्पन्न संसार में फँसा हुआ है, उस पुरुष को काल वैसे ही बहा कर ले जाता है, जैसे जल का पहल सुपुप्त व्याघ्र को बहा कर ले जाता है। विविध प्रकार के मनोरथों को बाँधते हुए और कामनाओं से अतृप्त पुरुष को मृत्यु पकड़ कर वैसे ही उठा ले जाती है, जैसे भेड़ के मेंमने को बाघिन। मनुष्य यह विचारा ही करता है कि अमुक काम पूरा कर लिया, अमुक काम अभी करना है। किन्तु इसी बीच में मृत्यु आती है और पूरे अधूरे काम का विचार न कर वह उसे पकड़ कर ले जाती है। दुर्बल, बलवान, बुद्धिमान, मूर्ख, शूरवीर, विद्वान या पूर्ण मनोरथ हो अथवा अपूर्ण मनोरथ—इन बातों पर मृत्यु कुछ भी ध्यान न दे कर मनुष्य को पकड़ कर ले जाती है।

हे पिता जी! मनुष्य, मौत, बुढ़ापा और व्याधियों से छूट नहीं सकते। आप निश्चिन्त हो कैसे बैठे हैं? जन्म लेते ही देहधारी के पीछे जरा और मृत्यु लग जाते हैं। ये सारा स्थावर जङ्गमात्मक संसार इन दो वस्तुओं ही में फँसा हुआ है। जब मृत्यु देवी का सैनिक बुढ़ापा चढ़ाई करता है, तब एकमात्र सत्य को छोड़ उसे कोई रोक नहीं सकता। ग्रामवास की कामना को मृत्यु का मुख समझनी चाहिये। शास्त्र कहता है कि—वन देवताओं का स्थान है और ग्रामवास की लालसा बन्धन में डालने वाली रस्सी है। पुण्यात्मा जन इस रस्सी को काट कर, मुक्ति पाते हैं तथा पापी पुरुष इस रस्सी को नहीं तोड सकते। जो पुरुष मन, वचन और शरीर से किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता, उसकी भी हिंसा कोई नहीं करता। अतः ज्ञानीपुरुष को सत्य बोलना चाहिये। सत्य की उपासना करनी चाहिये और समस्त प्राणियों में समभाव रख कर तथा जितेन्द्रिय बन मृत्यु को जीतना चाहिये। मोक्ष और मृत्यु दोनों ही इस शरीर में रहती हैं। शरीर, स्त्री, पुत्रादि पर मोह करने से मृत्यु है और सत्य द्वारा ब्रह्म

का आश्रय लेने से अमृत या मोक्ष प्राप्त होता है। मैं अहिंसा का पक्षपाती बन, काम एवं क्रोध से दूर भागता हूँ। मैं सुख तथा क्षेम की इच्छा से सत्य का आश्रय ग्रहण कर, देवताओं के समान, मृत्यु को दूर भगा दूँगा। आत्म-तत्व-विचार रूपी ब्रह्मयज्ञ करूँगा। शान्त-यज्ञ परायण रहूँगा। मैं परब्रह्म-मनन रूपी मनोयज्ञ करूँगा। मैं भला हिंसायुक्त पशुयज्ञ क्यों करने लगा? क्षत्रियों के करने योग्य नाशवान फलप्रद पशुयज्ञ को पिशाचों की तरह मुझ सरीखा पुरुष कैसे कर सकता है?

हे पिता जी! यद्यपि मैं अपुत्रक हूँ, तथापि मैं अपने में पुत्र रूप से उत्पन्न हो कर आत्मनिष्ठ बनूँगा। मैं स्वयं ही आत्मयज्ञ करूँगा। अपने को तारने के लिये, सन्तति की आवश्यकता नहीं है। जिस पुरुष के वाणी और मन के वश में सदा रहते हैं जिसने तप, त्याग और भोग को परब्रह्म में भलीभाँति अर्पित कर दिया है, वह पुरुष समस्त वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मविद्या के बराबर उत्तम नेत्र नहीं हैं, प्रीति से बढ़ कर दूसरा दुःख नहीं है और त्याग से बढ़ कर कोई सुख नहीं है। एका की रहना, सब प्राणियों पर समान भाव रखना, सत्य बोलना, सच्चरित्रता, दण्ड धारण करना, सारल्य और समस्त कर्मों से विरक्ति—ये ब्राह्मणों का धन है। इसके बराबर और कोई धन है ही नहीं। आप ब्राह्मण हैं और आपको मरना है। फिर आपको धन से, स्त्री से, सगे नतैतों से, प्रयोजन ही क्या है? आपके पिता और पितामह कहाँ गये, ज़रा इसे तो—विचारो। अतः आप अपनी हृदय रूपी गुफ़ा में रहने वाले आत्मा को तो खोजो।

भीष्म ने कहा—अपने पुत्र के इन वचनों को सुन कर, पिता ने उसके कथित विचारों के अनुसार ही कार्य किया है। हे राजन्! तुम भी उसी प्रकार सत्य एवं धर्मपरायण रहना।

दोसौ अठहत्तर का अध्याय

हारीत गीता

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! प्रकृति से परे, अविनाशी एवं परमस्थान में जाने के लिये मनुष्य को कैसे शील स्वभाव, आचार विचार और विद्या की अवश्यकता है?

भीष्म जी बोले—जो पुरुष मोक्षप्रद साधनों में लगा रहता है, स्वल्पाहारी है और इन्द्रियों को वश में रखता है, वही पुरुष प्रकृति पर और अविनाशी परमस्थान को पाता है। ज्ञानी पुरुष अपना घर छोड़ कर, हानि लाभ दोनों में समान रहे। उसे मौन रहना चाहिये। यदि कामनाएं सामने आ जायँ तो भी उनको न चाहे और सब को त्याग कर, संन्यास ग्रहण करे। नेत्र से, मन से और वाणी से किसी को भी दूषित न करे। कभी किसी के मुख पर या पीठ पीछे बुराई न करे। किसी प्राणी की हिंसा न करे। सूर्य की तरह सदा विचरा करे। कभी किसी के साथ अमित्र भाव से बर्त्ताव न करे। यदि कोई झगड़ा करे, तो उसे सह ले। किसी से गर्व न करे। कोई क्रोध दिलावे तो उसके साथ भी प्रिय ही बोले। यदि कोई निन्दा करे तो भी तेरा कल्याण हो कह कर, उसे आशीर्वाद दे। ग्रामवासी मनुष्यों के समुदाय में अनुकूल या प्रतिकूल वर्त्ताव न करे। बहुत से घरों में भिक्षा माँगने न जावे और पूर्व आमंत्रित गृहस्थ के यहाँ भिक्षा माँगने न जाय। मूर्ख पुरुष अपने ऊपर धूल डाले अथवा तिरस्कार करे, तब भी अचपल रहे। अपने धर्म पर निष्ठा रखे और अप्रिय वचन न बोले, कृपालु रहे। आततायी पर भी क्रूरता न दिखावे। निर्भय रहे। मैं भाग्यशाली हूँ—यह कह किसी अन्य की निन्दा न करे। पाकशाला से जब धुआ निकलना बंद हो जाय, जब उखली में मूसल चलने की धमक न सुन

पड़े, चूल्हे की आग बुझ जाय, घर के लोग भोजन कर चुकें, परोसने वाले परोस चुकें, तब संन्यासी याचना करने की इच्छा करे। जितने से प्राणरक्षा हो सके उतनी ही भिक्षा ले—अधिक भिक्षा कभी न लेवे। भिक्षा न मिलने पर दुखी न हो और मिलने पर हर्षित भी न हो। चन्दन पुष्प आदि सामान्य जनोभिलिषत वस्तुओं की संन्यासी चाहना न करे। सत्कारपूर्वक भिक्षा किसी से न ले, संन्यासी को सत्कार पूर्वक प्राप्त लाभ को कभी अच्छा न समझना चाहिये। स्वादिष्ट भक्ष्य पदार्थ को देख उसकी प्रशंसा भी न करनी चाहिये। एकान्त शय्या और एकान्त स्थान संन्यासी पसन्द करे। उसे उजाड़ घर में वृक्ष के नीचे, वन में, गुफा में, गुप्त स्थानों में रहना चाहिये। अपनी क्रिया दूसरों को न जनाना चाहिये। दूसरों से अदृश्य स्थान में बैठ, अपने भीतर अपने आत्मा का दर्शन करे। अचपल, निर्विकार हो कर योगानुकूल संसार का सङ्ग त्यागे। दया या द्वेष कर पुण्य या पापकर्म को न चाहे। मुमुक्षु पुरुष नित्य तृप्त और अति सन्तुष्ट रहे। मुख और इन्द्रियों को प्रसन्न रखे। सदा निर्भय रहे और सदा ओंकार का जप करता रहे। मौन रहे और वैराग्य वृत्ति में रहे। इन्द्रियादि भौतिक पदार्थ हैं। वे आत्मा से भिन्न हैं। इसका विचार सदा किया करे। प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश का विचार करे। किसी विषय की इच्छा न करे। सर्वत्र समदृष्टि रखे और पके अधपके फलों से निर्वाह कर ले। मन को शान्त रखे। शीघ्र पचने वाला, शुद्ध किन्तु अल्प भोजन करे और इन्द्रियों को वश में रखे।

वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ के वेगों को रोके रहे। इन सब को सहने वाला तपस्वी कहलाता है। निन्दा किये जाने पर दुःख नहीं होता। जहाँ निन्दा स्तुति होती हो, वहाँ योगी को उदासीन रहना चाहिये। सब प्राणियों पर समभाव रखे। यह आचार संन्यासाश्रम में परम पवित्र माना गया है। संन्यासी को उचित है कि, वह इन्द्रियदमन करे। जिन देशों में पूर्वाश्रम में रहा हो, उनमें न घूमें और पूर्वाश्रम के

विश्वस्त साथी संगियों के साथ न रहे। सदा शान्त मुख धारण करे रहे। घर में अथवा मठ में न रहे और सब प्राणियों से स्नेहमय वर्त्ताव रखे। वानप्रस्थों अथवा गृहस्थाश्रम वाले के व्यावहारिक झगड़ों में न पड़े। अनायास प्राप्त भोजन को अङ्गीकार करे। संन्यासाश्रम आत्मज्ञानियों को मोक्ष देता है। किन्तु अनात्म ज्ञानी के लिये संन्यासाश्रम कोरा परिश्रम है। हारीति मुनि ने कहा है कि, विद्वानों के लिये ये सब धर्म मोक्ष मार्ग में ले जाने के लिये एक विमान के समान हैं। जो पुरुष सब प्राणियों को अभय देता हुआ अपने घर के बाहिर निकलता है, उसको तेजोमय अनन्त और अविनाशी लोक मिलते हैं।

दोसौ उनासी का अध्याय

वृत्र-गीता

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! सब मनुष्य हमसे कहते हैं कि तुम भाग्यवान हो, तुम धन्य हो। किन्तु सत्य बात तो यह है कि हमारी तरह कोई भी दुःखी नहीं है। यद्यपि हमारी सब लोगों में प्रतिष्ठा है और हम देवताओं से उत्पन्न हुए हैं; तथापि हमारे प्रारब्ध में यह दुःख लिखा हुआ था। हे कुलसत्तम! शरीर धारण करना ही दुःख रूप है। हे भगवन्! हम दुःख दूर करने वाले संन्यास को कब ग्रहण कर सकेंगे? जन्म मृत्यु के कारण रूप सत्रह * से तथा योगसाधन में विघ्न डालने वाले पाँच † दोषों से रहित और आठ ‡ से रहित, ऋषियों को फिर जन्म लेने की

---

* पाँच प्राण, पाँच इन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सत्रह हैं।

† काम, क्रोध, लोभ तथा स्वप्न—ये पाँच दोष हैं!

‡—पाँचो इन्द्रियों के विषय, सत्व, रज, तम—ये आठ हैं।

आवश्यकता नहीं होती। हे शत्रुतापन ! संन्यास ग्रहण करने के अर्थ हम राज्यत्याग कर सकेंगे।

भीष्म ने कहा— हे महाराज प्रत्येक वस्तु का अन्त है। प्रत्येक वस्तु सावयव है। आवागमन का अन्त भी है। इस संसार में कोई वस्तु स्थायी नहीं है। हे राजन् ! तुम यह समझते हो कि, तुम्हें जो सम्पत्ति मिली है वह दोष रूप है। किन्तु वह वैसी नहीं है। तुम धर्मज्ञ और उद्यमी हो। अतः यथासमय तुम्हें मोक्ष मिलेगा। देहधारी जीव, पाप-पुण्य-जन्य सुख दुःख पर अपनी सत्ता नहीं चला सकते; किन्तु सुख-दुःख-जन्य राग द्वेषात्मक अन्धकार से जीव गिर जाता है। जब काजल जैसा काला वायु मैनसिल की लाल और पीली रज से मिलता है; तब उसका काला रंग दूर हो, वह लाल पीला देख पड़ता है और दिशाएं भी उसी रंग की देख पड़ती हैं। इसी प्रकार अज्ञानावृत अविद्योपाधि वाला जीव स्वयं वर्ण रहित है। वह दोषों से ज़रा भी लगाव नहीं रखता। तथापि देह सम्बन्ध के कारण कर्म फल द्वारा रागादि वाला हो कर, शरीरान्तों में भटकता फिरता है। किन्तु जीव का ज्ञान द्वारा जब अज्ञान अन्धकार दूर हो जाता है, तब उसमें सत्य स्वरूप ब्रह्म प्रकाशित होता है।

मुनि कहते है कि, कर्म द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्त पुरुषों की तुम्हें तथा अन्य जनों को एवं देवताओं को भी उपासना करनी चाहिये। महर्षि गण ब्रह्मविद्या से निवृत्ति नहीं होते। हे राजन् ! इस प्रसङ्ग में एक प्राचीन उपाख्यान है। हे राजन् ! पूर्व काल में वृत्रासुर दैत्य जब ऐश्वर्य से भ्रष्ट हुआ, तब उसने क्या किया इसे तुम सावधान होकर सुनो। हे राजन् ! वृत्रासुर अपने बल पर आवश्यकता से अधिन भरोसा रख, शत्रुओं से हार गया। किन्तु खिन्न नहीं हुआ। उसको सहायता देने वाला कोई नहीं रहा। जब शत्रुओं ने उसका राज्य छीन लिया, तब से वह निरपेक्ष हो शत्रुओं के बीच आनन्दपूर्वक रहता है। प्राचीन काल में जब

वृत्र राज्यपद से भ्रष्ट हो गया, तब शुक्राचार्य ने उससे पूछा—हे दानव! तू हारा क्यों कर? इस हार से तू दुःखी है कि नहीं।

वृत्र ने उत्तर दिया—मैं सत्य से तथा तपःप्रभाव से प्राणियों की उत्पत्ति और लय का रहस्य पूर्ण रीत्या जानता हूँ। अतः मुझे न तो शोक होता है और न हर्ष ही। काल से घिरे हुए जीव, पराधीन हो, पाप के कारण नरक में डूब जाते हैं। मुनि कहते हैं—अनेक पुरुष पुण्य के कारण स्वर्ग प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सब लोग सन्तुष्ट रहते हैं। काल से प्रेरित जीव, नरक में अथवा स्वर्ग में नियत समय तक रह कर पुण्य और पाप का फल भोगते हुए पाप और पुण्य का क्षय करते हैं। जो पाप और पुण्य बच रहता है उससे जीवों को मनुष्य अथवा पशु, पक्षी की योनियों में बारंबार उत्पन्न होना और मरना पड़ता है। कामना के पाश में आबद्ध पराधीन सहस्रों जीव पशु पक्षी की योनियों में उत्पन्न होते हैं। जब वे इन योनियों से मृत्यु द्वारा छुटकारा पाते हैं, तब उन्हें नरक में यंत्रणाएं भोगनी पड़ती हैं। मैं अतीन्द्रिय वस्तु को जानने वाला हूँ। मैंने संसार में जन्म मरण प्राप्त जीवों को देखा है। जिस जीव का जैसा कर्म होता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। यह शास्त्रीय सिद्धान्त है और यह मुझे मालूम है। समस्त जीव पहले जन्म में जैसे अच्छे बुरे कर्म किये होते हैं। तदनुसार ही उन्हें यमयातना भोगने के पीछे पशु पक्षी की योनि में अथवा नरक में अथवा मनुष्य जाति में या देवताओं में उत्पन्न होना पड़ता है तथा उन्हें अपना शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार समस्त प्राणियों को कर्म द्वारा इस संसार में आना जाना पड़ता है। इस प्रकार इस जगत की उत्पत्ति और स्थिति परमात्मा के अधीन है। जब वृत्रासुर ने यह कहा, तब उशना शुक्राचार्य उससे बोले—हे तात! आसुरी भाव को नष्ट करने वाले ऐसे वचन तू क्यों कहता है?

वृत्रासुर ने कहा—जय-प्राप्ति का वर पाने को पहले मैंने बड़ा भारी

तप किया था। यह बात आपको तथा अन्य ऋषियों को विदित ही है। मैंने तीनों लोकों को दुःख दे कर और अन्य प्राणियों को नाना प्रकार के भोगने योग्य सुगन्धित और रसयुक्त पदार्थों को अपहृत कर, अपनी शक्ति और बढ़ा ली थी। चमचमाते अपने विमान पर सवार हो मैं आकाश में फिरा करता था। मुझे कोई भी जीत नहीं सकता था। मैं सर्वथा अजेय था। मैंने तपोबल से बड़ा ऐश्वर्य पाया था और अपने कर्मों ही से उस ऐश्वर्य को नष्ट कर डाला। अतः हे भगवन्! अब मैं धैर्य धारण कर उस ऐश्वर्य के लिये शोक नहीं करता। पूर्वकाल में जब युद्ध करने के लिये स्वर्गाधिष्ठाता देवराज इन्द्र मेरे सामने आया था तब उस युद्ध में मुझे भगवान्, हरि, नारायण, प्रभु के दर्शन हुए थे। उनके नाम वैकुण्ठपति, पुरुष, अनन्त, शुक्र, विष्णु, सनातन, मुञ्जकेश, हरिश्मश्रु, और प्रजापति हैं। मुझे श्रीहरि के दर्शन हुए थे। हे भगवन्! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि, मेरे तप का कुछ फल अब भी शेष है। इसीसे तो मेरे मन में कर्मफल के सम्बन्ध में प्रश्न करने की इच्छा हो रही है। ब्रह्म रूपी महान् ऐश्वर्य किस वर्ण में रहता है। यह उत्तम ऐश्वर्य फिर किस प्रकार नष्ट हो जाता है। प्राणियों की उत्पत्ति किससे होती है? उनकी मृत्यु का कारण क्या है? उनकी कार्य में प्रवृति किस प्रकार होती है? जीव कौन से फल को पा कर, ब्रह्म को प्राप्त होता है? कौन से कर्म से तथा कौन से ज्ञान से परब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। हे विप्र! आप इस प्रश्न का उत्तर मुझे दें।

भीष्म ने कहा—हे राजसिंह! हे पुरुषश्रेष्ठ! हे युधिष्ठिर! इस प्रकार वृत्रासुर ने जब शुक्राचार्य से पूछा, तब उन्होंने वृत्रासुर को जो उत्तर दिया, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। तुम अपने भाइयों सहित मन लगा कर सुनो।

दोसौ अस्सी का अध्याय

भगवान विष्णु की महिमा

शुक्राचार्य ने कहा—हे तात ! जिन समर्थ भगवान् की दोनों भुजाओं के बीच में आकाश सहित यह पृथिवी रहती है, उन भगवान् विष्णु को मैं प्रणाम करता हूँ। हे दानवश्रेष्ठ ! मोक्ष स्थान को जो अपने मस्तक पर धारण किये हुए हैं, उन भगवान् विष्णु की महिमा मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

वृत्रासुर और शुक्राचार्य में परस्पर इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा था कि, इतने ही में धर्मात्मा महामुनि सनत्कुमार उनका संशय मिटाने को उनके निकट पहुँचे। असुरराज वृत्र ने तथा शुक्राचार्य ने उनकी पूजा की। तदनन्तर वे महामुनि एक उत्तम सिंहासन पर विराजमान हुए, तब महाबुद्धिमान् उशना ने उनसे कहा—इस दानवराज को आप विष्णु का श्रेष्ठ माहात्म्य सुनाइये। यह सुन कर, सनत्कुमार दानवराज वृत्रासुर को विष्णु का माहात्म्य सुनाने लगे। वे बोले—हे दैत्य ! तू भगवान विष्णु के सर्वश्रेष्ठ माहात्म्य को सुन। हे शत्रुतापन ! भगवान् विष्णु सारे जगत् में व्याप्त हैं। हे महाभुजवृत्र ! भगवान् विष्णु ही स्थावर जङ्गम प्राणियों को रचते और वे ही प्रलय के समय उनको नाश करते हैं। समय आने पर वे ही उनकी पुनः रचना करते हैं। सब जगत् हरि में लय हो जाता है, फिर उन्हींसे उत्पन्न होता है। भगवान् विष्णु की प्राप्ति कोरे शास्त्रज्ञान ही से नहीं होती, वे केवल यज्ञानुष्ठान करने से भी नहीं मिलते, उनकी प्राप्ति तो जितेन्द्रिय होने ही से होती है। जो इन्द्रियनिग्रह रूपी यज्ञ करते हैं, उन्हें वे निश्चय ही मिलते हैं। जो मनुष्य यज्ञादि वाह्य साधनों से तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधि आदि आन्तरिक साधनों से अपनी बुद्धि को निर्मल कर लेता है, उसीको मरने के बाद मुक्ति

मिलती है। जीव को सैकड़ों जन्मों तक बड़े बड़े प्रयत्न कर, अपने दोष वैसे ही नाश करने पड़ते हैं, जैसे सुनार सब प्रकार से प्रयत्न कर, चाँदी को अग्नि में डाल कर, उसमें मिली अन्य धातुओं को अलग करता है। फिर कोई कोई जीव एक ही जन्म में महाप्रयत्न कर के शुद्ध हो जाता है। जैसे पुरुष अपने शरीर पर लगी धूल अनायास झाड़ कर साफ कर देता है, वैसे ही जीव को भी अपना मल बड़े प्रयत्न से दूर करना पड़ता है। जैसे कोई भी मनुष्य अपने शरीर पर धूल या कीचड़ लगी हुई देखना नहीं चाहता, वैसे ही जीव को भी अपने अन्तःकरण का कीचड़ दूर करना उचित है। यदि कोई थोड़े से खुशबूदार फूलों से सरसों के तेल की गन्ध दूर करना चाहे, तो जैसे वह दूर नहीं होता, वैसे ही अल्पप्रयत्न से कोई भी पुरुष आत्मा के मल को दूर कर आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। किन्तु बार बार सुगन्धित पुष्पों का पुट देते देते जैसे सरसों का तेल सुवासित हो जाता है; वैसे ही आसङ्ग-जनित दोष भी सत्य का सेवन करने तथा बुद्धिपुरस्सर अभ्यास करने से सैकड़ों जन्मों में जा कर कहीं दूर होते हैं।

हे दानव! अनेक जीवों का कर्म पर अनुराग होता है और अनेक जीवों की कर्म पर रुचि नहीं होती। प्राणी राग अथवा विराग को उत्पन्न करने वाले कर्म किस प्रकार करते हैं; सो सुन। अब मैं क्रमशः तुझे यह बतलाता हूँ कि, जीव कर्म में प्रवृत्त और धर्म से विरक्त किस प्रकार होते हैं। तू सावधान हो कर सुन। परमात्मा इस विश्व के समस्त स्थावर जङ्गम प्राणियों को रचते हैं। वे आदि और अन्त रहित हैं। वे सब प्रकार के गुणों से रहित होने के कारण गुणों को ग्रहण करते हैं। वे ही इस विश्व के संहारकर्त्ता हैं। वे ही सब वस्तुओं के आश्रय रूप, सब के नियामक तथा शुद्ध चित्तरूप हैं। वे सब प्राणियों में चर अर्थात् जड़रूप से रहते हैं और अक्षर अर्थात् जीवरूप से वास करते हैं। वे एकादश विकार रूप हो कर, इन्द्रिय रूपी किरणों से जगत को जानते हैं। उन जगत

रूप परमात्मा के चरण पृथिवी है, स्वर्गलोक उनका मस्तक है, दिशाएँ उनकी भुजाएँ हैं, आकाश उनके कान हैं, सूर्य उनके नेत्र हैं, चन्द्रमा उनका मन है, महतत्त्व उनकी बुद्धि है और जल उनकी जिह्वा है। हे दानवोत्तम! ग्रह उनका भ्रूमध्यभाग है, नक्षत्र उनके उभय नेत्रों का तेज है। रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण को भी नारायण रूप ही जानना चाहिये। समस्त कर्मों का फल भी नारायण रूप ही हैं। यह विद्वानों का मत है। अकर्म अर्थात् निष्काम कर्म—संन्यास का फल अर्थात् मोक्ष भी वे ही नारायण हैं। वेद के छन्द नारायण के रोम हैं और प्रणव उनकी वाणी है। वे अनेक वर्णों और आश्रमों के आश्रय हैं। उनके मुख अनेक हैं। हृदयस्थ परमधर्म भी वे ही हैं। वे ही ब्रह्मरूप. वे ही परमधर्म रूप, वे ही तपोरूप, सद्रूप और वे ही असद्रूप हैं। वे ही श्रुतिरूप, वे ही शास्त्ररूप और वे ही यज्ञीय पात्र रूप हैं। वे ही यज्ञ के षोडष ऋत्विज रूप हैं। वे सर्व यज्ञ स्वरूप, पितामह, विष्णु और अश्विनीकुमार और इन्द्र हैं। वे ही मित्र, वरुण, यम और धनपति कुबेर हैं। यद्यपि वे ऋत्विजों को इन्द्र, वैश्वानर (आदि कर्मभेद के कारण पृथक् पृथक् रूपों में देख पड़ते हैं; तथापि वे जानते हैं कि, वे परमात्मा रूप से एक ही हैं। उन्हीं सनातन परमात्मा के वश में यह सारा जगत है।

हे दैत्यराज! अनेक प्राणियों का एकीभाव आत्मा में रहता है। यह वेदों का मत है। जब कोई मनुष्य ज्ञान विज्ञान द्वारा परमात्मा के एकत्व को जान लेता है, तब उसमें परब्रह्म का स्वरूप प्रादुर्भूत होता है। हे दैत्य! कल्प वह है जिसमें जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय होते हैं। ऐसे करोड़ों कल्पों तक अनेक जीव स्थावर हो, जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं। प्रजाओं की उत्पत्ति और विनाश रूप कल्प का नाप सहस्रों बावड़ियों जितना है। एक कोस गहरी, चार कोस चौड़ी और बीस सौ कोस लंबी हज़ारों बावड़ियाँ हैं। इन सब बावड़ियों के भीतर कोई घुस नहीं सकता। इन जल से पूर्ण बावड़ियों में से केशाग्र से प्रति दिन यदि एक ही जल

की बूँद निकाली जाय, तो उन बावड़ियों का जल शुष्क होने में जितना समय लगेगा, उतना ही समय प्रजा के लय तथा उसकी उत्पत्ति रूप एक कल्प का हुआ करता है। ऐसे एक दो नहीं—करोड़ों कल्पों तक जीव को जन्मना और मरना पड़ता है।

जीव के वर्ण छः प्रकार के होते हैं। यथा, काला, धुमैला, नीला, लाल, पीला. और सफेद। ये छः वर्ण एक दूसरे से मिल कर, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण में मिल जाते हैं। तमोगुण अधिक होता है। और सत्त्व कम होता है और रजोगुण सम होता है। तब कृष्ण वर्ण की उत्पत्ति होती है। जब तमोगुण का आधिक्य होता है और सतोगुण समभाव में और तमोगुण न्यून भाग में होते है, तब धुमैले वर्ण की उत्पत्ति होती है। जब रजोगुण अधिक, सत्त्वगुण न्यून और तमोगुण सम होते हैं; तब नील वर्ण की उत्पत्ति होती है। जब रजोगुण अधिक सतोगुण सम और तमोगुण अधिक होते हैं, तब लाल वर्ण की उत्पत्ति होती है। जब सतोगुण अधिक रजोगुण न्यून और तमोगुण सम होते हैं; तब पीतवर्ण की उत्पत्ति होती है। यह पीतवर्ण सुखदायी होता है। जब सतोगुण अधिक, रजोगुण सम और तमोगुण न्यून होते हैं, तब शुक्ल वर्ण की उत्पत्ति होती है। शुक्ल वर्ण परम सुखदायी है।

हे दानवराज! इन छवों वर्णों में शुक्ल वर्ण सर्वश्रेष्ठ है। वह केवल निर्मल ही नहीं है। प्रत्युत शोक और ग्लानि रहित होने के कारण प्रवृत्ति मार्ग से हटाने वाला है और परिणाम में मोक्षप्रद है। हे दैत्येन्द्र! जीव सहस्रों योनियों में जन्म लेने के बाद, अन्त में सिद्धि पाता है। बहुत से उत्तम शास्त्रों का ज्ञान पाने पर, प्राणियों की गति वर्ण के आधार पर अवलम्बित है। वर्णों का आधार पृथक पृथक काल के कर्मों पर है और काल के कारण प्राणी गति पाते हैं। हे दैत्येन्द्र! जीव की गति नियमित है। सोपानारोहण (जीने पर चढ़ने के) क्रम से इस लोक में चौदह लाख बार जीव को ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है और तदनुसार ही

उसकी स्थिति और अधोगति समझनी चाहिये। कृष्ण वर्ण स्थावरत्व-प्रद होने से उसकी अधोगति है। जीव को चौदह वृत्तियाँ कुमार्गगामी बना कर, अनेक कल्पों तक, नरक में डाले रहती हैं। यह विद्वानों का मत है। सैकड़ों सहस्रों वर्षों तक स्थावर योनि रूप नरक में रह कर, जीव तिर्यग् योनि रूप धुमैले रंग का हो जाता है। इस योनि में दीन बन कर तथा गरमी सरदी सहता हुआ, अनेक वर्षों तक कष्ट भोगा करता है। जब दैव योग से उसके पापों का नाश हो जाता है और पूर्वकृत पुण्यों का फल उदय होता है, तब उसके मन में विवेक का प्रादुर्भाव होता है। जब जीव में सतोगुण होता है तब वह अपनी बुद्धि से तमोगुण को छोड़, श्रेय प्राप्त करने के लिये प्रयत्नवान होता है। तब वह रक्तवर्ण होता है। यदि इस समय भी जीव को सतोगुण की प्राप्ति न हुई तो जीव को इस जगत में वारंवार जन्म लेना और मरना पड़ता है। इस समय वह नीलवर्ण हो जाता है। जीव इस मर्त्यलोक में उत्पन्न होता है और यहाँ रह मरता जीता हुआ विधि निषेध रूपी बेड़ियों के बन्धनों से दुःखी होता हुआ, सैकड़ों कल्प बीत जाने पर पीतवर्ण अर्थात् देवत्व को पाता है। इस स्थिति में सहस्रों कल्पों तक रह कर, उसे पुनः मनुष्यत्व प्राप्त होता है। वह मनुष्य तब देवत्व प्राप्त करता है। पीतवर्ण को प्राप्त वह देव रूप से क्रीड़ा करता हुआ जीव सहस्रों कल्प बिता देता है। इतने पर भी उसे नरक ही में रहना पड़ता है और पूर्वकल्पों के कर्मों के फल को वह वहाँ भोगता है। उसे उन्नीस हज़ार योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। तब कहीं वह स्वर्ग रूपी नरक से अर्थात् देवयोनि से जीव छुटकारा पाता है। भिन्न भिन्न वर्णानुसार जीव को जन्म धारण कर करने पड़ते हैं।

जीव देवत्व पा कर, अनेक कल्पों तक देवलोक में रह कर, सर्वदा विहार करता रहता है और पुण्य भोग कर, स्वर्ग से च्युत हो पुनः मनुष्य योनि में जन्मता है। किन्तु काल से प्रेरित हो वह मनुष्य-योनि से पुनः

भ्रष्ट होता है। तब उसका वर्ण कृष्ण हो जाता है और सब से गयी बीती योनि में उसे जन्म लेना पड़ता है।

हे असुरेन्द्र! अब मैं तुझे बतलाता हूँ कि, जीव को सिद्धि किस प्रकार मिलती है। जो जीव मुमुक्षु है वह सतोगुणी हो सात सौ व्यूहों का आश्रय ले, प्रथम रक्तवर्ण होता है। फिर पीत वर्ण और सब से पीछे शुक्ल वर्ण हो जीव क्रमशः अर्चनीय लोकों में विचारता है। श्रोत, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, प्राण, मन और बुद्धि—इस प्रकार सप्तधाविभक्त बुद्धि सप्त व्यूह अर्थात् समुदाय कहलाती है। उसकी असंख्य वृतियाँ हैं। इसीसे वह सात सौ का व्यूह कही जाती है। इनमें दैवी वृत्तियाँ रक्तवर्ण की होती हैं। जीव पहले उनका आश्रय ग्रहण करता है। तदनन्तर पीतवर्ण का आश्रय ग्रहण करता है। फिर शुक्ल वर्ण का होता है तथा अनुत्कृष्ण अर्च्यतम एवं सगुणात्मक लोक की आठ पुरियों को प्राप्त करता है। अर्च्य अर्थात् चन्द्रलोक, अर्च्यतम अर्थात् योगी को मिलने वाले लोक। साठ का अनुसरण करने वाले उपरोक्त आठ लोक, सैकड़ों भागों में विभक्त हैं। मानसिक सृष्टि रूपी लोक महाप्रभाव वाले पुरुषों के लिये हैं।

हे राजन्! शुक्ल वर्ण जिस उत्कृष्ट गति को पाता है, वह गति जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति से उत्तम है। शुक्ल वर्ण को तुरीया गति मिलती है। जो योगी योग के ऐश्वर्य से प्राप्त दिव्य भोगों को त्यागने में असमर्थ होता है, वह योगी सौ कल्पों तक अप्रिय प्रारब्ध भोगने के लिये उत्पन्न हुए शरीरों में वास करता है। पुनः योगबल के तारतम्यानुसार महत, जन, तप तथा सत्य नामक चार लोकों में जाता है। छठवें अर्थात् शुक्ल वर्ण वाला अन्य सिद्धियों को प्राप्त करता है। यह तुरीया गति उसीको मिलती है, जो सिद्धिरहित है और जिसके रागादि दोष नष्ट हो जाते हैं।

इसके आगे योगभ्रष्टों की गति कही जाती है। जो योगी योग का यथेष्ट पालन नहीं कर सकता वह योगभ्रष्ट कहलाता है। योगभ्रष्ट पुरुष शत कल्पों तक अवशिष्ट पुण्यफल को भोगने के लिये स्वर्ग में

रहता है और पुण्यफल पूरा होने पर उसे पुनः मनुष्यजन्म लेना पड़ता है। किन्तु पूर्वजन्म के योगाभ्यास के कारण, यह क्रमशः उत्तमोत्तम लोकों में चढ़ता चला जाता है। योगी पुरुष सात बार लोकों में घूमता है।

जो योगी *सप्त तत्त्वों को दुःख एवं शोक का बीज समझ, ज्ञान द्वारा उनको नाश कर, इस जीवलोक में भलीभाँति शोक मोह से रहित हो विचरता है, वह पुरुष परिणाम रहित होने से तीन प्रकार के परिच्छेदों से शून्य स्थान में जाता है। इस स्थान को कोई विष्णु का, कोई महादेव का और कोई ब्रह्मा का, कोई अनन्त का, कोई नर का, कोई चित्त का और कोई सर्वव्यापक चैतन्य परब्रह्म का कहते हैं। जब यह संसार नष्ट होने लगता है, ज्ञान द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का लय प्राप्त प्रजाजन और चेष्टाशील इन्द्रियाँ और ब्रह्मलोक से भिन्न प्रकृति आदि सब ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। प्रलय के समय जो जीव देवता होते हैं और जो अपने कर्मों को पूर्ण रीत्या भोगे हुए नहीं होते, वे उस कल्प में भी वही स्थान पाते हैं, जो उनका स्थान पूर्वकल्प में था। यह गति प्रत्येक कल्प के प्रलय और उत्थान में हुआ करती है। जिन जीवों के कर्मफल प्रलयकाल में पूरे हो जाते हैं उन्हें स्वर्ग से मर्त्यलोक में आ जन्म लेना पड़ता है। क्योंकि अनेक प्रलय होने पर भी, कर्मफलों का नाश तत्त्वज्ञान हुए विना नहीं होता। जिन जीवों का रूप और बल समान है, वे उत्तम जीव भी सिद्धलोक से भ्रष्ट हो कर, अपने अपने कर्मों का फल भोगते हैं। फिर क्रमशः ऊर्ध्वलोकों में जाते हैं। इस प्रकार एक कल्प में भी जीव की बारम्बार उत्तम और अधम गति प्राप्त हुआ करती है।

ब्रह्मवेत्ता पुरुष जब तक प्रारब्ध कर्म को भोगता है, तब तक उसके शरीर में सब प्रजाओं का और दो निर्मल विद्याओं का वास रहता है। जब वह योग से अपने चित्त को शुद्ध कर के संयम करता है, तब वह आकाशादि पञ्चमहाभूत रूप जगत् को अपनी पाँच इन्द्रियों की तरह समझता

---

*पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि।

हैं। जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष शुद्ध मन से परम पवित्र गति को जानना चाहे, उसे परम शुद्ध गति मिलती है। वहाँ ब्रह्म का साक्षात्कार पा कर, वह अविनाशी स्थान में जाता है। वह स्थान ब्रह्मरूप, सनातन और दुष्प्राप्य है।

हे दैत्यराज ! मैंने तुमसे इस प्रकार नारायण का बल कहा। वृत्रासुर बोला—हे भगवन् ! आपने अभी मुझे बतलाया है कि यह जगत् मनोमात्र रूप है, अतः मुझे खेद नहीं होता। आपका कथन ठीक है। आपकी बातें सुन मेरा शोक दूर हो गया और मैं निष्पाप हो गया। हे महर्षे ! हे भगवन् ! अनन्त, महाकान्तिमान् विष्णु का यह अमित पराक्रमी चक्र है। इसको मैं देख रहा हूँ। इसी शाश्वत स्थान से सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है। यह विष्णु महात्मा और पुरुष श्रेष्ठ हैं। यह सारा जगत् उनमें स्थित है।

भीष्म ने कहा—हे युधिष्ठिर ! यह कह वृत्रासुर ने शरीर त्याग दिया और उसने अपने आत्मा को परमात्मा में लगा, परब्रह्म को प्राप्त किया।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! पूर्व तो सनत्कुमार ने वृत्रासुर को जिन विष्णु भगवान् के सम्बन्ध में उपदेश दिया था, वे जनार्दन भगवान् क्या यह श्रीकृष्ण ही हैं ? आप मुझे यह बतलावें।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! षडैश्वर्ययुक्त महादेव जी अपने तेज से मूल प्रकृति में स्थित रहते हैं। परमात्मा वहाँ रह कर, निज शक्ति से विविध रूपधारी भावों को रचना किया करते हैं। इन केशव को मूल प्रकृति में रहने वाले, चैतन्य रूप परमात्मा के एक अष्टमांश से उत्पन्न हुआ समझो। यह भगवान् केशव अपने अष्टमांश से तीनों लोकों की रचना करते हैं। यद्यपि समष्टि कार्यात्मक ईश्वर अविनाशी है, तथापि कल्पान्त आने पर उसका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। यह भगवान् कृष्ण बड़े बलवान् और बड़ सामर्थ्यवान् हैं। जब विश्व का प्रलय होता है; तब यह जल में शयन करते हैं। सनातन लोकों में घूमने वाले विशुद्धात्माओं अर्थात् ब्रह्मा शिवादि के विधाता हैं। यह अनन्त परमात्मा समस्त

कारणों को अपनी स्फूर्ति प्रदान कर पूर्ण करते हैं। यह सदा एकरूप होने पर भी मायोपाधिक श्रीकृष्ण रूप से लोकों में भ्रमण किया करते हैं, किन्तु यह सब होने पर भी यह हमारी तरह उपाधि धर्म से आवद्ध नहीं हैं। यह तो सब को धारण करते हैं और अहङ्कार के वश में न रह कर, जगत् की रचना करते हैं।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे परमार्थज्ञ पितामह! मैं समझता हूँ कि वृत्रासुर को आत्मा की उत्तम गति जान पड़ गई होगी। इसीसे वह सुखी होगा और शोक न करता होगा। जो जीव शुक्ल वर्ण का शुक्ल वंश में उत्पन्न साध्य नामक देवता होता है और जो तिर्यग् योनि तथा नरक से छूट जाता है, वह पुनः इस लोक में जन्म नहीं लेता। हे राजन्! जो जीव पीत वर्ण का होता है, जो अल्प रजोगुणी और समान तमोगुणी होता है, जो रक्त वर्ण का होता है, उसके रज और तम, गुण जब सम हो जाते हैं, तब वह प्रवृत्ति की प्रबलता से तिर्यग् योनि को प्राप्त होता है। मैं अपने बारे में जब विचार करता हूँ, तब मैं अपने को तो पीतवर्ण से भ्रष्ट हो, असुखप्रद और सुख दुःख में आसक्त केवल रजोगुण प्रधान रक्तवर्ण में पाता हूँ। अतः हम नील अथवा अधम नीलवर्ण की कौन कहे—न मालूम कौन गति को प्राप्त होंगे।

भीष्म बोले—तुम्हारा जन्म शुद्ध वंश में हुआ है। तुम उत्तम व्रतधारी हो। अतः तुम देवताओं के लोक में विहार कर, पुनः मर्त्यलोक में आओगे। जब तक यह सृष्टि रहेगी, तब तक तुम जगत् में विहार करोगे। फिर सुखपूर्वक स्वर्गलोक में जा और दिव्य सुखों का उपभोग कर, सिद्ध पुरुषों में मिल जाओगे। तुम सब लोग विमल हो। अतः तुम लोगों को डरना न चाहिये।

दोसौ इक्यासी का अध्याय

वृत्रासुर वध

युधिष्ठिर ने पूछा—हे तात ! अपार तेजस्वी वृत्रासुर की धर्मनिष्ठा विस्मयोत्पादिनी थी। उसका विज्ञान अनुपम था और उसकी विष्णुभक्ति भी अनुपम थी। हे राजसिंह ! अमित तेजस्वी विष्णु का पद तो दुर्विज्ञेय है। उस पद को वृत्रासुर असुर हो कर भी क्यों कर जान पाया ? आपकी वर्णित उसकी कथा पर मैं श्रद्धा रखता हूँ। किन्तु मुझे एक सन्देह है, वह यह कि वृत्रासुर तो विष्णुभक्त था, अतः वह अवध्य था। फिर भी इन्द्र ने उसे क्यों मार डाला। वृत्रासुर धार्मिक था। वेदान्त वाक्यों पर विचार कर वह तत्वदर्शी हो गया था, तब भी इन्द्र ने उसका वध क्यों किया ? हे भरतर्षभ ! इन्द्र ने वृत्र को जीता किस प्रकार ? मैं यह भी जानना चाहता हूँ। वे दोनों कैसे लड़े थे ? आप मुझे यह भी विस्तारपूर्वक बतलावें। मुझे उसका वृत्तान्त सुनने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।

भीष्म जी बोले—पूर्वकाल में इन्द्र समस्त देवताओं को साथ ले और एक रथ में बैठ वृत्रासुर के साथ युद्ध करने गये थे। उन्होंने वृत्रासुर को पर्वत की तरह खड़ा हुआ देखा था। वृत्रासुर पाँचसौ योजन ऊँचा और तीन सौ योजन मोटा था। तीनों लोकों के वासियों में से उसे कोई भी जीत नहीं सका था। वृत्रासुर के रूप को देख देवता भयभीत हो घबड़ा गये। हे राजन् ! अपने शत्रु वृत्रासुर के ऐसे उत्तम रूप को देख, इन्द्र सहम गया और उसकी जाँघ सुन्न पड़ गयीं। तदनन्तर असुरों और देवताओं में युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों दलों में मारू बाजे बजने लगे। सैनिक भयङ्कर गर्जन करने लगे। इन्द्र को अपने सम्मुख खड़ा देख, वृत्रासुर ज़रा भी न घबड़ाया। उसने लड़ने के लिये कोई विशेष

प्रयत्न भी न किया। उसी समय देवराज इन्द्र और महात्मा वृत्रासुर में त्रिलोकी को भयभीत करने वाला युद्ध आरम्भ हुआ। तलवार, शक्ति, पट्टिश, भाले, तोमर, मुग्दर, पत्थर, महा शब्द करने वाले धनुष, दिव्य शस्त्र और अग्नि एवं उल्काओं से लड़ाई होने लगी। रणभूमि में उभय दल के सैनिक मारे गये थे। ब्रह्मा तथा महाभाग्यवान ऋषि उत्तम विमानों में बैठ उस युद्ध को देखने के लिये आये। हे भरतर्षभ! सिद्धों तथा अप्सराओं सहित गन्धर्व भी अपने श्रेष्ठ विमानों में बैठ कर वह युद्ध देखने आये। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ वृत्रासुर आकाश में जा कर बड़ी शीघ्रता के साथ इन्द्र पर पत्थरों की वृष्टि करने लगा। तब तो देवता क्रोध में भर गये और चारों ओर बाण मार कर, उन्होंने वृत्रासुर की पत्थर-वृष्टि रोक दी। किन्तु हे धर्मराज! महाबली और मायावी वृत्रासुर ने माया द्वारा इन्द्र को मोहित किया। इस प्रकार वृत्रासुर के पीड़ित करने पर इन्द्र अचेत हो गये। तब इन्द्र को सचेत करने के लिये वसिष्ठ मुनि ने उन्हें रथन्तर साम गान सुनाया।

वसिष्ठ जी ने कहा—हे देवराज! हे देवोत्तम! हे दैत्य-असुर-निषूदन! तुममें तो तीनों लोकों का बल भरा है। तब भी तुम मोहित क्यों हो रहे हो? देखो, तुम्हारे सामने ब्रह्मा जी, विष्णु, जगत्पति शङ्कर, सूर्य, चन्द्र तथा समस्त महर्षि खड़े हुए हैं। अतः हे इन्द्र! तुम सामान्य मनुष्यों की तरह मोह में मत पड़ो और युद्ध में शत्रुओं का नाश करो। सूर्य, लोकवन्द्य, त्रिनेत्र एवं लोकगुरु शङ्कर तुम्हें निहार रहे हैं। तुम मोह में मत पड़ो। हे इन्द्र! बृहस्पति प्रमुख ब्रह्मर्षि भी तुम्हारे विजय के लिये दिव्य स्तोत्रों से तुम्हारा स्तव कर रहे हैं।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! जब वसिष्ठ जी ने इस प्रकार इन्द्र को सावधान किया; तब महापराक्रमी इन्द्र के शरीर में महाबल उत्पन्न हुआ। वृत्र के शत्रु इन्द्र ने योगबल से वृत्रासुर की माया नष्ट कर डाली। तदनन्तर अंगिरा के पुत्र श्रीमान् बृहस्पति तथा अन्य महर्षिगण

वृत्रासुर का पराक्रम देख महादेव जी के निकट गये और उनसे वृत्रासुर का नाश कर, त्रिलोकी के कल्याण करने की प्रार्थना की। तब शङ्कर के तेज ने ज्वर का रूप धारण किया और वह वृत्रासुर के शरीर में घुस गया। सर्वलोकपूज्य, लोगों का रक्षण करने में संलग्न भगवान् विष्णु ने इन्द्र के वज्र में प्रवेश किया। तदनन्तर बुद्धिमान बृहस्पति और महा तेजस्वी वसिष्ठ आदि समस्त महर्षि लोकों में पूज्य एवं वरद इन्द्र के पास गये। और एकाग्र मन कर कहने लगे, हे देवताओं के स्वामी! आप वृत्रासुर का वध करें।

महादेव जी बोले—हे इन्द्र! वृत्रासुर के पास एक बड़ी भारी सेना है। यह विश्व का आत्मा रूप है और यह सर्वत्र पहुँचता है। यह बड़ा प्रसिद्ध और बड़ा मायावी है। असुरश्रेष्ट इस वृत्रासुर को यदि तीनों लोक एकत्रित हों तो भी नहीं जीत सकते। तू योगबल से इसका नाश कर, उसकी उपेक्षा करनी उचित नहीं है। बल सम्पादन करने के लिये वृत्र ने साठ हज़ार वर्षों तक तप किया था। तदनन्तर ब्रह्मा जी ने इसे वर दिया था। वर माँगते समय वृत्रासुर ने महायोगित्व, महाबल और परमोत्तम तेज माँगा था। तब ब्रह्मा जी ने दिया था। हे इन्द्र! मैं अपना तेज तुझमें स्थापित करता हूँ। इसके प्रभाव से तू ज्वराक्रान्त वृत्रासुर का वध कर सकेगा।

इन्द्र ने कहा—हे महापुरुष मैं आपके अनुग्रह से, आपके सन्मुख ही इस दुरासद असुर का वज्र से वध करूँगा।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! जब असुर वृत्र ज्वराक्रान्त हो गया तब देवता हर्षित हुए और सिंहगर्जन करने लगे। उस समय हज़ारों नगाड़े बजाये गये और सहस्रों शङ्खों की एकसाथ ध्वनि हुई। मृदङ्ग और ढोल बजाये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि, समस्त असुर हत-बुद्धि हो गये। इन्द्र के शरीर में विष्णु का प्रविष्ट होना जान, देवगण इन्द्र को उत्तेजित करने के लिये उनकी प्रशंसा करते हुए ईशान की स्तुति

करने लगे। जब लड़ने के लिये देवराज इन्द्र रथ पर सवार हुए, तब उनका मुखमण्डल ऐसा तमतमा उठा कि, उनकी ओर कोई निहार भी नहीं सकता था।

दोसौ बयासी का अध्याय

इन्द्र की ब्रह्म-हत्या

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! ज्वराक्रान्त वृत्रासुर की उस समय जो दशा हुई अब तुम उसे सुनो। उसके मुख से अग्नि निकल रहा था। उसकी मुखाकृति बड़ी भयानक हो गयी थी। उसके शरीर की रंगत फीकी पड़ गयी थी और वह थरथर काँपने लगा था और उसकी साँस शीघ्र चल रही थी। उसके शरीर के रोंगटे खड़े हो गये थे। उसकी साँस उखड़ने लगी थी। उसकी दोनों पसलियों को धधकते हुए उल्कों ने घेर लिया था। उसके मुख से अशिव रूप एवं अत्यन्त दारुण, महाभयङ्कर रूपिणी शृगालिन (लोमड़ी) निकली। हे भारत! वह वृत्रासुर की स्मृति थी। गृद्ध, कङ्क और बक वृत्रासुर के सिर पर मड़राने लगे और बुरी तरह चिल्लाने लगे।

तदनन्तर देवताओं से पूजित इन्द्र, हाथ में वज्र ले वृत्रासुर की ओर लपके और उसकी ओर देखा। हे राजेन्द्र! उस समय तीव्र ज्वर से आक्रान्त वृत्रासुर अमानुषी शब्द करता हुआ जमुहाई ले रहा था। उसी समय इन्द्र ने उसके ऊपर वज्र का प्रहार किया। कालाग्नि के समान महातेजस्वी इन्द्र ने बड़े भारी वज्र से तुरन्त ही वृत्रासुर को मार कर, नीचे गिरा दिया।

हे भारत! वृत्रासुर का मारा जाना देख, चारों ओर से देवता हर्षध्वनि करने लगे। दानवारि देवराज ने विष्णु की सहायता से वज्र

द्वारा वृत्रासुर को मार और बड़ी नामवरी पा सुरपुर में प्रवेश किया। तदनन्तर वृत्रासुर के शरीर से लोकभयावनी एवं रौद्ररूपिणी ब्रह्महत्या निकली। उसके दाँत बड़े विकराल थे। उसका रूप बड़ा भयङ्कर था। उसके शरीर का रंग काला और पीला था। उसके बाल बिखरे हुए और दोनों नेत्र बड़े भयङ्कर थे। कृत्या की तरह कपालमालिनी, वल्कल-वस्त्र-धारिणी, रुधिर से तराबोर, भयङ्कर रूपधारिणी वह स्त्रीरूपी ब्रह्महत्या वृत्रासुर के शरीर से निकल इन्द्र को ढूँढने लगी। उस समय सर्व-लोक-हित की कामना से वृत्रासुर के मारने वाले इन्द्र, स्वर्ग की ओर जा रहे थे। यह देख ब्रह्महत्या ने उनका पीछा किया और उनके शरीर में प्रवेश करने का उद्योग किया। जब देवराज ब्रह्महत्या के भय से भयभीत हुए, तब उन्होंने कमल के मृणाल के नीचे छिप बहुत वर्षों तक निवास किया; किन्तु ब्रह्महत्या ने उनका साथ न छोड़ा। तब ब्रह्महत्या के कारण इन्द्र का तेज क्षीण हो गया। अपनी ब्रह्महत्या छुड़ाने को इन्द्र ने बड़ा प्रयत्न किया। किन्तु इन्द्र उसे न छुड़ा सके। जब ब्रह्महत्या ने इन्द्र पर सोलहो आने अपना अधिकार जमा लिया, तब वे लोकपितामह ब्रह्मा जी के निकट गये और उनके चरणों में अपना सीस रख उन्हें प्रणाम किया।

जब ब्रह्मा जी ने देखा कि, इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी है, तब तो वे बड़े सोच विचार में पड़ गये। अन्त में ब्रह्महत्या को शान्त करने के लिये ब्रह्मा जी ने उससे मधुर शब्दों में कहा—हे कल्याणि! तू इन्द्र को छोड़ दे और मुझे प्रसन्न कर। बतला तू क्या चाहती है? बतला मैं तेरा कौन सा अभीष्ट पूर्ण करूँ?

ब्रह्महत्या ने कहा—हे देव! जब तीनों लोकों के रचयिता और पूज्य आप मेरे ऊपर सुप्रसन्न हैं, तब मैं अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण हुई समझती हूँ। आप तो मुझे मेरे रहने का स्थान बतला दें। लोकरक्षणार्थ आपने ही मर्यादा बाँधी है और धर्म सम्बन्धी नियमों का निर्माण भी आप

ने ही किया है। आप ही का बनाया हुआ यह नियम है कि, जो कोई ब्रह्महत्या करे उसे ब्रह्महत्या करने का पाप लगे। हे धर्मज्ञ! हे लोकेश्वर! हे सामर्थ्यवान देव! यदि आप कहते हैं तो मैं इन्द्र के शरीर से निकल जाऊँगी। किन्तु मैं रहूँ कहाँ सो तो आप बतलाइये।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! ब्रह्महत्या के इन वचनों को सुन कर पितामह ब्रह्महत्या से बोले—अच्छी बात है। मैं तेरे रहने के लिये स्थान बतलाता हूँ। ब्रह्महत्या से यह कह कर ब्रह्मा जी ने इन्द्र को ब्रह्महत्या से छुड़ाने के लिये उपाय ढूँढ लिया। स्वयंभू ब्रह्मा ने सर्वप्रथम अग्नि देव को स्मरण किया। स्मरण करते ही अग्नि देव प्रकट हो ब्रह्मा जी से बोले—भगवन्! बतलाइये, मेरे लिये क्या आज्ञा है।

ब्रह्मा जी ने कहा—इन्द्र की ब्रह्महत्या मैं छुड़ाना चाहता हूँ और ब्रह्महत्या को कई भागों में विभक्त करना चाहता हूँ। इस ब्रह्महत्या का चतुर्थांश तुम ग्रहण करो।

अग्नि ने कहा—हे लोकपितामह! आपकी आज्ञा को शिरोधार्य कर मुझे ब्रह्महत्या के चतुर्थांश लेने में तो कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु मेरा छुटकारा इससे क्यों कर होगा? हे प्रभो! आप इसका उपाय मुझे बतलावें। हे सब लोकों में पूज्य देव! मैं अपने प्रश्न का उत्तर स्पष्ट शब्दों में प्राप्त करना चाहता हूँ।

ब्रह्मा जी बोले—हे अग्ने! जिस समय तू किसी स्थान में धधकेगा, उस समय जो पुरुष अज्ञानवश बीजों, औषधियों और रसों से तेरा पूजन न करेगा, उसे, यह तेरी ब्रह्महत्या लगेगी। हे हव्य-कव्य-भुक्! इससे तू अपनी मानसिक चिन्ता दूर कर।

भीष्म जी बोले—हे राजन्! जब पितामह ने इस प्रकार कहा—तब अग्नि ने उनका कहना मान लिया और ब्रह्महत्या के चतुर्थांश ने अग्नि के शरीर में प्रवेश किया। फिर ब्रह्मा जी ने वृक्षों औषधियों और तृणों को

बुला कर उनसे कहा—तुम सब मिल कर इन्द्र की ब्रह्महत्या का एक चौथाई भाग लो।

ब्रह्मा जी के ये वचन सुन, ये सब वैसे ही खिन्न हुए जैसे ब्रह्मा जी की बात सुन अग्निदेव खिन्न हुए थे। वे सब ब्रह्मा जी से बोले—हे लोकपितामह! हम तो वैसे ही हतभाग्य हैं, तिस पर यदि हमें ब्रह्महत्या और लगी तो हमारा उससे छुटकारा क्यों कर होगा? हे प्रभो! हम मरों को और आप न मारें। हे ब्रह्मदेव! हम सर्दी, गर्मी, बरसात तथा पवन के झकझोरों को तथा मनुष्यों द्वारा अपने शरीर के छेदन भेदन को सदा सहन किया करते हैं। इस पर भी यदि हम आपको बात मान ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ले लें तो उससे हमारा छुटकारा क्योंकर होगा? इसे तो आप विचार लें।

ब्रह्मा जी बोले, जो मनुष्य अष्टमी, पूर्णिमा, अमावास्या आदि पर्व के दिन मूर्खतावश तुम्हें काटेगा अथवा तोड़ेगा, यह ब्रह्महत्या उस मनुष्य को लगेगी।

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! ब्रह्मा जी का यह वचन सुन, वृक्षादि ने एक चौथियाई ब्रह्महत्या ग्रहण कर ली और ब्रह्मा जी के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर वे चले गये।

तदनन्तर हे राजन्! लोकपितामह ब्रह्मा ने अप्सराओं को बुलाया, और मीठी मीठी बातें कह उन्हें समझाया—यह श्रेष्ठा स्त्री इन्द्र के शरीर से निकल कर यहाँ आयी है। अतः तुम सब मेरा कहना मान कर, इस ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ग्रहण करो।

अप्सराएँ कहने लगीं—हे देवेश्वर! आपका कहना मान हम ब्रह्महत्या को ग्रहण करने के लिये तैयार हैं। किन्तु हमारा इससे छुटकारा कब होगा? यह भी आप बतला दें।

ब्रह्मा जी बोले—जो मनुष्य रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करेगा, उसे तुरन्त ब्रह्महत्या लगेगी—तुम चिन्ता त्याग दो।

भीष्म जी बोले—हे भरतर्षभ ! वे अप्सराएँ ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन प्रसन्न हो तथा "बहुत अच्छा" कह कर, अपने अपने स्थानों में जा विहार करने लगीं। तदनन्तर महातपस्वी और तपःप्रभाव से तीनों लोकों को रचने वाले लोकपितामह ब्रह्मा जी ने जल को बुलवाया ! जल ने आ ब्रह्मा जी को प्रणाम कर उनसे कहा—हे अरिन्दम ! आपकी आज्ञा के अनुसार मैं यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। हे लोकेश ! हे प्रभो ! बतलाइये, मुझे क्या आज्ञा है ?

पितामह बोले—यह भयङ्कर ब्रह्महत्या इन्द्र के निकट से आयी है; इसका एक चतुर्थांश तुम ले लो।

जल ने कहा—हे लोकेश्वर ! मैं आपका कहना मानने को तैयार हूँ किन्तु इस ब्रह्महत्या से मेरा छुटकारा क्यों कर होगा ? यह तो आप विचार कर मुझे बतलावें। हे देवेश ! इस समस्त जगत के आप ही आधार हैं। मुझे आप इस पाप से उबारें और प्रसन्न हो मुझे इसका कोई उपाय बतलावें।

पितामह बोले—जो निर्बुद्धि मनुष्य, जल की उपयोगिता पर ध्यान न दे, जल में थूकें खखारेंगे तथा मल मूत्र विसर्जन करेंगे, उनको यह ब्रह्महत्या तुरन्त लगेगी और उन्हींमें यह रहेगी। इस प्रकार तुम ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाओगे। मैं यह बात तुमसे सत्य सत्य कहता हूँ।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! प्रजापति ब्रह्मा के आदेशानुसार वह ब्रह्महत्या, इन्द्र का पिंड छोड़, ब्रह्मा जी के बतलाये हुए स्थलों में जा रहने लगी। तत्पश्चात् ब्रह्मा जी के आदेशानुसार इन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ किया, सुनते हैं ब्रह्मा जी के कथनानुसार अश्वमेध यज्ञ कर इन्द्र ब्रह्महत्या से छूटे थे। तदनन्तर इन्द्र ने स्वर्ग का आधिपत्य हस्तगत कर अपने अगणित शत्रुओं का संहार किया था और वे बड़े प्रसन्न हुए थे।

हे पृथिवीपते ! वृत्रासुर के रुधिर से जो शिखण्डी नामक मुर्गे उत्पन्न हुए वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और विशेष कर दीक्षित तपस्वियों के लिये

अभक्ष्य हैं। हे कुरुनन्दन! इस धराधाम पर ब्राह्मण भू-देवता कहलाते हैं। अतः तुम भी सदैव ब्राह्मणों के हित में संलग्न रहना। हे धर्मराज! इस प्रकार अपार बलवान् इन्द्र ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से उपाय खोज कर वृत्रासुर का वध किया था। हे अजेय कुन्तीनन्दन! इसी प्रकार तुम भी इन्द्ररूप हो अपने शत्रुओं का संहार करोगे।

जो कोई पर्व दिनों में विप्रों के बीच इस कथा को बाँचेंगे, उन्हें किसी प्रकार का पाप न लगेगा। हे तात! वृत्रासुर और इन्द्र का यह महा अद्भुत कर्म मैंने तुम्हें सुना दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?

दोसौ तिरासी का अध्याय

ज्वरोत्पत्ति-वर्णन

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! आप सर्व-शास्त्र-विशारद हैं। अब मैं वृत्रासुर के वध के सम्बन्ध ही में आपसे कुछ और पूछना चाहता हूँ। हे अनघ! आपने कहा था कि, मारे जाने के पूर्व वृत्रासुर ज्वराक्रान्त हो अचेत सा हो गया था। उस अवस्था में इन्द्र ने उस पर वज्र-प्रहार कर उसका वध किया था। सो हे पितामह! वह ज्वर कैसे और कहाँ से उत्पन्न हुआ था? मैं आपके मुख से ज्वरोत्पत्ति सुनना चाहता हूँ।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! लोकप्रसिद्ध ज्वरोत्पत्ति तुम सुनो। मैं ज्वरोत्पत्ति को विस्तार पूर्वक कहूँगा। हे राजन्! पूर्वकाल में सुमेरु पर्वत का सावित्र नामक एक शिखर था। उस शिखर को सब लोग सम्मान की दृष्टि से देखते थे। क्योंकि वह नाना-रत्न-मण्डित होने के कारण अमित प्रकाशवान् था। उसका घेरा और ऊँचाई बेपरिमाण थीं।

इसीसे उसके ऊपर कोई चढ़ भी नहीं सकता था। सोने के दमकते हुए पलंग की तरह उस पर्वतशिखर पर महादेव जी विराजमान थे और हिमालय-नन्दिनी पार्वती जी सदा उनकी सेवा शुश्रूषा किया करती थीं। साथ ही अमित तेजस्वी महात्मा वसु देवता, वैद्यश्रेष्ठ अश्विनीकुमार एवं अलकाधिपति यक्षराज कुबेर गुह्यकों सहित सदा शिव जी की वहाँ उपासना किया करते थे। महामुनि शुक्राचार्य, महर्षि सनत्कुमार आदि सिद्धपुरुष, अङ्गिरा आदि देवर्षि; विश्वावसु गन्धर्व, नारद और पर्वत तथा अप्सराएँ उस पर्वतशिखर पर जा सदा भगवान् महादेव का पूजन किया करते थे। वहाँ पर शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु सदा चला करता था। वट के पेड़ों में सब ऋतुओं में फूल लगते थे। विद्याधर, सिद्ध तथा यक्ष पशुपति महादेव जी की उपासना करने को वहाँ जाया करते थे।

हे राजन्! विविध रूपधारी अनेक अग्निवत् भूत, प्रेत एवं महा भयङ्कर राक्षस और महाबलवान् पिशाच, अस्त्रों शस्त्रों से सुसज्जित हो एवं नाचते कूदते शङ्कर के अनुचर बने हुए, उनकी सेवा किया करते थे। महातेजस्वी नन्दी, त्रिशूल ले, महादेव जी के निकट सदा उपस्थित रहते थे। हे कुरुकुलोद्वह! समस्त तीर्थजलों की जननी नदियों में श्रेष्ठ गंगा मूर्तिमती हो, वहाँ शङ्कर की उपासना किया करती थीं। इस प्रकार महातेजस्वी और देवर्षियों द्वारा सदा पूजित महादेव जी, मेरु के उस शिखर पर रहते थे। संसार की रचना के काल से ले कर बहुत सा समय व्यतीत होने पर एक बार दक्षप्रजापति ने वेदोक्त रीति से यज्ञ करना आरम्भ किया। दक्ष के उस यज्ञ महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये इन्द्रादि समस्त देवताओं ने जाने का निश्चय किया। सुनते हैं वे सब देवता महादेव जी से पूछ कर और चमचमाते विमानों पर सवार हो गङ्गाद्वार की ओर गये। इन देवताओं को दक्ष के यज्ञ में जाते देख कर पर्वतराज की पुत्री पार्वती ने प्राणियों के स्वामी अपने

पति महादेव जी से पूछा—भगवन्! ये इन्द्रादि देवता कहाँ जा रहे हैं? हे तत्वज्ञ! यह आप मुझे बतलावें। क्योंकि मुझे इस बात का बड़ा सन्देह हो रहा है। महेश्वर ने कहा—हे सौभाग्यवती देवि! दक्ष प्रजापति अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं। सो उसी यज्ञ में ये सब देवगण जा रहे हैं।

उमा ने कहा—हे देवदेव! आप इस यज्ञ में क्यों नहीं पधारते? वहाँ जाने में आपको क्या आपत्ति है?

महेश्वर ने उत्तर दिया—हे सौभाग्यवती देवि! आरम्भ ही से आपस में कुछ सोच विचार कर देवताओं ने यज्ञों में मेरा भाग नहीं रखा। हे सुन्दरी! तभी से देवगण यज्ञभाग मुझे नहीं देते।

उमा बोलीं—भगवन्! आप तो सब प्राणियों से अधिक गुणवान हैं। साथ ही अजेय भी हैं। तेज में व शोभा में भी आप किसी से हेटे नहीं हैं। तब क्या कारण है जो देवताओं ने यज्ञ में आपका भाग नहीं रखा? यह बात सुन कर तो मुझे बड़ा ही दुःख हो रहा है और आपाद मस्तक मेरा शरीर थरथरा रहा है।

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज! उमा देवी इस प्रकार अपने पति से कह चुप हो गयीं और मन ही मन बड़ी सन्तप्त हुईं।

महादेव जी ने उमा के मन की दशा जान, नन्दी को आज्ञा दी कि, तुम यहीं रह कर, इस स्थान की देखभाल करते रहो।

नन्दी से यह कह योगीश्वरेश्वर पिनाकपाणि शङ्कर ने योगबल की सहायता ली और अपने भयङ्कर गणों को साथ ले उन्होंने दक्ष के यज्ञ में पहुँच, उस यज्ञ को नष्ट भ्रष्ट कर डाला। उस समय शङ्कर के गणों में बहुत से तो सिंहगर्जन कर रहे थे और बहुत से हँस रहे थे। कितने ही यज्ञाग्नि पर रक्तवृष्टि कर रहे थे और कितने ही गण, यज्ञस्तम्भों को उखाड़ उखाड़ कर उन्हें घुमा रहे थे। शिव के अनेक गण दक्ष के अनुचरों को अपने मुखों में डाल निगल रहे थे। शङ्कर ने इस तरह उस यज्ञ का विध्वंस कर डाला। उस समय यज्ञ मृग का रूप धारण कर,

आकाश की ओर भागा। यह देख और धनुष बाण ले शङ्कर ने उसका पीछा किया। उस समय भगवान् शङ्कर क्रोध में भरे हुए थे। अतः उनके मस्तक से पसीने की बूँदे टपक कर भूमि पर गिर पड़ीं। उन स्वेद बिन्दुओं से प्रलयकालीन अग्नि की तरह भयङ्कर अग्नि प्रकट हुआ। हे नृप! उस अग्नि से एक भयङ्कर पुरुष उत्पन्न हुआ। वह अत्यन्त ह्रस्वकाय था। उसके दोनों नेत्र रक्त की तरह लाल लाल थे। उसकी डाढ़ी और मूछों के बाल पीले रंग के थे। उसका शरीर उल्लू अथवा बाज के रुओं जैसे रुओं से परिपूर्ण था और उसके सिर के बाल सतर खड़े थे। उसकी आकृति बड़ी भयङ्कर थी। उसके शरीर का रंग काला था और वह लाल वस्त्र से आच्छादित था। जैसे धधकता हुआ अग्नि घास फूस को क्षण भर में जला कर भस्म कर डाले, वैसे ही उसने देखते देखते मृग रूपधारी यज्ञ को जला कर भस्म कर डाला। तदनन्तर वह वहाँ उपस्थित देवताओं और ऋषियों की ओर झपटा। वह पुरुष उस यज्ञभूमि में भयङ्कर कर्म करता हुआ, घूमने लगा। तब तो पृथिवी भी डोल उठी और सारे जगत में हाहाकार मच गया।

तब तो लोकपितामह ब्रह्मा जी ने महादेव जी के निकट जा उनसे कहा—हे प्रभो! समस्त देवता आपको अब से यज्ञभाग देंगे। अतः अब आप अपना क्रोध शान्त करें। हे शत्रुतापन! आपको क्रुद्ध देख के समस्त देवगण और ऋषिगण घबड़ा गये हैं। हे देवोत्तम! हे धर्मज्ञ! आपके स्वेद बिन्दु से उत्पन्न पुरुष संसार में ज्वर के नाम से प्रसिद्ध होगा। किन्तु यदि उसका तेज कम न किया गया, तो पृथिवी इसके तेज को न सह सकेगी। अतः इसका तेज कई एक भागों में विभाजित कर दीजिये।

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन यज्ञ में अपने भाग का निर्दिष्ट किया जाना जान, महादेव जी ने कहा—बहुत अच्छा मैं इसके विभाग किये देता हूँ।

तदनन्तर ब्रह्मा जी के कथनानुसार शङ्कर जी अपना यज्ञ भाग पा कर मुस्कुराये और परम प्रसन्न हुए। सर्वधर्मज्ञ शङ्कर ने सब प्राणियों को शान्ति प्रदान करने के लिये उस ज्वर के बहुत से विभाग कर डाले। हे वत्स! अब तुम उन विभागों का वर्णन सुनो। शङ्कर ने गजों में मस्तक की पीड़ा रूप में, पर्वतों में शिलाजीत के रूप में, जल में सिवार के रूप में, सर्पों में केंचुओं के रूप में, बैल आदि खुर वाले पशुओं में खुरों की सूजन के रूप में, पृथिवी में खार के रूप में, सिंहादि पशुओं में दृष्टि-अवरोध के रूप में, घोड़ों में गले के माँस में छिद्र के रूप में, मोरों में शिखामेहन के रूप में, कोयलों में नेत्ररोग के रूप में, भेड़ों में पित्तभेद—यकृत रोग के रूप में, शुकों में हिचकी के रूप में और व्याघ्रादि में परिश्रम के रूप में ज्वर को बाँट दिया।

हे धर्मज्ञ श्रेष्ठ! मनुष्यों में वह ज्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह ज्वर महादेव जी का महान् दारुण तेज है। यह मरण के समय, जन्म के समय और मध्य में भी प्राणियों में प्रवेश करता है। अतः समस्त प्राणियों को उचित है कि, वे शङ्कर रूपी ज्वर को प्रणाम करें। वृत्रासुर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ था। किन्तु जब ज्वर ने उसके शरीर में प्रवेश किया तब वृत्र को जमुहाई आने लगी। उसी समय इन्द्र ने उसके वज्र मारा जिसके लगते ही वृत्र का शरीर निर्वीर्य हो गया और उसका आत्मा शरीर को त्याग अपार तेजस्वी विष्णु के लोक में चला गया। उसने विष्णुभक्ति कर, अपने आतङ्क से जगत्त को व्याप्त कर डाला था। अतः वह विष्णु-भक्त होने के कारण मरणानन्तर विष्णु के निकट पहुँचा था। वृत्रासुर के वध-प्रसङ्ग में हे धर्मराज! मैंने तुम्हें ज्वरोत्पत्ति का वर्णन सुनाया। अब बतलाओ हे वत्स! तुम क्या सुनना चाहते हो? जो पुरुष सावधान होकर, और प्रसन्न मन हो इस ज्वर की कथा को सुनता है या इसका पाठ करता है, वह पुरुष रोगों से मुक्त हो जाता है और सब प्रकार से सुखी रहता है उसकी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं।

दोसौ चौरासी का अध्याय

शिव-सहस्र-नाम

जनमेजय ने पूछा—हे वैशम्पायन जी! वैवस्वत मन्वन्तर में प्रचेता के पुत्र दक्ष प्रजापति का अश्वमेध यज्ञ क्यों कर नष्ट हुआ था? देवी पार्वती को क्रुद्ध देख जब सर्व-स्वरूप महादेव रोषान्वित हुए, तब उनको प्रसन्न करने के लिये दक्ष ने अपना यज्ञ किस प्रकार सुसम्पन्न किया था।

वैशम्पायन जी बोले—जहाँ ऋषि, सिद्ध गन्धर्व और अप्सराएं रहती हैं और जहाँ विविध जाति के वृक्ष लगे हुए हैं उस हिमाचल के शिखर पर गङ्गाद्वार में दक्ष ने यज्ञ किया था। उस यज्ञ में पृथिवी के अन्तरिक्ष के और स्वर्ग के समस्त सिद्ध, महात्माओं तथा ऋषियों से घिरे हुए बड़े बड़े धार्मिक पुरुष दक्ष के निकट आये थे और दोनों हाथ जोड़ कर उनकी सेवा में उपस्थित थे। यज्ञ में भाग लेने वाले देवता, दानव, गन्धर्व, नारद, विश्वावसु और विश्वसेन आदि गन्धर्व, अप्सराएं आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, देवता, मरुद्गण आदि सब इन्द्र के साथ उस यज्ञ में आये थे। ऊष्मपा, सोमपा, धूमपा, आज्यपा आदि ऋषि गण तथा पितृगण भी ब्रह्मा जी के साथ आये थे। इनके अतिरिक्त दक्ष के बुलावे का मान रखने के लिये जरायुज, अण्डज, स्वेदज, और उद्भिज्ज प्राणी देवता तथा देवताओं की स्त्रियाँ भी दक्ष के यज्ञ में आयी थीं। वे सब विमानों पर सवार थे और प्रज्वलित अग्नि की तरह शोभायमान थे। उनको देख कर, दधीचि ऋषि को क्रोध चढ़ आया और वे कहने लगे; जब तक यहाँ रुद्र का पूजन न होगा, तब तक न तो यह यज्ञ है और न यह धर्मानुष्ठान है। देखो समय का कैसा उलटफेर है। वास्तव में इन सब के बन्धन और विनाश का समय निकट आ पहुँचा है। किन्तु यह बात इनको नहीं मालूम। अरे! यह निकट आये हुए अपने नाश को मोहित

हो नहीं जान रहे। इस यज्ञ में बड़ा भयङ्कर नाश होने को है। यह उन्हें विदित नहीं है। यह कह जब उन योगियों ने ध्यान लगा कर देखा, तब उनको उस शिखर पर महादेव, देवी उमा और उनके निकट खड़े हुए महात्मा नारद देख पड़े। वे योगी इसका निश्चय कर बहुत प्रसन्न हुए। तदनन्तर दधीचि ने विचारा कि इन सब देवताओं ने गुट्ट बाँध कर निश्चय कर लिया है कि शङ्कर यज्ञ में भाग न पावें। इसीसे इन लोगों ने महादेव जी को यज्ञ मे नहीं बुलाया। तदनन्तर दधीचि ऋषि वहाँ से चलते समय उन लोगों से बोले—अपूज्य को पूजने और पूज्य को न पूजने वाले को नरघात का पाप लगता है। मैं आज तक कभी झूठ नहीं बोला और आगे भी कभी झूठ नहीं बोलूँगा। मैं देवताओं और ऋषियों के सामने भी सत्य ही बोलूँगा। जीवों के पोषक जगत-रचयिता, यज्ञ में पहिले भोजन पाने वाले और समस्त प्राणियों के प्रभु शङ्कर यहाँ पधारे हैं। तुम सब को उनका दर्शन करना चाहिये।

इस पर प्रजापति दक्ष ने कहा—त्रिशूलधारी और जटाजूटधारी तो रुद्र हैं। वे एकादश स्थानों में रहते हैं। उनको मैं जानता हूँ। किन्तु मैं महादेव नामक किसी भी रुद्र को नहीं जानता।

दधीचि ने कहा—सब देवताओं के गुट्ट के कारण महादेव को इस यज्ञ का निमंत्रण नहीं भेजा गया है। किन्तु मैं शङ्कर से अधिक अन्य किसी को परम देवता नहीं मानता हूँ। इनका अपमान करने से निश्चय ही दक्ष का यह यज्ञ नष्ट हो जावेगा।

दक्ष ने कहा—मैं सुवर्ण के पात्र में विधिपूर्वक मंत्रपूत हवि रख, अप्रतिम विष्णु को अर्पण करता हूँ। वह प्रभु विभु और आहवनीय भगवान् इस हवि के योग्य हैं।

उधर उमा ने कहा—मैं ऐसा कौन सा दान करूँ, कौन सा नियम पालन करूँ, कौनसा तप करूँ, जिसके प्रभाव से अचिन्त्य स्वरूप मेरे स्वामी शङ्कर को यज्ञ का आधा वा तिहाई भाग मिले? सदैव

सन्तुष्ट रहने वाले भगवान् शङ्कर को यज्ञ का आधा व तिहाई भाग मिलना चाहिये।

सदैव सन्तोषी महादेव ने इस प्रकार कहते हुए और अपने अपमान के कारण क्षुब्ध हुई अपनी पत्नी पार्वती से प्रसन्न हो कहा—हे देवि! तू यह नहीं जानती कि, मुझसे तुझे किस प्रकार बातचीत करनी चाहिये। हे विशालनयनी! मैं जानता हूँ कि ध्यानरहित असज्जन पुरुष मेरे स्वभाव को नहीं जानते हैं। तेरे ही मोह में डाल देने के कारण इन्द्रादि सब देवता और ये तीनों लोक मोहवश हो गये हैं। सब प्रस्तोता यज्ञ में मेरा स्तव करते हैं। सामगायक यज्ञ में रथन्तर साम से मेरा ही माहात्म्य गाते हैं। ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण यज्ञ में मेरा ही भजन करते हैं और अध्वर्यु यज्ञ में मेरा भाग मुझे देते हैं।

देवी ने कहा—हे स्वामी! प्राकृत पुरुष भी स्त्रियों में अपनी बड़ाई करता और गर्व दिखलाता है। इसमें सन्देह नहीं।

शङ्कर बोले—हे देवेश्वरि! मैं अपनी कुछ भी प्रशंसा नहीं करता हूँ। हे सुमध्यमे! हे वरारोह! हे वरवर्णिनी! तुझे तो दुःख हुआ है—अतः मैं एक पुरुष उत्पन्न करता हूँ; देख।

अपनी प्राणप्रिया उमा से यह कहा महादेव ने अपने मुख से एक ऐसा प्राणी उत्पन्न किया, जिसे देखते ही देखने वालों के रोंगटे खड़े हो गये महादेव ने उसको आज्ञा दी कि तू जा कर दक्ष का यज्ञ नष्ट भ्रष्ट कर दे। यह सुन महादेव के मुख से निसृत सिंह रूपी भयङ्कर प्राणी ने, उमा का क्रोध शान्त करने के लिये, अनायास दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर डाला। महादेव जी के मुख से निकले हुए उस पुरुष के साथ वह भयङ्कर मूर्तिमती महाकाली, उस कर्म को प्रत्यक्ष देखने के लिये गयी थीं, जो महेश्वरपत्नी उमा के क्रोध से उत्पन्न हुई थी। महाकाली के साथ उसके सेवकगण भी थे। उस पुरुष ने जाने के पूर्व महादेव जी को प्रणाम किया था और उनसे जाने की अनुमति माँगी थी। वह पुरुष शूरत्व, बल तथा रूप

में महादेव जी के अनुरूप था। वह महादेव जी का मूर्तिमान क्रोध था। शङ्कर की प्रतिकृति रूप उस पुरुष का रूप और बल अनन्त थे। इसीसे उसका नाम वीरभद्र रखा गया था। उसने दक्षयज्ञ विध्वंस कर उमा का क्रोध शमन किया था। यज्ञ विध्वंस करने के लिये जाने के पूर्व वीरभद्र ने अपने शरीर के रोमकूपों से रौम्य नामक गणेश्वरों को उत्पन्न किया था। उसके उत्पन्न किये हुए ये सब गण, रुद्र के समान पराक्रमी और वीर्यवान थे। उनकी संख्या लाखों थी। वे महाभयङ्कर रुद्र के गण यज्ञ विध्वंस करने को उस ओर प्रस्थानित हुए जहाँ दक्ष यज्ञ कर रहे थे। चलते समय उन्होंने सिंहगर्जन किया, जिससे आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। उनके महा-भयङ्कर सिंहनाद को सुन कर, स्वर्गस्थित देवगण तक भयभीत हो गये थे, पर्वत टूट पड़े थे, पृथिवी काँप उठी थी, पवन वेग से बहने लगा था, समुद्र खलभला उठा था, अग्नि बुझ गया था, सूर्य निस्तेज पड़ गये थे; गृह, तारे, नक्षत्र सहित चन्द्रमा की आभा फीकी पड़ गयी थी और चारों ओर अन्धकार छा गया था। दक्ष द्वारा तिरस्कृत, रुद्र के अनेक भयङ्कर गणों ने यज्ञशाला में आग लगा दी थी। यज्ञस्तम्भ उखाड़ डाले थे। मण्डपस्थ यज्ञकार्य करने वाले बहुत से लोगों को मार डाला था और यज्ञीय सामग्री नष्टभ्रष्ट कर डाली थी। मन और वायु वेग के समान वेगशाली उन गणों ने यज्ञशाला में रखे यज्ञीय सुवर्णपात्रों को तथा वहाँ की सजावट को नष्ट कर डाला था और तोड़ फोड़ कर उन्हें ऊपर की ओर उछाल दिया था। ऊपर जा वे ताराओं जैसे जान पड़ते थे। दूध के पात्र उड़ेल दिये थे। इससे चारों ओर दुग्ध की नदियाँ बह निकली थीं। उनमें घी और पायस का कीचड़ हो रहा था। दही के तोड़ का जल बह रहा था। खाँड़ अथवा शकर की उसमें बालू थी और छः रसों से परिपूर्ण वह नदी बह चली थी। गुड़ की भेलियों से उसके उभय तट सुशोभित थे। विविध माँसो, विविध प्रकार के भक्ष्य, भोज्य चोष्य, लेह्य, यज्ञ-मण्ड-पस्थित पदार्थों को रुद्र के बहुत से गण खा रहे थे।

बहुत से उन्हें उठा उठा कर फेंक रहे थे। रुद्र के गणों ने देवताओं के सैनिकों को भयत्रस्त कर दिया था। विविध रूपधारी रुद्र के गण यज्ञ मण्डप में क्रीड़ा कर रहे थे। वे देवताओं की देवियों को उठा उठा कर फेंक रहे थे। यद्यपि देवगण दक्ष के यज्ञ की रक्षा कर रहे थे तथापि रुद्र-क्रोध-सम्भूत एवं भयङ्करकर्मा वीरभद्र ने यज्ञ को विध्वंस कर डाला। तदनन्तर उन लोगों ने प्राणियों के हृदय दहलाने वाली सिंहगर्जना की। वीरभद्र ने यज्ञ का मस्तक काट डाला और फिर वह सिंहगर्जना कर परम प्रसन्न हुआ। यह देख, ब्रह्मादि देवताओं और स्वयं दक्ष प्रजापति ने उससे हाथ जोड़ कर पूछा—बतलावें आप हैं कौन? इसके उत्तर में वीरभद्र ने कहा—न तो मैं रुद्र हूँ न उनकी पत्नी उमा ही हूँ। मैं यहाँ इस यज्ञ का उपभोग करने को भी नहीं आया हूँ। किन्तु कुपित हुई उमा देवी को देख, क्रुद्ध हुए महादेव जी के क्रोध से मेरी उत्पत्ति हुई है। यहाँ मैं विप्रेन्द्रों को देखने के लिये नहीं आया, कुतूहलवश यज्ञ देखने भी मैं नहीं आया। किन्तु मैं तो आपका यज्ञ नष्ट करने के लिये ही आया हूँ। मेरा नाम वीरभद्र है। इस भद्रकाली का जो मेरे साथ है—जन्म उमा के क्रोध से हुआ है। हम दोनों देवदेव शङ्कर के भेजे हुए यहाँ आये हैं और यज्ञ विध्वंस करना ही हमारे यहाँ भेजे जाने का प्रधान उद्देश्य है। अतः हे विप्रेन्द्र! तुम्हें उचित है कि, तुम महादेव का शरण गहो। क्योंकि दूसरे के वरदान की अपेक्षा, महादेव जी का क्रोध भी श्रेष्ठ है।

वीरभद्र के इन वचनों को सुन धर्मात्माश्रेष्ठ दक्ष, महेश्वर को प्रणाम कर, स्तुति द्वारा उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगे। वे बोले—हे ईश! आप सनातन, ध्रुव, अविनश्वर, महादेव और सारे जगत के स्वामी हैं। अतः मैं आपके शरण में आया हूँ। जब इस प्रकार दक्ष ने स्तुति की, तब शत्रुञ्जय, अनन्त दृष्टियों वाले, देवदेव महादेव ने अपना मुख बंद कर लिया और प्राण तथा अपान वायुओं को रोक कर, चारों ओर देखते हुए सहसा अग्निकुण्ड से वे प्रकट हुए। उस समय उनका तेज, एक

सहस्र सूर्यों के समान था। वे संवर्तक की तरह सुशोभित हो रहे थे। वे मन्द मन्द हँस कर, कहने लगे, हे विप्र! बोल, मैं तेरा क्या शुभ कार्य करूँ?

उस समय देवगुरु बृहस्पति ने मखाध्याय से उनका स्तव किया। उस समय भयत्रस्त दक्ष ने आँखों में आँसू भर तथा हाथ जोड़ कहा—हे महादेव! यदि आपका मेरे ऊपर अनुग्रह है तो मैं आपका प्रिय होऊँ। यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि, आपके गणों ने जो यज्ञीय सामग्री खा डाली है, जो रस पी डाले हैं, स्वाहा कर डाले हैं अथवा नष्ट कर डाले हैं, तथा जो वस्तुएँ तोड़ फोड़ डाली हैं, अथवा जो पदार्थ अपवित्र कर डाले हैं, वे सब व्यर्थ न हों अर्थात् यज्ञदेव सन्तुष्ट हो जायँ।

यह सुन, भगदेवता के नेत्रों को फोड़ने वाले, धर्माध्यक्ष, भयङ्कर, त्रिनेत्र भगवान् हर बोले—एवमस्तु! ऐसा ही होगा। यह सुन और पृथिवी पर दोनों घुटनों को टेक दक्ष ने महादेव जी को प्रणाम किया। तदनन्तर *एक हज़ार आठ नामों से वृषभध्वज शङ्कर की स्तुति भी की।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! मैं शङ्कर के उन नामों को सुनना चाहता हूँ, जिन नामों से दक्ष ने शङ्कर की स्तुति की थी।। आप मुझे सुनावें।

भीष्म जी बोले—हे राजन्! मैं तुम्हें अद्भुतकर्मा एवं गूढ़ व्रतधारी देवदेव उमापति महादेव के गुप्त एवं प्रसिद्ध नाम सुनाता हूँ; सुनो।

दक्ष ने कहा—हे जगतोत्पत्ति रूपी क्रीड़ा करने वाले! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप देवारिबलसूदन; इन्द्रियों की शमादि वृत्तियों के शत्रु और काम क्रोधादि के सैनिकों का नाश करने वाले हैं। आप इन्द्रियों

---

* अनुशासन पर्व के १७ वें अध्याय में भी शङ्कर-सहस्र-नामस्तव है। इसमें वर्णित नामों से उस सहस्रनामस्तव के नामों में बहुतसा फेरफार है।

की अधिष्ठात्री देवी बुद्धि के बल को स्थिर करने वाले हैं। आपका देव दानव पूजन करते हैं। ऐसे आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आप सहस्राक्ष, विरूपाक्ष, त्र्यक्ष, यक्षाधिपप्रिय, आप सर्वतः पाणिपादान्त और सर्वतोऽक्षि शिरोमुख हैं। आपकी श्रवणेन्द्रिय इस सारे जगत में व्याप्त है। आप सब जगत को व्याप्त करे रहते हैं। आप शङ्कुकर्ण, महाकर्ण और अर्णवालय हैं। आप गजेन्द्रकर्ण, गोकर्ण एवं पाणिकर्ण हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे शतोदर! हे शतावर्त! और हे शतजिह्व! आपको नमस्कार है। त्रिकाल गायत्री का जप करने वाले मुनिगण आपकी महिमा बखानते हैं। सूर्योपासक आपको सूर्यमण्डलस्थ सूर्य जान आपकी उपासना करते हैं और मुनिगण आपको ब्रह्म और इन्द्र रूप मान कर, आपकी उपासना करते हैं। ज्ञानीजन आपको समस्त उपाधियों से रहित एवं आकाशवत् समस्त सङ्गविवर्जित जानते हैं। आप सर्वव्यापक हैं। आप ब्रह्मा हैं, आप शतक्रतु हैं, आप ऊर्ध्व हैं और आप आकाश हैं। हे देव! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे समुद्र एवं आकाश जैसे महामूर्ते! जैसे गोष्ठ में गौएँ रहती हैं, वैसे ही भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र और यजमान स्वरूप अष्ट मूर्ति आपमें समस्त देवगण रहते हैं। मैं आपके शरीर में सोम, अग्नि, जलेश्वर वरुण, आदित्य, विष्णु, ब्रह्मा और बृहस्पति के दर्शन पा रहा हूँ।

हे भगवन्! आप सर्वैश्वैर्यसम्पन्न, सत, असत पदार्थों के कारण रूप तथा उत्पत्ति एवं प्रलय करने वाले हैं। हे अन्धकघातिने! मैं भव, शर्व, रुद्र, वरद, पशुपति को सदा प्रणाम करता हूँ। मैं त्रिजट, त्रिशीर्ष, त्रिशूलधारी, त्र्यम्बक, त्रिनेत्र, त्रिपुरघ्न, को प्रणाम करता हूँ। मैं चण्ड, कुण्ड, अंडायाण्डर, दण्डी, समकर्ण, दण्डिमुण्डि को प्रणाम करता हूँ। मैं ऊर्ध्व, दंष्ट्रकेश, शुक्लवर्ण, विलोहित, धूम्र और नीलग्रीव को प्रणाम करता हूँ। मैं अप्रति रूप, विरूप, शिव, सूर्य, सूर्यमाली, सूर्यध्वज, पताकी को प्रणाम करता हूँ। मैं प्रमथनाथ, वृषस्कन्ध, धन्वी, शत्रुदमनकारी, दण्ड,

पर्णचीरधारी को प्रणाम करता हूँ। मैं हिरण्यगर्भ, हिरण्यकवच, हिरण्य कृतचूर्ण और हिरण्यपति को नमस्कार करता हूँ। स्तुत, स्तुति, स्तुत्य, स्तूयमान आपको प्रणाम करता हूँ। मैं सर्वस्व, सर्वभक्षी, सर्वभूतान्तरात्मा को प्रणाम करता हूँ। आप होता, मंत्र, शुक्लध्वजपताकी हैं। आप नाम-नाम्य, कटकट हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मैं कृशनास, कृशाङ्ग, कृश, संरुष्ट, विरुष्ट तथा किलकिल को प्रणाम करता हूँ। मैं शयमान्, शायतायोस्थित, स्थित, धावमान, मुण्ड, जटिल, नर्तनशील, मुखवाहित्र-वाहिन, (मुख से बाजा बजाने वाले) को प्रणाम करता हूँ। नदी में उत्पन्न होने वाले कमलों की पूजा को स्वीकार करने वाले, गीत गाने वाले तथा बाजा बजाने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ। मैं ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, बलप्रथन, कालनाथ, कल्य, क्षय, अपक्षय को प्रणाम करता हूँ। भयङ्कर दुन्दुभी की तरह हास करने वाले, उग्रमूर्ति दशभुज को बारंबार प्रणाम करता हूँ। मैं कपालहस्त, चिताभस्मप्रिय, विभीषण, भीष्म, भीम व्रतधारी को प्रणाम करता हूँ। मैं विकृतवक्त्र, खड्गजिह्व, दंष्ट्री, कच्चेमाँस को पसंद करने वाले, तुम्बी-वीणा-प्रिय को प्रणाम करता हूँ। वृष, वृष्य, गोव, वृष (धर्म रूप) कण्टकर, दण्ड और पचपच (सदा प्राणियों का संहार करने वाले) को मैं प्रणाम करता हूँ। मैं सर्ववरिष्ठ, वर, वरद, वरमाली, गन्धवस्त्र, वरातिवरद को प्रणाम करता हूँ। रक्त-विरक्त, रुद्राक्षमालाधारी संभिन्न, विभिन्न, घर और वृक्ष रूप में छाया रूप से रहने वाले और सूर्यादि में ताप रूप से रहने वाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आप अघोर, घोर, रूपधारी, घोर घोरतर रूपधारी, शिवशान्त, शान्ततम को मैं प्रणाम करता हूँ। मैं एकपाद, बहुनेत्र एकशीर्ष को प्रणाम करता हूँ। मैं रुद्र, क्षुद्रलुब्ध, संविभागप्रिय को प्रणाम करता हूँ। आप विश्वकर्मा का कर्म करने वाले, सिताङ्ग, सदा शान्त मूर्तिधारी को प्रणाम करता हूँ। चण्डिकघण्ट, घण्ट, घण्ट घण्टिन् सहस्राध्मात (एक साथ सहस्र पुरुषों द्वारा बजाये हुए घंटों के समान

शब्द करने वाले) घण्टा-माला-प्रिय, प्राणघण्ट और गन्ध को मैं प्रणाम करता हूँ। मैं वल्कलधारी, हुँकार करने वाले, हुँकारप्रिय, शमप्रिय, सदा पहाड़ पर और वृक्षों के नीचे रहने वाले हैं। आप शृगाल की तरह वपा के प्रेमी, तारक और तर हैं। मैं यज्ञ, यजिन, हुत और प्रहुत, यज्ञवाह, दान्त, तप्य, तपन, तट, तट्य, तटपति को प्रणाम करता हूँ। अन्नद, अन्नपति, अन्नभुज, सहस्रशीर्ष, सहस्रचरण, सहस्र-उद्यत-शूल, सहस्रनयन को मैं प्रणाम करता हूँ। मैं बालार्कवर्ण, बालरूपधर, अनुचर-भक्त-रक्षक, बालक्रीडनक, वृद्ध, लुब्ध, क्षुब्ध, क्षोभण को प्रणाम करता हूँ। मैं गङ्गातरङ्गों से अङ्कित केशों वाले और मुञ्जकेश को प्रणाम करता हूँ। मैं षट्-कर्म-तुष्ट, त्रिकर्मनिरत, वर्णों तथा आश्रमों के लिये शास्त्रोक्त भिन्न भिन्न कर्मों का निर्देश करने वाले, घुष्य और कलकल घोष करने वाले को प्रणाम करता हूँ। मैं श्वेत-पिङ्गल नेत्रों वाले, काली लाल आँखों वाले, प्राणवायु को अपने वश में रखने वाले, सब प्रजा को नियम में रखने वाले, दण्डमूर्ति तथा स्फोटन, कृश को प्रणाम करता हूँ। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष सम्बन्धिनी प्रशस्य कथाएँ कहने वाले, निरीश्वर सांख्यवादी कपिल और सेश्वर सांख्यवादी, सांख्य-मुख्य पतञ्जलि, आप ही हैं। आप सांख्ययोग के प्रवर्तक हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। रथ में बैठ कर घूमने वाले रथी को, रथ रहित घूमने वाले विरथी को, जल, अग्नि, वायु, और आकाश इन चार मार्गों पर जिसका रथ चल सकता है—इस चतुष्पथ रथी को, काले मृगचर्म का दुपट्टा डालने वाले और सर्प का यज्ञोपवीत धारण करने वाले, ईशान, वज्रसंघात और हरिकेश को मैं प्रणाम करता हूँ। मैं त्र्यम्बक, अम्बिकानाथ, व्यक्ताव्यक्त को प्रणाम करता हूँ। मैं काम, कामद, कामघ्न, तृप्तातृप्त-विचारिन्, सर्व, सर्वद, सर्वघ्न, और सन्ध्याराग (सन्ध्याकालीन रक्तवर्ण) को प्रणाम करता हूँ। महामेघों के समान श्याम वर्ण वाले और महाकाल को मैं प्रणाम करता हूँ। हे स्थूल शरीर

वाले! हे जीर्णाङ्ग! हे जटिल! हे वल्कलाजिनधारी! हे दीप्तसूर्य और अग्निज्वाला की ज्योति के समान जटा वाले, वल्काजिनवासी! हे सहस्र सूर्य प्रतिम! हे तपोनिरत! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे जगत् को मोहित करने वाले, सैकड़ों भँवरों वाली गङ्गा के जल से आपकी जटाएँ सदा तर रहती हैं। आप चन्द्रमा, युगों और मेघों को चलाने वाले और उत्पन्न करने वाले हैं। अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे देवदेव! आप अन्न स्वरूप हैं, आप अन्नभोक्ता है, आप अन्नदाता है, आप अन्न के पालक हैं, आप अन्न सृष्टा हैं, आप अन्न को पकाते हैं। आप पवन रूप हैं। आप अग्नि हैं और आप चारों प्रकार के जीवों का समुदाय रूप हैं। आप ही देवताओं के भी देवता हैं। आप चराचरात्मक जगत् के रचयिता और संहारकर्त्ता हैं। हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ! ब्रह्मवेत्ता आपको ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। ब्रह्मवादी आपको मन का परम कारण बतलाते हैं। वे आकाश, वायु और ज्योतिष के निधिरूप आपको बतलाते हैं। आपको ऋक्, साम, ओंकार रूप बतलाते हैं। सामवेदी, ब्रह्मवादी, नित्य आपका सामवेद से स्तुतिगान करते हुए इस प्रकार गाते हैं—हायि, हायि, हुआ, हायि, हावु, हायि। आप यजुर्वेद, ऋग्वेद तथा आहुति रूप हैं। वेदों और उपनिषदों द्वारा आपकी स्तुति की जाती है। आप ही, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूप हैं। आप ही वर्णसङ्कर जाति हैं, आप ही मेघमण्डल रूप, आप ही विद्युतरूप हैं। आप ही जलयुक्त और जलरहित मेघों की गर्जना रूप हैं। आप ही संवत्सर, ऋतु, मास, यज्ञ, युग निमेष, काष्ट, नक्षत्र, ग्रह और कलारूप है। आप वृक्षश्रेष्ठ वट वृक्ष और अश्वत्थ वृक्ष हैं। आप ही पर्वतों में शिखर, मृगादि में व्याघ्र, पक्षियों में गरुड़ और सर्पों में शेषनाग हैं। आप समुद्रों में क्षीरसागर, आयुधों में धनुष, शस्त्रों में वज्र और व्रतो में सत्य हैं। आप ही द्वेष, इच्छा, राग मोह, क्षमा, अक्षमा, व्यवसाय, धृति, लाभ, काम, क्रोध तथा हार, जीत हैं। आप गदाधारी और बाणधारी हैं। आप ही खट्वाङ्ग और झर्झर बेंत-

धारी हैं। आप छेदनकर्त्ता, भेदनकर्त्ता, प्रहारकर्त्ता, नेता, सब के हित की बात विचारने वाले और सब के पिता हैं। आप दशविध कर्म अर्थ और काम रूप हैं। गङ्गा, सागर, नदियाँ, नहर और तालाब भी आप ही हैं। आप ही लता, वल्ली, तृण और बीजरूप हैं। आप ही पशु, पक्षी और मृग रूप हैं। द्रव्य और कर्मों के आरम्भ तथा पुष्प और फलों के देने वाले आप ही हैं। ऋतु रूप भी आप ही हैं। आप देवताओं के आदि अन्त हैं। आप गायत्री रूप ओंकार रूप हैं। आप हरे, लाल, नीले, काले और अरुण समान रंग के तथा कपिल, कद्रु और कपोत एवं श्याममेघ के रंग वाले अर्थात् दस रंग वाले हैं। आप अवर्ण, सुवर्ण, वर्णकार, मेघवत्, सुवर्णनामा और सुवर्णप्रिय हैं। आप ही इन्द्र, यम, वरुण, और कुबेर हैं। आप ही उपप्लव, चित्रमान, राहु मानरूप हैं। आप होम का अग्नि, यजमान, होम्य, हुत और प्रभु हैं। त्रिसौमपर्ण नामक मंत्रों से वर्णित ब्रह्मरूप और यजुर्वेद की शतरुद्री में वर्णित शतरुद्र आप ही हैं। आप पवित्र पदार्थों में अति पवित्र और माङ्गलिक पदार्थों में अति माङ्गलिक और निर्जीव में आप सजीव हैं। इसीसे आप गिरिक कहलाते हैं। आप देह को सचेत करने वाले हैं। इसीसे आप हिरण्डुक कहलाते हैं। आप सोपाधि शरीर में रहने से नाशवान हैं। अतः आप वृक्ष रूप कहलाते है। आप शुद्ध रूप से सदा जीवित रहते हैं। अतः जीव कहलाते हैं। आप कभी नष्ट नहीं होते, आप पूर्ण हैं। तिस पर भी आप शरीर-संयोग से नाश और मृत्यु के कारण होते हैं। आप प्राण, सत्त्व, रज, तम और प्रमाद शून्य हैं। आप प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रूप हैं। आप ही उन्मेष, निमेष, छींक और जंमुहाई हैं। आपके नेत्र लाल रंग के हैं। आपकी अन्तर्दृष्टि कभी नहीं होती। आप महावक्ता, महोदर, सूचीरोमा हैं, आपकी मूँछें और दाढ़ी सफेद हैं। आपके केश सतर रहते हैं। आप चञ्चल हैं। आप संगीत विद्या का तत्त्व जानने वाले और सङ्गीत-प्रिय हैं। आप जलचारी मत्स्य हैं, जल में फँसे हुए मत्स्य

भी आप ही हैं। आप दुर्धर हैं। लीला रूपी बन्धन में आप आबद्ध हैं। आप समस्त कलहों और लड़ाई झगड़ों के रूप हैं; आप ही अकाल, दुष्काल और कालमूर्ति हैं। आप ही मृत्युरूप, छेदनकर्त्ता, छुररूप, सब के मित्र, शत्रुनाशक, कालरूप मेघ हैं। आपकी डाढ़े बड़ी बड़ी हैं। संवर्तक और बलाहक नामक प्रलयकालीन मेघ भी आप ही हैं। आप देदीप्यमान होने से घण्ट कहलाते हैं। माया से आवृत हो प्रच्छन्न प्रकाश वाले होने के कारण आप अघण्ट कहलाते हैं। मनुष्यों के कर्मफल को बनाने वाले होने के कारण आप घटी और हाथ में घंटा धारण करने के कारण घंटी कहलाते हैं। इस स्थावर जङ्गमात्मक जगत् रूपी खिलौने से आप क्रीडा करते हैं। इसीसे आप चरुचेली कहलाते हैं। आप प्रणव रूप ब्रह्म हैं। अग्निपत्नी स्वाहा रूप आप ही हैं। आप दण्डी हैं, आप मुण्ड (संन्यासी) हैं और त्रिदण्डधारी त्रिदण्डी हैं। आप चार युग, चार वेद, चार होता युक्त यज्ञकर्म प्रवर्त्तक, चार आश्रमों के नेता और चारों वर्णों के स्थापन करने वाले हैं। आप अक्षप्रिय (ज्वारी) धूर्त, उणाध्यक्ष और गणाधिप है। आप रक्तवस्त्र और रक्त पुष्प को धारण करने वाले हैं। आप पर्वतों में शयन करने वाले और गिरिक-प्रिय हैं। आप औघड़, शिल्पी तथा शिल्पियों में श्रेष्ठ हैं और सब शिल्पियों में श्रेष्ठ और सब प्रकार के शिल्पों के प्रवर्त्तक हैं। आप भग देवता के नेत्रों के लिये अङ्कुश, पूषा तथा चण्ड देवताओं के दाँत तोड़ने वाले हैं। आप स्वाहा, स्वधा, और वषट्कार और नमस्कार रूप हैं। आप गूढ़ व्रतधारी, गुप्त तप करने वाले, प्रणव रूप और अनेक नक्षत्रयुक्त आकाश रूप हैं। ऐसे आपको प्रणाम है। आप धाता, आदि स्रष्टा विष्णु, विधाता अर्थात् भौतिक स्रष्टा ब्रह्मा हैं। आप सन्धाता, विधाता (अदृष्ट कर्म के रचयिता) हैं और अधर हैं। आप ब्रह्म, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, आर्जव, भूतात्मा, भूतकृत, भूत, भूत-भव्यभवद् के उद्भावक हैं। आप भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, ध्रुव, दान्त और महेश्वर हैं। आप दीक्षित,

अर्द्धहित, कलावान और उद्धृति हैं। आप उद्धत का नाश करने वाले, चन्द्रमा की आवृत्ति करने वाले अर्थात् मास, कल्प, संवर्त, संप्रवर्त्तक हैं।

आप काम, बिन्दुरस्थ, स्थूल, कनेर-पुष्प-माला-प्रिय, नन्दीमुख, भीममुख, सुमुख, दुर्मुख, अमुख, चतुर्मुख, बहुमुख, रण में अग्नि-मुख, हिरण्यगर्भ, शकुनि, महोरगपति और विराट् हैं। आप अधर्महा, महापार्श्व, दण्डधारी, गणाधिप, गोनर्द, गोप्रतार, गोवृषेश्वर-वाहन हैं। आप त्रैलोक्य गोप्ता, गोविन्द, गोमार्ग, अमार्ग, श्रेष्ठ, स्थिर, स्थाणु, निष्कम्प, कम्प, दुर्वारण, दुर्विषह, दुःसह, रतिन्दम, दुर्धर्ष, दुष्प्रकम्प, दुर्विष, दुर्जय, जय शश, शशाङ्क, शमन और शीत-उष्ण-क्षुधा-ज्वर-रोग-प्रद हैं। आप आधि, व्याध, व्याधिहा, व्याधि हैं। मेरे यज्ञ रूपी मृग के आप व्याध हैं। व्याधि के नाशक, शिखण्डी, व्याधियों के लाने वाले और भगाने वाले, पुण्डरीकाक्ष, कमलवनवासी भी आप ही हैं। आप दण्डधारी, त्र्यम्बक, उग्रदण्ड, अण्डनाशन, विषाग्निपा, सुरश्रेष्ठ, सोमपा, मरुत्पति, अमृतपा, जगन्नाथ, देवदेव, गणेश्वर; विषाग्निपा, मृत्युपा, क्षीरपा, सोमपा, (दूध और सोम का पान करने वाले) स्वर्गसुख से भ्रष्ट हुए जीवों के मुख्य रक्षक, तृषित के आप रक्षक हैं। आप ही हिरण्यरेता, पुरुष, स्त्री, पुंस, नपुंसक हैं। आप बाल, युवा, स्थविर, जीर्ण, दंष्ट्री, नागेन्द्र, शक्र, विश्वकृत, विश्वकर्ता हैं। आप विश्वरचयिता प्रजापतियों के आराध्य, पालन पोषण कर विश्व को धारण करने वाले, वरेण्य, विश्ववाह, विश्वरूप, तेजस्वी और विश्वतोमुख हैं। चन्द्रमा और सूर्य आपके नेत्र हैं, पितामह ब्रह्मा आपके हृदय हैं। आप महोदधि हैं। सरस्वती आपकी वाणी है। अग्नि और वायु आपके बल हैं। दिवस और रात्रि आपके उन्मेष और निमेष कर्म हैं। आपकी आज्ञा के बिना ब्रह्मादि कोई पलक भी नहीं चला सकता।

हे शिव! ब्रह्मा, गोविन्द तथा प्राचीन काल के ऋषि भी आपके माहात्म्य को यथार्थ रीति नहीं जान सकते। आपकी सूक्ष्म मूर्तियों के

दर्शन भी मुझे नहीं हो सकते। हे देव! जैसे पिता अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है; वैसे ही आप मेरी रक्षा कीजिये। हे निर्दोष शङ्कर! आप मेरी रक्षा करें, मैं आप द्वारा रक्षा किये जाने योग्य हूँ। आप भक्त-वत्सल हैं। मैं आपका भक्त हूँ और आपको नमस्कार करता हूँ। जो सहस्रों पुरुषों का अज्ञान से पराभव कर के ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातृ भाव से रहित हो कर, समुद्र पार एकान्त में रहता है और कामवासना का क्षय होने पर, भक्तों को दर्शन दिया करता है, वह ज्ञानमूर्तिमान् आप सदा मेरी रक्षा करें।

मैं उन ज्योतिःस्वरूप योगात्मा को नमस्कार करता हूँ; जो निद्रा को जीतने वाले हैं, प्राणायाम से स्वाँस को वश में करने वाले हैं; जो सत्त्वस्थ हैं और जो इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले हैं और जो मन को परमात्मा में लगा कर परमात्मा का दर्शन करते हैं। मैं उन जलात्मा को नमस्कार करता हूँ, जिसके केशों में मेघ निवास करते हैं, जिनके अङ्ग की सन्धियों में नदियाँ का वास है और जिनकी कुक्षि में चारों समुद्र रहते हैं मैं उन जलशायी का शरण गहता हूँ, जो प्रलय-काल उपस्थित होने पर सब प्राणियों का संहार कर जल में शयन करते हैं। वे महायोगी मेरी रक्षा करें। जो रात के समय राहु के मुख में घुस सोम पीते हैं और दिन में राहु का रूप धारण कर सूर्य का ग्रास करते हैं; मैं उनका शरणागत हूँ। जो देवता गर्भ से निकले हुए बालकों के समान हैं और जो आपके बाद ब्रह्मा की सृष्टि रचे जाने पर हुए हैं, वे स्वाहा, स्वधा से यथाविधि यज्ञभाग को ग्रहण कर प्रसन्न हों। मैं उन्हींको प्रणाम करता हूँ। वे मेरी सदा रक्षा करते हुए मेरी वृद्धि करें। जो अंगुष्ठ समान पुरुष (जीव) सब प्राणियों के शरीरों में निवास करता है, उसको मेरा नमस्कार है। जो शरीर रहने पर भी अपने आप नहीं रोते और दूसरों को रुलाते हैं, जो स्वयं हर्षित नहीं होते, किन्तु दूसरे को हर्षित करते हैं मैं उन्हें वारम्वार नमस्कार नमस्कार नमस्कार करता हूँ। जो नदियों, समुद्रों

पर्वतों, गुफाओं, वृक्षमूलों, गोष्टों, वन के गहन प्रदेशों, चौराहों, राजमार्गों, चबूतरों, नदीतटों, गजशालाओं, घुड़शालों, रथशालों, जीर्ण उद्यानों पञ्चमहाभूतों, दिशाओं, विदिशाओं, चन्द्र, सूर्य की रश्मियों में निवास करते हैं; जो रसातलवासी हैं और जो परमपद प्राप्त करने के लिये वैराग्यवान् हो गये हैं, मैं उन असंख्य गुणों वाले रुद्र को सदा नमस्कार करता हूँ, जिनकी न तो संख्या है और न परिमाण है और न रूप ही है। हे हर ! आप समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाले हैं, आप समस्त प्राणियों के पति हैं, आप सब पापियों के पापों को नष्ट करने वाले हैं। आप सब प्राणियों के अन्तरात्मा हैं। अतः आप सब में रहने वाले हैं। इसोसे मैंने साधारण लोगों की तरह आपको आमंत्रित नहीं किया था। विविध दक्षिणा वाले विविध यज्ञों में आप ही तो पूजे जाते हैं। क्योंकि सब के कर्त्ता तो आप ही हैं। इसीसे आपको निमंत्रण नहीं भेजा गया था। हे भव ! मैं भक्ति पूर्वक आपके शरण होता हूँ। अतः आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों। हे देव ! मेरा हृदय, बुद्धि और मन आपमें लगा हुआ है।

इस प्रकार महादेव का स्तव कर, दक्ष प्रजापति चुप हो गये। भगवान् शङ्कर भली भाँति प्रसन्न हो दक्ष से बोले—हे सुव्रत दक्ष ! मैं तेरी स्तुति से तुझ पर प्रसन्न हुआ हूँ ! मैं विशेष तो क्या कहूँ। मैं तेरे ही पास रहूँगा। हे प्रजापते ! मेरे प्रसन्न होने पर तुझे सहस्र अश्वमेध और सहस्र वाजपेय यज्ञों के करने का फल मिलेगा। इसके पीछे महादेव जी ने युक्तियुक्त वाक्य रचना कर, दक्ष को सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—हे दक्ष ! अपने इस यज्ञ को नष्ट भ्रष्ट हुआ देख तू अपने मन में बुरा मत मानना। इसके पूर्व वाले कल्प में भी मैंने तेरे यज्ञ को नष्ट किया था और उसी तरह इस कल्प में भी मैंने किया है। हे सुव्रत दक्ष ! मै तुझे और वर देता हूँ, तू उसे ले। तू हर्षित हो तथा मन को स्थिर कर, मैं जो कहता हूँ, उसे सुन। हे दक्ष ! मैंने पहले सांख्या-

शास्त्र, योगशास्त्र और तर्कशास्त्र की सहायता से खोज, षडङ्ग वेदानुकूल मैंने ऐसा महान् फलप्रद तप किया था, जिसे न तो देवता और न दानव ही कर सकते हैं। वह तप अपूर्व है, सर्वतोभद्र है, सर्वतोमुख है, अव्यय है, बहुत वर्षों में पूरा होता है। पाँचों यमों और पाँचों नियमों का पालन करने वालों के लिये ही वह साध्य है। वह अति गोपनीय है और जो अप्राज्ञ उसकी निन्दा करते हैं, वे वर्णाश्रम धर्म से परे हैं; किन्तु कतिपय धर्मग्रन्थ उसे वर्णाश्रम धर्म के समान बतलाते हैं। सिद्धान्तवेत्ता पण्डितों ने इस व्रत का निर्णय किया है और परमहंस भी उसका पालन करते हैं। हे दक्ष! इस कल्याणप्रद पाशुपत व्रत को प्रथम मैंने उत्पन्न किया था। इस व्रत के अनुसार आचरण करने से बड़ा भारी शुभप्रद फल मिलता है। हे महाभाग! इस व्रत को तू कर और अपने मन से यज्ञनाश सम्बन्धी मानसिक दुःख को दूर कर, इस प्रकार दक्ष से कह कर, महापराक्रमी महादेव जी अपनी पत्नी पार्वती सहित, गणों को साथ लिये हुए अन्तर्धान हो गये।

जो मनुष्य दक्षकृत इस स्तोत्र का पाठ करेगा अथवा इसे सुनेगा उस पुरुष का यत्किञ्चित भी अशुभ न होगा। वह बड़ा आयु पावेगा। जैसे भगवान् शिव समस्त देवताओं में श्रेष्ठ हैं वैसे ही यह स्तोत्र भी सब स्तोत्रों में श्रेष्ठ एवं वेद के समान आदरणीय है। जिस किसी पुरुष को यश, सुख, ऐश्वर्य, धन और विद्या प्राप्ति की कामना हो, उसे भक्तिपूर्वक एवं प्रयत्न के साथ इस स्तव को सुनना चाहिये। रोगी, दुखी, दीन, चोरों से भीत, राजकीय किसी सङ्कट में पड़ा हुआ पुरुष यदि इस स्तोत्र का पाठ करे, तो वह महाभय से छूट जाता है। इस स्तोत्र का पाठ करने से मनुष्य इस शरीर ही से शङ्कर के गणों की तरह हो जाता है। साथ ही वह तेजस्वी, यशस्वी और पवित्र भी हो जाता है। जिस गृह में यह स्तोत्र पढ़ा जाता है वहाँ राक्षस, पिशाच, भूत, और विनायक विघ्न नहीं करते। जो शङ्कर-भक्ता-नारी, ब्रह्मचर्य-व्रत धारण

पूर्वक इस स्तोत्र को सुनती है, वह पितृपक्ष और पतिपक्ष में देववत् आदर पाती है। जो पुरुष मन लगा कर इस स्तोत्र को आद्यन्त सुनता है अथवा पढ़ता है उसकी समस्त कामनाएँ सदा पूर्ण होती हैं। मनुष्य जिस जिस वस्तु की चाहना करता है, अथवा जिन जिन वस्तुओं का वह वाणी से नाम् लेता है, या मन से चिन्तवन करता है, वे सब वस्तुएँ उसे मिलती हैं। जो मनुष्य यमों नियमों का पालन करता हुआ शङ्कर, स्वामिकर्तिकेय, देवी पार्वती तथा नान्दी का यथाविधि पूजन कर और उन्हें वलिदान दे कर, यथाक्रम शङ्कर नामावली को पढ़ता है, उसे इच्छित पदार्थ और भोग मिलते हैं तथा उसकी समस्त कामनाएँ पूरी होती हैं। मरने बाद उसे पक्षी की योनि में जन्म लेना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह स्वर्गवास पाता है। यह वचन, भगवान् पराशरनन्दन वेदव्यास जी का है।

दोसौ पचासी का अध्याय

अध्यात्म और अध्यात्मशास्त्र

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! अध्यात्म सम्बन्धी अध्यात्मशास्त्र का स्वरूप कैसा है? आप यह भी मुझे बतलावें कि, अध्यात्मशास्त्र कहाँ से निकला है?

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर! अध्यात्म शास्त्र के ज्ञान से पुरुष सर्वज्ञ होता है। अध्यात्म ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। मैं निज बुद्ध्यानुसार, अध्यात्म शास्त्र को स्पष्ट रीति से तुम्हें समझाऊँगा। तुम इसकी व्याख्या सुनो। पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, ये ही पञ्चमहाभूत हैं। इन्हीं से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इन्हींमें वे सब लय को प्राप्त होते हैं। प्राणियों के चैतन्यमय स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर भी पञ्च-

महाभूतों ही के हैं। बुद्धि आदि भौतिक गुणसमूह, परम कारण रूपी परमात्मा में लीन हो जाते हैं और फिर यथासमय उन्हींसे उत्पन्न होते हैं। समस्त प्राणी आकाशादि पञ्चमहाभूतों से वैसे ही उत्पन्न होते और उन्हींमें लीन होते हैं जैसे कछुवा अपने अंग फैलाता और फिर समेट कर शरीर के भीतर कर लेता है। इस स्थूल शरीर में जो शब्द होता है, वह आकाश का गुण है, जो कठिन भाग है, वह पृथिवी का भाग है। समस्त प्राण वायु के अंश हैं। रुधिर आदि तरल भाग जल का अंश हैं, गौर आदि रूप, तेज का अंश है। इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् पञ्चमहाभूतों से बना है और जब प्रलय होता है, तब परमात्मा में लीन हो जाता है। जब नवीन सृष्टि रची जाती है, तब यह विश्व पुनः इन्हीं पञ्चभूतों से रचा जाता है। स्रष्टा ने पञ्चमहाभूतों का विभाग समस्त प्राणियों में योग्य रीति से किया था। अब मैं तुम्हें यह सुनाता हूँ कि, पञ्चमहाभूतों के रचयिता अहङ्कार ने समस्त प्राणियों के शरीर में इन्द्रियों की कल्पना कैसे की है और वह सब शरीरों के भीतर रह कर, समस्त कार्यों को कैसे देखता है। शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय और इन्द्रिय-गोलक—ये तीन आकाश से; रस, स्नेह और जिह्वा—ये तीन जल से; रूप, नेत्र और जठराग्नि—ये तीन तेज से; गन्ध, नासिका और शरीर—ये तीन पृथिवी से; प्राण, स्पर्श और चेष्टा—ये तीन वायु से उत्पन्न होते हैं।

हे राजन्! इन पञ्चमहाभूतों के समस्त गुणों का वर्णन सांख्य शास्त्र में है। वही मैंने तुम्हारे सामने कहा है। इनको उत्पन्न कर सतोगुण रजोगुण और तमोगुण त्रिविध काल और निज निज कर्मों का निश्चय करने वाली पञ्चकर्म-बुद्धि को और छठवें मन को मायाविशिष्ट परमात्मा ने प्रकट किया है। चरणों के तलुओं से ले कर, मस्तक पर्यन्त बुद्धि व्याप्त है। मनुष्य के शरीर में पाँच इन्द्रियाँ छठवाँ मन सातवीं बुद्धि और आठवाँ पुरुष रहता है। कर्त्ताधर्त्ता इन्द्रियों को उनके कर्मों से

और सत्व, रज एवं तम को उनके गुणों से जानना चाहिये। तीनों गुण इन्द्रियों के कर्त्तृत्वाभिमान से उत्पन्न हुए हैं और उन्हींके आश्रयभूत हो रहते हैं। ये इन्द्रियाँ पदार्थों की छाप लेने के लिये बनायी गयी हैं, मन का धर्म संशयात्मक होने से, मन में संशय उत्पन्न होता है। बुद्धि निश्चय करने वाली है। क्षेत्रज्ञ कोई व्यवसाय नहीं करता। वह सब का साक्षी कहलाता है। तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण, काल और कर्म ये गुण बुद्धि के पथप्रदर्शक हैं। बुद्धि इन्द्रियाँ हैं और दूसरे पाँच अर्थात् तीनों गुण, काल तथा कर्म—उसके गुण हैं। इन्द्रियाँ तथा छठवाँ मन—ये सब बुद्धि रूप ही हैं। यदि बुद्धि न हो, तो ये इन्द्रियाँ भी नहीं हो सकतीं। इन इन्द्रियों में से बुद्धि जिस इन्द्रिय से देखती वह चक्षु-इन्द्रिय, जिससे सुनती वह श्रोतेन्द्रिय, जिससे सूँघती वह घ्राणेन्द्रिय और जिससे रसों को ग्रहण करती वह रसनेन्द्रिय, जिससे स्पर्श करती वह त्वक्-इन्द्रिय कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि, बुद्धि ही बारंबार अनेक रूप धारण करती है। जब बुद्धि किसी वस्तु की भावना करती है, तब वह मनोरूप हो जाती है। पाँचों इन्द्रियाँ बुद्धि का अधिष्ठान हैं और अवयवों के दूषित होने से, बुद्धि भी दूषित हो जाती है। यह बुद्धि जीव में तीन स्थितियों में रहती है। अतः सात्विकादि तीन भावों में यह रहती है। इसीसे किसी समय बुद्धि प्रफुल्लित्त और कभी शोकान्वित रहती है और कभी कभी उसमें सुख दुःख दोनों भावों का अभाव पाया जाता है। त्रिगुणात्मिका बुद्धि तीनों गुणों में घूमा करती है और उनका अनुसरण कर निश्चय करती है। बुद्धि तीनों गुणों का अतिक्रम वैसे ही नहीं करती, जैसे तरङ्गों से युक्त नदीपति महासागर अपने तट को नहीं लाँघता। बुद्धि मन ही में निवास करती है। उत्थान काल में बुद्धि प्रवृत्ति कराने वाले रजोगुण का अनुसरण करती है। इसीसे वह प्रवृत्तिमयी हो जाती है। महाहर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख, चित्त की शान्ति आदि वृत्तियाँ सतोगुण सूचक हैं। चारों ओर से दाह, शोक, सन्ताप, असन्तोष,

क्षमा के अभाव का अकारण मन में उत्पन्न होना—रजोगुणमयी प्रवृत्ति के सूचक हैं। अविद्या, राग, प्रमाद, मोह, स्तब्धता, भय, दैन्य, महामोह और तन्द्रा तमोगुणमयी प्रवृत्ति के लक्षण हैं। हर्ष और सुख प्राप्त होने पर, मन अथवा शरीर की जो अवस्था होती है, उसको सत्त्वगुण से उत्पन्न हुई समझनी चाहिये। जिस दशा में शोक हो रहा हो और वह दशा अपने को बुरी लगती हो उसे रजोगुण का कार्य समझना चाहिये। ऐसे किसी कार्य को आरम्भ न कर, उसकी ओर से अपना ध्यान हटा लेना चाहिये। जिसमें प्रमाद हो, जो शरीर और मन को असुखी करे, जो समझ में न आवे, गुप्त रहै—ये सब तमोगुण के कार्य हैं। ये सब मन की गतियाँ हैं। जो इनको जान लेता है, वह मनुष्य बुद्धिमान कहलाता है, इसको छोड़ बुद्धिमान का और क्या लक्षण हो सकता है।

अब मैं तुम्हें सूक्ष्म बुद्धि और क्षेत्रज्ञ का अन्तर बतलाता हूँ। सुनो, बुद्धि गुणों को उत्पन्न करती है और क्षेत्रज्ञ गुणों को उत्पन्न नहीं करता। यद्यपि बुद्धि और क्षेत्रज्ञ, स्वभावतः भिन्न भिन्न हैं, तो भी साथ साथ रहते हुए से जान पड़ते हैं। जैसे मछली और जल भिन्न भिन्न होने पर भी जल से अभिन्न जान पड़ते हैं, वैसे ही बुद्धि और क्षेत्रज्ञ, भिन्न भिन्न होने पर भी एक साथ रहते हुए से जान पड़ते हैं। सत्वादि गुण आत्मा को नहीं जानते, किन्तु आत्मा उनको भली भाँति जानता है। सत्वादि गुण विशिष्ट पुरुष समझता है कि, आत्मा के साथ वही सम्बन्ध है, जो गुण का गुणी से; किन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि आत्मा का सत्वादि गुणों के साथ तादात्म्य नहीं है। वह तो केवल गुणों को देखा करता है। बुद्धि सत्व का अवलम्बन अर्थात् उपादान कारण नहीं है। केवल सत्वादि गुणों के कार्य द्वारा, उसकी चेतनाशक्ति अभ्यस्त हुआ करती है। वह कारणभूत गुणों को उत्पन्न करती है। वह महमादि कार्यों द्वारा अनुमित होता है। कोई मनुष्य समस्त गुणों को किसी समय नहीं जान पाता,

बुद्धि शक्ति ही समस्त गुणों को उत्पन्न करती है। क्षेत्रज्ञ उसका साक्षी मात्र है। इस लिये बुद्धि और क्षेत्रज्ञ का सम्बन्ध अनादि है। शरीरस्थ बुद्धि, इन्द्रियसाधन द्वारा, ज्ञान पाती है; किन्तु इन्द्रियाँ जड़ होने के कारण ज्ञानरहित हैं। वे दीपक के समान हैं। दीपक, प्रकाश द्वारा, अन्य पदार्थों के ढूँढ़ने में सहायता तो देता है; किन्तु अपने आपको नहीं देख सकता। जो पुरुष इस प्रकार जान कर, शोक-मोह शून्य हो, व्यवहार करता है, उसे मत्सर रहित समझना चाहिये। मकड़ी स्वभावतः अपने मुख से तन्तु निकालती है, वैसे ही बुद्धि भी स्वभावतः गुणों को उत्पन्न करती है। अतः ये गुण मकड़ी के तन्तुओं के समान समझने चाहिये।

गुणों का नाश होने पर उनका सर्वथा नाश नहीं होता। किन्तु जैसे घड़ा फूटने पर भी वह कपाल रूप में देख पड़ता है, वैसे ही शरीर संघात का नाश होने पर भी उसमें गुण सूक्ष्म रूप से रहते हैं। अतः उनकी प्रवृत्ति नहीं देख पड़ती। परोक्ष पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष पदार्थ से नहीं हो सकता। किन्तु अनुमान द्वारा, परोक्ष पदार्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार देख कर बुद्धि और चिन्तामय हृदय की बड़ी भारी गाँठ को छिन्न कर, मनुष्य को शोक और संशय रहित हो कर, परम सुख में जीवन बिताना चाहिये।

इस मोहमयी महानदी में गिर मनुष्य महा दुःखी हुआ करता है। अगाध जल में पड़ कर, जैसे मनुष्य दुःखी होता है, वैसे ही अज्ञानी जीव भी बुद्धि के साथ सम्बन्ध कर दुःखी होता है। इस संसारसागर को केवल अध्यात्म--शास्त्र-वेत्ता, धीर, विद्वान ही तरते हैं। उन्हें पार होने में कुछ भी कष्ट नहीं होता, क्योंकि उनके पास ज्ञानरूपी नौका का सहारा होता है। मरने के बाद क्या होगा—इसका बड़ा भारी भय मूर्खों को हुआ करता है, किन्तु ज्ञानियों को नहीं। समस्त ज्ञानियों की गति समान होती है। क्योंकि परब्रह्म का एक बार ज्ञान होने के कारण वे सब एक से हो जाते हैं। ज्ञानी प्रथम अज्ञानावस्था में बने हुए कर्मों

के और ज्ञान प्राप्त होने पर भी यदि उससे राग-द्वेष-वश कोई अनुचित काम बन पड़े तो इन दोनों प्रकार के कर्मों के फल अपने शुद्ध ज्ञान से नष्ट कर डालता है। जब किसी मनुष्य को वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब वह दूसरे के किये हुए पापकर्मों की निन्दा नहीं करता, न वह सङ्ग अथवा राग द्वेष से प्रेरित हो, अनर्थकारी कर्म स्वयं ही करता है।

दोसौ छियासी का अध्याय

नारद-समङ्ग-संवाद

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! प्राणी मात्र दुःख और मृत्यु से सदा भयभीत रहा करते हैं। अतः आप मुझे इनसे बचने का उपाय बतलावें।

भीष्म जी बोले—हे राजन्! इस विषय में नारद और समङ्ग के संवादात्मक इतिहास का दृष्टान्त दिया जाता है। समङ्ग से भेंट होने पर एक बार नारद जी ने उनसे पूछा था—हे समङ्ग! अन्य जन तो मस्तक नवा कर ही प्रणाम करते हैं; किन्तु तुम हृदय को पृथिवी से लगा कर प्रणाम करते हो। इससे जान पड़ता है कि, तुम निज पुरुषार्थ से संसार-सागर के पार होना चाहते हो। तुम सदा प्रसन्नमन और विषादरहित देख पड़ते हो। तुम्हारे मन में नाम मात्र को भी उद्वेग नहीं देख पड़ता। प्रत्युत तुम सदा तृप्त और स्वस्थ देख पड़ते हो तथा बालकों की तरह खेला करते हो। इसका कारण क्या है?

समङ्ग ने उत्तर दिया—हे मानद! हे नारद! मैं भूत, भविष्यत्, और वर्तमान काल के स्वरूप तथा तत्त्व को और तत्त्वों के भी तत्त्व को जानता हूँ। अतः मुझे कभी विषादित नहीं होना पड़ता। मैं कार्यों के आदिकारण को, कार्यों के फलोदय को, तथा जगत में सदा देख

पड़ने वाले उनके भिन्न भिन्न रूपों को जानता हूँ। मैं इसीसे विकल नहीं होता। हे नारद ! देखो। इस जगत् में प्रारब्धवश मूर्ख भी विद्या सम्पादन कर लेते हैं। स्त्री तथा धन रहित पुरुष भी प्रारब्धवश, वनिता तथा धन पा कर, जीवन विताते हैं। अन्धे और जड़ पुरुष भी जीवन विताते ही हैं। इसी प्रकार हम भी कोई भी जीवनोपाय किये विना ही जीवित हैं। यह जीवन हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल स्वरूप है। रोगरहित देवता, सवल अथवा निर्वल पुरुष-सभी तो अपने अपने पूर्व-जन्म-कृत कर्मों के फलानुसार जीवित हैं। इसी प्रकार हम भी जी रहे हैं। अतः तुम मुझे सन्मान पात्र समझो। जिसके पास हज़ार रुपये हैं, वह भी जीता है और जिसके पास सौ रुपये हैं वह भी जीता है। इस प्रकार शाकाहारी भी जीते हैं और माँसाहारी भी। इसी तरह तुम मुझे समझो। नारद ! जव मैं शोक का मूल रूप अज्ञान का अपने में अभाव पाता हूँ और शोक शून्य रहता हूँ; तव मुझे यज्ञादि कर्मानुष्ठान करने अथवा लौकिक कर्म करने की आवश्यकता ही क्या है ? सुख और दुःख काल के अधीन हैं। अतः वे मेरा अनादर नहीं कर सकते।

मनुष्य जिससे बुद्धिमान कहलाता है, उसका नाम प्रज्ञा है। प्रज्ञा के सहारे भ्रम पूर्ण इन्द्रियाँ भ्रम से छूट निर्मल हो जाया करती हैं, क्योंकि इन्द्रियों को भ्रमवश ही दुःख भोगना पड़ता है। जिसकी इन्द्रियाँ मूढ़ हैं, वह ज्ञान प्राप्त कभी नहीं कर सकता। मनुष्य भ्रमपूर्ण इन्द्रियों के कारण ही गर्वीला हो जाता है। ऐसे मनुष्य को न तो इस लोक में सुख मिलता और न मरने वाद परलोक ही में वह सुखी रहता है। स्मरण रहे कि, इस संसार में कोई मनुष्य सदा दुःखी या सुखी नहीं रह सकता। इस संसार में नित्य ही उलटफेर हुआ करता है। यह देख मैं कभी खेद नहीं करता। इसीसे मुझ जैसा पुरुष अनुकूल भोगों की चाहना नहीं करता। वह न तो दुःखों की परवाह करता और न सुखी रहने की कामना ही करता है। योग से मन को संयम में रखने वाला

पुरुष, दूसरों के सुख की इच्छा नहीं करता। उसे आगे के लाभ की भी चिन्ता नहीं होती, उसे यदि बहुत सा धन मिल जाय, तो भी वह अत्यन्त हर्षित नहीं होता और यदि उसका बहुतसा धन नष्ट हो जाय तो वह दुःखी भी नहीं होता। बन्धु बान्धव, कुलीनता, शास्त्राध्ययन, धन, मंत्र, वीर्य—इनमें कोई भी मनुष्य को दुःख से छुटाने की शक्ति नहीं है; किन्तु मनुष्य, शमदम आदि से परलोक में शान्ति तथा परम सुख पाता है।

योग रहित पुरुष को बुद्धि नहीं होती और वह चञ्चल पुरुष सुख नहीं पा सकता। सुख की जड़ तो है धृति और दुःखत्याग। प्रिय वस्तु के लाभ से हर्ष होता है। हर्ष से गर्व और गर्व से दुःख होता है। अतः मैंने हर्ष आदि त्याग दिया है। जब तक मेरा शरीर क्रियाशील बना रहेगा; तब तक मैं सुख दुःख उपजाने वाले तथा मोहित करने वाले शोक, भय और गर्व को साक्षी के समान देखा करूँगा। मैं अर्थ, काम, शोक, सन्ताप, तृष्णा और मोह इन सब को त्याग कर, इस संसार में विचरा करता हूँ। मुझे मृत्यु का, अधर्म का, लोभ का अथवा अन्य किसी का इस लोक या परलोक में वैसे ही कुछ भी भय नहीं; जैसे अमृत पान करने वाले को इस लोक और परलोक में कुछ भी भय नहीं होता। हे ब्रह्मन्! हे नारद! मैंने अविनश्वर फलप्रद महा तप कर के ज्ञान प्राप्त किया है। अतः मैं कभी दुःखी हो ही नहीं सकता।

दोसौ सत्तासी का अध्याय

श्रेयः प्राप्ति के उपाय

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! जिस मनुष्य को शास्त्र का कुछ भी ज्ञान नहीं है, जो सदा संशयग्रस्त रहता है, जो आत्मा दर्शन करने

का तथा शमादि सम्पादन करने का प्रयत्न नहीं करता, उसको श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

भीष्म जी बोले—गुरु, परमात्मा के बराबर है। उसमें सदा मन लगावे। वृद्धाचार्यों की सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये और गुरुमुख से शास्त्र श्रवण करना चाहिये। क्योंकि ये तीनों परम-कल्याण-प्रद माने गये हैं। इस विषय में देवर्षि नारद और मुनि गालव का संवाद इस प्रकार है:—

एक बार जितेन्द्रिय गालव ने मोक्ष की कामना से मोह से तथा तन्द्रा से रहित, ज्ञान से तृप्त और मन को काबू में रखने वाले नारद से इस प्रकार पूछा—हे नारद! मैं समझता हूँ कि, वे सब गुण जिनसे मनुष्य सर्वपूज्य होता है—आपमें हैं। आप ज्ञानी एवं सकल श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हैं। किन्तु मैं बहुत समय बीतने पर भी मूढ़ ही हूँ और आत्मतत्व को यथार्थ रीत्या जानता हूँ। अतः आपको उचित है कि आप मेरे संशयों को दूर करें। जगत् में चैत्यवन्दन, तप्तशिलारोहण, चान्द्रायण और अग्निहोत्र आदि अनेक धार्मिक कार्य हैं; परन्तु इनमें से कौनसा काम करूँ, जिससे मेरी प्रवृत्ति ज्ञान में हो। मैं तो इसका निर्णय नहीं कर सकता। अतः आप मुझे कल्याणप्रद कर्म का उपदेश दें। हे भगवन्! समस्त आश्रम भिन्न भिन्न आचारों का उपदेश देते हैं और समस्त शास्त्र अपने अपने सिद्धान्तों को श्रेयस्कर बतलाते हैं। हे ब्रह्मन्! शास्त्रोक्त एवं आश्रमोचित आचरणों का पालन सभी लोग करते हैं। उन्हें देख मैं भी शास्त्रज्ञान प्राप्त कर सन्तुष्ट हो गया हूँ। किन्तु अभी तक मैं मोक्षप्रद मार्ग का निश्चय नहीं कर पाया। यदि शास्त्रों में एकरूपता होती तो मैं उनसे कल्याण का निर्णय भी स्पष्ट रीत्या कर सकता; किन्तु शास्त्र अनेक हैं और उन्होंने अपने मतानुसार श्रेय का निर्णय नहीं कर पाया है। अतः श्रेय क्या है, यह यथार्थतया निर्णीत नहीं हो पाता है। अतः श्रेय के सम्बन्ध में मेरे मन में कितनी

ही शङ्काएँ हैं। सो आप मुझे श्रेय का रूप बतलावें। मैं आपके शरण में आया हूँ। आप मुझे श्रेय का उपदेश दें।

नारद जी बोले—हे तात! शास्त्र* चार प्रकार के हैं। इनमें से मनुष्य जिस शास्त्र को अपने लिये कल्याणप्रद समझता है, उसीसे उसका श्रेय होता है। इन सब शास्त्रों को तुझे गुरु के मुख से सुनना चाहिये। तदनन्तर यदि तू विचार करेगा, तो तू स्वयं ही समझ लेगा कि, कौनसा शास्त्र कल्याणप्रद है। हे गालव! शास्त्र भिन्न भिन्न होने के कारण उनमें बतलाये गये आत्मज्ञान के साधन भी भिन्न भिन्न ही हैं। गुणकीर्तन, स्वरूप, आचार और फल में भी भिन्न भिन्न हैं। इसीसे वे विरुद्ध मतों वाले हैं। आत्मोद्धार के लिये शास्त्रों में भिन्न भिन्न मार्ग बतलाये गये हैं। जो स्थूल दृष्टि से शास्त्रों पर विचार करते हैं, वे आत्मा का उद्धार करने वाले उत्तम साधनों को जान ही नहीं सकते किन्तु सूक्ष्म बुद्धि से अवलोकन करने वाले शास्त्रों के परम रहस्य के ज्ञाता होते हैं। जो भली भाँति निश्चय करने वाला है, सन्देह रहित है, सब प्राणियों को अभय-प्रद और प्राणिमात्र पर अनुग्रह करने वाला, हिंसालु पुरुषों को रोकने वाला है और धर्मार्थ—त्रिवर्ग का संग्रहकर्त्ता है, उसको विद्वान लोग श्रेय कहते हैं। पापकर्म से निवृत्त होना, सदा पुण्यशील होना, श्रद्धावान् होना, सत्पुरुषों के साथ सद्व्यवहार करना, निश्चय ही श्रेय है। समस्त प्राणियों से सद्व्यवहार रखना, सरलता पूर्ण व्यवहार करना, मधुर वचन बोलना, यह अवश्य ही श्रेयस्कर माना जाता है। देवता पितर और अतिथियों को यथायोग्य भाग देना, पिता माता, सेवक आदि पोष्यवर्ग का त्याग न करना और उनका पोषण करना भी श्रेयस्कर

---

*१ धर्म कुछ नहीं—यह नास्तिक शास्त्र है। २ चैत्यवन्दनादि का उपदेश देने वाला बौद्ध शास्त्र है। ३ वेदोक्त धर्म ही धर्म है अन्य कोई धर्म है ही नहीं। ४ प्रत्येक वस्तु के धर्म और अधर्म से परे जो कोई और वस्तु है उसे जानना चाहिये।

है। यद्यपि सत्यभाषण करना भी श्रेयस्कर माना गया है, तथापि सत्य का ज्ञान होना बड़ा कठिन है। अब मैं तुझे उस सत्य का वर्णन सुनाता हूँ जो जीवों का बड़ा भारी हित करने वाला है। उस सत्य को मैं तुझे बतलाता हूँ।

अहङ्कार का त्याग, प्रमाद को दूर करना, सन्तोष रखना एकाकी रहना, धर्माचरणपरायण होना—यह अविनश्वर श्रेय है। शास्त्रोक्त विधि से वेदाध्ययन, वेदान्त शास्त्र का विधि पूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन, ज्ञान के अनुभव की वासना, ये सब निश्चय ही कल्याण-कारी हैं। कल्याणकामी पुरुष को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध बहुत सेवन न करना चाहिये। श्रेयस्कामी को रात में न तो घूमना चाहिये और न दिन में सोना चाहिये। श्रेयस्कामी आलस्य न करे, किसी की चुगली न खाय, गर्व न करे, आहारादि अधिक न खावे और न बिल्कुल त्याग ही करे या परनिन्दा कर अपनी बड़ाई न करे, किन्तु अपने गुणों को प्रकट कर उत्तम पुरुषों से अपनी बड़ाई करवावे। नीच लोगों से अपनी बड़ाई न करवावे। जो लोग गुणहीन होते हैं, वे अपने को बड़ा गुणवान समझा करते हैं और अपने गुणों की तथा ऐश्वर्य की लोगों के सामने प्रशंसा कर, अन्य गुणवान पुरुषों के दोषों को प्रकट कर, उनकी निन्दा किया करते हैं। इन्द्रियों के विषयों में लवलीन होने पर भी अपने को महात्मा मानने वाले पुरुष को यदि कोई उपदेश देता है, तो भी वे अपने मन में अहङ्कार कर, महात्मा पुरुषों से भी अपने आत्मा को विशेष गुणी मानते हैं। किन्तु जो पुरुष किसी की निन्दा नहीं करता तथा आत्मश्लाघा नहीं करता तथा विद्या एवं गुणों से युक्त होता है, वह पुरुष बड़ा यशस्वी होता है। जैसे फूलों की महक ढिंढोरा पीटे बिना ही अपने आप चारों ओर फैल जाती है, जैसे प्रकाशवान् सूर्य भी बिना ढिंढोरा पीटे ही अपनी किरणों से भुवनों को प्रकाशयुक्त कर देता है, वैसे ही जो लोग आत्मश्लाघा और परनिन्दा को दोषावह समझ,

त्याग देते हैं, उनका यश, स्वयं गुणगान किये विना ही संसार में अपने आप फैल जाता है। मूर्ख भले ही अपने मुख से अपनी प्रशंसा करे, किन्तु जगत में उसका नाम नहीं होता और गुणी विद्वान् पुरुष भले ही गुफा में क्यों न जा छिपे, तब भी वह प्रसिद्ध हो जाता है। सारहीन वात यदि चिल्ला कर भी कही जाय, तब भी उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, और सारवान सुभाषित वाक्य चुपके से भी कहा जाय, तब भी संसार पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। गर्विष्ठ और मूढ़ पुरुष वहुत वोलता है, तब भी उसके कथन में सार नहीं होता। सूर्यकान्त मणि के योग से जिस प्रकार सूर्य अपने अग्नि रूप अन्तरात्मा को प्रकट करता है वैसे ही दुर्जन जन अपने दुर्वाक्यों से अपना कुत्सित आत्मा दूसरों को दिखलाता है। अतएव श्रेयस्कामी पुरुष को अनेक शास्त्रों को पढ़ कर, विविध प्रकार की प्रज्ञा सम्पादन करनी चाहिये। क्योंकि सब प्रकार के लाभों में प्रज्ञालाभ श्रेष्ठ है। मेरा तो यही मत है।

जब तक कोई कुछ पूछे नहीं, तब तक न बोलना चाहिये। यदि कोई अनपयुक्त प्रश्न करे तो उत्तर न दे। मेधावी विद्वान को जानकार हो कर भी ऐसे अवसरों पर मूर्ख की तरह अनजान बन जाना चाहिये।

धर्माचारपरायण महात्मा पुरुषों के साथ और अपने धर्म पर दृढ़ निष्ठावान पुरुषों के साथ रहे। जहाँ पर चारों वर्णों के धर्मों का नाश होता देखे वा धर्मों में हेरफेर होते देखे, वहाँ श्रेयस्कामी को रहना ही न चाहिये। जो पुरुष किसी प्रकार का शुभ कर्म नहीं करता और दैवेच्छा से मिलने वाली वस्तु से सन्तुष्ट रहने वाला पुरुष भी धर्मात्माओं की सङ्गत में रहने से निर्मल पुण्य फल पाता है और पापी पुरुषों का समागम करने से पाप का भागी बनता है। मनुष्य को जैसे चन्द्रमा अथवा जल अथवा अग्नि को छूने से शैत्य अथवा उष्णता जान पड़ती है, वैसे ही साधुसमागम से पुण्य का और असाधु की संगत से पाप का अनुभव होता है।

जो लोग विघस खाते हैं, रसास्वाद लिये विना ही सब कुछ खाते हैं; किन्तु जो मनुष्य पदार्थ का स्वाद लेते हैं, वे कर्मपाश में बंधे हुए हैं। ज्ञानियों को ऐसे देश में न रहना चाहिये, जहाँ के रहने वालों में ज्ञान की जिज्ञासा में श्रद्धा न हो अथवा जो केवल अपने को पण्डित कहलाने के लिये ही शिष्यों को आत्मज्ञान का उपदेश देते हों। जिस देश में शिष्यों की और उपाध्याय की आजीविका की उचित व्यवस्था हो और मनुष्यों में यथेष्ट शास्त्रज्ञान हो, वह देश कोई छोड़ना न चाहेगा। सन्मानकामी कोई भी पुरुष उस देश में रहना पसंद न करेगा जहाँ के रहने वाले पण्डित जनों की अकारण निन्दा करते हैं और उनमें झूठे दोष खोजते हैं। जिस देश के निवासी लोभवश धर्ममर्यादा को भङ्ग करते हैं, वह देश उसी प्रकार त्याज्य है, जिस प्रकार वह वस्त्र जिसके आँचल में आग लग गयी है। क्योंकि ऐसा देश महाभयङ्कर होता है। जिस देश के रहने वाले मत्सर और संशय हीन हो धर्माचरण करते हैं, जहाँ के रहने वाले लोग पवित्र शील वाले और साधु पुरुष होते हैं उस देश में ज्ञानी को रहना उचित है, किन्तु जिस देश के मनुष्य धन के तात्कालिक लाभ के लिये ही धर्माचरण करते हों, उस देश में कभी न रहे। क्योंकि धन के पीछे धर्माचरण करने वाले लोग पापी होते हैं। जिस देश के लोग जीवित रहने के लिये विवश हो अधर्माचरण करते हैं, उस प्रदेश को ससर्पगृह की तरह भयानक समझ तुरन्त त्याग दे। जो लोग श्रेयस्कामी हैं, उन्हें आरम्भ ही से वे सब कर्म त्याग देने चाहिये, जिन कर्मों के कारण, मृत्युशय्या पर पड़ पश्चाताप करना पड़े। ज्ञानी पुरुष उस देश को त्याग दें, जिस देश के राजा और उसके सेवकों में कुछ भी अन्तर न हो और जहाँ के लोग अपने आश्रितों को खिलाये विना पहले स्वयं ही खा लेते हों। ज्ञानी पुरुष तो ऐसे देश में रहे, जहाँ के निवासी धर्म पर श्रद्धा रखते हों, सनातन धर्म में निष्ठावान् श्रोत्रिय ब्राह्मणों को सर्वप्रथम भोजन कराते हों और जहाँ के ब्राह्मण याजन

एवं अध्यापन-परायण हों। जिस देश में स्वाहा, स्वधा और वषट्कार शब्द प्रति दिन भली भाँति सुन पड़ते हों, उस देश में ज्ञानी बिना सोचे समझे बस जाय। जिस देश में रहने वाले ब्राह्मण आजीविका के अभाव से दुर्बल हो गये हों और जहाँ के निवासियों के आचार पवित्र न हों, उस देश को विषमिश्रित माँस की तरह त्याग दे—भले ही वह देश पास पड़ोस ही में क्यों न हो। जिस देश के लोग याचना किये जाने के बिना ही याचक से सहर्ष उसकी कामना पूछते हों, उस देश में ज्ञानी जन को वास कर अपने को कृतकृत्य समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा देश स्वास्थ्यकारक होता है। जिस देश में दुष्टों और दुर्जनों को दण्ड दिया जाता हो और शिष्टों का सत्कार किया जाता हो, वहाँ पवित्राचरण वाले साधु पुरुषों को रहना चाहिये। जिस देश में जितेन्द्रिय एवं सत्पुरुष को सताने वाले अनुभवी एवं लोभी पुरुषों को कड़ा दण्ड दिया जाता हो, उस देश में धर्मात्मा जनों को रहना चाहिये। जिस देश का राजा धर्मात्मा हो और ईमानदारी से राज्यशासन करता हो और सम्पत्तिशाली होने पर भी विषयासक्त न हो, उस राजा के देश में बिना सोचे विचारे ज्ञानी जन वास करें। ऐसे धर्मात्मा राजाओं के देश पर यदि कभी कोई विपत्ति आ पड़ती है, तो भी वे अपने प्रजाजनों की भलाई करते हैं।

हे तात ! तुमने जिज्ञासा की थी, अतः मैंने ये सब श्रेयःप्रद बातें तुम्हें सुनायीं किन्तु आत्मा के लिये श्रेयस्कारिणी समस्त बातें स्पष्ट रूप से नहीं कही जा सकतीं। क्योंकि श्रेय महान् है। जो पुरुष धर्मानुसार आजीविका करता है और प्राणियों का हित करने में अपने मन को लगाये रखता है, उस मनुष्य का स्वधर्म रूपी तपश्चरण से इसी लोक में सब प्रकार से कल्याण होता है।

दोसौ अठासी का अध्याय

सगर और अरिष्टनेमि संवाद

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! मुझ जैसा राजा पृथिवी का शासन करते समय किस प्रकार मोक्षधर्म का अनुष्ठान कर सकता है और कैसे गुणों से युक्त होने पर आसक्तिपाश से मुक्त हो सकता है?

भीष्म जी बोले—इसके उत्तर में मैं तुम्हें सगर और अरिष्टनेमि का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ; सुनो।

राजा सगर ने एक वार अरिष्टनेमि से पूछा कि, हे ब्रह्मन्! वह कौनसा उत्तम कर्म है, जिसके करने से मोक्ष प्राप्त हो सके? वह कौन सा उत्तम कर्म है, जिसको करने से मनुष्य को शोक और लोभ में नहीं फसना पड़ता।

भीष्म ने कहा—जब राजा सगर ने तार्क्ष्य-वंश-सम्भूत अरिष्टनेमि से प्रश्न किया, तब समस्त शास्त्रविशारद अरिष्टनेमि ने राजा सगर को सत्पात्र समझ, उन्हें यह उपदेश दिया। इस संसार में यावत् सुखों से बढ़ कर मोक्षसुख माना गया है, किन्तु वे लोग इस मोक्ष सुख का अनुभव नहीं कर सकते, जिनका मन पुत्रों में और पशुओं में फँसा हुआ है, जो धनोपार्जन में व्यग्र रहते हैं, जो इन्द्रियों के विषयों में फसे हुए हैं, जो तृष्णा से विकल रहते हैं; ऐसे लोगों से शान्ति कोसों दूर भागती है। स्नेहपाश में बँधा हुआ मूढ़जन कभी मोक्ष नहीं पा सकता।

हे राजन्! अब मैं आपको स्नेहजन्य पाशों का वर्णन सुनता हूँ। आप सावधान हो सुनें। क्योंकि ये बातें ज्ञानीजन को छोड़ और किसी को अच्छी नहीं लगतीं। आश्रितजनों का अन्न से पालन करे। आश्रित बालकों को विद्याभ्यास करने की सुविधा कर दे। जब वे जवान हों तब उनके विवाह का प्रबन्ध कर दे और जब वे पर्याप्त बड़े हो जायँ

और अपना भरण पोषण स्वयं करने लगें, तब उन्हें छोड़ सहर्ष वन में विचरना चाहिये। जब तुम्हारी प्रियतमा भार्या पुत्रवती हो जाय और उसका स्नेह उन पर हो जाय, और वह बूढ़ी हो जाय, तब तू उसे त्याग कर, परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष को खोजना।

शास्त्रोक्त विधि से विवाह कर, इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करना चाहिये। तदनन्तर सपुत्रक हो अथवा अपुत्रक—तुझे संसार से अलग हो घूमना चाहिये। एक बार इन्द्रियों के कुतूहल को मिटा कर, दैवेच्छा से विषय प्राप्त होने पर भी उनमें मन को आसक्त न करे और उन पर राग द्वेष रहित रह कर, उनको त्याग दे। फिर यथेच्छ जगत् में विचरे और सब प्राणियों में और विषयों में रागद्वेष न रख कर, सब से एकसा व्यवहार करे।

हे वत्स! मोक्ष के साधनों का यह संक्षिप्त विवरण है। तब मैं इनका सविस्तर वर्णन तुम्हें सुनाता हूँ; सुनो। जो मनुष्य स्नेहपाश काट, निर्भीक हो, संसार में घूमता है वह मनुष्य सुखी होता है और जो स्नेहपाश में बंधे रहते हैं, उन्हें बारंबार जन्मना और मरना पड़ता है। मनुष्य की तरह कीट पतंग भी खाने पीने की चिन्ता में व्यग्र रह, भक्ष्य पदार्थों का संग्रह किया करते हैं और यह करते करते ही काल के गाल में चले जाते हैं। किन्तु जो स्नेहपाश में नहीं बँधे, वे ही जगत् में सुखी हैं। क्योंकि स्नेहपाश में फसे लोग दुःखी हुआ करते हैं। यदि मोक्ष प्राप्त करने की तुम्हारे मन में अभिलाषा है, तो तुम्हें इस बात की चिन्ता न करनी चाहिये कि, तेरे बिना, तेरे कुटुम्बियों का निर्वाह कैसे होगा? क्योंकि प्राणी स्वयं उत्पन्न होता, स्वयं बढ़ता और अपने कर्मानुसार सुख दुःख प्राप्त कर मर भी जाता है। इस संसार में मनुष्य को अपने पूर्वजों का संग्रह किया हुआ धन, धान्य वस्त्रादि जो कुछ मिलता है, वह सब उसके पूर्वजन्म की कमाई का प्रतिफल है। इस जन्म में जो कुछ मिलता है, वह पूर्व-जन्म-कृत कर्मफल को छोड़ और कुछ भी

नहीं है। अपने कर्मों से रक्षा पाते हुए सब प्राणी इस धराधाम पर निवास करते हैं और विधाता ने उनके कर्मानुसार जो भक्ष्य उनके लिये बना दिया है, वही उन्हें मिलता है। क्योंकि वे मट्टी के घोंघा की तरह कुछ भी नहीं कर सकते हैं। वे तो परतंत्र हैं। ऐसे दृढ़ निश्चय वाले मनुष्यों को अपने जनों के भरण पोषण का भरोसा क्यों कर हो सकता है? तू बड़ा प्रयत्नशील है, तिस पर भी तेरी आँखों के सामने ही मौत तेरे कुटुम्बियों का नाश कर ही डालती है। यह सोच कर तुझे सावधान हो जान चाहिये। याद रख, तेरे ये सगे नातेदार जीवित रहेंगे और उनका भरण पोषण तथा रक्षण करने का यथोचित अवसर प्राप्त होने के पूर्व ही तू मर जायगा और इनको तुझे त्यागते ही बन पड़ेगा। जब तेरे नातेदार यह लोक त्याग कर चल देंगे, तब उनका क्या होगा; यह बात तुझे नहीं मालूम। यदि तू जीता रहा या मर ही गया, तब भी तेरे पुत्र अपने कर्मानुसार अपना निर्वाह तो कर ही लेंगे। यह समझ कर तुझे अपने आत्मा का कल्याण करना चाहिये। संसार की ऐसी दशा को देख कर और इस संसार में कौन किसका है—इस पर भली भाँति विचार कर, तू अपना मन मोक्ष में लगा। अब इसके आगे मैं जो कुछ कहूँ उसे भी सुन। जो पुरुष इस जगत में क्षुधा, तृषा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को जीत लेते हैं, वे ही सतोगुणी हैं। उन्हीं को मुक्त समझना चाहिये। जो आदमी द्यूत, मदिरापान, स्त्रीप्रसङ्ग में नहीं फँसता, उसको मुक्त समझना चाहिये। जो लोग भोग विलास की ओर से उदासीन रहते हैं और भोग विलास के दोषों पर दृष्टि रखते हैं, उन्हें मुक्त समझना चाहिये। जो पुरुष यह विचार कर कि, स्त्रीसङ्ग करने से अपने को जन्मना पड़ेगा—सदा के लिये सावधानी से स्त्रीसङ्ग त्याग देते हैं, उन्हें मुक्त पुरुष जानना चाहिये। जो मनुष्य प्राणियों की उत्पत्ति, मरण तथा उनके कर्मों के रहस्य को भली भाँति जानता है, वही पुरुष मुक्त है। उसी पुरुष की मुक्ति होती है, जो अपने निर्वाह मात्र के

लिये करोड़ों गाड़ी भरे अन्न से सेर भर अन्न को पर्याप्त समझता है। जो रहने के लिये एक महल और एक झोंपड़े को बराबर समझता है, वही पुरुष संसार से मुक्त होता है। जो इस संसार को मृत्यु से नष्ट हुआ, व्याधियों से पीड़ित हुआ और आजीविका के अभाव से, दुर्बल हुआ देखा करता है, जो मनुष्य समस्त संसार को मृत्यु से घिरा हुआ देखता है; वही सन्तोषी पुरुष है। किन्तु जो ऐसा नहीं देखता, उसे जन्म मरण रूपी चक्र में घूमना पड़ता है। सन्तोषी पुरुष ही मुक्ति का अधिकारी है। जो मनुष्य इस संसार को भक्ष्य, भक्षक से व्याप्त देखता है और अपने को उनसे जुदा समझता है, वही मुक्त माना जाता है। जो पुरुष माया के सुख दुःख मय भावों से दूर रहता है, वही मुक्त माना जाता है। जो पुरुष सोने के लिये भूमि तथा चारपाई में भेद नहीं समझता, धान और कदन्न को समान मानता है, उसे मुक्त समझना चाहिये। जो पुरुष सन, कुशा, रेशमी वस्त्र और वल्कल वस्त्र तथा बकरे के चर्म को एक समझता है, उसे मुक्त समझना चाहिये। जो पुरुष पञ्चमहाभूत के परिणाम रूप इस जगत को यथार्थ रीत्या देखता है और विचार पूर्वक समस्त प्राणियों के साथ व्यवहार करता है, उसे जीवनमुक्त समझना चाहिये। जो मनुष्य सुख दुःख, लाभालाभ, जयपराजय, इच्छा, द्वेष, भय तथा उद्वेग को समान समझता है, वही सर्वथा मुक्त है। जो पुरुष इस देह को रक्त माँस मूत्र पुरीष आदि अनेक अपावन वस्तुओं का भाण्डार समझता है, वही पुरुष मुक्त है। जो पुरुष यह समझ कर कि, बुढ़ापा आने पर यह शरीर कुबड़ा हो जायगा, चर्म पर झुर्रीयाँ पड़ जायँगी, बाल सफेद हो जाँयगे, यह कृश हो जायगा—इस शरीर पर ममता नहीं बढ़ाता, वहीं जीवन्मुक्त है। जो पुरुष यह समझता है कि, समय आने पर मेरा सारा पुरुषार्थ नष्ट हो जायगा, मेरी दृष्टि नष्ट हो जायगी, कान बहरे हो जायँगे, शरीर बल-हीन हो जायगा, वही पुरुष मुक्ति पाता है। देवताओं, ऋषियों और राक्षसों को भी यह लोक त्याग परलोक में जाना पड़ता है। जो पुरुष यह

बात जानता है, उसे मुक्त समझना चाहिये। बड़े बड़े प्रतापी अगणित राजा लोग धराधाम छोड़ परलोक को सिधार गये हैं। जो पुरुष यह जानता है, वह मुक्ति पाता है। जो पुरुष इस संसार में अर्थों को दुर्लभ मानता है और कुटुम्बियों का भरण पोषण करने में कितना कष्ट करना पड़ता है—यह जानता है; वही मोक्ष पाता है। जो अपने पुत्र पौत्रों के भी दोषों का दोष जानता है तथा अन्य लोगों को विनश्वर समझता है वह भला मोक्ष को उत्तम क्यों न मानेगा? जिसको अनुभव द्वारा और शास्त्राभ्यास द्वारा मनुष्य जीवन की निस्सारता का ज्ञान प्राप्त हो चुका है, वह पुरुष निश्चय ही मुक्ति पाता है।

यदि तुम गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम से न घबड़ाओ और तुम स्थिर रहो तो तुम मेरे इन वचनों को सुन कर, सब संगो से मुक्त जगत में सुखपूर्वक विहार करो।

राजा सगर अरिष्टनेमि के इन वचनों को सुन, मोक्षप्रद वैराग्य, क्षमा और दम आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न हो, राज्य करने लगे।

दोसौ नवासी का अध्याय

शुक्राचार्य की जन्मकथा

युधिष्ठिर ने पूछा—हे कुरुकुलपितामह! मुझे एक बात का बड़ा कुतूहल हो रहा है। आप उसे मिटा दें। महाबुद्धिमान्, कवि, उशना शुक्राचार्य देवर्षि हो कर भी असुरों की भलाई करने में क्यों लगे रहते हैं और देवताओं का अप्रिय क्यों किया करते हैं? वे किस लिये अपार बलवान देवताओं का बल नष्ट करने को तैयार हुए थे और दानवों ने देवताओं के साथ क्यों वैर बाँधा था? देव समान कान्ति वाले उशना का नाम शुक्र क्यो पड़ा? वे इतने समृद्धशाली क्यों कर हुए? शुक्राचार्य

बड़े तेजस्वी और महात्मा हैं। तब भी (वसिष्ठादि की तरह वे आकाश में क्यों आ जा नहीं सकते ? हे पितामह ! आप मेरे इन कुतूहलों को दूर करें।

भीष्म जी बोले—हे अनघ ! इन प्रश्नों के सम्बन्ध में मैंने जो सुना है, वही मैं तुमसे कहता हूँ। तुम सावधान हो कर सुनो। भृगु-नन्दन शुक्र मुनि पूज्य एवं दृढ़व्रती थे। वे कारण-विशेष-वश देवताओं का अप्रिय किया करते थे।

[नोट—कहा जाता है, दैत्य देवताओं को सताते थे और जब देवता उन्हें खदेड़ते, तब वे दौड़ कर भृगुपत्नी के आश्रम में घुस जाते, किन्तु देवता आश्रम के भीतर नहीं जाने पाते थे। इससे दुःखी हो, जब देवता भगवान् विष्णु के शरणागत हुए, तब उन्होंने सुदर्शन चक्र से भृगु-पत्नी सहित अनेक दैत्यों के सिर काट डाले। तब शेष दैत्यों ने शुक्र का पल्ला पकड़ा। शुक्र अपनी जननी के वध के शोक से दुःखी तो थे ही। अतः क्रोध में भर, उन्होंने दैत्यों को अभयदान दे, देवताओं को तंग कर-वाना आरम्भ किया।]

यक्षों और राक्षसों के स्वामी कुबेर जगत्पति इन्द्र के ख़ज़ानची हैं। योगवल से सिद्ध हुए, शुक्र ने कुबेर के शरीर में घुस; उन्हें वन्दी वना, उनके धनागार का धन लूट लिया। इससे कुबेर बहुत घबड़ाये। वे बड़े क्रुद्ध हुए और शोकान्वित हो देवश्रेष्ठ शङ्कर के निकट गये। अपार तेजस्वी, शान्त स्वभाव, अनेक रूपधारी, देवोत्तम शङ्कर से कुबेर ने सब हाल कहा। वे बोले—योगवल से शुक्र ने मेरे शरीर में प्रवेश कर, मुझे वन्दी वना, मेरा सारा धन लूट लिया है और फिर वे मेरे शरीर को त्याग चल दिये हैं। यह सुन महादेव जी बहुत क्रुद्ध हुए। मारे क्रोध के उनकी आँखे लाल हो गयीं। झट त्रिशूल उठा वे कहने लगे—अरे वह शुक्र कहाँ है ? कहाँ है ?

उधर योगवल से शुक्र को जब यह बात विदित हुई, तब वे सोचने

लगे कि, मैं यहाँ रहूँ अथवा चला जाऊँ। उन्होंने मन ही मन शङ्कर का ध्यान किया और कहने लगे—यदि मैं महादेव जी के त्रिशूल पर जा बैठूँगा तो महादेव जी मेरे शरीर पर त्रिशूल का प्रहार न कर सकेंगे। यह विचार योगसिद्ध शुक्र महादेव जी के त्रिशूल पर जा बैठे। यह देख महादेव जी ने त्रिशूल को टेढ़ा कर दिया। अपार बली शङ्कर ने जब त्रिशूल को धनुष की तरह झुकाया, तब से ही उसका नाम पिनाक पड़ा। शूल के झुकते ही शुक्र उन (महादेव जी) के दोनों हाथों पर जा बैठे। यह देख उमापति शङ्कर ने शुक्र को अपने मुख में डाल लिया और वे उन्हें निगल गये। शङ्कर के उदर में पहुँच महात्मा शुक्राचार्य विचार करने लगे।

युधिष्ठिर ने पूछा—महाराज! शुक्र ने, महादेव जी के उदर में पहुँच कर, कैसे क्रीड़ा की और क्योंकर वहाँ तप किया? जब महादेव जी ने शुक्र का अपने पेट में घूमना फिरना जाना, तब उन्होंने क्या किया?

भीष्म जी बोले—हे राजन्! उशना को निगल कर, शङ्कर ने जल में वृक्ष के समान निश्चल भाव से बैठ, तप करना आरम्भ किया। ऐसा कठोर तप शङ्कर ने अगणित वर्षों तक किया। जब तप पूर्ण कर महादेव जी जल के हृद से बाहिर निकले, तब ब्रह्मा ने उन्हें दर्शन दिये और शङ्कर से कुशल प्रश्न पूछा। उत्तर में शङ्कर ने कहा—मैंने निर्विघ्न तप पूर्ण किया है। साथ ही शङ्कर को यह मालूम हुआ कि, उनके तप करने से उनके उदरस्थ शुक्र की बड़ी अभिवृद्धि हुई है। महायोगी एवं महा पराक्रमी उशना तप तथा कुवेर के अपहृत धन के प्रभाव से तीनों लोकों में दीप्त होने लगे। यह जान कर जब शङ्कर ध्यानमग्न हुए, तब तो उदर में स्थित शुक्र बहुत घबड़ाये और महादेव के पेट में उछलने कूदने लगे। किन्तु योगबल से शङ्कर ने तो शरीर के सब द्वार बंद कर रखे थे। अतः वे वहाँ से न निकल सके। तब उन्होंने बाहर निकलने के लिये श्रीशङ्कर जी की स्तुति की। वे बारंबार प्रार्थना करते हुए कहने लगे—अरिन्दम! आप मेरे ऊपर कृपा करें। इस पर महादेव जी ने उनसे

कहा—तू मेरे लिङ्गद्वार से बाहिर निकल। क्योंकि उन्होंने अपने अन्य छिद्र तो बंद कर रखे थे। शङ्कर ने तो शुक्र को चारों ओर से घेर रखा था। अतः उन्हें बाहर निकलने के लिये शङ्कर का बतलाया हुआ मार्ग भी न देख पड़ा और वे उदरस्थ जठराग्नि से भस्म होने लगे और शङ्कर के उदर में इधर उधर भागने लगे। अन्त में वे लिङ्ग के छिद्र से बाहिर निकल पड़े। तब से उशना का नाम शुक्र पड़ा है। लिङ्ग के छिद्र से निकलने के कारण वे आकाश मार्ग में नहीं जा सकते। प्रदीप्त अग्नि की तरह शुक्र को लिङ्गछिद्र से निकलते देख, शङ्कर बड़े क्रुद्ध हुए। वे त्रिशूल उठा, उठ खड़े हुए। तब पार्वती ने शङ्कर को ब्रह्म-हत्या करने से रोका। अतः शुक्र पार्वती के पुत्रत्व को प्राप्त हो गये। पार्वती जी ने कहा था—यह मेरा पुत्र बन गया है। अतः आप अब इसे न मारें। आपके उदर से उत्पन्न कोई भी आपके द्वारा न मारा जाना चाहिये। देवी के इन वचनों को सुन कर महादेव जी प्रसन्न हुए और हँस कर बोले—ऐसा ही सही। अब यह जहाँ चाहे वहाँ जाय। जब शङ्कर ने यह कहा, तब शुक्राचार्य महादेव एवं पार्वती को प्रणाम कर, वहाँ से चल दिये।

हे धर्मराज! यही भार्गव का जन्मचरित्र है, जो मैंने अभी तुमसे कहा है।

दोसौ नव्वे का अध्याय

उभयलोकों में सुखप्राप्ति का उपाय

युधिष्ठिर ने पूछा—हे महाभुज! आपकी अमृतोपम बातों को सुनते सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती। इससे अधिकाधिक सुनने की लालसा होती जाती है। अतः जिससे कल्याण हो, वह मुझसे कहिये। हे

भगवन् ! वे कौन से कर्म हैं, जिनसे मनुष्य का इस लोक और परलोक में कल्याण होता है।

भीष्म जी बोले—एक बार महायशस्वी राजा जनक ने पराशर से जो प्रश्न किया था, वह प्रश्न मैं तुमसे कहता हूँ; सुनो ! इस लोक तथा परलोक में समस्त प्राणियों का कल्याण जिस धर्म से होता है ? वह धर्म कौनसा है ?

महाराज जनक के इस प्रश्न को सुन, समस्त वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों के विधान के ज्ञाता पराशर ने राजा पर अनुग्रह कर, कहा था—धर्माचरण करने से इस लोक में तथा परलोक में परम कल्याण होता है। प्राचीन ऋषियों का मत है कि; धर्म से बढ़ कर अन्य कोई भी धर्म उत्तम नहीं है। हे नृपोत्तम ! मनुष्य धर्माचरण द्वारा स्वर्ग में पूजित होता। देहधारी मात्र का धर्म यज्ञानुष्ठानादि कर्मों की विधि पर अवलम्बित है। समस्त आश्रमों में रहने वाले सत्पुरुष भी सद्धर्म में श्रद्धावान रह कर, अपने अपने कर्म करते हैं। हे तात ! इस जगत में जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिये धर्मशास्त्रों में चार उपाय बतलाये गये हैं। मनुष्य जिस वर्ण में उत्पन्न होता है, उसी वर्णानुसार उसे दैवेच्छा से आजीविका भी मिल जाती है। मनुष्य अपने पुण्य और पाप के फलानुसार अगले जन्म में उत्पन्न होता है। जैसे ताँबे के पत्र पर सोने अथवा चाँदी की क़लई चढ़ाने से वह सोने या चाँदी जैसा जान पड़ने लगता है, वैसे ही जीव को पूर्व-जन्म कृत कर्मों के अनुसार जन्म लेना पड़ता है। विना बीज कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। उसे अगले जन्म में सुख नहीं मिलता। यदि पुण्य कर्म किया हुए वह होता है, तो मरने बाद वह अगले जन्म में सुख पाता है।

हे तात ! कर्म के सम्बन्ध में नास्तिकों का कहना है कि वे पूर्व-जन्म के पुण्य पापरूपी सुख दुःख को नहीं मानते। उनके कथनानुसार अनुमान द्वारा भी कर्म अथवा प्रारब्ध सिद्ध नहीं होता। देवताओं, दानवों

और गन्धर्वों में से कोई भी पूर्व-जन्म-कृत पुण्य के फल से उत्पन्न नहीं हुआ। वे स्वभावतः जन्मते हैं। मनुष्य को पूर्व-जन्म-कृत कर्मफल प्राप्त नहीं होता। मनुष्य तो सदा यही कहा करता हैं कि, कर्मों के फल देने वाले पूर्व-जन्म-कृत चार प्रकार के कर्म होते हैं—यथा नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा निषिद्ध। पुरुषों के आचरण को नियमानुसार करने के लिये तथा मन को शान्त करने के लिये वेदवचन प्रमाण माने जाते हैं; परन्तु नास्तिक कहते हैं कि, इन वचनों को वृद्धजन अर्थात् लौकायतिक मत-वाले बृहस्पति आदि प्रमाण नहीं मानते।

पराशर ने कहा—मनसा वाचा अथवा हाथ द्वारा चार प्रकार के कर्म किये जाते हैं। इनमें से जो मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भी मिलता है। राजन्! मनुष्य को उसके कर्मानुसार कभी सुख और कभी दुःख मिलता है और कभी सुख दुःख दोनों उसे भोगने पड़ते हैं। पुण्यकर्म हो अथवा पापकर्म—उन कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं है। हे तात! मनुष्य के पुण्यकर्म उसके पापकर्मों का नाश नहीं करते; किन्तु पाप के कारण संसार-सागर में डूबता हुआ पुरुष जब तक दुःख से मुक्त नहीं होता, तब तक उसके पुण्यकर्म कूटस्थ की तरह मौन बैठे रहते हैं। दुःख का नाश होने पर, मनुष्य पुण्य का फल सुख भोगता है। यह सिद्धान्त निश्चित है। किन्तु दम, क्षमा, धैर्य, तेज, पराक्रम, सन्तोष, सत्यवादीपन, लज्जा, अहिंसा, निर्व्यसनता और चातुर्य—ये सब पुण्य और पाप का नाश कर मनुष्य को सुख देते हैं। कोई भी मनुष्य मरण पर्यन्त सुख अथवा दुःख भोगने को नहीं जन्मा। ज्ञानीजन योगबल से मन को स्थिर करने का प्रयत्न करे। इसी तरह मनुष्य अन्य कृत पाप पुण्य के फल स्वरूप सुख दुःख को नहीं भोगता है। किन्तु जो जैसा करता है, वह वैसा ही फल पाता है। जो मनुष्य पुण्य पाप के तत्वज्ञान द्वारा आत्मा में लय कर, विचरता है, उस मनुष्य को उसका अभीष्ट पदार्थ मिल जाता है। जो मनुष्य मृत्युलोक में रह

कर, स्त्री, पुत्र, पशु, घर, धन आदि के चक्कर में पड़ा रहता है, वह दूसरे ही पथ पर विहार करता है। ऐसे पुरुष को न तो स्वर्ग मिलता है और न मोक्ष ही। मनुष्य दूसरे मनुष्य के जिस कार्य को देख निन्दा करे, वह कर्म उसे स्वयं कभी न करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने वाले ही की जगत् में हँसाई होती है।

हे राजन्! भीरु क्षत्रिय, सर्वभक्षी ब्राह्मण, व्यापार रहित वैश्य, आलसी शूद्र, सद्व्यवहार शून्य पण्डित, दुराचारी कुलीन, असत्यभाषी ब्राह्मण, व्यभिचारिणी स्त्री, विषयी योगी, अपने लिये भोजन बनाने वाला, मूर्ख हो कर शास्त्रार्थ करने वाला; राजारहित देश, अजितेन्द्रिय और मन को वश में न करने वाला तथा प्रजा पर अनुराग न रखने वाला राजा—शोचनीय हैं।

दोसौ इक्कानवे का अध्याय

उभय लोकों में सुखप्राप्ति के उपाय

पराशर जी ने कहा—हे जनक! जो मनुष्य इस मानव शरीर को रथ रूप, इन्द्रियों के विषयों को अश्व रूप समझ, उसे ज्ञानवृत्ति रूपी रश्मि से चलाता है उसको बुद्धिमान मनुष्य जानना चाहिये। जिस मनुष्य का मन किसी भी पदार्थ का अवलम्ब न ले कर, वृत्तिशून्य रहता है, उस कर्मवर्जित मनुष्य का निर्विकल्प समाधि द्वारा ईश्वर का ध्यान करना ही श्रेयस्कर है। क्षीणकर्मा ब्रह्मवित् साधु पुरुष गुरुप्रसाद से प्रणिधान को प्राप्त कर निवृत्त होते हैं। ऐसा प्रणिधान समान पुरुषों में परस्पर प्राप्त नहीं होता। हे मनुजेश्वर! दुर्लभ परमायु पा कर भी विषयों के सेवन में उसे बिता डालना उचित नहीं है। पुण्यों द्वारा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक मनुष्य को प्रयत्न

करना चाहिये। सत, रज, तम की घटती बढ़ती के अनुसार कल्पित कृष्ण, धूम्र, नीला, लाल, पीला और सफेद—छः प्रकार के वर्णों से जो पुरुष भ्रष्ट होता है अर्थात् उच्च वर्ण हो कर नीच वर्ण में जाता है, वह कभी सम्माननीय नहीं हो सकता। जो लोग उच्च वर्ण के होने पर भी राजस कर्मों का सेवन नहीं करते—सम्मान के पात्र वे ही होते हैं। अतः मनुष्य श्रेष्ठ कर्म द्वारा ही उच्च वर्ण पाते हैं। पापी जन दुर्लभ वर्ण की उत्कृष्टता न पा कर, अपने आत्मा को नरक में गिराते हैं। जो दुःख अज्ञान से प्राप्त हुआ हो, मनुष्य को उचित है कि, वह उसे तपस्या द्वारा दूर करे। जान बूझ कर किए हुए पापकर्म से केवल पापफल की उत्पत्ति होती है। अतः जिस कर्म का अन्तिम परिणाम दुःखप्राप्ति है, उस कर्म को कदापि न करना चाहिये। किसी पापकर्म से यदि कोई बड़ा फल भी मिलता हो, तो भी बुद्धिमान् पुरुष उससे वैसे ही दूर रहता है, जैसे कोई उच्च वर्ण का मनुष्य चाण्डालस्पर्श से दूर रहता है। क्योंकि पापप्रद कर्मों का फल कुत्सित होने से, दुःखदायी है। पापी जन की दृष्टि विपरीत हो जाती है। अतः वह देहादि जड़ पदार्थों ही को चैतन्य आत्मा जानता है। इस लोकवासी मनुष्यों में से जिस मनुष्य के अन्तःकरण में वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, मरने के बाद उसे घोर नारकीय यंत्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। जो वस्तु श्वेत रंग की है, यदि वह किसी विपरीत रंग से रंगी जाय, तो काल पा कर वह पुनः सफेद हो सकती है, किन्तु काला या भिलावे के रंग से रंगा हुआ कपड़ा फिर सफेद नहीं होता।

अतः हे मनुजेन्द्र! मेरा यही मत है कि, प्रयत्न द्वारा यह जान लो कि किस पाप का प्रायश्चित्त है और किसका नहीं। जो आदमी जान बूझ कर पापकर्म करता है और अन्त में शुभ कर्मानुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त करने के लिये पाप पुण्य दोनों ही से फलस्वरूप दुःख सुख को अलग अलग भोगता है। क्योंकि जानबूझ कर किये हुए पापकर्म

का प्रायश्चित्त नहीं होता; अतः वह किसी प्रकार भी विना भोगे क्षीण नहीं होता।

यदि कोई मनुष्य अनजाने हिंसा कर बैठे तो वेदविहित अहिंसा द्वारा उसका पाप शान्त हो सकता है। ब्रह्मवादियों का यह कथन है। किन्तु जानबूझ कर किया हुआ हिंसाकर्म, अहिंसात्मक कर्म द्वारा नष्ट नहीं होता। वेद, शास्त्र और स्मृतियों के जानने वाले ब्राह्मणों का यही मत है। कामना अथवा अकामना से किया हुआ कर्म चाहे थोड़ा हो अथवा बहुत, उसका फल भोगना अवश्य पड़ता है। किन्तु देखने में आता है कि, जो कर्म किया जाता है, उसका फल विद्यमान रहता है। ऐसा पुण्यकर्म प्रकट होने पर पाप द्वारा कभी छिपाये नहीं छिपता। जब स्थूल अथवा सूक्ष्म कर्म मन से अथवा बुद्धिपूर्वक विचार कर किये जाते हैं, तब वे अपने सूक्ष्म और स्थूल रूप के अनुसार फल भी देते हैं। हे राजन्! अनजाने भी यदि कोई महाभयङ्कर पापकर्म बन पड़े, तो वह विना फल दिये नहीं रहता और करने वाले को घसीट कर नरक में ले जाता है। अन्तर एतावन्मात्र है कि, अनजाने किया हुआ पाप-कर्म कभी कभी बहुत दुःख नहीं देता। देवताओं और मुनियों ने जो जो कर्म किये हैं, उन उन कर्मों का धर्मात्मा जनों को अनुकरण न करना चाहिये और न उन कर्मों की बात सुन कर, उनकी निन्दा ही करनी चाहिये।

हे राजन्! जो मनुष्य, यह विचार कर कि, अमुक कर्म मैं कर सकता हूँ कि नहीं—कर्म करता है, उसे सदा अच्छा फल प्राप्त होता है। यदि कोई कच्चे घड़े में जल भरे तो उससे जल निकल जाता है और उसमें कुछ भी जल नहीं रह जाता, किन्तु, जब पक्के घड़े में जल भरा जाता है, तब वह जल उसमें ज्यों का त्यों बना रहता है। इसी प्रकार जो कर्म केवल बुद्धि की प्रेरणा से, विना आगा पीछा विचारे किया जाता है, उसका फल अच्छा नहीं होता। जो कर्म सोच विचार

कर, किया जाता है, उसे उत्तम कर्म कहते हैं और वह सुखदायक होता है। जिस घड़े में जल हो और उसमें यदि और जल भर दिया जाय, तो उस घड़े के जल में जैसे वृद्धि होती है, वैसे ही जो कर्म भली भाँति समझ बूझ कर किया जाता है, वह कर्म दूसरों को भले ही उचित जान पड़े अथवा अनुचित, तो भी वह कर्मकर्त्ता के पुण्य को बढ़ाता है। राजा अपने से अधिक बलवान शत्रुओं को जीते, प्रजाजनों का धर्मानुसार पालन करे, अनेक यज्ञ कर अग्निदेव को तृप्त करे। फिर यदि मन में वैराग्य उत्पन्न हो तो मध्यमावस्था में तो नहीं, किन्तु अन्त्यावस्था में अर्थात् बुढ़ापे में वन में जा कर, वानप्रस्थ बन कर रहे।

हे राजन्! जितेन्द्रिय हो कर और धर्मशील बन कर, समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिये और अपने से बड़ों की यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये। सत्य का पालन करने से और सद्व्यवहार करने से, मनुष्य को निश्चय ही सुख मिलता है।

दोसौ बानवे का अध्याय

आत्मोद्धार का उपाय

पराशर जी बोले—न तो कोई किसी का कुछ उपकार करता है और न कोई किसी को कुछ दे ही देता है, प्राणिमात्र जो कुछ करते हैं, वह सब अपने लिये ही करते हैं। अपने माता पिता और सगे भाई के प्रति जो भक्ति और स्नेह नहीं रखते और उन्हें भी जब लोग त्याग देते हैं, तब औरों का तो पूछना ही क्या है? ब्राह्मण द्वारा दिया हुआ दान और ब्राह्मण को दिया हुआ दान, दोनों ही समान पुण्य फलप्रद हैं। दान देना तथा दान लेना—इन दोनों में दान लेने की अपेक्षा दान देना श्रेष्ठ है। जो धन न्यायोपार्जित हो या न्यायोपाय से बढ़ाया

गया हो, उस धन को धर्मकार्यों के लिये सेंत कर रखे, यह धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है। धर्माचरणी पुरुष को धर्म करने के लिये क्रूर उपायों से धन संग्रह न करना चाहिये; किन्तु शक्त्यानुसार समस्त कार्य करने चाहिये। जो पुरुष पूर्ण श्रद्धा से, ठंडा या गर्म जल किसी प्यासे को पिलाता है, उसे इसका वही फल मिलता है, जो किसी भूखे को भोजन कराने से मिलता है। महात्मा रन्तिदेव ने फलों, पत्तों और कन्द से मुनियों का सत्कार कर, जगत् में इष्ट गति पायी थी। राजा शिवि के पुत्र शैव्य ने भी फलों और पत्तों से निज परिचारकों सहित भगवान सूर्य को सन्तुष्ट कर, परमपद प्राप्त किया था। समस्त पुरुष जन्मते ही, अतिथि, सेवक आदि पोष्यवर्ग के और अपने माता पिता तथा आत्मा के ऋणी हो कर, जन्म लेते हैं। अतः इन ऋणों से उऋण होने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। द्विज, वेदाध्ययन कर, ऋषियों के ऋण से श्राद्धादि कर्मों द्वारा पितरों के ऋण से और अतिथि सत्कार कर, उऋण हो जाता है। वेदादि शास्त्रों के श्रवण और मनन करने से, पञ्चमहायज्ञ करने के बाद बचे हुए अन्न को खाने से, अपने शरीर की रक्षा करने से, मनुष्य ऋण से उऋण होता है। पुत्रादि पोष्यवर्ग का जन्म से ले कर जातकर्म संस्कार और पालन पोषण कर के मनुष्य को पोष्यवर्ग के ऋण से उऋण हो जाना उचित है। यद्यपि मुनिजनों के पास धन के नाम से एक फूटी कौड़ी न थी, तथापि ध्यान धारणा करते करते वे सिद्ध हो गये थे। उन लोगों ने ध्यान धारणा रूपी द्रव्य से मन के आत्मा रूपी यज्ञ में हवन कर, परम सिद्धि प्राप्त की थी।

हे राजन्! ऋषि ऋचीक के पुत्र यज्ञभाग लेने वाले देवगण की ऋचाओं से स्तुति कर, (अगले जन्म में) विश्वामित्र के पुत्र हो उत्पन्न हुए थे। उमादेवी का स्तव कर आज वे ही आकाश में चमक रहे हैं। असित, देवल, नारद, पर्वत, कक्षीवान्, जमदग्निनन्दन परशुराम, आत्मज्ञानी ताण्ड्य, वसिष्ठ, जमदग्नि, विश्वामित्र, अत्रि, भरद्वाज,

हरिश्मश्रु, कुण्डधार, श्रुतश्रवा ने मन को सावधान कर, ऋचाओं से विष्णु की स्तुति कर, विष्णु से सिद्धि पायी थी। पापीजन भी भक्ति पूर्वक विष्णु का आराधन कर, विष्णु भगवान की सन्निधि में पहुँच गये हैं। किसी मनुष्य को भी पापकर्म कर के इस लोक में सुख पाने का भरोसा न रखना चाहिये। न्यायोचित प्राप्त धन ही शुद्ध धन माना गया है। वह धन कुत्सित है जो अधर्माचरण से मिला हो। क्योंकि धर्म सनातन है। धन के लालच में पड़ धर्म को न त्यागना चाहिये।

हे राजन्! सब वेदों का निवास तीन प्रकार के अग्नियों में अर्थात् दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीय अग्नि में है। अतएव अग्निहोत्री को धर्मात्मा और पुण्यकर्म करने वाला समझना चाहिये। जिसकी क्रियाएँ कभी नष्ट नहीं होती हैं, वही अग्निहोत्री कहलाता है। अग्निहोत्री हो कर भी धर्मक्रियाएँ न करने की अपेक्षा तो अग्निहोत्र न करना ही अच्छा है। अग्निहोत्र के अग्नि की, माता की, पिता की और आचार्य की विनम्र भाव से सेवा करनी चाहिये। जो पुरुष अभिमान को छोड़, बड़ों की सेवा करता है, जो विद्वान् कामनारहित हो, समस्त प्राणियों की ओर प्रीतिपूर्वक देखता है, जो निरर्थक परिश्रम नहीं करता, जो इन्द्रियों को वश में रखता है और जो हिंसा नहीं करता, इस जगत में उसके प्रति बड़े बड़े श्रेष्ठ पुरुष सन्मान प्रदर्शित करते हैं।

दोसौ तिरानवें का अध्याय

चातुर्वर्ण्य-धर्म-निरूपण

पराशर ने कहा—हे राजा जनक! अन्तिम एवं हीनवर्ण शूद्र जाति के लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के लोगों की सेवा कर के, अपना निर्वाह करना चाहिये। क्योंकि भक्ति और श्रद्धापूर्वक की

हुई सेवा शूद्र को धर्मनिष्ठ बनाने वाली है। शूद्रों की पैतृक आजीविका कोई भी निर्दिष्ट नहीं है। शूद्र के लिये सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई धर्मकर्म नहीं है। उसे तो सेवा ही करनी चाहिये। मेरे मतानुसार तो धर्मनिष्ठ सत्पुरुषों के साथ शूद्र का सेवक रूप से रहना सर्वथा अच्छा है; किन्तु वह असत्पुरुषों की सेवा न करे। उदयाचल पर स्थित मणियाँ, धातुएँ, सूर्य के सामीप्य से चमका करती हैं। इसी प्रकार सत्पुरुषों के संग से हीन वर्ण का आदमी भी प्रकाशित होता है। सफेद कपड़े पर जैसा चाहें वैसा रंग चढ़ाया जा सकता है। यही परिस्थिति शूद्र वर्ण की भी है। मनुष्यों को सद्‌गुणों का अनुरागी होना चाहिये। उसे दोषों की ओर तो देखना भी न चाहिये। क्योंकि मनुष्य के जीवन का इस संसार में ठीक ठौर ही क्या है? जो "विचक्षण पुरुष, सुख दुःख में समान भाव से शुभ-कर्म-निरत बना रहता है, वही शास्त्र के तत्त्व को जानता है। यदि किसी पापकर्म के करने से बड़ा अच्छा फल मिलने की सम्भावना हो तो भी चतुर लोग उस कर्म को नहीं करते। क्योंकि इस संसार में पुण्यशून्य कर्म हितकर नहीं माना जाता। जो राजा अन्य राजा की गौएँ लूट कर, उन्हें दान करता है, वह राजा प्रजारक्षक नहीं माना जाता और उसका यह गोदान उसे नाम मात्र का गोदान कर्त्ता बनाता है। असल में तो ऐसा राजा चोर कहलाता है। भगवान् स्वयम्भू ने सृष्टि के आरम्भ में, लोकसत्कृत धाता को बनाया था। उसी धाता ने लोकों की रक्षा करने के लिये पर्जन्य नामक एक पुत्र उत्पन्न किया। वैश्य उसीकी पूजा कर के खेती बारी करें और पशुओं की संख्या बढ़ावें। राजा को प्रजा का पालन करना चाहिये और ब्राह्मण केवल उपभोग करें। शूद्र को दम्भ रहित और शठता त्याग कर और क्रोध को छोड़ कर, यज्ञ के पात्रों को एकत्र करना चाहिये। वह यज्ञवेदी तथा यज्ञमण्डप को झाड़ बुहार कर साफ रखें। प्रत्येक वर्ण के लिये निर्दिष्ट किये हुए कर्म कभी अनिष्टकर नहीं होते। धर्म का नाश न

होने से प्रजा सुखी रहती है। सुखी प्रजा हव्य द्वारा देवताओं को तृप्त करती है। अतः स्वर्ग में जाने पर उसे भी सुख मिलता है। जो राजा अपनी प्रजा की धर्मपूर्वक रक्षा करता है, उसका इस संसार में बड़ा आदर होता है। जो वैश्य धन संग्रह में रत रहता है, वह सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। जो शूद्र, जितेन्द्रिय हो, तीनों वर्णों की सेवा करता है, वह उत्तम समझा जाता है; किन्तु जो ब्राह्मण, ब्राह्मणोचित कर्म नहीं करता, वह धर्मभ्रष्ट समझा जाता है। अन्यायोपार्जित विपुल धन की अपेक्षा परिश्रम पूर्वक न्यायोपार्जित बीस कौड़ियों का दान भी महाफलप्रद है। जो राजा ब्राह्मणों का सत्कार कर श्रद्धापूर्वक जितना दान करता है, उसे उतना ही पुण्यफल मिलता है। दानपात्र के निकट जा कर और उसे सन्तुष्ट करने के लिये जो दान दिया जाता है, वह दान सब दानों से बढ़ कर माना गया है। किन्तु याचना करने पर दिया हुआ दान, मध्यम श्रेणी का दान कहलाता है और जो दानयाचक का अपमान कर के या अश्रद्धा पूर्वक दिया जाता है; वह सत्यभाषी मुनियों द्वारा अधम दान बतलाया गया है। इस भवसागर के पार होने के लिये प्रत्येक मनुष्य को उद्योग करना चाहिये। साथ ही गृहरूपी पाश से छूटने के लिये यत्न करना चाहिये। ब्राह्मण की शोभा जितेन्द्रियपने से है। क्षत्रिय की शोभा विजय से है। वैश्य की शोभा धन से है और शूद्र की शोभा तीनों वर्णों की सेवा करने से है।

दोसौ चौरानवे का अध्याय

वृत्तियाँ

पराशर ने कहा—हे जनक! ब्राह्मण को दान से, क्षत्रिय को विजय से, वैश्य को वर्णोचित खेतीबारी आदि कर्मों से और शूद्र को सेवा

कर के प्राप्त थोड़ा सा भी धन अच्छा माना गया है! उस धन से जो कर्म किया जाता है, वह महाफलप्रद होता है। तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करने का अधिकार शूद्रों को सदा से प्राप्त है। ब्राह्मण आजीविका के अभाव में यदि क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति से अपना निर्वाह करे तो वह पतित नहीं माना जाता, किन्तु ब्राह्मण शूद्रवृत्ति धारण करने से पतित हो जाता है। यदि शूद्र सेवा द्वारा अपना निर्वाह न कर सकता हो तो उसे व्यवसाय, पशुपालन, चित्रकला, शिल्पकला आदि से अपनी आजीविका का प्रबन्ध कर लेना चाहिये। ऐसा करने से वह दोष का भागी नहीं होता। अपना निर्वाह करने के लिये मनुष्य को कभी नाटक के रङ्ग-मञ्च पर स्त्री बन कर न आना चाहिये। महीन वस्त्र पहन और चमड़े की पेटी आदि बाँध, राजा अथवा मंत्री की नक़ल कभी न करनी चाहिये। मद्य या माँस बेच कर, कभी आजीविका न चलावे। लोहे और चमड़े का व्यापार भी कभी न करे। सुनते हैं, जिस मनुष्य के छः काम पुस्तैनी होते चले आते हैं और यदि वह इन्हें त्याग दे तो उसे ऐसा करने से बड़ा पुण्य होता है। धन के गर्व में भर यदि मनुष्य पापकर्म करने लगे तो इतर जनों को उसका अनुकरण न करना चाहिये। पुराणों में लिखा है कि, पूर्वकाल में कोई बिरला ही जन पापकर्म करता था। अधिकतर लोग जितेन्द्रिय, धर्मपरायण होते थे और नीति के साथ चलते थे। अनीति और पाप करने वाले तत्कालीन लोग केवल भर्त्सना कर के छोड़ दिये जाते थे। उन लोगों को अन्य प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता था। उस ज़माने के लोग धर्म ही को प्रशंसनीय समझते थे। अतः वे जो कुछ करते थे सो सब धर्मानुकूल ही होता था। वे बड़े सद्गुणी थे।

हे वत्स! उनका वह आचरण असुरों से न देख गया। उन्होंने लोगों के शरीरों में क्रोधादि के रूप में प्रवेश किया। तब प्रजा में धर्मनाशकारी अहंकार की उत्पत्ति हुई। अहङ्कार के उत्पन्न होते ही उनमें क्रोध का आविर्भाव हुआ। क्रोधी लोग विनय और शील से रहित हो गये।

विनय और शील के नष्ट होने से उनमें मोह उत्पन्न हुआ। जब समस्त प्रजा मोहित हो गयी, तब लोगों को पूर्ववत् ज्ञान नहीं रह गया। अतः वे लोग सुख पाने की आशा से एक दूसरे को सताने लगे। तब ऐसी उद्दण्ड प्रजा के लिये भर्त्सना का दण्ड यथेष्ट सिद्ध न हुआ। प्रजाजन ब्राह्मणों और देवताओं का अपमान कर, पापपरायण हो गये। तब देवता लोग बहुरूपधारी शिव जी के पास गये। देवताओं ने जब उनकी विनती की; तब शिव ने एक चमचमाता बाण मार कर, आकाशचारी काम, क्रोध तथा लोभ नाम वाले तीनों असुरों को उनके पुरों सहित भूमि पर गिरा दिया। इन असुरों का स्वामी था महामोह, जो महाभयङ्कर था! वह देवताओं को भी डराया धमकाया करता था। उसे भी त्रिशूलधारी शिव ने मार डाला। तब मनुष्यों को पुनः पूर्ववत् वेदों और शास्त्रों का ज्ञान हो गया। तब वसिष्ठादि प्राचीन कालीन महर्षियों ने पुनः इन्द्र को स्वर्ग के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया। तब इन्द्र लोकशिक्षा के काम में लगे। सप्तर्षियों के बाद, विपृथु नामक राजा का राज्य हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य राजा भी भिन्न भिन्न भूखण्डों में माण्डलिक राजा बन राज्य करने लगे। किन्तु ऐसे भी तत्कालीन कुछ मनुष्य थे, जिनके हृदयों से आसुरी भाव नहीं निकल पाया था। अतः आसुरी भाव के परम्परा सम्बन्ध से भयङ्कर पराक्रमी राजे भी आसुरी कर्म करने लगे। जो लोग महामूर्ख हैं, वे अब भी आसुरी कर्म किये ही चले जाते हैं।

अतः हे राजन्! मैं शास्त्रानुसार भली भाँति विचार कर, तुमसे कहता हूँ कि, हिंसात्मक कर्म मिथ्या हैं, अतः वे त्याज्य हैं। मनुष्य को उचित है कि, वह आसुरी भाव को निकाल कर आत्मज्ञान सम्पादन करे। विलक्षण पुरुष को अन्याय से धनसंग्रह न करना चाहिये। क्योंकि ऐसे धन से किसी का कल्याण नहीं हो सकता। हे राजन्! तुम तो क्षत्रिय बनो और इन्द्रियों को अपने वश में करो, बन्धु बान्धवों से प्रीति करो और अपनी प्रजा, सेवक और पुत्रों का धर्मा-

नुसार पालन करो। जीव को सहस्रों जन्म लेने पड़ते हैं। हरेक जन्म में उसे स्नेहियों से सुख और शत्रुओं से दुःख प्राप्त होता है। अतः तुम गुणवान् बनो, सदोष नहीं। दुष्टजन गुणहीन तो होता है, किन्तु अपने में गुणों का होना सुन, उसे भी आनन्द प्राप्त होता है। सो गुणों का माहात्म्य ही ऐसा है। हे महाराज! मनुष्यों में जैसे धर्म तथा अधर्म आदि सद्गुण और दुर्गुण रहते हैं, वैसे अन्य प्राणियों में नहीं। मनुष्य को अन्न आदि की आवश्यकता हो अथवा न हो, उसे तो धर्मात्मा होना ही चाहिये। उसे आत्मवत् समस्त जगत को समझना चाहिये। उसे किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये। जब मनुष्य के अहङ्कार और वासनाएं अलग हो जाती हैं, तब उसका कल्याण होता है अथवा उसको मोक्ष प्राप्त होता है।

दोसौ पंचानवे का अध्याय

तपस्या

पराशर जी ने कहा—हे जनक! यह तो हुई गृहस्थाश्रमियों के लिये विधि। अब मैं तुमको गृहस्थाश्रमियों के लिये धर्म तथा तप की विधि बतलाता हूँ; सुनो। हे नरश्रेष्ठ! यदि देखा जाय तो रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से गृहस्थ की प्रायः नश्वर पदार्थों पर ममता बढ़ जाती है। गृहस्थ को क्षेत्र, धन, स्त्री, पुत्र, नौकर चाकरों के साथ रहना पड़ता है। अतः उसका ध्यान सदा उन्हींकी ओर बना रहता है। उसको इन पदार्थों की अनित्यता नहीं सूझ पड़ती। वह तो इनको नित्य समझा करता है। आत्मोन्नति की जगह उसमें रागद्वेष होने लगते हैं। जब मनुष्य रागी, द्वेषी हो जाता है और धनलोलुपता-वश उसे रात दिन धन प्राप्त करने के लिये परिश्रम करना पड़ता है; तब

मोहजन्य रति उसे घेरती है। तब वह अपने को भोगी और कृतार्थ मानता हैं और विषयसुख से बढ़ कर, अन्य कोई लाभ उसे नहीं जचता। मनुष्य रतिजन्य सुख मिलने पर, मनुष्य नौकर चाकरों की संख्या बढ़ाता है और उनका भरण पोषण करने को व्यापार द्वारा धन की वृद्धि करता है। उसे आत्मीय जनों के स्नेहवश, जान बूझ कर, धन प्राप्ति के लिये अनुचित कर्म करने पड़ते हैं और जब वह धन नष्ट हो जाता है, तब वह उसके लिये शोक करता है। एक बार सन्मान प्राप्त कर, उस सम्मान को बनाये रखने के लिये उसे प्रयत्न करना पड़ता है। वह विविध प्रकार के भोगों को भोगने के लिये वैभवों का संग्रह करता है, किन्तु उनसे पराजित हो, वह अन्त में विनष्ट हो जाता है। जो लोग कर्मफल से सम्बन्ध नहीं रखते, वे ब्रह्मवादी पुरुष, निषिद्ध, काम्य कर्मों का त्याग कर और परोपकार-परायण हो, धर्मवर्द्धक कार्य किया करते हैं। इससे उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है।

किन्तु हे राजन्! साँसारिक जन तो धन नष्ट होने पर, स्नेह में फसने पर और रोगों से पीड़ित होने पर सदा सन्तप्त ही रहा करते हैं। सन्तप्त होने पर वह आत्मा का स्वरूप जानने के लिये प्रयत्न करता है और शास्त्रों का तत्व जान लेना चाहता है। शास्त्र-तत्व जान लेने पर वह समझता है कि, तपस्या श्रेयस्कर है। हे राजन्! सारासार वस्तु का विचार करने वाले पुरुष जगत् में विरले ही होते हैं। जब स्त्री, पुत्र आदि कोई आत्मीयजन मर जाता है और मन में शोक उत्पन्न होता है, तब उसे तप करने की सूझती है। हे तात! तप करने का शूद्र तक को अधिकार है। तप द्वारा पुरुष अपनी इन्द्रियों को जीत लेता है। अतः तप स्वर्ग का मार्ग प्रदर्शक है। पूर्वकाल में प्रजापति ने परब्रह्म-परायण हो कर समय समय पर अनेक व्रत और तप कर के, प्रजा उत्पन्न की थी। आदित्य वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, विश्वेदेवता, साध्य, पितर,

पवन, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध तथा अन्य स्वर्गवासियों ने अपने तप से सिद्धि पायी है। प्रथम ब्रह्मा जी ने सृष्टि के आरम्भ में तप कर के ही ब्राह्मणों की रचना की थी। वे ब्राह्मण निज धर्मपरायण रहने से इस धराधाम पर ही नहीं, किन्तु स्वर्ग में भी अपनी इच्छा के अनुसार करते थे। इन लोगों को भी यह सिद्धि तपस्या द्वारा ही मिली थी। इस मर्त्यलोक में बड़े बड़े राजघरानों और कुलीनों के घरों में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, सो पूर्व-जन्म-कृत तपोबल ही से होते हैं। रेशमी वस्त्र, बहुमूल्य भूषण, वाहन, आसन आदि वैभव का मिलना न मिलना—पूर्व-जन्म-कृत तपोबल पर निर्भर है। मनोनुकूल सहस्रों सुन्दरी स्त्रियों की प्राप्ति, उत्तम भवन में निवास, यह सब पूर्व-जन्म-कृत तपस्या का फल है। बढ़िया सेज, विविध प्रकार के स्वादिष्ट भोजन एवं अन्य समस्त मनोवाञ्छित पदार्थ तपोबल ही से मिलते हैं। त्रिलोकी में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तपोबल से प्राप्त न हो सकती हो। जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे वैराग्य ज्ञान भी तपोबल ही से पाते हैं। मनुष्य चाहे दुःखी हो चाहे सुखी, उसे तो लोभ त्याग कर और बुद्धि लगा कर शास्त्रज्ञान प्राप्त करना चाहिये। असन्तोष दुःखप्रद है और लोभ इन्द्रिय-सम्भ्रम उत्पन्न करने वाला है। सम्भ्रम होने तथा अभ्यास न करने से जैसे विद्या विस्मृत हो जाती है, वैसे ही लोभी की प्रज्ञा भी नष्ट हो जाती है। जब मनुष्य की प्रज्ञा नष्ट हो जाती है, तब उसमें सदसद्-विवेक-बुद्धि नहीं रहती। अतः पुरुष को सुख के नष्ट होने पर, उग्र तप करना चाहिये। इस जगत में जो अपने को प्रिय लगता है उसे सुख कहते हैं; जिससे द्वेष होता है, वह दुःख कहलाता है। तप करने से सुख होता है और तप न करने से दुःख होता है। यह तुम समझ रखो। जो पुरुष पापकर्म त्याग कर, निष्काम तप करता है, उसका सदा कल्याण होता है। वही विषयों का उपभोग करता है तथा कीर्ति पाता है। किन्तु जो पुरुष फल की इच्छा से तप करता है, उसका अपमान होता

है और उसे विविध प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। उसे तप का उत्तम फल न मिल कर विषयों के फल मिलते हैं। जिस पुरुष को धर्म, तप और दान करने की इच्छा होती है, वह पुरुष पापकर्म कर के नरकगामी होता है। किन्तु हे नरोत्तम ! जो मनुष्य सुख दुःख—दोनों अवस्थाओं में अपने सदाचार से भ्रष्ट नहीं होता, वही शास्त्रवेत्ता है। जितना समय धनुष से छूटे हुए बाण को भूमि पर गिरने में लगता है, उतना ही समय, जिह्वा, नेत्र, नासिका, कर्ण और त्वक् इन्द्रिय का सुख भोगने में लगता है। किन्तु उस क्षणभङ्गुर सुख के नष्ट होते ही मनुष्य तीव्र वेदना से तड़पने लगता है। अज्ञानी जन विषयासक्त होने के कारण सर्वोत्तम मोक्ष सुख को नहीं सराह सकते। विषय-तृप्ति तीव्र वेदना उत्पन्न करने वाली है। इसीसे विवेकीजन मोक्षफल प्राप्ति के लिये शमदमादि गुणों का सेवन किया करते हैं। धर्माचारी धीर पुरुष को अर्थ अथवा काम कभी सता नहीं सकते। प्रयत्न किये बिना जो विषय अनायास प्राप्त हो, उस विषय का गृहस्थ को सेवन करना चाहिये। किन्तु निज धर्म में सदा लगा रहे। मेरा मत तो यही है। कुलीन, शास्त्र के अर्थ के ज्ञाता, सम्माननीय पुरुष जिस प्रकार धर्माचरण करते हैं, उस प्रकार मूर्ख और पापी जन नहीं करते। इस संसार में जो पुरुष यज्ञ याज्ञादि का ढोंग रच कर करता है, उसका फल उसे कुछ भी नहीं मिलता। चतुर और धार्मिक पुरुष के लिये तो एक तप ही अविनाशी है। यदि गृहस्थ को कामादि में श्रद्धा हो, तब तो वह उसको श्रद्धापूर्वक करे। उसे अपने आश्रमानुसार वर्त्ताव कर, यज्ञ, याग तथा अन्य धार्मिक कर्म कुशलता से करने चाहिये। जैसे बड़े बड़े नद और नदियाँ समुद्र में जा कर विश्राम करती हैं, वैसे ही ब्रह्मचारी आदि सब आश्रम के लोगों की जीविका का आधार गृहस्थाश्रम ही है। इसलिये गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ आश्रम माना गया है।

दोसौ छियानवे का अध्याय

वर्णभेद

राजा जनक ने पूछा—महर्षि पराशर ! आप वरिवदाम्वर हैं। इसी लिये मैं आपसे पूछता हूँ कि, जातिभेद का कारण क्या है ? श्रुति कहती है कि, पुरुष पुत्र रूप से स्वयं उत्पन्न होता है। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म से सब से प्रथम ब्राह्मण उत्पन्न हुए। अतः इस धराधाम पर रहने वाले समस्त जन ब्राह्मण ही होने चाहिये थे। फिर क्षत्रियादि अन्य वर्णों के लोगों की सृष्टि का कारण क्या है ?

पराशर जी ने कहा—वह तुम्हारा कहना ठीक है कि, जो उत्पन्न होता है, वह कर्त्ता से भिन्न नहीं होता, किन्तु तप के तारतम्य से वह निम्न जाति वाला होता है। जातिभेद का कारण यही है। यदि बीज और क्षेत्र उत्तम हों, तो उनमें उत्तम प्रजा उत्पन्न होती हैं, किन्तु क्षेत्र और बीज में यदि एक भी एक दूसरे से हेटा हुआ तो उनसे उत्पन्न हुई प्रजा हीनवर्ण की होगी ही। धर्मज्ञों का कथन है कि, सृष्टि के आरम्भ में बहुत लोग प्रजापति के मुख से, बहुत से बाहुओं से, बहुत से जंघाओं से और बहुत से चरणों से उत्पन्न हुए थे। हे तात ! प्रजापति के मुख से ब्राह्मणों, भुजाओं से क्षत्रियों, जंघाओं से वैश्यों और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। हे महात्मा ! चारों वर्णों की उत्पत्ति का यही (वैदिक) निर्णय है। इन चार के अतिरिक्त जो जातियाँ हैं, वे वर्णसङ्कर कह लाती हैं। क्षत्रियों से अतिरथ, अम्बष्ठ, उग्र वैदेहक, श्वपाक, पुल्कस, स्तेन, निषाद, सूत, मागध, अयोग, करण, व्रात्य, चाण्डाल आदि सङ्कर जातियाँ इस लिये उत्पन्न हुईं कि चारों वर्णों के स्त्री पुरुषों का अनमेल समागम हुआ।

जनक जी ने पूछा—इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति एक ब्रह्म से हुई है। तिस पर भी इनमें बहुगोत्र होने का कारण क्या है ? हे महर्षे ! यह तो

आप जानते ही हैं कि, इस लोक में अनेक गोत्र प्रसिद्ध हैं। हे ऋषिराज! मुनियों ने निज जाति में और विजाति में जो पुत्र उत्पन्न किये थे, उनमें जो वर्णसङ्कर थे, वे पुनः अपनी जाति में क्यों कर प्रविष्ट हो गये आप मुझे यह बतलावें।

नोट—"विजाति" या "वियोनि" से अभिप्राय पशु पक्षी से है। कक्षीवान् ने शूद्रा से सन्तानोत्पत्ति की थी।

पराशर जी बोले—हे राजन्! तब से पवित्र आत्मा वाले महात्मा यदि अधम योनि में भी जन्मे तो वे अधम नहीं माने जाते। तपस्वी ऋषि जहाँ तहाँ सन्तानोत्पत्ति कर के अपने तपोबल से उन सन्तानों को (पवित्र) ऋषिसन्तान बना लेते थे। मेरे पितामह वसिष्ठ, ऋष्य-शृङ्ग, कश्यप, वेद, तायड्य, कृप, काक्षीवान, कमठ, यवक्रीत, वाग्विदा-म्बर द्रोण, आयु, मतङ्ग, दत्त, द्रुमद और मात्स्य। ये सब तपोबल से ही ऋषिसन्तान कहलाये थे। इन्द्रियों को दमन कर, तपस्या कर तथा वेदाध्ययन कर ये सब प्रतिष्ठा के पात्र बने थे।

हे राजन्! सृष्टि के आरम्भ में केवल चार गोत्र थे। यथा अङ्गिरा, काश्यप, वसिष्ठ और भृगु। इन चार गोत्रों से अन्य अनेक गोत्र निकले। ये सब कर्म से उत्पन्न हुए हैं। महात्मा ऋषियों ने इन गोत्रों की उत्पत्ति की थी। फिर कर्मानुसार इन गोत्रों के नाम रखे गये। धर्मनिष्ठ सत्पुरुष इन गोत्रों को जीवित रखने के लिये, अपनी विवाहादि क्रियाएँ करते समय गोत्रों का पूरा ध्यान रखते हैं।

जनक ने कहा—अच्छा तब आप मुझे भिन्न भिन्न वर्णों के विशेष और सामान्य कर्त्तव्य कर्म बतलावें।

पराशर जी बोले—हे राजन्! दान लेना, यज्ञ कराना, वेद पढ़ाना-ब्राह्मण के ये मुख्य कर्त्तव्य हैं। दूसरे की रक्षा करना, क्षत्रिय का प्रधान कर्त्तव्य है। खेती करना, पशुओं को पालना और वाणिज्य व्यवसाय करना—वैश्य के विशेष कर्त्तव्य है और उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना

शूद्र का मुख्य कर्त्तव्य है। हे राजन् ! ये तो हुए चारों वर्णों के विशेष कर्त्तव्य; अब मैं तुम्हें इनके सामान्य कर्त्तव्यों का वर्णन सुनाता हूँ। सुनो, हे राजन् ! दया, अहिंसा, सतर्कता, संविभाग (मिल बाँट कर खाना) मृतपूर्वजों का श्राद्ध, अतिथि-सत्कार, सत्यभाषण, क्रोध का त्याग और विवाहिता स्त्री से सन्तुष्ट रहना, पवित्रता, ईर्ष्याराहित्य, आत्मज्ञान और तितिक्षा—ये तेरहों, चारो वर्णों के सामान्य कर्त्तव्य हैं। हे राजन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की द्विजाति संज्ञा है। द्विजाति मात्र के लिये सामान्य और विशेष कर्त्तव्यों की व्यवस्था है। इन तीनो वर्णों में से किसी भी वर्ण का पुरुष यदि कोई शास्त्रनिषिद्ध कर्म करता है तो वह पतित हो जाता है। प्रत्येक वर्ण के जो पुरुष सत्पुरुषों का आश्रय ग्रहण कर, वर्णोचित कर्त्तव्यों को करते हैं; उनकी उत्तरोत्तर उन्नति होती है।

[नोट—उत्तरोत्तर उन्नति से यह अभिप्राय नहीं है कि, घसिटुआ कोल आज गंगा जी के किनारे नाक दबा सन्ध्योपासन करे तो वह अपने नाम के पीछे शर्मा लगा, 'नमस्ते महाशय'! 'नमस्ते महाशय'! कह ब्राह्मण हो जाय। उत्तरोत्तर उन्नति से तात्पर्य यह है कि वह अगले अगले जन्मों में उन्नत वर्ण में जन्म ग्रहण करता है।]

हे राजन् ! शूद्रों के लिये किसी भी संस्कार का विधान नहीं है। शूद्र को किसी भी शास्त्रवर्जित निषिद्ध कर्मों के करने से पाप नहीं लगता। वेदोक्त कर्मकाण्ड के शूद्र अधिकारी नहीं है। किन्तु ऊपर वर्णित तेरह सामान्य कर्म शूद्र भी कर सकता है। हे राजन् ! जो वेदज्ञ ब्राह्मण हैं, वे धर्मात्मा शूद्र में भेदभाव नहीं मानते हैं। मैं तो शूद्र को सब जगत के कारण रूप और सर्वव्यापी विष्णु का रूप समझता हूँ। यदि शूद्र अपना उद्धार करना चाहे तो उसे शम दमादि का अभ्यास कर सत्पुरुषोचित आचरण का पालन करना चाहिये। शूद्र वेदमंत्रों का तो उच्चारण न करे, किन्तु आत्मोन्नतिकारिणी समस्त क्रियाएँ करे।

यदि साधारण जाति का पुरुष भी सदाचारी है तो वह भी सुखी

रहता है और मरने के बाद इस लोक की तरह परलोक में भी वह सुखी रहता है।

जनक जी ने पूछा—हे महर्षे! मनुष्य क्या अपने कर्मों से अथवा अपनी जाति से दोषभागी समझा जाता है? आप मेरे इस सन्देह को दूर करें।

पराशर जी बोले—हे राजन्! कर्म और जाति दोनों ही दोषप्रद हैं; किन्तु उसकी विशेष मीमाँसा तुम मुझसे सुनो। जन्मदूषित चाण्डाल आदि यदि अपनी जाति के कर्त्तव्य के विरुद्ध कोई कर्म नहीं करता; तो वह जन्मदोषी और कर्मदोषी नहीं है। किन्तु उत्तम वर्ण में उत्पन्न हुआ पुरुष यदि गर्हित कर्म करता है तो वह निश्चय ही कर्मदोषी है। पापकर्म तो अधमाधम जाति से भी गया बीता है।

जनक ने पूछा—हे ब्रह्मन्! अब आप मुझे यह बतलावें, कि इस संसार में वे कौन से कर्म हैं जो धर्ममय माने गये हैं और जिनके करते रहने पर भी किसी प्राणी की हिंसा नहीं होती।

पराशर ने कहा—राजन्! अपने प्रश्न का उत्तर सुनो। जो अहिंसक कर्म मनुष्य की सदा रक्षा करते हैं वे कर्म अब मैं तुम्हें सुनाता हूँ। जो द्विज अग्निहोत्र को अर्थात् गृहस्थाश्रम को त्याग संन्यासी हो, उदासीन वृत्ति धारण कर लेते हैं। वे साँसारिक समस्त तापों से छूट कर, क्रमशः योगभूमि को प्राप्त करते हैं।

[नोट—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—योगभूमि हैं।]

योगाभ्यास करने से पुरुष श्रद्धावान्, विनयावनत, जितेन्द्रिय और सूक्ष्म बुद्धि वाला हो जाता है। अतः वह सब कर्मों का त्याग कर, अविनश्वर स्थान में जाता है।

हे राजन्! जब सब वर्णों के पुरुष भलीभाँति धार्मिक कृत्य करते हैं और कोई उग्र कर्म नहीं करते तब मरने बाद वे स्वर्ग में जाते हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है।

दो सौ सत्तानवे का अध्याय

श्रेष्ठमृत्यु

पराशर जी ने कहा—हे राजा जनक ! पुरुष भले ही अपने पिता, मित्र, गुरु और गुरुपत्नी की सेवा करे, किन्तु यदि उसमें भक्ति और प्रीति नहीं है, तो उसे इस सेवा का कुछ भी फल नहीं मिलता। पिता मनुष्यों का परम देवता माना जाता है, इतना ही क्यों ! पिता तो माता से भी बढ़ कर माना गया है। समस्त लोगों में ज्ञानलाभ उत्तम लाभ माना गया है। जितेन्द्रिय पुरुष ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। जो क्षत्रियकुमार रणक्षेत्र में क्षत विक्षत हो, बाणमयी चिता पर भस्म हो जाता है। उसे वे लोक प्राप्त होते हैं, जो देवताओं के लिये भी दुर्लभ हैं। वह सदा हर्षित हो स्वर्ग में रहता है। हे राजन् ! परिश्रान्त, भयभीत, शस्त्रहीन, रणक्षेत्र से पलायित, रथ-घोड़ा-कवच-रहित, निरायुध, रुग्ण, प्राण-याचक, बालक और वृद्ध को न मारना चाहिये, किन्तु जो योद्धा रथ, घोड़ों, कवच, पैदल सैनिकों से अर्थात समर सामग्री से सुसम्पन्न हो और समान बल वाला हो, उस क्षत्रिय-कुमार के साथ लड़ना और उसे परास्त करना उचित है। समान या श्रेष्ठ बल वाले के हाथ से मारा जाना भी उत्तम माना गया है। किन्तु ओछे, कातर और नराधम पुरुष के हाथ से मारा जाना निन्द्य है यह बात तो सब ही जानते हैं।

हे राजन् ! पापकर्म निरत पापी जन के हाथ से अथवा किसी अधम जाति के मनुष्य के हाथ से मारा जाना, पाप-मरण कहलाता है। ऐसे मरण से नरकगामी होना पड़ता है। यह शास्त्र का निर्णीत सिद्धान्त है। हे राजन् ! काल के गाल में गये हुए को कोई भी नहीं बचा सकता और जिसकी आयु नहीं खुटानी उसे कोई मार भी नहीं सकता।

यदि गुरुजन सामान्य जनों की तरह कोई काम करते हों या किसी का अहित करते हों तो उन्हें रोके। दूसरे के प्राण ले अपने प्राणों की रक्षा करने की इच्छा कभी न करनी चाहिये। हे तात! परमात्मभाव से परमानन्द प्राप्ति की इच्छा रखने वाले गृहस्थों को उचित है कि वे पवित्र नदियों के तटों पर अथवा अन्य तीर्थस्थलों में रह कर, योगाभ्यास द्वारा शरीर त्याग करें। गृहस्थों के लिये ऐसा मरण श्रेष्ठ माना गया है। आयु समाप्त होने पर यह पञ्चमहाभूतात्मक शरीर अपने अपने तत्वों में लीन हो जाता है। मरण दैवेच्छा से किसी कारण-विशेष-वश होता है। क्योंकि देखा जाता है कि, अनेक लोग तीर्थादि पवित्र स्थानों में हठयोग द्वारा अपना शरीर त्याग दिया करते हैं, किन्तु उन्हें पुनः वैसा ही शरीर धारण करना पड़ता है। यदि वह मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो तो भी उसे भूला भटका पथिक ही बना रहना पड़ता है। भूले भटके पथिकों को एक देह त्याग दूसरी देह वैसे ही धारण करनी पड़ती है; जैसे कोई पुरुष एक घर छोड़ दूसरे घर में जा रहने लगता है। यातना शरीर की प्राप्ति हठयोग से प्राण त्यागने का कारण है। अतएव जो शरीरधारी हठयोग द्वारा शरीर त्याग करते हैं, उन्हें ऐसा पाञ्चभौतिक शरीर मिलता है, जिससे यदि वे चाहें तो उन्हें मोक्ष मिल सकता है। अध्यात्मवादी विद्वान्, चाँम से ढके इस शरीर को शिरा, स्नायु, अस्थि आदि से युक्त वीभत्स और मल मूत्र, पञ्चभूतात्मक, दस इन्द्रियों से सम्पन्न और वासनामय विषयों का केन्द्र मानते हैं। यद्यपि यह सुन्दर शरीर नहीं होता; तथापि पूर्ववासनानुसार मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। शरीर त्यागते समय देहधारी अचेत हो जाता है। शरीर की समस्त क्रियाएं भी बंद हो जाती है और उसके शरीर में पाँचो तत्व भी पृथक पृथक हो, अपने अपने स्वरूप में लीन हो जाते हैं और यह शरीर मिट्टी में मिल जाता है। आत्महत्या के समान ब्रह्महत्या आदि अनेक ऐसे कर्म हैं, जो अनेक जन्म प्राप्त कराते हैं। ऐसे कर्मों की वासना के अनुसार ही यातना

शरीर के योग्य वासनाओं से भिन्न अन्य जिस जिस विषय की भावना से भावित हो, जीव शरीर त्यागता है, उस उस स्वभाव का दूसरे कर्म करने के लिये उसे जन्म मिलता है। एक बार यातना-शरीर प्राप्त करने के बाद फिर वैसा यातना-शरीर नहीं मिलता।

हे राजन्! जब तक जीव के पाप क्षीण नहीं होते, तब तक वह पूर्ण रूप नहीं पाता। पापफल भोगने के निमित्त ही उस जीव को आकाश में महामेघ की तरह घूमना पड़ता है। हे राजन्! जब उस जीव का पापफल क्षीण हो जाता है, तब वह इन्द्रिय और मन युक्त एवं कर्मजन्य देह पाता है। स्मरण रहे मन से आत्मा और इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है।

हे राजन्! इस जगत के समस्त जीवों में जङ्गम जीव श्रेष्ठ हैं। जङ्गमों में दो पैर वाले जीव श्रेष्ठ हैं। दो पैर वालों में द्विज श्रेष्ठ हैं और द्विजों में बुद्धिमान श्रेष्ठ हैं, बुद्धिमानों में आत्मयोगी और आत्मयोगियों में वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो योग सम्बन्धी ऐश्वर्य से सम्पन्न हो कर भी अभिमानी नहीं है। मनुष्य जैसे ही उत्पन्न होता है वैसे ही मौत उसके पीछे लग लेती है। सत, रज और तम के कारण प्राणी नाशवान फल-प्रद-कर्मों को किया करते हैं। हे राजन्! जो पुण्यात्मा होते हैं, वे उत्तरायण में पवित्र नक्षत्र और मुहूर्त में मरते हैं। धर्मिष्ठ पुरुष किसी जीव को न सता कर और अपने पापों को नष्ट कर तथा शक्त्यानुसार शुभ कर्म कर तथा काल से प्रेरित मृत्यु को पा कर, यह लोक त्यागते हैं। ऐसा मरण उत्तम माना गया है। किन्तु जो मनुष्य विष खा कर, फाँसी लगा कर, जल कर, चोर डाँकू द्वारा मारा जा कर, सर्प, सिंह आदि जीवों से काटा फाड़ा जा कर मरता है, वह अधम गिना जाता है। पुण्यात्मा पुरुष, आधिव्याधियों से सताये जाने पर भी अधम मृत्यु का आलिङ्गन् नहीं करते अर्थात् ऊपर वर्णित उपायों से नहीं मरते। वे लोग कभी किसी अन्य उपाय से भी आत्मघात नहीं करते।

हे राजन् ! उत्तम कोटि के पुण्यात्मा तपस्वी तथा योगियों का जीवात्मा ब्रह्मरन्ध्र भेद कर सूर्यमण्डल में होते हुए ऊर्ध्व लोकों को जाता है। मध्यम मनुष्य का जीवात्मा शरीर के मध्य भाग से अर्थात् नेत्र, मुख और नासिका से निकल मध्यम लोकों में जाता है। किन्तु अधम अधर्मी जीव शरीर के अधो भाग अर्थात् गुदा शिश्न से निकल कर, अधम लोकों में जाता है।

हे राजन् ! इस संसार में पुरुष का एक ही शत्रु है। उसके जोड़ का और शत्रु नहीं है। उस शत्रु का नाम अज्ञान है। मनुष्य अज्ञान से घिर कर, बुरे कर्म करने लगता है। जो पुरुष इस अज्ञान नामक शत्रु को हटाने के लिये श्रुति-स्मृति-प्रोक्त धर्मानुसार, वृद्धों की सेवा कर, ज्ञान सम्पादन करता है, वही इस शत्रु को हरा पाता है। इस अज्ञान नामक शत्रु का नाश करने के लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। अज्ञान का समूलच्छेद करना हो तो उस पर बुद्धि रूपी बाण चलावे। जो मनुष्य पुण्य सम्पादन करना चाहे, उसे परिश्रमपूर्वक और ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर वेदाध्ययन करना चाहिये। वेदाध्ययन पूर्ण कर, उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। फिर सन्तानोत्पत्ति कर और उनके समर्थ होने पर उनके ऊपर घर का प्रबन्ध छोड़, मोक्ष की कामना कर एवं आत्मकल्याणार्थ वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिये। इस आश्रम में रह कर इन्द्रियों को दमन करना चाहिये। हे तात ! शरीर उपभोग करने योग्य न रह कर, यदि असमर्थ हो जाय; तो भी आत्मा को दुखी न करे। चाण्डाल जाति में उत्पन्न मनुष्य का शरीर उत्तम है। मानव योनि में उत्पन्न होना उत्तम कहलाता है। क्योंकि मानव शरीर द्वारा उत्तम कर्म किये जा सकते हैं और उत्तम कर्मों ही से आत्मोद्धार किया जा सकता है। मनुष्य को सदा यह ध्यान में रखना चाहिये कि, वह मानव योनि से भ्रष्ट न होने पावे। अतः उसे वेदोक्त कर्मानुष्ठान करने चाहिये। जो मनुष्य अति दुर्लभ मानुष शरीर पा कर, उस शरीर से शत्रुता करता है—अर्थात्

सत्कर्म नहीं करता और कामासक्त हो जाता है, वह सचमुच कामनाओं से ढक जाता है। जैसे तेल से दीपक की वृद्धि होती है; वैसे ही जो स्नेहमयी दृष्टि से सब को देखता है और विषयों की ओर नहीं निहारता, जो सब प्राणियों के दुःख से दुःखी और उनके सुख से सुखी होता है, जो सब प्राणियों को धीरज बँधा, उन्हें अन्न दे कर, उनसे मधुर वार्त्तालाप कर, उनका सत्कार करता है; वह पुरुष स्वर्ग में भी पूजा जाता है। जो पुरुष सरस्वती, नैमिषारण्य, पुष्कर आदि इस धराधाम के तीर्थों में आ, दान देता है और विषयवासना को त्यागता है. मन को शान्त रखता है और जप तप से शरीर को शुद्ध रखता है; उसे स्वर्ग मिलता है। जो लोग घर में मरें उनका अग्निसंस्कार होना चाहिये। उनके शव को अर्थी पर रख कर श्मशान पर ले जाय। वहाँ स्नान करा कर शव को शुद्ध कर, शास्त्रोक्त विधि से उसका दाहकर्म करे। यह उत्तम विधान है। जो मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार शास्त्रोक्त यज्ञ करता है, शान्तिकर्म, पुष्टिकर्म आदि पुण्यप्रद कर्म करता है और पितरों के उद्देश्य से श्राद्ध कर्म करता है, वह ये सब कर्म अपने आत्मा के कल्याण के लिये ही करता है। धर्मशास्त्र, वेद, वेद के छः अंग (अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष) पुण्य कर्मा पुरुष को कल्याणार्थ ही धर्मोपदेश देते हैं।

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठर! ये सारे धर्मोपदेश, पूर्वकाल में महात्मा पराशर ने राजा जनक को, उनके कल्याण के लिये दिये थे।

दोसौ अट्ठानवे का अध्याय

श्रेय क्या है?

भीष्म जी ने कहा—हे युधिष्ठर! मिथिलापति राजा जनक ने परम धर्मार्थवित् महर्षि पराशर से फिर पूछा—हे महर्षे! श्रेय क्या है?

उत्तम गति कौन सी है? वह कर्म कौन सा है जिसका फल कभी नष्ट नहीं होता? वह कौन सा स्थान है जहाँ पहुँच कर जीवात्मा को लौट कर इस संसार में नहीं आना पड़ता?

पराशर ने कहा—किसी का संग न करना कल्याण का मूल माना जाता है। ज्ञान उत्तम गति मानी जाती है। तप का फल कभी नष्ट नहीं होता। सुपात्र को दिये हुए दान का फल कभी नष्ट नहीं होता। जो मनुष्य अधर्म से मन को हटा धर्म में मन लगाता है और प्राणी मात्र को अभयदान देता है वही मनुष्य सिद्धि पाता है। जो मनुष्य सहस्रों गौएं, सैकड़ों घोड़े दान में देता है और जो किसी प्राणी को अभयदान देता है—इन दोनों को समान पुण्यफल मिलता है अर्थात् ये दोनों ही अभय प्राप्त करते हैं। इनको किसी का डर भय नहीं रह जाता।

जो बुद्धिमान् जन होते हैं वे विषयों में रह कर भी उनसे अलिप्त रहते हैं। किन्तु असत् पुरुष विषयों में आपादमस्तक डूबा रहता है। धर्मिष्ट पुरुष को पाप का स्पर्श तक नहीं होता। जैसे जल में रहने वाले कमलपत्र को जल स्पर्श नहीं कर सकता। जैसे लाख लकड़ी में लिपट जाती है, वैसे ही पाप भी अज्ञानी पुरुष को लिपट जाता है और पापी को पापों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। आत्मज्ञानी, तत्त्ववेत्ता पुण्यात्मा जन कर्मफल से दुःखी नहीं होता। किन्तु जो पुरुष ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विषय में मतवाला हो, पाप पुण्य का विचार नहीं करता, उसे महा भय प्राप्त होता है। जो वीतरागी पुरुष क्रोध को जीत लेता है और आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति पहचान लेता है, वह विषय भोग भोगने पर भी पाप का भागी नहीं होता। जैसे मज़बूत बाँध में रुका हुआ जल बढ़ता रहता है, वैसे ही शास्त्रोक्त मर्यादा में रहने वाला पुरुष, समस्त बंधनों से दूर रह कर, धर्मरूपी बाँध बाँधता है। वह कभी दुःखी नहीं होता। उसके तप की और उसके पुण्य की वृद्धि होती है।

हे राजन्! जैसे शुद्ध सूर्यकान्तमणि सूर्य से तेज ले लेता है, वैसे ही, शुद्ध जीवात्मा भी समाधि द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। जैसे भिन्न भिन्न पुष्पों में बसाये जाने पर तिल भिन्न भिन्न सुवासों को ग्रहण करते हैं, वैसे ही सतोगुण भी साधुपुरुषों का जितना सङ्ग होता है, उतना ही सङ्ग करने वाले में आता है और बढ़ता है। पुरुष जब स्वर्गवासी होना चाहता है, तब पुत्र, पत्नी, सम्पत्ति, श्रेष्ठ पदवियाँ, वाहन और नाना प्रकार की श्रेष्ठ क्रियाओं को त्याग देता है और उसकी बुद्धि भी शब्द आदि विषयों से निवृत्त हो जाती है। किन्तु जिस मनुष्य की बुद्धि विषयों में लिप्त हो जाती है, उसे यह नहीं सूझ पड़ता कि, उसकी भलाई किसमें है।

हे राजन्! जैसे मछली माँस युक्त काँटे को निगल कर, अपनी जान गँवा देती है, वैसे ही पापपरायण पुरुष साँसारिक वासनाओं से युक्त हो, दुःखी होता है। देह और इन्द्रियों के समुदाय की तरह, मनुष्य स्त्री, पुत्र, पशु आदि के समुदाय से भी घिरा रहता है। यद्यपि वे सब पारस्परिक कल्याणप्रद हैं, तथापि वे कदली के सार की तरह निस्सार हैं और वे संसारसागर में वैसे ही डूब जाते हैं, जैसे काठ की नाव समुद्र में। मनुष्य कब धर्माचरण करे—इसका कोई समय निर्दिष्ट नहीं है। साथ ही मृत्यु भी किसी के धर्माचरण की प्रतीक्षा नहीं करती। मनुष्य तो प्रत्येक क्षण मृत्यु के मुख की ओर दौड़ा करता है। अतः धर्म कर्म सदैव करते रहने में ही भलाई है।

अभ्यास होने से जैसे अन्धा आदमी अपने घर में बिना किसी प्रकार की अड़चन के घूमा फिरा करता है, वैसे ही बुद्धिमान् जन भी गुरु प्रदर्शित योगाभ्यास से योगयुक्त हो, ज्ञान द्वारा परम गति प्राप्त करता है। जो जन्मता है वह मरता भी अवश्य ही है। अतः जन्म, मरणाधीन है। अविवेकी जन मोक्षधर्म को नहीं जानता। इसीसे वह जन्म मृत्यु के चक्कर में घूमा करता है। जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक ज्ञानमार्ग से

चलता है, उसे इस लोक और परलोक में सुख मिलता है। विस्तार से वर्णित अग्निहोत्रादि कर्म दुःखदायी हैं और संक्षेप से वर्णित त्यागादि कर्म सुखप्रद है। क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों का फल नाशवान है और आत्मा के लिये हितकर नहीं है। किन्तु त्याग का फल अविनाशी है और आत्मा के लिये हितकर है। इस बात को विद्वान लोग अच्छी तरह जानते हैं। कमल जैसे कीचड़ में लिप्त नहीं होता, वैसे ही पुरुष का आत्मा भी आत्मज्ञान होने पर, आत्मोपाधि रूपी मन को त्याग देता है। मन, आत्मा को योगाभ्यास की ओर प्रेरित करता है, तब आत्मा योगाभ्यास-निरत हो, मन को परमपद में लय करता है। आत्मा जब योगसिद्ध हो जाता है, तब समस्त उपाधियों से शून्य आत्मदर्शन कर पाता है। जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में लिप्त होने ही को अपना धर्म मानता है, वह विषयानुरक्त होने के कारण, सत्य धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। विवेकभ्रष्ट जनों को अधोलोकों में तिर्यक् योनि में उत्पन्न होना पड़ता है, किन्तु विवेकी पुरुष पुण्यकर्म कर, स्वर्गलोक में जाते हैं। जिसने तप द्वारा अपना शरीर पक्का पोढ़ा कर लिया है, वह ब्रह्मलोक के सुखों को भोगता है और उसके पुण्यफल वैसे ही उसके शरीर से नहीं रिसते (टपकते), जैसे पकाये हुए घड़े में भरा जल नहीं रिसता। किन्तु जो पुरुष विषय-भोगी है, वह मोक्ष-भोगी नहीं हो सकता। जैसे जन्मान्ध को मार्ग नहीं सूझता, वैसे ही अज्ञानावृत बुद्धि वाले शिश्नोदर-परायण अज्ञानी पुरुष को आत्मा की मुक्ति का उपाय नहीं सूझ पड़ता। समुद्र पार जा कर व्यापारी जैसे अपने मूलधन के अनुसार धनोपार्जन कर के ले आता है, वैसे ही जीव भी संसारसागर में व्यापार करने को आ कर, अपने कर्म और विज्ञान के अनुसार, उत्तम अधम गति पाता है। सर्प जैसे वायु पी कर रहता है, वैसे ही मृत्यु भी रात दिन जरा के रूप में भ्रमण करती हुई समस्त प्राणियों को खाया करती है। जीव, जन्म के साथ साथ पूर्वजन्मकृत कर्म के संस्कारों को

लाता है। कोई भी प्राणी बिना पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के सुख दुःख नहीं पाता। मनुष्य सोते, जागते, उठते, बैठते, सदा विषयों में प्रवृत्त रहता है। तिस पर भी पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म उसका पीछा नहीं छोड़ते। सागर के उस पार पहुँचा हुआ मनुष्य जैसे फिर तैर कर इस पार आना नहीं चाहता, मल्लाह लोग जैसे लंगर डाल कर रोकी हुई नाव को, जब चाहते, तब लंगर खींच कर उसे समुद्र, नदी अथवा सरोवर में चला देते हैं, वैसे ही बलवान मन योगाभ्यास द्वारा, शरीर-स्थित आत्मा का उद्धार करता है। जैसे समुद्र की ओर जाने वाली, समस्त नदियाँ, समुद्र में लीन हो जाती हैं, वैसे ही मन भी नित्य, योगाभ्यास द्वारा, मूल प्रकृति में लीन हो जाता है। जिस मनुष्य का मन विविध प्रकार के मोहपाश में फँसा हुआ होता है। वह अज्ञानी पुरुष, जल में बनाये बालू के घर की तरह विनष्ट हो जाता है।

जो देहाभिमानी पुरुष, इस शरीर को एक भवन की तरह और बाह्य आभ्यन्तरिक पवित्रा को पवित्र जल की तरह समझता है और ज्ञान-मार्ग पर चलता है उसे इस लोक और परलोक में सुख मिलता है। अग्निहोत्रादि कर्म कष्टसाध्य हैं और सुकर त्यागादि कर्म सुखप्रद हैं। अग्निहोत्रादि का फल नाशवान् है और त्याग का फल मोक्ष अविनाशी है। मित्रवर्ग सङ्कल्प से और सगे सम्बन्धी स्वार्थवश मिलते हैं। भार्या, पुत्र, सेवक आदि पैसे लेने के लिये होते हैं। माता पिता आदि कोई भी परलोक में सहायक नहीं होते। परलोक में तो इस जीव का सहायक एकमात्र दान का फल होता है। प्राणी किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्यमेव भोगता है। माता, पिता, पुत्र, भ्राता, भार्या और मित्र सुवर्ण की मोहर पर बनी हुई छवि के समान हैं। वे तो जीव की एक ही दशा के निदर्शक हैं। इससे अधिक वे उसका हित नहीं कर सकते। प्राणी पूर्वजन्म में जो कुछ भले बुरे कर्म कर चुकता है, उन्हीं कर्मों के फलानुसार उसे अगले जन्म में फल प्राप्त होता है। इसीसे

बुद्धिमान जन को आग्रह पूर्वक शुभ कर्म करने चाहिये। जो पुरुष शुभ कर्मों के लिये उद्योग करता है, उसे सहायक भी मिल जाते हैं और उसका कोई काम भी कभी नहीं बिगड़ता। जो पुरुष शूर, धीर, बुद्धिमान् एवं योगाभ्यासी होने के कारण मन को एकाग्र कर सकता है, उसे लक्ष्मी वैसे ही कभी नहीं त्यागती, जैसे सूर्य को उसकी किरणें कभी नहीं त्यागतीं। जो पापशून्य पुरुष आस्तिकभाव से, उद्योग पूर्वक रहित हो शान्ति के साथ, समझ बूझ कर काम करता है, उसके सब काम सफल होते हैं। पूर्वजन्म में वह जो शुभाशुभ कर्म किये रहता है, वे कर्म माता के उदर में प्रवेश करते ही अपना फल देने लगते हैं। जैसे लकड़ी के बुरादे को हवा उड़ा देती है, वैसे ही अनिवार्य मृत्यु कालक्रम से सब को उड़ा देती है। पूर्वजन्म कृत शुभाशुभ कर्मों के फलानुसार मनुष्य को धन, पशु, स्त्री, पुत्र, पौत्र मिलते हैं, तदनुसार उनका उत्तम, मध्यम कुल में जन्म होता है तथा उन्हें तदनुसार सम्पत्ति मिलती है।

भीष्म जी बोले—हे राजन्! इस प्रकार ज्ञानी पराशर मुनि ने धर्मविदाम्वर राजा जनक को श्रेय का यथार्थ रूप वतलाया, जिसे जान कर राजा जनक परमानन्दित हो गये।

दोसौ निन्यानवे का अध्याय

सत्यादि निरूपण

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! इस जगत में विद्वान पुरुष सत्य, दम, क्षमा और प्रज्ञा की प्रशंसा करते हैं। इस बारे में आपका क्या सिद्धान्त है। वह आप मुझे वतलावें।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! पूर्वकालीन हंस और साध्य देवताओं

का संवादात्मक एक इतिहास मैं तुमको सुनाता हूँ; सुनो। एक बार अजन्मा और सनातन प्रजापति हंस रूप धर, तीनों लोकों में घूमते फिरते साध्य देवताओं के निकट जा निकले। तब साध्य देवताओं ने कहा—हे पक्षिश्रेष्ठ हंस! हम साध्य नामक देवगण हैं। हम लोग आप से मोक्ष सम्बन्धी प्रश्न करना चाहते हैं। क्योंकि आप इस विषय को बहुत अच्छा जानते हैं। हमने सुना है कि, आप संसार-प्रसिद्ध एक बड़े अच्छे वक्ता, उत्तम कोटि के पण्डित और शास्त्रार्थ-पटु हैं। इसीसे हमने आपसे प्रश्न करना चाहा है। हे पक्षिराज! आप हमें वह कर्म बतलावे जिसे कर पुरुष बन्धन से मुक्त हो जाता है।

हंस ने कहा—सुना है कि, आपके प्रश्न के अनुसार, अमृतभोजी प्राणी—तप, दम, सत्यभाषण और आत्मशुद्धि को उत्तम कर्म बतलाते हैं। हृदयस्थ राग द्वेषादि समस्त गाँठों को तोड़ डालना चाहिये, हर्ष शोक को अपने वश में कर लेना चाहिये, किसी से मर्मभेदी वचन न कहने चाहिये। कठोर वचन न कहने चाहिये। नीच पुरुष से शास्त्र-रहस्य न सीखना चाहिये। वह बात न कहें जिससे सुनने वाले का मन उद्विग्न हो जाय। ऐसी वाणी अकल्याणकारिणी ही नहीं बल्कि नरक में ले जाने वाली है। मुख से जो वाणी रूप बाण निकलते हैं उनके प्रहार से मनुष्य रातदिन शोकान्वित रहा करता है। अतः पण्डितों को मर्मभेदी वाग्बाणों का प्रयोग न करना चाहिये। विपक्षी मनुष्य कुवाच्य रूपी बाण मार कर, यदि विद्ध भी करे तो भी धीर पुरुष को शान्त रहना चाहिये। क्योंकि शत्रु द्वारा उत्तेजित किये जाने पर भी जो पुरुष क्रुद्ध नहीं होता, किन्तु हँसता ही रहता है; वह धीरपुरुष शत्रु के पुण्य को हर लेता है। जो पुरुष संसार में तिरस्कार करने वाले और आवेशवश बुरे लगने वाले प्रज्वलित कोप को रोक लेता है, जिसका मन शान्त है, जो प्रसन्न चित्त है और जो ईर्ष्या से अलग रहता है वह पुरुष शत्रु के पुण्य को हर लेता है। यदि मेरी कोई निन्दा भी करे तो भी मैं उसे

कुछ उत्तर नहीं देता। यदि मुझे कोई मारता है तो भी मैं उसे क्षमा कर देता हूँ। आर्यपुरुष क्षमा को, सत्य को, सरलता को और दया को श्रेष्ठ बतलाते हैं। वेदाधिगम का फल सत्य है। सत्य का फल दम अर्थात् बाह्य इन्द्रियों का निग्रह है; दम का फल मोक्ष है। ये समस्त शास्त्रों का आदेश है। जो मनुष्य वाणी, मन, क्रोध, तृष्णा, उदर और उपस्थ के वेगों को रोक सकता है उसीको मैं ब्रह्मवेत्ता मानता हूँ। क्रोधी से अक्रोधी श्रेष्ठ है। असहिष्णु से सहिष्णु श्रेष्ठ है। दुराचारी पुरुष से सदाचारी श्रेष्ठ है और अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी श्रेष्ठ है। किसी मनुष्य के निन्दा करने पर भी, जो उसकी निन्दा नहीं करता और उसकी निन्दा को सह लेता है, वह मनुष्य उस निन्दक पुरुष को भस्म कर डालता है और उसका पुण्य ले लेता है। जो मनुष्य अपने निन्दक के प्रति भी रूखे और अप्रिय वचनों का प्रयोग नहीं करता और जो मनुष्य अपने प्रशंसक के प्रति भी उदासीन भाव धारण किये रहता है तथा जो अपने को पीटने वाले को न तो पीटता है और न पीटने वाले का बुरा चीतता है, उस पर देवता सदा प्रसन्न रहते हैं। यदि कोई पापिष्ठ अपना तिरस्कार करे, अपने को पीटे अथवा अपनी निन्दा करे, तब भी जो पुरुष उसको अपने से श्रेष्ठ समझ कर उसे क्षमा करता है, वह पुरुष सिद्धि को पाता है। मैं विद्याध्ययन कर के अच्छा विद्वान् होने पर भी आचार्यों की भली भाँति उपासना करूँगा। मुझमें न तो विषयतृष्णा है और न क्रोध है। मैं तो विषयों के पाने की इच्छा से धर्म का अतिक्रमण नहीं करूँगा तथा विषयवासना को चरितार्थ करने के लिये देवताओं से याचना भी न करूँगा। यदि मुझे कोई गाली देगा तो मैं उसे गाली न दूँगा, क्योंकि मैं इन्द्रियनिग्रह को मोक्ष का द्वार मानता हूँ।

मैं तुम्हें एक गुप्त एवं सारभूत बात बतलाता हूँ; सुनो। मनुष्य-जन्म से बढ़ कर श्रेष्ठ और कोई जन्म श्रेष्ठ नहीं है। जो धीर पुरुष होता है वह समय आने पर धैर्य धारण द्वारा पापों से मुक्त हो, वैसे ही

निर्मल हो जाता है जैसे मेघनिर्मुक्त चन्द्रमा। मन को निग्रह करने वाला पुरुष ब्रह्माण्ड मण्डल के स्तम्भ की तरह सब का पूज्य होता है और सब पुरुष जिसको मधुर वाणी से बुलाते हैं, वह पुरुष देवताओं का साथी हो जाता है। स्पर्धा करने वाला पुरुष अन्य पुरुष के अवगुणों का जिस प्रकार बखान करना चाहता है वैसे उसके गुणों को नहीं कहता। किन्तु जिस पुरुष की वाणी और मन वश में रहते हैं और जो सदा परम तत्त्व का ही चिन्तवन किया करता है, उसे वेदाध्ययन का, तपस्या करने का, त्याग का तथा अन्य धर्मकर्म करने का सम्पूर्ण पुण्य-फल मिलता है। ज्ञानी पुरुष, मूर्ख पुरुष, निन्दा करे चाहे अपमान करे, तो भी उसको मूर्ख बतला, उसकी बुराई न करे, किसी की प्रशंसा न करे और बराबरी वाले के साथ किसी विषय पर वादविवाद कर, अपने आत्मा की निर्मलता को नष्ट न करे। पण्डित पुरुष अपमानित होने पर भी अपमान से वैसे ही सन्तुष्ट रहे, जैसे कोई अमृतपान से सन्तुष्ट रहता है। क्योंकि अपमान किया गया पुरुष तो आनन्द से सोता है, किन्तु अप-मान करने वाला पुरुष विनष्ट हो जाता है। जो पुरुष यज्ञ करते समय, दान देते समय, तप करते समय, हवन करते समय क्रोध करता है, उस का सारा परिश्रम व्यर्थ होता है। हे देवताओं में श्रेष्ठ! धर्मवेत्ता वही है, जो अपने उपस्थ, उदर, हाथों और वाणी की भली भाँति रक्षा करता है। वह पुरुष ही स्वर्ग में जाता है जो सत्य, दम, सरलता, दया, धैर्य और तितिक्षा का अति सेवन करता है, नित्य स्वाध्यायपरायण रहता है, आशा को जीत लेता है तथा एकान्त में निवास करता है। जैसे बछड़ा दौड़ कर गौ के चारों थनों से दुग्धपान करता है; वैसे ही सत्पुरुष सत्य, दम, क्षमा और प्रज्ञा—इन चारों का सेवन कर, अमृत-पान करता है। मेरी समझ में तो सत्य से बढ़ कर श्रेष्ठ और कुछ है ही नहीं। जैसे समुद्र तरने के लिये नौका साधन रूप है; वैसे ही स्वर्ग में जाने के लिये सत्य सोपान रूप है। यह बात मैं मनुष्यों में और देव-

ताओं के साथ रह कर अनुभव द्वारा कहता हूँ। जो जिसकी संगत में रहता है वह वैसा ही हो जाता है। जो दूसरे का आदर करता है उसका भी आदर होता है जो दूसरे का तिरस्कार करता है उसका तिरस्कार होता है। सारांश यह कि, जिसकी जैसी भावना होती है वह वैसा ही हो जाता है। जो पुरुष सज्जन असज्जन, तपस्वी अथवा चोर के साथ रहता है वह वैसा ही हो जाता है। जैसे कपड़ा जिस रंग से रंगा जाता है, वह उसी रंग का हो जाता है। देवता लोग सदा सत्पुरुषों के साथ ही भाषण करते हैं। अतः वे मनुष्यों के भोगों की ओर देखते भी नहीं हैं। क्योंकि वे भोग तो नाशवान् हैं। चन्द्रमा और वायु का सदा समभाव से रहना सम्भवपर नहीं है। क्योंकि भोगवश उनकी भी वृद्धि और क्षय हुआ करता है। अतः जो सब पदार्थों की वृद्धि और उनके क्षय की जानकारी रखते हैं वे ही सब कुछ जान सकते हैं। जो पुरुष राग द्वेष रहित है, अन्तर्यामी पुरुष रूप से रहता है; उस पुरुष के साथ देवता भी प्रीति करते हैं। जो लोग सदा शिश्नोदरपरायण रहते हैं, जो चोर होते हैं, जो कठोर वचन बोलते हैं, वे पुरुष यदि प्रायश्चित्त कर, पाप से मुक्त भी हो जायँ, तो भी देवगण उनसे दूर रहते हैं। अशुद्ध बुद्धि, सर्वभक्षी और पापिष्ठ के ऊपर देवता प्रसन्न नहीं होते हैं। किन्तु जो पुरुष, सत्य-व्रत-धारी, कृतज्ञ और धर्मपरायण रहते हैं; उन पुरुषों के साथ देवता सुखपूर्वक रहते हैं। धर्मवेत्ताओं का कहना है कि, बोलने की अपेक्षा चुप रहना श्रेष्ठ है! क्योंकि यथार्थ प्रिय भाषण सर्वोत्तम है।

साध्यों ने पूछा—हे हंस! इस लोक को कौन घेरे हुए है। इसके प्रकाशित न होने का कारण क्या है? मनुष्य अपने मित्रों को क्यों त्याग देता है और मनुष्यों को स्वर्गप्राप्ति क्यों नहीं होती?

हंस ने कहा—जगत को अज्ञान घेरे हुए है और मत्सरता के कारण मनुष्यों को आत्म स्वरूप का भान भी नहीं होता। लोभवश लोग मनु-

ध्यत्व को त्याग देते हैं और विषयासक्त होने से मनुष्यों को स्वर्ग नहीं मिलता।

साध्यों ने पूछा—परम सुखी ब्राह्मण कौन है? वह कौन है जो अनेक जनों के साथ रह कर भी मौन रहता और आनन्द का अनुभव करता है। वह कौन है जो दूसरों के साथ नहीं झगड़ता? वह कौन है जो दुर्बल होने पर भी बलवान् है?

हंस ने कहा—ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों में बुद्धिमान ब्राह्मण परमसुखी है। जो बुद्धिमान होता है वह बहुत लोगों के साथ रह कर भी मौन व्रत धारण कर, ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। बुद्धिमान् जन शरीर से दुर्बल होने पर भी बुद्धिबल से बली होते हैं। जो बुद्धिमान् होता है? वह दूसरों के साथ लड़ाई झगड़ा नहीं करता।

साध्यों ने पूछा—हे हंस! ब्राह्मणों में देवत्व क्या है? उनमें साधुत्व और असाधुत्व और मनुपत्व क्या है?

हंस ने कहा—ब्राह्मणों का स्वाध्याय उनका देवता है। व्रत उनका साधुत्व है। परनिन्दा उनका असाधुत्व है और वे मरणशील हैं, यह उनमें मनुष्यत्व है।

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज! साध्यों और हंस का यह परमोत्तम कथोपकथन मैंने तुम्हें सुनाया, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से शुभाशुभ कर्मों की उत्पत्ति होती है और सद्भाव सत्य कहलाता है।

तीनसौ का अध्याय

योग

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! आप अब मुझे यह बतलावें कि, सांख्य और योग में क्या अन्तर है? क्योंकि आप तो सब विषयों के ज्ञाता हैं।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! सांख्यवादी, विद्वज्जन सांख्य की प्रशंसा करते हैं और योगवादी विद्वज्जन योग की प्रशंसा करते हैं और ये दोनों ही दर्शनवादी अपने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को उत्तम बतला, उनको सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण देते हैं।

हे शत्रुनाशक! जो लोग ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानते, उन्हें मुक्ति नहीं मिल सकती। योगदर्शनवादी यह बात सिद्धि करने के लिये उत्तम एवं उपयुक्त प्रमाण दिया करते हैं। सांख्यवादी कहते हैं कि, जब समस्त गतियों को जान कर पुरुष का मन विषयों से हट जाता है, तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसे छोड़ मोक्षप्राप्ति का और कोई उपाय है ही नहीं। अतः सांख्यवादी विद्वज्जन सांख्यदर्शन को मोक्षदर्शन कहते हैं। दोनों पक्ष वालों की बलवती युक्तियाँ रहने पर भी जो पक्ष अपने को अभीष्ट होता है, उसीकी युक्तियाँ अपने को ग्राह्य होती हैं। क्योंकि अपने पक्ष के समर्थन में जो वचन अपने मतानुकूल होते हैं, वे ही हित-कर माने जाते हैं। तुम्हारे सरीखे लोग तो अपने अपने पक्ष के शिष्टजनों के मतों ही को ग्रहण करते हैं।

हे तात! योग शास्त्रवादी प्रत्यक्ष प्रमाण को कारण बतलाते हैं। मैं और सांख्यवादी शास्त्रसिद्ध अर्थात् श्रुतिप्रमाण को कारण बतलाते हैं। मैं इन दोनों मतों को ठीक मानता हूँ। क्योंकि साधुसम्मत इन दोनों मतों के अनुसार, यदि शास्त्रोक्त रीति से अनुष्ठान किया जाय, तो अनु-ष्ठान करने वाले को परम गति प्राप्ति होती है। हे अनघ! पवित्र आचार, प्राणि मात्र पर दया और अहिंसा आदि व्रतों के अनुष्ठान को दोनों ही मतवादी मानते हैं। किन्तु इसमें दोनों का एकमत होने पर भी, उनके दार्शनिक सिद्धान्त समान नहीं हैं।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! दोनों मतवादी पवित्रता, दया और अहिंसा का फल समान मानते हैं। तब आप मुझे यह बतलावें कि, इन दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों में विभिन्नता क्यों है?

भीष्म जी बोले—योग शास्त्र के मतानुसार मनुष्य, राग, मोह, स्नेह, काम, क्रोध—इन पाँच दोषों को योगबल से छेदन कर मुक्ति पाता है। जैसे बड़े बड़े मत्स्य जाल को काट कर, जल में चले जाते हैं; वैसे ही योगी भी योगबल से पापरहित हो, राग मोह का जाल काट कर, पर-ब्रह्म का पद पाता है अथवा और बलवान् मृग जाल काट कर, जैसे वन में भाग जाता है; वैसे ही योगी भी योगबल से समस्त बन्धनों को काट कर, ब्रह्म को प्राप्त करता है। हे राजन्! योगबल से निःशङ्क हुआ योगी, लोभजन्य बन्धनों को काट कर, मोक्षमार्ग में गमन करता है। जैसे कोई निर्बल पशु, फंदे में पड़ मारा जाता है, वैसे ही जो योगी निर्बल होता है, वह कामादि के पाश में फँस नष्ट होता है। जैसे निर्बल मछलियाँ जाल में फंस नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही दुर्बल योगी भी कामादि के वशवर्त्ती हो, नष्ट होते हैं। हे राजन्! जैसे निर्बल पक्षी, सिहीन जाल में फँस, मारे जाते हैं और बलवान पक्षी उससे छुट जाते हैं, वैसे ही तुम योगियों के विषय में भी समझो। कर्मबन्धन में बँधे हुए निर्बल योगी नष्ट हो जाते हैं और बलवान निकल जाते हैं। जैसे थोड़ी सी और मन्द आग पर बड़े बड़े लक्कड़ रख देने से वह आग बुझ जाती है वैसे ही निर्बल योगी भी महायोग की साधना करने से नष्ट हो जाता है। किन्तु यदि वह थोड़ी आग, पवन का सहारा पा धधक उठती है, तब वह समस्त भूमण्डल को जला कर भस्म कर डालती है। इसी प्रकार जब योगी में योगबल की वृद्धि होती है और उसका तेज फैलता है, तब प्रलय-कालीन सूर्य जैसे जगत को शुष्क कर देता है, वैसे ही वह महाबली योगी भी सारे संसार को शुष्क कर सकता है।

हे राजन्! निर्बल योगी विषयों के प्रवाह में पड़, वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे निर्बल पुरुष जलप्रवाह में पड़ नष्ट हो जाता है। जैसे गज जल के वेग को रोक देता है, वैसे ही महायोगी भी योगबल से विषयों के वेगों को रोक देता है। स्वतन्त्र योगी योगबल से

प्रजापतियों में, ऋषियों में, देवताओं में तथा महाभूतों में प्रवेश करता है। यम, अन्तक और भीम पराक्रमी काल का भी अपार तेजस्वी योगी पर कुछ वस नहीं चलता। योगी योगबल से अपने शरीर को असंख्य भागों में विभक्त कर समस्त भूमण्डल पर घूम फिर सकता है। किन्तु अनेक योगाभ्यासी योगी इन्द्रिय-जन्य भोगों में फँस जाते हैं। फिर वे अनेक शरीरों से तप करते हैं। वे सूर्य की तरह अपने तेज को समेट और शरीर से महातप करने लगते हैं। जो योगी बंधनों को तोड़ डालते हैं, वे मोक्ष को भी अपने पुरुषार्थ ही से प्राप्त कर लेते हैं। इसमें तिल बराबर भी सन्देह नहीं है। हे राजन्! मैंने तुम्हें योगबल की महिमा सुना दी। अब मैं तुम्हें योग के सूक्ष्म तत्त्वों को बतलाता हूँ। साथ ही मैं तुम्हें समाधि और आत्मा की धारणा के सूक्ष्म लक्षण भी बतलाता हूँ; सुनो। सावधान हो कर लक्ष्यवेध करने वाले धनुर्धर योद्धा की तरह जो योगी विषयों की ओर से मन को हटा, परमात्मा में उसे लगा देता है, उसे निश्चय ही मुक्ति मिल जाती है। जैसे तेल से भरा घड़ा सिर पर रख, सीढ़ियों पर सावधानी से चढ़ने पर तेल नहीं छलकता, वैसे ही योगयुक्त योगी भी अपना मन परमात्मा में स्थिर कर, जब मन को वहाँ जमाता है, तब उसका आत्मा पवित्र हो जाता है और योगी का तेज सूर्यवत् हो जाता है। जैसे एक चतुर मल्लाह महासागर में पड़ी नाव को सावधानतापूर्वक खेकर तट पर ले आता है; वैसे ही तत्त्वदर्शी जन, योगयुक्त हो कर, समाधि द्वारा अपने आत्मा को परमात्मा में लगा और अपना पार्थिव शरीर त्याग दुर्गम स्थान में चला जाता है। जैसे चतुर सारथी घोड़ों को सावधानी से हाँक रथस्थ योद्धा को उसके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देता है अथवा सावधानता पूर्वक छोड़ा हुआ बाण जैसे लक्ष्य को विद्ध कर देता है, वैसे ही योगी भी सावधानता पूर्वक धारणा द्वारा परमपद को पहुँच जाता है।

जो योगी आत्मा को परमातमा में प्रविष्ट कर, अटल भाव से रहता

है वह योगी सब पापों को नष्ट कर, उस अविनाशी परमपद को प्राप्त करता है, जो पवित्र पुरुषों को प्राप्त होता है। हे परम पराक्रमी राजन्! जो योगी सावधान हो, योगाभ्यास के नियमानुसार, नाभि, कण्ठ, मस्तक, हृदय, वक्षःस्थल, पसलियाँ, नेत्र और कान आदि सब स्थानों से बुद्धि को हटा जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़ सकता है, वह योगी एक बड़े पहाड़ की तरह बड़े बड़े शुभाशुभ कर्मों का तत्क्षण ही नाश कर, योगबल से मोक्ष पाता है।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! किस प्रकार का आहार करने से तथा किन विषयों को जीतने से योगी महाबली हो जाता है? आप यह मुझे बतलावें।

भीष्म जी बोले—जो योगी कण बीन कर खाता है या तिल की खली खाता है, घी तेल आदि चिकने पदार्थों को नहीं खाता, उस योगी को योगबल प्राप्त होता है। हे अरिमर्दन! सूखे सत्तू अथवा जौ के आटे की रोटी आदि दिन में एक बार बहुत दिनों तक खाने वाला विशुद्धात्मा योगी योगबल सम्पादन करता है। जो योगी दूध में जल मिला कर प्रथम, दिन में एक बार पीता है, फिर मास में एक दिन पीता है, फिर प्रत्येक ऋतु में एक बार, फिर एक वर्ष में एक बार पीता है, उस योगी का योगबल बहुत बढ़ जाता है। जो योगी कभी भी माँस भक्षण नहीं करता, हे राजन्! वह योगी शुद्धात्मा हो, योगबल को पाता है। काम, क्रोध, शीत, उष्ण, वृष्टि, भय, शोक और निःश्वास, कर्णमधुर शब्द, प्रिय भाषण, इन्द्रियों के विषयों का त्याग, दुर्जेय अरति, (स्त्री मैथुन के अभाव से पैदा हुआ अस्वास्थ्य) का त्याग, विशाल तृष्णा; स्वर्गसुख, निद्रासुख और दुर्जेय तन्द्रा का त्याग कर, ध्यान एवं अध्ययन की सम्पत्ति से ज्ञान सम्पादन कर, जो महात्मा बुद्धिमान जन पवित्र और स्पृहारहित होते हैं, वे योगी अपने जीवात्मा को प्रकाशित करते हैं।

हे युधिष्ठिर! बड़े बड़े विद्वान ब्राह्मण भी इस उन्नत एवं कठिन

योगपथ पर नहीं चल पाते। क्योंकि यह योगपथ, सर्पों तथा त्रास-जनक जन्तुओं से तथा बड़े बड़े खड्ड से पूर्ण एक वन की तरह महाभयङ्कर है। यह एक ऐसा पथ है कि, जिस पर कहीं किसी प्रकार का भोजन पथिक को नहीं मिलता। यह योगमार्ग ऐसे भयङ्कर वन में हो कर जाता है, जिसके दोनों ओर दावानल से जले हुए वृत्त लगे हैं अर्थात् इस पथ पर साया नहीं है और इस मार्ग पर चोर लुटेरे ठग भी बहुत लगते हैं। तरुण पुरुष के लिये यह मार्ग महा दुरधिगम्य है। विरला ही द्विज अनेक कष्टों से पूर्ण इस योगमार्ग पर सकुशल चल सकता है। जो पुरुष एक बार योगमार्ग को पकड़ आगे नहीं बढ़ता और उसे त्याग देता है, वह महापातकी समझा जाता है। भले ही कोई मनुष्य छुरे की पैनी धार पर ठहर जाय, किन्तु अकृतात्मा पुरुष योग की धारणा में स्थिर नहीं रह सकता। जैसे खेवट के विना नौकारूढ़ पुरुष समुद्र में डूब जाते हैं, वैसे ही यदि योग की धारणाएँ भली भाँति पाली न गयीं, तो उस पुरुष की बुरी गति होती है। जो पुरुष यथाविधि योग की धारणाओं में स्थित हो कर आगे बढ़ता है, वह पुरुष मरण और जन्म तथा सुख और दुःख से मुक्त हो जाता है। अनेक शास्त्रों में योग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह सब मैंने तुम्हें बतला दिया। यह योग द्विजों ही में फलता फूलता है।

हे महात्मन्! योग का परम फल है परब्रह्म की प्राप्ति। महात्मा योगीगण, योगबल से लोकेश ब्रह्मा, वरदाता विष्णु, महादेव, धर्म, कार्तिकेय, महानुभाव ब्रह्मा के पुत्र, योग में विघ्न डालने वाले तमोगुण, रजोगुण और आत्मतत्व-प्रकाशक सतोगुण, परम प्रकृति, वरुणपत्नी सिद्धि देवी, तेज और धैर्य में इच्छानुसार जैसे प्रवेश कर सकते हैं, वैसे ही उनसे निकल भी सकते हैं। नक्षत्रों से घिरा हुआ चन्द्रमा, विश्वेदेव, सर्प, पितर, वन, पर्वत, समुद्र, नदी, मेघ, नाग, यक्ष, गन्धर्व, स्त्री, पुरुष तथा दिशाओं में से, योगी जिसका रूप धारण करना चाहे, उसका रूप वह

धारण कर सकता है और जब चाहे तब उस रूप को त्याग भी सकता है। महावीर्य सम्पन्न परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाली यह कथा परमपावन है। योगी के आत्मा में जब नारायण की सत्ता जागृत हो जाती है, तब वह शक्तिसम्पन्न योगी, समस्त पदार्थों का आधिपत्य प्राप्त कर, समस्त पदार्थों को उत्पन्न कर सकता है।

तीनसौ एक का अध्याय

सांख्य शास्त्र

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! आपने मुझे शिष्टसम्मत योग शास्त्र का उपदेश वैसे ही दिया है, जैसे शिष्य के जिज्ञासा करने पर, शिष्यहितैषी गुरु शिष्य को देता है। आप त्रिलोक के यावत् ज्ञान के ज्ञाता हैं। अतः अब मैं आपसे सांख्य शास्त्र का सिद्धान्त सुनना चाहता हूँ। आप मुझे बतलावें।

भीष्म जी बोले—हे राजन्! आत्मा को जानने वाले कपिल आदि समर्थ यतियों द्वारा जो प्रकट हुआ है, जो सर्वथा अभ्रान्त है, जिसमें नाना प्रकार के गुण हैं, जो समस्त दोषों से शून्य है, जिसमें आत्मज्ञान स्पष्ट रूप से और सन्देहरहित रीति से निरूपण किया गया है, उस सांख्यशास्त्र तत्वज्ञ एवं सांख्यशास्त्रवादी जनों का समस्त सूक्ष्म तत्व वाला सांख्यशास्त्र मैं तुम्हें बतलाता हूँ। तुम सुनो। मोक्षोपयोगी सात्विक भाव से मन को वश में करने वाले ज्ञान एवं विज्ञान युक्त सांख्यशास्त्रवादी निम्न विषयों को यथार्थ रीत्या जान कर मोक्ष पाते हैं:—

पिशाचों का, राक्षसों का, यक्षों का, सर्पों का, गन्धर्वों का, पितरों का, पशु पक्षियों का, गरुड़ों का, पवनों का, राजर्षियों का, ब्रह्मर्षियों का, देवर्षियों का, योगेश्वरों का, असुरों का, प्रजापतियों का, विश्वेदेवों का, तथा ब्रह्मा का लोक दुर्जेय होने पर भी नश्वर दोष से दूषित है।

विषयासक्त पुरुषों पर समय समय पर दुःख पड़ा करते हैं। इसी प्रकार आकाशचारी तथा नरकगामी जीव भी दुःख पाते हैं।

स्वर्ग में दोष और गुण दोनों हैं। वेद में दोष और गुण—दोनों का वर्णन है।

साँख्य तथा योग में भी गुण तथा दोष हैं। सत्वगुण के [1]दस, रजोगुण के [2]नौ, तमोगुण के [3]आठ, बुद्धि के [4]सात और मन के [5]छः लक्षण हैं।

इसी प्रकार आकाश के [6]पाँच प्रकार, पुनः बुद्धि के [7]चार प्रकार, तम के [8]तीन प्रकार, रज के [9]दो प्रकार और सत्व का [10]एक प्रकार है।

ज्ञान तथा विज्ञान से युक्त एवं मोक्ष प्राप्त योगी तथा कारण का अनुभव रखने वाले शुभ साँख्यवादी, सूर्य की किरणें तथा वायु जैसे आकाश में लय हो जाते हैं; वैसे मोक्ष सुख को पाते हैं। दृष्टि में रूप गुण रहता है।

---

१ सत्वगुण के दस लक्षण ये हैं—आनन्द, प्रीति, उद्वेग, प्रकाश, पुण्यशीलत्व, सन्तोष, श्रद्धा, सरलता, त्याग और ऐश्वर्य।

२ रजोगुण के नौ लक्षण ये हैं—आस्तिकता, कृपणता का अभाव, दुःख, सहिष्णुता, भिन्नता, पौरुष, काम, क्रोध, मद, मात्सर्य।

३ तमोगुण के आठ लक्षण हैं—अविद्या, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र, निद्रा, प्रमाद, आलस्य।

४ बुद्धि के सात लक्षण ये हैं—तम, महत्, अहङ्कार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा।

५ मन के छः लक्षण ये हैं—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण और मन।

६ आकाश के पाँच—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी।

७ बुद्धि के चार—संशय, निश्चय, गर्व, स्मरण।

८ तम के तीन—अप्रतिपत्ति, विप्रतिपत्ति, विपरीत प्रतिपत्ति।

९ रज के दो—प्रवृत्ति तथा दुःख।

१० सत्व का एक प्रकाश।

नासिका में गन्ध गुण रहता है। श्रोत्र में शब्द गुण रहता है। जिह्वा में रसगुण रहता है। त्वचा में स्पर्श गुण रहता है।

वायु का आश्रय-स्थान आकाश है; मोक्ष का आश्रय-स्थान तमोगुण हैं। लोभ का आश्रय-स्थान इन्द्रियों के विषय हैं। चरण की गति के अधिष्ठातृ देवता विष्णु हैं। बल के देवता इन्द्र हैं। जठर के देवता अग्नि हैं। जल की देवी सिद्धि हैं। तेज में जल, वायु में तेज और आकाश में वायु और महत्तत्व में आकाश रहता है। महत्तत्व बुद्धि के आश्रय में रहता है। बुद्धि तम के आश्रित, तम रजोगुण के आश्रित, रजोगुण सतोगुण के आश्रित और सतोगुण जीव के आश्रित रहता है। जीव तेजस्वी और योग-बल-विशिष्ट नारायण के आश्रय में रहता है। नारायण मोक्ष के आश्रय से रहते हैं और मोक्ष किसी के आश्रित नहीं रहता। यह स्वयं आश्रित है। यह शरीर सोलह गुणों से युक्त है और सत्वगुण का परिणामी है। इससे उत्पन्न होने वाले दोषों को जान लेना चाहिये। जो लिङ्गशरीर पूर्व-जन्म-कृत कर्मों से आबद्ध है, उसकी रचना कैसी है, उसके भीतर रहने वाले चेतन का क्या लक्षण है, एकाकी आत्मा उससे तटस्थ है, उसमें पाप का स्पर्श भी नहीं है—ये बातें जान लेनी चाहिये। यह भी जान लेना आवश्यक है कि, विषयी लोगों में उनका कर्म उनके आश्रित रहता है। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय—ये सब आत्मा के आश्रित हैं। अतः वेद के मतानुसार मोक्ष मिलना दुर्लभ है। प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान नामक पाँच नैसर्गिक प्राणवायुओं को नीचे ले जाने वाला, छठवाँ अधोवायु तथा ऊपर की ओर जाने वाला साँतवाँ प्रवाहवायु है। ये सात वायु भी सात भागों में विभक्त हैं। उनकी भी यथार्थ रीति से जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। फिर प्रजापतियों, ऋषियों, उनके अनेक उत्तम मार्गों, सप्तर्षियों तथा बहुत से राजर्षियों को चिरकालानन्तर ऐश्वर्यभ्रष्ट देख, हे राजन्! महाभूतों के समुदाय का भी नाश होगा—यह भी सदा स्मरण रखना चाहिये।

हे राजन्! पापियों की गति अच्छी नहीं होती। पापियों को यम-लोक में वैतरणी में पड़, बड़े बड़े दुःख मिला करते हैं। उन्हें अनेक योनियों में विविध प्रकार के दुःखदायी जन्म लेने पड़ते हैं। उन्हें इस दुःखदायी संसार में रहना, आना और रक्त माँस के पात्ररूपी अशुभ उदर में रहना पड़ता है। कफ, मूत्र और पुरीष से भरे हुए, बुरी दुर्गन्ध से युक्त, शुक्र और रज से व्याप्त, मज्जा और नसों से घिरे हुए, नौ द्वारों वाले और अपावन इस शरीर रूपी नगर में रहने वाले आत्मा का हित कैसे हो, यह विचार कर विविध उपायों की योजना करनी चाहिये। जिन प्राणियों का मन विषय-वासना-परायण है उन तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी प्राणियों के पापकर्म का विचार कर, आत्म-तत्व-वेत्ता, साँख्यशास्त्र के ज्ञाताओं के निर्धारित निन्दित कर्मों को भी विचारना चाहिये। सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण, ताराओं का अधःपात, नक्षत्रों के उलटफेर, स्त्री पुरुषों के करुणाजनक वियोग, क्षुधातुर प्राणियों की एक दूसरे को खा जाने की प्रवृत्ति, बाल्यावस्था का मोह, देह के अशुभत्व पर भी ध्यान देना चाहिये। राग द्वेष के अवसरों पर विरला ही प्राणी मोह से बच सकता है और विरले ही जन मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं।

श्रुति द्वारा मोक्ष की दुर्लभता को जान कर, अप्राप्त पदार्थों में अत्यन्त आसक्ति और उन पदार्थों के मिलने पर, उदासीनता और विषयों की दुष्टता को भी विचारना चाहिये। हे कौन्तेय! मृत प्राणियों के अशुभ शरीरों को देखना चाहिये। घरों में रहने वाले प्राणियों के दुःखों तथा ब्रह्महत्यारे एवं पतितों की दारुण गति को भी जान लेना चाहिये। गुरु-पत्नी-गामी, शराबी, दुष्टात्मा ब्राह्मणों की अशुभ गति पर भी ध्यान देना चाहिये। अपनी माता के साथ असद् व्यवहार करने वालों तथा देवताओं और मनुष्यों से उचित व्यवहार न करने वालों की अशुभ गति ज्ञान द्वारा जान लेनी चाहिये। पशु पक्षियों की योनि में उत्पन्न होने वालों की भिन्न भिन्न गतियों को जान कर, अद्भुत वेद-विचारों को,

ऋतुओं के उलटफेर को, संवत्सरों के क्षय को, मासों, पक्षों, दिनों के क्षय को और चन्द्रमा की घटती बढ़ती को प्रत्यक्ष रूप से देखना चाहिये। फिर समुद्र के चढ़ाव उतार को, धन की वृद्धि और उसके नाश को, संयोगों के नाश को और युगों के परिवर्तनों को, पर्वतों के टूटने और नदियों के सूखने को भी देख कर विचार करना चाहिये। ब्राह्मणादि वर्णों के नाश और वृद्धि को वारम्वार देख कर, जन्म, जरा, मृत्यु तथा अन्य क्लेशों को तथा देह के दोषों, दुःखों एवं विकलताओं को भी देख कर, उन पर विचार करना चाहिये। जीवात्मा में रहने वाले समस्त दोषों को तथा अपने शरीर के दोषों को देख कर, विचार करने वाले साँख्यवादी को मुक्ति मिलती है।

युधिष्ठिर ने पूछा कि हे राजन्! इस शरीर से उत्पन्न होने वाले दोष कौन कौन से हैं? आप मेरे इस प्रश्न का यथार्थ रीत्या उत्तर दें, मेरा सन्देह निवृत्त करें।

भीष्म जी बोले—हे राजन्! कपिल के साँख्यशास्त्र को जानने वालों का मत है कि, मानव शरीर में पाँच दोष हैं अर्थात् १ काम, २ क्रोध, ३ भय, ४ निद्रा और ५ श्वास का दोष। ये पाँच दोष समस्त देहधारी प्राणियों में विद्यमान हैं। हे राजन्! सत्पुरुष क्षमा से क्रोध का, संन्यास के सङ्कल्प से काम का, सत्वगुण के सेवन से निद्रा का, सतर्कता से भय का और अल्पाहार से श्वासजनित दोष का नाश करता है।

हे राजन्! साँख्यवादियों ने साँख्यमतानुसार ज्ञानयोग से सैकड़ों गुणों के द्वारा सैकड़ों गुणों को तथा सैकड़ों दोषों को सैकड़ों दोषों द्वारा, यथार्थ रीत्या जाना है और यह निर्णय किया है कि, भगवान् विष्णु की अनेक मायाओं से घिरा हुआ यह जगत् जलबुद्बुद्वत् है अथवा दीवाल पर चित्रित चित्र की तरह है अथवा नल की तरह अन्तःसार शून्य है अथवा अन्धकारमयी गुफा के समान है अथवा वर्षाकालीन जल के बबूलों के समान क्षणभङ्गुर है। सुखरहित और परिणाम में नाशवान् तथा

पराधीन है। दलदल में फँसे गंज की तरह वह रजोगुण तथा तमोगुण में फँसा हुआ है। यह जान कर ही तत्ववेत्ता सांख्यशास्त्रवादी पुत्र पौत्र की ममता में नहीं फँसते। वे तो सर्वव्यापी सांख्यशास्त्र के विशाल ज्ञान से रजोगुण और तमोगुण के अशुभ दोषों को एवं पवित्र सतोगुण के दोषों को और स्पर्शेन्द्रिय के ज्ञान को तपोरूपी शस्त्र से शीघ्र ही काट डालते हैं।

हे राजन्! भयङ्कर दुःख रूपी जल से पूर्ण, चिन्ता शोक रूपी विशाल सरोवरों वाले, व्याधि एवं मृत्यु रूपी बड़े बड़े नक्रों से व्याप्त महा भयानक महासर्पों से भरे, तमोगुणी कर्म रूपी कछुए वाले, रजोगुणी कर्म रूपी मत्स्यों से युक्त, स्नेहरूपी कीचड़ से पूर्ण, जरा-जन्म-दुःखों से पूरित, शोकरूपी दुर्ग वाले, व्रतरूपी स्थिरता वाले, हिंसारूपी उग्रतेज एवं वेग से युक्त, नाना प्रकार की रसरूपी खानों से युक्त, विविध प्रकार के फँसाव रूपी महारत्नों से परिपूर्ण, शोक और भयरूपी पवन से आलोड़ित, दुःख और तृष्णा रूपी भवरों वाले, तीक्ष्ण व्याधि रूपी जलहस्ती से युक्त, अस्थियों के संघात रूपी संघट्ट वाले, कफ रूपी फेनों से युक्त, दानरूपी मोतियों के आकर, रक्त के सरोवर रूपी मूँगों से भरे, हास्यरूपी-महागर्जन करने वाले, विविध अज्ञानों से भरे होने के कारण अति दुस्तर, आँसुओं तथा कर्दम रूपी चार वाले, सङ्ग-त्याग रूपी अधिष्ठान से युक्त, पुत्र कलत्र रूपी जौंकों से पूर्ण, मित्र एवं बन्धु-बान्धव रूपी तटवर्ती नगरों से युक्त, अहिंसा एवं सत्य रूपी तटों से शोभित, प्राण-त्याग-रूपी विशाल तरङ्गों से तरङ्गित, वेदान्त-ज्ञान-रूपी-द्वीप से युक्त, प्राणिमात्र पर दया रूपी तैरने के घाटों से युक्त, अनेक दुःखों रूपी वड़वानल वाले, मोक्ष-रूपी दुर्लभ वस्तु को दिलाने वाले इस संसार रूपी महासागर को सिद्ध संन्यासी और यति लोग ही ज्ञान रूपी नौका पर सवार हो पार कर सकते हैं। वे लोग अत्यन्त दुस्तर इस जन्म से पार पा, निर्मल स्थान में प्रवेश करते हैं।

हे राजन् ! इसके बाद, सांख्यवादी जब स्थूल शरीर को भूल कर, हृदय रूपी सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करते हैं, तब चतुर्दश भुवनों में घूमने फिरने वाले—भुवनभास्कर, पुण्यात्मा सांख्यवादियों के भीतर घुस उन्हें चतुर्दश भुवनों के समस्त विषय वैसे ही दिखा देते हैं, जैसे कमलनाल से जल ऊपर खिच कर मुख में प्रवेश करता है।

तदनन्तर रागशून्य, तपस्वी, सिद्ध सांख्यवादियों को *प्रवह नामक वायु उपर्युक्त विषय प्रदान करता है। जो वायु, सूक्ष्म, शीतल, सुगन्धित, सुखस्पर्शी, सप्त पवनों में उत्तम और शुभ लोकों में चलने वाला है, वह साँख्य-शास्त्र-वादियों को आकाश में ले जाता है। फिर आकाश उन्हें रजोगुण की परमगति अर्थात् स्वर्ग में पहुँचाता है। फिर सतोगुण उनको सत्वगुण की चरमसीमा पर पहुँचा देता है। फिर सत्वगुण उनको परम प्रभु श्रीमन्नारायण की सन्निधि में ले जाता है।

हे राजन् ! तब भगवान् श्रीमन्नारायण उसको अपने में लीन कर के उस साँख्य योगी को परमात्मा में प्रविष्ट करवाते हैं। परमात्मा को प्राप्त निर्मल साँख्य योगी, मोक्ष पाते हैं और फिर लौट कर यहाँ नहीं आते। यही परम गति है। जो महात्मा सत्य सरल व्यवहार-परायण होते हैं जो महात्मा प्राणि मात्र पर दया रखते हैं और द्वन्द्व भावों से शून्य होते हैं, उन्हींको यह परम गति मिलती है।

युधिष्ठिर ने पूछा—राजन् ! इस जीव को, षडैश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा के परमधाम में पहुँच जाने पर जब वह सिद्ध हो सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है, तब उसे पूर्वजन्म में भोगे हुए जन्म मरण की स्मृति रहती है या नहीं ? मैं यह बात आपको छोड़ और किसी से नहीं पूछना चाहता। अतः आप मुझे यथार्थ उत्तर दें। मोक्ष प्रतिपादिनी श्रुतियों पर विचार करने से मोक्ष में एक बड़ा दोष जान पड़ता है। वह यह कि,

---

*प्रवह नामक वायु अति पवित्र है। वह धर्मात्माओं का स्पर्श करता है।

यदि मोक्ष प्राप्त होने पर भी लोगों को ज्ञान विज्ञान रहता हो, तो प्रवृत्ति धर्म ही श्रेष्ठ ठहरता है। यदि मोक्षावस्था में पूर्व ज्ञान नष्ट हो जाता हो तो मोक्ष में तो फिर कुछ विज्ञान ही नहीं रह जाता और इससे अधिक दुःख हो ही क्या सकता है?

भीष्म जी बोले—हे तात! तुमने जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर देना बड़ी कठिन बात है। किन्तु तुम्हारा प्रश्न है ठीक। तुम्हारा यह प्रश्न ऐसा कठिन है कि, बड़े बड़े विद्वान भी चक्कर में पड़ सकते हैं। इसके उत्तर में मैं तुम्हें कपिल प्रणीत सांख्य का अनुसरण करने वाले महात्मा जिस मत को परम तत्त्व रूप मानते हैं और जिसमें उन्होंने अपनी बहुत कुछ बुद्धि लड़ाई है, उसे मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से सुनाता हूँ; सुनो।

हे राजन्! देहधारियों को उनकी देहस्थ इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। शरीर की इन्द्रियाँ आत्मा के लिये यंत्र रूप हैं। क्योंकि इन्हींके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा देखा जाता है। इन्द्रियाँ सूक्ष्म चिदात्मा से वञ्चित होने पर काठ और दीवाल की तरह जड़ हो जाती हैं और वैसे ही नष्ट हो जाती हैं जैसे समुद्र की लहर के लौट जाने पर फेन नष्ट हो जाता है। जब शरीरधारी आत्मा इन्द्रियों सहित निद्रित होता है, तब सूक्ष्म चिदात्मा, जाग्रत अवस्था की तरह, स्वप्न में भी समस्त विषयों को वैसे ही जानता फिरता है, जैसे वायु आकाश में घूमता फिरता है। यह सूक्ष्म चिदात्मा रूपी जीव स्वप्नावस्था में भी जाग्रतावस्था की तरह दर्शनीय समस्त पदार्थों को देखा करता है और समस्त स्पर्श्य पदार्थों का स्पर्श करता है। किन्तु वे सब इन्द्रियाँ स्वप्नावस्था में प्रवृत्त करने वाले नेता चिदात्मा के बिना असमर्थ होती हैं। अतः वे अपना काम वैसे ही नहीं कर सकतीं जैसे विषहीन सर्प।

यद्यपि उस समय सब इन्द्रियाँ अपने अपने स्थानों पर बनी रहती हैं और सूक्ष्म गति में चिदात्मा के प्रविष्ट होने के कारण सचेत हो, कार्य

करने को तत्पर हो जाती हैं तथापि आत्मा—सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, बुद्धि, मन, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी में व्याप्त रहता है। साथ ही वह क्षेत्रज्ञ अथवा जीवात्मा में भी व्याप्त रहता है और वह जीवात्मा, परमात्मा से व्याप्त हो कर रहता है। शुभाशुभ कर्म उस जीवात्मा में व्याप्त रहते हैं। जैसे शिष्य अपने गुरु के निकट उपस्थित रहते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ भी आत्मा के पास रहती हैं। किन्तु जब जीवात्मा प्रकृति का उल्लङ्घन करता है, तभी वह निर्विकार फल को पाता है। नारायण ही द्वन्द्वरहित परब्रह्म हैं और प्रकृति से परे हैं। पुण्य पाप रहित शुद्ध जीव परमात्मा में प्रवेश करता है। परमात्मा सब गुणों से रहित है, अनामय है तथा परम कल्याण का धाम है। वहाँ पहुँच कर जीवात्मा को फिर जन्मना मरना नहीं पड़ता। उस समय पाँचों इन्द्रियाँ ही रह जाती हैं और गुरु-आज्ञा-कारी शिष्य जैसे गुरु के निकट जाता है, वैसे ही मन एवं इन्द्रियाँ भी (व्युत्थान दशा में) जीवन्मुक्त गुरु के निकट आती हैं। मोक्ष की इच्छा करने वाले, पुरुष को इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होता है और कुछ ही दिनों में उसे शान्ति मिलती है और वह विदेह मुक्त होता है।

हे राजन्! साँख्ययोगी महाबुद्धिमान होते हैं। वे इस प्रकार के ज्ञान से परमगति पाते हैं। अतः इस ज्ञान से बढ़ कर और कोई ज्ञान नहीं है।

हे धर्मराज! तुम साँख्यज्ञान के श्रेष्ठत्व में ज़रा सा भी सन्देह मत करो। क्योंकि साँख्यशास्त्र में ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप वर्णित है। विद्वान् इसको अक्षर, ध्रुव एवं सदा एक रूप रहने वाला बतलाते हैं। वही सनातन ब्रह्म है। उसका न आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है। वह द्वन्द्वों से रहित है। वह समस्त सृष्टि का कर्ता है। वह सनातन मूर्ति, कूटस्थ, निर्विकार एवं नित्य है। ज्ञानी उसीका गुण गाया करते हैं। उसीसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूपी विकार उत्पन्न होते हैं। महर्षियों ने वेद में उसीकी स्तुति की है। समस्त प्राणियों को

एक रूप से देखने वाले ब्राह्मण, देवता और समस्त धर्मात्मा उसको ब्राह्मणों का परम हितैषी, परम रूप, देवरूप, अनन्त रूप और श्रेष्ठ-अच्युत रूप मानते हैं। विषयी बुद्धि वाले जन, ब्रह्म में मायिक गुणों को स्थापित कर, उसकी उपासना करते हैं। जो अपार ज्ञान वाले योगसिद्ध योगी और साँख्यसिद्ध महातमा होते हैं, वे उसे जगत् का कारण मान, उसकी स्तुति करते हैं।

हे कौन्तेय! वेद कहता है कि साँख्य अर्थात् अमूर्त, शुद्ध, चिदात्मा को परब्रह्म का स्वरूप जानना चाहिये। साँख्य मतानुसार घटपट आदि समस्त पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उसे परब्रह्म आत्मा ही का ज्ञान मानना चाहिये। इस धराधाम पर विविध प्रकार के जो प्राणी उत्पन्न होते हैं वे मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं। अर्थात् स्थावर और जङ्गम। इनमें जङ्गम श्रेष्ठ माने गये हैं। ब्रह्मवेत्ताओं में जो ज्ञान है वह साँख्य का ज्ञान है और वही ज्ञान विस्तृत वेदों में, योगशास्त्र में और भिन्न भिन्न पुराणों में वर्णित है। जो ज्ञान बड़े बड़े इतिहासों में है, चतुर जन जिसे अर्थशास्त्र बतलाते हैं और जगत का जो ज्ञान है वह सब ज्ञान साँख्य के परमज्ञान से प्राप्त होता है। हे राजन्! शम, मानसिक धैर्य, वेदवर्णित समस्त सूक्ष्म ज्ञान, सूक्ष्म बल, तप और सूक्ष्म सुख का साँख्य शास्त्र में यथार्थ रीत्या वर्णन है। साँख्यकथित साँख्य ज्ञान के समस्त साधन, यदि प्राप्त न हों और साँख्य सम्बन्धी ज्ञान ठीक ठीक प्राप्त न हुआ हो तो साँख्य योगी देवलोक में तो अवश्य जाता है। वहाँ वह इच्छित सुख प्राप्त कर और देवताओं पर हुकूमत करता है। फिर धर्मात्मा ब्राह्मणों तथा यतियों के किसी कुल में पुनः जन्म लेता है। साँख्य-ज्ञानी पुरुष अपना शरीर छोड़ने पर, ब्रह्मधाम में वैसे ही जाता है, जैसे देवता लोग स्वर्ग में जाते हैं। अतएव हे राजन्! सत्पुरुषों के मान्य, महा योग्यता वाले शिष्ट जन, साँख्य मार्ग को अपनाने वाले द्विज, कभी भी पशु योनि में उत्पन्न नहीं होते। वे कभी अधोगति को प्राप्त नहीं होते।

वे कभी पापियों के घरों में उत्पन्न नहीं होते। साँख्यज्ञान बड़ा विशद है, अत्यन्त पुरातन है और महासागर की तरह अगाध है और निर्मल है। उदार होने से और सब को कल्याणप्रद है। साँख्य शास्त्र का पूर्ण ज्ञान तो अप्रमेय भगवान् श्रीमन्नारायण ही को है। अतः इस साँख्य शास्त्र का ज्ञाता नारायण को प्राप्त करता है।

हे राजन्! मैंने तुम्हें यह आत्मतत्व सुनाया। यह सारा जगत् पुराण पुरुष नारायण रूप है। सृष्टि काल में नारायण ही सब की रचना करते हैं और प्रलयकाल उपस्थित होने पर सब का संहार कर सब को अपने में लीन कर लेते हैं। तब वे जगत् अन्तरात्मा रूप जल में शयन करते हैं।

तीनसौ दो का अध्याय

क्षर-अक्षर विचार

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! वह अक्षर क्या पदार्थ है जिसे प्राप्त कर जीव को पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता और वह क्षर क्या पदार्थ है जिसे प्राप्त कर जीव को पुनः जन्म लेना पड़ता है? अक्षर किस को कहते हैं? अक्षर तथा क्षर का स्वरूप कैसा है? आप मुझे ये बातें साफ साफ समझावें। क्यों कि मैं इन बातों को जान लेना चाहता हूँ। वेदपारग ब्राह्मण, महा भाग्यवान ऋषि एवं महात्मा यति आपको ज्ञान का सागर बतलाते हैं और आपकी आयु के इने गिने दिन रह गये हैं। क्योंकि अब दक्षिणायन काल समाप्त हो उत्तरायण काल आरम्भ होने ही वाला है। उस समय आप परमधाम को सिधारेंगे। जब आप हमको छोड़कर चल देंगे, तब हम ऐसी कल्याणकारिणी कथा किससे सुनेंगे? आप कुल-वंश-प्रदीप हैं और ज्ञान रूपी दीपक से प्रका-

शित हो रहे है। हे कुरुकुलोत्पन्न राजन्! मैं आपके मुख से यह बात सुनना चाहता हूँ। आपके मुख से कल्याणमयी बातें सुनते सुनते मेरा जी नहीं भरता।

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर! इस विषय में मैं तुम्हें वसिष्ठ और जनकवंशी कराल नामक राजा का संवादात्मक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ। एक वार सूर्य के समान कान्ति वाले ऋषि-श्रेष्ठ वसिष्ठ ऋषिमण्डली के बीच शान्ति के साथ बैठे थे। उस समय राजा कराल ने उनसे परम-कल्याणकारक ज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न किया था। आत्मा की गति का निर्णय करने वाले अध्यात्म-विद्या-विशारद एवं अन्य समस्त विद्याओं में पारङ्गत, मैत्रावरुणि वसिष्ठ ऋषि जहाँ बैठे हुए थे, वहाँ उनके सामने जा, राजा कराल ने दोनों हाथ जोड़ ऋषि वसिष्ठ को प्रणाम किया। तदनन्तर सुन्दर अक्षरों वाला विनय से भरपूर, कुतर्क रहित और मधुर वचनों से युक्त यह प्रश्न पूछा—हे भगवन्! मैं उस सनातन परब्रह्म के स्वरूप को सुनना चाहता हूँ, जिसके स्वरूप को जान कर विवेकी जनों को जन्म-मरण के चक्कर में नहीं फँसना पड़ता। जिस परब्रह्म में लीन होने पर इस जगत की क्षर संज्ञा हो जाती है, जो स्वयं अक्षर कहलाता है; जो इस संसार से उद्धार करने वाला है, जो आनन्द-स्वरूप है, जो सुख दुःख से रहित है और जो सनातन परब्रह्म है उसीका स्वरूप मैं जानना चाहता हूँ। अतः आप विस्तार पूर्वक मुझे बतलावें।

वसिष्ठ जी बोले—हे राजन्! इस जगत की जिस प्रकार क्षरसंज्ञा होती है, उस क्षर को और कभी नष्ट न होने वाले अक्षर के विषय में मैं तुझे सुनाता हूँ, सुन। देवताओं के बारह हज़ार वर्षों का एक युग होता है। ऐसे चार युगों को एक सहस्र से गुणा करने पर जितने वर्ष (४८ सहस्र) होते हैं, उतने वर्षों का एक कल्प होता है ऐसे ही एक कल्प का ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा जी की रात का भी यही परिमाण है। ब्रह्मा का लय होने पर, अष्टसिद्धि वाले शम्भु जागते हैं

और वे मूर्तिमान्, अनन्त शक्ति वाले और असंख्य कर्मों वाले, हिरण्य-गर्भ को प्रथम उत्पन्न करते हैं। इन शम्भु ही की ईशान संज्ञा है। ये पवित्र ज्योतिःस्वरूप और अविनश्वर हैं। हिरण्यगर्भ के हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक, मुख, कान समस्त दिशाओं में व्याप्त हैं। ये भगवान् ही हिरण्य-गर्भ कहलाते हैं। साँख्यशास्त्र में इनको बुद्धि और योगशास्त्र में महान विरञ्चि तथा अज नाम से पुकारा जाता है। साँख्यशास्त्र में उन अनेक रूपों वाले के नाम भी अनेक बतलाये गये हैं। वे विश्वात्मा कहलाते हैं। वे एक भी हैं और अक्षर स्वरूप भी हैं। वे बिना किसी की सहायता के इन बहुरूपधारी प्राणियों से युक्त त्रिलोकी की रचना करते हैं। इनकी रक्षा करते हैं। अनेक रूपधारी होने के कारण वे विश्वात्मा कहलाते हैं, वे महातेजस्वी भगवान् विकार को प्राप्त हो, स्वयं अपने को रचते हैं और महाशक्ति धारण कर प्रथम महान् अहङ्कार को तथा उसके अभिमानी प्रजापति को उत्पन्न करते हैं। पण्डित, अव्यक्त से उत्पन्न हुए विश्वरूप को व्यक्त अर्थात् हिरण्यगर्भ और विद्या-सृष्टि कहते हैं। महतत्व की और अहङ्कार की सृष्टि अविद्या-सृष्टि कहलाती है। विधि तथा अविधि एक ही से उत्पन्न हुई हैं। श्रुतियों तथा शास्त्रों के अर्थ को विचारने वाले जन, उन्हींको विद्या और अविद्या कहते हैं।

हे राजन्! अहङ्कार से पञ्च-सूक्ष्म-भूतों की उत्पत्ति होती है, यह तीसरी सृष्टि है। सात्विक, राजस और तामस—तीन प्रकार के अहङ्कारों से जो चौथा विकार उत्पन्न होता है उसको चतुर्थ सृष्टि कहते हैं। उस विकार से उत्पन्न चौथी सृष्टि में वायु, तेज, आकाश, जल और पृथिवी नामक पञ्चमहाभूत और उनके गुण तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक पाँच विषय उत्पन्न होते हैं। ये दसों तत्व एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। ये पाँचवीं भौतिक सृष्टि कहलाती है। यह सृष्टि अर्थवत् मानी जाती है। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका तथा दोनों हाथ, दोनों पाँव और वाणी—ये दस इन्द्रियाँ हैं। इन दस में से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

और पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन के साथ ही उत्पन्न होती हैं। ये चौबीसों तत्व देहधारियों में रहते हैं और तत्व-दर्शी ब्राह्मण इनके यथार्थ स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर शोकान्वित नहीं होते। इन्द्रियों का समुदाय, देह कहलाता है। ये चौबीस तत्व समस्त देहधारियों में पाये जाते हैं। देव, दानव, मनुष्य, यक्ष, भूत, गन्धर्व, किन्नर, महासर्प, चारण, पिशाच, देवर्षि, निशाचर, डाँस, कीड़े, मच्छर, सपूति कृमि, चूहा, कुत्ता, श्वपाक, ऐणेय, चाण्डाल, पुल्कस, हाथी, घोड़े, सिंह, वृक्ष, गौ आदि यावत् दृश्य पदार्थों में यह समुच्चय विद्यमान है। ये सब जीव उसके दृष्टान्त रूप हैं। सुनते हैं जलचर, स्थलचर और नभचर प्राणी जल, स्थल और नभ में रहते हैं। अन्यत्र उनको रहने का स्थान ही नहीं मिलता। अक्षर को छोड़, जो कुछ संज्ञावाला पदार्थ है; वह पाञ्च-भौतिक हैं। वह नित्य प्रति नष्ट हुआ करता है। इसीसे शास्त्रों में उसे क्षर नाम से पुकारा है। क्षर से परे वाले पदार्थ की अक्षर संज्ञा है। अव्यक्त अर्थात् अक्षर से उत्पन्न हुआ स्वरूप व्यक्त अर्थात् क्षर जगत विनष्ट हो जाता है। इसीसे यह क्षर—जगत् नाशवान् कहलाता है। यद्यपि प्रथम उत्पन्न महतत्व नित्य है, तथापि वह क्षर नाशवान् है। यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है।

यद्यपि चौबीस तत्वों के समुदाय से परे पच्चीसवें विष्णु, चौबीसों तत्वों द्वारा ज्ञानगम्य नहीं हैं, तथापि तत्वज्ञानी उन विष्णु को ज्ञान-गम्य मानते हैं। चौबीसों तत्व विष्णु के आश्रित होने से पण्डित भगवान विष्णु को तत्व नाम से पुकारते हैं। महतत्व मूर्तिमान व्यक्ति को उत्पन्न करता है और चौबीसवीं प्रकृति अव्यक्त है। यह उन सब की अधिष्ठात्री है। किन्तु पचीसवें तत्व विष्णु अमूर्त हैं। अतः वे विश्व के अधिष्ठान नहीं हैं। प्रकृति समस्त प्राणियों के शरीरों में घुस, उनके हृदय में रहती है। क्योंकि वह सब की अधिष्ठात्री है। उसमें चैतन्य की छाया पड़ने से वह चेतना वाली है। उसे मूल प्रकृति कहते हैं और पचीसवाँ तत्व रूप

विष्णु चेतन रूप है, नित्य है और अमूर्त है। जगत की उत्पत्ति और उसका संहार करने वाली प्रकृति के सम्बन्ध से विष्णु सब पदार्थ स्वरूप वाले से देख पड़ते हैं। वे निर्गुण होने पर भी, सृष्टि एवं प्रलयकारिणी प्रकृति के सहवास से सृष्टि और प्रलय करने वाले मूर्तिमान देख पड़ते हैं; किन्तु स्वयं वे हैं निराकार। इस प्रकार हिरण्यगर्भ अविद्या से युक्त और अज्ञान से आवृत हो कर, विकार को धारण कर अहं अभिमान वाला होता है। सत्व रज, तम गुणों से युक्त आत्मा विस्मृति के कारण और अज्ञान का सेवन करने से विविध योनियों में तादात्म्य को पाता है। किन्तु प्रकृति के सहवास के कारण जन्म मृत्यु होने से वह आत्मा अपने को देह से भिन्न नहीं मानता। वह अपने को "यह" अथवा "वह" समझ कर, सत्त्व, रज, और तम के गुणों का अनुसरण करता है। तमोगुण से प्रवृत्त तमोगुण के क्रोधादि भावों को, रजोगुण से प्रवृत्त राजस भावों को, सतोगुण से प्रवृत्त सतोगुण के प्रकाश आदि भावों जैसे विविध भावों को वह धारण करता है।

सत्त्वगुण का शुक्ल, रजोगुण का रक्त और तमोगुण का कृष्ण वर्ण है। अतः इन तीन गुणों से तीन रूप उत्पन्न होते हैं। ये सब प्रकृति ही के रूप हैं। तमोगुणी जीव नरकगामी होते हैं। रजोगुणी जीव मनुष्य-लोक में उत्पन्न होते हैं और सतोगुणी देवलोक में जा कर, सुख भोगते हैं। जो जीवात्मा केवल पापकर्मपरायण होता है, वह पक्षियों की योनि में, पाप-पुण्य दोनों कर्म करने वाला मनुष्ययोनि में और केवल पुण्य कर्म करने वाला देवयोनि में उत्पन्न होता है।

इस प्रकार पचीसवें तत्त्व अक्षर के विषय में तत्ववेत्ताओं का मत है। उनका मत है कि, अव्यक्त प्रवृत्ति के संयोग से क्षर रूप हो जाता है और एक मात्र ज्ञान द्वारा वह अक्षर अपने यथार्थ रूप में दिखलायी भी पड़ता है।

तीनसौ तीन का अध्याय

कर्म-प्रकृति-बल

वसिष्ठ जी ने कहा—हे जनक! अज्ञानवश जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है और इसका फल यह होता है कि, वह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। इस प्रकार वह जीव उत्तरोत्तर एक दो नहीं हज़ारों शरीरों को धारण करता है। माया सम्बन्धी गुणों के सम्बन्ध से या गुणों के प्रभाव से कभी तो उसे सहस्रों बार तिर्यक योनि में उत्पन्न होना पड़ता है और कभी समय कर्म और ऐश्वर्य बल से उसे देवयोनि में जाना पड़ता है। इस प्रकार जीव मनुष्ययोनि से देवयोनि में और देव योनि से मनुष्ययोनि में आता जाता रहता है। फिर मनुष्ययोनि से सहस्रों वर्षों तक नरक में पड़ा रहता है। जैसे रेशम का कीड़ा अपने मुख से तन्तु निकाल उन तन्तुओं से अपने आप बँध जाता है; वैसे ही निर्गुण अक्षर पुरुष से उत्पन्न हुआ शुद्धात्मा, प्रकृति के सत्वादि गुणों के द्वारा बँध जाता है। यद्यपि आदिपुरुष स्वयं सुख तथा दुःख से रहित है, तब भी वह पशु पक्षी आदि की योनियों में उत्पन्न होता है और उन योनियों में मस्तकपीड़ा, नेत्रपीड़ा, दन्तशूल, जलग्रह, जलोदर, तृषरोग, श्वासकास ज्वर, गलगण्ड, विशूचिका, सफेद कोढ़, अग्नि-दाह, खाँसी, मृगी आदि अनेक प्रकृतिजन्य रोगों से पीड़ित होता है। यही नहीं माया के गुणों के सम्बन्ध से और भी विचित्र विचित्र दुःख जीवात्मा को भोगने पड़ते हैं। कभी तो उसे सहस्रों तिर्यक योनियों में जन्म लेना पड़ता है, कभी वह देवयोनि में चला जाता है। उन योनियों में भ्रमवश शरीर सम्बन्धी अहङ्कार से वह उन उन शरीरों से किये हुए शुभाशुभ कर्मों का अनुभव भी करता है। अज्ञानावृत जीवात्मा कभी सफेद वस्त्र कभी कथरी पहनता है, कभी पृथिवी पर,

कभी मेंडक की तरह हाथ पैर सकोड़ कर वह शयन करता है और कभी वीरासन से बैठता है और कभी खुले मैदान में सो कर रात बिताता है। कभी वह ईंटों से बने घर में, कभी काँटों के ढेर पर, कभी समर में, कभी जल पर, कभी गारे में, कभी चौकी पर सोता है। कभी वह फलाभिलाष से वस्त्रों को त्याग मूँज की कटिमेखला तथा कौपीन को धारण करता है और कभी अलसी की छाल के, कृष्ण मृग चर्म के, सन के, भेड़ की खाल के अथवा बाघ की चाम के वस्त्र पहिनता है। कभी सिंह के चर्म के, किसी समय बढ़ियां वस्त्र, किसी समय भोजपत्र के वस्त्र, कभी सेंमल की रुई के और कभी रेशमी, कभी वह चिथड़े पहिनता है। बुद्धिशून्य देहधारी जीव को अन्य बहुत प्रकार के वस्त्र पहिनने पड़ते हैं और उन पर अपने पने का अभिमान रख, वह विविध प्रकार के भोजन करता है और रत्नों को धारण करता है। कभी दिन में एक बार, कभी एक रात्रि के बाद, कभी शाम को, कभी आठवें दिन शाम को, कभी छठवीं रात को, कभी साँतवी तथा दसवीं रात्रि को और कभी बारहवें दिन वह भोजन करता है। कभी कभी वह एक मास का उपवास करता है, कभी फलमूल खा कर, कभी वायु पी कर, कभी जलमात्र पी कर, कभी पिण्याक खा कर, कभी दही, कभी मट्ठा पी कर रह जाता है, कभी कभी वह गोमूत्र, कभी शाकान्न, कभी पुष्प, कभी सिवार, कभी जल का आचमन कर के ही रह जाता है। कभी उसे वृक्षों से गिरे हुए पत्ते ही खा कर रहना पड़ता है, कभी वह वृक्षों से गिरे फलों पर ही अपना निर्वाह करता है। कभी कभी वह सिद्धि पाने के लिये अनेक प्रकार के कृच्छ्व्रत धारण करता है। कभी विधिपूर्वक वह चान्द्रायण व्रत करता है कभी धर्मचिन्ह धारण करता है, कभी आश्रमों में से किसी आश्रम के मार्ग का अनुसरण करता है और कभी वह विपथ-गामी हो जाता है। कभी वह विविध मन्त्र दीक्षाओं को लेता है और कभी विविध प्रकार के पाषण्डमय धर्मों का सेवन करता है। कभी वह पत्थर की चट्टान पर

कभी एकान्त में झरनों के निकट, कभी सुनसान नदी-तट पर, कभी बियाबान वनों में, कभी पवित्र देव-स्थानों में और कभी किसी एकान्त सरोवर पर जा बसता है। कभी वह किसी पहाड़ी गुफा में जा कर रहता है। कभी वह विविध मन्त्रों को जपता है और कभी अनेक व्रतोवास करता है। वह विविध नियमों का पालन करता हुआ, विविध प्रकार के तप करता है, अनेक यज्ञ करता है और अनेक विधियों का पालन करता है। कभी वह ब्राह्मणों जैसा, कभी क्षत्रियों जैसा, कभी बनियों जैसा और कभी शूद्र जैसा व्यवहार करता है। कभी जीवात्मा दुःखियों, अन्धों, लूलों और दीनों को अनेक प्रकार के दान भी देता है। अज्ञानवश कभी जीवात्मा, सत्त्व, रज और तम गुणों को, कभी धर्म, अर्थ और काम को; अपने में आरोपित करता है।

हे राजन्! इस प्रकार स्वयं ही आत्मा प्रकृति द्वारा विकारी हो कर, समस्त द्वैत प्रपञ्चों में पड़ा करता है और अपने को सब का कर्त्ता धर्त्ता मानता है। वह स्वधाकार, स्वाहाकार, नमस्कार, याजन, अध्ययन, दान, भजन, अध्ययन कर, यह मानता है कि, सब काम मैं ही करता हूँ। विकारी आत्मा समझता है कि, जन्म-मरण-विवाद और संग्राम मैं ही करता हूँ, किन्तु विद्वानों का कथन है कि, यह शुभाशुभ-कर्म-मार्ग है। वास्तव में प्रकृति ही जगत को उत्पन्न करती और वही जगत् का संहार करती है। आदिपुरुष सृष्टि के आदि में सत्वादि गुणों का वैसे ही विस्तार करता और प्रलयकाल में सब को अपने में वैसे ही लीन भी कर लेता है, जैसे प्रातःकाल में सूर्य अपने किरण-जाल को फैलाते और सायंकाल को उन्हें समेट लेते हैं। आदिपुरुष स्वयं तो एकाकी ही रहता है। जीवात्मा, प्रकृति के सहवास ही से तीनों गुणों से रहित होने पर भी, त्रिगुणात्मक होने का अभिमान करता है। उसे कर्म-मार्ग में अनुराग उत्पन्न हो जाता है और वह मनोहर रूप, अवस्था और वर्ण एवं सत्वादि गुणों को भी अपने ही मान लेता है। वह प्रकृति के साथ

खेल करने को उत्पत्ति और प्रलय करने वाली प्रकृति को भी विकृत करता है। इसीसे जीवात्मा का कर्ममार्ग में अनुराग होता है। इसका कारण यह है कि, वह समझता है कि, अमुक कर्म के करने से अमुक फल और अमुक लाभ होगा। इस लिये उसकी कर्म में प्रवृत्ति होती है। हे राजन्! सचमुच, प्रकृति ही सारे जगत् को अन्धा बनाये हुए है। प्रकृति के संयोग ही से समस्त पदार्थ रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त हो रहे हैं। प्रकृति के सहवास ही से पुरुष को प्रति दिन सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। किन्तु जीवात्मा अज्ञानवश समझा करता है कि, दुःख की उत्पत्ति मेरे ही लिये की गयी है और दुःख मेरा ही पीछा किया करते हैं। यह समझ, वह बिचारा करता है कि, मैं किसी न किसी तरह इन दुःखों से छुटकारा पा जाऊँ। अज्ञानवश वह यह भी समझ बैठता है कि, इन समस्त दुःखों से छुटकारा पा, मैं पुण्यों का फल स्वर्ग में जा कर भोगूँगा। कभी वह यह समझ बैठता है कि, पुण्यों और पापों के फल मैं इसी लोक में भोगूँगा। कभी समझता है कि, मुझे सुख मिलना चाहिये और सदा अच्छे काम करने से इस जीवन में मुझे अन्त तक सुख ही सुख मिलेंगे। यही नहीं, मैं अगले जन्म में भी सुखी ही रहूँगा। साथ ही इस जन्म में यदि मैं बुरे कर्म करूँगा, तो मुझे सदा दुःख ही दुःख भोगने पड़ेंगे। क्योंकि यह मानव-जन्म तो बड़े बड़े दुःख से परिपूर्ण है। इसीसे मनुष्य को नरक में जाना पड़ता है। वह समझता है कि, नरक से बहुत दिनों बाद छुटकारा पा, मैं मनुष्ययोनि में जन्म लूँगा और तदनन्तर देवयोनि में। फिर देवयोनि से मनुष्ययोनि में जाऊँगा। मनुष्ययोनि के बाद पुनः मुझे नरक में आना पड़ेगा। यद्यपि जीवात्मा स्वयं तो देह एवं इन्द्रियों के संघात से वर्जित है; तथापि देह तथा इन्द्रियों के धर्मों से आवृत हो कर और यह समझ कर कि, मैं चिदंश देही हूँ और देहेन्द्रियों के धर्म उस चिदंश के हैं, वह देवयोनि अथवा मनुष्ययोनि में जन्म लेता है और कभी नरकगामी होता है। ममतावश जीवात्मा को इस प्रकार जन्म मरण के चक्र में फँसना पड़ता है।

इस प्रकार मरणशील देहों को धारण कर, जीवात्मा को अगणित शरीरों में जन्म लेना पड़ता है। शुभाशुभ-फलप्रद कर्म करने वाले को तीनों लोकों में मूर्त्तिमान शरीर धारण करने पड़ते हैं और पुण्य पाप के फल भी भोगने पड़ते हैं। किन्तु शुभाशुभ कर्मों के करने वाली प्रकृति ही है और फल भी वही भोगती है। तिर्यक गति वालों के, क्षुद्र प्राणियों के और देवताओं के तीन स्थान हैं; जो प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। इस गुणवर्जित प्रकृति का अस्तित्व उसके महतत्वादि कार्यों से हम जान सकते हैं। प्रकृति-प्रवर्त्तक पुरुष अर्थात् जीवात्मा निर्गुण है। किन्तु शरीरस्थित चैतन्य ही से उसका अस्तित्व अनुमीत होता है। पुरुष कर्मरहित होने पर भी कर्माभिमानवश, अष्टपुरी रूपी गर्भ में प्रवेश करता है और प्रकृति से उत्पन्न एवं निर्गुण सूक्ष्म शरीर को धारण करता है। तदनन्तर उसमें इन्द्रियाँ बनतीं हैं और कर्म द्वारा जीवात्मा उन इन्द्रियों को अपनी समझता है। पाँचो इन्द्रियाँ तथा पाँचो कर्मेन्द्रियाँ, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के साथ रह कर, निज विषयों में प्रवृत्त होती हैं। किन्तु ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रहित देहधारी आत्मा समझता है कि, मैं इन्द्रिय रूप हूँ और समस्त इन्द्रियाँ मेरी ही हैं। वह शरीरधारी न होने पर भी अपने को शरीरधारी समझता है। सत्वादि-गुण-विवर्जित होने पर भी वह अपने को सत्वादि-गुण-विशिष्ट समझता है। वह काल-कर्म-रहित होने पर भी अपने को कालधर्मी मानता है और अतत्व होने पर भी अपने को चोवीस तत्वों में से एक तत्व मानता है। वह गतिहीन होने पर भी अपने को गतिशील और स्वयं किसी की मृत्यु न होने पर भी अपने को मृत्यु अर्थात् मारने वाला समझता है। वह क्षेत्र से भिन्न होने पर भी, अपने आपको उत्पत्तिशील मानता है। वह तपरहित होने पर भी अपने को तपस्वी समझता है और अगतिक होने पर भी अपने को गतिमान् समझता है। इसी प्रकार वह जन्म-रहित होने पर भी अपने को जन्मशील, निर्भय होने पर भी सभय, अक्षर होने

पर भी अपने को क्षर मानता है। इसका कारण जीवात्मा की निर्बुद्धिता है।

तीनसौ चार का अध्याय

षोड़श-कला-युक्त जीव

वशिष्ठ जी बोले,—हे राजन्! प्रकृतिजन्य अज्ञानवश तथा अज्ञानियों के संग से जीव अगणित नश्वर शरीरों को धारण करता है। चैतन्य कला के साथ ही साथ अज्ञान युक्त होने के कारण जीव देवता, मनुष्य और व्योमचारी प्राणियों की नश्वर सहस्रों योनियों में उत्पन्न होता है। जैसे जैसे चन्द्रमा का सहस्रों वार क्षय और वृद्धि होती है; वैसे ही अज्ञानी जीव भी, अज्ञानवश सहस्रों वार जन्म लेता है और सहस्रों वार मरता है। चन्द्रमा की सोलह कलाओं में सोलहवीं कला नित्य और अविनाशी है। इसी प्रकार जीव की भी सोलह कलाएँ हैं। इन सोलह में पन्द्रह तो देख पड़ती हैं और नष्ट भी हो जाती हैं अर्थात् घटा बढ़ा करती हैं; किन्तु सोलहवीं चिदात्मा रूप शुद्ध कला अति सूक्ष्म है और वही अविनाशी है। ज्ञानी जीव को इन *पन्द्रह कलाओं में वारंवार जन्मना पड़ता है। क्योंकि मूलतत्व सोलहवीं कला के साथ संयुक्त रहते हैं। इसीसे जीव को वारंवार जन्म लेना पड़ता है। सोलहवीं कला शुद्ध चैतन्य रूप है और सोम के नाम से प्रसिद्ध है। यह सनातन और अविनाशी है। इन्द्रियाँ इस कला का पालन नहीं करतीं। किन्तु यह कला इन्द्रियों को स्फूर्त्ति प्रदान कर, उनकी रक्षा करती है। यह सोलहवीं कला ही प्राणियों को जन्म देने का कारण है। अतः प्राणी

---

* जीव की पन्द्रह कलाएं ये हैं—चैतन्याभास युक्त प्रकृति। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरण चतुष्टय।

इसकी सहायता के विना, किसी भी प्रकार जन्म नहीं ले सकते। यह सोलहवीं कला ही प्रकृति नाम से विख्यात है। जब जीव इस प्रकृति से विमुक्त हो जाता है; तब विद्वान् लोग जीव की मुक्ति हुई कहते हैं। जो व्यक्त अव्यक्त नामधारी इस प्राकृत शरीर पर ममता रखता है; उसे विमल विशुद्ध और चैतन्य पचीसवें महान् आत्मा का बोध नहीं होता। वह इसी अज्ञान के कारण बारंबार भिन्न भिन्न शरीरों में उत्पन्न होता है और उनसे छुटकारा नहीं पा सकता। आत्मा सङ्गविवर्जित और शुद्ध है। अज्ञानवश तथा शुद्धतत्त्व की अशुद्धतत्त्व के साथ मिलावट होने से और उसका आश्रय ग्रहण करने से शुद्ध आत्मा अशुद्ध बन जाता है।

हे राजन्! जीवात्मा तो शुद्ध स्वरूप और सङ्गरहित है। किन्तु मन में यह असत् आग्रह कर कि—यह शरीर मेरा है, मैं देह रूप हूँ, वह अशुद्ध हो जाता है। मूल ही से ज्ञानी होने पर भी वह इसीसे अज्ञानी बन जाता है। जीवात्मा को तो सब श्रमों से रहित समझना चाहिये। वह तो त्रिगुणात्मिका प्रकृति के संयोग से त्रिगुणात्मक हो जाया करता है।

तीनसौ पाँच का अध्याय

पुरुष तथा प्रकृति

राजा जनक ने कहा, हे मुने! स्त्री-पुरुष-सम्बन्धवत् क्षर अक्षर अर्थात् पुरुष प्रकृति का सम्बन्ध है। जैसे पुरुष विना, स्त्री गर्भधारण नहीं कर सकती, वैसे ही पुरुष भी स्त्री के विना पुरुषोत्पत्ति नहीं कर सकता। समस्त योनियों में परस्पर सम्बन्ध होने के कारण तथा एक दूसरे के गुण का आश्रय करने ही से आकार की उत्पत्ति होती है। समागम की इच्छा ही से स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। फिर एक दूसरे के

गुणों का आश्रय ग्रहण करने से ऋतुकाल उपस्थित होने पर गर्भस्थिति होती है। इस बात को मैं उदाहरण से समझाता हूँ। ऋतुकाल में स्त्री पुरुष के समागम करने से क्या होता है—सुनिये। मनुष्य-शरीर में अस्थियों, स्नायु और मज्जा में पिता के और त्वचा, माँस तथा रक्त में माता के गुण रहते हैं। यह हमने सुना भी है और इसमें वेदादि शास्त्र भी प्रमाण हैं। वेदादि शास्त्र कथित बात प्रामाणिक मानी जाती है। क्योंकि वेदादि शास्त्र सनातन काल से प्रमाणभूत माने जाते हैं। यदि पुरुष प्रकृति की जड़ता को अवरुद्ध कर, उसके दुःख का आश्रय ग्रहण करे तथा प्रकृति पुरुष के आनन्दादि गुणों का अवरोध करे और चैतन्यादि गुणों का आश्रय ग्रहण करे, तो किसी प्रकार भी मोक्ष की सिद्धि नहीं होती; मुझे तो यही जान पड़ता है। अतः आप मोक्ष सम्बन्धी कोई स्पष्ट दृष्टान्त दें। क्योंकि आप तो तत्वज्ञानी हैं। मुझे मोक्षप्राप्ति की इच्छा है। वह मोक्ष दुःखरहित है और शरीररहित है। अतः जरारहित भी है। इन्द्रिय-अगोचर जो ईश्वर से भी श्रेष्ठ तत्व हैं, उसीकी प्राप्ति करने की मेरी अभिलाषा है।

वसिष्ठ जी बोले—राजन्! तुमने वेदादि शास्त्रों के आधार पर यह प्रश्न किया है। तुम शास्त्र-प्रमाण मानते हो और तदनुसार बर्ताव भी करते हो। तुमने वेदादि शास्त्रों का अध्ययन भी किया है। किन्तु उनका मर्म तुम नहीं समझ सके। तुम तो वेद के शब्दों को लिये हुए बैठे हो। जो पुरुष वेद तथा धर्मशास्त्र के वचनों को कण्ठस्थ किया करता है और उनके यथार्थ तत्वों को नहीं समझता उसका परिश्रम व्यर्थ है। शास्त्र पढ़ कर, शास्त्र के मर्म को न जानने वाला केवल बोझा ढोने वाला है। किन्तु जो शास्त्र का मर्म जानने वाला है, उसीका शास्त्राभ्यास करना सफल होता है। शास्त्र-तत्वज्ञ पुरुष से यदि कोई तत्त्वजिज्ञासु किसी ग्रन्थ के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ पूछे, तो उस शास्त्रतत्वज्ञ का यह कर्त्तव्य है कि, वह जिज्ञासु को वैसे ही समझावे, जैसे वह समझ सके। जो विद्वज्जनों

की सभा में ग्रन्थ का अर्थ नहीं समझा सकता, वह स्थूलबुद्धि, किसी मन्दबुद्धि पुरुष को शास्त्रीय सिद्धान्त क्यों कर समझा सकता है। जो मनुष्य मूर्ख होता है, वह शास्त्रीय सत्य रहस्य को यथार्थ रीत्या नहीं समझा सकता। क्योंकि वह स्वयं ही उसे नहीं जानता। यदि ऐसा पुरुष आत्मज्ञानी हुआ भी तो वह जनसमाज में उपहास का पात्र बन जाता है। हे राजन्! साँख्यवादी और योगवादी आत्मज्ञानी महात्मा अपने शिष्यों को जैसे उपदेश देते हैं; वैसे ही मैं तुम्हें भी उपदेश देता हूँ; सुनो। जो बात योगशास्त्रवेत्ता जानते हैं, वह बात साँख्यवादी भी जानते हैं। जो पुरुष साँख्य और योग—दोनों शास्त्रों को एक समझता है, वही बुद्धिमान है। त्वचा, माँस, रुधिर, मेद, पित्त, मज्जा, स्नायु, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समुदाय का अस्तित्व है। यह बात सब को मालूम है कि, जैसे द्रव्य से द्रव्य, इन्द्रिय से इन्द्रिय और देह से देह उत्पन्न होता है; वैसे ही बीज से बीज उत्पन्न होता है। यदि कोई यह शङ्का करे कि, इन्द्रियरहित, बीजरहित, द्रव्यरहित और देहरहित, निर्गुण महान आत्मा में गुण कैसे हो सकते हैं, तो इस शङ्का का समाधान इस प्रकार करना पड़ेगा। आकाशादि समस्त तत्व, सत्व आदि गुणों से उत्पन्न होते हैं और अन्त में सत्वादि गुणों ही में लीन भी हो जाते हैं। अर्थात् सत्वादि गुण प्रकृति से उत्पन्न हो, प्रकृति ही में लय हो जाते हैं। त्वचा, माँस, रक्त, मेद, पित्त, मज्जा, अस्थि, स्नायु—इन आठ पदार्थों की उत्पत्ति वीर्य से होती है। इसीसे ये आठों प्रकृति से उत्पन्न अर्थात् प्राकृतिक कहलाते हैं। कभी कभी इनकी उत्पत्ति केवल पुरुष के वीर्य ही से हो जाती है। जीवात्मा और यह विश्व, सत्व, रज तथा तमोयुक्त प्रकृति से बनते हैं। परमात्मा इन दोनों से भिन्न है। जैसे—ऋतुएं आकार शून्य होने पर भी, पुष्प फलादि से उन (वसन्त आदि ऋतुओं) के रूप का बोध हो जाता है; वैसे ही प्रकृति भी आकार रहित होने पर भी, जब वह पुरुष को प्राप्त करती है, तब उससे वह सन्तान रूप अपने

महतत्वादि कार्यों को उत्पन्न करती है। इससे जान पड़ता है कि, लिङ्ग रहित एवं देहस्थ पुरुष सत्वादि गुणों से रहित एवं विमल होने पर भी केवल अनुमान द्वारा ही अनुभवगम्य है।

हे तात! उत्पत्ति-विनाश-रहित, अनन्त, सर्वदर्शी और सर्वदोष विवर्जित आत्मा, देहादि के सत्वादि गुणों के अभ्यास से गुण स्वरूप कहा जाता है। सत्वादि-गुण-वेत्ता जन जानते हैं कि, जीवात्मा में सत्वादि समस्त गुण रहते हैं, किन्तु निर्गुण आत्मा में सत्वादि गुणों का अभाव है। जब जीवात्मा, प्रमादवश आविर्भूत एवं प्रकृति से उत्पन्न कामादि दोषों को पराजित करता है; तब वह देहादि सम्बन्धी ममत्व को त्याग कर, परम पुरुष का स्वरूप प्रत्यक्ष देखने लगता है। साँख्य एवं योग को न जानने वाले तथा अन्य (तांत्रिक) लोग भी कहते हैं कि, बुद्धि से पर जो आत्मा तत्वज्ञ समझा जाता है और जो प्रकृतियुक्त महदहङ्कार का त्याग करने के बाद महाप्राज्ञ रूप कहलाता है, जो सत्वादि गुणों से भिन्न, अज्ञात रूप, अव्यक्त, नियामक रूप और सब गुणों से परे, परम अन्तर्यामी रूप, सर्वाधिष्ठाता, अविनाशी, निर्विकार है और जो प्रकृति एवं प्रकृति जन्य गुणों पर सत्ता चलाता है, वह प्रकृति और महत्तत्व की अपेक्षा चौबीस तत्वों से परे, पच्चीसवाँ तत्व रूप है। बाल्यावस्थादि अवस्थाओं से तथा जन्म-मरण से डरने वाले ज्ञानी जन, जब पुरुष के यथार्थ स्वरूप को जान लेते हैं; तब उन्हें ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होता है।

हे तात! ज्ञानी लोग जीवात्मा और परमात्मा के अभेदज्ञान को शास्त्रसम्मत और सत्य मानते हैं तथा अज्ञानी पुरुष जीवात्मा और परमात्मा के अभेदज्ञान को मिथ्या समझते हैं। ज्ञानी और अज्ञानी में यही अन्तर है। यह क्षर और अक्षर का स्वरूप मैंने तुम्हें बतलाया। संक्षेप में पुनः सुनो, जो एक ही है वह अविनाशी और अक्षर कहलाता है और जो अनेक रूपधारी और नाशवान् है, वह क्षर कहलाता है। जब पुरुष भ्रमोत्पादक पचीस तत्वों का अन्वेषण करने लगता है; तब उसे

छब्बीसवें तत्व का ज्ञान होता है। आत्मा के एकत्व तथा अभेदत्व का ज्ञान तो शास्त्रानुकूल है; किन्तु उसके अनेक रूपधारी होने की बात शास्त्र के प्रतिकूल है। जन्म-मरण-रहित परमपुरुष में अनेक तत्वों की सृष्टि विद्यमान है। इस पञ्चविंशति सर्ग को तत्व कहते हैं। इन पच्चीसों के पाँच पाँच के वर्ग हैं और वे सनातन तत्व हैं।

तीन सौ छः का अध्याय

क्षर और अक्षर स्वरूप-वर्णन

राजा जनक ने कहा—हे ऋषे! आपने मुझे क्षर के नाना प्रकार के भेद और अक्षर के एक तत्व का भेद बतलाया, किन्तु इनके स्वरूप के सम्बन्ध में मेरा सन्देह अभी तक बना हुआ है। मैं क्षर और अक्षर के स्वरूप को अभी तक नहीं समझ पाया हूँ। हे ऋषे! ज्ञानीजन आत्मा को अनेक रूपधारी, एक रूपधारी और परमस्वरूप देखते हैं। मेरी बुद्धि स्थूल है, अतः मैं इस बात को नहीं समझ सका। आपने मुझे क्षर के नानत्व और अक्षर के एकत्व का कारण बतलाया, किन्तु बुद्धि की चञ्चलता के कारण मेरी समझ में नहीं आया। मैं आपकी बात को समझ नहीं सका। अतः पूर्व-कथित नानत्व, एकत्व, बुद्धज्ञात, अप्रतिबुद्ध, प्रधानादि, बुध्यमान् जीव नित्य, अक्षर, अनित्य, क्षर, वस्तुतत्व—विवेक-साँख्य, चित्त-वृत्ति-निरोध योग, पृथक् भेद और अपृथक् अभेद को पुनः यथार्थ रीति से सुनना चाहता हूँ।

वसिष्ठ जी बोले—तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मैं दूँगा—किन्तु मैं अभी तुम्हें तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर न दे प्रथम योगविधि सुनाता हूँ, सुनो।

योगी के लिये ध्यान परमावश्यक विषय है। क्योंकि योगियों का परम बल ध्यान ही है। योगविद्यापारङ्गत योगी ध्यान दो प्रकार का

बतलाते हैं। अर्थात् धारणा और प्रणिधानभेद से ध्यान दो प्रकार का है। सामान्यतः मन की एकाग्रता और प्राणायाम ध्यान कहलाता है। सगुण और मन की एकाग्रता रूप निर्गुण भेद से प्राणायाम भी दो प्रकार का है। सगुण-ध्यान सगर्भ और निर्गुण-ध्यान अगर्भ कहलाता है। प्रणव अथवा गायत्री का जप करते समय जो प्राणायाम किया जाता है, उसे सगर्भ कहते हैं तथा जपरहित प्राणायाम को अगर्भ कहते हैं। मूतने के समय, मल त्यागते समय और भोजन करते समय योग न करे और सब समय योग करे। बुद्धिमान् जन मन एकाग्र कर इन्द्रियों को जीत प्रत्याहार करे और पवित्र रहे। इस अजर अमर आत्मा को चौबीस तत्वों से परे छत्तीसवें तत्व अर्थात् परमात्मा के निकट भेजने के अर्थ बाइस प्रकार की प्रेरणाओं से आत्मा का नित्य ज्ञान प्राप्त होता है। यह हमने सुना है और इसमें सन्देह करने की कोई बात भी नहीं है। जो पुरुष कामादि से पराजित नहीं होता, वही योगसाधन करने योग्य होता है, किन्तु जो कामादि से पराजित मन वाला पुरुष होता है, वह योग का साधन नहीं कर सकता।

योगी को उचित है कि, वह सब प्रकार के साँसारिक विषयों को त्याग, स्वल्पाहारी बने, इन्द्रियों को जीते। रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम भाग में मन को एकाग्र कर, आत्मा में लगावे।

हे मिथिलेश! योगी, मन से इन्द्रियों को और मन को बुद्धि से अपने वश में कर, पाषाण की तरह स्थिर हो कर रहे। शास्त्रज्ञ विद्वानों का कथन है कि, जो बुद्धिबल से काष्ठ की तरह निष्कम्प और पर्वत की तरह अचल रहता है और पर्वत की तरह अटल रहता है, वह योगी है। जब योगी न तो कान से सुनता, न नाक से सूँघता, न जीभ से स्वाद लेता, न नेत्र से देखता, न त्वचा से स्पर्श करता, न मन से कोई सङ्कल्प करता और न किसी वस्तु पर ममत्व रखता है तथा काष्ठ की तरह रह, किसी वस्तु के जानने का यत्न नहीं करता, तब ही

विद्वानों के कथनानुसार वह योगी शुद्ध स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है। उस समय जैसे निर्वात् स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति निश्चल रहती है, वैसे ही वह योगी भी बुद्धि और इन्द्रियों की क्रियाओं से रहित रह कर, एकान्त स्थान में योगाभ्यास करता हुआ निश्चल भाव से प्रकाशित होता रहता है। उस समय उसके प्राण की ऊर्ध्व अथवा तिर्यक गति नहीं होती और उसके प्राण ब्रह्म में लय हो जाते हैं। हे तात! हृदय में रहने वाले, मुझ जैसे से जानने योग्य होने पर भी ज्ञान-स्वरूप अन्तरात्मा को आत्म-दर्शन होता है। जिस समय योगी योग-समाधि में परमात्मा का दर्शन कर लेता है, उस समय उसके हृदय में धूमरहित अग्नि के तेज की तरह अथवा सकिरण सूर्य की तरह अथवा आकाश-स्थित विद्युत की तरह आत्मा के प्रकाश का आविर्भाव होता है। महात्मा, धैर्यवान, मनीषी और वेद-वेत्ता ब्राह्मण अजन्मा और अमृतरूप इस ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। विद्वान् योगी परमात्मा को सूक्ष्म से भी सूक्ष्म कहते हैं और महान् से भी महान् बतलाते हैं। यह परमात्मा समस्त जीवों में अवश्य विद्यमान रहता है; तब भी उनके देखने में वह नहीं आता। परन्तु हे तात! बुद्धि रूपी धन वाले, मनोरूपी दीपक से ही जगत-रचयिता परमात्मा को देखते हैं। वह परमात्मा प्रगाढ़ अन्धकार के परे रहता है। वेदपारङ्गत सर्वज्ञ पुरुष उसे अन्धकार-नाशक, निर्मल, अज्ञान-रहित, सूत्रात्मा से भिन्न रूप और मन का अविषय न होने के कारण मन के अगम्य बतलाते हैं। सब योगों में इसीको योग कहते हैं। इसके अतिरिक्त योग का और लक्षण हो ही क्या सकता है? इस प्रकार की साधना से जो योगी योगाभ्यास करते हैं, वे अजर अमर एवं मायातीत परमात्मा का दर्शन पाते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें योगशास्त्र का रहस्य यथार्थ रीति से कह कर सुनाया। अब मैं तुम्हें मोह का नाश होने पर धीरे धीरे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कराने वाले साँख्यशास्त्र का वर्णन सुनाता हूँ, सुनो। प्रकृति को प्रधान मानने

वाले साँख्यवादी अव्यक्त प्रकृति को प्रथम तत्व मानते हैं। वे कहते हैं कि, प्रकृति ही से द्वितीय तत्व अर्थात् महत्तत्व उत्पन्न हुआ है। सुनते हैं, इस दूसरे तत्व से तीसरा अहङ्कार नामक तत्व उत्पन्न हुआ है। आत्मा का दर्शन करने वाले साँख्य मतावलम्बियों का कहना है कि, अहङ्कार से पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए हैं। वे कहते हैं—इन आठ का नाम ही प्रकृति है। इन आठ प्रकृतियों में विकार उत्पन्न होने पर उनसे सोलह तत्व बनते हैं। अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन और पञ्चतन्मात्राएं—इस प्रकार सोलह तत्व होते हैं। इन्हींको सोलह विकार या विकृति कहते हैं। इन सोलह विकृतियों और आठ प्रकृतियों के चौबीस तत्व बनते हैं।

साँख्यवादी, साँख्य-शास्त्रानुरागी-जन और साँख्य की विधि को जानने वाले विद्वज्जनों का कथन है कि, साँख्यशास्त्र के ये ही चौबीस तत्व हैं। जो वस्तु जिस वस्तु से उत्पन्न होती है, वह उसीमें लीन भी हो जाती है। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा अनुलोम क्रम से प्रजा को रचता है और प्रतिलोम क्रम से उसको लीन करता है। नयी सृष्टि रचना के समय, सत्त्व, रज और तम के गुण अनुलोम क्रम से वैसे ही नित्य उत्पन्न होते और वैसे ही प्रतिलोम क्रम से उन गुणों में उनका लय होता है, जैसे समुद्र की लहरें समुद्र से उठती और समुद्र ही में समा जाती हैं। इस प्रकार प्रकृति ही से सब की उत्पत्ति होती है। उसीमें सब लय हो जाते हैं। अन्त में प्रलय काल में एकमेव परमात्मा ही एक रूप में रहता है और जब नयी सृष्टि की रचना होती है, तब वह अनेक रूपों में हो जाता है।

हे राजेन्द्र! ज्ञान-पटु जनों का कहना है कि—यह सत्य है कि, जो प्रकृति, अव्यक्त माया है वही उस एकमेव पुरुष को अनेक बनाती है और एकत्व को भी प्राप्त कराती है। क्योंकि प्रकृति का यह स्वभाव ही है। इस विषय के ज्ञाताजन जानते हैं कि, जो अव्यक्त प्रकृति है, वह स्वयं ही

एकत्व और अनेकत्व का दृष्टान्त है। क्योंकि जब परमात्मा सृष्टि को रचते हैं, तब प्रकृति अनेक तत्त्वों के रूप प्राप्त करती है और जब प्रलयकाल आता है, तब वही प्रकृति एक रूप हो जाती है। प्रसव-धर्म-शीला प्रकृति के चिदात्मा अनेक विभाग करता है। वह प्रकृति ही क्षेत्र है और चतुर्विंशति तत्वों से पृथक पच्चीसवाँ तत्व रूपी आत्मा है। वही महान् है और वही क्षेत्र नामक प्रकृति में अधिष्ठाता रूप से रहता है। इसीसे बड़े बड़े यतिगण कहते हैं कि, परमात्मा ही समस्त क्षेत्रों अर्थात् देहधारियों का आश्रयरूप है। अतः वह अधिष्ठाता कहलाता है। परमात्मा अव्यक्त-क्षेत्र का ज्ञाता है। इसीसे योगीजन उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। वह अव्यक्त से बने हुए क्षेत्र अर्थात् शरीर में घुस कर रहता है। इसीसे उसकी पुरुष संज्ञा है, किन्तु देह (क्षेत्र), पुरुष (क्षेत्रज्ञ), से भिन्न है। क्योंकि शरीर (क्षेत्र) अव्यक्त (प्रकृति) है एवं चौबीस तत्वों का अतिक्रम करने वाले जीवात्मा की ज्ञाता संज्ञा है। इसी लिये ज्ञान और ज्ञेय भिन्न भिन्न कहलाते हैं। (इन्द्रिय-जन्य) ज्ञान अव्यक्त है और चौबीस तत्वों से भिन्न पचीसवाँ पुरुष (जीवात्मा) है। अव्यक्त को क्षेत्र, सत्त्व अर्थात् बुद्धि और ईश्वर कहा है। पचीसवें तत्व-रूपी जीवात्मा से कोई अधिक, नित्य, अपरोक्ष और तत्वरूप अनारोपित शुद्ध स्वरूप नहीं है।

हे राजन्! इस प्रकार साँख्य मतावलम्बी तत्वों की गणना करते हैं। साँख्यवादी प्रकृति ही को जगत् का कारण मानते हैं और कहते हैं कि स्थूल तथा सूक्ष्म तत्वों का परस्पर लय होने पर और सूक्ष्म का चिदात्मा में लय होने से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। प्रकृतियुक्त चौबीस तत्वों का ज्ञान होने पर एवं सत्य स्वरूप का ज्ञान होने पर साँख्यज्ञानी चौबीस तत्वों से परे पचीसवें तत्व का साक्षात्कार करने योग्य हो जाते हैं। पुरुष चौबीस तत्वों से भिन्न पचीसवाँ तत्व है। उसकी जीवात्मा संज्ञा है। यह जीवात्मा जब प्रकृति अर्थात् माया से छूट जाता

है और जब उसे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह ब्रह्म रूप को प्राप्त होता है।

हे राजन्! मैंने तुम्हें साँख्यशास्त्र यथार्थ रीत्या सुनाया। जिन्हें इस साँख्यशास्त्र का ज्ञान है, वे शान्ति पाते हैं। जो पुरुष प्रमादी हैं, उन्हें इन्द्रियों का यथार्थ अनुभव होता है, यह बात ठीक है, किन्तु जो प्रमादी नहीं है उसे परमात्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। जो ब्रह्मज्ञानी हैं, वे जन्म मरण से मुक्त हो जाते हैं और जीवनमुक्त होने पर, उन्हें अक्षर स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। तब उन्हें तप, समाधिजन्य अनिर्वचनीय सुख एवं अविकारीपना मिलता है।

हे शत्रुसूदन! जिसे यह जगत अनेक रूपों वाला देख पड़ता है, समझना चाहिये वह यथार्थ ज्ञानी नहीं प्रत्युत अज्ञानी है। उसे ब्रह्म नहीं सूझ पड़ता। ऐसे ही लोगों को बारंबार जन्म मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है। किन्तु जो जीव पूर्व वर्णित रीत्यानुसार इस जगत के स्वरूप को जानते हैं, वे ही सर्वज्ञ कहलाते हैं। वे ही जगत् को त्यागते हैं। तब उन्हें किसी प्रकार के शरीर को धारण नहीं करना पड़ता। यह सारा संसार अव्यक्त कहलाता है और पचीसवाँ तत्व जीवात्मा सर्व-जगत् से भिन्न है। जो इस जीवात्मा का स्वरूप जानता है उसे फिर इस संसार में आवागमन का भय नहीं रह जाता।

तीनसौ सात का अध्याय

विद्या एवं अविद्या अथवा ज्ञान और अज्ञान

वसिष्ठ जी बोले—हे नृपश्रेष्ठ! मैंने तुम्हें साँख्यशास्त्र का वर्णन सुनाया, अब मैं तुम्हें यथाक्रम विद्या अर्थात् ज्ञान और अविद्या अर्थात् अज्ञान का स्वरूप बतलाता हूँ; सुनो।

विद्वानों का कहना है कि जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय के धर्म वाले अव्यक्त (प्रकृति) को अविद्या और जो पुरुष उत्पत्ति-लय-रहित है, जो चौबीस तत्वों से परे पच्चीसवाँ तत्व है, उसको विद्या अर्थात् ज्ञान कहते हैं। हे तात ! साँख्यशास्त्र के मतानुसार ऋषियों ने तत्व सम्बन्धी जो विद्या कही है, उसे तुम अनुक्रम से सुनो।

सुनते हैं कि सब कर्मेन्द्रियाँ और समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ विद्या हैं। ज्ञानेन्द्रियों और उनके विषयों को विशेष विद्या कहते हैं। पण्डितों का कथन है कि, विशेषज्ञों की विद्या मन है। मन एवं पञ्चसूक्ष्मभूतों में पञ्चसूक्ष्मभूत विद्या है। पञ्चसूक्ष्मभूत और अहङ्कार में अहङ्कार विद्या है। अहङ्कार और बुद्धि में महतत्व विद्या है। महत् आदि समस्त तत्वों की विद्या अव्यक्त नाम्नी ईश्वरीय प्रकृति विद्या है। इस प्रकृति विद्या का ज्ञान सब को होना चाहिये। अतः यह परमा विधि के नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति का पुरुष में लय होना परम विद्या कहलाता है। प्रकृति को अर्थात् सर्वज्ञान को जानने योग्य सर्वस्वरूपा कहते हैं और प्रकृति को साँख्यशास्त्रानुसार ज्ञान कहते हैं और जीवात्मा को ज्ञेय। ज्ञान को अव्यक्त भी कहते हैं और उसके ज्ञाता को चौबीस तत्वों से परे मानते हैं।

यही विद्या अविद्या का सविस्तर स्वरूप वर्णन है। अब पूर्व कथित क्षर अक्षर का स्वरूप सुनो। जीवात्मा और प्रकृति दोनों अक्षर हैं और क्षामी हैं। यह क्यों ? इसका उत्तर मैं अपनी समझ के अनुसार, देता हूँ; सुनो। प्रकृति पुरुष—दोनों ही आदि (जन्म) अन्त (मरण) रहित हैं। सृष्टिकारक होने के कारण ये दोनों ईश्वर कहलाते हैं। ज्ञानी इनको ही तत्व कहते हैं। प्रकृति में संसार की उत्पत्ति तथा संहार करने का स्वाभाविक धर्म है। इसी लिये ज्ञानी प्रकृति को अक्षर कहते हैं। यह प्रकृति महत्तत्व आदि गुणों को उत्पन्न करने के कारण विकारयुक्त होती है और महदादि गुणों का उत्पत्ति रूप पुरुष जीवात्मा है। पुरुष और

प्रकृति परस्पर आश्रय आश्रयी हैं। इसीसे पचीसवाँ पुरुष क्षेत्र अर्थात् गुणों की उत्पत्ति का स्थान कहलाता है।

हे तात ! जब योगी अव्यक्त आत्मा में अपने समस्त गुण लय कर देता है, तब पचीसवाँ तत्त्व अर्थात् पुरुष अथवा जीवात्मा सर्वगुण सहित लीन हो जाता है। उस समय एकाकी प्रकृति ही शेष रह जाती है। जब पचीसवाँ क्षेत्रज्ञ अपने उत्पत्ति स्थान रूप परब्रह्म में लीन हो जाता है, तब परब्रह्म ही विद्यमान रहता है। जब क्षेत्रज्ञ पुरुष निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है, तब गुण सहित अव्यक्त प्रकृति भी देहस्थ श्रोत्रादि गुणों के अभाव से क्षरत्व को प्राप्त होती है। इस तरह जब क्षेत्रज्ञ का क्षेत्रत्व विनष्ट हो जाता है, तब वह अपने आप २६वें तत्त्व परमात्मा में लय को प्राप्त हो जाता है, इसीसे वह क्षर कहलाता है। जब क्षेत्रज्ञ क्षरत्व को प्राप्त हो जाता है; तब वह सत्वादि गुणों को धारण करता है। किन्तु जब वह अपने मूल स्वरूप को पाता है, तब उसको भान होता है कि, मैं तो निर्गुण स्वरूप हूँ। जब जीवात्मा प्रकृति को त्यागने से, विशुद्ध रूप को प्राप्त हो जाता है और धीमान् क्षेत्रज्ञ को जब जान पड़ता है कि, मैं प्रकृति से भिन्न हूँ और प्रकृति मुझसे भिन्न है; तब वह स्वरूप को प्राप्त करता है, किन्तु प्रकृति के साथ वह मिश्रत्व भाव प्राप्त नहीं करता।

हे राजेन्द्र ! जब तक जीवात्मा और प्रकृति में एकत्व रहता है, तभी तक वह मिला हुआ शुद्ध ब्रह्म से भिन्न जान पड़ता है। जब जीवात्मा को प्रकृति के गुणों पर अनुराग नहीं रह जाता, तब उसे सर्वद्रष्टा ब्रह्म का रूप दिखलायी पड़ता है। एक बार भी ब्रह्म का दर्शन प्राप्त हो जाने पर, फिर वह उसे नहीं त्यागता। जब जीवात्मा में स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब मन ही मन वह पछताता है कि, हाय ! मुझसे कैसी मूर्खता बन पड़ी। जैसे अज्ञानवश मछली जाल की ओर दौड़ कर उसमें फँस जाती है, वैसे ही मैं भी जगत में प्रकृति के जाल में फँस

गया हूँ और काल रूपी प्राकृत शरीर का अनुसरण कर रहा हूँ। जैसे मछली जल को अपने जीवन का मुख्य तत्त्व मान एक सरोवर से दूसरे सरोवर की ओर दौड़ा करती है, वैसे ही मैं भी अज्ञानवश एक शरीर को छोड़, दूसरा शरीर धारण किया करता हूँ। किन्तु वस्तुतः जैसे अज्ञानवश मछली जल को आत्मा रूप मानती है और उसका ही अनुसरण किया करती है; वैसे ही मैं भी अज्ञानवश अपनी आत्मा को पुत्र पौत्र आदि से भिन्न नहीं मानता और पुत्र पौत्रादि रूप मान कर, उनमें भटकता रहता हूँ। धिक्कार है मुझको! मैं अज्ञानवश, मोहवश आपत्तियों में पड़, उस शरीर के कारण परमात्मा को भूल गया हूँ। शरीरों में भटकता फिरता हूँ। किन्तु वास्तविक वात तो यह है कि, परमात्मा ही मेरा वन्धु है, वही मेरा मित्र है। मैं खोटा खरा कैसा ही होऊँ, मेरी वृत्ति चाहे जैसी हो, उसीके साथ मेरी समानता है, उसीके साथ मुझे ऐक्य स्थापन करना है। मैं चाहता हूँ जैसा वह है, वैसे ही गुणों वाला मैं भी बन जाऊँ। मैं उसे अपने समान ही देखता हूँ। क्योंकि मैं उसी जैसा तो हूँ। सचमुच वह निर्मल है और मैं भी वैसा ही विमल हूँ। यद्यपि प्रथम मैं सङ्ग-विवर्जित था, तो भी अज्ञानवश साँसारिक विषयों में फँस गया हूँ और अपनी संगिनी जड़ प्रकृति के साथ मेरा सहवास हो रहा है। इसीसे मुझे इस शरीर में वास कर के, जगत् का चिरसंगी बनना पड़ा है। हा! प्रकृति के स्वरूप एवं स्वभाव को जाने बिना, मैं यहाँ तक इसका वशवर्त्ती हो गया कि, मैंने परम पुरुष परमात्मा को जानने का प्रयत्न ही नहीं किया। यह प्रकृति देवी तो उत्तम, मध्यम और अधम—समस्त स्वरूप धारण करने वाली महामाया है। इसमें मैं क्यो रहूँ? मैंने तो अज्ञानवश प्रकृति के साथ वास करना स्वीकार किया था। किन्तु अब मैं उसके साथ क्यों रहूँ! अब तो मैं साँख्य अथवा योग का अभ्यास करूँगा। मैं अब प्रकृति के साथ न रहूँगा। क्योंकि मैं तो विकारों से रहित हूँ। इस पर भी, विकार

युक्त प्रकृति ने मुझे ठगा है। क्षण क्षण में रंग बदलने वाली प्रकृति का संग मैं क्यों करूँ ?

किन्तु इसमें तो प्रकृति का कुछ भी दोष नहीं है। सारा दोष तो मेरा ही है। क्योंकि जब से मैं परमात्मा से विमुख हुआ हूँ; तभी से मैं उसको भूला हुआ हूँ और विषय-उपभोग के लिये प्रकृति पर अनुरागवान हो गया हूँ। मैं अमूर्त्त था। तो भी मूर्त्तिमान अर्थात् देहधारी हो गया हूँ। मैंने अनेक रूपधारिणी प्रकृति का आश्रय ले, उसमें वास किया है। मैं देहरहित था, तो भी देहधारी हो गया हूँ। तभी से ममता ने मुझे परास्त किया है। मैं ममताशून्य होने पर भी अब तो प्रकृति की परिणाम रूपिणी ममता के कारण, शरीरों की ममता में फँस गया हूँ। हाय ! मैंने यह क्या किया ? मुझे अनेक योनियों में उत्पन्न होना पड़ा। इससे तो मेरे चित्त की संज्ञा भी नष्ट हो गयी। मुझे अब प्रकृति से कुछ भी प्रयोजन नहीं। यह प्रकृति अहङ्कार ही से तो प्रकट हुई है। यह प्रकृति ही अनेक रूप धारण कर मुझे बार बार संसार में डालती है। किन्तु अब तो मुझे ज्ञान हो गया है। मेरी अहंमन्यता और ममता दूर हो गयी हैं। अब तो प्रकृतिजन्य अहंमन्यता से मुझे ममता बाँध रही है। किन्तु मैं अब इस प्रकृति को त्याग कर, सुख-दुःख-हीन परमात्मा के शरण में जाऊँगा। उनके साथ साम्य भाव को प्राप्त करूँगा। अब मुझे जड़ प्रकृति के साथ साम्यता प्राप्त करने की चाहना नहीं रही। मेरी भलाई तो इसीमें है कि, मैं परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करूँ। क्योंकि जड़ प्रकृति के संसर्ग से मेरा भला नहीं हो सकता।

इस प्रकार जब छब्बीसवें तत्व परमपुरुष का ज्ञान होता है; तब पचीसवाँ तत्व जीवात्मा ज्ञानी हो जाता है। फिर वह क्षरत्व को त्याग और सब प्रकार के विकारों से छूट, परम पवित्र अक्षरत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार सत्वादि गुणों से रहित और प्रकृति से संगविवर्जित व्यक्त जीवात्मा, अव्यक्तधर्मा, निर्गुण और निराकारत्व को प्राप्त करता है।

हे मिथिलेश! अव्यक्त प्रकृति को उत्पन्न करने वाले सत्वादि-गुण विवर्जित परमात्मा का जब जीवात्मा को दर्शन मिल जाता है; तब वह निराकार और निर्गुण हो जाता है। इस प्रकार क्षर तथा अक्षर का वेद में वर्णन है। जिस ज्ञान का मुझे स्वयं अनुभव था; वही मैंने तुम्हें बतलाया है। अब मैं तुम्हें सूक्ष्म, सन्देहरहित और निर्दोष ज्ञान प्राप्त करने का शास्त्रोक्त उपाय बतलाता हूँ; सुनो। मैं योगशास्त्र और साँख्य-शास्त्र—दोनों को जानता हूँ। इसीसे मैंने तुम्हें साँख्य और योग शास्त्रों का स्वरूपज्ञान कराया है। जो बातें साँख्यशास्त्र में हैं, वे ही योगशास्त्र में। किन्तु हे राजन्! साँख्य में जो ज्ञान वर्णित है, वह हरेक को उद्बोधित करने वाला है और पढ़ने वालों के हितार्थ वह ज्ञान स्पष्ट रीत्या वर्णित है। योगियों के मतानुसार भी वेद और साँख्यदर्शन परमोत्तम हैं। पण्डितों का कहना है कि, साँख्यशास्त्र विशद है और पढ़ने वाले को तत्काल सिद्धि देने वाला है।

हे नराधिप! योगी पच्चीस तत्वों से परे अन्य किसी तत्व को नहीं बतलाता, किन्तु साँख्यदर्शन में (छब्बीसवाँ) परतत्व भी माना गया है; जिसका वर्णन मैं तुम्हें सुना चुका हूँ।

योग-दर्शन कार का मत है कि, ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और द्वैत भाव से रहित है। वह अज्ञान के कारण जीव स्वरूप हो जाता है। अतः योग दर्शन बुद्ध (ब्रह्म) और बुध्यमान् (जीव) दो पदार्थों को मानता है।

तीनसौ आठ का अध्याय

बुद्धि-अबुद्धि-निर्णय

वसिष्ठ जी बोले—हे राजन्! अब मैं तुम्हें सत्व, रज, एवं तत्व के प्रेरकबुद्ध—परमात्मा और अबुद्ध—जीवात्मा का वर्णन सुनाता हूँ; सुनो।

परमात्मा माया के प्रभाव से अनेक स्वरूपधारी जीवात्मा स्वरूप हो जाता है और उन स्वरूपों को सत्य मानने लगता है। गुण के कारण विकारी जीवात्मा, परमात्मा का स्वरूप जानने में असफल रहता है। जीवात्मा सत्वादि गुणों को धारण करने से उत्पत्ति तथा प्रलय का करने वाला भी होता है। वह जीवात्मा क्रीड़ा करने के निमित्त नित्य विविध रूपों को धारण किया करता है। वह अव्यक्त के स्वरूप को जानता है। इसीसे विवेकी जन उसे बुध्यमान कहते हैं। अव्यक्त अथवा प्रकृति जहाँ तक किसी के गुण के साथ रहती है वहाँ तक वह निर्गुण ब्रह्म को नहीं जान पाती। अतः विवेकी जन उसे अप्रतिबुद्धि कहते हैं। सुनते हैं कि, यदि प्रकृति जीव को कभी जान पाती है; तो भी वह मायाविशिष्ट जीव के साथ एक हो कर रहती है। अतः प्रकृति के साथ आसङ्ग के कारण जीव अर्थात् पुरुष जो अव्यक्त है और मूल स्वभाव से सब प्रकार से सब प्रकार के विकारों से रहित है, अप्रतिबुद्ध अर्थात् मूढ़ कहलाता है। चिदाभास रूप पच्चीसवाँ महात्मा जीव अव्यक्त को जानता है। इस लिये विवेकी जन उसको बुध्यमान कहते हैं; किन्तु छठवें तत्व रूप निर्मल, अभेद ज्ञान स्वरूप, अप्रमाण, सनातन ब्रह्म स्वरूप को नहीं जान सकता। २६वाँ तत्व रूप ब्रह्म सदैव २५वें तत्व रूप जीव को और २४वें तत्व रूप प्रकृति को जानता है।

हे तात! वह २६वाँ तत्व अव्यक्त ब्रह्म है। वह दृश्यादृश्य समस्त पदार्थों में स्वयं ही व्याप्त है। किन्तु उसे जानते केवल विवेकी जन ही हैं। बुध्यमान जीव जब अपने को आत्मा से भिन्न मान अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मानता है; तब वह २४वें तत्व रूप प्रकृति में संलग्न रहता है। इसीसे वह २५वें तत्व रूप जीव के स्वरूप को नहीं देखता। किन्तु जब जीव प्रकृति के स्वरूप को जान लेता है; तब वह प्रकृति को पराजित करता है। प्रकृति का स्वरूप जान लेने पर, वह सर्वदोषरहित और निर्मल ब्रह्मविद्या के प्रभाव से, परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करता है।

हे नृपशार्दूल ! जब जीव को ब्रह्मविद्या का ज्ञान हो जाता है; तब उसको २६वें तत्व का ज्ञान अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान होता है। तब वह उत्पत्ति-प्रलय-कारिणी अव्याकृत प्रकृति को त्याग देता है। गुण-रहित यह जीवात्मा गुण वाली चेतन रहित अपावन बुद्ध प्रकृति के रूप को जान लेता है। तब वह परब्रह्म स्वरूप हो जाता है। पण्डितों का कहना है कि, जब जीव सत्वादि गुणों से रहित हो जाता है और जब उसे इसका ज्ञान हो जाता है; तब वह परब्रह्म-स्वरूप प्राप्त करता है। यह परब्रह्म तत्व तथा निस्तत्व भी कहलाता है और वह अजर अमर भी कहलाता है।

हे मानद राजन् ! यह जीवात्मा शरीरादि के आश्रित तो रहता है; किन्तु वास्तव में शरीर रूप नहीं है। पण्डितों का कहना है कि, जीवात्मा के साथ पच्चीस तत्व हैं। किन्तु साथ ही यह भी निश्चित है कि २५वाँ पुरुष महत् तथा अन्य तत्वों से रहित है। वह बुद्धियुक्त होने पर नि-स्तत्व हो जाता है। वह बुद्धत्व के लक्षण से आक्रान्त हो, अहंभाव को त्याग देता है। जब जीव अपने को जरा मरण रहित छब्बीसवाँ तत्व मानता है; तब वह अपने प्रबल बल से २६वें तत्व के साथ समान भाव को ही प्राप्त करता है। २६वाँ प्रबुद्ध २५वें तत्व जीव आदि को जानता है। किन्तु जीव जब तक उसको (२६वें तत्व को) नहीं जानता, तब तक वह अज्ञानावृत रहता है। जीव पच्चीसवें तत्व रूप चेतन के साथ एकत्व को प्राप्त कर, अपनी अहंबुद्धि और अपने स्वत्व को नष्ट कर डालता है।

हे मिथिलेश ! सुख दुःखादि-अनुभव करने वाला और अहङ्कार से असुक्त जीव, जब बुद्धि से पर, परमात्मा के स्वरूप में एकता प्राप्त करता है, तब उसे पाप और पुण्य स्पर्श नहीं करते। जब जीव सब प्रकार के कर्मों से रहित अजन्मा, व्यापक का स्वरूप भलीभाँति जान लेता है, तब वह अव्यक्त प्रकृति को पूर्णरीत्या त्याग कर देता है और बलवान् हो

जाता। किन्तु जब उसे २६वें तत्व का ज्ञान होता है, तब जीव २४ तत्वों को असार समझने लगता है। यही अबुद्ध प्रकृति, जीव और परमात्मा का शास्त्रोक्त स्वरूप है, जो मैंने अभी तुम्हें बतलाया है।

जीव प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर, अनेकत्व को प्राप्त होता है। यह शास्त्र का कथन है। जो भिन्नता गूलर के फल और गूलर के फल में रहने वाले भुनगे में है, जो अन्तर जल में रहने वाली मछली और जल में है, वही भिन्नता २४वें तत्व और पच्चीसवें तत्वरूप जीव में है। २४वें तत्व में नानात्व है और २५वें तत्व में एकत्व। इसीका नाम मोक्ष है। प्राणिमात्र के शरीर में व्याप्त हो कर रहने वाले २५वें तत्व जीव को परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान करा कर, शरीर से मुक्त करना चाहिये—विवेकी जनों का यही कथन है।

अज्ञान का नाश और ज्ञान का उदय होने पर, जीव आवागमन से मुक्त हो जाता है। मुक्ति प्राप्त कर, इसे छोड़ अन्य उपाय नहीं है। चिदात्मा जिस क्षेत्र में रहता है, उससे पूर्ण रूपेण भिन्न होने पर भी और क्षेत्र के साथ दीर्घकाल तक रहने के कारण, क्षेत्र का कर्म धारण करता है, किन्तु जब शुद्ध के साथ उसका एकीकरण होता है, तब वह शुद्धधर्मा हो जाता है। जब वह बुद्धि के साथ होता है, तब वह बुद्धि-कर्म का आचरण करता है। जब वह मुक्त का सहचर बन जाता है, तब वह मुक्तकर्मा होता है। सब प्रकार के संग का त्याग करने वाले के साथ मिल कर वह मुक्तात्मा होता है। जब वह विमोक्षी का साथ करता है, तब वह विमुक्त कहलाता है। पवित्र कर्म करने वाले के साथ रहने से वह पवित्रकर्मा और अपार प्रकाशवान रूप में रहता है। विमलात्मा के साथ रहने से वह विमलात्मा हो जाता है। केवल के साथ केवलात्मा और स्वतंत्र के साथ स्वतंत्रात्मा हो जाता है। मैंने मत्सरता-त्याग-पूर्वक सनातन, शुद्ध और आदि पुरुष ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ वर्णन तुम्हें सुनाया।

हे राजन्! नम्र और जिज्ञासु होने पर भी जो वेद को नहीं जानता,

उसे इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश न देना चाहिये। जो विवेकी हो, जिसे तत्वज्ञान की जिज्ञासा हो, गुरुआज्ञानुवर्ती हो, उसे इसका उपदेश देना चाहिये। असत्यभाषी, शठ, मनोवलशून्य, कपटी, पण्डितंमन्य, ढोंगी और दुःखदायी को इसका उपदेश कभी न दे। यह ज्ञानोपदेश तो निम्न-लिखित लोगों को देना चाहिये।

श्रद्धालु, गुणवान्, अनिन्दक, पवित्रात्मा, योगी, ज्ञानी, सदा वेदोक्त कर्मपरायण, क्षमाशील, सर्व-प्राणि-हितैषी, एकान्त-स्थान-सेवी, शास्त्रोक्त कर्मों में श्रद्धावान्, विवाद में अरुचि रखने वाले, पूर्ण विद्वान्, विवेकी, अहित न करने वाले और शम-दम-सम्पन्न पुरुष को यह ज्ञानोपदेश दे। जिस पुरुष में ये गुण न हों, उसको शुद्ध ब्रह्म का उपदेश कभी न दे। ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि, यदि धर्मोपदेष्टा कुपात्र को धर्मोपदेश दे, तो उस उपदेश से उस कुपात्र का कुछ भी हित साधन नहीं होता। यम, नियम का पालन न करने वाला पुरुष यदि रत्न से पूर्ण सम्पूर्ण वसुन्धरा भी दे, तो भी उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश न देना चाहिये। किन्तु जो जितेन्द्रिय है, उसे ब्रह्मविद्या अवश्य बतलावे।

हे कराल! तुमने मुझसे आज परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन सुना है और मैंने तुम्हें परमपावन, समस्त शोकापह और आदि-मध्य-अन्त-विवर्जित ब्रह्म का स्वरूप यथार्थतः सुनाया है। अतः अब तुम्हें मृत्यु का भय नहीं व्यापेगा। हे राजन्! जन्म, मरण का नाश करने वाले, रोग-भय-नाशक एवं कल्याण मूर्ति परब्रह्म का साक्षात्कार कर के तथा ज्ञान के पूर्णरूप को जान कर, आज ही तुम शोक और मोह को छोड़ दो। तुमने आज मुझको प्रसन्न कर, जिस तरह इस समय सनातन ब्रह्म के स्वरूप को सुना है, उसी तरह मैंने भी पहिले सनातन हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी के मुख से ब्रह्म के स्वरूप को सुना था। तुम्हारे प्रश्न करने पर जैसे मैंने तुम्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, वैसे ही ब्रह्मा जी ने मोक्षतत्ववेत्ताओं का परमाधार रूप यह महाज्ञान मुझे सुनाया था।

भीष्म जी बोले—महर्षि वसिष्ठ जी ने जनक-वंशीय राजा कराल को परब्रह्म सम्बन्धी ज्ञानोपदेश वैसे ही दिया था; जैसे मैंने तुम्हें दिया है। इसे जान लेने के पीछे पचीसवें तत्वरूपी जीव को पुनः जन्म लेना नही पड़ता। जीव को बारंबार आवागमन इसी लिये करना पड़ता है कि, वह जरा-मरण-रहित परमात्मा को यथार्थ रीत्या नहीं जानता। क्योंकि जब जीव को ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब उसे जन्म लेना और मरना नहीं पड़ता। हे तात! देवर्षि नारद जी के मुख से मैंने जो ब्रह्मज्ञान सुना था, वह परम कल्याणकारक ज्ञान तुझे यथार्थ रीत्या कह कर सुना दिया। महात्मा वसिष्ठ जी ने यह ज्ञान ब्रह्मा जी से पाया था और मैंने सनातन ब्रह्म के स्वरूप का यह ज्ञान नारद जी से पाया है। हे राजन्! मुझसे परब्रह्म के स्वरूप ज्ञान को सुन, अब तुम शोकान्वित मत हो। जो मनुष्य क्षर और अक्षर के स्वरूप को जान लेता है, उसे भय नहीं होता। किन्तु जिसे यह ज्ञान नहीं होता वही (मृत्यु के) भय से भीत होता है। इस ज्ञान के अभाव ही से अज्ञानियों को बारंबार इस संसार में जन्म ले, बड़े बड़े क्लेश भोगने पड़ते हैं और शरीर छूटने पर मरणशील सहस्रों जन्म लेने पड़ते हैं। ऐसे जीवों को देवलोक में अथवा मनुष्य, पशु एवं पक्षी की योनि में जन्म धारण करना पड़ता है और बहुत समय बीतने पर यदि वह शुद्ध हो जाता है, तो अज्ञानरूपी संसारसागर के वह पार हो जाता है। अज्ञानरूपी महासागर बड़ा भयङ्कर, अव्यक्त और अगाध है। उसमें प्राणी नित्य ही गोते खाया करते हैं। किन्तु इस ज्ञान को प्राप्त कर, तुम इस अगाध और अव्यक्त सनातन समुद्र के पार हो गये हो और रजोगुण और तमोगुण से रहित हो कर; तुम शुद्ध सतोगुणी हो गये हो।

तीनसौ नौ का अध्याय

कामनाओं का त्याग

भीष्म जी ने कहा—एक समय निर्जन वन में जनकवंशी राजा वसुमान मृगया खेल रहा था। उसने वन में घूमते फिरते भृगुवंश-सम्भूत एक महर्षि को बैठा हुआ देखा। उन्हें प्रणाम कर वसुमान उनके निकट बैठ गया और उनकी आज्ञा से उसने यह प्रश्न किया। हे भगवन्! कामाधीन एवं नाशवान शरीरधारी जीव का किस पदार्थ से इस लोक और परलोक में कल्याण होता है?

सम्मान पूर्वक मुनि से प्रश्न करने पर तपोधन महात्मा ऋषि ने उनके प्रश्न का इस प्रकार कल्याणकारी उत्तर दिया।

ऋषि बोले—यदि तुम चाहते हो कि, तुम्हें इस लोक और परलोक में इच्छित पदार्थ प्राप्त हों, तो तुम अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर, समस्त प्राणियों के अनुकूल वर्तो। सत्पुरुषों का कल्याण करने वाला धर्म ही है, वही उनका आधार-रूप है और स्थावर जंगमात्मक ये तीनों लोक भी धर्म ही से उत्पन्न हुए हैं और धर्म ही के आधार पर स्थित हैं। तुम्हें कामनाएँ मधुर जान पड़ती हैं, किन्तु उन कामनाओं के कारण जो अधः-पात होता है, वह तुम्हें नहीं देख पड़ता। जिस प्रकार ज्ञानेच्छु को ज्ञान सम्पादन करना चाहिये, वैसे ही धर्म-फल-इच्छुक को धर्म का सम्पादन करना चाहिये। यदि धर्म-कर्म करने की इच्छा रखने वाला पुरुष दुर्जन होता है, तो उसकी उत्तम और निष्कलङ्क होने की इच्छा पूर्ण नहीं होती किन्तु सज्जन पुरुष धर्म-कर्म करने की इच्छा से दुष्कर कर्म भी सहज ही में कर सकता है। यदि कोई मनुष्य वन में रहने पर भी, नगरवासी की तरह सुख भोगता है, तो उसे वनवासी न समझ नागरिक ही समझना चाहिये। इसी प्रकार यदि कोई पुरुष नागरिक हो कर भी वनवासी जैसा

बर्ताव करता है, तो उसे वनवासी ही समझे। प्रथम निवृत्ति के गुणों और प्रवृत्ति के दोषों का निर्णय करे। फिर मन को सावधान कर, वाचिक और कायिक धर्मों पर श्रद्धा करे। प्रार्थना करने पर, साधु पुरुषों को सत्कारपूर्वक ईर्ष्या-रहित हो, सदा दान दे और वह भी किसी पवित्र स्थान और पर्व के दिन देवे। धर्मोपार्जित धन ही सुपात्र को दान दे और दान करते समय क्रोध न करे और दान देने के बाद सन्तप्त न हो और न दान देने की बात किसी से कहे। दयालु, पवित्र, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल, शुद्धयोनि, कर्म से शुद्ध और वेद-वेत्ता ब्राह्मण—दान के लिये सुपात्र समझा जाता है। जो स्त्री अनन्य-पूर्व एवं स्वजातीय हो और जिसका स्वामी, उसीसे प्रेम करता हो, उस स्त्री से जो सन्तान उत्पन्न होता है, वह जन्म-शुद्ध अर्थात् शुद्ध-योनि कहलाता है। ऐसा ब्राह्मण जो ऋक्, यजु और साम का जानने वाला हो, विद्वान् हो, ब्राह्मणोचित षट्कर्म करता हो—वह ब्राह्मण सुपात्र कहलाता है। देश, काल और पात्र के अनुसार कभी कभी दान-दाता को पाप पुण्य का भागी बन जाना पड़ता है। शरीर पर पड़ी थोड़ी गर्दा सहज में हटायी जा सकती है; किन्तु यदि अत्यधिक हुई तो उसे झाड़ने के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। इसी थोड़े से पाप के लिये थोड़ा और बड़े पाप के लिये बड़ा प्रायश्चित्त करना पड़ता है। विरेचन क्रिया के अनन्तर घृतपान गुणकारक होता है। जिसने अपने समस्त पाप नष्ट कर डाले हैं और जो धर्म-मार्ग का अनुसरण करता है, उसे परलोक में सुख प्राप्त होता है। प्रत्येक मनुष्य के मन में अच्छे बुरे विचार रहा करते हैं; किन्तु मन में दुष्ट विचारों को स्थान न देना चाहिये। वर्णोचित कर्म करने वाले का अनुमोदन सब को करना चाहिये। वर्णोचित जिस कर्म में विशेष रुचि हो उसे इच्छानुसार करना चाहिये। हे अधीरजी राजन्! तुझे धैर्य धारण करना चाहिये। हे दुर्बुद्धि राजन्! तू सुबुद्धिमान् हो। हे शान्त-शून्य राजन्! तू शान्ति धारण कर। हे बुद्धिशून्य राजन्! तू बुद्धिमान् की तरह बर्त्ताव

कर। जो मनुष्य सत्पुरुषों का संग करता है, वह मनुष्य सत्पुरुषों के प्रताप से इस लोक तथा परलोक में कल्याण-साधन के उपायों को कर सकता है। कल्याण-प्रद साधनों का मूल धैर्य है। धैर्य के अभाव से महाभिष नामक राजर्षि को स्वर्ग-च्युत होना पड़ा था। गर्व के कारण ययाति का पुण्य-क्षीण हो गया था और वे स्वर्ग-च्युत हो कर भी धैर्य धारण के प्रभाव से पुनः स्वर्ग में गये थे। अतः तू भी तपस्वी, धर्मवेत्ता तथा विद्वानों का सेवन कर। ऐसा करने से तेरी बुद्धि बढ़ेगी और तेरा भला होगा।

भीष्म जी बोले—हे युधिष्ठिर! उन मुनि के इन वचनों को सुन, राजा वसुमान का स्वभाव सुधर गया और उसने अपना मन काम की ओर से हटा कर, धर्म में लगाया।

तीनसौ दस का अध्याय

कूटस्थ परमात्मा

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भीष्म! धर्माधर्म-रहित समस्त संशय-विवर्जित, जन्म-मरण-युक्त, पाप-पुण्य-शून्य, कल्याण-मूर्त्ति, भय से रहित, अविनश्वर, विकार-रहित, पावन और सोपाधि होने पर भी कूटस्थ भाव में रहने वाले परमात्मा का स्वरूप कैसा है? आप मुझे यह बतलावें।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! मैं तुम्हें याज्ञवल्क्य और जनक का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ; सुनो। एक दिन महायशस्वी देवरातसुत जनक ने रहस्य-वेत्ता ऋषिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य जी से पूछा—हे विप्रर्षे! इन्द्रियाँ कितनी हैं? प्रकृतियों की संख्या कितनी है? अव्यक्त कैसा है? जन्म मृत्यु का स्वरूप कैसा है? काल का परिमाण

क्या है? मैं आपका कृपाभिलाषी हूँ। अतः हे विप्रेन्द्र! आप मुझे इन सब प्रश्नों के उत्तर दें। मैं निपट अज्ञानी हूँ और आप ज्ञानसागर हैं। इसीसे मैंने आपसे ये प्रश्न किये हैं और आपसे मैं अपने प्रश्नों के उत्तर सुनना चाहता हूँ।

याज्ञवल्क्य ने कहा—तूने मुझसे जो प्रश्न किये हैं, उनके उत्तर में मैं तुझे योग एवं साँख्य शास्त्र के निगूढ़ तत्व बतलाता हूँ; सुन। तुझसे कोई विषय अविदित नहीं है, तिस पर भी तू मुझसे पूछता है। अतः मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। क्योंकि प्रश्नकर्त्ता के उत्तर देना सनातन-धर्म की मर्यादा है। आठ मूल तत्वों को प्रकृति कहते हैं और विकृतियों की संख्या षोडश है। अध्यात्म-वादी प्रकृतियाँ आठ बतलाते हैं। अव्यक्त अहङ्कार, महतत्व, पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये आठ प्रकृतियाँ हैं। विकार ये हैं—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नाक। ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये उन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। वाणी, उभय हस्त, उभय पाद, गुदा और लिङ्ग—ये पञ्चमहाभूतों में रहने वाले प्रकृतिस्थ विकार हैं।

हे राजेन्द्र! इनमें शब्द आदि विशेष और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ सविशेष कहलाती हैं। अध्यात्म-वादी-जनों के मतानुसार मन सोलहवाँ कहलाता है। अन्य तत्व-ज्ञानी भी मन को सोलहवाँ बतलाते हैं। महतत्त्व की उत्पत्ति अव्यक्त से होती है। इसीको विद्वान् प्रकृति सम्बन्धी प्रथम सृष्टि कहते हैं। महतत्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है, जो दूसरी सृष्टि कहलाती है। विद्वानों के मतानुसार यह बुद्धात्मक सृष्टि है। पञ्च-महाभूतात्मक गुण-विशिष्ट मन की उत्पत्ति अहङ्कार से होती है। यह आहङ्कारिक तीसरी सृष्टि कहलाती है। मन से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इसे चतुर्थ सृष्टि कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होते हैं। पण्डितों ने इसे पाँचवीं सृष्टि माना है। कान, त्वचा, आँख, जीभ और पाँचवीं इन्द्रिय नाक—ये छठवीं सृष्टि

है और विद्वानों ने इसे अनेक चिन्तात्मक मानसी सृष्टि माना है। श्रो॰ आदि इन्द्रियों के पीछे कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। उन्हें सप्तम इन्द्रिय सर्ग कहते हैं। फिर ऊर्ध्वगतिशील प्राण, समान, उदान और व्यान को ले आठवें सर्ग प्राणवायु की रचना की गयी है। यह सृष्टि आर्जव कहलाती है। क्योंकि इसमें पवन की गति सीधी है। हे राजन्! समान, व्यान, ऊदान तथा अपान वायु की उत्पत्ति नवम सृष्टि कहलाती है और इसे पण्डित जन आर्जव सृष्टि कहते हैं।

हे राजन्! शास्त्र में इस प्रकार नौ प्रकार की सृष्टि और चौबीस प्रकार के तत्व वर्णित हैं। वे सब मैंने तुझे सुना दिये। इन गुणों की सत्ता कितने काल तक रहती है, इस विषय में महात्मा जो मत स्थिर कर गये हैं—अब वही मैं तुझे बतलाता हूँ।

तीनसौ ग्यारह का अध्याय

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति-कथा

याज्ञवल्क्य जी कहने लगे—हे तपश्रेष्ठ! अब मैं तुझे अव्यक्त की स्थिति का काल बतलाता हूँ; सुन। आदिपुरुष का एक दिन दस सहस्र कल्प का होता है और एक रात भी इतनी ही होती है। जब एक रात बीत जाती है, तब अव्यक्त जागता है और सर्वप्रथम समस्त देहधारियों के जीवन रूप अनाज को उत्पन्न करता है। फिर वह ब्रह्मा को पैदा करता है। सुनते हैं सुवर्ण अण्ड से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा जी समस्त प्राणियों की मूर्ति-रूप हैं। ब्रह्मा जी एक वर्ष अंडे में रह कर बाहर निकले और उन्होंने पृथिवी और आकाश की रचना की। वेद कहता है कि, उस अण्डे के दोनों भागों के बीच ब्रह्मा जी ने आकाश की रचना की। प्रजापति का एक दिन साढ़े सात हज़ार कल्पों का होता है। अध्यात्मवादी

पण्डितों के मतानुसार उनकी एक रात्रि भी साढ़े सात सहस्र कल्पों की होती है। ब्रह्मा जी फिर द्विव्यात्मक भूत अहङ्कार की रचना करते हैं। उस अहङ्कार से पञ्चमहाभूतों की रचना होती है। समस्त प्राणियों की रचना करने के पूर्व वे तपस्या करते हैं और उपादान कारण रूपी चार पुत्रों को अर्थात् मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त को उत्पन्न करते हैं। वेद में कहा है कि वे महाभूतों के भी कारण हैं। सुनते हैं कि, अन्तःकरण चतुष्टय समेत ज्ञानेन्द्रियों के देवता इनसे ही उत्पन्न होते हैं और वे पञ्चमहाभूतों से स्थावर जङ्गमात्मक समस्त लोक परिपूर्ण कर देते हैं। तदनन्तर परम-स्थान-स्थित अहङ्कार, पञ्चमहाभूतों की रचना करता है। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—पञ्चमहाभूत हैं। अहङ्कार से तृतीय सृष्टि उत्पन्न होती है। उस महाशक्ति का एक दिन पाँच सहस्र कल्प का होता है और उसकी रात भी इतनी ही होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की विशेष संज्ञा है। इनका अस्तित्व पञ्चमहाभूतों में विद्यमान रहता है। शब्दादि विषयों से व्याप्त होने पर, इन भूतों की परस्पर प्रति दिन मैत्री हो जाती है और वे एक दूसरे का हित साधन करते हैं। उनमें परस्पर स्पर्धा होती है और तब वे रूप आदि मनोहर गुणों से एक दूसरे का वध करते हैं। फिर तिर्यक् योनि में प्रवेश कर, वे इस लोक में भ्रमण करते हैं। शास्त्रों में इसके एक दिन का परिमाण तीन सहस्र कल्पों का बतलाया गया है। मन की रात्रि का परिमाण भी इतना ही है। हे राजेन्द्र! मन समस्त इन्द्रियों द्वारा प्रेरित हो कर, सर्वत्र भ्रमण किया करता है। इन्द्रियाँ अपने आप विषयों को ग्रहण करती हैं। जैसे नेत्र रूप को ग्रहण करता तो है; किन्तु करता मन की सहायता से है। क्योंकि मन के विकल होने पर, आँख देखती हुई भी नहीं देख सकती। अतः नेत्र नहीं देखते, प्रत्युत मन ही देखता है। अतः जब मन शान्त होता है, तब इन्द्रियाँ भी शान्त हो जाती हैं और इन्द्रियों के शान्त होने पर मन भी शान्त हो जाता है। इस प्रकार मन को इन्द्रियों

का सहायक समझना चाहिये। इन्द्रियों का स्वामी मन है और सब प्राणियों में मन ही प्रवेश करता है।

तीनसौ बारह का अध्याय

प्रलय-वर्णन

याज्ञवल्क्य जी कहने लगे—मैं यथाक्रम तुझे समस्त तत्वों की उत्पत्ति का तथा काल के परिमाण को वर्णन सुना चुका—अब मैं तुझे तत्वों के संहार का वर्णन सुनाता हूँ; सुन। आदि-अन्त-रहित, नित्य, अक्षर लोक पितामह ब्रह्मा जी जैसे समस्त प्राणियों को बारंबार रचते तथा बारंबार उनका संहार करते हैं, सो तू सुन। जब ब्रह्मा जी को यह मालूम हो जाता है कि, अब उनका दिन पूर्ण हो चुका और रात आरम्भ हो गयी; तब वे सोने की इच्छा करते हैं और साथ ही अव्यक्त, अहङ्काराभिमानी महारुद्र को सृष्टि का संहार करने की आज्ञा देते हैं। प्रथम तो वे महारुद्र, ब्रह्मा जी की प्रेरणा से सहस्रांशुमाली सूर्य बन जाते हैं और अपने शरीर के बारह विभाग कर डालते हैं। उनके ये बारहों विभाग धधकते हुए अग्नि की तरह बन जाते हैं। वे अपने शरीर के उस तेज से चारों प्रकार की सृष्टि को जला कर भस्म कर डालते हैं। निमेष मात्र में यह चरचरात्मक जगत जल कर राख हो जाता है और पृथिका रूप कछुवे की पीठ जैसा जान पड़ने लगता है। अपार बलशाली महारुद्र द्वारा सारा जगत भस्म किये जाने के बाद केवल पृथिवी रह जाती है। तब वे उसे जल में डुबा देते हैं। तदनन्तर कालाग्नि उत्पन्न होता है और वह उस जल को सुखा देता है। जल सूखते ही प्रकाशवान महा अग्नि प्रज्वलित हो उठता है। प्राणिमात्र के जठराग्नि रूप सत्ज्वाल अग्निदेव भप से जल उठते हैं। तब अष्टात्मा वायुदेव, अष्ट रूपों को धारण कर, उस

अग्नि को खा जाते हैं। उस समय वायु ऊर्ध्व, निम्न और तिर्यक गति से बड़े वेग के साथ बहने लगता है। तब इस अनुपम बली घोर वायु को आकाश निगल जाता है। फिर घोर गर्जन करता हुआ उस आकाश को मन लील जाता है।

तदनन्तर प्रजापति तथा प्राणिमात्र का आत्मा रूप भूतात्मा अहङ्कार मन को निगलता है। फिर उस अनुपम विश्व रूप महान् आत्मा महतत्त्व को प्रजापति शम्भु निगल जाते हैं। यह शम्भु अष्ट सिद्धियों के स्वामी, ज्योतिःस्वरूप और अविकारी हैं। उनके हाथ, पैर, नेत्र, शिर, मुख और कान सर्वत्र व्याप्त हैं। वे समस्त प्राणियों के हृदय रूप हैं। उनका स्वरूप अंगुष्ट पर्व के बराबर है। वे ही अनन्त भगवान् रुद्र सब को अपने में लीन कर लेते हैं। किन्तु यह महानात्मा भी लय को प्राप्त हो जाते हैं। तब अविनश्वर अव्यय ब्रह्म ही शेष रह जाता है। वह ब्रह्म समस्त दोषों और परिमाणों से रहित हैं। वही भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान की रचना करता है।

हे राजेन्द्र! तत्वों के संहार का यही क्रम है। अब मैं तुझे अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव का वर्णन सुनाता हूँ; सुन।

तीनसौ तेरह का अध्याय

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव

याज्ञवल्क्य जी बोले—हे जनक! तत्वदर्शी ब्राह्मणों का कथन है कि—दोनों चरण अध्यात्म हैं। चरणों की गति अधिभूत है और विष्णु उसके अधिदैवत् अर्थात् अधिष्ठातृ देवता हैं। तत्वदर्शी पण्डितों के मतानुसार वायु अध्यात्म कहलाता है। मलोत्सर्ग को अधिभूत कहते हैं और सूर्य उसका अधिष्ठातृ देवता है। योगशास्त्री कहते हैं कि, उपस्थ

अध्यात्म है। आनन्द अधिभूत है और प्रजापति उसके अधिष्ठातृ देवता हैं। साँख्यवादी कहते हैं कि हाथ अध्यात्म है, उनके द्वारा की जाने वाली क्रिया अधिभूत है और इन्द्र उसके अधिष्ठातृ देवता हैं। श्रुति तत्वज्ञ विद्वज्जन वाणी को अध्यात्म, वक्तव्य विषय को अधिभूत और अग्नि को उसका अधिष्ठातृ देवता मानते हैं। शास्त्रज्ञ पुरुष चक्षु को अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य को उसका अधिदैवत—अधिष्ठातृ देवता मानते हैं। शास्त्रवेत्ता कर्ण को अध्यात्म, शब्द को अधिभूत और दिशाओं को अधिदैवत मानते हैं। वे लोग जिह्वा को अध्यात्म, रस को अधिभूत और जल को अधिदैवत मानते हैं। वे नाक को अध्यात्म, गन्ध को अधिभूत और पृथिवी को अधिदैवत मानते हैं। तत्व-ज्ञान-कुशल लोग त्वचा को अध्यात्म स्पर्श को अधिभूत और पवन को अधिदैवत मानते हैं। वे मन को अध्यात्म, मन्तव्य को अधिभूत और चन्द्रमा को अधिदैवत मानते हैं। तत्वदर्शी अहङ्कार को अध्यात्म, अभिमान को अधिभूत और बुद्धि को अधिदैवत मानते हैं। स्वरूप को वस्तुतः जानने वाले विद्वान् बुद्धि को अध्यात्म, बोद्धव्य को अधिभूत और क्षेत्रज्ञ को अधिदैवत् मानते हैं। सृष्टि के आदि, मध्य अन्त में परमात्मा की विभूति जैसे जैसे रूप से व्यक्त होती है—सो मैंने तुझे सुनाया। अपने इच्छानुसार प्रकृति आनन्द में भर अपने आप ही क्रीड़ा करने के लिये; विकारी बन जाती है और सहस्रों गुणों को अपने रूप में मिला कर, विकारी बना उत्पन्न करती है।

मनुष्य जैसे एक दीपक से सहस्रों दीपक जला लिया करता है, वैसे ही प्रकृति भी पुरुष अर्थात् सत्व, रज और तम से अनेक गुणों को उत्पन्न कर लिया करती है। धैर्य, आनन्द, ऐश्वर्य, प्रीति, सब पदार्थों का विकास, सुख, शुद्धि, आरोग्यता, सन्तोष, श्रद्धा, कृपणता का अभाव, असम्मोह, क्षमा, धृति, अहिंसकत्व, समता, सत्व, ऋणशून्यता, मृदुता, लज्जा, चपलता का अभाव, शौच, सरलता, आचार, अलोलुपता, घबराहटवान् होना, प्रिय-वियोग एवं अनिष्ट का संयोग होने पर भी चुपचाप

रहना, स्पृहा का त्याग, परोपकार, सर्वप्राणियों पर दया रखना, ये सतोगुण समझना चाहिये। राजस में प्रकृति के विकार से उत्पन्न समुदाय इस प्रकार है। अपने स्वरूप का अभिमान, ऐश्वर्य, युद्ध, अत्यागत्व, दया का अभाव, सुख-भोग-तत्परता, दुःख सहने में कायरता, पर-निन्दा में प्रीति, विवाद-आसक्ति, अहङ्कार, किसी का सत्कार न करने की टेव, चिन्ता, वैर का प्रतिशोध, सन्ताप-परस्वार्थ हरण, निर्लज्जता, कौटिल्य, भेद-बुद्धि, कठोरता, काम, क्रोध, मद, दर्प, द्वेष, अतिवाद – ये सब राजस गुण हैं। अब तमोगुण-सम्मत समुदाय का वर्णन करता हूँ। सुन —मोह, अज्ञान, तामिस्र अर्थात् क्रोध; अन्धतामिस्र अर्थात् मरण। इनके अतिरिक्त तामस के लक्षण इस प्रकार हैं—भोजन करते समय कभी न अघाना; पेय पदार्थों से कभी तृप्त न होना—गन्ध में, विहार में, शयन में और आसन में प्रीति, दिन में सोना, लड़ाई झगड़े में और प्रमाद में अभिरुचि, अज्ञानवश नाचना, गाना और बजाने में आनन्द तथा धर्म से द्वेष, ये सब तमोगुण के लक्षण हैं।

तीनसौ चौदह का अध्याय

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे नरोत्तम! प्रकृति के रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण—तीन गुण हैं। ये ही सदा से सम्पूर्ण जगत् के निमित्त कारण रूप हैं। षडैश्वर्य-सम्पन्न एवं अव्यक्त रूप धारण करने वाली (प्रकृति) उक्त तीनों गुणों से प्रत्यगात्मा के असंख्य विभाग कर सकता है। अध्यात्मवादी विद्वानों का कथन है कि, सतोगुणी को उत्तम, रजोगुणी को मध्यम और तमोगुणी को अधम स्थान प्राप्त होता है। जो केवल पुण्य कर्म किया करते हैं, वे ऊर्ध्वलोक में; जो पुण्य और पाप करते हैं, वे

मध्यम गतिरूप मर्त्यलोक में और जो केवल पाप ही पाप करते हैं, वे अधर्मलोक अर्थात् नरक में जाते हैं। अब मैं तुझसे इन गुणों के द्वन्द्वों के विषय में कहता हूँ, सुन। अनेक बार सतोगुण और तमोगुण मिल जाया करते हैं। कितनी ही बार रजोगुण और तमोगुण और अनेक बार रजोगुण और सतोगुण मिल जाते हैं। उसी समय वे प्रकृति के साथ देख पड़ते हैं। अव्यक्त पुरुष केवल सतोगुण को धारण करता है। तभी उसे देवलोक की प्राप्ति होती है। जब रजोगुण सतोगुण से मिल जाता है; तब जीव मनुष्यलोक में उत्पन्न होता है। जब रजोगुण और तमोगुण मिलते हैं; तब तिर्यक योनि प्राप्त होती है। जब आत्मा सत्व, रज और तम गुणों से मुक्त होता है, तब उसे मनुष्य-योनि मिलती है। किन्तु पाप और पुण्य से मुक्त आत्मा शाश्वत, अव्यय, अक्षय्य एवं मोक्षधाम में जाता है। ज्ञानी उत्तम योनि में जन्मते हैं और उन्हें उत्तम धाम की प्राप्ति होती है। वह उत्तम धाम, शाश्वत, अव्यय, अक्षय्य, अच्युत, अमृतमय, श्रेष्ठ, अतीन्द्रिय, परिणामरहित, वीजशून्य, जन्म-मरण-अज्ञान-शून्य है।

हे राजन्! तूने मुझसे अव्यक्तस्थित परमपुरुष के बारे में यह प्रश्न किया था कि, उसका क्या धर्म है? उस अपने प्रश्न का उत्तर अब सुन। यद्यपि वह प्रकृति में रहता है, तब भी वह प्रकृति के गुणों से निर्लिप्त है। प्रकृति अचेतन है; किन्तु वह प्रकृति ब्रह्म के अधिष्ठान से स्थित है। अतः वह सृष्टि को रचती तथा उसका संहार करती है।

राजा जनक ने पूछा—हे महाबुद्धिमान्! जब प्रकृति और पुरुष अनादि हैं और दोनों ही मूर्त्तिहीन एवं अचल हैं, दोनों अपने अपने स्वभावों में दृढ़ रहने वाले हैं, दोनों ही प्रत्यक्षतः अज्ञेय हैं। इस प्रकार दोनों सनातनधर्मी होने पर भी प्रकृति जड़ क्यों है और पुरुष चेतन क्यों है? हे विप्रेन्द्र! आप मोक्षधर्म को भली प्रकार जानते हैं। अतः मुझे आपके मुख से मोक्षधर्म सुनने की अभिलाषा है।

यदि आपको पुरुष का अस्तित्व, केवलत्व और प्रकृति से भिन्नत्व मालूम हो और यदि आपको देहाश्रित इन्द्रियों के देवताओं के सम्बन्ध में जानकारी हो, तो आप मुझसे कहें। इसी प्रकार देह के भिन्न भिन्न स्थानों से प्राण के निकलने पर, जीव को जो स्थान प्राप्त होते हैं—उनका भी वर्णन आप मुझे सुनावें। साँख्य क्या है? योग क्या है? इन दोनों का भेद भी मुझे आप बतलावें। मृत्युसूचक चिन्ह भी आप मुझे बतलावें। आपको तो इन सब विषयों का ज्ञान हस्तामलकवत् है।

तीनसौ पन्द्रह का अध्याय

प्रकृति और पुरुष की विशेषता

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—हे राजन्! निर्गुण आत्मा सगुण और सगुण प्रकृति निर्गुण नहीं की जा सकती। मैं अब इसीको समझा कर कहता हूँ। सुनो, सर्वज्ञ और तत्त्वज्ञ महामुनि का कहना है कि, जिसका गुणों से संसर्ग है वह गुणी कहलाता है। अव्यक्त अर्थात् प्रकृति स्वभावतः ही सगुण है और वह गुणों को अतिक्रम नहीं कर सकती। वह स्वभाव ही से अज्ञ है। अतः वह गुणों को भोगती है। प्रकृति कुछ नहीं जानती। वह जड़ है और पुरुष स्वभाव ही से ज्ञानी तथा द्रष्टा है। पुरुष समझता है कि, मुझसे श्रेष्ठतर कोई नहीं है। यद्यपि प्रकृति जड़ है; तथापि नित्य क्षर प्रकृति में आभास के रूप में अक्षर का संयोग होने से उसमें नित्य, भोक्तृत्व और भोग्यत्व रहते हैं। पुरुष अज्ञानवश बारंबार गुणों का संसर्ग करता है। अतः वह नवीन सृष्टि की रचना किया करता है। किन्तु वह निज को निज गुणों की सृष्टि से अभिन्न जानता है। इसीसे आत्मा अपने आप गुणों से बद्ध हो जाता है और उसमें से छूट कर मुक्त नहीं हो सकता। महत्तत्व के सृष्टिकर्त्ता होने के कारण वह स्वयं समझता है, कि मैं

सृष्टिकर्त्ता हूँ अर्थात् सर्गों का कर्त्ता हूँ। इसीसे वह सर्गधर्मा कहलाता है और जब अपने को यमनियम आदि योग का कर्त्ता समझता है, तब वह योग-धर्मा कहलाता है।

पुरुष समझता है कि, मैं प्रजाकर्त्ता हूँ। अतः वह प्रकृतिधर्मा कहलाता है और स्थावर पदार्थों के कर्त्तापन का अभिमान करने से वह बीज-धर्मा कहलाता है। वह काम, शान्ति आदि गुणोत्पादक तथा उनका लय-कर्त्ता होने से वह गुणधर्मा कहा जाता है! इस तरह कर्तृत्व अभिमान के कारण आत्मा बन्धन में पड़ता है। पुरुष अथवा आत्मा की ऐसी स्थिति होने पर भी वह साक्षी अर्थात् केवल दृष्टा मात्र बना रहता है। उसके परिणाम में उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; किन्तु प्रकृति के संसर्ग से अहङ्कार के फलस्वरूप दुःखादि प्रतीत होते हैं। अध्यात्म तत्ववादी और दुःख-शून्य योगी साक्षित्व, अनन्यत्व तथा अभिमान से आत्मा को केवल अनित्य अव्यक्त व्यक्त जानते हैं। किन्तु समस्त प्राणियों पर दया करने वाले केवल ज्ञान में रत निरीश्वरवादी साँख्य के ज्ञाता प्रकृति को एकत्व और पुरुष को नानात्व-गुण-विशिष्ट कहा करते हैं। वे लोग अनेक दृष्टान्त दिखला, पुरुष एवं प्रकृति के सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दे, पुरुष प्रकृति का भेद इस प्रकार बतलाते हैं। वे कहते हैं कि, जैसे मूज के भीतर की सींक मूँज से पृथक है, गूलर फल के भीतर रहने वाले मशक गूलर से अलग हैं; वैसे ही प्रकृति में रहने वाले पुरुष को भी प्रकृति से पृथक जानना चाहिये। हे राजन्! साधारण जन इस सहवास और नित्यनिवास को यथार्थ रीति से जानने में असमर्थ हैं। जो इसे विपरीत समझते हैं; वे सम्यकदर्शी नहीं हो सकते। प्रत्युत वे लोग तो बारंबार नरकों में गिरा करते हैं। ज्ञान से परिपूर्ण समस्त साँख्य शास्त्र मैंने तुझे बतलाया। साँख्य-शास्त्र-वादी विद्वज्जन, इस प्रकार साँख्यशास्त्र द्वारा विचार कर, मुक्त हो चुके हैं। इसी प्रकार अन्य बड़े बड़े शास्त्रों में कुशल जनों का मत मैंने तुझे सुना दिया। अब मैं योगशास्त्र को कहता हूँ; सुन।

तीनसौ सोलह का अध्याय

साँख्य एवं योग की एकता का प्रतिपादन

याज्ञवल्क्य जी बोले—हे राजन्। मैंने तुम्हें साँख्य शास्त्र का रहस्य बतला दिया और अब मैं योगशास्त्र का उपदेश तुझे वैसे ही देता हूँ जैसे मैंने उसे सुना है; सुन। साँख्य-ज्ञान के समान अन्य कोई ज्ञान नहीं है। योगबल की टक्कर का एक भी बल नहीं है। दोनों के पालने की रीति भी एक ही है। दोनों ही मृत्युनाशक अर्थात् मोक्षप्रद हैं। बुद्धि-हीन मनुष्य साँख्य और योग को भिन्न भिन्न मानते हैं। किन्तु हे राजन्! मैं तो निःसन्देह दोनों को एक ही जानता हूँ। जिस पदार्थ को योगी देखते हैं उसीको साँख्यवादी भी देखते हैं। जो विद्वान् योगशास्त्र और साँख्यशास्त्र को एक मानते हैं वे ही तत्ववेत्ता है।

हे शत्रुसूदन! रुद्र अर्थात् प्राण और इन्द्रियाँ योगसाधन में मुख्य हैं। प्राण और इन्द्रियों का निग्रह कर लेने पर योगी सूक्ष्म शरीर से दसों दिशाओं में जहाँ चाहता, वहाँ जा सकता है। किन्तु जब योगी का स्थूल शरीर गिर पड़ता है, तब वह अष्ट सिद्धि वाले सूक्ष्म शरीर से विविध लोकों में विहार कर, सुखों का उपभोग करता है।। हे नृपोत्तम! पण्डितों का कहना है कि, वेद में अष्ट सिद्धियों से सम्पन्न अष्टाङ्ग योग का वर्णन है। अन्य किसी योग का उसमें वर्णन नहीं है। शास्त्र में दो प्रकार की योग चर्याओं का वर्णन पाया जाता है। प्रथम सगुण योगचर्या और दूसरी निर्गुण योगचर्या अर्थात् सजीव निर्जीव योग। प्राणवायु को रोक कर, शास्त्रकथित पदार्थों में मन को धारण करने का नाम, सगुण ध्यान है और इन्द्रियों का निग्रह कर, मन को एकाग्र करने का नाम निर्गुण योग (प्राणायाम) है। प्राणवायु को रोक कर, मन को किसी पदार्थ में लगाने को सगुण प्राणायाम कहते हैं। जिसमें इन्द्रियों को जीत कर, निज-

धर्म-रहित मन का निग्रह किया जाता है, उसे निर्गुण प्राणायाम कहते हैं। हे मिथिलेश! पूरक, कुम्भक और रेचक—त्रिपुटात्मक प्राणायाम करते समय मंत्र द्वारा देवता का ध्यान करे। क्योंकि ध्यानरहित प्राणा-याम का अभ्यास करने से रोगों की उत्पत्ति होती है। अतः प्राणायाम न करना चाहिये। योगी को उचित है कि, रात्रि के प्रथम भाग में बारह प्रकार की प्रेरणा (प्राणायाम) करे। उस समय शरीरस्थ भिन्न चक्रों में स्थित देवताओं का ध्यान कर चुकने बाद शयन करे। सोने के अन-न्तर चतुर्थ प्रहर में उठ पुनः द्वादशात्मक प्राणायाम करे। प्राणवायु को रोक कर दुर्दान्त मन और इन्द्रियों का निग्रह करने वाले शान्त, एकान्तवासी, आत्मानन्द-परायण और शास्त्रतत्त्वज्ञ पुरुष को अवश्य योगाभ्यास करना चाहिये। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ये पाँच विषय, पाँच इन्द्रियों के दोष हैं। क्योंकि यह अनउपलब्ध वस्तु की चाहना किया करते हैं। योगी प्रेरणाओं का अभ्यास कर इन सब का त्याग करे।

हे मिथिलेश! प्रतिमा और अपवर्ग अर्थात् लय विशेष का त्याग भी योगी को करना चाहिये। उसे समस्त इन्द्रियों को अपने वश में करने का अभ्यास करना चाहिये। तदनन्तर मन को अहङ्कार में स्थिर कर, अहङ्कार को बुद्धि में स्थित करे। फिर बुद्धि को प्रकृति में स्थिर करे। इस प्रकार तत्वों को एक दूसरे तत्व में लय कर, योगी को रज-सत्व-तम गुण-रहित, मलशून्य, नित्य, अनन्त, शुद्ध, दोषवर्जित, कूटस्थ, आकाशवत् छिद्ररहित, जरा-मृत्यु-रहित और अविनाशी परब्रह्म का ध्यान करना चाहिये। योगाभ्यास से सिद्ध हुए योगी के लक्षण अब मैं तुझे बतलाता हूँ; सुन। जैसे कोई अघाया हुआ पुरुष सुख की नींद में सोता है, वैसे ही समाधिस्थ पुरुष भी सुख से योग का सेवन करता है। निर्वात स्थान में जैसे तेल से पूर्ण दीपक की लौं स्थिर भाव से रहती है और ऊर्ध्वगति से जला करती है; वैसी ही दशा, विद्वानों के मतानुसार समाधि

में योगी की होती है। जैसे मेघों द्वारा की गयी जलवृष्टि से पर्वत चलायमान नहीं होता, वैसे ही योगी भी विविध विक्षेपों के होने पर भी चलायमान नहीं होता। समाधिस्थ योगी के निकट भले ही बहुत से शङ्ख, नगाड़े आदि बाजे बजाये जाँय, तो भी वह चलायमान नहीं होता। समाधिस्थ का यही रूप है। जिस प्रकार तेल से भरा कटोरा ले कर ज़ीने के ऊपर चढ़ने वाले पुरुष को, यदि कोई नङ्गी तलवार ले कर डरावे और तो भी वह पुरुष न डरे और हाथ के कटोरे से तेल की एक बूँद भी न गिरे, इसी प्रकार जब योगी उत्तम मार्ग पर आरूढ़ होने के लिये मन को एकाग्र कर इन्द्रियों को अपने वश में करता है और अपना अन्तःकरण निश्चल बना लेता है, तब वह योगसाधन करने योग्य होता है। योगाभ्यासी मुनि के ये ही लक्षण हैं। समाधिस्थ योगी को निर्विकार परब्रह्म के दर्शन होते हैं। प्रगाढ़ अन्धकार में वह ब्रह्म, तेजस्वी अग्नि की तरह प्रकाशित है। योगाभ्यासी जन जड़शरीर को त्याग कर, प्रकृति-रहित पुरुष को दीर्घकाल में पाता है। यह बात प्राचीन काल से लोग सुनते चले आते हैं। योगियों का योग यही है। योग का लक्षण इसको छोड़ और हो ही क्या सकता है? इस योग-तत्व को जान कर, योगी अपने आत्मा को कृतकृत्य मानने लगता है।

तीनसौ सत्रह का अध्याय

मुमुर्षु की पहचान

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! अब मैं तुम्हें यह बतलाना चाहता हूँ कि मरणानन्तर योगी कहाँ जाता है। तुम सावधान हो कर सुनो। यदि योगी का आत्मा चरणों से निकलता है, तो वह विष्णुलोक में जाता है। जिसके प्राण दोनों जँघाओं से निकलते हैं, वह योगी अष्टवसुओं के

लोक में जाता है। जिस योगी के प्राण दोनों जानुओं से निकलते हैं, वह साध्य देवताओं के लोक में जाता है। जिस योगी के प्राण गुदा द्वार से निकलते हैं वह मित्र अर्थात् सूर्यलोक में, जिसके प्राण जघन देश से निकलते हैं वह पुनः पृथिवी पर, जिसके प्राण दोनों ऊरुओं से निकलते हैं, वह प्रजापति के लोक में, जिसके प्राण पार्श्व से निकलते हैं, वह मरुत-लोक में, जिसके प्राण नाभिदेश से निकलते हैं, वह स्वर्ग में जा इन्द्रपद को पाता है। जिस योगी के प्राण भुजाओं से निकलते हैं, वह स्वर्ग में, जिसके प्राण छाती में हो कर निकलते हैं, वह रुद्रलोक में, जिस योगी के प्राण कण्ठदेश से निकलते हैं, वह मुनिश्रेष्ठ नर के लोक में, जिसके प्राण मुख से निकलते हैं, वह विश्वेदेवता के लोक में, जिसके प्राण कानों से निकलते हैं, वह दिशाओं में और जिसके प्राण नासिका से निकलते हैं, वह गन्धग्राही वायु के लोक में, जिसके प्राण भ्रकुटि के मध्य भाग से निकलते हैं, वह अश्विनीकुमारों के लोक में, जिसके प्राण ललाटदेश से निकलते हैं, वह पितृलोक में, जिसके प्राण मस्तक से निकलते हैं, वह देवाग्रज ब्रह्मा के लोक में जाता है।

हे राजन्! मरणानन्तर योगी इस प्रकार भिन्न भिन्न लोकों में जाता है। अब तू पण्डितों द्वारा कहे हुए मरणचिन्हों को सुन। जो पुरुष एक वर्ष में मरने वाला होता है—उसमें ये मरण चिन्ह पाये जाते हैं। जिसको अरुन्धती और ध्रुव के तारे न देख पड़ें और जिसे चन्द्रमा का पूर्ण प्रतिबिम्ब न देख पड़े या जिसे चन्द्रमा या दीपक दहिनी ओर खण्डित से देख पड़ें; जान लेना चाहिये वह पुरुष एक वर्ष में मर जायगा। जिस पुरुष को अपने शरीर की परछाईं अन्य पुरुष के नेत्रों की पुतली के भीतर न देख पड़े, वह भी एक ही वर्ष जीवित रहता है। जिसे चमकीले पदार्थ निस्तेज देख पड़ते हैं, जो बुद्धिमान होने पर भी बुद्धिहीन हो जाता है अथवा जिसका स्वभाव एकदम बदल जाता है, उसका मरण छः मास के भीतर होता है। जो मनुष्य देवताओं का

अपमान करता है या ब्राह्मण से वैर करने लगता है, जिसके शरीर की श्याम रंगत धूसर वर्ण की हो जाती है, उसका मरण छः मास के भीतर हो जाता है। जिसे चन्द्र और सूर्य में मकड़ी के जाले जैसे छिद्र देख पड़ते हैं, वह मनुष्य सात रात के भीतर मर जाता है। जिसे देव-मन्दिर में बैठने पर मुर्दे की सड़ायन जैसी दुर्गन्धि जान पड़ती है, वह भी मनुष्य सात दिन के भीतर मर जाता है। जिसकी नाक और कान टेढ़े हो जाते हैं, दाँतों और नेत्रों की चमक मन्द पड़ जाती है, जिसके होश-हवास ठीक नहीं रहते, शरीर की गर्माहट घट जाती है, वह पुरुष तत्काल मरता है।

हे राजन्! जिसके बाम नेत्र से अकस्मात् जल बहने लगे, मस्तक से धुआँ सा निकलता जान पड़े, वह भी २४ घंटे के भीतर ही मर जाता है। इन मरणसूचक लक्षणों को देख, योगी को रात दिन समाधिस्थ रह कर, परमात्मा में अपना मन लगा देना चाहिये और मरणकाल की प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि योगी को मरने की इच्छा न हो तो उसे उचित है कि, वह समस्त गन्धों और समस्त रसों को जीत कर, जितेन्द्रिय हो जाय। आत्म-ज्ञानी-जन सदा साँख्यशास्त्रानुसार अभ्यास किया करता है और अपना मन परमात्मा में लगा—मृत्यु को जीत लेता है। योगाभ्यास करने के बाद मरने पर, अकृतात्माओं के लिये अप्राप्य, अचल, जन्म-शून्य, कल्याण-प्रद, विकार-शून्य, सनातन, अक्षय और प्रकृति से भिन्न परमपुरुष की प्राप्ति होती है।

तीनसौ अठारह का अध्याय

परमपुरुष का वर्णन

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! तूने मुझसे प्रकृति में रहने वाले परम पुरुष के सम्बन्ध में पूछा है। यह तेरा प्रश्न गोपनीय होने पर भी उसका उत्तर मैं तुझे देता हूँ। सावधान हो कर सुन।

हे मिथिलेश ! मैं आर्षप्रोक्त प्रणाली के अनुसार जिस समय बड़े विनम्र भाव से रहता था, उस समय सूर्य ने मुझे यजुर्वेद के मंत्र बतलाये थे। मैंने जब घोर परिश्रम कर के सूर्य का आराधन किया था; तब उन्होंने प्रसन्न हो मुझसे कहा—हे विप्रर्षे ! तू अपना अभीष्ट परम दुर्लभ बरदान माँग; मैं तुझे वर दूँगा। क्योंकि मुझे प्रसन्न करना अत्यन्त दुर्लभ काम है। तब इस पर मैंने सिर नवा सूर्यदेव से कहा—मैं यजुर्वेद नहीं जानता, अतः मैं यजुर्वेद के मंत्रों को जानना चाहता हूँ।

सूर्य ने कहा—हे द्विज ! मैं तुझे यजुर्वेद के मंत्र बतलाऊँगा। वाणी का रूप धारण कर सरस्वती तेरे मुख में प्रवेश करेगी। तदनन्तर सूर्य ने मुझे आज्ञा दी कि, तू अपना मुख खोल। तब मैंने अपना मुख खोल दिया। उस समय सरस्वती देवी ने मेरे मुख में प्रवेश किया, मैं अपनी शिष्यमण्डली को साथ ले वैसे ही तुम्हारे पिता के यज्ञ में गया जैसे सूर्य अपनी किरणों सहित गमन करते हैं। उस समय देवल ऋषि की उपस्थिति में दक्षिणा के लिये माया के साथ मेरा झगड़ा हुआ। तब देवल के कहने पर मैंने आधी दक्षिणा लेना स्वीकार किया। तदनन्तर सुमन्तु, पैल, जैमिनि, तुम्हारे पिता तथा अन्य मुनियों ने मेरी प्रशंसा की। मुझे सूर्य से पचास यजुर्वेद के मंत्र मिले थे। फिर मैंने लोमहर्षण के निकट जा पुराणों का अध्ययन किया था। वेदोक्त मंत्रों का उच्चारण कर तथा देवी सरस्वती का ध्यान कर सूर्य के अनुग्रह से मैंने शतपथ ब्राह्मण की रचना करनी आरम्भ की। मेरे पूर्व इस काम में किसी ने हाथ नहीं लगाया था। मैंने परिशिष्ठ और संग्रहसहित उस समूचे ग्रन्थ को अपने समस्त शुद्धमना शिष्यों को पढ़ाया। उसे पढ़ वे सब बहुत प्रसन्न हुए। सूर्यप्रदत्त पचास मंत्रात्मक शाखा वाले उस ग्रन्थ का निर्णय कर, मैं वेद्य परब्रह्म का यथेच्छ चिन्तवन करता हूँ। हे राजन् ! एक बार वेदान्त-दर्शन-कुशल विश्वावसु नामक गन्धर्व ने मेरे निकट आ, मुझसे पूछा कि, मेरे बनाये शास्त्र में ब्राह्मण जाति के लिये हितकर

सत्य पदार्थ क्या है? उसमें ज्ञातव्य हितकर वस्तु कौन सी है? हे राजन्! वेद सम्बन्धी २४ प्रश्न उसने मुझसे पूछे। उसका अन्तिम अर्थात् २५ वाँ प्रश्न आन्विक्षिकी विद्या के विषय में था।

उसके वे प्रश्न ये थे—

१ विश्व क्या है?
२ अविश्व क्या है?
३ अश्व क्या है?
४ अश्वा क्या है?
५ मित्र कौन है?
६ वरुण कौन है?
७ ज्ञान क्या है?
८ ज्ञेय क्या है?
९ अज्ञ कौन है?
१० "ज्ञ" किसे कहते हैं?
११ "क" किसको कहते हैं?
१२ तपा कौन है?
१३ अतपा कौन है?
१४ सूर्य कौन है?
१५ अचल क्या है?
१६ चल क्या है?
१७ अपूर्व क्या है?
१८ अक्षय्य क्या है?
१९ क्षय किसको कहते हैं?
२० सूर्यादि क्या है?
२१ विद्या क्या है?
२२ अविद्या है?

२३ जानने योग्य क्या पदार्थ है ?

२४ न जानने योग्य पदार्थ कौन है ?

अर्थ-वेत्ताओं के निकट विश्वावसु गन्धर्व के पूछे हुए ये प्रश्न परमोत्तम माने जाते हैं। उसके इन प्रश्नों को सुन मैंने उससे कहा—जब तक मैं तेरे प्रश्नों के उत्तर विचारूँ, तब तक तू विश्राम कर। यह सुन वह गन्धर्व चुप हो गया और मेरे पास बैठ गया। उस समय मन ही मन मैंने सरस्वती देवी का स्मरण किया। तब तो उक्त प्रश्नों के उत्तर मेरे मन में वैसे ही फुरे जैसे दही को मथने पर मक्खन निकलता है। विद्या की महिमा का विचार कर, वेद के अन्तर्भुक्त उपनिषद् में मुझे आन्विक्षिकी विद्या वैसे ही देख पड़ी; जैसे दही में मक्खन। अन्विक्षिकी विद्या मोक्ष देने वाली है। जीव के सम्बन्ध में तो मैं तुझे पहले ही बतला चुका हूँ।

विश्वावसु को समझा कर मैंने उससे कहा—अपने पूछे हुए प्रश्नों के उत्तर सुन। विश्व अव्यक्त है और जन्म-मरण-जन्य भय को उत्पन्न करने वाली श्रेष्ठ प्रकृति रूप है। वह त्रिगुणात्मिका है। क्योंकि उससे सगुण तत्वों की उत्पत्ति होती है। अविश्व निर्गुण पुरुष रूप है। अश्व और अश्वा से स्त्री पुरुष का जोड़ा समझना चाहिये। प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं और पुरुष निर्गुण है। मित्र पुरुष है और वरुण प्रकृति रूप है। ज्ञान को प्रकृति कहते हैं और ज्ञेय को पुरुष, अज्ञ और ज्ञ दोनों पुरुषरूप हैं। इसीसे वे निर्गुण हैं। "क"—आनन्द पुरुष रूप है। वह तपोरूप है। वह प्रकृति है, जो विकार और गुण से रहित है अर्थात् अतपारूप है। वह निष्फल है। अवेद्य नाम प्रकृति का है। वेद्य पुरुष रूप है।

जगत की उत्पत्ति और संहार की कारणभूत प्रकृति है। इसीसे विद्वज्जन उसे चला कहते हैं। पुरुष जगत को उत्पन्न करता तथा उसका संहार करता है, किन्तु विकार को प्राप्त नहीं होता, अतः वह निश्चल

कहलाता है। वेद्य नाम प्रकृति का है और पुरुष अवेद्य है। अध्यात्म-वादी निर्णयपूर्वक कहते हैं कि, प्रकृति और पुरुष दोनों अजन्मा हैं और नित्य हैं। उत्पन्न करने में अक्षय्य होने से अजरूप प्रकृति को अव्यय कहते हैं। पुरुष भी अक्षय्य है। क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। प्रकृति के गुण लय हो जाते हैं, किन्तु प्रकृति का क्षय नहीं होता। इसीसे विद्वान प्रकृति को अक्षय्य कहा करते हैं। प्रकृति में विकार होने से वह सृष्टि की कर्त्तारूपिणी मानी जाती है। उसके उत्पन्न परिणाम की उत्पत्ति और उसका लय होता है, किन्तु मूल प्रकृति में विकार नहीं होता। अतः प्रकृति को अक्षय्य कहते हैं।

यही चौथी आन्वीक्षिकी विद्या है। यह मैंने तुझे कह सुनायी। यह विद्या मोक्ष-प्रदा है। हे विश्वावसु ! शास्त्र कहता है कि, गुरु-सेवा कर, गुरु से आन्विक्षिकी विद्या के साथ साथ ऋक, यजु तथा सामवेद रूप धन सम्पादन करना चाहिये। नित्य कर्म करने चाहिये तथा सब वेदों का स्वाध्याय करना चाहिये। हे गन्धर्व-श्रेष्ठ ! परमात्मा ही से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है। उसीमें सब प्राणी लीन हो जाते हैं। वही सब का पालन किया करता है। उसीका वेदों में प्रतिपादन किया गया है। जो पुरुष ऐसे जानने योग्य ब्रह्म को नहीं जानता, उसको इस संसार में बारंबार जन्म लेना और मरना पड़ता है। जो लोग साङ्गोपाङ्ग वेद तो पढ़ते हैं, किन्तु वेदों में प्रतिपादित ब्रह्म को नहीं जानते; वे तो वेद का बोझ ढोने वाले हैं। हे गन्धर्व-श्रेष्ठ ! जो पुरुष घी पाने की आशा से गधी के दूध को मथता है, उसे घी अथवा मक्खन न मिल कर विष्टा ही मिलती है। इसी तरह जो पुरुष वेदाध्ययन कर के भी वेद्य अवेद्य को नहीं जानता, वह मूर्ख है और ज्ञान का बोझा ढोने वाला (गधा) है। मनुष्य को उचित है कि वह अपने आत्मा को परमात्मा में लगावे और सदैव प्रकृति पुरुष के स्वरूप का विचार करे, जिससे उसे बारंबार मरना जीना न पड़े। क्योंकि इस संसार में मरना जीना रोज़ ही लगा

रहता है। मनुष्य को उचित है कि इसका सदा ध्यान रखे और वेदोक्त समस्त कर्मों के नाशवान् फल का त्याग कर, अविनाशी योगधर्म का सेवन करे।

हे कश्यप-गोत्री-गन्धर्व! जो पुरुष निज जीव आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन किया चाहता है, वह पुरुष परमात्म-स्वरूप हो जाता है। उसीको छब्बीसवें पुरुष के दर्शन भी होते हैं। मूढ़ मनुष्य शाश्वत, अव्यक्त ब्रह्म को तथा पच्चीसवें तत्वरूप जीव को पृथक् पृथक् देखते हैं। जन्म-मृत्यु के भय से भीत तथा परमपद प्राप्ति की चाहना रखने वाले योगी एवं साँख्य-शास्त्र-वेत्ता जन, पच्चीसवें और छब्बीसवें तत्वों को भिन्न भिन्न नहीं मानते।

विश्वावसु ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! आपने कहा है–२५वाँ पुरुष जीवात्मा अच्युतरूप है, किन्तु वह ऐसा है अथवा नहीं—यह समझ में नहीं आता। अतः आप यह विषय मुझे स्पष्टतया समझावें। मैं पहले इस विषय को असित, देवल, विप्रर्षि पराशर, बुद्धिमान, वार्षगण्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्षपेण, महात्मा गर्ग, नारद, आसुरि, बुद्धिमान पुलस्त्य, सनत्कुमार, महात्मा शुक्र तथा अपने पिता कश्यप से सुन चुका हूँ। बुद्धिमान् रुद्र, विश्वरूप, अनेक देवतागण, पितरों और दैत्यों से भी नित्य जानने योग्य परमात्मा सम्बन्धी समस्त विषय मैंने सुने हैं। इन सब ने परमात्मा को नित्य-वस्तु बतलाया है। अतः आप समझ कर बतलावें कि, जीव और ब्रह्म के ऐक्य के सम्बन्ध में आपकी सम्मति क्या है? मैं यह विषय सुनना चाहता हूँ। आप महात्मा हैं, शास्त्रों के वक्ता हैं और बड़े बुद्धिमान हैं। आपसे कुछ भी नहीं छिपा। आप तो शास्त्र के भाण्डार हैं। देवलोक और पितृलोक में यह बात विख्यात है। ब्रह्मलोकवासी ब्रह्मर्षियों का कहना है कि, तेजस्वी पदार्थों के स्वामी सूर्यदेव ने आपको वेदोपदेश दिया था। हे याज्ञवल्क्य! आप गुरुमुख से योगशास्त्र और साँख्यशास्त्र पढ़े हुए हैं। आपको चराचर

पदार्थों का पूर्ण ज्ञान है। अतः आप पूर्ण ज्ञानी हैं। मैं उत्तम घृत के समान स्वादिष्ट तत्वज्ञान को सुनना चाहता हूँ।

याज्ञवल्क्यजी बोले—हे गन्धर्व-श्रेष्ठ! मैं तुझे समस्त ज्ञानियों में उत्तम समझता हूँ। तिस पर भी तू मुझसे ज्ञान की बातें सुनना चाहता है। अतः मैंने जैसा सुना है, वैसा ही मैं तुझे बतलाता हूँ; सुन। प्रकृति जड़ है, इसका ज्ञान पचीसवें चेतन तत्व (जीव) द्वारा होता है! किन्तु प्रकृति से पचीसवें तत्व का ज्ञान नहीं होता। प्रकृति पर चिदात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। साँख्यशास्त्री और योगशास्त्र इस प्रकृति को प्रधान बतलाते हैं। हे अनघ! चिदाभास से भिन्न साक्षी रूपी पुरुष जागृत अवस्था में तथा स्वप्नावस्था में २४वें तत्व रूपी प्रकृति को तथा २५वे तत्व रूपी जीव को सदा देखा करता है। २५वें तत्व पुरुष को यह अभिमान है कि, मुझसे श्रेष्ठतर और कोई नहीं है। इसी अभिमान से वह देखने पर भी नहीं देख पाता; किन्तु २६वाँ तत्व पुरुष उसे देखता है। जो ज्ञानी जन होते हैं वे २४वें तत्वरूप जड़ प्रकृति को २५वाँ तत्व पुरुष रूप नहीं समझते। अर्थात् प्रकृति आत्मा नहीं है। यद्यपि मछली पानी में तो रहती है और वह स्वभावतः जल की ओर जाती है तथापि जिस प्रकार मछली जल से भिन्न है; उसी प्रकार स्नेह तथा सहवास-वश, जीवात्मा यद्यपि प्रकृति की ओर ही दौड़ता है; तथापि वह प्रकृति से भिन्न है। फिर प्रकृति जड़ और जीवात्मा चेतन एवं सत्य है। किन्तु जीवात्मा अभिमान के कारण माया में फँस जाता है। जब वह २६वें तत्व के साथ अपना एकत्व नहीं देखता; तब वह संसार में मग्न हो जाता है। किन्तु जब वह अपने अभिमान को त्याग कर, अपना ब्रह्म स्वरूप पहचान लेता है; तब वह उन्नत दशा को प्राप्त होता है। अर्थात् वह मोक्ष पाता है।

जब जीवात्मा समझता है कि, मैं भिन्न पदार्थ हूँ और प्रकृति मुझ से भिन्न है, तब वह २६वें तत्व पुरुष को जान कर केवल स्वरूप हो जाता

है। हे राजन्! परमात्मा एक है, जीव एक है। वर अर्थात् २६वें तत्व का, अवर अर्थात् २५वें तत्व में अदृश्य होने से विवेकी जन दोनों को एक रूप माना करते हैं। हे विश्वावसु! इसी लिये मरण तथा जन्म के भय से त्रस्त योगी तथा साँख्यवेत्ता छब्बीसवें तत्व को देखते हैं, पवित्र रहते हैं और २६वें तत्व में परायण रहते हैं। इसीसे वे जीवात्मा को अच्युत नहीं मानते। हे कश्यप! जीव को जब परम पुरुष का दर्शन हो जाता है; तब वह २६वाँ तत्व केवल रूप हो जाता है। उस समय उसमें सर्वज्ञता और विद्वत्ता आ जाती है और फिर उसे न तो जन्म लेना पड़ता है और न मरना ही पड़ता है।

हे कश्यप! यह मैंने तुझे अप्रतिबुद्धय, बुद्धयमान प्रधान, जीवात्मा एवं बुद्ध परमात्मा के वेदोक्त स्वरूप का वर्णन सुनाया है। जिसे द्रष्टा और दृश्य का भेद नहीं जान पड़ता, जिसे ज्ञान और ज्ञेय में विशिष्टता नहीं जान पड़ती, वह केवल और अकेवल—दोनों ही है। जैसे वह संसार का आद्य रूप है; वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा उभय रूप हैं।

विश्वावसु बोला—हे याज्ञवल्क्य! आपका वर्णित ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान ठीक है और शुभप्रद है। आपका सदा मङ्गल हो और आपका मन सदा ज्ञान में लीन रहे।

याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—यह कह उस महात्मा ने मेरी प्रदक्षिणा की और मुझे प्रणाम किया। तब मैंने भी परम सन्तुष्ट हो उसकी ओर निहारा। वह सुन्दर गन्धर्व स्वर्ग में चला गया। तदनन्तर मेरे वर्णित तत्त्वज्ञान का उपदेश उसने ब्रह्मादि आकाशचारी देवताओं को और पृथिवी-तल-वासी मुमुक्षुओं को दिया। जो साँख्यशास्त्र-वेत्ता हैं, वे सदा साँख्य शास्त्रानुसार ही आचरण करते हैं। जो योगी हैं, वे योगधर्म में परायण रहते हैं। किन्तु इनको छोड़ जो मुमुक्षु होता है, उसे तो मेरा कथित यह तत्वज्ञान प्रत्यक्ष फलप्रद है। हे राजसिंह! हे नरेन्द्र! अज्ञानी मोक्ष नहीं पा सकता। किन्तु ज्ञानी ही को मुक्ति प्राप्ति होती है। अतः मनुष्य को

उचित है कि, वह प्रयत्नपूर्वक यथार्थ ज्ञान सम्पादन करे। क्योंकि जन्म मृत्यु से अपने आत्मा को छुड़ाने के लिये ज्ञान ही एकमात्र उपाय है। मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा नीच योनि में उत्पन्न शूद्र से भी ज्ञान ले सकता है और श्रद्धापूर्वक उस ज्ञान से काम ले सकता है। जो श्रद्धावान् होते हैं, उन्हें जन्म मृत्यु का भय नहीं व्यापता। समस्त वर्णों के लोग ब्रह्मा जी से उत्पन्न होने के कारण एक प्रकार से ब्राह्मण कहलाते हैं। सब लोग ब्रह्म का नाम जपा करते हैं। मैंने भी ब्रह्मबुद्धि ही से तुम्हें तत्व शास्त्र का उपदेश दिया है। यह सारा विश्व ब्रह्मस्वरूप ही है। परब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, नाभिदेश से वैश्य और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। अतः उन्हें ब्रह्म भिन्न नहीं समझना चाहिये।

हे राजन्! अज्ञानी होने के कारण ही जीव को पुण्य पापरूपी कर्मों से अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है और वार वार मरना पड़ता है। भयङ्कर अज्ञानवश प्रत्येक जाति के लोगों को प्रकृति-जन्य अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि, वह जैसे बने वैसे ज्ञान सम्पादन करे। मैं पहले कह चुका हूँ कि, ज्ञान सब से लिया जा सकता है। क्योंकि ज्ञान ही ब्राह्मणत्व है। ब्राह्मणेतर क्षत्रियादि भी ज्ञान के अधिकारी हैं। तत्ववेत्ताओं का मत है कि, ज्ञानी नित्य मोक्ष पाता है।

हे राजन्! मैंने तुम्हारे प्रश्न का यथोचित उत्तर दिया। अब तुम शोक को त्याग दो। तुम्हारा प्रश्न श्रेष्ठ था। हे राजन्! तुम अपने कार्य में सफल हो। तुम्हारा मङ्गल हो।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! याज्ञवल्क्य के इन वचनों को सुन मिथिलाधीश बहुत प्रसन्न हुए। तदनन्तर राजा ने उनकी प्रदक्षिणा कर उनका सत्कार किया। तब याज्ञवल्क्य जी वहाँ से प्रस्थानित हुए। राजा दैवराति ने मोक्षज्ञान प्राप्त कर और राजसिंहासन पर बैठ, एक करोड़

गोदान और सुवर्णदान दिये। इनके अतिरिक्त प्रत्येक ब्राह्मण को बहुत से रत्न भी दिये। तदनन्तर वृद्ध मिथिला नरेश ने अपनी जगह राजसिंहासन पर अपने पुत्र को बैठाया और वह स्वयं संन्यासी हो गया। वह धर्माधर्म और अविद्याजनित साँसारिक जंजाल से अलग हो गया। साँख्य और योग शास्त्रों का अभ्यास कर, वह इस निश्चय पर पहुँचा कि, मैं तीन प्रकार के परिच्छेदों से रहित, नित्य और प्रकृति से रहित शुद्ध हूँ। उसने धर्माधर्म, सत्यासत्य, पुण्य पाप और जन्म मरण को प्रकृतिजन्य होने के कारण मिथ्या जान, त्याग दिया। साँख्यवादी और योग शास्त्री दोनों ही शास्त्रों में वर्णित लक्षणों, के अनुसार—इस जगत् को प्रकृति का परिणाम समझते हैं। विद्वानों का मत है कि, ब्रह्म इष्ट अनिष्ट से रहित, माया से परे, नित्य और शुद्ध है। दान, आदान, अनुमोदन—ये सब ब्रह्म स्वरूप हैं। दान देने वाला, दान लेने वाला, ये सब परमात्म स्वरूप हैं। आत्मा एक है उससे परे कुछ भी नहीं है। हे राजन्! तुम्हें यह छोड़ और विचार अपने मन में न रखना चाहिये। जिन्हें सगुण प्रकृति और निर्गुण परमात्मा का रहस्य नहीं मालूम, उन शास्त्रज्ञों को तीर्थयात्रा तथा यज्ञ करना चाहिये। वेद के स्वाध्याय से, तपश्चर्या से, यज्ञानुष्ठान से, हे कुरु-पुत्र! परमात्मा नहीं मिलता; किन्तु परमात्मा के स्वरूप को जान लेने पर, मनुष्यत्व-स्वरूप को प्राप्त होता है—पूज्य हुआ करता है। जो महत-त्वोपासक हैं वे अन्त में महतत्त्व को पाते हैं। अहङ्कार के उपासक अह-ङ्कार और अहङ्कार से पर की उपासना करने वाले परस्थान को प्राप्त करते हैं—शास्त्रपरायण जो जन, प्रकृति से पर अविनाशी पुरुष को प्रकृतिपर एवं अविनाशी समझते हैं—वे फिर जन्म मरण के चक्कर में नहीं फसते। वे गुणों से रहित और सदसत् रूप हैं।

हे राजन्! मुझे ये सब बातें राजा जनक से विदित हुई थीं। उन्हें ये सब बातें याज्ञवल्क्य से मालूम हुई थीं। यह परमोत्तम ज्ञान है। इस ज्ञान की बराबरी यज्ञ नहीं कर सकते। कष्ट से पार होने योग्य इस

संसार से मनुष्य इस ज्ञान द्वारा सहज में पार हो जाता है। यह संसार आपत्ति और भय से पूर्ण है। कोई भी यज्ञ कर के इस संसार के पार नहीं हो सकता।

हे राजन्! ज्ञानियों का कहना है कि, भौतिक-कर्म-जन्य जन्म और मरण ही संसार है। यज्ञ, तप, नियम-पालन और व्रतोपवास करने से जीवात्मा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है और जब उसका पुण्यफल पूर्ण हो जाता है, तब उसे पुनः मर्त्यलोक में आ कर जन्म लेना पड़ता है। अतः क्षेत्र के स्वरूप को जान कर, प्रकृति से पर, महान, पवित्र, शिवरूप, मोक्षस्वरूप, निर्मल और पवित्र ब्रह्म की तुम उपासना करो। ज्ञानयज्ञ करने के बाद, तुम ऋषिसंज्ञा को प्राप्त होवोगे। उपनिषदों का पारायण करने से जो उपकार होता है, उस उपकार के पात्र याज्ञवल्क्य के उपदेश से राजा जनक हुए। अपने पुरोहित याज्ञवल्क्य के उपदिष्ट उपनिषद् के उपदेश से राजा ने सनातन अविनाशी परमात्मा का वर्णन जाना था। याज्ञवल्क्य कथित जो शाश्वत एवं अविनाशी तत्व का उपदेश है, उसके द्वारा तत्वज्ञान का सम्पादन करने से, मनुष्य का कल्याण होता है और वह मुक्ति-प्रद और शोकरहित परमात्मा को प्राप्त करता है।

तीनसौ उन्नीस का अध्याय

जरा और मृत्यु से छूटने का साधन

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! क्या यह सम्भव है कि, मनुष्य बड़ा ऐश्वर्य और धन और दीर्घायु पा कर, किसी उपाय से मृत्यु से बच जाय? क्या ऐसा भी कोई तप या वेदोक्त अनुष्ठान है अथवा ऐसी कोई रासयिनिक प्रक्रिया है, जिससे मनुष्य जरा और मृत्यु को जीत ले अर्थात् न तो बूढ़ा हो और न मरे ही।

भीष्म ने कहा—हे युधिष्ठिर! इस विषय को ले कर पूर्वकाल में एक बार राजा जनक और पञ्चशिख भिक्षु में कथोपकथन हो चुका है। वह इस प्रकार है।

विदेह नगरी में जनक नाम का एक राजा था। उसने एक दिन महर्षि पञ्चशिख से यह प्रश्न किया—हे भगवन्! आप मुझे वह उपाय बतलावें, जिससे मनुष्य न तो कभी बूढ़ा हो और न कभी मरे। क्या यह सम्भव है कि, कोई मनुष्य धर्मकर्म कर अथवा शास्त्र श्रवण कर, जरा मृत्यु को जीत ले?

राजा जनक के इस प्रश्न के उत्तर में अपरोक्ष-वेत्ता एवं पण्डित-प्रवर पञ्चशिख ने कहा—राजन्! जरा और मृत्यु को कोई भी नहीं जीत सकता। साथ ही मैं यह भी नहीं मान सकता कि, ये दोनों रोके ही नहीं जा सकते।

दिन, रात और मास किसी के रोके नहीं रुक सकते। जो मनुष्य सर्व-कर्म-संन्यास रूप शाश्वत मार्ग का अनुसरण करता है; वह जन्म-मृत्यु से छूट सकता है। यावत् प्राणी मरणशील हैं। जैसे जल की बाढ़ में सब वह निकलते हैं, वैसे ही कालरूपी नौका रहित महासागर में समस्त प्राणी बहा करते हैं। यह काल रूपी महासागर जरा और मृत्यु रूपी नक्रों से पूर्ण है। इसकी धार में प्राणी बूड़ जाते हैं। इसमें कोई किसी को नहीं बचा सकता। वहाँ कोई किसी का सहायक नहीं होता। स्त्री, पुत्र एवं अन्य नातेदारों का संसार में समागम वैसा ही है जैसा रास्ता चलते पथिकों का। चिरकाल तक यह समागम नहीं रहता, जैसे वायु आकाश-स्थित मेघ-समूह को छितरा देता है और वे गर्जते हुए इधर उधर फैल जाते हैं, वैसे ही कालप्रवाह में पतित, काल तितर बितर कर देता है। तब लोग वारंबार रोने लगते हैं। व्याघ्रोपम जरा और मृत्यु बली, दुर्बल और छोटे बड़े सभी प्राणियों को खा डालता है। प्राणिमात्र नाशवान् हैं। किन्तु उनमें रहने वाला आत्मा नित्य है। अतः सत्यशील

प्राणियों को तो जन्म होने पर हर्षित और मृत्यु होने पर विषादित होने की आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक प्राणी को उचित है कि, वह इन प्रश्नों पर सदा विचार करता रहे कि, मैं कहाँ से आया हूँ? मैं हूँ कौन? मुझे जाना कहाँ है? किसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं रहता कहाँ हूँ? आगे मेरा जन्म कहाँ होने वाला है? जन्म लेने का उद्देश्य क्या है? मेरा होगा क्या? मैं क्यों किसी के लिये शोक करूँ? किये हुए शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग नरक शुभाशुभ कर्मों के कर्त्ता के सिवाय और कौन भोग सकता है? अतः शास्त्रों के वचनों की कभी उपेक्षा न करे और दान दे तथा त्यागी बने।

तीनसौ बीस का अध्याय

सुलभा और विदेह-संवाद

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! क्या कोई मनुष्य गृहस्थाश्रम को त्यागे बिना भी ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पा सकता है? बुद्धि का लय करने वाले मोक्ष का स्वरूप क्या है? आप अब मुझे यह बतलावें? मनुष्य स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों से क्योंकर छुटकारा पा सकता है।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! इस सम्बन्ध में सुलभा और जनक का संवादात्मक एक प्राचीन इतिहास इस प्रकार है।

पुरातन काल में मिथिला नगरी में समदर्शी एवं जनक-वंशी राजा धर्मध्वज रहता था। वह बड़ा त्यागी था। वह वैदिक कर्म-काण्ड का ज्ञाता था तथा मोक्षप्रद ज्ञानकाण्ड में भी पटु था। वह राजधर्म को भली प्रकार निबाहता हुआ राज करता था। वह बड़ा जितेन्द्रिय था। वह वेद-वेत्ता राजा अपने सदाचार के लिये सारे संसार में प्रसिद्ध था। अतः बड़े बड़े विद्वान् भी उसके सदाचार का अनुकरण किया करते थे।

उन्हीं दिनों सुलभा नाम्नी एक भिखारिन, योगाभ्यास-परायण हो पृथिवी-तल पर अकेली घूमा फिरा करती थी। देशाटन करते समय उसने अनेक यतियों के मुखों से सुना कि, मिथिलेश मोक्षशास्त्र में बड़ा पटु है। इस जनश्रुति का निश्चय करने के लिये, उसने राजा धर्मध्वज के दर्शन करने चाहे। अतः योगबल से उसने अपना पूर्वरूप बदल दूसरा बड़ा सुन्दर रूप धारण किया। सुभ्रू एवं कमलनेत्री सुलभा, पलक मारते, मिथिला नगरी में जा पहुँची। उस समय मिथिलापुरी धन जन से परिपूर्ण थी। सुलभा भिक्षा माँगने के मिस मिथिलेश के दर्शन करने गयी, उसे मिथि-लेश के दर्शन हुए। सुलभा के अति सुकुमार शरीर को देख, राजा धर्मध्वज को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे यह जानने की उत्कण्ठा हुई कि, वह है कौन? वह किसकी स्त्री है? कहाँ से आयी है? राजा ने उसकी बड़ी आवभगत की। उसका स्वागत कर उसे एक उत्तम आसन पर बिठलाया। फिर अर्घ्य पाद्य से उसका पूजन कर और उसे स्वादिष्ट भोजन करवा तृप्त किया। तब सुलभा ने मन्त्रियों और भाष्य-वेत्ता विद्वानों के नीचे बैठे हुए राजा धर्मध्वज से प्रश्न किया। सुलभा को सन्देह था कि, राजा धर्मध्वज विषयों को त्याग कर जीवन्मुक्त हो गया है कि नहीं? अतः उस योगाभ्यासिनी सुलभा ने योगबल से अपने बुद्धि-सत्व से राजा के बुद्धि-सत्व में प्रवेश किया और राजा के नेत्रों से अपने नेत्र मिला, सन्देह निवृत्ति के लिये राजा पर अपना प्रभाव डाला। राजा को यह विश्वास था कि, वह सुलभा को परास्त करेगा और उस पर कोई अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। अतः उसने सुलभा को अपने ऊपर प्रभाव डालने दिया और उसने सुलभा के कार्य में रोक टोक न की। उस समय राजा धर्मध्वज साधारण रीति से बैठा हुआ था। अतः न तो उस समय उसके माथे पर छत्र तना हुआ था और न उसके हाथ में दण्ड था। सुलभा भी उस समय साधारण वेष में थी—उसके हाथ में भी त्रिदण्ड आदि भिक्षोचित चिन्ह न थे।

राजा धर्मध्वज ने सुलभा से पूछा—हे भगवती! तुम्हें यह वेष धारण करने का अधिकार कहाँ से प्राप्त हुआ है? तुम कौन हो? तुम किसकी स्त्री या पुत्री हो? तुम कहाँ से आ रही हो? अपना मनोरथ पूर्ण होने पर कहाँ जाने का तुम्हारा विचार है? शास्त्र सम्बन्धी, अवस्था सम्बन्धी एवं जाति सम्बन्धी प्रश्न किये विना यह नहीं जाना जा सकता कि, तुम कौन हो? जब तुम मेरे निकट आयी हो; तब तुम्हें मेरे इन प्रश्नों का उत्तर देना चाहिये। इस समय मैं छत्रादि चिन्हों से रहित हूँ। अतः तुम मेरे प्रश्न का उत्तर (बिना बहुत सा शिष्टाचार (तकल्लुफ़) किये) दो। मैं जानना चाहता हूँ कि, तुम हो कौन? तुम मुझे सत्कार करने के योग्य जान पड़ती हो। मोक्ष विषय के सम्बन्ध में (तुम मेरी परीक्षा लेने आयी हो तो) जो कुछ मैं कहूँ उसे सुनो। मैंने जिनसे यह विशेष ज्ञान प्राप्त किया है, उनसे बढ़ कर इस विषय का ज्ञाता इस धराधाम पर और कोई नहीं है। मैं तुम्हें उनका नाम भी बतलाये देता हूँ। मैं पराशर गोत्री एवं वयोवृद्ध महात्मा पञ्चशिख भिक्षु का परम मान्य शिष्य हूँ। साँख्य, योग और कर्मकाण्ड का मैं पूर्ण ज्ञाता हूँ। मुझे इन तीनों विषयों में कुछ भी सन्देह नहीं रह गया है। धर्मशास्त्रोक्त विधान के अनुसार, मेरे गुरु पञ्चशिख पृथिवी पर भ्रमण किया करते हैं। पिछली बार चातुर्मास्य व्रत उन्होंने मेरे निकट सुख पूर्वक रह कर पूर्ण किया था। साँख्य शास्त्र के पूर्ण पण्डित और योग-शास्त्र-निष्णात उन्होंने मुझको राजधर्म से डिगाये विना ही ज्ञान, कर्म और उपासना का तत्त्व समझा दिया है। उनकी उपदिष्ट मोक्ष धर्मोक्त तीनों प्रकार की वृत्तियाँ को मैं बरतता हूँ। मुझमें राग नहीं रहा। मैं परमपद में स्थिति कर रहता हूँ और एकाकी ही विहार किया करता हूँ।

मोक्ष पाने के लिये वैराग्य मुख्य है। यह वैराग्य ज्ञान से उत्पन्न होता है। ज्ञान ही से पुरुष मोक्ष पाता है। ज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य योगाभ्यास कर सकता है। ज्ञान से मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है और

आत्मज्ञान होने पर सुख दुःख रूपी द्वन्द्वों का नाश हो जाता है। तभी मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है। मुझे वह ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त हो गया है और उसके प्रभाव से मैं निर्द्वन्द्व रहता हूँ। मैंने लाभ और सङ्ग को त्याग दिया है। जैसे जल से सींचे हुए क्षेत्र में बीज बोने पर उसमें से अङ्कुर निकल आते हैं; वैसे ही मनुष्य के पूर्व-जन्म-कृत पाप पुण्य पुनर्जन्म देते हैं। किन्तु जैसे भूने हुए अन्न के दाने पुनः नहीं उगते, वैसे ही मुक्त कर्म भी फल नहीं देता। अतः पञ्चशिख ने मेरी बुद्धि को वासना रहित कर दिया है। अतः मेरे मन में कभी किसी विषय की इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। राग और रोष मिथ्या हैं। अतः शत्रुओं के वधादि में मेरी रुचि ही नहीं है। स्त्री पुत्रादि में मेरा अनुराग नहीं है। मैं अपने हाथ को वसूले से काटने वाले और हाथ पर चन्दन लगाने वाले—दोनों पुरुषों को समान समझता हूँ। मैंने सत्यार्थ पा लिया है। इसीसे मैं सुखी हूँ। मैं पत्थर, मट्टी तथा सोने को समान समझता हूँ। मैं सर्व-संग-विवर्जित हो राज्य करता हूँ। इस पर भी मैं त्रिदण्ड संन्यासी से श्रेष्ठ हूँ। अनेक बड़े बड़े मोक्ष-शास्त्रवेत्ताओं ने कर्म, उपासना और ज्ञानात्मक तीन प्रकार के मोक्ष साधन बतलाये हैं। किन्तु इन तीनों से बढ़ कर लोकोत्तर ज्ञान मोक्ष का साधन है। साथ ही सर्वकर्मत्याग भी मोक्ष का साधन है। अनेक मोक्षशास्त्र-वेत्ताओं ने ज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाया है और अनेक सूक्ष्मदर्शी संन्यासी कर्मनिष्ठा को मोक्ष का साधन मानते हैं। किन्तु महात्मा पञ्चशिख के मतानुसार तो इन दोनों से भिन्न, तीसरी ही निष्ठा मोक्षप्रधान है। यम नियम का पालन करने वाला, गृहस्थ भी संन्यासी ही है और जो संन्यासी हो कर भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, स्त्री, धनादि का संग्रह करता है तथा अभिमानी और दम्भी है, वह गृहस्थ ही है। यदि संन्यासी केवल त्रिदण्ड धारण से मोक्ष का अधिकारी होता है, तो छत्र आदि धारी राजा का मोक्ष क्यों न होगा। दण्ड आदि की तरह छत्रादि से भी ज्ञान में तो किसी प्रकार

की हानि नहीं होती। मनुष्य का जिस वस्तु से काम सरता है, उसी वस्तु का वह संग्रह करता है। यद्यपि मनुष्य गृहस्थाश्रम को दोषयुक्त समझ उसे त्याग देता है और दूसरे आश्रम में चला जाता है, तथापि जब तक वह संग-विवर्जित नहीं होता, तब तक उसका सब किया कराया व्यर्थ है। किसी प्रकार का आधिपत्य क्यों न हो, उसमें किसी को दण्ड देना पड़ता है और किसी पर अनुग्रह करना पड़ता है। अतः इसमें तो राजा और संन्यासी दोनों ही बराबर हैं; किन्तु आधिपत्य प्राप्त कर के भी जो परमात्मा के ध्यान में मग्न रहते हैं, वे केवल ज्ञान द्वारा ही समस्त पापों से छूट जाते हैं। गेरुआ वस्त्र पहनना, मूँड मुड़ाना, त्रिदण्ड, कमण्डलु धारण करना—ये सब वाह्य चिन्ह हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। संन्यास-सम्बन्धी इन सब चिन्हों के होते हुए भी, यदि मोक्ष में ज्ञान ही कारण है, तो इन चिन्हों के धारण करने से व्यर्थ न होगा? यदि त्रिदण्ड आदि चिन्ह धारण करने से दुःख कम होता हो, तो छत्र आदि राजचिन्ह धारण करने से भी वह अवश्य कम होना चाहिये। अकिञ्चनत्व मोक्ष का साधन नहीं है। इसी प्रकार धनादि का संग्रह मोक्ष का बंधन नहीं है। मनुष्य त्यागी हो अथवा संग्रही, मोक्ष प्राप्ति ज्ञान ही से होती है। धर्म, अर्थ और काम तथा राज्य और स्त्री—ये सब बन्धन में डालने वाले पदार्थ हैं और ये सब मेरे पास हैं। तो भी मुझे तू बन्धन से मुक्त ही समझ। मैंने मोक्षरूपी पत्थर पर त्यागरूपी तलवार को पैना कर, स्नेह के आश्रय-स्थान-रूपी बन्धनवाले अर्थात् राज्य और ऐश्वर्य-रूपी जाल को काट डाला है। इस दशा में होने के कारण मैं मुक्त हूँ। मेरे मन में तेरे ऊपर आस्था हो गयी है। किन्तु तेरे स्वरूपानुकूल तेरा यह वेषभूषा नहीं है। यह बात तो मुझे कहनी ही पड़ेगी। तेरा रूप सुकुमार है, तेरा शरीर सुन्दर है, तू अभी युवती है।

मैं मुक्त हूँ अथवा अमुक्त हूँ, तूने मेरे शरीर में घुस, संन्यासाश्रम के

नियमों के विरुद्ध आचरण किया है। इससे जान पड़ता है कि, यद्यपि तू योगिनी है, तथापि तेरी कामनाएँ अभी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं, उनमें कमी नहीं हुई। अतः तू त्रिदण्ड धारण नहीं कर सकती। मेरे शरीर का संग कर, तुझसे अपने आश्रमोचित चिन्ह की रक्षा न हो सकी। क्योंकि, जो ऊपर चढ़ कर नीचे गिरता है, उसकी रक्षा नहीं की जा सकती। तू वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणी है और मैं क्षत्रिय हूँ। हम दोनों का सम्बन्ध होना अनुचित है। अतः तुझे वर्णसङ्करता फैलाना उचित नहीं। तू मोक्ष-धर्म-परायणा है और मैं गृहस्थाश्रम में हूँ। अतः तेरे द्वारा आश्रम-सङ्करता रूपी महा दुःखदायी दोष उत्पन्न कर दिया गया है। तू मेरी सगोत्रा है अथवा अगोत्रा, यह बात जैसे मैं नहीं जानता; वैसे ही तू भी यह नहीं जानती कि, मैं तेरा सगोत्री हूँ अथवा अगोत्री। यदि तू मेरी सगोत्रा है, तो तूने मेरे शरीर में प्रवेश कर, गोत्रसङ्कर नामक तीसरा दोष उत्पन्न किया है। यदि तेरा पति जीवित है और वह विदेश में रहने से तुझसे बहुत दूर रहता है, तो भी तू परस्त्री होने के कारण मेरे लिये तू अगम्या है। अतः तूने वर्णसङ्करता का यह चौथा दोष फैलाना चाहा है। ये सब पाप तूने अनजाने किये हैं अथवा जानबूझ कर किसी प्रयोजन विशेष से प्रेरित हो कर किये हैं? तू स्वतंत्रा हो गयी है। यदि तूने शास्त्र पढ़े हैं, तो तू समझ सकती है कि, तूने जो कुछ किया है, वह सब अनर्थकारी है। तेरे इस कृत्य के कारण तेरे चित्त की प्रसन्नता का नाश रूप पाँचवा दोष तुझको लगा है। तूने अपनी उत्कृष्टता प्रदर्शित करने को मेरे शरीर में प्रवेश किया है। यह तूने दुष्टा स्त्रियों जैसा कार्य किया है। तेरे मन में मुनि-विजय करने की कामना है और इसी निश्चय के कारण तूने ऐसा किया है। किन्तु यह तो बतला क्या तू मेरे इन सब सभासदों को भी जीतना चाहती है। मेरी सभा को पराजित कर स्वयं विजयिनी होने के लिये, तू मेरी सभा के पूज्य पुरुषों की ओर तो निहार। अमर्षवंश तू अपनी योगसिद्धि से मोहित हो रही है। इसीसे तू बेर बेर

अपनी बुद्धि द्वारा दूसरे की बुद्धि में प्रवेश करती है। तेरा यह कार्य विष और अमृत के संमिश्रण के समान है। यदि स्त्री और पुरुष परस्पर समागम करना चाहें, तो वह संयोग अमृत तुल्य है; किन्तु जब एक की इच्छा और दूसरे की अनिच्छा होती है, तब उनका समागम विष के समान होता है। तुझे अपने सतीत्व की और आश्रम (संन्यास) धर्म की रक्षा करनी चाहिये। मैं मुक्त हूँ अथवा अमुक्त, तू यही जानना चाहती थी। सो तूने अब जान ही लिया है। तुझे मुझसे कोई भी बात छिपानी नहीं चाहिये थी। अब यह बतला कि, तूने यह काण्ड अपनी ही इच्छा से रचा है अथवा किसी मेरे शत्रु राजा की प्रेरणा से? संन्यास वेष में अपने को छिपाये हुए तुझे मुझसे इन बातों का दुराव करना उचित नहीं है। शास्त्र कहते हैं कि, राजा और स्त्री के निकट कपट वेष में न जाना चाहिये। इनके पास जो ऐसे वेष में जाता है, उसका ये दोनों नाश कर डालते हैं। जैसे राजा का बल ऐश्वर्य और ब्रह्मवेत्ताओं का बल ब्रह्म है, वैसे ही स्त्रियों का बल, उनका रूप, यौवन और सौभाग्य है। उनमें ये ही बल हैं। अतः अर्थकामी पुरुष को इनके पास सरलता से जाना उचित है। जो ऐसा नहीं करता और उद्दण्डता करता है वह मारा जाता है। बतला तू किस जाति की है? तेरा शास्त्राभ्यास क्या है? तू किस व्रत का पालन करती है? तेरे विचार कैसे हैं? तेरी प्रकृति कैसी है? तू यहाँ क्या करने आयी है? मेरे इन प्रश्नों के सच्चे उत्तर दे।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! मिथिलेश ने हड़बड़ी में ऐसे तिरस्कार-कारक अनुचित वचन कह, सुलभा का तिरस्कार किया; किन्तु सुलभा पर राजा के इन तिरस्कार-कारक वचनों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसने राजा से कहा—

सुलभा बोली—राजन्! जब किसी से कोई बात कही जाय, तब वह बात ऐसे वाक्यों से युक्त होनी चाहिये जो वाणी के नौ दोषों और बुद्धि के नौ दोषों से रहित, मूल-विषय-प्रतिपादिनी और अठारह गुणों

से युक्त हो। वाक्य वह है जो सौक्ष्म, साँख्य, क्रम, विनिर्णय और प्रयोजन नामक पाँच अर्थों से युक्त हो। पद, वाक्य, पदार्थ और वाक्यार्थ से प्रयुक्त सूक्ष्मादि प्रत्येक विषय के लक्षण मैं तुझे बतलाती हूँ। सुन! जब ज्ञातव्य विषय भिन्न होता है, तब ज्ञान भी भिन्न होता है। उस समय बुद्धि संशयग्रस्त हो जाती है। तब उसे सूक्ष्म कहते हैं। जब लक्ष्य विशेष से किसी विषय के पूर्व एवं उत्तर पक्षों के गुण दोषों की गणना की जाती है तब उसे साँख्य कहते हैं। वक्तव्य विषयों में कौन प्रथम कौन पीछे कहना—इस क्रमयोग को लोग वाक्य कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के विषय में भली भाँति सोच समझ कर, जो बात निर्णय पूर्वक कही जाती है वह निर्णय है। इच्छा द्वेष से उत्पन्न दुःखदायिनी बुद्धि जिसमें होती है, उस विषय में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप वृत्ति को प्रयोजन कहते हैं।

हे राजन्! मैं प्राञ्जल और प्रसिद्ध अर्थसम्पन्न, श्लाघ्य विशेषणों से युक्त तथा संक्षिप्तादि अष्ट गुणों से पूरित असन्दिग्ध उत्तम वचन कहूँगी। मेरे वाक्यों में बहुत अक्षर न होंगे। वे अश्लील, अशुभ और घृणोत्पादक नहीं होंगे।

वे असत्य, असंस्कृत अथवा त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) विरुद्ध भी न होंगे। वे न तो अमङ्गल के सूचक हैं और न छन्द व व्याकरण के दोषों से युक्त शब्दों वाले हैं। वे निष्प्रयोजन और युक्तहीन भी नहीं हैं। मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, दैन्य, दर्प, दया, लज्जा और अभिमान की वशवर्तिनी हो कोई भी बात न कहूँगी।

हे राजन्! वक्ता और श्रोता, वाक्य विवक्षा के समय जब अव्यग्र भाव से और समान होते हैं, तभी विवक्षित अर्थ प्रकट होता है। जब वक्ता श्रोता का अपमान कर, अपने मनमाने अर्थ को उत्तम समझ प्रकट करने लगता है, तब उस वक्ता के ऐसे कथन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। मनुष्य निज स्वार्थ को त्याग कर और परार्थ का अनुसरण कर, जो कुछ

कहता है, उसके उस कथन में यदि शङ्का उत्पन्न हो, तो उसका वह वाक्य सदोष माना जाता है। किन्तु श्रोता के और प्रस्तुत विषय के अनुकूल भाषण करने वाला व्यक्ति ही वक्ता माना जाता है; अन्य नहीं। अतः हे राजन्! तुझे उचित है कि, तू अपने मन को स्थिर कर, मेरे वचनों को सुन। तूने मुझसे पूछा—मैं कौन हूँ? कहाँ से आयी हूँ? इन प्रश्नों का उत्तर तू ध्यान दे कर सुन।

लाख, लकड़ी, धूल के कण और जलबिन्दु जैसे मूल ही से संयुक्त होते हैं, वैसे ही सब प्राणियों की उत्पत्ति है। यद्यपि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—भिन्न भिन्न हैं; तथापि लाख और लकड़ी की तरह ये आपस में एक हैं। सब लोग जानते हैं कि, कोई भी पुरुष इनसे यह नहीं पूछता कि, तू कौन है? क्योंकि इन इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय को अपना अथवा दूसरे का ज्ञान नहीं है। जैसे—नेत्र अपना रूप स्वयं नहीं देख सकते, कान भी अपना स्वरूप नहीं जानते। यदि समस्त इन्द्रियाँ परस्पर मिल जावें, तो भी; जैसे रज और जल परस्पर मिले हुए होने से एक दूसरे को नहीं जान सकते; वैसे ही नेत्र आदि इन्द्रियाँ भी एक दूसरे को नहीं जान सकतीं। अपनी पूर्ति के लिये इन इन्द्रियों को वाह्य पदार्थों की अपेक्षा रहा करती है। इस विषय को विस्तार से मैं कहती हूँ; सुन।

कोई भी वस्तु क्यों न हो, उसे देखने के लिये रूप, नेत्र और प्रकाश अपेक्षित हैं। जैसे देखने की क्रिया के लिये तीन पदार्थ अपेक्षित हैं, वैसे ही ज्ञान और ज्ञेय में भी तीन हेतु हैं। ज्ञान और ज्ञेय के बीच, मन नामक एक गुण और भी है। वह ग्यारहवाँ गुण है। बारहवाँ गुण है बुद्धि। जब किसी वस्तु के विषय में सन्देह होता है; तब बुद्धि द्वारा ही उस सन्देह की निवृत्ति होती है।

बुद्धि नामक बारहवें गुण में सत्व नामक तेरहवाँ गुण भी है। इस से प्राणियों के कम अथवा विशेष सत्ववान होने का पता चलता है।

उसमें अहङ्कार नामक तेरहवाँ गुण रहता है। कलावान् जगत् इसीके आधार पर स्थित है। इनमें समष्टि रूप से अविद्या नाम का सोलहवाँ गुण रहता है। अविद्या में प्रकृति और व्यक्ति नामक दो गुण रहते हैं सुख-दुःख, जरा-मरण, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय—ये द्वन्द्व योग उन्नीसवाँ गुण है। काल नामक बीसवाँ गुण है। यही काल जगत् की उत्पत्ति और संहार करता है। इस प्रकार यह बीस गुणों का एक समुदाय है। इनके अतिरिक्त पाँच महाभूत, भाव और अभाव मिला कर सात गुण और भी हैं। फिर विधि, शुक्र और बल नामक तीन गुण और हैं। जिसमें ये तीस गुण रहते हैं, उसे शास्त्र शरीर बतलाते हैं। कितने ही पुरुष तीस कला की उत्पत्ति, प्रकृति एवं पुरुष से मानते हैं। कितने ही परमाणुवादी नास्तिक परमाणु को कला की उत्पत्ति-रूप मानते हैं। अन्य स्थूल-दर्शी अव्यक्त को कला की उत्पत्ति रूप मानते हैं। भले ही व्यक्त कारण हो अथवा अव्यक्त कारण हो—अथवा व्यक्ताव्यक्त दोनों ही कारण हों अथवा पुरुष, माया, जीव तथा अविद्या ही कारण हो; तो भी अध्यात्म-वादी प्रकृति को समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण मानते हैं।

अव्यक्त प्रकृति कला द्वारा व्यक्त हो रही है।

हे राजन्! मैं, तू तथा अन्य शरीरधारी भी इसी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। जब पुरुष का बीज, स्त्री के रुधिर-विन्दु से गर्भ में सिञ्चन होता है, तब वहाँ कलल उत्पन्न होता है। कलल में बुद्बुद् उत्पन्न होता है। बुद्बुद् से पेशी, पेशी से अङ्ग, अङ्गों से नख और रोम उत्पन्न होते हैं। हे मिथिलेश! गर्भ में नौ मास रहने के अनन्तर शरीरधारी उत्पन्न होता है और वह चिन्हों द्वारा पुरुष या स्त्री जान पड़ता है। तदनन्तर उसका नाम रखा जाता है। हाल के उत्पन्न हुए बालक के नख और उँगलियाँ ताम्रवर्ण की होती हैं। जब वह कुमारावस्था में जाता है, तब उसका पहले जैसा रूप रङ्ग नहीं रहता। कुमारावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था में जाने पर, उसकी पूर्वावस्था नहीं रह जाती। पूर्वोक्त कलाएँ

विविध प्रकार की हैं। वे क्षण क्षण में परिवर्तित हुआ करती हैं। किन्तु उनका परिवर्तन सूक्ष्म होने के कारण, दृष्टिगोचर नहीं होता।

हे राजन्! धधकता हुआ अग्नि जैसे उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है, किन्तु सूक्ष्मता के कारण वह समझ नहीं पड़ता, वैसे ही मानवी प्रत्येक दशा में उसके पूर्वरूप का नाश और अगले रूप की उत्पत्ति हुआ करती है, किन्तु वह सूक्ष्म होने के कारण देख नहीं पड़ती। जैसे घोड़ा तेज़ी के साथ दौड़ता है, वैसे ही प्रत्येक क्षण बड़ी शीघ्रता से परिवर्तन हुआ करता है। अतः यह नहीं जान पड़ता कि, कौन किससे उत्पन्न हुआ है और कौन किससे उत्पन्न नहीं हुआ। यह कौन है और कौन नहीं है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई है और कहाँ से नहीं हुई? प्राणी का उसके शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है? जैसे चकमक पत्थर के लोहे से टकराने पर आग निकलने लगती है, जैसे दो लकड़ियों को रगड़ने से आग निकलती है; वैसे ही पूर्वोक्त समस्त कलाएँ एकत्रित हो, प्राणियों को उत्पन्न करती हैं। तू जिस तरह अपने शरीर में शरीर को और आत्मा में आत्मा को देखता है, वैसे ही क्या तुझे दूसरे के शरीर में शरीर और आत्मा में आत्मा नहीं देख पड़ता? यदि तुझे अपने और दूसरे के आत्मा की समानता का बोध होता, तो तू मुझसे यह न पूछता कि तू कौन है? क्यों आयी है?

हे राजन्! यदि तू सचमुच मेरे तेरे के प्रश्नों से मुक्त हो गया होता, तो तू मुझसे ये प्रश्न न करता। जो राजा शत्रु, मित्र, तटस्थ, विजय, सन्धि और विग्रह के विचार में व्यग्र रहता हो, क्या वह भी अपने को मुमुक्षु कहने का दावा कर सकता है? त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम के सात विभाग हैं। इनका वास्तविक स्वरूप जो नहीं जानता और जो इनमें आसक्त रहता है, क्या वह मुमुक्षु हो सकता है? जो व्यक्ति प्रिय-अप्रिय, सबल-निर्बल को एक दृष्टि से नहीं देख सकता; क्या वह मुमुक्षु हो सकता है? जैसे कुपथ्य-सेवी रोगी को उसके सम्बन्धी

कुपथ्य करने से रोकते हैं, वैसे ही यम नियम का पालन करने में लगे हुए तुझको, तेरे सम्बन्धियों को मोक्ष के अहङ्कार से रोकना चाहिये था। जो स्त्री आदि आसक्ति के स्थलों में आत्म-बुद्धि रखता है, वही मुक्त कहलाता है। नहीं तो इसको छोड़ मुक्ति का और लक्षण हो ही क्या सकता है? तू मोक्ष-कामी होने पर भी आसक्ति के *चारों सूक्ष्म स्थानों का आश्रय ग्रहण किये हुए है। अब मैं इन स्थानों का विस्तार पूर्वक वर्णन करता हूँ; सुन। जो राजा इकछत्र राज्य करता है, वह राजा स्वयं ही अकेला नगर में वास करता है। वह जिस राज-भवन में रहता है वह भी एक ही होता है। उस राजभवन में उसके शयन करने की शय्या एक ही होती है। उस पर रात के समय वह शयन करता है। उसकी सेज के आधे भाग में उसकी रानी शयन करती है। इस प्रकार राजा अपने हिस्से का थोड़ा ही फल उपभोग करता है। इसी प्रकार राजा वस्त्रादि जिन वस्तुओं का उपभोग करता है उनके विषय में भी राजा परिमित परिमाण में समस्त पदार्थों का उपभोग करता है। राजा किसी पर अनुग्रह करने अथवा किसी को दण्ड देने के लिये भी परवश है। राजा जिसे अपना कहता है, उसमें उसका अपनापन अत्यन्त स्वल्प है। उस अत्यन्त निजत्व ही में वह आसक्त हो कर रहता है। सन्धि-विग्रह करने में भी राजा स्वाधीन नहीं हो सकता। वह दूसरों पर आज्ञा चलाने में भी स्वतन्त्र नहीं है। क्योंकि उस समय वह अवश हो दूसरों से अपना काम करवाता है। राजा सोना चाहता है, पर कामकाजी उसे सोने नहीं देते। सोने के लिये उसे दूसरों से अनुमति लेनी पड़ती है। जब वह सो जाता है और तब यदि कोई आवश्यक राजकाज हुआ, तो लोग उसे जगा देते हैं और उसे उठना पड़ता है। राजा से जब अन्य लोग कहते हैं कि "स्नान करो", "अमुक वस्तु लो", "इसको पीलो",

*शयन, भोजन, उपभोग और आच्छादन—ये आसक्ति के चार आश्रय हैं।

"इसको खालो", "इसका हवन करो", "यज्ञ करो", "यह बात कहो", "यह बात सुनो"—तब उसे पराधीन बन, दूसरों की इच्छा के अनुसार ही काम करना पड़ता है।

लोग राजा के पास आ बारबार धन माँगते हैं; किन्तु धन-रक्षक होने के कारण राजा महापुरुषों को भी धन नहीं दे सकता। क्योंकि यदि वह धन देने लगे तो राजकोष खाली हो जाय। यदि वह दान नहीं देता, तो हताश याचकगण उसके बैरी बन जाते हैं। अतः राजा को बड़ी उलझन में पड़ जाना पड़ता है। क्षण भर में वह घबड़ा जाता है, क्षण भर में उसके मन में वैराग्य का उदय हो जाता है। जो बुद्धिमान्, शूर और धनाढ्य पुरुष उसके निकट रहते हैं, उन पर भी उसे सन्देह करना पड़ता है। अपने सेवकों से भी उसे भयभीत रहना पड़ता है। जब साधारण जन भी दोषों से दूषित होते देखे जाते हैं, तब राजा का तो पूछना ही क्या है? प्रत्येक पुरुष अपने घर का राजा है। प्रत्येक पुरुष गृही है और सब लोग राजाओं की तरह अपने अपने घरों में लोगों पर अनुग्रह कर सकते और निग्रह कर सकते हैं। राजाओं की तरह अन्य जन भी पुत्र, स्त्री, दास, धनागार, मित्र आदि से सम्पन्न होते हैं। अतः राजा होने में कोई विशेषता नहीं होती। जब राजा सुनता है कि, उसका एक देश उसके हाथ से निकल गया, अमुक नगर नष्ट हो गया, अमुक हाथी मर गया, तब उसे भी अज्ञानवश—मामूली लोगों की तरह सन्ताप होता है। उस समय उसे इन वस्तुओं के मिथ्या होने का ध्यान नहीं रहता। जो राजा इच्छा और द्वेष-जन्य मानसिक दुःखों से मुक्त नहीं होता—वह अनेक शिरोरोगों और शीतोष्ण के दुःखों से सदा दुःखी रहा करता है। अन्य जनों की तरह राजा भी सुख-दुःख भोगता है। उसे चारों ओर सन्देह भरी दृष्टि से देखना पड़ता है, उसे राज्य में अपने शत्रु और विघ्न दिखलायी पड़ते हैं। अतः मारे चिन्ता के राजा को सारी रात आकाश के तारे गिनते गिनते ही बितानी पड़ती है। अतः राज्य-पद अत्यन्त सुख-प्रद है।

प्रत्युत उसमें दुःख की मात्रा अधिक है। वह तृणाग्नि की तरह क्षण-स्थायी है और जलफेन या जलबुद्बुद् की तरह सारहीन है। ऐसे राज्य की कामना भला कौन बुद्धिमान् जन करेगा ? यदि ऐसा राज्य मिल भी जाय तो भला शान्ति क्योंकर मिल सकती है। तू समझता है कि वह पुरी मेरी है, यह राज्य मेरा है, यह सेना मेरी है, यह भाण्डार मेरा है और ये मन्त्री मेरे हैं; किन्तु वास्तव में ये हैं किसके ? मित्र, मन्त्री, नगर, देश, दण्ड, भाण्डार और राजा—राज्य के ये सात अङ्ग माने गये हैं। जैसे तीन लकड़ियाँ एक दूसरे के सहारे खड़ी रहती हैं, वैसे ही राज्य का प्रत्येक अङ्ग काम करता है। अतः उनमें छोटा बड़ा कोई भी अङ्ग नहीं है। अपने अपने समय पर सभी अङ्ग श्रेष्ठ माने जाते हैं और जिस अङ्ग से जो कार्य बनता है, उस कार्य के लिये वही अङ्ग प्रधान माना जाता है। ये सात और अन्य शास्त्र-कथित वृद्धि, क्षय और स्थान नामक तीन और अङ्ग सब मिला कर दस अङ्गों का समुदाय राजा की तरह राज्य का उपभोग करता है। जो राजा उत्साही होता है, क्षात्र-धर्म-परायण होता है, उसे प्रजा की आय से दशांश ले कर सन्तुष्ट रहना चाहिये। बहुत से राजा तो दशांश से भी कम कर ले सन्तुष्ट रहते हैं। यद्यपि राजा असाधारण पदार्थ नहीं हैं तथापि बिना राजा के राज्य भी नहीं चल सकता। जब राज्य नहीं तो धर्म कहाँ ? धर्माचरण न रहने पर परब्रह्म की प्राप्ति कैसी ? अतः इस संसार में राजा ही के आधार पर, परम पवित्र धर्म और राज्य अवलम्बित है। उस अश्वमेध यज्ञ का फल भी, जिसमें सारी पृथिवी दक्षिणा में दी जाती है, धर्मानुसार राज्य करने के फल के समान नहीं है।

हे मिथिलेश ! मैं राजा और राज्य के अन्य सैकड़ों दोष दिखला सकती हूँ। जब मेरा मेरे इस शरीर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; तब दूसरे के शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध हो ही क्या सकता है ? मैं तो योगाभ्यास-परायणा हूँ। अतः तेरा यह पूछना कि तूने मेरे शरीर में प्रवेश क्यों किया; उचित नहीं है। क्या तूने पञ्चशिखाचार्य से मोक्षधर्म को

यथार्थ रीत्या सुना है ? क्या तूने योग के निदिध्यासन, श्रवण, मनन, ध्यान, ब्रह्म के साथ एकत्व आदि विषयों को पढ़ा है ? मेरा तुझसे प्रश्न है कि, तू छत्रादि राजचिन्हों को क्यों धारण करता है ? मैं तो समझती हूँ कि, तूने शास्त्राध्ययन बिल्कुल नहीं किया । यदि तूने शास्त्र पढ़े हैं, तो तेरा वह शास्त्राध्ययन दम्भपूर्ण है । अथवा तूने शास्त्र नहीं प्रत्युत शास्त्रों जैसा कोई अन्य ग्रन्थ पढ़ा है । मैं तो समझती हूँ कि, तूने लौकिक सम्पत्तियाँ अपने अधीन कर ली हैं । सामान्य पुरुष की तरह तेरी उनमें आसक्ति है । तू उनमें बँधा हुआ है । यह मैं मानती हूँ कि, तू विदेह युक्त है । अतः यदि मैं तेरे मन में घुस गयी तो इसमें मैंने क्या बुरा किया ? यह नियम है कि, यावत् वर्णों में संन्यासी शून्य स्थान में रहे । अतः मैंने तेरे बुद्धिसत्व को बोधशून्य देख और उसमें प्रवेश कर क्या अपराध किया है ? हे राजन् ! मैंने अपने दोनों हाथों से, दोनों भुजाओं से, दोनों पैरों से, दोनों जंघाओं से अथवा शरीर के किसी अन्य अवयव से, तेरा स्पर्श नहीं किया । तू बड़े कुलीन कुल में जन्मा है, लज्जाशील है और दीर्घदर्शी है। तेरे शरीर में मेरा घुसना भला हो अथवा बुरा; किन्तु वह कर्म गुप्त था, इसे मैं और तू ही जानते थे । अतः इसे सब के सामने प्रकट कर, क्या तूने अच्छा काम किया है ? ये समस्त ब्राह्मण हमारे गुरु और मान्य हैं । इसी प्रकार तू राजा रूप से इनका परमगुरु है । इनका तू सम्मान करता है । इनका सम्मान करना तुझको गौरवप्रद भी है । तुझे सभा में बैठ क्या करना चाहिये, क्या नहीं—यदि यह विचार करता तो तू विरुद्धधर्मी स्त्री पुरुष की चर्चा ही न चलाता ।

जैसे कमल के पत्र पर पड़ा जल कमलपत्र को स्पर्श नहीं करता, वैसे ही मैं भी तेरा स्पर्श नहीं करती । तिस पर भी तू मेरे स्पर्श का अनुभव करता है, तब तेरे गुरु पञ्चशिखाचार्य ने तेरे ज्ञान को वासना-रहित कैसे किया है ? इससे तो जान पड़ता है कि, तू गृहस्थाश्रम से भी भ्रष्ट हो गया है और दुःख से प्राप्त होने वाला मोक्ष तुझे नहीं मिल

सकता। किन्तु तू डींगे तो मोक्ष ही की हाँकता है, वास्तव में तू गृहस्था-श्रम और मोक्ष के बीच लटक रहा है। जीव का मोक्ष के साथ जब समागम होता है, तब वर्णसङ्करता नहीं होती है। वर्णाश्रमाभिमानी जीवात्मा को वर्णाश्रमी जीवात्मा पृथक देख पड़ता है, किन्तु जो यह जानता है कि, अन्य कुछ है ही नहीं; उसकी दृष्टि में तो आत्मा को छोड़ और कुछ है नहीं। यद्यपि हाथ में कूँड़ा, कूँड़े में दूध और दूध में मक्खी होती है और जैसे ये आश्रित-आश्रम के योग से अवलम्बित हैं; तथापि ये सब एक दूसरे से भिन्न हैं, न तो कूंड़े में दूध का भाव है और न दूध मक्खी है। वे सब अपने अपने स्वरूप में हैं और क्षणिक परिश्रमी होने से जैसे वे अपने भाव यानी स्वरूप को त्यागते नहीं हैं, वैसे ही मुक्त जीवात्मा के लिये वर्ण और आश्रम होते हुए भी मुक्तजीव उनसे असङ्ग हैं। तब मेरा तेरा संग होने से वर्णसङ्करता कैसे हो सकती है? हे राजन्! न तो मैं तुझसे उत्तम जाति की हूँ, न वैश्य अथवा शूद्र ही जाति की हूँ। मैं तो तेरी ही जाति की और शुद्ध वंशोद्भवा हूँ। कदाचित् तूने प्रधान नामक राजर्षि का नाम सुना हो। मैं उसीके कुल में उत्पन्न हुई हूँ। मेरा नाम सुलभा है। मेरे पूर्वजों के यज्ञ में इन्द्र सहित द्रोण, शतशृङ्ग, शक्रद्वार और पर्वत नामक महर्षि सम्मिलित होते थे। मेरे योग्य जब मुझे कोई वर नहीं मिला, तब मैं गुरुमुख से मोक्षधर्म का उपदेश ले, अकेली रहती हूँ और मुनि जैसे व्रत करते हैं, वैसे ही मैं भी करती हूँ। मैंने झूँठ मूँठ संन्यासिनी का वेष धारण नहीं किया। मैं निष्कपट हूँ और परस्वापहारिणी नहीं हूँ। मैं धर्मसङ्करता फैलाने वाली नहीं हूँ। मैं तो धर्मचारिणी हूँ। मैं कभी अपनी प्रतिज्ञा से च्युत नहीं हुई। बिना विचारे मैं कोई बात अपने मुँह से नहीं निकालती। मैं बिना समझे बूझे तेरे पास नहीं आयी। मैंने जब सुना कि, तू मुमुक्षु है, तब तेरे कल्याण की कामना से और तेरे मोक्षज्ञान को जानने के लिये यहाँ आयी हूँ। मुझे न तो अपने पक्ष का मण्डन और न तेरे पक्ष—

का खण्डन करना ही अभिप्रेत है। मुक्त जीव, पहलवानों की तरह जीतने के लिये विवाद रूपी कसरत नहीं करते; किन्तु वे तो शान्ति धारण कर परब्रह्म के ध्यान में मग्न रहते हैं। जो ऐसा करते हैं वे ही जीवनमुक्त हैं। जैसे संन्यासी को नगर में किसी शून्य गृह में एक रात रहना चाहिये, वैसे ही मैं भी आज तेरे शरीर में आज की रात निवास करूँगी। हे मिथिलेश! तूने मेरा सम्मान कर वचन द्वारा मेरा आतिथ्य किया है। अतः मैं तेरे शरीर रूपी सुन्दर भवन में प्रसन्न हो शयन करूँगी और कल प्रातः काल यहाँ से चली जाऊँगी।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! जब राजा ने सुलभा के इन युक्ति-युक्त वचनों को सुना, तब वह चुपचाप हो गया। उसने सुलभा से कुछ भी न कहा।

तीनसौ इक्कीस का अध्याय

मृत्यु-भय

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भीष्म जी! पूर्वकाल में व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी को वैराग्य कैसे हुआ था? मुझे इस बात का बड़ा आश्चर्य है। अतः आप मुझे यह सुनावें। हे पितामह! अव्यक्त, व्यक्त और तत्व का निर्णय तथा अजन्मा नारायण की लीला का आपने अपने बुद्धि के अनुसार जो निर्णय किया हो, वह भी आप मुझे बतलावें।

[नोट—अव्यक्त से अभिप्राय प्रकृति या कारण से है, व्यक्त से अभिप्राय कार्य से और तत्व से अभिप्राय शुद्ध ब्रह्म से है।]

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! शुकदेव जी प्रकृत-धर्माचरणी थे। वे निर्भय थे। यह देख कर, उनके पिता वेदव्यास जी ने उन्हें समस्त वेदों का अध्ययन करा दिया था:—

व्यास जी ने कहा था—हे वत्स ! तू जितेन्द्रिय हो सदा धर्म का सेवन कर। नित्य महातीक्ष्ण गरमी सरदी और भूख प्यास को सहन कर, प्राणवायु को जीत कर जितेन्द्रिय बन, सत्य, सरलता, अक्रोध, अनसूया, दम, तप, अहिंसा तथा दयालुता का विधि पूर्वक सदा पालन कर। सत्य सेवन कर, धर्म में विहार कर, समस्त छल प्रपञ्चों को त्याग दे। पञ्चमहायज्ञ किया कर, अतिथियों को भोजन कराने के पीछे जो शेष बचे, उसे खाया कर। यह शरीर जलबुद्बुद के समान है। जैसे पत्ती वृक्ष पर रहने पर भी उससे अलिप्त रहता है, वैसे ही जीव भी शरीर में रह कर भी उससे अलिप्त रहता है। यद्यपि स्नेहियों के साथ वास अनित्य है, तथापि हे वत्स ! तू क्यों सो रहा है ? तेरे कामादि शत्रु तो सतर्क हैं और जाग रहे हैं और तेरे छिद्रों को देखने में सदा तत्पर रहते हैं। इस पर भी क्या तू बालक की तरह इन बातों को नहीं जानता ? तेरे दिन व्यतीत होते चले जाते हैं, तेरी आयु क्षीण होती चली जाती है। तेरे जीवन के जो दिन व्यतीत होते चले जाते हैं. उनका लेखा लिखा जा रहा है, फिर उठ कर सावधान हो क्यों नहीं भागता। पुनर्जन्म न मानने वाले घोर नास्तिक पारलौकिक कर्म न कर, प्रगाढ़ निद्रा में पड़े सोया करते हैं। मूढ़जन धर्म से द्वेष करते हैं, अधर्म-परायण रहते हैं और उनके अनुगामी-जन उनका अनुसरण करते हैं। किन्तु सन्तोषी, वेद पर आस्थावान् एवं महामना पुरुष बड़ा धार्मिक बल रखते हैं और धर्म-मार्ग का सेवन करते हैं। तू उन्हींकी उपासना कर और उनसे ज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न कर, धर्म के स्वरूप को जानने वाले, उन विद्वानों के मत को ग्रहण कर और उन्मार्ग-गामी अपने चित्त को समझा बुझा कर अपने वश में कर। प्रत्यक्ष (वर्त्तमान) दर्शी और परोक्ष (भविष्यत) को बहुत दूर मानने वाले और सर्व-भक्षी पुरुष मूर्ख हैं। क्योंकि उन्हें यह नहीं मालूम कि, यह मर्त्यलोक केवल कर्म-भूमि है। कर्म रूपी सीढ़ी के निकट पहुँच, तू धीरे धीरे ऊपर चढ़। तूने अपने शरीर को रेशम के

कीड़े की तरह माया रूपी अपने तार से लपेट रखा है और यह तुझे विदित भी नहीं है। जो नास्तिक शास्त्र की मर्यादा को तोड़ने वाले हैं, उन्हें तू वैसे ही त्याग दे, जैसे जल की बाढ़ नदी-तट पर उगे हुए बाँसों को उखाड़ कर फेंक देती है। तू योग रूपी नौका पर सवार हो, काम क्रोध, मृत्यु और पञ्चेन्द्रिय रूपी जल से पूर्ण नदी को तथा जन्म रूपी दुर्ग के पार हो जा। जरा सारे जगत् को घेरे हुए है और मृत्यु नाश कर रही है, काल-रात्रि रूपी नदी बड़े वेग से प्राणियों की आयु को हर रही है। इस नदी को तू धर्म रूपी नौका से पार कर। मनुष्य बैठा हो अथवा सोता हो, मौत उसके पीछे लगी ही रहती है और अकस्मात् उस पर आक्रमण कर, उसका नाश कर डालती है। फिर तू मौज में क्यों बैठा है? भेड़ का बच्चा तृण खा रहा हो और उसका पेट भरा भी न हो, तो भी वृकी (भेड़िये की मादा) उसे उठा ले जाती है। इसी प्रकार, पुरुष धन सञ्चय करते करते भले ही तृप्त न हुआ हो, किन्तु मृत्यु उसे पकड़ कर ले जाती है। यदि तुझे संसार रूपी अन्धकार में घुसने की अभिलाषा है तो तू धर्म-सञ्चय रूपी महा प्रदीप को ले कर, उसकी ज्योति ऊँची कर। मर्त्यलोक में अनेक शरीर धारण करने के बाद यह ब्राह्मण का चोला मिलता है। तूने वही ब्राह्मण शरीर पाया है। अतः तुझे उचित है कि, तू उसकी भली भाँति रक्षा कर। यह ब्राह्मण का शरीर कामार्थ सेवन के लिये नहीं मिला; किन्तु इस लोक में तप रूपी कष्टों को भोग कर, मरणानन्तर अनन्त सुख-प्राप्ति के लिये मिला है। ब्राह्मणत्व की प्राप्ति दीर्घकाल तक उग्र तप करने से होती है। अतः साँसारिक कामनाओं में फँस ब्राह्मणत्व गँवा देना, तुझे उचित नहीं है। ब्राह्मण को तो सदा सावधान रह कर, स्वाध्याय, तप और इन्द्रिय-निग्रह में तत्पर रहना चाहिये। यदि उसे क्षेम प्राप्ति की इच्छा है, तो उसे कुशल कर्मों में तत्पर रहना चाहिये। आयु रूपी एक अश्व है। इस घोड़े का स्वभाव ऐसा है कि, जाना नहीं जा सकता। उसका शरीर सोलह कलाओं

से बँधा है। उसकी आत्मा सूक्ष्म है। क्षण, लव, निमेष आदि उसके शरीर के रोम हैं। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष उसके दोनों नेत्र हैं। मास उसके अङ्ग रूप हैं। मनुष्य आयु रूपी यह घोड़ा बड़े वेग से अदृश्य-मार्ग में बड़े वेग से दौड़ा चला जाता है। अतः यदि तेरे आँखें हैं, तो तू परमात्मा के स्वरूप को जान, तेरी धर्म पर आस्था हो। इस संसार में जो पुरुष धर्म को त्याग देता है और अपनी इच्छानुसार बर्त्ताव करता है, दूसरों से द्वेष करता है, कुमार्ग-गामी होता है, उसे यमलोक में जा शरीर धारण करना पड़ता है और अपने पापों का फल दुःख के रूप में भोगना पड़ता है।

जो राजा उत्तम एवं निकृष्ट वर्णों की प्रजा की यथायोग्य रक्षा करता है और यथायोग्य आचरण करता है, उसे वे लोग प्राप्त होते हैं, जो पुण्यात्माओं को हुआ करते हैं। अनेक सत्कर्म करने वाले उस राजा को, जो निर्दोष सुख प्राप्त होता है, वैसा सुख अन्य कर्मों से उसे सहस्रों जन्मों में भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो पुरुष अपने माता पिता आदि गुरु-जनों की आज्ञा की अवहेलना करता है, उसे मरणानन्तर नरक में पड़ना पड़ता है। वहाँ उस पर बड़े बड़े भयङ्कर कुत्ते, अयोमुख काक, जङ्गली काक, गिद्धादि अन्य पक्षी एवं रक्त चूसने वाले कीट, आक्रमण करते हैं। जो पुरुष ब्रह्मा जी की स्थापित की हुई दस* मर्यादाओं को भङ्ग करता तथा मनमाने काम किया करता है, उसे मरने के बाद पितृलोकस्थित असि-पत्र-वन में रह कर घोर कष्ट सहने पड़ते हैं।

जो मनुष्य लोभी होता है, जिसकी असत्य भाषण पर प्रीति होती है, तथा जिसकी नित्य नीच कर्म करने और लोगों को ठगने की सदा नियत रहती है, उस पापी को बड़े नरक में पड़ना पड़ता है और वह बड़ा

---

*दस मर्यादाएँ ये हैं—१ शौच, २ सन्तोष, ३ तप, ४ स्वाध्याय, ५ ईश्वर-प्रणिधान, ६ अहिंसा, ७ सत्य, ८ अस्तेय, ९ ब्रह्मचर्य और १० अपरिग्रह।

दुःख भोगता है। ऐसे महापापी को वैतरणी नहाने ही में निमग्न होना पड़ता है। उस महानदी का जल बड़ा गर्म है। उसे असि-पत्र नामक वन में रहना पड़ता है और वहाँ असि-पत्रों से उसका शरीर विदीर्ण हुआ करता है। उसे परशु वन में सोना पड़ता है। इस प्रकार उसे नरक में रात दिन बड़ी बड़ी यंत्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। तूने केवल ब्रह्मा और अन्य देवताओं. के स्थान ही देखे हैं। इसीसे तू अपने को महाभाग्य-शाली समझता है; किन्तु वास्तव में तू अन्धा है। इसीसे सर्वश्रेष्ठ मोक्ष-स्थान तुझको नहीं सूझता। बड़े दुःख की बात है कि, तू जन्मान्ध है। अतएव आगे आने वाली मृत्यु की दासी रूपी वृद्धावस्था तुझे नहीं देख पड़ती। तू बैठा क्यों है? मोक्षमार्ग की ओर दौड़ कर जाता क्यों नहीं? क्या तू नहीं देखता कि, तेरे सुख को नष्ट करने वाला महाभय आ रहा है। उठ! और मुक्ति-प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर, मरणानन्तर यम की आज्ञा से तू उनके पास पहुँचेगा। अतः तू मोक्ष सुख-प्राप्ति के लिये कृच्छ्र आदि व्रतोपवास रूपी तप कर, पुण्य-सञ्चित करने का यत्न कर, यमराज सर्वसामर्थ्यवान् हैं। अतः उन्हें पर-दुःख का अनुभव नहीं है, वे सब मनुष्यों के जीवन का नाश करते हैं। उनके इस काम में कोई बाधा नहीं डाल सकता। तेरे सामने जब यमराज की हवा चलेगी; तब वह क्षण भर में तुझे उड़ा कर यम के पास पहुँचा देगी। अतः तू परलोक-हितैषी धर्म का आचरण कर। प्राणहारी जो पवन तेरे सम्मुख पूर्वजन्म में चला था, वह कहाँ गया? जब तेरे ऊपर महाविपत्ति पड़ेगी, तब तुझे समस्त दिशाएँ चक्कर खाती देख पड़ेंगी।

हे वत्स! जब तू विकल हो कर चलेगा; तब तेरे कान बहरे हो जावेंगे। अतः तू उत्तम योग-समाधि का अभ्यास कर। प्रमादवश यदि तुझसे कोई अशुभ कर्म बन गये हों, तो उनके लिये पछताने का समय आने के पूर्व ही तू योग समाधि का भण्डार भर ले। जब बुढ़ापा आवेगा; तब तेरा यह रूप रंग न रहेगा। वह तेरा शरीर निर्बल बना देगा। अतः बुढ़ापा

आने के पूर्व ही तू योगभाण्डार को भर ले। काल अपने रोग रूपी सारथी के साथ आ, बरजोरी तेरे शरीर से प्राणों को निकाल, तेरे शरीर को नष्ट कर डालेगा। अतः मरने के पूर्व ही तू कठोर तप कर, कामादि भयङ्कर व्याघ्र तेरे शरीर में निवास करते हैं। वे चारों ओर से तुझे घेर लेंगे। अतः तू पुण्यबल सञ्चित कर, मरने के पूर्व तो तुझे वनान्धकार देख पड़ेगा, फिर पर्वत के शृङ्ग पर *सुवर्ण पुष्प देख पड़ेंगे। अतः ये सब देखने के पूर्व ही तू धर्माचरण में उतावली कर। इस संसार में दुष्टों की संगति और अपने नित्‌ नातेदार बनने वाली तेरी शत्रु-रूपिणी इन्द्रियाँ, तेरी बुद्धि भ्रष्ट कर डालेंगीं। अतः ऐसा होने के पूर्व ही तू परब्रह्म को जानने का यत्न कर। जिस धन को न तो चोरों का और न राजा ही का भय है, जो धन मरने पर भी प्राणी के साथ जाता है, उस (धर्म) धन का तू सञ्चय कर। प्रयत्नपूर्वक तू ऐसा धन संग्रह कर, जिसे परलोक में भी तुझसे कोई बटा न सके। मनुष्य का पुण्यरूपी एकमात्र धन ही ऐसा है, जिसे हिस्सेदार भी नहीं बँटा सकते।

हे पुत्र! तू ऐसी वस्तु का दान कर, जिससे परलोक में आजीविका चले। जो धन अक्षय्य और ध्रुव है उसे तू एकत्र कर। धनी का हलवा बनता ही रहता है कि काल उसे पकड़ कर ले जाता है। मनुष्य मरने पर अकेला ही परलोक में जाता है। उस समय उसके साथ उसकी माता, पुत्र, बान्धव अथवा अन्य प्रिय जन—कोई भी तो नहीं जाता।

हे पुत्र! जब जीव परलोक में पहुँचता है, तब उसके साथ उसके पाप पुण्य ही रहते हैं। शुभाशुभ कर्मों द्वारा एकत्र किया हुआ सुवर्ण और रत्नों का बड़ा ढेर, शरीर छूटने पर उस मनुष्य के साथ नहीं जाता न उससे उसका कुछ काम ही निकलता है। परलोक में पहुँचने पर मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों का साक्षी आत्मा बन जाता है। जब कर्त्ता रूपी चैतन्य जीवात्मा साक्षी रूपी चैतन्यमें लीन हो जाता है, तब

*यह मरण-सूचक चिन्ह हैं।

उसका शरीर मर जाता है। इसे योगी जन बुद्धि रूपी आँखों से हृदयाकाश में घुस कर, देखते हैं। इस लोक में रहने वाले अग्नि, सूर्य और पवन—हम लोगों के शरीर का आश्रय ले निवास करते हैं। ये ही प्रत्येक मनुष्य के पुण्य पाप के द्रष्टा और जीवात्मा के साक्षी हैं। दिन में यह शक्ति है कि, वह प्रकाश द्वारा समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप दिखला दे और रात में यह शक्ति है कि, वह पदार्थों को छिपा देती है। ये रात और दिन सदा प्राणियों की आयु क्षीण करते रहते हैं। अतः तू सदा अपने वर्णोचित एवं आश्रमोचित धर्मों का पालन कर। परलोक में यमालय अनेक शत्रुओं और भयङ्कर कुरूप मक्खियों से परिपूर्ण है। अतः तुझे अपने कर्म में संलग्न रहना चाहिये। क्योंकि परलोक के मार्ग में अपने ही कर्म काम देते हैं। परलोक में दूसरे के कर्मों से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। अपने किये भले बुरे कर्मों ही से वहाँ काम चलता है। जैसे कर्म का फल महर्षियों और अप्सराओं को मिलता है, वैसे ही पुण्यात्मा जन भी विमानों में बैठ इच्छानुसार विहार करते हुए पुण्यफल भोगते हैं। निर्दोष तथा शुद्ध वंशोत्पन्न एवं आत्मदर्शी पुरुष, इस लोक और परलोक में निज कृत कर्मों ही का फल पाते हैं। जो गृहस्थाश्रमी गृहस्थ आश्रमोचित कर्त्तव्यों का पालन करते हैं; वे प्रजापति, बृहस्पति अथवा इन्द्र के श्रेष्ठ लोकों में जाते हैं।

हे वत्स! मैं तुझे इस प्रकार के सैकड़ों सहस्रों उपदेश दे सकता हूँ; उपदेश धर्म का मार्ग तो बतला सकता है, किन्तु उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि, वह बरजोरी किसी को धर्ममार्ग की ओर खींच कर ले जाय। तेरे आयु के चौबीस वर्ष निकल गये। अब तू पच्चीसवें वर्ष में है। इस प्रकार धीरे धीरे तेरा आयु बीता चला जाता है। अतः तू अब धर्म संग्रह कर। प्रमादी और असावधान पुरुष के घर में रहने वाला काल, अति शीघ्रता से तेरी इन्द्रियों की भोगशक्ति का नाश करे ही करे, इसके पूर्व ही तू निज शक्ति के सहारे खड़ा हो जा और धर्मरक्षार्थ

शीघ्रता कर। जब तू यहाँ से परलोक को अकेला ही जायगा और तेरे आगे पीछे तुझे छोड़ और कोई न होगा, तब तेरे स्त्री पुत्र तेरे किस काम के। यह जीवात्मा यमालय में एकाकी ही जाता है। तब मनुष्य को वहाँ के भय से छूटने के लिये हित-प्रद, योग-समाधि रूपी भाण्डार को परिपूर्ण करना चाहिये। यमराज का कोई साथी संगी नहीं है। वे आदि से ले कर अन्त तक समस्त सम्बन्धियों का नाश करने वाले हैं। उनके इस कार्य में कोई बाधा नहीं डाल सकता। अतः तू धर्म का शरण गह।

हे वत्स! मैंने निज-शास्त्र-ज्ञान के अनुसार एवं अनुभव द्वारा तुझे जो उपदेश अभी दिया, उसके अनुसार तू धर्माचरण कर। जो मनुष्य आश्रमोचित कर्त्तव्य कर्म करता हुआ अपना निर्वाह करता है और किसी फल-प्राप्ति के लिये दानादि-धर्म कार्य करता है, वह पुरुष अज्ञान और मोह से छूट, मुक्त हो जाता है और उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जो पुरुष शास्त्रोक्त कर्म करता है, उस पुरुष को सर्वात्म-रूपी ज्ञान होता है। इस ज्ञान द्वारा उसे परम पुरुषार्थ रूपी मोक्ष मिलता है। कृतज्ञ पुरुष को जो उपदेश दिया जाता है। वह सफल होता है। जो मनुष्य लौकिक व्यवहार में रह कर, संसार से प्रीति करने लगता है, उसकी वह प्रीति उसके लिये बंधन रूपी रश्मि हो जाती है। पुण्यात्मा जन उस रस्सी को काट कर, बड़े सुखी होते हैं; किन्तु पापी ऐसा नहीं करते।

हे वत्स! तू तो मर्त्यशील है। फिर तुझे धन, भाई और पुत्र आदि से लाभ ही क्या है? शरीर रूपी गुफा स्थित, आत्मा के अन्वेषण में मन लगा और मन में ज़रा विचार कि, तेरे पितामहादि कहाँ चले गये? कल करने का काम भी आज ही कर डालना चाहिये और जो कर्म अपरान्ह में करना हो, उसको पूर्वान्ह ही में कर लेना चाहिये। क्योंकि काल यह नहीं देखता कि, यह काम अभी अधूरा पड़ा है या किया ही नहीं गया। जब मनुष्य मर जाता है, तब उसके सगे सम्बन्धी उसे श्मशान तक उसके शव के साथ जाते हैं और उसको फूँकफाँक कर घर लौट आते हैं। यदि

तुझे पर-ब्रह्म-प्राप्ति की कामना है, तो नास्तिकों, निर्दयी पुरुषों तथा पापियों का साथ त्याग दे और आत्म-कल्याण-कारक मार्ग को पकड़। जब यह सारा संसार काल के वश में हो रहा है, तब तू धैर्य धारण कर और धर्माचरण कर। जो परब्रह्म के साक्षात्कार का उपाय जानता है और जो वर्णाश्रम धर्म का पालन करता है, वह पुरुष इस लोक में भली प्रकार स्व-धर्म का आचरण कर, परलोक में सुखी होता है। एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण करना ही मृत्यु है, यह बात जिन धर्मात्मा पुरुषों को विदित है, उन्हें कभी हानि नहीं उठानी पड़ती। जो पुरुष पुण्य की वृद्धि करता है, वही पण्डित है। जो मनुष्य धर्मभ्रष्ट हो जाता है, वही मूर्ख है। जो पुरुष सत्कर्म-परायण है, वह अपने कर्मों से यथासमय स्वर्ग तथा अन्य सुख-प्रद फल प्राप्त करता है। जो पुरुष पाप-कर्म किया करता है, वह नरक-गामी होता है, स्वर्ग के सोपान रूपी मानव-शरीर को पा कर आत्म-स्वरूप को भली भाँति जान लेना चाहिये, जिससे उसे पुनः भ्रष्ट न होना पड़े। जिस मनुष्य में स्वर्ग-प्राप्ति की सच्ची अभिलाषा हुआ करती है और जो धर्म का उल्लङ्घन नहीं करता उसको ही पण्डित पुण्यात्मा कहते हैं। ऐसे मनुष्य के मरने पर उसके पुत्रों और बान्धवों को शोक नहीं करना पड़ता। जिस मनुष्य की बुद्धि स्थिर है और जिसका मन ब्रह्म की ओर लगा हुआ है और जिसने स्वर्ग प्राप्त कर लिया है, उसे फिर नरक का भय नहीं रह जाता। जो तपोवन में जन्मे हैं, उन्हें कामनाओं और भोगों का अनुभव न होने के कारण (अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करने के कारण) वे महापुण्य प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु जो पुरुष भोगों का अनुभव प्राप्त कर, बाद उन्हें त्याग देते और शरीर से तप करते हैं; उनके लिये कोई वस्तु अप्राप्त नहीं रह जाती। मेरी समझ में तो यही उत्तम फल है। इस संसार में सहस्रों माता पिता हो चुके और आगे भी होंगे। इसी प्रकार सहस्रों स्त्रियाँ और पुत्र हो चुके और आगे भी होंगे। जो हो चुके और आगे होंगे वे

किसके थे और किसके होंगे? हम स्वयं किसके थे या किसके होंगे? अर्थात् कोई किसी का नहीं है। मैं एकाकी हूँ। मेरा कोई भी नहीं है और मैं भी किसी का कोई नहीं हूँ। मैं जिसका कोई बनूँ, वैसा तो मुझे कोई देख ही नहीं पड़ता। यहाँ तक कि मैं जिसे अपना कह सकूँ, ऐसा पुरुष भी मुझे कोई नहीं देख पड़ता। न तो तुझे उनसे कुछ काम है और न उन्हें तुझसे कोई प्रयोजन है। समस्त प्राणी अपने अपने पूर्व जन्मों में किये हुये कामों के अनुसार उत्पन्न हुए हैं। तू भी तदनुसार उत्पन्न हुआ है और अब जैसे कर्म करेगा वैसा जन्म पावेगा। जान पड़ता है कि, इस जगत् में धनी पुरुष के नातेदार धन के पीछे उसके साथ रहते हैं और जिनके पास धन नहीं होता है, उनके जीते जागते रहने पर भी उनके सम्बन्धी उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखते। मनुष्य अपनी स्त्री को सन्तुष्ट रखने के लिये न मालूम क्या क्या करने और अनकरने काम किया करता है। अतः वह इस लोक और परलोक में दुःख भोगता है। ज्ञानी पुरुष इस लोक को पाप कर्मों से छिन्न भिन्न हुआ देखते हैं। अतः हे पुत्र! तू मेरे इस उपदेशानुसार ही चल। इस लोक को कर्म-भूमि समझ स्वर्ग-कामी को पुण्यकर्म ही करने चाहिये। काल एक सर्व-शक्तिमान् पाचक है। वह अपने रसोई-घर में सब को राँधता है। इस काल का तवा है ऋतु और मास; अग्नि है सूर्य और ईंधन है रात और दिन। दिन और रात प्रत्येक प्राणी के कर्मों के साक्षी हैं। जो धन न भोगा जाता और न किसी को दिया जाता, वह धन किस काम का? जिस शास्त्र-श्रवण से धर्माचरण न हो सके, वह शास्त्र-श्रवण किस अर्थ का? जिस बल से शत्रुओं का दमन न हुआ, वह बल किस काम का? जो मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं, वह किस काम का?

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! व्यास जी के इन हितोपदेशों को सुन, शुकदेव जी मोक्षोपदेश देने वाले अपने पिता को त्याग कर, मोक्षोपदेष्टा गुरु की खोज में प्रस्थानित हुए।

तीनसौ बाइस का अध्याय

यज्ञ, योग, तप और सेवा

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! दान, तप, और गुरु-सेवा का क्या फल है ? मुझे अब आप यह बतलावें। अनर्थ-कारिणी बुद्धि मनुष्य को पाप में डुबो देती है। तब वह मनुष्य दुःख में डूब जाता है। पापी पुरुष जन्म ही से दरिद्री होते हैं, उन्हें सदा दुष्कालों, दुःखों और सङ्कटों का ही सामना करना पड़ता है। वे मरे लोगों से भी गये बीते होते हैं। श्रद्धावान, जितेन्द्रिय और पुण्य-कर्मा पुरुष धनी होते हैं। वे सदा उत्सव मनाते और सुखी रहते हैं। वे बराबर स्वर्ग ही में वास किया करते हैं। नास्तिक और हिंसक प्राणी, गजों से परिपूर्ण प्रदेश में सर्पों, चोरों और विविध भयों से पूर्ण अगम्य स्थानों में हाथ से टटोल टटोल कर जाते हैं। इससे बढ़ कर और दुःख क्या होगा! देवता-अतिथि-प्रिय उदारमना एवं सत्पुरुषों से प्रीति करने वाले और यज्ञ में दक्षिणा देने वाले पुरुषों को वही कल्याण-प्रद स्थान प्राप्त होता है, जो आत्म-ज्ञानियों को। जैसे भूसी रहित अनाज के बीज निस्सार हैं और गंदे अंडे व्यर्थ हैं, वैसे ही धर्म को न जानने वाले पुरुष व्यर्थ हैं। मनुष्य जितना शीघ्र दौड़ता है उसके कर्म भी उसके पीछे उतने ही तेज़ दौड़ते हैं। जब मनुष्य सोता है तब उसके कर्म भी सोते हैं। जब वह जागता है, तब उसके कर्म भी जागते हैं। इस प्रकार कर्म मनुष्य के साथ, उसके शरीर की छाया की तरह रहा करते हैं। शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य उसी प्रकार भोगना पड़ता है, जिस प्रकार वे किये जाते हैं। निकटस्थ अथवा दूरस्थ समस्त प्राणियों को नियमित रूप से काल खींच कर ले जाता है। काल को कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। पूर्वकृत कर्म भी काल का अतिक्रम नहीं कर सकते। मानापमान, लाभालाभ और

क्षय वृद्धि यथासमय अपने अपने कर्म किया करते हैं। उन्हें कोई रोक नहीं सकता। वे नित्य नहीं हैं—प्रत्युत पद पद पर वे नष्ट होते हैं। प्राणी को अपने अशुभ कर्मों के कारण दुःख भोगने पड़ते हैं और शुभ कर्म उसे सुख देते हैं। गर्भ में आते ही प्रत्येक प्राणी का कर्म-भोग-काल आरम्भ होता है। बाल्यावस्था, तरुणाई और बुढ़ापे में जो शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं उनका फल उसे उसी अवस्था में जन्मान्तरों में भोगना पड़ता है। जैसे गोवत्स सहस्रों गौओं में अपनी माता को ढूँढ लेता है, वैसे ही पूर्व-जन्म-कृत कर्म भी कर्त्ता को ढूँढ लेता है और उसके पीछे लगा लेता है। जैसे मलिन वस्त्र धोने से साफ हो जाता है, वैसे ही अत्यन्त तप्त पुरुषों का शरीर भी उपवास करने से शुद्ध हो जाता है। तब उन्हें चिरकाल तक अनन्त सुख प्राप्त होता है।

हे धर्मराज! चिरकाल तक तपोवन में तप करने से मनुष्यों के पातक दूर हो जाते हैं और उनके मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। जैसे आकाश में उड़ने वाले पक्षियों और जलचारी मत्स्यों का पद चिन्ह नहीं देख पड़ता; वैसे ही पुण्यकर्मा जनों की गति भी नहीं देख पड़ती। दूसरों को उलहना न देना चाहिये और दूसरों के उन कर्मों का उदाहरण भी न देना चाहिये जो उन्होंने भ्रमवश किये हैं। किन्तु जो कर्म धर्मानुकूल और आनन्दादि उत्तम फल देने वाले हैं, वे ही करने योग्य हैं।

तीनसौ तेईस का अध्याय

पुत्रोत्पत्ति के लिये व्यास जी की उग्र तपस्या

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! आप मुझे यह बतलावें कि, व्यास जी के घर में शुकाचार्य का जन्म क्यों कर हुआ था और परम सिद्धि उन्हें क्यों कर प्राप्त हुई थी? तपोधन व्यास जी ने किस स्त्री के

गर्भ से शुकाचार्य को उत्पन्न किया था? मैं उन महात्मा की जननी एवं उनका दिव्य चरित सुनना चाहता हूँ। शुकदेव जी बालक थे, तो भी उनको सूक्ष्म ज्ञान क्यों कर हो गया था? ऐसी कुशाग्र बुद्धि और ऐसा सूक्ष्म ज्ञान अन्य जनों को बाल्यावस्था में तो कभी होता नहीं। हे महामति! मैं यह वृत्तान्त विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूँ। इस उत्तम कथामृत को पान कर के मेरा मन नहीं अघाता। हे पितामह! शुक-माहात्म्य, उनका आत्मयोग और उनका विज्ञान आप मुझे क्रमशः सुनावें।

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! मनुष्य का बड़प्पन वर्षों से, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने से, धनी होने से अथवा बहुकुटुम्बी होने से नहीं माना जाता, किन्तु ऋषियों का यह निश्चय है कि, जो सम्पूर्ण वेदों को पढ़ा हो, वही बड़ा है।

हे धर्मराज! तुम्हारे सब प्रश्नों का उत्तर एक शब्द से दिया जा सकता है। वह शब्द है "तप"। यह तप तभी होता है, जब इन्द्रियाँ जीत ली जाँय अन्यथा यह नहीं हो सकता। यह तो स्पष्ट ही है कि, इन्द्रियों को स्वेच्छाचारिणी बना देने से मनुष्य का पतन होता है और इन्द्रियों को वश में रखने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। सहस्रों अश्वमेधों और सैकड़ों वाजपेय यज्ञों का फल योगफल की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हो सकता। अब मैं तुम्हें शुकदेव जी का जन्म-वृत्तान्त, उनके योगाभ्यास का फल तथा अज्ञानियों के लिये अज्ञेय शुकदेव की गति का वर्णन सुनाता हूँ। पूर्वकाल में एक दिन सहस्रों पुष्पित कनेर वृक्षों से युक्त मेरु पर्वत के शिखर पर, भयङ्कर भूतों प्रेतों के साथ महादेव जी विहार कर रहे थे। उस समय पर्वतराज की पुत्री पार्वती देवी भी उनके साथ थीं। उस समय उस पर्वत के पास कृष्णद्वैपायन जी तपश्चर्या कर रहे थे। योगाभ्यास-परायण वे मुनि योगबल से आत्मा में घुसे, और योगबल से आत्मा में प्रवेश कर के और योगबल ही से शरीर

धारण कर, पुत्रप्राप्ति के लिये तप कर रहे थे। उन्होंने महादेव जी से प्रार्थना की कि हे विभो! अग्नि, वायु, जल, पृथिवी और आकाश के समान धैर्यशाली पुत्र प्राप्त करने की मेरी अभिलाषा है। सो आप मुझे दें।

व्यास जी ने इस प्रकार प्रार्थना की और यथाविधि तपश्चर्या कर, पापी जनों के लिये अप्राप्त महादेव जी की आराधना की। व्यास जी ने सौ वर्षों तक खड़े रह और वायु पी कर तप किया और उमापति एवं विविध रूपधारी महादेव जी की उपासना की। इस स्थान में समस्त महर्षि, राजर्षि, लोकपाल, लोकेश और वस्तुओं सहित साध्यदेव, आदित्य, रुद्र, सूर्य, चन्द्र, वसु, वायु, सागर, नदी, अश्विनीकुमार, गन्धर्व, नारद, पर्वत, विश्वावसु, सिद्ध और अप्सराएँ भी थीं। वहाँ कनेर पुष्प की माला धारण किये रुद्र वैसे ही शोभा पा रहे थे, जैसे ज्योत्स्नायुक्त चन्द्रमा। उस दिव्य वन में, जो देवताओं और देवर्षियों से सेवित था, कृष्णद्वैपायन व्यास, पुत्रप्राप्ति के लिये अखण्ड योग धारण कर तपस्या कर रहे थे। तपस्या करने पर भी वे क्षीण बल नहीं हुए थे। तप करते करते उनका मन ही ऊबा था। व्यास जी के उस कठिन तप को देख तीनों लोक विस्मित हुए। योगी एवं अपार तेजस्वी व्यास जी अपनी दमकती हुई जटाओं की दमक से अग्निज्योति की तरह प्रकाशमान देख पड़ते थे। यह वृत्तान्त मुझे मार्कण्डेय जी ने बतलाया था। क्योंकि वे मुझे बहुधा सत्पुरुषों के चरित्र सुनाया करते थे। उन्होंने मुझसे कहा था—हे वत्स! उस समय कृष्णद्वैपायन व्यास के मस्तक की जटा जैसे दमकती थी, वैसे ही अब भी दमकती है। मन ही मन महादेव जी व्यास जी पर उनकी तपस्या को देख प्रसन्न हुए और उन्हें उनका अभीष्ट वर देना अपने मन में निश्चित किया। तदनन्तर त्रिनेत्र शिव मुसक्याते हुए व्यास जी के सामने प्रकट हुए और बोले— हे द्वैपायन! तेरे घर में वायु, अग्नि, पृथिवी, जल और आकाश जैसा

महान् एवं शुद्ध पुत्र उत्पन्न होगा। उसके मन में ब्रह्मभाव की भावना होगी और उसकी बुद्धि ब्रह्म विषयक होगी। उसे ब्रह्म की प्राप्ति होगी और वह अपने तेज से त्रिलोकी को व्याप्त कर परम यशस्वी होगा।

तीनसौ चौबीस का अध्याय

शुकोत्पत्ति

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! सत्यवतीपुत्र व्यास जी महादेव जी से श्रेष्ठ वरदान पा कर, एक दिन अरणी काष्ठ रगड़ कर अग्नि जला रहे थे। उसी समय अत्यन्त रूपवती घृताची नाम्नी अप्सरा उनको देख पड़ी। उसे देख वनवासी व्यास जी उस पर मोहित हो गये। यह जान घृताची शुकी का रूप रख व्यास जी के निकट गयी। उस अप्सरा को अन्य रूप में छिपी देख, व्यास जी के शरीर में उत्पन्न कामोत्तेजना उनके सारे शरीर में व्याप्त हो गयी। व्यास जी ने बड़ी सावधानी से काम के वेग को रोका; किन्तु वे उसे रोकने में समर्थ न हुए। घृताची उनके मन को हर चुकी थी। अतः बहुत रोकने पर भी व्यास जी का वीर्य अरणी काष्ठ पर गिर पड़ा। किन्तु वे मुनिसत्तम निःशङ्क हो अरणी काष्ठों को परस्पर रगड़ते ही रहे। इतने में उन अग्निकाष्ठों पर पड़े वीर्य से महातपा, महातेजस्वी, महायोगी एवं परमर्षि शुकाचार्य उत्पन्न हुए। जैसे यज्ञ में हव्य के पड़ने से अग्निशिखा ऊपर को उठती है; वैसे ही प्रज्वलित तेजस्वी शुकदेव जी उत्पन्न हुए। वे पिता के अनुहार रूप और तेज से सम्पन्न थे। यहाँ तक कि उनका तेज वैसा ही था, जैसा निर्धूम अग्नि का होता है। उस समय सरिताश्रेष्ठ गङ्गा स्त्री का रूप धारण कर, मेरु पर्वत पर पहुँची और निज जल से शुकदेव जी को स्नान कराये। उसी समय आकाश से दण्ड और कृष्ण-मृग-चर्म नीचे गिरे। उस

समय अप्सराएँ नाचने लगीं और गन्धर्व गाने लगे और देवता मधुर ध्वनि से बाजे बजाने लगे। गन्धर्व विश्वावसु, तुम्बुरु, नारद, हा हा और हू हू, शुक का स्तव करने लगे। उस समय इन्द्र को आगे कर, लोकपाल भी वहाँ आये। देवर्षि, ब्रह्मर्षि और देवगण भी वहाँ उपस्थित हुए थे। उस समय पवन देव ने दिव्य पुष्पों की वर्षा की। उस समय स्थावर जङ्गमात्मक सारा जगत हर्षित हो उठा। महा कान्तिमान् शङ्कर पार्वती जी को साथ ले हर्षित होते हुए वहाँ पधारे थे और मुनिपुत्र का उपनयन संस्कार किया था। देवराज इन्द्र ने बड़ा सुन्दर कमण्डलु और सुन्दर वस्त्र शुकदेव जी को दिये थे। हँसों, शतपत्रों, शुकों और सहस्रों सारसों ने शुकदेव जी की परिक्रमा की थी। महाबुद्धिमान शुकदेव जी दिव्य जन्म प्राप्त कर वहीं ब्रह्मचारी बन रहने लगे। रहस्य और संग्रह सहित वेद जैसे उनके पिता को आते थे वैसे ही शुकदेव जी भी उनके ज्ञाता हो गये। वेदों और वेदाङ्गों के भाष्य के ज्ञाता शुकदेव जी ने यथानियम बृहस्पति को अपना गुरु बनाया और उन्हींसे शुकदेव जी ने रहस्यों और संग्रह सहित वेदों का अध्ययन किया। वेदों के अतिरिक्त शुकदेव जी ने देवगुरु बृहस्पति से इतिहास, राजनीति की भी शिक्षा पायी। तदनन्तर अध्ययन समाप्त कर और गुरुदक्षिणा दे शुकदेव अपने घर लौट आये। तदनन्तर मन को सावधान कर और ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर, उन्होंने उग्र तप करना आरम्भ किया। तपोधन शुकाचार्य लड़कपन ही में तपोबल से देवताओं और ऋषियों के अनुग्रह से पात्र बन, सर्वमान्य एवं समस्त संशयच्छेत्ता हो गये थे। मोक्षधर्म में पारङ्गत शुकदेव जी को गृहस्थाश्रम तथा अन्य आश्रम अच्छे नहीं लगे।

तीनसौ पचीस का अध्याय

शुकदेव जी की परीक्षा

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! मोक्षधर्म पर विचार करते करते शुकदेव एक दिन अपने पिता जी के निकट गये और मोक्षधर्म का रहस्य जानने को उत्सुक शुकदेव जी ने बड़ी विनम्रता से पिता को प्रणाम किया और उनसे प्रश्न किया—भगवन् ! आप मोक्षधर्म में निष्णात हैं। अतः आप परम शान्तिप्रद मोक्षधर्म का मुझे उपदेश दें, जिससे मेरा मन शान्त हो। पुत्र के इन वचनों को सुन कर, परमर्षि व्यास जी, कहने लगे—हे पुत्र ! तू मोक्षधर्म के साथ ही साथ, जीवनोपयोगी अन्य धर्मों का भी अध्ययन कर। तदनुसार शुकदेव जी ने समस्त योगशास्त्र तथा कपिल रचित साँख्यशास्त्र भी पढ़े। जब व्यास जी को निश्चय हो गया कि, पुत्र में ब्रह्मतेज पूर्ण रूप से आ गया है और वह ब्रह्मा जैसी पराक्रमी और मोक्षधर्म-विशारद हो गया है, तब वे शुकदेव जी से कहने लगे—तू मिथिलेश जनक के निकट जा, वह तुझे मोक्ष के साधनों की शिक्षा देगा।

राजन् ! पिता की आज्ञा से शुकदेव राजा जनक के निकट गये। चलते समय व्यास जी ने शुकाचार्य से कहा— तू विस्मित हुए बिना ही उसी मार्ग से मिथिलापुरी को जाना, जिस मार्ग से साधारण जन जाते हैं। योगबल से आकाश-मार्ग से वहाँ मत जाना।

[नोट—यह इस लिये कि मोक्षधर्म के जिज्ञासु का इस प्रकार जाना उचित नहीं।]

वहाँ जा कर यह आशा मत रखना कि, तुझे वहाँ हर प्रकार का सुख प्राप्त हो। न वहाँ मित्र कलत्र की टोह में रहना। क्योंकि मित्र कलत्र विषयों में फँसाने वाले हैं। वहाँ तो तू अत्यन्त सरल भाव से

आना। मिथिलेश उन राजाओं में है, जिन राजाओं के यज्ञ में हम लोग भाग ले सकते हैं। अतः वहाँ रहते समय अपनी श्रेष्ठता का अपने मन में गर्व उत्पन्न मत होने देना। मिथिलेश जो आज्ञा दें, वही करना। वह तेरे समस्त संशयों को निवृत्त कर देगा। वह राजा समस्त धर्मों का ज्ञाता और मोक्षधर्म में तो निपुण ही है। वह मेरा यजमान है। अतः वह जो कुछ तुझसे कहे उसे तू बिना सङ्कोच के करना।

यद्यपि शुकदेव जी को योगबल से यह सामर्थ्य था कि, वे ससागरा पृथिवी का आकाशमार्ग से अतिक्रमण कर सकें; तथापि पितृदेव के आदेशानुसार वे पैदल ही मिथिला की ओर चल दिये। पर्वतों, नदियों, तीर्थों, सरोवरों तथा हिंसक जीव-जन्तुओं से व्याप्त वनों, महावनों को एवं मेरुवर्ष तथा हरिवर्ष को लाँघ कर, शुकदेव जी भारतवर्ष में आये। भारतवर्ष आते समय शुकदेव जी को उन देशों में हो कर आना पड़ा था, जिनमें हूण और चीन नामक जातियों के लोग रहते थे। वे पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर पैदल ही वैसे ही वेग से चले, जैसे वे आकाश-मार्ग से चल सकते थे। रास्ते में उन्हें बड़े बड़े रमणीक नगर और ग्राम मिले तथा रत्नों से भरी खानें मिलीं; किन्तु शुकदेव जी ने उनकी ओर आँख उठा कर भी न देखा। बड़ी रमणीक वाटिकाएँ, उपवन, प्रदेश और तीर्थों को पीछे छोड़ते शुकाचार्य कुछ ही दिनों बाद महात्मा धर्मराज जनक के राज्य में जा पहुँचे। विदेह राज्य में शुकदेव ने देखा कि, वह राज्य धनधान्य से पूर्ण है। गौओं की और गोरस की विदेह राज्य के नगरों और ग्रामों में भरमार है। साठी के धानों और जवों की बालों से खेत हरे भरे खड़े थे। जगह जगह हँसों और सारसों से सेवित सरोवर थे। उस प्रान्त में धनाढ्य पुरुषों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। ऐसे विदेह राज्य में हो कर शुकदेव विदेह राज्य की राजधानी मिथिलापुरी के एक समृद्धशाली उपवन में जा पहुँचे। वह उपवन हाथियों, घोड़ों, रथों तथा स्त्रियों और पुरुषों से परिपूर्ण था। किन्तु शुकाचार्य तो अपनी धुन

के पक्के थे। अतः उस उपवन को देखा अनदेखा कर, वे आगे ही बढ़ते चले गये। आत्मानन्द-परायण शुकाचार्य, मिथिलापुरी के निकट जा पहुँचे। किन्तु पुरी के द्वार पर स्थित द्वारपाल ने उनको भीतर न जाने दिया तब वे शान्तभाव धारण कर कुछ देर तक सोचते विचारते और ध्यानमग्न हो, वहाँ खड़े रहे। जब राजाज्ञा मिल गयी; तब द्वारपाल ने उन्हें पुरी में जाने दिया। समृद्धिशाली जनों से पूर्ण मिथिला नगरी में मुख्य राजमार्ग से चलते हुए शुकदेव जी राजभवन के सामने जा पहुँचे और निडर हो राजभवन में घुसने लगे। तब वहाँ द्वारपाल ने उन्हें एक डाँट बतलायी और रोका। इस पर भी शुकदेव क्रुद्ध न हुए और शान्त-भाव से खड़े हो गये। इतनी लंबी यात्रा कर और सूर्य के प्रखर ताप से भी वे किञ्चिन्मात्र भी श्रान्त नहीं हुए थे। न वे भूख-प्यास से विकल थे। धूप से भी उन्हें सन्ताप नहीं हुआ था। उन्हें किसी बात का दुःख या शोक भी न था। किन्तु मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह तेजसम्पन्न शुकाचार्य को देख एक द्वारपाल के मन में दया उपजी। उसने उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित कर और हाथ जोड़ उनको प्रणाम किया और वह उन्हें महल की पहली ड्योढ़ी के भीतर ले गया।

हे तात! शुकाचार्य प्रथम ड्योढ़ी नाँघ कर भीतर गये और वहाँ बैठे बैठे मोक्षधर्म का चिन्तवन करने लगे। शुकाचार्य योगी थे और समदृष्टि थे। अतः उनके निकट छाया और धूप में कुछ भी भेद न था। इतने में मंत्री हाथ जोड़े शुकाचार्य के सामने जा उपस्थित हुआ और उन्हें बड़े सम्मान के साथ राज-भवन की दूसरी ड्योढ़ी के भीतर ले गया। दूसरी ड्योढ़ी के आगे एक सुन्दर बाग़ था। उसका सम्बन्ध अन्तःपुर से था। वह चैत्ररथवन की तरह शोभायमान था। उसमें जल-विहार के लिये कई एक जलाशय भी थे। मन को हर्षित करने वाले फूले हुए वृक्ष उस वाटिका की शोभा बढ़ा रहे थे। मंत्री ने, रूपवती सुन्दरियों को शुकाचार्य को सुन्दर आसन पर बिठाने का आदेश दे, वहाँ

से प्रस्थान किया। उन सुन्दरियों का रूप बड़ा अच्छा था। उनके नितम्ब स्थूल थे। वे सब युवती थीं और बड़ी रूपवती थीं। उनके शरीरों पर लाल रंग की झिरझिरी साड़ियाँ थीं और बात-चीत करने में वे सब बड़ी प्रवीण थीं। वे नाचना गाना भी बहुत अच्छा जानती थीं। वे मुसक्याकर बात-चीत करती थीं। उनकी सजधज, रूप रंग, हावभाव सब अप्सराओं जैसे थे। वे काम-कला-कुशल तथा कामशास्त्र के समस्त विषयों का ज्ञान रखने वाली थीं। वाराङ्गनाओं में प्रधान उन पचास स्त्रियों ने शुकाचार्य का अर्घ्य पाद्य से पूजन किया और यथासमय उत्तम स्वादिष्ट पदार्थ खिलाये। जब शुकदेव जी भोजन कर चुके, तब उन वार-वनिताओं ने शुकदेव जी को उस बाग़ की सैर करवायी। वे सब हँसती खेलतीं और गाती हुईं उदारमना शुकदेव की सेवा करने लगीं। किन्तु अरणी-काष्ठ-सम्भूत, जितेन्द्रिय, निःशङ्क एवं शुद्धमना शुकदेव के मन में उससे कुछ भी विकार उत्पन्न न हुआ। न वे हर्षित हुए और न कुपित ही। उन वारवनिताओं ने शुकदेव जी को देवताओं के योग्य रत्न-भूषित बहुमूल्य वस्त्रों से युक्त शय्या और आसन प्रदान किया। शुकदेव जी ने हाथ पैर धो, सन्ध्या-वन्दन किया। फिर वे दिव्य आसन पर आसीन हो मोक्षधर्म का चिन्तवन करने लगे। रात्रि के प्रथम पहर में, वे ध्यान-परायण हो, मोक्ष सम्बन्धी विचार करने में प्रवृत्त हुए। जब आधी रात हुई, तब योगशास्त्र कथित विधि से वे सो गये। जब ब्राह्म-मुहूर्त्त उपस्थित हुआ; तब वे जागे और स्नानादि कर, प्रातःकालीन उपासना में लग गये। यद्यपि शुकदेव जी उन वारवनिताओं से घिरे हुए थे, तथापि वे ध्यान-मग्न हो गये। अपने स्वरूप को पहचानने वाले व्यास-पुत्र शुकाचार्य ने मिथिलेश के राज-भवन में एक दिन और एक रात व्यतीत की।

तीनसौ छब्बीस का अध्याय

ज्ञानी और आश्रमधर्म

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! अगले दिन मिथिलेश अपने मंत्रियों, पुरोहित तथा अन्तःपुर-वासिनी रमणियों को साथ ले शुकदेव जी के निकट गये। वे अपने साथ दिव्य आसन, विविध रत्न और अर्घ्य ले कर अपने गुरुपुत्र के निकट गये। मन को ललचाने वाले, उत्तम बिछौने से भूषित, एक बहुमूल्य सर्वतोभद्र आसन, पुरोहित ने ला कर राजा को दिया। राजा ने पुरोहित के हाथ से उस आसन को ले, उस पर शुकदेव जी को बिठाया।

जब शुकदेव जी उस आसन पर बैठ गये, तब मिथिलेश ने उनका यथा-विधि पूजन किया। प्रथम उन्हें पाद्य दे फिर अर्घ्य दिया। तदनन्तर एक गौ उनको अर्पण की। द्विजोत्तम शुकाचार्य ने शास्त्रोक्त विधि से की गयी पूजा को स्वीकृत किया। फिर राजा की दी हुई गौ को स्वीकार कर राजा का सम्मान किया। तदनन्तर शुकदेव ने राजा से कुशल क्षेम पूछा। हे राजेन्द्र! फिर राजा से शुकदेव ने उनके आश्रित सेवकों का कुशल पूछा। तदनन्तर जब शुकदेव ने मिथिलेश को आज्ञा दी, तब राजा बैठा। राजा के बैठ जाने पर, उसके साथ आये हुए मंत्री आदि भी बैठ गये। कुलीन एवं उदारमना राजा जनक ने हाथ जोड़ कर, व्यास नन्दन शुकदेव जी से कुशल समाचार पूछे। तदनन्तर बैठे ही बैठे उनसे पूछा—आपका पधारना किस प्रयोजन से हुआ है?

शुक ने उत्तर दिया—आपका मङ्गल हो। मेरे पितृदेव ने मुझसे कहा था कि, मेरे यजमान, राजा जनक एक प्रसिद्ध राजा हैं और उनका मोक्ष-धर्म सम्बन्धी ज्ञान श्रेष्ठ है। यदि तेरे मन में संशय है तो तू उनके निकट जा—वह तेरे प्रवृत्ति-निवृत्ति विषयक समस्त सन्देहों को तुरन्त

मिटा देंगे। अतः मैं पिता की आज्ञा से, मोक्ष-धर्म-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने को, आपके निकट आया हूँ। हे धर्मभृतांवर! आप मेरी शङ्काओं का भली भाँति समाधान करें। इस लोक में ब्राह्मणों का क्या कर्त्तव्य है? मोक्ष के हेतु का स्वरूप क्या है? मोक्ष-प्राप्ति का साधन तप है अथवा ज्ञान?

जनक ने कहा—जन्म से ले कर मरण-पर्यन्त ब्राह्मणों को जो कर्म करने चाहिये—उनको तुम सुनो। हे तात! ब्राह्मण-बालक का उपनयन संस्कार जब हो चुके, तब उसे वेदाध्ययन करना चाहिये। उसे, ब्रह्मचर्यव्रत धारण पूर्वक और गुरु-सेवा करते हुए वेदाभ्यास करना चाहिये। फिर इन्द्रियों को वश में रख वेदाध्ययन पूर्ण कर, उसे गुरु-दक्षिणा देनी चाहिये और गुरु से आज्ञा माँग, घर लौट आना चाहिये। घर लौट कर उसे यज्ञादि कर देवऋण से और पुत्रोत्पादन कर, पितृऋण से उऋण होना चाहिये। उस ब्रह्मचारी ब्राह्मण को किसी से ईर्ष्या न करनी चाहिये। समावर्त्तन संस्कार के अनन्तर, उसे विवाह कर, अपनी विवाहिता पत्नी ही में रत रह गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिये। न्यायानुमोदित -बर्त्ताव कर, उसे अग्निहोत्र नित्य करना चाहिये। फिर जब पुत्र पौत्र हो जायँ, तब गृहस्थ वानप्रस्थ आश्रम में चला जाय। किन्तु गृहस्थाश्रम के ही अग्नि में शास्त्रोक्त विधि से होम करे। तदनन्तर वन ही में उसे यथाविधि अग्निहोत्र के अग्नियों का अपने आत्मा में आरोपण करना चाहिये। उस समय वह उसे वीतरागी बन और निर्द्वन्द्व हो संन्यासाश्रम ग्रहण करना चाहिये।

शुकदेव जी ने पूछा—यदि किसी के मन में ज्ञान विज्ञान उत्पन्न हो गया हो और उसके मन में सुख दुःखादि की भावनाएँ न रही हों, तब भी क्या उसे ब्रह्मचर्यादि तीनों आश्रमों में रहना आवश्यक है? हे जनाधिप! मैं यह बात आपसे पूछता हूँ। सो आप मुझे इसका उत्तर दें।

राजा जनक ने कहा—ज्ञान विज्ञान प्राप्त हुए बिना मोक्ष नहीं मिलता। गुरु सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। गुरु इस संसार-सागर के पार पहुँचाने वाला है। ज्ञान नौका है। मनुष्य जब गुरु और ज्ञान से कृतकृत्य हो जाता है, तब वह इन दोनों का सहारा भी त्याग देता है। सामाजिक एवं धार्मिक गड़बड़ी मिटाने के लिये तथा कर्मों का उच्छेद न होने पावे—इस उद्देश्य से पूर्वकालीन विद्वान चारों आश्रमों के कर्मों का पालन किया करते थे। इस प्रकार सब आश्रमों के धर्मों का पालन करते करते—शुभाशुभ कर्मों को त्यागने से मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार चित्त शुद्ध होने पर मुक्त हुए, सर्वद्रष्टा परब्रह्म को प्राप्त करने की कामना रखने वाले विद्वान को, तीनों आश्रमों के कर्मों का पालन करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के मनुष्य राजस, तामस दोषों को त्याग कर और सतोगुणी मार्ग को ग्रहण कर आत्मा द्वारा आत्म स्वरूप को देखें।

जो मनुष्य समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है, वह पुरुष जल में रह कर भी जल से लिप्त न होने वाले जलचर की तरह; पुण्य पाप से लिप्त नहीं होता। जैसे पक्षी बिना नीचे आये ऊपर ही ऊपर उड़ कर एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर जा बैठता है, वैसे ही शान्त एवं निर्द्वन्द्व पुरुष अपना शरीर त्याग कर, अनन्त मोक्ष पाता है।

इस सम्बन्ध में राजा ययाति ने पूर्वकाल में गाथाएँ गायी थीं। उन्हें मोक्षाभिलाषियों ने कण्ठ कर रखा है। उन्हें तुम सुनो, जो ज्योति अपने आत्मा में है वह अन्यत्र नहीं है और वह ज्योति समस्त प्राणियों में एक सी रहती है, किन्तु उस ज्योति के दर्शन केवल योगी ही को होते हैं। जो न तो स्वयं भयभीत होता है और न जिससे अन्य लोग भयभीत होते हैं और जो इच्छाओं और द्वेष से रहित है, वह ब्रह्म को प्राप्त करता है। जब मनसा, वाचा, कर्मणा कोई किसी का अनिष्ट नहीं करता, तब उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जब पुरुष मोह में डालने वाली

ईर्ष्या को त्याग कर, अपना मन आत्मा में लगा देता है और काम एवं मोह को त्याग देता है, तब उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जब पुरुष कर्ण, चक्षु आदि इन्द्रियों के उपभोग्य विषयों में तथा समस्त प्राणियों में समदृष्टि रखता है और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के प्रभाव से रहित होता है, तब उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जो पुरुष निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, सुवर्ण-लोहा, शीत-उष्ण, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय और जीवन-मरण को समान समझता है; उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जैसे कच्छप अपने अङ्ग को फैला और सकोड़ लेता है, वैसे ही संन्यासी को अपना मन अपने अधीन कर लेना चाहिये। अन्धकारमय गृह जैसे दीपक के प्रकाश से दिखलायी पड़ने लगता है, वैसे ही बुद्धि रूपी दीपक से आत्मा देखा जा सकता है। हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! ये सब बातें मैं तुममें पाता हूँ। साथ ही अन्य ज्ञातव्य विषय भी तुमको विदित हैं। हे ब्रह्मर्षे! गुरु की कृपा से तुम्हें जो उपदेश मिला है उससे तुम विषयों से परे हो गये हो। मैं तो यही समझता हूँ।

हे महामुने! मुझे तो दिव्य ज्ञान तुम्हारे पिता की कृपा ही से प्राप्त हुआ है। इसीसे मुझे तुम्हारे स्वरूप का ज्ञान हो पाया है। तुम जितना समझे हुए हो, उससे अधिक विज्ञान तुममें है। बाल्यावस्था से मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध में सन्देह होने के कारण विज्ञान प्राप्त होने पर भी उस मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध उद्योग द्वारा और मुझ जैसे पुरुष से सन्देह निवृत्त होने पर, जब हृदय की ग्रन्थि कट जाती है, तब ब्रह्म की प्राप्ति होती है। तुम विज्ञानी हो गये हो, तुम्हारी बुद्धि भी स्थिर है और तुममें लोभ भी नहीं है। किन्तु यह सब होने पर भी विना उद्योग किये मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। न तो तुम सुख-दुःख में भेद समझते हो, न तुम लोभी ही हो। गाने बजाने में तुम्हारी रुचि नहीं और न अन्य किसी वस्तु ही में तुम्हारा अनुराग है। तुम्हारी न तो भाइयों पर प्रीति है न तुम किसी से स्वयं प्रीति रखते हो।

तुम्हारी दृष्टि में सुवर्ण और पत्थर समान हैं। मैं ही नहीं अन्य लोगों की दृष्टि में भी तुम अक्षय, अनामय, मोक्षमार्ग में स्थित प्रतीत होते हो, इस संसार में ब्राह्मणत्व का जो फल है और जो मोक्ष का स्वरूप है, वह तुम्हें प्राप्त हो चुका है। बतलाओ और तुम क्या जानना चाहते हो?

तीनसौ सत्ताइस का अध्याय

स्वाध्याय का विधान

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज! जनक के इन वचनों को सुन आत्म-ज्ञानी शुक को मोक्ष-प्राप्ति का निश्चय हो गया और आत्मा द्वारा उन्होंने आत्म-स्वरूप का दर्शन किया। अपना मनोरथ पूर्ण हुआ देख उन्हें सुख शान्ति प्राप्त हुई। तब वे उत्तर दिशा की ओर मुख कर, वायु-वेग से, हिमालय की ओर चल दिये। उस समय देवर्षि नारद भी सिद्धों एवं चारणों से सेवित हिमालय को देखने के लिये वहाँ आये हुए थे। हिमालय पर्वत अप्सराओं से सेवित था। वहाँ अगणित किन्नर रहते थे। उस पर्वत पर सहस्रों भृङ्गराज, मद्गु और खञ्जरीट और जीव-जीवक पक्षी थे। विविध वर्णों से भूषित मधुर कण्ठ वाले मयूर राजहंस और कृष्ण-कोयलें वहाँ की शोभा बढ़ा रही थीं। इसी पर्वत पर पक्षिराज गरुड़ का वास है। लोकहित-कामना से इस पर्वत पर चारों लोक-पाल, देवगण, ऋषिगण आते जाते बने रहते हैं। इसी पर्वत पर, पुत्रप्राप्ति के लिये महात्मा विष्णु ने तप किया था। इसी पर्वत पर स्वामिकार्तिक की बाल्यावस्था व्यतीत हुई थी और यहीं त्रिलोकी का अपमान कर, उन्होंने पृथिवी पर शक्ति छोड़ी थी। फिर उन्होंने सारे जगत् का तिरस्कार करते हुए कहा था—जिसको मुझसे बढ़ कर होने का अभिमान हो; जिसे ब्राह्मण मुझसे अधिक प्रिय हो, जो मेरे समान

ब्रह्मचर्य-व्रत-धारी हो, अथवा जो अपने को त्रिलोकी से अधिक पराक्रमी लगाता हो, वह मेरी शक्ति को उचकावे।

स्वामिकार्तिक के इन वचनों को सुन मनुष्य व्यथित हुए और उन लोगों ने सोचा कि इस शक्ति को कौन खींच कर निकाले। स्वामिकार्तिक की उक्ति को सुन, समस्त देवता मोहित हो गये। विष्णु ने देखा कि स्वामिकार्तिक ने असुरों तथा राक्षसों की बुद्धि को चक्कर में डाल दिया है, तब भगवान विष्णु त्रिलोकी के तिरस्कार को न सह सके। उन्होंने अनायास उस शक्ति को उखाड़ कर दहिने हाथ से घुमाया। उस समय वनों, उपवनों सहित समूची भूमि थर्रा उठी। उस समय विष्णु भगवान ने स्वामिकार्तिकेय के तिरस्कार से अपनी रक्षा की और उस शक्ति को घुमा भगवान् विष्णु ने प्रह्लाद से कहा—स्वामिकार्तिकेय के पराक्रम को तो देखो। दूसरा कोई भी ऐसा पराक्रम प्रदर्शित नहीं कर सकता। यह बात प्रह्लाद को सह्य न हुई। उन्होंने उस शक्ति को उठाने का विचार किया और हिरण्यकश्यप के पुत्र ने वह शक्ति उठाते तो उठा ली, किन्तु वे उसे घुमा न सके। वे बड़े ज़ोर से चिल्ला कर तथा मूर्छित हो पहाड़ की तरह भूमि पर गिर पड़े। जिस स्थान पर प्रह्लाद विह्वल हो भूमि पर गिरे थे, वहाँ से उत्तर, हिमालय पर्वत के एक शृङ्ग पर शङ्कर दुराधर्ष तप कर रहे थे। उनके आश्रम के चारों ओर प्रदीप्त अग्नि जला करता था।

[नोट—हिमालय पर्वत का शृङ्ग हिमाच्छादित होने के कारण बिना अग्नि-ताप के उस पर रहना कठिन है।]

इस पर्वत को आदित्य पर्वत कहते हैं। जो अज्ञानी-जन होते हैं—वे इस पर्वत के निकट नहीं जा सकते। यक्षों, राक्षसों और दानवों की भी इस पर्वत पर गति नहीं है। क्योंकि इस पर्वत के समीप दस योजन तक वीर्यवान अग्नि स्वयं अपनी ज्वालाओं को फैला रहे हैं। बुद्धिमान् महादेव जी ने एक सहस्र दिव्य वर्षों तक एक पैर से खड़े हो कर, तपस्या की थी। उस समय अग्नि ने वहाँ के समस्त विघ्न शमन कर दिये थे।

महाव्रती शङ्कर ने देवताओं को सन्तप्त किया था, ऐसे बुद्धिमान पर्वतराज हिमाचल की पूर्व दिशा में एक निर्जन पर्वत की तलैटी में महा तपस्वी पराशरनन्दन व्यास जी ने अपने महा-भाग्यशाली शिष्य सुमन्तु वैशम्पायन, जैमिनि और पैल को वेदाध्ययन कराया था, जिस आश्रम में इन शिष्यों सहित व्यास जी बैठे थे, उस आश्रम को शुकदेव जी ने जा कर देखा। उस समय शुकदेव जी दिव्य तेज से सूर्य की तरह प्रदीप्त हो रहे थे। ऐसे अपने पुत्र को व्यास जी ने आते हुए देखा। जैसे धनुष से छूटा हुआ बाण बड़े वेग से जाता है—वैसे ही योगी महात्मा शुकाचार्य वृक्षों, पर्वतों और अन्य रुकावटों का कुछ भी विचार न कर, चले आ रहे थे। शुक ने पिता के निकट पहुँच उनके चरणों को पकड़ प्रणाम किया और पिता के शिष्यों से भी वे यथायोग्य रीति से मिले। फिर राजा जनक के साथ जो वार्तालाप हुआ था, वह सब पिता को कह सुनाया। तदनन्तर व्यास जी अपने पुत्र और शिष्यों को वेदाध्ययन कराते हुए हिमालय पर रहने लगे। वेदाध्यायी शान्तात्मा, जितेन्द्रिय और अंगों सहित वेदों में पारंगत वे शिष्य एक समय वेदव्यास जी को घेरे हुए बैठे थे। उस समय उन्होंने हाथ जोड़ उनसे प्रश्न किया।

शिष्यों ने पूछा—हे गुरुदेव! आपके प्रताप से हम विद्या के तेज से सम्पन्न हो गये हैं। हमारी ख्याति भी चारों ओर हो गयी है; किन्तु अब आप हम लोगों पर एक कृपा करें।

व्यास जी बोले—हे वत्सो! बतलाओ मैं तुम्हारे लिये क्या प्रिय कार्य कर सकता हूँ।

यह सुन उन शिष्यों का मन बहुत प्रसन्न हुआ और वे सिर नवा कर तथा हाथ जोड़ के कहने लगे—हे मुनिसत्तम! यदि आप हम लोगों के ऊपर प्रसन्न हैं तो हम अपने आपको परम भाग्यवान मानते हैं। हे महर्षे! हम लोगों की यह इच्छा है कि, आप हमें ऐसा वर दें कि, हमें छोड़ अन्य कोई छठवाँ शिष्य वेदाभ्यास में प्रसिद्ध न हो। आप प्रसन्न हो

इमें यह वर दें। चार हम और पाँचवें हमारे यह गुरु-पुत्र (शुकदेव जी) इस प्रकार पाँच जन ही वेदाभ्यास में सम्मान प्राप्त करें।

शिष्यों के वचन सुन, लोक-परलोक का विचार रखने वाले और धर्मात्मा तथा वेदतत्त्वज्ञ पराशर-सुत बुद्धिमान व्यास जी ने शिष्यों से उनके हितार्थ एवं युक्ति-युक्त यह कहा—जिस ब्राह्मण को ब्रह्मलोक में निवास करने की कामना हो, उसे उचित है कि, वह ब्रह्म-विद्या पढ़ने की अभिलाषा रखने वाले को वेद पढ़ावे। मैं तो चाहता हूँ कि, तुम बहुत से अपने शिष्यों को वेदाध्ययन करा, वेद का प्रचार बढ़ाओ। किन्तु जो पुरुष तुम्हारा शिष्यत्व ग्रहण न करे, जो ब्रह्मचर्य-व्रत धारण न करे, जो अपने मन को अपने वश में न रख सके, उसे वेदाध्ययन कभी मत कराना। उस पुरुष को भी वेदाभ्यास मत कराना, जिसके चरित्र की परीक्षा न की हो। क्योंकि जैसे सुवर्ण की परीक्षा उसे आग में तपाने, छीलने और कसौटी पर कसने से ली जाती है; वैसे ही शिष्य की परीक्षा उसके कुल और गुण देख कर की जाती है। तुम लोग अपने शिष्यों से न तो कोई अनुचित काम करवाना और न उनसे कोई जोखों का काम लेना। जिसकी जैसी बुद्धि और जिसका जैसा अध्ययन होगा, उसे वैसी ही विद्या आवेगी। तुम तो ब्राह्मणादि चारों वर्णों को ऐसा उपदेश दो कि, जिससे सब लोग दुःखों से छूट जावें और सब का कल्याण हो। तुम लोग वेद के अध्ययन को एक महत्त्वपूर्ण कार्य समझो। ब्रह्मा जी ने देवगण की स्तुति के लिये ही वेदों को उत्पन्न किया है। जो मनुष्य मूर्खतावश वेदज्ञ ब्राह्मण की निन्दा करता है तथा ऐसे ब्राह्मणों का बुरा चींतता है, उसका सदा पराभव होता है। जो पुरुष छल से प्रश्न करता और जो छल से उत्तर देता है—उन दोनों में से एक, सब का द्वेषी बन जाता है। स्वाध्याय की यही विधि है। इस विधि को ध्यान में रख, इसके अनुसार तुम अपने शिष्यों को वेदाध्ययन कराओ।

[नोट—व्यास जी के कथन का सारांश यह है कि, शिष्यों के आग्रह से व्यास जी ने स्वयं तो वेदाध्ययन कराना बंद किया, किन्तु वेद के प्रचारार्थ उन्होंने शिष्यों को वेदाध्ययन कराने का अधिकार दिया और वेदाध्ययन की विधि और वेदाध्ययन के अधिकारी एवं अनधिकारी पात्रों की योग्यता और अयोग्यता भी स्पष्ट शब्दों में बतला दी ।]

तीनसौ अट्ठाइस का अध्याय

सप्त-वायु वर्णन

भीष्म जी ने कहा—व्यास जी के महाबली शिष्य गुरुदेव के इन वचनों को सुन, प्रसन्न हुए और आपस में मिले भेंटे और कहने लगे—हमारे भावी हित के अर्थ गुरुदेव ने जो कुछ कहा है, उसे हम सदा याद रखेंगे और तदनुसार ही काम करेंगे। तदनन्तर वे पुनः गुरुदेव से प्रार्थना कर कहने लगे। अब हम इस पर्वत से उतर नीचे मैदान में जाना चाहते हैं। हे प्रभो! वहाँ जा कर, यदि आप आज्ञा दें, तो हम प्रत्येक वेद को कई भागों में विभक्त करना चाहते हैं।

व्यास जी बोले—यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है कि, चाहे तुम मैदान में जाओ अथवा और ऊँचे पहाड़ पर जाओ। किन्तु सावधान वेदाध्ययन के कार्य में तुम प्रमाद मत करना। क्योंकि यदि प्रमाद कर तुमने स्वाध्याय का क्रम जारी न रखा, तो तुम वेद को भूल जाओगे।

यह कह वेदव्यास ने उन शिष्यों को विदा किया। तब वे शिष्य गुरु को प्रणाम कर तथा उनकी प्रदक्षिणा कर, पहाड़ के नीचे उतर आये और चार होताओं द्वारा सुसम्पन्न होने वाले कर्मों की व्यवस्था कर उनको चलाने चले। उन लोगों ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के हाथ से यज्ञ कराना आरम्भ किया। द्विज वर्णों के सब लोग उन चारों का बड़ा

आदर करने लगे। व्यास के वे चारों शिष्य सत्पात्रों को वेद पढ़ाया करते थे और द्विजों को यज्ञ तथा होम करवाया करते थे। इससे वे कुछ ही दिनों में श्रीमान् हो संसार भर में प्रसिद्ध हो गये। उधर व्यास जी शिष्यों को विदा कर, अपने एकमात्र पुत्र शुकदेव सहित एकान्त में बैठ चुपचाप ध्यानमग्न हो गये। उन्हें इस अवस्था में देख, महातपा नारद जी ने मधुर वाणी से उनसे कहा—हे वसिष्ठ-वंशीय ब्रह्मर्षे! आज कल आपके आश्रम में वेदघोष क्यों नहीं सुन पड़ता? आप चुपचाप ध्यानमग्न हो क्यों बैठे हैं? जैसे रजोगुण और तमोगुण से युक्त चन्द्रमा राहु द्वारा ग्रसे जाने पर शोभित नहीं होता, वैसे ही यह पर्वत भी वेदध्वनि न होने से शोभायमान नहीं जान पड़ता। यद्यपि इस पर्वत पर देवर्षियों का वास है, तथापि पूर्ववत् यहाँ वेदध्वनि न होने से, यह भीलों के गाँवड़े की तरह जान पड़ता है। जैसे इसकी पहले शोभा थी, वैसी अब नहीं है।

नारद जी के इन वचनों को सुन कर, कृष्णद्वैपायन ने कहा—हे महर्षे! हे वेद-वाद-विचक्षण! आपने जो कहा वह मेरे मनोनुकूल ही कहा है। आपको ऐसा कहना शोभा भी देता है। आप सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं और सदा कौतुहलप्रिय हैं। तीनों लोकों में जो कुछ होता है, वह सब आपको विदित है। अतः हे विप्रर्षे! आप यह तो बतलावें कि, मैं आपका क्या प्रिय कार्य करूँ? मुझे अब करना क्या चाहिये? शिष्यों के वियोग के कारण मेरा मन उदास रहता है।

नारद जी बोले—वेदावृत्ति न करना वेद का दूषण है। बाहीक वंश पृथिवी का मल माना जाता है। इसी तरह कुतूहल स्त्रियों के पक्ष में एक दोष माना जाता है। अतः आप अपने पुत्र के साथ वेद का स्वाध्याय किया कीजिये। वेद के घोष से राक्षसजन्य भय नहीं रहने पाता।

भीष्म जी बोले— नारद के इन वचनों को सुन कर, परम-धर्मवेत्ता वेदव्यास जी ने कहा—बहुत अच्छा और वे बड़े प्रसन्न हुए। उस

दिन से उन्होंने वेद का स्वाध्याय करने का दृढ़ व्रत धारण किया। अपने पुत्र शुकदेव के साथ उच्च स्वर से तीनों लोकों को प्रतिध्वनित करते हुए व्यास जी साङ्गोपाङ्ग वेद का स्वाध्याय करने लगे। जब विवाद-ग्रस्त विविध धार्मिक विषयों की मीमाँसा करने वाले वे दोनों पिता पुत्र वेदपाठ करने लगे, तब समुद्रानिल द्वारा सञ्चालित वायु बड़े वेग से बहने लगा। यह देख व्यास जी ने शुकदेव जी से कहा—यह समय वेदपाठ का नहीं है। वेदपाठ बंद करो। पितृदेव की इस आज्ञा का कारण क्या है—यह जानने के लिये शुकदेव जी उत्कण्ठित हुए। अतः उन्होंने अपने पिता से पूछा—इस वायु की उत्पत्ति कहाँ से हुई है? आप कृपा कर मुझे वायु सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त सुनावें।

व्यासदेव ने अत्यन्त विस्मयपूर्ण हो, शुकदेव को बतलाया कि, वायु अनाध्याय का निमित्त क्यों कर हुआ। अतः वे कहने लगे—हे पुत्र! योगाभ्यास से तुझे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है। तेरा मन भी निर्मल है और तू भी रजोगुण तथा तमोगुण से मुक्त हो कर, सतोगुणी हो गया है। तू आत्मा को आत्मा से वैसे ही देखता है, जैसे कोई स्त्री अपनी आरसी से अपना मुख देखती है। अतः तु अपनी बुद्धि लगा कर, स्वयं वेद के अर्थों का ऊहापोह कर के, इस विषय पर विचार कर।

सर्वव्यापी भगवान् विष्णु के पास जाने के लिये देवयान और पितृ-यान नामक दो मार्ग हैं। सात्विक उपासक लोग, पुनरावृत्ति रहित जिस मार्ग से जाते हैं, उसको देवयान; और धूमादि पथ द्वारा जिस पुनरावृत्ति-प्रद स्थान में गमन करना पड़ता है, उसे तामस पितृयान कहते हैं। परलोकगामी के लिये ये दो ही मार्ग हैं। इन्हीं दो मार्गों से जीव द्यूलोक और भूलोक में जाया आया करते हैं। पृथिवी और भूमण्डल में जहाँ पवन चलता है, वहाँ वायु के सञ्चार का स्थान सात प्रकार का है। अतः वायु के सञ्चार के उन सात स्थानों का वर्णन तुम ध्यान दे कर, सुनो।

ब्रह्माण्ड की रचना की तरह इस मानव शरीर की भी रचना है।

इस शरीर में पाँच प्रकार के वायु सञ्चार किया करते हैं। शरीराव-लम्बिनी समस्त इन्द्रियाँ हैं तथा अधिदैव साध्यगण को अधिकृत कर, जो सब महाबली पञ्चमहाभूत हैं, उन्हींकी तरह वायु की भी उत्पत्ति होती है। समान से उदान, उदान से व्यान, व्यान से अपान, अपान से प्राण उत्पन्न होता है। दुर्धर्ष शत्रुतापन प्राणवायु का कार्यान्तर नहीं है। अब मैं उसके पृथक् पृथक् कार्यों का वर्णन करता हूँ। प्राणियों की भिन्न भिन्न चेष्टाएँ वायु के संयोग से हुआ करती हैं और प्राणियों के प्राण का हेतुभूत होने से उस वायु का नाम ही प्राणवायु पड़ा है। जो पवन प्रथम पत्त में धूमज और उष्मज अभ्र को सञ्चालित करता है, वह प्रवहवायु कहलाता है। आकाश से जलवृष्टि होने के समय, जो वायु विद्युत से मिल कर अत्यन्त द्युतिशाली होता है, वह शब्दकारी श्वसन आवह नामक वायु द्वितीय स्थानीय है। जिस वायु से सोम आदि प्रकाशमान पदार्थ उदय हुआ करते हैं, शरीरस्थित पंच प्राणवायुओं में जिसे उदानवायु कहते हैं, जिस वायु के सहारे समुद्रों का जल ठहरा हुआ है, जिस वायु के सहारे समुद्र का पानी खिच कर बादलों में जाता है, जो वायु मेघों में जल पहुँचाने के पीछे उसके देवता पर्जन्य को जला देता है—उसे उद्वह नामक तीसरा वायु कहते हैं। वह बड़ा प्रबल और सदा गतिशील है। जो वायु मेघों को चारों ओर उड़ाये फिरा करता है तथा उन सब को जोड़ बटोर कर, एक स्थान पर जमा कर देता है और जो वायु जलवृष्टि होने के पूर्व मेघों को द्रवित तथा घनीभूत कर देता है और जो वायु एक स्थान पर जमा हुए मेघों को छितरा देता है और जिससे मेघ गर्जना करते हुए छितरा जाते हैं, जो इस संसार की रक्षा के लिये मेघरूप बन जाता है, जो वायु विमानों को आकाश में उड़ाये फिरता है, वह ऐसा बली है कि, वह पहाड़ों को चूर चूर कर डालता है। इस चतुर्थ वायु का नाम संवह है। जो रूत्त वायु बड़े वेग से चलता है, जो वृक्षों को उखाड़ कर फेंक देता है, जिस वायु के साथ रहने के कारण

मेघ वलाहक कहलाते हैं, जो आकाश में दारुण उत्पात करता तथा गर-जता हुआ चला करता है, वह पाँचवाँ महा वेगवान् विवह नामक वायु है। जो वायु दिव्य जल को आकाश में धारण किये हुए है और उसे नीचे नहीं गिरने देता, जो आकाश-गङ्गा का पवित्र जल नीचे गिरने नहीं देता, जिस वायु से सूर्य यहाँ से दूर रुका रहता है, जिसके कारण सहस्रों रश्मियों वाला सूर्य एक रश्मिवाला प्रतीत होता हुआ इस धराधाम को प्रकाशित करता है और सारे मण्डल के क्षीण होने पर भी चन्द्रमा जिससे वृद्धि पाता है, वह विजयी वायुओं में छठवाँ वायु है। जो वायु यथासमय समस्त प्राणियों का संहार करता है, जिसके पीछे पीछे मृत्यु और सूर्य-नन्दन यमराज जाते हैं, जो वायु मन को शान्त कर, ध्यान तथा योगा-भ्यास में प्रीति रखने वाले पुरुषों को मोक्ष देता है, दक्षप्रजापति के दस सहस्र पुत्र जिस वायु के सहारे चारों ओर भागने में समर्थ हुए, जिस वायु के स्पर्श से पराभव को प्राप्त जीव, इस संसार को त्याग देता है और फिर लौट कर नहीं आता, उस सातवें वायु का नाम परावह है। इस वायु का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।

इस प्रकार अदिति के पुत्र ये सप्त वायु परमाश्चर्यकारी कर्म करने वाले और समस्त पदार्थों को धारण करने वाले हैं। वे कभी नहीं थकते और सदा चला करते हैं। अति वेग से चलते हुए पवन से इस पर्वत का सहसा हिल जाना बड़े आश्चर्य की बात है। यह पवन विष्णु के मुख का निश्वास वायु है। हे तात! विष्णु भगवान् का निश्वास वायु जब सहसा चलने लगता है, तब सारा जगत् काँपने लगता है। अतः वेद-वेत्ताजन जब वायु ज़ोर से चलता है, तब वेद का पाठ नहीं करते। क्योंकि वायु वायु से डरता है। [वेद स्वयं वायु रूप है] इस समूचे ब्रह्माण्ड को अंधड़ से कष्ट पहुँचता है।

तदनन्तर पराशरनन्दन व्यास जी अपने पुत्र शुक को, वेद पढ़ने को आज्ञा दे, स्वयं आकाश-गङ्गा की ओर चले गये।

तीनसौ उन्तीसवें का अध्याय

अनासक्ति और मोक्ष

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! जब व्यास जी चले गये, तब वेदों का अर्थ पूछने को नारद जी एकान्त स्थल में बैठे हुए स्वाध्याय-परायण शुकदेव जी के निकट गये। उन्हें आते देख, शुकदेव जी ने वेदोक्त विधि से अर्घ्य पाद्य प्रदान कर, नारद जी का पूजन किया। उस पूजन से प्रसन्न हो नारद जी ने शुकदेव जी से पूछा—हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! हे वत्स ! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ। अतः बतला मैं तेरे लिये क्या प्रिय कार्य करूँ।

शुकदेव जी बोले—इस लोक में जिससे मेरा हित हो, वही काम आप मेरे लिये करें।

नारद जी ने कहा—शुद्धमना एवं तत्व-जिज्ञासु जो ऋषि, सनत्कुमार के निकट गये थे, उनसे सनत्कुमार जी ने यह कहा था—विद्या के समान नेत्र नहीं, सत्य के समान तप नहीं, अनुराग के समान दुःख नहीं और त्याग के समान सुख नहीं। पापकर्म कभी न करे। सदा पुण्य-प्रद कर्म करता रहे। सब के साथ अच्छा बर्ताव करे। वृत्ति को ठीक रखे। बस यही सब से बढ़ कर श्रेयस्कर उपदेश है। दुःखपूर्ण-मानव जन्म पा कर, जो उससे अनुराग रखता है, वह मोह को प्राप्त होता है और उसका दुःख से छुटकारा नहीं होता। क्योंकि साँसरिक मोह ममता दुःख का हेतु है। जो मनुष्य साँसारिक झमेलों में फँसता है उसकी बुद्धि मोह रूपी जाल बढ़ाती है और जो मनुष्य मोह रूपी जाल में फँस जाता है उसे इस लोक और परलोक में दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः श्रेयस्कामी को काम क्रोध अपने वश में रखना चाहिये। क्योंकि ये दोनों कल्याण का नाश करने को कटिबद्ध रहते हैं। तपस्वी को अपने तप की क्रोध से, लक्ष्मी की मत्सरता से, विद्या की मानापमान से और आत्मा को प्रमाद से रक्षा करनी चाहिये।

सौजन्य परमधर्म माना गया है। क्षमा को परम बल माना है। आत्मज्ञान परमज्ञान माना जाता है। सत्य से बढ़ कर कोई पदार्थ नहीं है। सत्य बोलना परम हितकर है; हित की बात कहना सत्य से भी बढ़ कर है। जिससे प्राणियों का हित हो वही मेरी समझ में सत्य है। जो सब प्रकार के कर्मों का त्याग कर देता है, जो आशा रहित हो जाता है और जो किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता, जिसने समस्त वस्तुओं को त्याग दिया है वही पण्डित और विद्वान् है। जो पुरुष किसी वस्तु में आसक्त हुए बिना और जितेन्द्रिय बन समस्त विषयों का उपभोग करता है, जिसका आत्मा शान्त है, जिसमें किसी प्रकार का विकार नहीं है, जो समाधि में आसक्त है, जो इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं के साथ तदाकार हो भिन्न रूप से रहता है, जो शरीरवान् हो कर भी, अपने शरीर को अपना नहीं मानता, वही पुरुष मुक्त कहलाता है। उसे कुछ ही दिनों में मोक्ष प्राप्त होता है। जो पुरुष प्राणियों की ओर कुदृष्टि से नहीं देखता, उनके साथ बुरी तरह वार्तालाप नहीं करता, उनको छूता नहीं, वह मोक्ष पाता है। न तो किसी प्राणी की हिंसा करे और न मानव शरीर पा कर किसी से वैर करे। प्रत्युत सब के साथ मित्रता रखे। आत्मस्वरूप दर्शी और मन को जीतने वाले पुरुष के लिये, समस्त वस्तुओं तथा आशाओं का त्याग तथा सन्तोष और दृढ़ता पूर्वक रहना परम श्रेयस्कर है।

हे तात ! तू परिग्रह (संग्रह) को करना त्याग दे और जितेन्द्रिय बन। ऐसा करने से तुझे इस लोक और परलोक में शान्ति और सुख मिलेंगे। जो लोभी नहीं हैं, वे दुःखी भी नहीं होते। अतः लोभ को तो सर्वथा त्यागना ही अच्छा है। हे सौम्य ! यदि तू लोभ को त्याग देगा, तो दुःख और सन्ताप से मुक्त हो जायगा। अजित ब्रह्म को विजय करने वाले को सदा तप-निरत रहना चाहिये। उसे इन्द्रिय-निग्रह, ईश्वर का भजन, मन का नियमन और विषयों में रह कर भी उसमें आसक्ति न

रखनी चाहिये। जो ब्राह्मण किसी में आसक्ति नहीं रखता और सदा अकेला घूमता है, उसे कुछ ही दिनों बाद अनुपम सुख की प्राप्ति होती है। काममोहित प्राणियों में जो एकाकी आनन्द से विचरा करता है, उसे अज्ञान-तृप्त समझना चाहिये। जो ज्ञान-तृप्त होते हैं, वे कर्मदुःखी नहीं होते। देह कर्माधीन है, क्योंकि शुभ कर्म करने वाले को देवत्व, शुभाशुभ मिश्रित कर्म करने वाले को मनुष्यदेह और अशुभ कर्म करने वाले को पशु पक्षी की योनियाँ प्राप्त होती हैं। संसार में उत्पन्न होने वाले प्राणी बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख सदा भोगा करते हैं और सदा सन्तप्त रहते हैं। क्या तू यह नहीं देखता? तू तो अहिंसा को हित, अध्रुव को ध्रुव और अनर्थ को अर्थ माने बैठा है। तुझे वस्तु का ज्ञान क्यों नहीं होता? तू मोहवश अपने कर्मरूपी तन्तुओं से वेष्टित होने पर भी इसे उसी तरह नहीं जानता जैसे रेशम का कीड़ा अपनी लार के तन्तुओं से अपने को अपने आप बन्धन में डालता हुआ नहीं जानता। साँसारिक पदार्थों में फँसने से मतलब ही क्या है? परिग्रह तो बहु-दोष-पूर्ण है। जैसे जंगली बूढ़ा हाथी दलदल में फस कर दुःखी होता है, वैसे ही प्राणी भी पुत्र, स्त्री और कुटुम्बियों में आसक्तिवान् होने पर दुःखी होता है। जाल में फँसी और जल से निकाली हुई मछली जैसे किनारे पर लायी जाने पर दुःखी होती है, वैसे ही स्नेह-जाल से खींचे गये प्राणी भी बड़े दुःखी होते हैं। परिवार, पुत्र, स्त्रियाँ, शरीर तथा धनादि का जो संग्रह है, वह पराया है और नाशवान् है। ऐसी वस्तु से तेरा क्या प्रयोजन? मनुष्य का सम्बन्ध तो उसके भले बुरे कर्मों ही से होता है। जब तुझे वे सब एक दिन त्यागने ही पड़ेंगे, तब तू अनर्थ में क्यों फँसता है? और उन धर्मों को क्यों नहीं करता जिनसे तेरा हित हो? जिस मार्ग पर चलने से विश्राम मिल ही नहीं सकता, जिस मार्ग पर चलने से किसी का सहारा नहीं मिलता, जिस मार्ग पर चलने से दिशाओं का ज्ञान नहीं रह जाता, जो मार्ग अन्धकारमय देश में ले जाने वाला है, उस मार्ग

पर विना साथी के तू अकेला कैसे चल सकेगा? क्योंकि जब तू परलोक को जाने लगेगा, तब तेरा साथी कोई न होगा। उस समय तेरे पुण्य पाप ही तेरा साथ देंगे। मनुष्य परब्रह्म की खोज विद्या, कर्म, शौच और अति विस्तृत ज्ञान की सहायता से करता है और जब उसका अर्थ सिद्ध हो जाता है, तब वह सिद्धार्थ कहलाता है। विषयासक्ति मनुष्य को बन्धन में डालती है, किन्तु पुण्यात्मा जन इस प्रीति-बन्धन को काट डालता है, किन्तु पापी इसे नहीं काट सकते। इस नदी रूपी जीवन में सौन्दर्य तट है, मनोरूपी प्रवाह है, स्पर्श रूपी द्वीप है, रस रूपी तरङ्ग है, गन्ध रूपी कीचड़ है और शब्द रूपी जल है। उसका स्वर्ग ले जाने वाला मार्ग बड़ी बड़ी बाधाओं और विघ्नों से पूर्ण है। उसमें शरीर रूपी नौका पड़ी है, जिसके लिये क्षमा रूपी बल्ली की आवश्यकता है। सत्य इसमें पतवार है। इसे खींच कर स्थिर करने वाली रस्सी धर्म है। इसका मार्ग त्याग-रूपी पवन से परिपूर्ण है। ऐसी नाव से जीवन रूपी नदी के पार हो जाना चाहिये। तुझे धर्माधर्म और सत्यासत्य को त्याग देना चाहिये। साथ ही उसे भी त्याग दे जिससे तूने इनका त्याग किया है। असङ्कल्प से धर्म का त्याग, फिर इच्छा को त्याग, अधर्म को त्याग। फिर बुद्धि से सत्यासत्य को त्याग और ब्रह्म का निश्चय कर, बुद्धि को भी त्याग दे। इस शरीर रूपी घर के अस्थि रूपी खंभे हैं। स्नायु रूपी डोरी से यह बँधा है, यह माँस और रुधिर से सना हुआ है। यह चमड़े से मढ़ा हुआ है और इसमें अत्यन्त दुर्गन्धियुक्त मल मूत्र भरा है। शोक तथा बुढ़ापे से यह घिरा हुआ है। इसमें दुःखदायी रोग रहते हैं। इसमें रजोगुण रूपी धूल लगी हुई है। यह अनित्य है। ऐसे इस शरीर को तू त्याग दे। यह विश्व, यह सम्पूर्ण जगत् और जो इस जगत् से उत्पन्न हुआ है, वह पञ्च-महाभूत और महत् अर्थात् बुद्धि जिसके आश्रित है, वह देह से भिन्न है। पाँचों इन्द्रियों, सत्व, रज और इन सत्रह के समुदाय को अव्यक्त कहते हैं। ये समस्त अव्यक्त और पाँचों इन्द्रियों के समूह को व्यक्ताव्यक्त कहते

हैं। जो इन समस्त तत्वों से युक्त है, वह पुरुष कहलाता है। जो धर्म को अर्थ को, काम को, धाम को, सुख को, दुःख को, जीवन को और मरण को जानता है, वह जगदुत्पत्ति और जगत् के नाश को भी भली-भाँति जानता है। ज्ञान सम्बन्धी प्रत्येक बात को परम्परा से जान लेना चाहिये। जो वस्तु इन्द्रियों से जानी जाती है, वह व्यक्त कहलाती है और जो इन्द्रियों से नहीं जानी जाती, वह और चिन्ह द्वारा जानी जाती है वह, अव्यक्त कहलाती है। जैसे प्यासा आदमी वर्षा की धाराओं से सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य इन्द्रियों को वश में रखने से सन्तुष्ट होता है। वह अपनी आत्मा को सर्व-वस्तु-मय देखता है और सब वस्तुओं को अपने आत्मा में आत्मामय देखता है। सब अवस्थाओं में समस्त प्राणियों में सदा परमात्मा को देखने वाले पुरुष की ज्ञानमूला शक्ति नष्ट नहीं होती। जो मोह-जन्य विविध कष्टों के ज्ञान द्वारा पार हो जाता है, वह मनुष्य चाहे किसके साथ रहे, उस पर दूसरे का रंग नहीं चढ़ता। ज्ञानी जन बुद्धिबल से अर्थात् तर्क से लौकिक व्यवहार का नाश नहीं करते। मोक्षधर्म के ज्ञाता जनों का कथन है कि, आत्मा में रहने वाला, चेतन आदि-अन्त-रहित है। वह सब जन्तुओं में जन्म लेता है। जो जीवात्मा के साथ रहता है, वह कर्त्ता नहीं है, मूर्त्तिमान नहीं है। मनुष्य अपने किये हुए कर्मानुसार सुख दुःख भोगा करता है। वह अपना दुःख मिटाने को प्राणिओं की हिंसा करता है। उसके उस कर्म से उसे विविध योनियों में जन्म लेना पड़ता है। जैसे रोगी कुपथ्य कर पीड़ित होता है, वैसे ही मोहान्ध हो दुःखों को सुख मानने वाला पुरुष, नित्य नये और बड़े कर्मों से सन्तप्त होता है। कर्म-बन्धन से युक्त पुरुष रई की तरह सदा बँधा हुआ घूमा करता है। कर्म-बन्धन से बद्ध जीव के कर्मों का जब फलोदय होता है, तब उसे विविध योनियों में जन्म लेना पड़ता है। वह विविध यंत्रणाओं को भोगता हुआ, इस संसार में जन्म-मरण के चक्कर में घूमा करता है। किन्तु तू तो कर्म के बन्धन से मुक्त है। तू सर्वज्ञ और काम

क्रोधादि को जीतने वाला है। अतः तुझे सिद्धि की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये और समस्त वासनाओं से मुक्त होना चाहिये। बहुत से मनुष्यों ने संयम कर के और तप के बल से कर्म के नवीन बन्धनों को त्याग कर, दुःख-रहित सुख देने वाली बड़ी सिद्धि पायी है।

तीनसौ तीस का अध्याय

मुक्ति-मार्ग

नारद जी ने कहा—शोक का नाश करने के लिये शान्ति देने वाले कल्याण-प्रद शास्त्र को सुन कर, मनुष्य बुद्धिमान होता है और बुद्धिबल से सुखी होता है। जीवन में शोक के तथा भयभीत होने के अनेक अवसर आते हैं। उनसे मूर्खों पर प्रति दिन प्रभाव पड़ता है; किन्तु विद्वानों पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अतः अनिष्ट का नाश करने के लिये तू एक इतिहास सुन। यदि बुद्धिवश में रहे, तो शोक नष्ट हो जाता है। अनिष्ट वस्तु का नाश होने पर अल्प बुद्धि वाले मनुष्य मानसिक दुःख पाया करते हैं। भूतकाल की वस्तुओं के गुणों को स्मरण कर, मनुष्य को दुःखी न होना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से वह स्नेह में बंध जाता है। जिस वस्तु के प्रति अनुराग होने लगे उस वस्तु के दोष देखना चाहिये और उसे अनिष्टकर समझ, त्याग देना चाहिये। जो पुरुष गयी बीती बातों के लिये शोक करता है, उसे धर्म, अर्थ और यश का लाभ नहीं होता। मनुष्य को जीवन में न मालूम कितनी वस्तुएँ मिलती हैं और खोयी जाती हैं। अतः उनके लिये शोक न करना चाहिये। जो मनुष्य खोयी हुई वस्तु या मृतपुरुष के लिये दुःखी होता है, उसके ऊपर दुःख पर दुःख पड़ा करते हैं। जो ज्ञान द्वारा जगत् की बढ़ती घटती को जाना करता है, उसे कभी रोना नहीं पड़ता। जो सम्यक् दृष्टि से

देखता है, उसे कभी आँसू गिराने नहीं पड़ते। शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट का अवसर आने पर, यदि प्रयत्न करने पर भी दुःख दूर न हो तो उसके लिये चिन्तित न होना चाहिये। आये हुए दुःख के लिये सोच न करना ही उसको दूर करने का एकमात्र उपाय है। क्योंकि दुःख का विचार करने से दुःख घटता नहीं, उलटा बढ़ता है। मानसिक दुःख का प्रज्ञा से नाश करे और शारीरिक दुःखों का दवादारू से नाश करे। दुःख आ पड़ने पर बालकों की तरह रोवे नहीं। यौवन, रूप, जीवन, धन, आरोग्य, प्रिय मनुष्यों का साथ इन समस्त नाशवान वस्तुओं में पण्डित मुग्ध नहीं होते। समस्त देश के दुःख के लिये एक मनुष्य को शोक न करना चाहिये। यदि कोई उपाय सूझ पड़े तो उसका प्रतीकार कर, उस दुःख को दूर करने का उपाय करे। इस जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक भोगने पड़ते हैं तथा मोहवश लोग इन्द्रियासक्त हो जाते हैं। ऐसे लोग मृत्यु से बहुत डरते हैं। सुख दुःख त्यागी पुरुष ही मुक्त होता है और परब्रह्म को प्राप्त करता है और ऐसे पुरुष के लिये पण्डित शोक नहीं करते। धन देते समय दुःख होता है। उसकी रक्षा करने में दुःख होता है और उसे प्राप्त करने में भी दुःख होता है। अतः ऐसे धन के नष्ट होने पर, चिन्ता न करनी चाहिये। धन पास होने पर अधिकाधिक धन पास होने की तृष्णा बढ़ती है और मरते समय तक यह तृष्णा पिंड नहीं छोड़ती। यद्यपि यह मालूम रहता है कि, परिणाम में समस्त संग्रह नष्ट होंगे, जो ऊपर चढ़े हुए हैं वे नीचे आवेंगे, जिसका संयोग है, उसका वियोग भी होगा और जो जन्मा है वह एक दिन अवश्य मरेगा। तृष्णा का ओर छोर नहीं है और सन्तोष परम सुखप्रद है। अतः पण्डितों के लिये इस संसार में सन्तोष ही परमधन है। आयु चलायमान है, वह एक निमेष भी स्थिर नहीं रहती। जब यह शरीर ही नाशवान् है तब अन्य कौन वस्तु नित्य मानी जा सकती है। जो समस्त प्राणियों में परमात्म भाव मानते हैं, परमात्मा को मन के परे

समझते हैं, वे मोक्षमार्ग के पथिक, परमात्मा का दर्शन पा कर, शोक नहीं करते। जंगल में नयी नयी घास खोजने के लिये निकले हुए और तृप्त न हो कर घूमते हुए पशु को जैसे बाघ उठा कर ले जाता है, वैसे ही पदार्थों के संग्रही और कामनाओं से अतृप्त पुरुष को मृत्यु घसीट कर ले जाती है। अतः मनुष्य को उचित है कि, दुःख से छूटने के लिये सदा प्रयत्नशील रहे। जो मनुष्य समस्त प्रकार के व्यसनों से रहित हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में उपभोग को छोड़ और धरा ही क्या है? विषय समागम के पूर्व प्राणियों को दुःख नहीं होता। उसे जाया, पुत्र, धन, धान्यादि के वियोग से कुछ भी कष्ट नहीं होता। धैर्यपूर्वक उदर और उपस्थ की रक्षा करे और ब्रह्मविद्या द्वारा मन और वाणी की रक्षा करे। अपने को पहचान कर और अन्य पुरुषों की ओर से मन हटा कर तथा नम्र बन जो पुरुष इस संसार में विचरता है, वही सुखी और वही पण्डित है। जिसे अपना आत्मा प्रिय है, जो योगाभ्यासी है, जो निरपेक्ष रहता है, जो लोभ को त्यागता है और जो आत्मारूपी अपने सहायक के साथ विचरता है; वही सुख से रहता है।

तीनसौ इकतीस का अध्याय

सूर्यमार्ग तथा चन्द्रमार्ग

नारद जी बोले—जब मानव जीवन में सुख दुःख का उलट फेर होता है; तब मनुष्य की बुद्धि, नीति और पुरुषार्थ उस उलट फेर को रोक नहीं सकते। अतः पुरुष को स्वभावतः ही प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि प्रयत्न करने वाला पुरुष दुःखी नहीं होता। मनुष्य अपने आत्मा को प्रिय समझ कर, उसकी जरा, मृत्यु और रोगों से रक्षा करे। किसी

दृढ़ धनुर्धर के छोड़े हुए बाण जैसे किसी पुरुष के शरीर में लग और घायल कर, उस को पीड़ित करते हैं, वैसे ही शारीरिक और मानसिक रोग भी मनुष्य को पीड़ित किया करते हैं। विविध तृष्णाओं और जीने की कामना रखने से पराधीन हुए मनुष्य का शरीर हर घड़ी नाश की ओर घसीटा जाता है। नदी की धार आगे की ओर ही बढ़ती है। पीछे नहीं लौटती। इसी प्रकार दिन रात रूपी समय का प्रवाह मनुष्यों की आयु हरते हुए आगे बढ़े चले जाते हैं और पीछे की ओर नहीं लौटते। शुक्ल पक्ष के बाद कृष्ण पक्ष और कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल पक्ष निरन्तर आया जाया करते हैं। वे मानव शरीर धारियों के आयु को क्षीण किया करते हैं और क्षण भर के लिये भी खड़े नहीं रहते। अक्षय सूर्य बार-बार उदय तथा अस्त हो कर, मनुष्यों के सुखों दुःखों को पकाया करते हैं। रात्रियाँ मनुष्यों के बिना विचारे हुए भाग्य के अधीनस्थ शुभाशुभ प्रसङ्गों को ले आती हैं और चली जाती हैं। यदि पुरुष की क्रियाओं के फल उसके अधीन होते तो वह जो चाहता वही वह पा सकता था। जितेन्द्रिय, कुशल और बुद्धिमान मनुष्य भी यदि कर्म नहीं करते हैं, तो उन्हें भी फल नहीं मिलता है। मूर्खों, गुणहीन जनों तथा पुरुषाधमों को यद्यपि किसी प्रकार का किसी से आशीर्वाद नहीं मिलता, तथापि देखा जाता है कि, उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं। अनेक ऐसे भी मनुष्य हैं जो नित्य हिंसा करते हैं और लोगों को ठगा करते हैं और वे सुखी देखे जाते हैं। कोई कोई कुछ भी कामधंधा नहीं करते और हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। फिर भी लक्ष्मी उनकी सेवा करती है। ऐसे भी बहुत लोग हैं, जो रात दिन परिश्रम करते हैं, किन्तु उन्हें उनकी अभीष्ट वस्तु नहीं मिलती। जहाँ ऐसा होता हो, वहाँ पुरुष के प्रारब्ध का दोष समझना चाहिये। स्वभावतः शुक्र एक स्थान में बनता और अन्य स्थलों में जाता है। शुक्र यदि योनि में पड़ता है, तो गर्भ स्थापित हो जाता है और कभी गर्भ नहीं भी रहता है। इसका परिणाम

आम के बौर की तरह होता है। किसी को पुत्र एवं पौत्र की कामना होती है और इसके लिये वह प्रयत्न करता है। फिर भी उसके सन्तान नहीं होते और विषधर क्रुद्ध सर्प की तरह गर्भ से भयभीत होने वाले किसी किसी के आयुष्मान सन्तान होते हैं। पुत्र के लिये अनेक दयनीय पुरुष देवपूजन करते हैं और तप करते हैं, तब उनके यहाँ पुत्र तो उत्पन्न होता है, किन्तु होता वह कुलकलङ्क है। साथ ही माङ्गलिक कर्म करने से उत्पन्न अनेक सन्तान, अपने पिता के जोड़े हुए धनधान्य का उपभोग करते हैं। जब स्त्री और पुरुष का परस्पर समागम होता है तब स्त्री की योनि में पुरुष का वीर्य पड़ने पर गर्भ स्थापित होता है। प्राणरोध होने पर भी जीव उसी समय स्वर्ग नरक के बीजभूत, माँस श्लेष्म से युक्त स्थूल शरीर पाता है। एक नौका के मनुष्यों को उतारने के लिये जैसे दूसरी नौका तैयार रखी जाती है, वैसे ही एक शरीर के नष्ट होने पर, उस जले हुए अथवा नष्ट हुए शरीर के आश्रयभूत जीव को लेने के लिये, पूर्ववत् दूसरा नश्वर शरीर तैयार रखा जाता है। स्त्री के साथ समागम कर स्त्री के उदर में अचेतन वीर्य बिन्दु डाला जाता है, जिससे गर्भ रहता है। वह गर्भ किस प्रकार जीवित रहता है, यह तू जानता है। जिस उदर में जा कर खाये हुए समस्त पदार्थ पच जाते हैं, उसी उदर में गर्भ, खाये हुए अन्नादि पदार्थों की तरह क्यों नहीं जीर्ण हो जाता? जिस उदर में मूत्र और विष्ठा सदा भरा रहता है, वहाँ स्थित गर्भ में रहने वाला और गर्भ से वाहिर निकलने वाला जीव स्वतंत्र नहीं है। अनेक जीव गर्भ-स्राव होने से बह जाते हैं, बहुत से उत्पन्न हो जाते हैं और बहुत से उत्पन्न हो कर मर जाते हैं। इस प्रकार योनि सम्बन्ध होने से जो पुरुष योनि में वीर्य छोड़ता है उसके सन्तान होता है और वह सन्तान बड़ा होने पर स्वयं मैथुन कर्म में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार इस सृष्टि का क्रम हुआ करता है।

अनादिकाल के प्रवाह में बहते हुए शरीर का आयु क्षीण होने पर

शारीरस्थ पञ्चमहाभूत, सातवीं—स्थविर दशाओं, नवमीं—प्राणरोध की दशा को प्राप्त होते हैं। किन्तु शरीरस्थ आत्मा में इससे कुछ भी व्यतिक्रम नहीं होता। शारीरिक दस अवस्थाएँ ये हैं:—

१ गर्भवास, २ जन्म, ३ बाल्य, ४ कुमारावस्था, ५ पौगण्डावस्था, ६ यौवन, ७ स्थविरता, ८ जरा, ६ प्राणरोध और १० नाश।

[इन दस अवस्थाओं में बाल्यकाल ५ वर्ष तक, कुमारावस्था बारह वर्ष तक, पौगण्डावस्था सोलह वर्ष तक, यौवनावस्था अड़तालीस वर्ष तक और तदनन्तर जरावस्था समझनी चाहिये।]

बहेलिये से पीड़ित क्षुद्र मृगों की तरह जब मनुष्य रोगों से पीड़ित होने लगता है, तब वह उठ भी नहीं सकता। जब मनुष्य को रोग सताने लगते हैं, तब रोगी मनुष्य आरोग्यता लाभ करने को बहुत धन ख़र्च करता है। किन्तु वैद्य भी उसकी उस पीड़ा को दूर करने में समर्थ नहीं होते। बहेलिये के वश में पड़े मृग जैसे पीड़ित होते हैं, वैसे ही बड़ा भारी दवाख़ाना रखने वाले वैद्यों (और डाक्टरों) को भी रोगों से पीड़ित होना पड़ता है। तरह तरह के काढ़े और घृत खा कर भी लोग, हाथियों द्वारा नष्ट किये गये वृक्षों की तरह निर्बल होते हुए देख पड़ते हैं। इस धराधाम पर जब पशु पक्षी रोगी हो जाते हैं, तब उनकी चिकित्सा कौन करता है? प्रायः पशु, पक्षी और दरिद्र पुरुष बीमार बहुत कम होते हैं। किन्तु बड़े बड़े पशु जैसे क्षुद्र पशुओं पर आक्रमण करते हैं और उन्हें अपने वश में कर लेते हैं, वैसे ही रोग भी भयङ्कर, दुराधर्ष और तेजस्वी राजाओं को पकड़ कर, अपने वश में कर लेते हैं। इस प्रकार यह जगत अपने दुःख के कारण मुँह से शब्द तक नहीं निकाल सकता। यह मोह और शोक में निमग्न है। यह बलवान काल, प्रवाह में फँस, घसिटता हुआ चला जा रहा है। देहधारी जीव अपनी रक्षा करने के लिये, तैयार ही नहीं होता, बल्कि प्रयत्न भी करता है; किन्तु सब कुछ कर के भी अर्थात् धन, राज्य और कठोर तप द्वारा भी

वह शरीर का स्वभाव नहीं बदल सकता। यदि देहधारी अपने प्रयत्नों का फल पा सकते, तो न तो वे मरते और न बूढ़े ही होते। वे अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण कर लेते। वे कभी अनिष्ट न देखते। प्रत्येक मनुष्य उत्तरोत्तर अपनी वृद्धि ही चाहता है और यथाशक्ति बढ़ने के लिये उद्योग भी करता है, किन्तु उसका चाहा हुआ होता नहीं। ऐश्वर्य एवं धन के मद में चूर लोगों की ऐसे लोग सेवा करते हैं, जो सदा सावधान रहते हैं, जो प्रामाणिक समझे जाते हैं और जो शूर एवं पराक्रमी होते हैं। कितने ही पुरुषों का दुःख तब नष्ट हो जाता है, जब वे दुःख की ओर ध्यान देते हैं। अनेक जन ऐसे भी हैं, जिनके पास थोड़ा भी धन सञ्चित नहीं रहता। इस पर भी वे दुःखी नहीं देख पड़ते। इस प्रकार कर्मफल में बड़ी विषमता दृष्टिगोचर होती है। कितने ही पुरुष पालकी उठाते हैं तो कितने ही पालकी पर सवार हो कर जाते हैं। थोड़े लोगों के पास रथ भी होते हैं। बहुत लोगों के पास एक भी स्त्री नहीं होती और बहुत लोगों के पास सहस्रों स्त्रियाँ रहती हैं। सुख दुःख एक साथ रहते हैं। इनमें कितने ही प्राणियों को दुःख और कितनों ही को सुख होता है। तू इस अद्भुत व्यापार को देख और मोहित मत हो। तू धर्माधर्म का त्याग कर, सत्यासत्य का त्याग कर और जिसके साहाय्य से तू सत्यासत्य का त्याग करे, उसे भी तू त्याग दे। हे ऋषिश्रेष्ठ! यह मैंने तुझसे परम गोपनीय विषय कहा है। इसे जान कर मृत्यलोक त्याग देवता स्वर्ग में गये हैं।

नारद जी के इन वचनों को सुन कर, परम बुद्धिमान और धैर्यवान शुकाचार्य ने मन ही मन बहुत सोचा विचारा, किन्तु वे यह निश्चय नहीं कर सके कि, जब पुत्र स्त्री क्लेश के कारण हैं तथा वेदाभ्यास और विद्याध्ययन में बड़ी मेहनत करनी पड़ती है, तब स्वल्प-श्रम-साध्य कौनसा ऐसा कार्य है, जिससे पूर्ण उन्नति हो? तदनन्तर धर्मपरावरज्ञ शुक ने मुहूर्त भर मन ही मन विचार किया। अन्त में उन्होंने निःश्रेयस सम्ब-

न्धी परमगति ही का निर्णय किया। वे मन ही मन विचारने लगे कि, मैं जीवन मरण से छूट कर क्यों कर उत्तम गति प्राप्त करूँ? मैं तो उस ब्रह्मभाव प्राप्ति की आकाँक्षा करता हूँ, जहाँ से लौट कर पुनः यहाँ आना नहीं पड़ता। समस्त कर्मों के अनुराग को त्याग कर उत्तम गति पाना ही ठीक है। मैं वहीं जा कर रहूँगा जहाँ मेरे आत्मा को शान्ति मिलेगी और जहाँ अक्षय्य, अव्यक्त और सनातन आत्मा रूप में रहना होता है। किन्तु यह ब्रह्मरूप परमगति की प्राप्ति विना योगाभ्यास किये हो भी तो नहीं सकती। क्योंकि ज्ञानी पुरुष का देहबन्धन कर्म करने से छूट भी तो नहीं सकता। अतः मैं योगाश्रय कर के, गृह रूपी शरीर को त्याग कर और वायुरूप बन कर, तेजपुञ्जरूपी दिवाकर में प्रवेश करूँगा। जैसे सोमलोक में गया हुआ जीव, देवताओं के साथ अपना पुण्य क्षीण होने पर काँप उठता है और भूमि पर गिरता है और जब पुण्य बढ़ता है तब वह फिर स्वर्ग में जाता है और अर्चिराज मार्ग से तेजपुञ्ज दिवाकर में घुसने वाले को पुनः इस मृत्युलोक में नहीं आना पड़ता। चन्द्रमा भी नित्य क्षीण होता है और फिर वृद्धि को प्राप्त होता है। यह जान कर मैं चन्द्रलोक में जाना नहीं चाहता। सूर्य अपनी प्रखर किरणों से सब लोकों को तपाता है। वह सब पदार्थों के रसों को खींचता है। उसका मण्डल घटता बढ़ता नहीं। सदा अक्षय्य रहता है। अतः मैं तो प्रकाशवान् सूर्यमण्डल में प्रविष्ट होना चाहता हूँ। मैं सूर्यमण्डल में निडर हो रहूँगा और वहाँ मेरा कोई तिरस्कार भी न कर सकेगा। अतः इस शरीर को सूर्यगृह में डाल, मैं ऋषियों के साथ, अत्यन्त दुःसह सूर्यतेज में प्रवेश करूँगा। अब मैं वृक्षों, हाथियों, पर्वतों, दिक्पालों, आकाश, देवों, दानवों, गन्धर्वों, पिशाचों, सर्पों और राक्षसों से कहता हूँ कि, मैं इस जगत में बसने वाले समस्त प्राणियों में निस्सन्देह प्रवेश करूँगा। समस्त देवगण तथा ऋषिगण मेरे योगबल को देखें।

इस प्रकार अपने मन में निश्चय कर, शुकदेव ने नारद जी को विदा

किया और उनसे अनुमति माँग वे अपने पिता के निकट गये। शुकाचार्य ने अपने पिता को प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की। तदनन्तर अर्चिराजमार्ग से गमन करने की उनसे आज्ञा माँगी। शुक के वचन सुन, व्यास जी हर्षित हुए और बोले—हे वत्स! जब तक मैं तुझे देख अपने नेत्रों को प्रसन्न करूँ, तब तक तू खड़ा रह। किन्तु शुक तो अब निरपेक्ष हो गये थे—उन्हें किसी वस्तु की अब अपेक्षा नहीं रह गयी थी। उनमें अनुराग भी नहीं रह गया था और उनके समस्त संशय दूर हो गये थे। अतः मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से उन्होंने वहाँ से तुरन्त चल देने ही का निश्चय किया। अतः मुनिसत्तम शुकदेव जी अपने पिता को त्याग कर, सिद्धपुरुषों से सेवित विशाल कैलास पर्वत की ओर चल दिये।

तीनसौ बत्तीस का अध्याय

शुक का अन्तरिक्ष-गमन

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! शुकदेव कैलास पर्वत की चोटी पर पहुँच तृणरहित एक स्वच्छ स्थान पर बैठे। योग के क्रम को जानने वाले शुकदेव जी ने भी चरण से ले कर शिखा पर्यन्त समस्त अङ्गों में शास्त्रोक्त विधि से आत्मा की भावना करनी आरम्भ की। कुछ काल के बाद सूर्योदय हुआ। उस समय शुकदेव जी पूर्व विमुख हो और हाथ पैर ढीले कर एक विनम्र पुरुष की तरह बैठ गये। शुकदेव जी जहाँ आसन लगाये बैठे थे, वहाँ पक्षी एक भी न था। वहाँ किसी का शब्द भी नहीं सुन पड़ता था और न वह स्थान किसी को देख ही पड़ता था। उस समय शुक ने सब अंगों से रहित अपने आत्मा के दर्शन किये। इस प्रकार के आत्मा को देख शुकदेव जी खिलखिला कर हँसे। उन्होंने मोक्ष-मार्ग प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास करना आरम्भ किया और योगेश्वर

हो, वे आकाश में उड़ने लगे। तदनन्तर देवर्षि नारद की प्रदक्षिणा कर, उनसे अपनी योगसिद्धि की बात कही। शुक बोले—हे तपोधन! मुझे मोक्षमार्ग विदित हो गया। अब मैं वहाँ जाता ही हूँ। आपका मङ्गल हो। मैं आपके अनुग्रह से इष्ट गति प्राप्त करूँगा।

यह सुन नारद जी ने उन्हें जाने की आज्ञा दी। तब व्यासनन्दन शुकदेव जी ने नारद जी को प्रणाम किया और योगबल से वे आकाश में जा पहुँचे। उन्होंने उड़ने का निश्चय कर वायु का रूप धारण किया था। अतः वे कैलास शिखर को छोड़ आकाश में उड़ने लगे। सब प्राणियों ने गरुड़ जैसी कान्ति वाले और द्विजश्रेष्ठ शुक को, मन और पवन की तरह वेग से उड़ते हुए देखा। उस समय शुक को, तीनों लोक अग्नि और सूर्य की तरह प्रकाश युक्त ब्रह्म की तरह, देख पड़े। तब वे उस दीर्घ मार्ग पर आगे को बढ़ने लगे। मन को एकाग्र एवं शान्त कर, निर्भीक हो आगे को बढ़ते हुए शुकदेव की ओर स्थावर जङ्गम—समस्त प्राणी निहारने लगे। उस समय प्राणि मात्र ने अपनी शक्ति और रीति के अनुसार शुकदेव का पूजन किया और देवताओं ने उन पर फूल बरसाये। अप्सराएँ गन्धर्व तथा सिद्ध ऋषि भी शुकदेव जी को देख विस्मित हुए। वे सोचने लगे कि, यह कौन है जो ऊपर को मुख कर, आकाश की ओर चढ़ता चला आ रहा है? हर्ष में भरा और तप से सिद्धि पाने वाला यह कौन है? त्रिलोक-प्रसिद्ध धर्मात्मा शुकाचार्य पूर्व दिशा में सूर्य की ओर मुख कर तथा वाणी को अपने वश में कर, अपने वेग के शब्द से समस्त आकाश को परिपूर्ण करते आगे को बढ़ते चले गये। पञ्चचूड़ आदि अप्सराओं के समूह भी शुक को सहसा आते देख, मन ही मन डरे, विस्मित हुए और उनके नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये। वे कल्पनाएँ कर कहने लगे कि, इस उत्तम गति को प्राप्त हुआ, यह कोई देवता होगा। यह कोई निस्पृही मुक्त पुरुष आ रहा है। इतने में उर्वशी और पूर्वचित्ति नाम्नी अप्सराओं के निवास-स्थान मलय पर्वत

पर शुकदेव जी जा पहुँचे। ब्रह्मर्षि के पुत्र शुकदेव को देख और अति विस्मित हो उर्वशी कहने लगी—वेदाभ्यास-परायण इस ब्राह्मण में कैसी अनुपम एकाग्रता है। पिता की सेवा कर, श्रेष्ठ बुद्धि शुकदेव चन्द्रमा की तरह आकाश में भ्रमण कर रहा है, यह पितृभक्त, दृढ़ व्रत और पिता का लाड़ला बेटा है। इसे छोड़ अन्य किसी पर प्रीति न रखने वाले वेदव्यास ने इसे यहाँ आने की अनुमति क्यों कर दे दी?

उर्वशी के इन वचनों को शुकदेव जी ने सुना, तब उन्होंने चारों ओर निहारा। उन्होंने ऊपर, नीचे, पर्वत, वन, महावन, सरोवर तथा नदी—सब ओर निगाह दौड़ायी। उस समय समस्त देवगण हाथ जोड़े हुए शुकदेव की ओर देखने लगे। तदनन्तर परम धर्मज्ञ शुकदेव जी ने देवताओं से कहा—यदि मेरे पिता—हे शुक! हे शुक! पुकारते हुए मेरे पीछे आवें, तो तुम मेरी ओर से, सावधानता पूर्वक उनको उत्तर देना। आप सब मेरे इस कहने को मान लें। शुक के इन वचनों को सुन, दिशाओं, वनों, समुद्रों, नदियों और पर्वतों ने शुक को चारों ओर से उत्तर दिया—हे द्विज! बहुत ठीक! बहुत ठीक! आप जिस प्रकार आज्ञा देते हैं, तदनुसार ही होगा। व्यास जी जब आपको टेरेंगे, तब हम उनको उत्तर देंगे।

तीनसौ तैंतीस का अध्याय

छायाशुक को वर

भीष्म जी बोले—हे राजन्! महातेजस्वी विप्रर्षि शुक, यह कह और चारों प्रकार के दोषों को परित्याग कर, सिद्धि पाने के लिये चले।

[नोट—१ धर्म, २ शास्त्रीय ज्ञान, ३ वैराग्य, ४ ऐश्वर्य अथवा १ पापसंसर्ग, २ क्रोध, ३ लोभ और ४ मोह—ये चार प्रकार के दोष हैं।]

तदनन्तर वे निर्गुण, समस्त चिन्हों से रहित और नित्य-स्थान-रूपा परब्रह्म में जब स्थित हुए; तब निर्धूम अग्नि की तरह, प्रकाशित होने लगे। जिस समय वे ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए, उस समय तारे गिरने लगे। दिशाओं में दाह उत्पन्न हो गया और पृथिवी काँपने लगी। इस प्रकार यह आश्चर्यप्रद घटना घटी थी। वृक्षों की डालियाँ टूटी थीं। पर्वतों के शिखर टूट टूट कर गिर पड़े थे। उस समय ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ कि, सूर्य का तेज फीका पड़ गया, अग्नि स्थगित हो गये और जलस्रोत, सरिताएँ तथा सरोवर का जल उफनने लगा। इन्द्र ने मधुर एवं सुगन्धित जल की वृष्टि की और शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन चलने लगा। शुक को दो सुन्दर शिखर देख पड़े। उन दोनों शिखरों में एक हिमालय का और दूसरा सुमेरु पर्वत का था। वे दोनों परस्पर सटे हुए थे। उनमें एक पीतवर्ण वाला सुवर्ण का था और दूसरा श्वेतवर्ण शिखर चाँदी का था। वे दोनों सौ सौ योजन लंबे चौड़े थे। जब शुक पूर्व से उत्तर दिशा की ओर घूमे; तब वे दोनों पर्वतशृङ्ग उन्हें देख पड़े। तब वे उड़ कर झट उनके ऊपर जा बैठे। उनके बैठने ही उनके दो टुकड़े हो गये। यह देख सब लोग बड़े विस्मित हुए। तब शुकदेव उन दोनों शिखरों से निकल आये और वह पर्वतश्रेष्ठ उनकी गति को रोक न सका। जब उस पर्वतवासी गन्धर्वों और ऋषियों ने देखा कि, उस पर्वत के दो खण्ड हो गये हैं और शुकदेव जी उस पर्वत को लाँघ आगे निकल गये हैं; तब वे हर्षध्वनि करने लगे। उस पर्वत पर चारों ओर "बहुत अच्छा," "बहुत अच्छा" का शब्द सुन पड़ने लगा। देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों, ऋषियों और राक्षसों के समूह और विद्याधरों की मण्डलियों ने शुक का पूजन किया। उन लोगों ने दिव्य पुष्पों की वर्षा कर आकाश को ढक दिया। ये समस्त घटनाएँ, हे राजन्! उस समय हुईं, जब शुकदेव अन्तरिक्ष में उड़ रहे थे। उस समय वनों में वृक्षों पर फूल खिल रहे थे। गङ्गा में अप्सराएँ नग्न हो जलक्रीड़ा कर रही थीं।

आकाररहित शुकदेव को देख कर, उन नग्न अप्सराओं को लज्जा न जान पड़ी।

उधर शुक को सिद्धि की प्राप्ति के लिये गया हुआ जान, उनके स्नेही पिता योगबल से शुकदेव के पीछे दौड़े। उस समय शुक उड़ते उड़ते, पवनलोक से भी ऊपर आकाशमार्ग में जा पहुँचे थे और योगबल से ब्रह्मस्वरूप हो गये थे। व्यास जी पल भर में वहाँ जा पहुँचे, जहाँ से शुकदेव जी उड़े थे। उन्होंने वहाँ पहुँच कर देखा कि, शुक एक पर्वत के दो टुकड़े कर के चले गये हैं। उस समय वहाँ रहने वाले ऋषियों ने व्यास जी से उनके पुत्र के करतब कहे। तब व्यास जी, हे शुक! हे शुक! कह कर चिल्लाये। अपने पिता को अपना नाम ले चिल्लाते और त्रिलोकी को गुञ्जायमान करते देख, सब के आत्मारूप और समस्त दिशाओं में व्याप्त धर्मात्मा शुक ने "भो!"; एकाक्षरी नाद से उत्तर दिया। वह शब्द स्थावर-जङ्गमात्मक जगत में प्रचलित हो गया। तब से उत्तर रूप में यह अक्षर आज तक व्यवहृत किया जाता है। शुकदेव जी ने शब्दादि विषयों को परित्याग कर, अपना प्रभाव दिखलाया और अन्तर्हित हो कर, परम-पद पाया।

व्यासदेव अपने पुत्र की अपार महिमा को देख और पुत्र के सम्बन्ध में विचार करते हुए पर्वतशिखर पर बैठ गये। उस समय गङ्गातट पर नग्न अप्सराएँ क्रीड़ा कर रही थीं। मुनिश्रेष्ठ व्यासदेव को देख वे सब लजा गयीं। कितनी ही तो झटपट जल में घुस गयीं, कितनी ही वृक्षों की आड़ में चली गयीं और बहुत अप्सराओं ने झटपट कपड़े पहन लिये। उस समय अपने पुत्र की मुक्तदशा को देख कर, व्यास जी को बड़ी प्रसन्नता हुई और अपने को संसार में फँसा हुआ देख, वे बहुत लज्जित हुए। इतने में देवता और गन्धर्वों से घिरे हुए और महर्षियों से पूजित भगवान् शङ्कर हाथ में पिनाक धनुष लिये हुए व्यास जी के सामने आये। पुत्रशोक से पीड़ित व्यास जी को आश्वासन प्रदान कर, महादेव

बोले—हे व्यास ! प्रथम तुमने मुझसे अग्नि, भूमि, जल, वायु और आकाश के समान पराक्रमी पुत्र की याचना की थी। तुम्हारे तपोबल से तुम्हें वैसा ही पवित्रात्मा पुत्र प्राप्त हुआ। हे विप्रर्षे ! उसने वह दुर्लभ गति पायी है जो देवताओं और अजितेन्द्रियों को दुष्प्राप्य है। फिर तुम दुःखी क्यों होते हो। जब तक इस धराधाम पर पर्वत रहेंगे और जब तक समुद्र रहेंगे; तब तक तुम्हारी और तुम्हारे पुत्र की कीर्ति अटल बनी रहेगी। हे महामुने ! तुम इस लोक में मेरे अनुग्रह से अपने पुत्र के समान ही छाया को सदा सर्वत्र व्याप्त देखोगे।

हे धर्मराज ! तुम्हारे पूछने पर मैंने तुम्हें यह सविस्तृत शुकदेव चरित सुनाया। हे राजन् ! प्रथम देवर्षि नारद जी ने तथा पीछे महायोगी व्यास ने कथाओं के प्रसङ्ग में यह कथा कई बार कही थी। जो शान्तिपरायण पुरुष मोक्ष-धर्म-सूचक इस पवित्र व्याख्यान को सुनता और इस पर मनन करता है उसे परमगति मिलती है।

तीनसौ चौंतीस का अध्याय

नर, नारायण, स्वयम्भू और कृष्ण

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी को यदि मोक्ष की कामना हो तो उसे किस देवता की आराधना करनी चाहिये ? मनुष्य को कौनसा कर्म करने से स्वर्ग मिलता है ? मनुष्यों को किस विधान से देव-पितृ-पूजन करना चाहिये। मुक्त पुरुष की क्या गति होती है ? मोक्ष का कैसा स्वरूप है ? स्वर्गप्राप्त मनुष्य को पुनः यहाँ न आना पड़े—इसका क्या उपाय है ? देवताओं के देवता कौन हैं ? पितरों के पितर कौन हैं ? पितरों के पिता से भी बढ़ कर कौन है ? हे पितामह ! आप अब मुझे यह बात बतलावें।

भीष्म जी बोले—हे अनघ ! तुम प्रश्न करने में बड़े कुशल हो। अतः तुमने ये प्रश्न ऐसे निगूढ़ पूछे हैं कि, बिना देवताओं की कृपा हुए और बिना शास्त्र-ज्ञान हुए, कोरे तर्कों से इसका उत्तर सौ वर्षों में भी नहीं दिया जा सकता। हे शत्रुघ्न ! यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर परम गहन है; तो भी मैं तुम्हें तो उत्तर दूँगा ही। इस विषय सम्बन्धी नारायण और नारद का संवादात्मक एक पुरातन इतिहास है। बहुत दिन हुए तब मेरे पिता ने मुझसे कहा था कि, सनातन चार मूर्ति वाले नारायण ने धर्म-पुत्र बन कर जन्म लिया था। प्रथम सत्ययुग में स्वायम्भुव नामक मन्वन्तर में नर, नारायण, हरि और स्वयम्भू कृष्ण हुए। इनमें अविनाशी नर और नारायण कनकमय रथ पर सवार हो बदरिकाश्रम में गये और वहाँ उग्रतप किया। वह (शरीर रूपी) रथ आठ पहियों वाला और भूत (पञ्चमहाभूत) युक्त एवं रमणीय था। वे दोनों आदि देवता और लोकों के नाथ कठिन तपस्या कर कृश हो गये थे। यहाँ तक कि, उनके शरीरों की नसें निकल आयी थीं। उनके तपःतेज के कारण उनकी ओर देवता तक नहीं देख सकते। उन दोनों की जिस पर कृपा होती, वही उनके दर्शन कर पाता था। उन दोनों की अनुमति से अन्तर्यामी ने नारद के मन में प्रेरणा की। तब नारद जी मेरुपर्वत के शृङ्ग से गन्धमादन के शिखर पर पहुँचे। वहाँ से वे समस्त लोकों में घूमने लगे। हे राजन् ! घूमते घूमते शीघ्रता से चलने वाले नारद जी बदरिकाश्रम में पहुँचे। नर नारायण के आन्हिक कृत्यों को देख, नारद जी को बड़ा कौतूहल उत्पन्न हुआ। वे मन ही मन विचारने लगे कि, यह तो उन्हींका स्थान है, जिनमें देवताओं, असुरों, गन्धर्वों, किन्नरों और महाउरगों सहित समस्त लोकों का निवास है। प्रथम ये दोनों एक रूप थे। पीछे ये चार रूपधारी हो गये। इन चारों ने धर्माचरण कर धर्म की वृद्धि की है। यही नहीं, किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि, आज भी नर, नारायण, हरि और श्रीकृष्ण की धर्म पर कृपा बनी हुई है। कारण-विशेष-वश

प्रथम हरि और कृष्ण भी इसी स्थान पर रहते थे। किन्तु अब तो धर्माचरण-परायण नर और नारायण ऋषि ही यहाँ तप करते हैं। नर और नारायण परमधाम रूप हैं। तब भी ये फिर कैसा आन्हिक कर्म करते होंगे। ये स्वयं समस्त प्राणियों के पिता रूप हैं, देवता रूप हैं; यशस्वी हैं और बड़े बुद्धिमान हैं। यह सब होने पर भी ये किस देवता का पूजन आराधन करते हैं और कौन से पितरों का तर्पण करते हैं। जब नारद ने इस प्रकार भक्ति सहित नारायण के विषय में विचार किया, तब वे उन दोनों के निकट गये। जब नर और नारायण देवाराधन कर पितृतर्पण कर चुके; तब उन्होंने आँख उठा नारद जी की ओर देखा और शास्त्र में वर्णित विधि से उनका पूजन किया। अन्य देवताओं और पितरों का तथा अपना पूजन होते देख, भगवान् नारद वहाँ बैठ गये। फिर हर्षित हो नारद जी ने नारायण को प्रणाम किया और कहने लगे—वेदों, वेदाङ्गों, उपाङ्गों और पुराणों में आपका यशोगान किया गया है। आप अजन्म, शाश्वत, धाता, जगत के उत्पादक और अमृत-रूप-परमकल्याण करने वाले हैं। बीता हुआ और आगे होने वाला जगत् आपमें स्थित है। हे देव! गृहस्थाश्रम-प्रधान चारों आश्रम आप ही से प्रवर्त्तित हुए हैं। अनेक मूर्तिधारी आप ही का, गृहस्थाश्रमी नित्य भजन किया करते हैं। आप जगत् के माता पिता और सनातन गुरु हैं। तब भी आप स्वयं किस देवता का पूजन किया करते हैं और वे कौन से पितर हैं, जिनका आप तर्पण किया करते हैं?

भगवान् ने कहा—नारद यह बात तुम किसी से कहना मत। यह परम गोपनीय बात है, किन्तु है सनातन। हे ब्रह्मन्! तुम मेरे भक्त हो। अतः मैं तुम्हारे प्रश्न का यथोचित उत्तर देता हूँ। सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल, ध्रुव एवं इन्द्रियातीत जो तत्त्व है, वही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा रूप है। वही क्षेत्रज्ञ कहलाता है। उसको लोग "पुरुष" नाम से कल्पना करते हैं और वह रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण से रहित

है। उसीसे तीन गुणों वाला अव्यक्त उत्पन्न होता है। व्यक्त अव्यक्त भावों वाले को अविनाशी प्रकृति तत्व कहते हैं। यह प्रकृति हम दोनों की योनि अर्थात् मूल है। जो देव सत् (कारण) और असत् (कार्य) रूप है, उसी देव (आत्मा) का हम पूजन करते हैं। क्योंकि देवता और पितरों के कार्यों में भी हम उसी देवता ही का पूजन करते हैं।

हे द्विज! इस देवता से बढ़ कर अन्य कोई देवता नहीं है, न कोई पितर है। हम तो उसे आत्मस्वरूप ही समझते हैं और उसे आत्म-स्वरूप मान कर, उसका पूजन करते हैं। हे ब्राह्मण! उन्हींने लोकोत्पत्ति की मर्यादा बाँधी है और यह उन्हींकी आज्ञा है कि, देव-पितृ-कार्य करने चाहिये। ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, यम, मरीचि, सोम, कर्दम, क्रोध, विक्रीत—ये प्रजापति हैं और इनकी उत्पत्ति आदिदेव से हुई है। सनातन देव की यह मर्यादा उन्हींकी बाँधी हुई है। जो ब्राह्मणोत्तम यथार्थरीत्या देव-पितृ-कर्म कर के, अपनी कामनाएँ सफल करते हैं, स्वर्ग-वासी अनेक देहधारी उनको प्रणाम कर, उनकी निर्मित गति और फल को पाते हैं। जो पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन तथा बुद्धि अव्यक्त गुण कहलाते हैं, उन (१७) गुणों से रहित तथा शुभाशुभ कर्मों से रहित और १५ कलाओं से रहित पुरुष मुक्त कहलाते हैं। यह शास्त्र का मत है। हे द्विज! शास्त्रों में मुक्तों की गति को क्षेत्रज्ञ बतलाया गया है। क्षेत्रज्ञ सर्व-गुण-सम्पन्न है और निर्गुण भी है। ज्ञान द्वारा उसका दर्शन भी किया जाता है। हमारी उत्पत्ति भी उसीसे हुई है। यह जान कर ही हम उन सनातन परमात्मा का आराधन करते हैं। वेदज्ञ तथा आश्रमी भी विविध प्रकार के अवतार धारण करने वाले परमात्मा की भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं और परमात्मा उन्हें मुक्ति प्रदान करता है। इस संसार में जो उसकी भावना वाले हो चुके हैं और जो एक परिणाम वाली एकान्तत्व की स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं, उनको विशेष लाभ यह है कि, वे पर-मात्मा के स्वरूप में प्रविष्ट होते हैं। हे विप्रर्षे! तुम्हारी भक्ति और अपने

में तुम्हारा प्रेम देख, मैंने यह गोप्य विषय तुमसे कहा है। मेरा तुम्हारे ऊपर अनुग्रह है। इसीसे तुम्हें यह बात बतलायी है।

तीनसौ पैंतीस का अध्याय

श्वेतद्वीप का वृतान्त

भीष्म जी बोले—जब पुरुषोत्तम नारायण ने नारद जी से ये वचन कहे, तब नारद जी ने भी प्राणिश्रेष्ठ लोकहितैषी नारायण से कहा—

नारद जी बोले—स्वयम्भू आपने, जिस कार्य को सम्पादन करने के लिये धर्म के घर में चौर मूर्ति से जन्म धारण किया है, संसार की हितकामना से प्रेरित हो, उस कार्य को साधने के लिये, मैं आपकी आद्या प्रकृति के दर्शन करने को जाता हूँ। हे लोकनाथ! मैंने वेदों का स्वाध्याय किया है और तपश्चर्या की है। मैं आज तक कभी झूठ नहीं बोला। मैं गुरु-सेवा-परायण हूँ। मैंने दूसरों की गुप्त बातें कभी प्रकट नहीं की। शास्त्र में वर्णित विधि से मैंने हाथों, पैरों, उदर और उपस्थ की अनिष्ट कर्मों से रक्षा की है अर्थात् मैंने कभी कोई बुरा काम नहीं किया। मैं शत्रु मित्र में अभेद रखता हूँ। मैं आदिदेव के शरण में सदा रहता हूँ और अनन्यमना हो आदिदेव की भक्ति करता हूँ। मैं शुद्ध सत्व हूँ। अतः मैं ईश्वर के दर्शन क्यों न करूँ?

ब्रह्मपुत्र नारद जी के इन वचनों को सुन कर, सनातन-धर्म-रक्षक नारायण ने यथाविधि नारद का पूजन किया और उनसे कहा—अच्छा जाओ।

तब नारद जी ने उन पुराण ऋषि का पूजन किया। फिर योगेश्वर नारद जी आकाश की ओर उड़ कर चले गये और मेरु पर्वत पर जा पहुँचे। उस पर्वत के शिखर पर एकान्त स्थल में जा कुछ देर तक उन्होंने

विश्राम किया, तदनन्तर ज्यों ही उनकी दृष्टि वायव्यकोण की ओर गयी; त्यों ही उनको एक अद्भुत दृश्य देख पड़ा। उन्होंने देखा कि, क्षीरसागर को उत्तर दिशा में एक द्वीप है, जिसका नाम श्वेतद्वीप है। विद्वानों के मतानुसार श्वेतद्वीप मेरु-पर्वत से बत्तीस सहस्र योजन के फासले पर है। इस द्वीप में रहने वालों के स्थूल शरीर नहीं है। इसीसे उन्हें न तो अन्न खाने की आवश्यकता है और न जलपान करने की। उनके शरीरों से सुगन्ध निकला करती है। उनके शरीर का रङ्ग श्वेत है। वे सब पुरुष हैं और सर्वथा निष्पाप हैं। उन्हें देख पापीजन चकित हो जाते हैं। उनके शरीर और उनके शरीर की हड्डियाँ वज्र जैसी दृढ़ हैं। उनके निकट मानापमान एक सा है। वे दिव्य अंग और दिव्य रूपधारी हैं। वे शुभ लक्षणों से युक्त और यौगिक बलसम्पन्न हैं। उनके सिरों की आकृति छत्रों जैसी है। उनका कण्ठ-स्वर मेघगर्जन की तरह गम्भीर है। उनके वृषण शुष्क हैं। उनके पाद-तल में रेखाएँ हैं। उनके मुख में साठ दाँत और आठ डाढ़े तथा कई एक जिह्वाएँ हैं। श्वेत-द्वीप-वासी जन, अपनी असंख्य जिह्वाओं से सूर्यरूपी एवं विश्व-मुख देव को चाटा करते हैं। विश्व के रचयिता, वेद, धर्म, शान्ति मुनि तथा समस्त देवगण के बिना प्रयास उत्पन्न करने वाले देव का, श्वेतद्वीप वासी जन; मन में ध्यान किया करते हैं।

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह! श्वेत-द्वीप-निवासी जन, इन्द्रिय-रहित, आहाररहित, स्थिर नेत्र और सुगन्ध युक्त क्योंकर हो गये, उनकी उत्तम गति क्या है? जो मुक्त जीव श्वेतद्वीप मे जाते हैं, उनमें और वहाँ के निवासियों के लक्षणों में समानता क्या है? श्वेतद्वीप का वृत्तान्त सुन मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। अतः आप मेरे प्रश्न का उत्तर दे मेरा सन्देह दूर करें। क्योंकि आप तो सर्वज्ञ हैं और मैं आपके शरण हुआ हूँ।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! यह वृत्तान्त तो बहुत लंबा है।

पूर्वकाल में इस पृथिवी पर उपरिचर नामक एक राजा का राज्य था। वह इन्द्र का मित्र और नारायण का एक सुविख्यात् भक्त था। वह बड़ा धार्मिक और पितृ-भक्त भी था! वह तन्द्रा से रहित था। उसे नारायण के वरदान के प्रताप से चक्रवर्तीपना प्राप्त हुआ था। सूर्योपदिष्ट पाञ्चरात्र (सात्वत संहिता) विधि के अनुसार वह नारायण का पूजन करता था।

[नोट—पाञ्चरात्र अथवा सात्वत विधान से दक्षिण के दिव्यदेशों में आज भी भगवान् नारायण का पूजन किया जाता है। पाञ्चरात्र के अन्तर्गत एक दो नहीं—कई कोड़ी संहिताएँ हैं। श्री रामानुज-सम्प्रदाय में पाञ्चरात्र का विशेष आदर है।]

अवशिष्ट पूजन सामग्री से वह पितामहों का पूजन करता था। तिस पर भी जो कुछ बचता उससे वह ब्राह्मणों का पूजन करता और ब्राह्मणों के पूजन से जो कुछ बचता उसे वह अपने आश्रितों में बाँट दिया करता था। इस पर भी जो अन्न बचता, उसे वह स्वयं खाता पीता था। वह सदा सत्य बोलता और कभी किसी प्राणी को नहीं सताता था। वह देवदेव, आदि-मध्य-अन्त-रहित, जगत्-कर्त्ता एवं अविनाशी भगवान जनार्दन का बड़ा भक्त था। उस शत्रु-संहार-कारी राजा की भगवान् विष्णु में भक्ति देख, देवराज इन्द्र उसे अपने आसन पर और शय्या पर बिठाते थे। वह राजा राज्य, रानी तथा वाहनादि सर्वस्व को भगवान् मान, भगवद्भक्ति में निमग्न रहता था। वह नित्य नैमित्तिक कर्मों को पाञ्चरात्र-विधान से करता था। उसके यहाँ पाञ्चरात्र-विधान के ज्ञाता बहुत से विद्वान् रहते थे। वे प्रथम भगवान को खाद्य पदार्थ निवेदन करते, फिर भगवत्प्रसाद रूप उस अन्न को स्वयं खाते थे। शत्रु का नाश करने वाला और धर्म से राजकाज चलाने वाला वह राजा कभी असत्य भाषण नहीं करता था। उसका मन कभी दूषित नहीं हुआ था। उसने अपने शरीर से नाम मात्र को भी कभी कोई पापकर्म नहीं किया था। महातेजस्वी मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ नामक और

चित्र-शिखण्डी के नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षियों ने एकमत हो मेरुपर्वत पर जिस शास्त्र का उपदेश दिया था और जो चारों वेदों के अनुकूल था, जिसमें सात प्रकार का उत्तम लोकधर्म वर्णित है, उस पाञ्चरात्र शास्त्र के अनुसार वह राजा चलता था। वे सप्तर्षि सप्त प्रकृति रूप हैं और स्व-यम्भू ब्रह्मा जी आठवीं प्रकृति हैं। ये आठ प्रकृति समस्त संसार को धारण किये हुए हैं और इन्हींसे यह पाञ्चरात्र शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है। एकाग्रमना, जितेन्द्रिय, संयम-प्रिय, त्रिकाल-दर्शी एवं सत्य-धर्म-परायण ऋषियों ने जगत् का कल्याण करने के लिये अति हित-कर एवं ब्रह्मस्व-रूप पाञ्चरात्र शास्त्र की रचना की है। इस शास्त्र में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का यथार्थ वर्णन है और पृथिवी तथा स्वर्ग सम्बन्धी अनेक मर्यादाएँ हैं। उपर्युक्त सप्तर्षियों ने तथा अन्य महर्षियों ने एक साथ मिल कर एक सहस्र दिव्य वर्षों तक बड़ा परिश्रम कर, नारायण का आरा-धन किया था। तब भगवान् की आज्ञा से सरस्वती देवी ने लोक-हित-कामना से उन ऋषियों के शरीर में प्रवेश किया। तब उन तपस्वी ब्राह्मणों ने उस वाणी का शब्दों में, अर्थ में तथा हेतु में भली भाँति व्यवहार किया। तदनन्तर ओंकार तथा स्वरों से प्रतिष्ठित वह शास्त्र, ऋषियों ने ले जा कर सर्वप्रथम नारायण को सुनाया। उसे सुन नारायण प्रसन्न हुए और अदृश्य रह कर ऋषियों से कहा—एक लक्ष श्लोकात्मक तुम्हारे रचे हुए इस शास्त्र द्वारा संसार में लोक-धर्म का प्रचार होगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों के वर्णन में यह तन्त्र-शास्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अङ्गिरा के अथर्ववेद के सर्वथा अनुकूल है। हे विप्रो! मैंने शास्त्रानुसार ही हर्ष से ब्रह्मा को, क्रोध से रुद्र को और प्रकृतियों के प्रतिनिधि स्वरूप तम को उत्पन्न किया है। सूर्य, चन्द्र, वायु, भूमि, जल, अग्नि, समस्त नक्षत्र और भूतात्मक समस्त पदार्थ और वेद-शास्त्र-प्रवीण ऋषि, निज निज स्थानों में रह कर, अपने अपने कर्म किया करते हैं। जगत् में जैसे यह प्रामाणिक माने जाते हैं; वैसे ही तुम्हारा यह श्रेष्ठ शास्त्र भी प्रामा-

णिक माना जायगा। इसकी प्रामाणिकता में मेरा यह वचन प्रमाण है। मेरे वर के प्रभाव से यह प्रामाणिक होगा और स्वायम्भुव मनु स्वयं ही इस शास्त्र से कर्मों को मर्यादा बाँधेंगे।

जब शुक्राचार्य और बृहस्पति उत्पन्न होंगे, तब वे भी एक मत से तुम्हारे रचे हुए इस शास्त्र से धर्मोपदेश करेंगे। स्वायम्भुव मनु, शुक्राचार्य और बृहस्पति द्वारा जगत् में यह शास्त्र प्रचलित होगा। तदनन्तर प्रजापालक राजा उपरिचरवसु तुम्हारे रचे इस शास्त्र को पढ़ेगा। उस राजा की उत्तम बुद्धि होगी और वह मेरा भक्त होगा। वह इसी शास्त्र के अनुसार सब काम किया करेगा। तुम्हारा बनाया हुआ यह शास्त्र समस्त शास्त्रों से उत्तम माना जायगा। यह धर्म-अर्थ-प्रद शास्त्र पुण्यदायी और रहस्यमय होने से श्रेष्ठ होगा? तुम इस शास्त्र का जगत में प्रचार करने से मानव जाति की वृद्धि करने वाले माने जावोगे। राजा उपरिचरवसु भी राज्यलक्ष्मी पा कर, बड़ा आदमी होगा। राजा के मरते ही यह सनातन शास्त्र भी लुप्त हो जायगा।

पुरुषोत्तम भगवान् ने अदृश्य रह कर ये वचन कहे और ऋषियों को बिदा कर, वे स्वयं भी एक दिशा की ओर चल दिये। तदनन्तर सर्वलोक-हितैषी और लोकों के पितृरूप उन ऋषियों ने धर्म-मूल उस सनातन शास्त्र का संसार में प्रचार किया। तदनन्तर जब प्रथम युग में अङ्गिरा के घर में बृहस्पति का जन्म हुआ, तब उन्होंने वेद-वेदाङ्ग और उपनिषदों सहित पाञ्चरात्र शास्त्र बृहस्पति जी को पढ़ाया। तब वे सब धर्मज्ञ ऋषि तप करने का निश्चय कर, चल दिये।

तीनसौ छत्तीस का अध्याय

अश्वमेध-यज्ञ

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज ! महाकल्पान्त में अङ्गिरा के घर में बृहस्पति जी का जन्म हुआ। उन देव-गुरु के उत्पन्न होते ही देवताओं को शान्ति प्राप्त हुई। हे राजन् ! बृहत्, ब्रह्म और महत्—ये तीनों शब्द समानार्थ वाची हैं। अतः बृहत्व, ब्रह्मत्व और महत्व गुणों से युक्त उस बालक का नाम बृहस्पति रखा गया। वे अल्प समय ही में बड़े विद्वान् हो गये। राजा उपरिचरवसु उनके प्रधान शिष्य थे। उन्होंने बृहस्पति जी से चित्र-शिखण्डिज शास्त्र अर्थात् सप्तर्षि रचित उस शास्त्र को भली भाँति पढ़ा था। राजा उपरिचरवसु ने प्रथम देवविधि के अनुसार शुद्ध सत्व हो, इन्द्र के सुरलोक-पालन की तरह, अखण्ड भू-मण्डल का पालन किया था। इस महापुरुष राजा ने एक बार अश्वमेध यज्ञ किया। उपाध्याय बृहस्पति इस यज्ञ में होता बने। प्रजापति के पुत्र महर्षि एकत, द्वित और त्रित उस यज्ञ में सदस्य बने। फिर धनुषाख्य, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, मेधातिथि, ताण्ड्य, शान्ति, महाभाग वेदशिरा, ऋषिश्रेष्ठ शालिहोत्र के पिता ऋषिश्रेष्ठ कपिल, आद्य, कठ, वैशम्पायन के पूर्वज तैत्तिर, कण्व और देवहोत्र—ये सोलह ऋषि उस यज्ञ में दीक्षित हुए।

हे राजन् ! उस यज्ञ में महायज्ञ का सारा सामान इकट्ठा किया गया था और उसमें पशु-हत्या नहीं की गयी थी। यजमान राजा बड़ा श्रद्धालु था। राजा उपरिचरवसु स्वयं अहिंसक, पवित्र, उदारमना और कामनाओं से रहित था। उसके समस्त कर्म प्रशंसनीय थे। उस यज्ञ में वन्य पदार्थों ही का व्यवहार किया गया था। देव-देव भगवान् विष्णु राजा के ऊपर प्रसन्न हुए और उसके सामने प्रकट हो, उसे दर्शन दिये,

किन्तु अन्य किसी को उनका दर्शन नहीं हुआ। भगवान् विष्णु ने राजा उपरिचर के द्वारा दिये गये पुरोडाश को अदृश्य रह कर ही ग्रहण किया और उसे सूँघ कर उसे अङ्गीकार किया।

इस पर बृहस्पति जी कुपित हुए और स्रुवा उठा कर ऊपर को उछाल दिया। उस समय मारे क्रोध के उनके नेत्रों से आँसू निकल पड़े और उपरिचर से कहने लगे—यह पुरोडाश मैंने देवताओं को देने के लिये बनाया था। अतः देवताओं को प्रकट हो मेरे सामने इसे लेना चाहिये।

युधिष्ठिर ने पूछा—जब देवता प्रत्यक्ष आ कर अपने भाग लेते हैं; तब भगवान् विष्णु क्यों प्रत्यक्ष न हुए?

भीष्म जी बोले—धर्मराज! क्रुद्ध बृहस्पति को प्रसन्न करने के लिये राजा उपरिचित तथा अन्य यज्ञीय सदस्य उनकी स्तुति करने लगे और बोले—आपको क्रोध करना न चाहिये। क्योंकि सत्ययुग में क्रोध करने का निषेध है। आपने जिनके लिये यज्ञीय भाग निकाला है, वे देवता भी क्रोधशून्य हैं। उन्हें न तो आप और न हम ही देख सकते हैं। किन्तु वे देव जिस पर कृपालु होते हैं, उसीको उनका दर्शन मिलता है। इसके बाद एकत, द्वित, त्रित तथा चित्र-शिखण्डी कहने लगे—हम ब्रह्मा जी के मानस-पुत्र हैं। एक बार मोक्ष की कामना से हम लोग उत्तर दिशा की ओर गये थे। वहाँ अपने मन को अपने वश में कर और एक पैर से खड़े हो, हमने एक हज़ार वर्षों तक तप किया था। तप करते करते हमारा शरीर सूखी लकड़ी जैसा हो गया था। हमने मेरु पर्वत के उत्तर भाग में, क्षीरसागर के तट पर परम दारुण तप किया था। जब हम लोग मन ही मन यह विचार करते हुए कि हमें वरद, देवदेव, सनातन नारायण स्वरूप भगवान का दर्शन कैसे होगा, अवभृथ स्नान कर रहे थे, तब हमने हर्षकारिणी यह गम्भीर आकाशवाणी सुनी—हे ब्राह्मणो! तुमने हर्षित मन से भली भाँति तप किया है। तुम भगवद्भक्त हो और यह जानना चाहते हो कि, भगवान् के दर्शन तुम्हें किस प्रकार हों? अतः

सुनो। क्षीर-सागर के उत्तर में महाप्रभावान् श्वेतद्वीप है। वहाँ नारायण-परायण, चन्द्रवत् कान्ति वाले और परमैकान्ती भगवद्भक्त रहते हैं। इन्द्रिय-रहित, निराहारी, पलक न झपकने वाले और सुगन्ध वाले पुरुष सहस्रांशु सूर्य-मण्डल में प्रवेश करते हैं। वे श्वेतद्वीप-वासी एकमात्र नारायण ही को मानते हैं। तुम उसी श्वेतद्वीप में जाओ। वहाँ मेरा प्रत्यक्ष स्वरूप विद्यमान है।

इस आकाशवाणी को सुन, हम श्वेतद्वीप में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर हमें परमात्मा के दर्शन की इच्छा थी और उसीमें हमारा मन लगा हुआ था। किन्तु वहाँ पहुँचते ही हम सब अंधे से हो गये। क्योंकि उस तेजस्वी पुरुष के अमित तेज के कारण हमारी आँखें चौंधिया गयीं। अतः हम वहाँ के निवासी महापुरुषों के दर्शन न कर सके। दैवयोग से उस समय हमें यह ज्ञान हुआ कि, जिसने तप नहीं किया, वह इन महापुरुषों का दर्शन नहीं कर सकता। तब हमने सौ वर्षों तक बड़ा कठोर तप किया। हमारा तप पूर्ण हुआ और हमें वहाँ के रहने वाले महापुरुषों के दर्शन प्राप्त हुए। उनके शरीर गोरे थे। वे चन्द्रमा की तरह जान पड़ते थे और सर्व-लक्षण-युक्त थे। हाथ जोड़े हुए और पूर्व एवं उत्तर की ओर मुख कर, वे ब्रह्म का नाम जपा करते थे। वे मानसिक जप किया करते थे। भगवान् भी उनकी एकाग्रता देख उन पर प्रसन्न होते थे। प्रलय के समय जैसी सूर्य की कान्ति हो जाती है, वैसी ही कान्ति उस द्वीप में रहने वाले प्रत्येक मनुष्य की थी। यह देख कर हमने समझा कि, तेज का आश्रयस्थल यही है। उस द्वीप में कोई भी पुरुष दूसरे से अधिक तेजस्वी नहीं था। वहाँ सब मनुष्य समान तेज वाले थे। तदनन्तर, एक सहस्र सूर्य जैसा प्रकाश देख पड़ता है, वैसा प्रकाश हमने भी देखा। उस प्रकाश को देख, सब मनुष्य एकत्र हो गये और हर्ष में भर गये। वे हाथ जोड़ 'नमो नमस्ते' कहने लगे और उस ओर दौड़े। उनकी वह बड़ी जयध्वनि हमारे सुनने में आयी थी। वे

द्वीपवासी देवता को बलिदान देने लगे और उनके तेज से हमें तो चेत ही सा न रह गया। हमारी आँखों में चकाचौंध आ जाने से हमें कुछ भी न देख पड़ा। किन्तु उस द्वीपवासियों का उच्चारित एक महाशब्द अवश्य हम लोगों ने सुना। वह यह था—हे पुण्डरीकाक्ष! आपका जय हो। हे विश्वोत्पादक! आपको नमस्कार है। हे हृषीकेश! हे महापुरुष पूर्वज! आपको प्रणाम है।

इतने ही में पुण्य-गन्ध-वहा-पवन चलने लगा। तदनन्तर पाँच प्रकार के कालज्ञ और हरि के अनन्य भक्त और एकाग्र मन कर हरि भजन करने वाले उन पुरुषों ने भगवान् की मनसा, वाचा, कर्मणा, पूजा की। उन लोगों की बातचीत सुन कर हमने यह तो जान लिया कि, वहाँ भगवान् आये हैं। किन्तु हम उनकी माया से मोहित हो गये थे। अतः हमें भगवान् के दर्शन न हो पाये। तदनन्तर पवन शान्त हो गया और उन लोगों ने भगवान् को बलिदान दिया।

उस समय हमारे मन में बड़ी घबराहट पैदा हुई। वहाँ शुद्धात्मा सहस्रों जन थे। किन्तु उनमें से एक ने भी हमारा, दृष्टि से अथवा वाणी से सत्कार न किया। वे सब मुनि स्वस्थ थे। एक भाव से व्रत करते थे। उन ब्रह्मभाव का अनुष्ठान करने वालों ने भी हमारे प्रति किसी प्रकार का सन्मान प्रदर्शित न किया। उस समय तप करते करते अत्यन्त कृश होने के कारण, हम बहुत थके हुए थे. उस समय किसी शरीरावयव-रहित देवता ने कहा—तुमने समस्त इन्द्रियशून्य गोरे रंग के पुरुषों को देखा है। जो इन ब्राह्मणोत्तमों का दर्शन करता है, उसे देवेश के दर्शन होते हैं। तुम जिस मार्ग से यहाँ आये हो, उसी मार्ग से तुरन्त यहाँ से चल दो। जो इन देवताओं का भक्त नहीं है, उसे इनका दर्शन कभी नहीं होता। किन्तु जो बहुकाल तक परमात्मा की सन्निधि में रहते हैं, वे प्रभामण्डल के कारण दुर्निरीक्ष्य परमात्मा को देख सकते हैं। हे ब्राह्मणो! तुम्हें बड़ा भारी काम करना है।

जब यह सत्ययुग समाप्त होगा और पुनः वैवस्वत नामक मन्वन्तर में त्रेतायुग का आरम्भ होगा, तब संसार पर बड़ा भारी सङ्कट आवेगा। हे मुनियो! उस समय तुम देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिये उनके सहायक बनोगे।

इन अमृत तुल्य शुभ वचनों को सुन कर, उन देवताओं के अनुग्रह से हम शीघ्र ही अपने इष्टस्थान पर आ पहुँचे। इस प्रकार हमने भली-भाँति तप किया था और हव्य कव्य अर्पण किये थे। तिस पर भी हमें उन देव के दर्शन नहीं मिले। तब तुम उनके दर्शन क्यों कर पा सकते हो?

नारायण महापुरुष हैं, वे विश्व-रचयिता हैं और हव्य कव्य का उपभोग करने वाले हैं। वे आदि-अन्त-विवर्जित हैं। वे अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियातीत हैं। वे देव-दानव-पूजित हैं।

जब इस प्रकार एकत ने कहा और द्वित तथा त्रित ने अनुमोदन किया और सदस्यों ने समझाया बुझाया, तब उदारमना बृहस्पति ने यज्ञ पूरा करवाया। तदनन्तर परमात्मा का पूजन किया गया। राजा उपरिचर-वसु भी यज्ञ समाप्त कर प्रजा-पालन में लगे। फिर यथाकाल स्वर्गवासी हो ब्राह्मण-शाप से स्वर्गभ्रष्ट हो वह पुनः इस धराधाम पर आया।

हे राजसिंह! वह राजा सत्य-धर्म-परायण था। वह इस धराधाम पर आ कर भी प्रजावत्सल बना रहा। वह नारायण का भक्त बन, नारायण का नाम जपा करता था। नारायण की कृपा से वह मोक्ष पा गया। निष्ठावान पुरुषों द्वारा प्राप्त ब्रह्मस्थान की गति से भी उच्च-गति इस बार उपरिचरवसु को प्राप्त हुई थी।

तीनसौ सैंतीस का अध्याय

भगवान् की भक्तवत्सलता

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! राजा उपरिचरवसु जैसा भागवत् स्वर्गभ्रष्ट क्यों हुआ और पृथिवी के विवर में उसने किस कारणवश प्रवेश किया ?

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज ! इस विषय में भी ऋषियों और देवताओं का संवादात्मक एक पुरातन इतिहास है, जो इस प्रकार है। देवताओं ने एक बार द्विजोत्तमों से कहा तुम लोग यज्ञ में अज (बकरे) का हवन करना। अज का अर्थ बकरा समझना चाहिये। यज्ञ में अन्य पशु का हवन मत करना, क्योंकि शास्त्र की यही मर्यादा है।

ऋषियों ने कहा—श्रुति कहती है बीजों अर्थात् धान्य के पुरोडाश का होम करना चाहिये और वही बीज अज कहलाता है। अतः तुम्हें बकरे का होम न करना चाहिये। हे देवगण ! पशु का हवन करना सत्पुरुषों का काम नहीं है। अब तो युगों में श्रेष्ठ सत्ययुग है। इस युग में पशुवध क्यों कर अच्छा कार्य माना जा सकता है ?

भीष्म जी ने कहा—जब इस प्रकार ऋषियों में वादविवाद हो रहा था, इतने में दैवयोग से वहाँ नृपश्रेष्ठ उपरिचरवसु भी जा निकला। वाहनों और सेना सहित श्रीमान् उपरिचरवसु आकाश में विचर रहा था। उसे आते देख , देवता और ऋषि कहने लगे—हमारा सन्देह यह दूर करेगा। क्योंकि यह यज्ञ किये हुए है, दाता है, श्रेष्ठ है और यह समस्त प्राणियों पर प्रीति रखता है। अतः यह झूठ कदापि न बोलेगा। इस प्रकार देवता और ऋषि आपस में बातचीत कर और एकत्र हो राजा उपरिचरवसु के निकट गये और उससे पूछा—हे राजन् ! यज्ञ में अज से हवन करना चाहिये अथवा औषधियों से ? इस विषय में हम आपका कथन प्रमाण मानेंगे। अतः आप हमारा सन्देह मिटावें।

इस पर राजा वसु ने हाथ जोड़ कर उनसे पूछा—आप दोनों में ऋषियों का क्या मत है? मुझे यह बात सत्य सत्य बतलाइये। ऋषियों ने कहा—राजन्! हमारे मतानुसार तो धान्य से हवन करना उचित है। किन्तु देवगण पशु से होम करने को कह रहे हैं। अब आप बतलावें कि, इन दोनों मतों में ठीक मत कौनसा है?

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! देवताओं का मत जान, राजा वसु ने उनके मत का पक्षपात कर कहा—यज्ञ में बकरे का हवन करना चाहिये।

यह सुन कर, सूर्य समान तेजस्वी ऋषिगण क्रुद्ध हो गये और देवताओं का पक्ष करने वाले और विमानस्थ राजा उपरिचरवसु से बोले—तूने देवताओं का पक्ष लिया है। अतः तू स्वर्ग से नीचे गिर। राजन्! हमारे शाप से तू आज से अन्तरिक्ष मार्ग से आ जा न सकेगा और हमारे शाप से तू पृथिवी को फोड़ उसमें प्रवेश करेगा।

हे राजन्! ऋषियों के इस शाप के अनुसार, राजा आकाश से नीचे गिर, पृथिवी के विवर में घुस गया। किन्तु नारायण के अनुग्रह से राजा वसु को स्मृति (याद) बनी रही। तदनन्तर समस्त देवगण राजा वसु को शापमुक्त करने के लिये शान्तिपूर्वक विचार करने लगे। क्योंकि वह राजा बड़ा धर्मात्मा था और देवताओं के मत का पक्ष लेने के कारण उसे शापग्रस्त होना पड़ा था। अतः उन लोगों ने आपस में कहा कि, हमें मिल कर ऐसा कोई काम करना चाहिये, जिससे इस राजा का हित हो। अन्त में देवताओं ने बहुत सोच विचार कर निश्चय किया और वे हर्षित हो उपरिचरवसु से बोले—तुम ब्राह्मण-रक्षक और देवताओं के भक्त हो। श्रीनारायण देवताओं और दैत्यों के गुरु हैं। उनकी तुम्हारे ऊपर कृपा है। अतः वे तुम्हें इस शाप से मुक्त करेंगे, किन्तु तुम ब्राह्मणों का सदा आदर करना। हे नृपसत्तम! उन महात्माओं का तप अवश्य फल देगा। अतः तुम उनके शाप से सहसा आकाश से नीचे गिर पड़े

हो। किन्तु हम लोग तुम पर यह कृपा करते हैं कि, पृथिवी के विवर में रहने पर भी यज्ञों में दी हुई वसुधारा तुमको मिलती रहेगी। वसुधारा मिलने से तुम्हें पृथिवी के विवर में रहने पर भी किसी प्रकार की ग्लानि न होगी और भूख प्यास भी तुम्हें न सतावेगी। वसुधारा का पान करने से तुम्हारा तेज बढ़ेगा और हमारे वरदान से वे देव तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगे और तुम्हें ब्रह्मलोक में ले जावेंगे।

इस प्रकार राजा को देवता वरदान और ऋषिगण शाप दे, अपने अपने स्थानों को चले गये। हे राजन्! तदनन्तर राजा उपरिचर वसु ने विश्वक्सेन भगवान् की आराधना की और नारायण मंत्र का वे निरन्तर जप करने लगे। राजा वसु पृथिवी के विवर में रहते समय पञ्चमहायज्ञों को कर, श्रीहरि का पूजन नित्य किया करता था। अन्त में भगवान् नारायण हरि अपने अनन्य भक्त और जितेन्द्रिय वसु पर प्रसन्न हुए। उन वरद विष्णु ने निकटस्थ महावेगवान् गरुड़ के सामने अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया—हे महाभाग्यवान् पक्षिश्रेष्ठ! मैं जो कहता हूँ उसे तू ध्यान से सुन। धर्मात्मा और सदाचारी उपरिचरवसु नामक चक्रवर्ती राजा ऋषियों के शापानुसार पृथिवी के विवर में रहता है। वहाँ रहने पर भी वह ब्राह्मणों का सत्कार करता है। अतः अब तू वहाँ जा और मेरी आज्ञा से पृथिवी के विवर में रहने वाले और नीचे घूमने वाले उस नृपश्रेष्ठ को आकाशचारी बना और इस कार्य में विलम्ब मत कर।

यह सुन पवन सदृश वेगवान गरुड़ उड़ कर, उस पृथिवी-विवर में झट जा पहुँचे; जहाँ राजा उपरिचर वसु रहते थे। वे उन्हें उठा, एक साथ आकाश में उड़े और उन्हें वहीं आकाश में छोड़ दिया। तब से वह राजा पुनः उपरिचर अर्थात् आकाशचारी हो गया और सशरीर ब्रह्मलोक को चला गया। राजा वसु देवताओं का पक्षपात कर, वाणी-दोष से दूषित हुआ था। अतः उस महात्मा की भी ऋषियों के शाप से अधोगति हुई थी। किन्तु उस राजा ने श्रीनारायण की सेवा की

थी। अतः वह तुरन्त ही ब्राह्मण-शाप से छूट गया था और ब्रह्मलोक में गया था।

भीष्म जी बोले—श्वेतद्वीप वासी लोग कैसे हैं, यह तो मैं तुम्हें बतला ही चुका। अब मैं तुम्हें नारद जी के उस द्वीप में जाने का कारण भी बतलाता हूँ। तुम मन को एकाग्र कर, सुनो।

तीनसौ अड़तीस का अध्याय

नारायण-स्तव

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! नारद जी श्वेतद्वीप में पहुँचे और वहाँ उन्होंने चन्द्रमा जैसे गौराङ्ग मनुष्यों को देखा और मस्तक झुका, उनको प्रणाम कर, उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। इस पर उन लोगों ने भी नारद जी के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। फिर भगवान् विष्णु के दर्शन करने की कामना से नारद जी वहाँ पुराणपुरुष के नाम को जपते हुए, अति कठोर व्रत धारण कर, वहाँ रहने लगे। उन्होंने दोनों हाथ ऊपर उठा—सगुण, निर्गुण एवं विश्वात्मा भगवान् की इस प्रकार स्तुति की।

नारद जी ने कहा—हे देवदेवेश! हे निष्क्रिय! हे निर्गुण! हे लोकसाक्षिन्! हे क्षेत्रज्ञ! हे पुरुषोत्तम! हे अनन्त! हे पुरुष! हे महापुरुष! हे त्रिगुण! हे प्रधान! हे अमृत! हे अमृताख्य! हे अनन्ताख्य! हे व्योम! हे सनातन! हे सदसद्व्यक्ताव्यक्त! हे ऋतुधाम! हे अनादिदेव! हे वसुप्रद! हे प्रजापते! हे सुप्रजापते! हे वनस्पते! हे महाप्रजापते! हे ऊर्जस्पते! हे मरुत्पते! हे सलिलपते! हे पृथिवीपते! हे दिक्पते! हे पूर्व-निवास! हे गुह्य! हे ब्रह्मपुरोहित! हे ब्रह्मकायिक! हे महाराजिक! हे चातुर्महाराजिक! हे भासुर! हे महाभासुर! हे सप्त

महाभाग ! हे याम्य ! हे महायाम्य ! हे संज्ञासंज्ञ ! हे तुषित ! हे महा-तुषित ! हे प्रमर्दन ! हे परिनिर्मित ! हे अपरिनिर्मिता ! हे वशवर्ति ! हे अपरिनिन्दित ! हे परिमित ! हे वशवर्तिन् ! हे अवशवर्तिन् ! हे यज्ञ ! हे महायज्ञ ! हे यज्ञसम्भव ! हे यज्ञयोने ! हे यज्ञगर्भ ! हे यज्ञहृदय ! हे यज्ञस्तुत ! हे यज्ञभागहर ! हे पञ्चमहायज्ञरूप ! हे पञ्चकाल कर्तृपते ! हे पाञ्चरात्रिक ! हे वैकुण्ठ ! हे अपराजित ! हे मानसिक ! हे नाम-नामिक ! हे परस्वामिन् ! हे सुरनाभ ! हे हंस ! हे परमहंस ! हे महाहंस ! हे परम याज्ञिक ! हे सॉंख्य-योग-रूप ! हे सॉंख्य मूर्ते ! हे अमृतेशय ! हे हिरण्यशय ! हे देवेशय ! हे कुशेशय ! हे ब्रह्मेशय ! हे पद्मेशय ! हे विश्वेश्वर ! हे विश्वक्सेन ! आप जगत में ओतप्रोत हो रहे हैं। आप जगत् के प्रकृतिरूप हैं। अग्नि आपका मुख है। वड़वा के मुख से उत्पन्न अग्नि आप ही हैं। आप आहुत रूप हैं ! आप अग्नि हैं ! आप वषट्कार हैं। आप ओंकार हैं। आप तपोरूप हैं। आप मनोरूप हैं। आप चन्द्रमा हैं। आप नेत्रों द्वारा परीक्षित यज्ञीय घृत हैं। आप सूर्य हैं। आप दिग्गज हैं। आप दिशाओं को प्रकाशित करने वाले हैं। हे विदिग्भानों ! हे हय-शिर ! हे प्रथमत्रिसौपर्णो ! हे वर्णधर ! हे पञ्चाग्ने ! हे त्रिणाचिकेत ! हे षडङ्गनिधान ! हे प्राग्ज्योतिष ! हे ज्येष्ठ सामग ! हे सामिकव्रतधरा ! हे अथर्वशिरा ! हे पञ्चमहाकल्प ! हे फेनपाचार्य ! हे बालखिल्य ! हे वैखानस ! हे भग्नयोगा ! हे भग्नपरिसंख्यान ! हे युगादे ! हे युगमध्य ! हे युगनिधना ! हे खण्डल ! हे प्राचीन गर्भ ! हे कौशिक ! हे पुरुष्टुते ! हे पुरुहूत ! हे विश्वकर्त्ता ! हे विश्वरूप ! हे अनन्तगते ! हे अनन्त शरीर ! हे अनन्त ! हे अनादि ! हे अमध्य ! हे अस्पष्टमध्य ! हे अस्पष्ट-अन्त ! हे व्रतावास ! हे समुद्राधिवास ! हे यशोवास ! हे तपोवास ! हे दयावास ! हे लक्ष्म्यावास ! हे विद्यावास ! हे कीर्त्यावास ! हे श्रीवास ! हे सर्वावास ! हे वासुदेव ! हे सर्पच्छन्दक ! हे हरिहय ! हे हरिमेध ! (अश्वमेधयज्ञ रूप) हे महायज्ञभागहर ! हे वरप्रद ! हे सुखप्रद !

हे धनप्रद ! हे हरिमेध ! (भगवद्भक्त), हे यम ! हे नियम ! हे महानियम ! हे कृच्छ्र ! हे अतिकृच्छ्र ! हे महाकृच्छ्र ! हे सर्वकृच्छ्र ! हे नियमधर ! हे निवृत्तभ्रम ! हे प्रवचनगत ! हे पृश्नि-गर्भ-प्रवृत्त ! हे प्रवृत्त-वेद-क्रिया ! हे अज ! हे सर्वगते ! हे सर्वदर्शिन् ! हे अग्राह्य ! हे अचल ! हे चल ! हे महाविभूते ! हे विभूते ! हे माहात्म्य-शरीर ! हे पवित्र ! हे महापवित्र ! हे हिरण्यमय ! हे बृहद् ! हे प्रतर्क्य ! हे विज्ञेय ! हे ब्रह्माग्रय ! हे प्रजा-सर्ग-कर ! हे प्रजा-निधन-कर ! हे महा-माया-धर ! हे चित्र ! हे शिखिण्डन् ! हे वरप्रद ! हे पुरोडाश भाग-हर ! हे गताध्वर ! हे छिन्नतृष्ण ! हे छिन्नसंशय ! हे सर्वतोवृत ! हे निवृत्तरूप ! हे ब्राह्मणरूप ! हे ब्राह्मणप्रिय ! हे विश्वमूर्ते ! हे महामूर्ते ! हे बाँधव ! हे भक्तवत्सल ! हे ब्रह्मण्यदेव ! मैं आपका भक्त हूँ और आपके दर्शन करना चाहता हूँ। हे एकान्त (मोक्ष) स्वरूप ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तीनसौ उन्तालीस का अध्याय

नारायण का रूप

भीष्म जी कहने लगे—हे धर्मराज ! जब नारद जी ने इस प्रकार गुह्य एवं सत्य नामावली से नारायण की स्तुति की; तब सकल रूपधारी नारायण ने नारद जी को दर्शन दिये। उस समय श्रीनारायण का रूप चन्द्रमा से भी अधिक स्वच्छ था एवं विशेषतामय था। वह अग्नि से भी अधिक तेजस्वी और नक्षत्राकृति के समान था। वह कुछ तोते के पंखों के रंग जैसा और कहीं कहीं स्फटिक मणि जैसा था। कहीं नीलाञ्जन की तरह था और कहीं चाँदी की तरह चमकीला था। उनके शरीर का कुछ भाग मूँगे के अङ्कुर जैसे लाल रंग का था। कुछ भाग सफ़ेद रंग

का था, कुछ सोने जैसा और वैदूर्य जैसा था। कहीं नीलम जैसा, कहीं इन्द्रनील-मणि जैसा, कहीं पर मोर के कण्ठ के रंग जैसा और कहीं पर मुक्ताहार जैसी प्रभा वाला था। इस प्रकार सनातन पुरुष नारायण विविध रंग रूपों को धारण किये हुए थे। उनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मस्तक, सहस्रों चरण, सहस्रों उदर और सहस्रों हाथ थे। तब भी वे इन्द्रियागोचर (अव्यक्त) थे। वे प्रणव सहित गायत्री मन्त्र जप रहे थे। अन्य मुखों से वे अनेक वेदमन्त्रों और आरण्यकों का उच्चारण कर रहे थे। जगत्पति, देवेश नारायण के हाथों में वेदी, कमण्डलु, स्फटिक मणि या हीरा, यज्ञाङ्ग, कुश का मुट्ठा, मृगछाला, दण्ड और प्रज्वलित अग्नि थे। प्रसन्नवदन भगवान् को देख, द्विजोत्तम नारद जी मन ही मन अतीव प्रसन्न हुए और अपने को सम्हाल, उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया। तब मस्तक नवा प्रणाम करते हुए नारद जी से देवादि-देव नारायण ने कहा—मेरे दर्शन करने को यहाँ महर्षि एकत, द्वित और त्रित आये थे, किन्तु वे मेरे दर्शन न कर सके। क्योंकि मेरा दर्शन मेरे अनन्य भक्त ही को होता है। तुम मेरे अनन्य भक्त और भक्तश्रेष्ठ हो। मेरा यह उत्तम शरीर धर्म के गृह में उत्पन्न हुआ है। तुम सदा इसीका भजन किया करो। जहाँ से आये हो अब तुम वहीं लौट जाओ। हे विप्र! तुम जो चाहते हो वह वर इस समय माँग लो। मैं अव्यक्त हो कर भी, इस समय विश्वमूर्ति धारण कर, तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ।

नारद जी ने कहा—हे देव! आज आपके दर्शन होने से मुझे अपने तप करने तथा यम नियम पालन करने का फल मिल गया। आप सनातन पुरुष हैं। आपका दर्शन होना ही मानों श्रेष्ठ वर की प्राप्ति है। भगवन्! आप विश्वद्रष्टा, सिंहस्वरूप, सर्वस्वरूप, महान् तथा प्रभु हैं।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! ब्रह्मा जी के पुत्र नारद जी को अपना स्वरूप दिखा, नारायण ने उनसे कहा—हे नारद! अब तुम यहाँ से जाओ। अब देर मत करो। चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले, इन्द्रिय एवं

आहार न करने वाले यहाँ मेरे भक्त रहते हैं। एकाग्र मन से मेरा भजन करने वाले उन मेरे भक्तों के भजन में विघ्न न पड़ना चाहिये। वे महाभाग्यशाली पुरुष हाल ही में इस सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। पहले वे मेरे अनन्य भक्त थे। अब उनमें रजोगुण तमोगुण नहीं रहा। अब वे निश्चय ही मेरे शरीर में प्रवेश करेंगे। वे पुरुष जिसमें प्रवेश करेंगे उसे कोई नेत्रों से देख नहीं सकता, स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श नहीं कर सकता, नाक से सूँघ नहीं सकता और जिह्वा से चख नहीं सकता। उसमें सत्व, रज, तम नहीं हैं। वह सर्वव्यापी है, सब का साक्षी है और वह सब मनुष्यों का आत्मा कहलाता है। पञ्चमहाभूतों से बने शरीर के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। उसमें जन्मादिक भाव नहीं हैं। वह नित्य है, शाश्वत है, निर्गुण है और निष्फल है। वह पचीसवाँ वह तत्व है, जो चौबीस तत्वों से भिन्न है। वह क्रियारहित पुरुष है और ज्ञान द्वारा देखा जा सकता है। उत्तम ब्राह्मण उसमें प्रवेश कर, आवागमन से छूट जाते हैं। वही सनातन परमात्मा भगवान वासुदेव हैं। हे नारद! इस देव की महिमा और माहात्म्य पर तो ध्यान दो। यह शुभाशुभ कर्मों में कभी लिप्त नहीं होता। रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण नामक तीनों गुण उसके समस्त शरीर में हैं और वहीं ये तीनों बदला करते हैं। क्षेत्रज्ञ इन तीनों गुणों का उपभोक्ता है। ये गुण उसका भोग नहीं कर सकते। क्षेत्रज्ञ स्वयं निर्गुण है; किन्तु गुणों का उपभोग-कर्त्ता है। वह इन गुणों से अधिक श्रेष्ठ है।

हे देवर्षि नारद! जिस पृथिवी पर यह जगत ठहरा हुआ है, उसका लय जल में, जल का लय तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का मन में, परमभूत रूप मन का अव्यक्त में और अव्यक्त का लय क्रियारहित पुरुष में होता है। इस सनातन पुरुष से बढ़ कर श्रेष्ठ और कोई नहीं है। सनातन वासुदेव पुरुष को छोड़ जगत् में कोई भी प्राणी नित्य नहीं है। महाबली वासुदेव सब भूतों के आत्मा रूप हैं। पृथिवी, वायु, जल, आकाश और पाँचवाँ तेज जब एकत्र होते हैं,

तब महान् आत्मा वाला शरीर उत्पन्न होता है। हे महान्! तदनन्तर उस शरीर में अदृश्य रूप से जीव तुरन्त प्रवेश करता है और उस शरीर में क्रिया-शक्ति उत्पन्न करता है। तब वह जीव उत्पन्न हुआ कहलाता है। धातुओं के समुदाय बिना, शरीर अन्यत्र उत्पन्न नहीं होता। शरीर में प्रवेश करने वाला जीव शेष और सङ्कर्षण कहलाता है। वही जीव ध्यानादि कर्म कर के, जीवनमुक्त हो जाता है। जीवनमुक्तत्व ही में समस्त प्राणी प्रलय काल में लीन होते हैं। वह जीवनमुक्तत्व (सनत्कुमारत्व) ही समस्त प्राणियों का मनोरूप है और लोग उसे प्रद्युम्न कहते हैं। प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है, वह कर्त्ता, कर्म तथा कारण रूप है। उस कार्य से यह चराचरात्मक विश्व उत्पन्न होता है। उसको अनिरुद्ध और ईशान् भी कहते हैं। वह समस्त कर्मों में व्यक्त रूप से दृष्टिगोचर होता है। भगवान् वासुदेव क्षेत्रज्ञ और निर्गुण हैं। सङ्कर्षण से प्रद्युम्न की उत्पत्ति होती है। वे मनोभूत (मन से उत्पन्न) कहलाते हैं। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। वह-सर्व-कर्म-समर्थ अहङ्कार की मूर्ति हैं।

हे नारद! इस प्रकार चराचरात्मक सारा जगत् तथा अक्षर-जीव और क्षर-प्रकृति अहङ्कारादि और सत् असत्—सब मुझसे उत्पन्न होते हैं। मेरे भक्त मुझमें प्रवेश कर मुक्त होते हैं। क्योंकि मैं क्रियारहित पची॰ सवाँ तत्त्व पुरुष हूँ। मैं निर्गुण, निष्फल, सुख-दुःख-शून्य और परिग्रह रहित हूँ। अभी तू ये सब नहीं समझ पावेगा, क्योंकि अभी मैं सस्वरूप देख पड़ता हूँ। मैं चाहूँ तो एक क्षण में अदृश्य हो सकता हूँ। क्योंकि मैं ईश्वर हूँ और जगद्गुरु हूँ। हे नारद! यह माया जिससे तू मेरा दर्शन कर रहा है, मेरी ही रची हुई है। मैं समस्त प्राणियों के गुणों से मुक्त हूँ। अतः तू मुझे इस तरह नहीं देख सकता था। मैंने तुझे अपनी चार मूर्तियों के विषय में सब बातें बतला दीं। मैं ही कर्त्ता हूँ। मैं ही कारण हूँ। मैं ही कार्य हूँ। मैं समस्त जीवों का समुदाय हूँ। मुझमें समस्त जीव रहते हैं। अतः तू यह न समझना कि, तूने जीव को देखा है।

क्योंकि मैं तो सर्वव्यापी हूँ। प्राणियों का अन्तरात्मा हूँ और प्राणियों के नष्ट होने पर भी मैं नष्ट नहीं होता। वे महाभाग्यशाली मनुष्य ही यथार्थ में सिद्ध हैं जो परमात्मा को लक्ष्य मान और रजोगुण तमोगुण से रहित हो, मेरे रूप में प्रवेश करते हैं। जो ब्रह्मा आदि देवरूप हैं, जिनके चार मुख हैं, जिनका अपर नाम हिरण्यगर्भ है, जिनकी निरुक्त में स्तुति की गयी है, जो बहुत से अर्थों का विचार करते रहते हैं, जो सनातन देव हैं, वे ब्रह्मा मेरा ललाट हैं। रुद्र मेरा क्रोध हैं। देख, मेरी दाहिनी कोख में एकादश रुद्र और वाम पार्श्व में द्वादश आदित्य खड़े हैं। मेरे सामने देवोत्तम अष्टवसु हैं और पृष्टभाग में नासत्य और दस्र नामक दो वैद्य बैठे हुए हैं। तू समस्त प्रजापतियों और ऋषियों को भी देख। वेदों, विविध प्रकार के सैकड़ों यज्ञों, अमृत, औषधियों, तप, नियमों और यमों को भी तू देख। एक साथ स्थित अष्टगुण सम्पन्न मूर्तिमान ऐश्वर्य, श्री लक्ष्मी, कीर्ति पर्वतों से उमड़ी हुई भूमि, वेदमाता सरस्वती को भी तू मुझ ही में देख। हे नारद! आकाशचारी नक्षत्रों में ध्रुव को भी तू मुझी में देख। मेघ, समुद्र, सरोवर, नदियाँ, चार पितरों के मूर्तिमान गणों को भी तू देख। निराकार रूप से मुझमें रहने वाले तीनों गुणों को भी तू देख।

हे मुने! देवकार्य से भी पितृकार्य उत्तम है। मैं देवताओं और पितरों का आदिपिता हूँ। हयग्रीव का रूप धारण कर, मैं समुद्र के वायव्य कोण में रहता हूँ। मैं श्रद्धा-पूर्वक हवन किये गये हव्य कव्य को ग्रहण करता हूँ। ब्रह्मा को सर्व-प्रथम मैंने ही उत्पन्न किया था। तब ब्रह्मा ने मुझ यज्ञ-स्वरूप का यजन किया था। तब मैंने भी प्रसन्न हो कर, उन्हें उत्तमोत्तम वर दिये थे। मैंने उन्हें यह भी वर दिया था कि, कल्पारम्भ में तुम मेरे पुत्र होवोगे। तुम्हारा पर्यायवाची नाम अहङ्कार होगा। तुम्हारी निर्दिष्ट की हुई मर्यादा का अतिक्रमण कोई नहीं करेगा। तुममें वर-कामियों को वरदान देने की क्षमता होगी। हे तपोधन! देवता, असुर, ऋषि, पितर

तथा अन्य विविध प्राणी तुम्हारी उपासना किया करेंगे। मैं देवताओं के कार्यों के लिये वारंवार जन्म लिया करूँगा। उस समय हे ब्रह्मन्! तुम मुझे पुत्रवत् मान, उपदेश दिया करना और मुझे कार्य में प्रवृत्त करना। ये तथा इस प्रकार अन्य अनेक वर प्रीति-पूर्वक ब्रह्मा जी को दे कर, मैं निवृत्त हो गया। समस्त धर्मों में निवृत्ति ही निर्वाण रूप से कही गयी है। अतः निवृत्ति-निष्ठ और सर्वांग निवृत्त हो कर, धर्माचरण करना चाहिये। यह साँख्यशास्त्र का निर्णीत सिद्धान्त है। साँख्य के आचार्यों ने कहा है कि, आदित्य-मण्डलस्थ और विद्या की सहायता से समाधिनिष्ट कपिल मैं ही हूँ। वेदों में मुझ हिरण्य-गर्भ की विशेष रूप से स्तुति की गयी है। योग-शास्त्र में जिस योगरीति की प्रशंसा की गयी है, वह योगरीत मैं ही हूँ। मैं शाश्वत होने पर भी व्यक्त हो कर, आकाश को टिकाये हुए हूँ। एक सहस्र युगों के व्यतीत होने पर, मैं पुनः इस जगत् का संहार करूँगा। मैं स्थावर-जंगमात्मक समस्त प्राणियों को अपने में लीन कर लूँगा। फिर विद्या के साथ मैं अकेला, जगत् में क्रीड़ा करूँगा। विद्या की सहायता से मैं पुनः सारे जगत् की रचना करूँगा। मेरी चार मूर्तियों में अनिरुद्ध नामक मूर्ति, अविनाशी शेष (जीव) को उत्पन्न करेगी। इस शेष को सङ्कर्पण कहते हैं। सङ्कर्पण से प्रद्युम्न की उत्पत्ति होती है। प्रद्युम्न से मैं अनिरुद्ध रूप से उत्पन्न होता हूँ। इस प्रकार वारंवार मेरी उत्पत्ति होती रहती है। अनिरुद्ध के नाभि-कमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। फिर ब्रह्मा से चराचरात्मक प्राणियों की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक कल्पारम्भ में वारंवार इस प्रकार सृष्टि हुआ करती है। जैसे आकाश में सूर्य और चन्द्रमा उदय तथा अस्त होते हैं, वैसे ही यह सृष्टि उत्पन्न होती और नष्ट हुआ करती है। जैसे सूर्य के अस्त होने पर अमित कान्ति सम्पन्न काल, सूर्य को खींच कर आकाश में पुनः उदय करता है, वैसे ही मैं सब प्राणियों के हितार्थ, वराह रूप धारण कर, जल से पृथिवी को बलपूर्वक निकाल, उसे यथास्थान स्थापित करूँगा और दिति के अभिमानी पुत्र हिर-

यथात्त का नाश करूँगा। फिर मैं नृसिंह का रूप धारण कर, हिरण्यकशिपु का वध करूँगा। फिर मैं देवताओं का कार्य करने के लिये महावली यज्ञघ्न दिति-नन्दन का वध करूँगा। विरोचन का पुत्र महावली महाअसुर वलि होगा। उसे क्या देवता, क्या असुर और क्या राक्षस—कोई भी नहीं मार सकेगा। वह इन्द्र से तीनों लोकों का राज्य छीन लेगा और इन्द्र को राज्य-भ्रष्ट कर देगा। तब मैं कश्यप से दिति के गर्भ में द्वादश आदित्य के रूप में उत्पन्न होऊँगा और इन्द्र को उसका राज्य लौटा दूँगा तथा देवताओं को उनके पदों पर पुनः प्रतिष्ठित करूँगा। मैं समस्त देवताओं से अवध्य एवं बलवान् श्रेष्ठ राजा वलि को पाताल भेज दूँगा। फिर त्रेतायुग में, मैं भृगु-कुलोद्धारक परशुराम के रूप में अवतार लूँगा और सेना तथा वाहनों की समृद्धि से सम्पन्न क्षत्रिय राजाओं का नाश करूँगा। तदनन्तर मैं त्रेतायुग तथा द्वापरयुग के सन्धिकाल के अन्त में राजा दशरथ के घर उनके पुत्ररूप में जगत्पति राम हो कर अवतीर्ण होऊँगा। उस समय ब्रह्मा जी के पुत्र एकत और द्वित नामक ऋषि, अपने भाई के ऊपर अत्याचार करने के कारण, कुरूप हो, वानरयोनि में जन्मेंगे। उनके वंश में इन्द्र के समान पराक्रमी, महावली और महावीर्यवान् जो वनचर वानर उत्पन्न होंगे, वे ही सुरकार्य-साधन में मुझे सहायता देंगे। तदनन्तर मैं, पुलस्त्य-कुल-सम्भूत एवं कुल-कलङ्क राक्षसराज, भयङ्कर, निष्ठुर और जगत् के लिये कण्टक रूप रावण को उसके सहायकों और परिवार सहित नष्ट करूँगा। फिर द्वापर के अन्त में और कलियुग आरम्भ होने के पूर्व दोनों युगों के सन्धिकाल में, मैं कंस का वध करने को मथुरा में अवतार लूँगा। वहाँ रहते समय देवताओं को काँटे की तरह खटकने वाले अनेक दानवों का नाश कर के, कुशस्थली अर्थात् द्वारकापुरी में जा कर मैं रहूँगा और वहाँ रहते समय अदिति को सताने वाले नरकासुर, भौमासुर, मुर तथा पीठ नामक दानवों का संहार करूँगा। फिर मैं उन महादानवों का वध कर, विपुल धन-धान्य-पूर्ण उनका प्राग्ज्योतिष नामक नगर, कु-

शस्थली में लाऊँगा। फिर राजा बाण के हितैषी एवं पृष्ठ-पोषक तथा सर्व-लोक-वन्द्य महादेव तथा महासेन (कार्तिकेय) को, जब वे मुझसे लड़ने को तैयार होंगे, तब मैं परास्त करूँगा। साथ ही बलि-पुत्र सहस्र-बाहु राजा बाण को जीत कर, सौभ देशवासी समस्त दानवों का नाश करूँगा। तदनन्तर गर्ग के तेज से वृद्धि को प्राप्त कालयवन नामक पुरुष का, हे द्विजोत्तम! मैं अपने हाथ से संहार करूँगा। फिर समस्त राजाओं का शत्रु, जरासन्ध नामक महाबली असुर, गिरिव्रज में, अभिमानी राजा के रूप में जन्मेगा। उसका भी मैं अपने बुद्धिबल से नाश करूँगा। धर्मराज राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में धरामण्डल के समस्त महाबली राजा लोग भेंट ले ले कर उपस्थित होंगे। उस समय मैं शिशुपाल का वध करूँगा। इन्द्र-नन्दन अर्जुन ही मेरा सहायक होगा। तब मैं राजा युधिष्ठिर को उसके भाइयों सहित राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करूँगा। उस समय लोग कहेंगे कि, नर और नारायण ऋषिद्वय, लोकहित की प्रेरणा से क्षत्रियों का नाश कर रहे हैं। इस प्रकार पृथिवी का बोझ कम करने के बाद मैं द्वारकापुरी-वासी यादवों का भयङ्कर नाश करूँगा। मैं वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनि-रुद्ध नामक चार मूर्तियों को धारण करने वाला हूँ। हे ब्रह्मन्! तदनन्तर मैं निज निर्मित और ब्रह्मा जी द्वारा सम्मानित निज लोक में जाऊँगा। हे द्विजोत्तम! नारद, हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दशरथनन्दन श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीकल्कि—ये मेरे ही अवतारों के नाम हैं। प्रथम वेद की श्रुतियों के नष्ट होने पर, मैं उनको लाया था। सत्ययुग में मैंने वेद की श्रुतियों का दोहन किया था। मेरे जो अवतार पहले हो चुके हैं, उनको तूने पुराणों में देखा होगा। उनसे तुझे विदित हुआ होगा कि, पहले मेरे अनेक उत्तम अवतार हो चुके हैं। लोककार्य पूर्ण कर, मेरे अंशावतार अपनी मूलप्रकृति को प्राप्त कर चुके हैं। एकाग्रता के कारण तूने मेरा वह दर्शन पाया है, जो ब्रह्मा जी को भी आज तक कभी नहीं हुआ। हे विप्र! तेरी

भक्ति से प्रसन्न हो, मैंने सरहस्य तुझे भूत एवं भविष्यत् की समस्त बातें सुना दी हैं।

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! विश्वमूर्ति एवं अव्यय भगवान्, नारद जी से ये वचन कह कर, वहाँ ही अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर महातेजस्वी नारद जी अपने अभीष्ट को पूर्ण कर, नारायण का दर्शन करने के अभिप्राय से बद्रिकाश्रम की ओर गये। चारों वेदों का सारभूत, यह महोपनिषद् है। इसमें साँख्य और योग का वर्णन है। यह पाञ्चरात्र आगम नाम से विख्यात है। यह सर्वप्रथम भगवान् नारायण के मुख से निसृत हुआ था। फिर नारद जी ने जैसा सुना था, वैसा ही (ज्यों का त्यों) उसे ब्रह्मा जी के भवन में दुहरा दिया था।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! बड़े बुद्धिमान् नारायण की महिमा सचमुच बड़ी विस्मयोत्पादिनी है। क्या यह ब्रह्मा जी को नहीं मालूम थी? जो उन्होंने नारद जी से सुनी? नारायण और ब्रह्मा में बहुत पीढ़ियों का अन्तर भी नहीं है। अतुल तेजस्वी ब्रह्मा जी नारायण की महिमा क्यों नहीं जानते थे?

भीष्म जी ने उत्तर दिया—हे राजेन्द्र! हज़ारों कल्प बीत चुके और सहस्रों बार सृष्टि रची गयी और नष्ट की गयी। जब सृष्टि का उत्पत्ति काल उपस्थित होता है, तब सृष्टि-उत्पादक ब्रह्मा जी का स्मरण किया जाता है। हे नृप! ब्रह्मा जी को यह बात विदित है कि, नारायण देवताओं में श्रेष्ठ हैं, मुझसे अधिक प्रभाववान् हैं, परमात्मा हैं, ईश्वर हैं और मुझे उत्पन्न करने वाले हैं। जब ब्रह्मलोक में सिद्धलोग जमा थे, तब नारद जी ने यह वेदानुकूल आगम पाञ्चरात्र, उन सब को सुनाया था। उनसे यह शास्त्र सूर्य ने सुना। तदनन्तर सूर्य ने अपने अनुयायी भक्तों को इसे सुनाया। पाञ्चरात्र छियासठ सहस्रात्मक था। लोकों को तपाने वाले सूर्य के रथ के आगे पीछे चलने वाले महात्माओं को भी सूर्य ने यह शास्त्र सुनाया था। तदनन्तर हे तात! सूर्यानुयायी उन ऋषियों ने मेरु पर्वत के शृङ्ग पर

जमा हुए देवताओं को यह शास्त्र सुनाया था। हे राजेन्द्र! मुनिसत्तम असित ने यह शास्त्र समस्त पितरों को सुनाया था। हे तात! मेरे पिता शन्तनु ने यह शास्त्र मुझे सुनाया था। मैंने उनसे जो कुछ सुना था, वह तुम्हें सुना दिया। क्या देवता और क्या मुनि, जिस किसी ने यह शास्त्र सुना—वे सब परमात्मा की भक्तिभाव से पूजा करते हैं। यह ऋषिप्रोक्त आख्यान है और परम्परागत प्राप्त है। जिसमें भगवद्भक्ति न हो, उसके आगे तुम इस आख्यान को मत कहना।

तुमने मुझसे जो आख्यान सुने हैं, उन सब का यह सार है। यह आख्यान देव और दानवों द्वारा समुद्र को मन्थन कर निकाले हुए अमृत के समान है। पूर्वकाल में ब्राह्मणों ने आख्यानों को मथ कर, इस कथा-रूपी अमृत को निकाला है। जो मनुष्य सदा इसका पाठ किया करता है अथवा सदा इसको सुना करता है, वह परमैकान्ति भागवत हो जाता है। वह संयमी पुरुष अन्त में मरने के बाद श्वेतद्वीप में जाता है और वहाँ चन्द्रवत् कान्ति-युक्त हो कर, सहस्रांशु परमात्मा के शरीर में प्रवेश करता है। इसमें कुछ भी सन्देह न करना चाहिये। रोगी इस कथा को आद्यन्त सुन कर रोगमुक्त होता है। इस आख्यान को सुनने वाले के समस्त मनोरथ पूर्ण होते हैं। हे धर्मराज! तुम भी सदा पुरुषोत्तम भगवान् का पूजन किया करो। क्योंकि वे सब जगत् के माता पिता और पूज्य गुरु हैं। महा बुद्धि-मान और ब्राह्मणरक्षक सनातन भगवान् जनार्दन तुम्हारे ऊपर सुप्रसन्न हों।

वैशम्पायन जी ने कहा—हे जनमेजय! इस उत्तम आख्यान को सुन कर, महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित भगवद्भक्ति में तल्लीन हो गये और तब से वे भगवान् की जै हो—इस मंत्र का सदा जप किया करते थे। हमारे गुरु द्वैपायन वेदव्यास जी भी नारायणात्मक मंत्र का सदा जप किया करते थे और नित्य ही आकाशमार्ग से अमृत-स्थान रूप क्षीरसागर-स्थित श्वेतद्वीप में जाते थे और वह देवादिदेव भगवान् नारायण का पूजन कर, अपने आश्रम में लौट आते थे।

भीष्म जी बोले कि, नारद कथित यह आख्यान मैंने तुम्हें सुनाया है। परम्परागत-प्राप्त इस आख्यान को मैंने अपने पिता से सुना था।

सूत बोले—हे शौनक ! वैशम्पायन कथित समूचा यह आख्यान मैंने तुम्हें सुना दिया। इसे सुन जनमेजय ने विधि विधान से इसका पालन किया था। हे द्विजोत्तम ! तुम सब तपोधन ब्राह्मण हो और नैमिषारण्यवासी हो तथा शौनक के महायज्ञ में आये हुए हो। अतः तुम यज्ञों में उत्तम प्रकार का होम कर के, सनातन भगवान् का पूजन करो। परम्परागत प्राप्त इस आख्यान को सर्वप्रथम मेरे पिता ने मुझे सुनाया था।

तीनसौ चालीस का अध्याय

देवगण और यज्ञीय भाग

शौनक जी ने पूछा—यज्ञ में सर्वप्रथम भाग नारायण क्यों लेते हैं ? वेद-वेदाङ्ग-वित् जनों को सदा यज्ञ क्यों करने पड़ते हैं ? आप मुझे इन प्रश्नों के उत्तर दें। भक्तवत्सल क्षमाशील भगवान् स्वयं तो निवृत्ति कर्म का पालन करते हैं। क्योंकि निवृत्ति कर्म प्रवर्त्तक तो वे स्वयं ही तो हैं। तब इन्होंने स्वयं ही यज्ञादि प्रवृत्ति-धर्म रूपी यज्ञादि कर्मों में देवताओं को यज्ञभाग ग्रहण करने का विधान क्यों प्रचलित किया ? जिनकी बुद्धि विषयों के कारण विपरीत हो गयी है, वे निवृत्ति-धर्म-परायण क्यों किये गये ? हे सूत ! तुम मेरे इस गुप्त चिरकालीन सन्देह को मिटा दो। क्योंकि तुम तो नारायण सम्बन्धी अनेक कथाओं को सुने हुए हो।

सौति बोले—हे शौनकोत्तम ! इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला वह प्रसङ्ग मैं तुम्हें सुनाता हूँ, जो वेदव्यास के शिष्य वैशम्पायन जी ने जनमेजय को सुनाया था। प्राणिमात्र के अन्तरात्मा भगवान् नारायण

की महिमा को सुन कर, महाधीर जनमेजय ने वैशम्पायन जी से पूछा था—कि ब्रह्मा तथा अन्य देवगण, असुर तथा मनुष्य आभ्युदयिक कर्मों में प्रीतिवान् देखे जाते हैं। आपके कथनानुसार मोक्ष परम निर्वाण रूप और परम-सुख-प्रद है। वे पुरुष जो पाप-पुण्य विवर्जित हो, मुक्त होते हैं, वे सहस्रांशु सूर्य-मण्डल-स्थित परमात्मा में प्रवेश करते हैं। यह श्रुति का सिद्धान्त है। यह बात हमने सुन रखी है। इस मोक्षरूपी सनातन धर्म का पालन करना बड़ी कठिन बात है। समस्त देवगण उस मोक्षधर्म को त्यागने से हव्य एवं कव्य के भोक्ता हुए हैं। इतना ही नहीं—किन्तु ब्रह्मा, रुद्र, बलि दैत्य-नाशक इन्द्र, सूर्य, ताराधिपति चन्द्र, वायु, अग्नि, वरुण, आकाश, पृथिवी तथा अन्य देवगण निज कर्मानुसार उत्पन्न हो कर भी अहंभाव को नष्ट करना नहीं चाहते। इसीसे वे निश्चित मार्ग पर नहीं हैं। अतः जिन्होंने कालपरिमाण से स्मृति और प्रवृत्ति मार्ग अवलम्बन किया है, वे लोग, शाश्वत, अव्यय और अक्षर निवृत्ति मार्ग को ग्रहण नहीं करते। क्रियावान् मनुष्यों में काल परिमाण से बड़े बड़े दोष देखे जाते हैं। मेरे हृदय में यह सन्देह काँटे की तरह कसकता है। अतः आप मेरा सन्देह दूर करें। क्योंकि मुझे इससे बड़ा विस्मय हो रहा है। यज्ञ में देवता क्यों भागहर बतलाये गये हैं? यज्ञ-विधि में देवताओं का पूजन क्यों लिखा है? जो यज्ञ में भाग पाते हैं, वे महायज्ञ के सहारे याग करने में प्रवृत्त होने पर, किसको यज्ञीय भाग प्रदान किया करते हैं अर्थात् जब देवता यज्ञ करते हैं, तब वे उस यज्ञ में किसको यज्ञीय भाग दिया करते हैं?

वैशम्पायन मुनि ने कहा—हे जनमेजय! तुम्हारा प्रश्न निगूढ़ है। जिन लोगों ने तप नहीं किया, वेदाध्ययन नहीं किया और पुराण नहीं पढ़े—वे लोग सहसा इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते। यही प्रश्न मैंने अपने गुरु वेदव्यास जी से पूछा था। उन्होंने मुझे जो उत्तर दिया था, उसीको मैं तुमसे कहता हूँ। जिन दिनों मैं, सुमन्तु, जैमिनि, दृढ़व्रती पैल और

व्यासपुत्र शुकदेव, सिद्धों चारणों से सेवित सुमेरु पर्वत के रमणीक शिखर पर रहते थे और जिन दिनों व्यास जी अपने जितेन्द्रिय, पवित्र, सदाचारी, क्रोधजित् और दान्त पाँचों शिष्यों को चारों वेद और पंचम वेद महाभारत का अध्ययन कराते थे, उन दिनों ही हम लोगों के मन में भी यही सन्देह उठ खड़ा हुआ था। तब जो प्रश्न तुमने मुझसे अभी पूछा है; यही प्रश्न हम लोगों ने गुरुदेव से पूछा था। हम लोगों के प्रश्न के उत्तर में वेदव्यास जी ने जो कुछ कहा था—वही मैं तुमसे कहता हूँ। अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले पराशरनन्दन श्रीमान् व्यास जी ने कहा था—हे शिष्यो! मैंने अति दारुण तप किया है—अतः तपःप्रभाव से मैं त्रिकालज्ञ हो गया हूँ। मैंने क्षीरसागर के तट पर इन्द्रियों को जीत कर, तप किया है और श्रीमन्नारायण की कृपा से मैं त्रिकालज्ञ हो गया हूँ। अतः मैं तुम्हारे प्रश्न का यथार्थ और उत्तम रीति से उत्तर दूँगा। तुम लोग सुनो। पूर्वकल्प के आरम्भ में जो घटना हुई थी, वह मैंने निज ज्ञाननेत्रों से देखी है। साँख्य शास्त्र-वादी और योग-शास्त्र-वादी जिसको परमात्मा कहते हैं, उसने अपने कर्मों ही से महापुरुष नाम प्राप्त किया है। उसीसे अव्यक्त की उत्पत्ति होती है। अतः पण्डित लोग उसे प्रधान कहा करते हैं। अव्यक्त परमात्मा से प्रजा की रचना के लिये व्यक्त की उत्पत्ति हुई है। उसे कोई तो अनिरुद्ध और कोई महात्मा कहा करते हैं। व्यक्तित्व को प्राप्त उस महान् आत्मा ने ब्रह्मा जी को उत्पन्न किया है। वे अहङ्कार कहलाते हैं। क्योंकि वे समस्त तेजों के भाण्डार हैं। सर्वतेजोमय अहङ्कार (ब्रह्मा जी) से पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज नामक पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति हुई है। इनके साथ ही सात रजोगुण और तमोगुण भी उत्पन्न हुए हैं। पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न प्राणियों की नामावली यह है। मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ और स्वायंम्भुव मनु। ये ही अष्ट प्रकृतियाँ हैं! इन्हीं अष्ट प्रकृतियों में समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं। साङ्गोपाङ्ग वेदों और साङ्गोपाङ्ग यज्ञों को लोकहिता र्थ

ब्रह्मा जी ने उत्पन्न किया है। इन्हीं आठ प्रकृतियों से सारा संसार उत्पन्न हुआ है। क्रोध से रुद्र हुए और उन्होंने अन्य रुद्रों को उत्पन्न किया। इन ग्यारह रुद्रों को विकार-पुरुष के नाम से पुकारते हैं। ग्यारह रुद्रों, आठ वसुओं, प्रकृतियों और समस्त देवर्षियों के उत्पन्न होने पर—ये सब ब्रह्मा जी के निकट जा कर बोले—हे पितामह! आपने प्रभु विष्णु हो कर, हम लोगों को उत्पन्न किया है। अतः अब आप हमें काम सौंपिये और बतलाइये कि, हममें से किसे क्या क्या करना होगा?

इसके उत्तर में ब्रह्मा जी ने कहा—हे देवगण! तुम्हारा मङ्गल हो। तुमने यह बात पूछ कर बहुत अच्छा काम किया है। जो बात तुमने पूछी है, वही मैं तुमसे स्वयं कहना चाहता ही था। सचमुच इस समय यह विचार करना आवश्यक है कि, तीनों लोकों का निर्वाह कैसे हो? इस क्रम को क्यों कर प्रचलित रखा जाय और क्या किया जाय, जिससे तुम्हारा और मेरा बल क्षीण न होने पावे। आओ हम लोग सब मिल कर सर्व-लोक-साक्षी, शरणरूप और अव्यक्त महापुरुष के निकट चलें और उनसे इन प्रश्नों की मीमाँसा करावें। यह कह ब्रह्मा जी सहित वे ऋषि तथा देवगण लोक-हित-कामना से क्षीरसागर के उत्तर तट पर गये और वहाँ ब्रह्मा जी के कथनानुसार उन लोगों ने वेदोक्त विधान से तप किया। वे सब मन को एकाग्र कर, भुजाओं को उठा और ऊर्ध्व दृष्टि कर तथा एक पैर से खड़े हो, तप करने लगे। उन लोगों ने एक सहस्र दिव्य वर्षों तक महा दारुण यह अनुष्ठान किया। तदनन्तर उन लोगों ने वेदवेदाङ्ग से युक्त यह मधुर वाणी सुनी—हे ब्रह्मा! हे अन्य देवगण! तथा हे तपोधन ऋषियो! मैं तुम्हारा सब का स्वागत करता हुआ, तुम्हारा सन्मान करता हूँ। मैं तुम्हारे मन की बात जान गया हूँ। तुम्हारे विचार संसार के लिये परम हितकर हैं। यह कार्य प्रवृत्तिमय है और इससे तुम्हारी पुष्टि होगी। हे देवगण! मेरा आराधन करने के लिये तुमने यह तप किया है। तुम अपने तप के उत्तम फल को भोगो। ब्रह्मा

जी लोकगुरु हैं और सर्वलोक पितामह हैं। तुम लोग भी देवताओं में उत्तम हो। अब तुम सावधान हो कर मेरा भजन करो। तुम यज्ञों में सदा मुझे भाग देना। मैं भी इसके बदले तुम्हारा कल्याण करूँगा।

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय! देवदेव भगवान् विष्णु के इन वचनों को सुन कर देवता, महर्षि और ब्रह्मा जी के शरीर मारे हर्ष के रोमाञ्चित हो गये। उन्होंने वैदिक विधान से विष्णुयाग किया। उस यज्ञ में ब्रह्मा जी ने स्वयं विष्णु को यज्ञ भाग दिया। देवताओं और महर्षियों ने भी अपनी अपनी ओर से विष्णु के उद्देश्य से भाग निकाले। सत्ययुग में धर्मयुक्त परम सत्कृत सब भाग आदित्य वर्ण, तमोगुण से रहित, सर्वव्यापी, सर्वगामी, वरद पुरुष, प्रभु, ईशानदेव को मिले। तदनन्तर वरद एवं अशरीरी और आकाशस्थित महेश्वर ने समस्त देवताओं से कहा कि, जिसने जिस भाग की कल्पना की है, वे सब भाग उसी प्रकार मेरे पास उपस्थित हुए हैं। अतः मैं तुम सब पर प्रसन्न हूँ और आज तुम्हें आवृत्ति फलरूप देता हूँ। मेरे प्रसाद से, तुम्हारे इस श्रेष्ठ दक्षिणा वाले यज्ञ के समाप्त होने पर, लोग यज्ञों द्वारा तुम्हारा भी यजन किया करेंगे। तुम लोग प्रत्येक युग में प्रवृत्ति फल भोगने के अधिकारी होओगे। अन्य लोकों में जो यज्ञ हुआ करेंगे, उनमें वेद में कथित विधि से यज्ञकर्त्तागण तुम लोगों को यज्ञभाग दिया करेंगे। इस विष्णुयाग नामक महायज्ञ में जिसने मुझको जिस प्रकार भाग दिया है, यज्ञसूत्रों में मैंने उसे उसी प्रकार यज्ञ का भाग ग्रहण करनेवाला ठहराया है। यज्ञप्रदत्त भाग के फलानुसार तुम सब लोकों को चलाओगे। तुम जगत के समस्त कर्मों के करने वाले हो। तुम अधिकार विभाग से निर्मित किये गये हो। प्रवृत्ति-फल-दायिनी जो जो क्रियाएँ की जावेंगी—उन उन क्रियाओं से तुम्हारा बल बढ़ेगा और उनसे तुम सब लोकों को चलता रख सकोगे। सब मनुष्य यज्ञ द्वारा तुम्हारा पूजन करेंगे और तुम मेरा पूजन करोगे। यही मेरी इच्छा है। इसी लिये मैंने वेद, यज्ञ और औषधियों को उत्पन्न

किया है। यज्ञादि यदि पृथिवी पर किये जायँ तो देवता प्रसन्न होते हैं। प्रवृत्ति के गुणों से कल्पित यह कार्य तुम्हारे ही लिये है। हे श्रेष्ठ देवताओ! इस कल्प के अन्त तक के लिये, मैंने तुम्हारे लिये इस विधान की रचना की है। अतः तुम अपने अधिकारानुसार जगत् के हित में प्रवृत्त रहो। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वसिष्ठ—ये मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं। ये सातों वेदों के ज्ञाता हैं। मैंने इनको मुख्य वेदाचार्य बनाया है। यह प्रवृत्ति-मार्ग के प्रवर्त्तक हैं और प्रजोत्पत्ति के लिये बनाये गये हैं। क्रिया करने वालों का यह सनातन मार्ग प्रसिद्ध है। प्रभु अनिरुद्ध सब जगत् के उत्पन्न करने वाले हैं। सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन—ये सात ब्रह्मा के मानसिक पुत्र कहलाते हैं। इनको अपने आप ज्ञानोत्पन्न हो गया है। ये निवृत्ति धर्म का पालन करते हैं। ये सप्तर्षि योगशास्त्र-वेत्ताओं में प्रधान हैं और सांख्य-शास्त्र-वादियों में श्रेष्ठ माने गये हैं। प्रथम अव्यक्तों में तीन गुणों वाला, महत्तत्वरूप अहङ्कार उत्पन्न होता है। इससे पर को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। वह क्षेत्रज्ञ रूप मैं हूँ। जो पुरुष कर्मकाण्ड में लगे रहते हैं, वे पुनरावृत्ति वाले हैं। निवृत्तिमार्ग से प्राप्तव्य मैं उनको दुर्लभ हूँ। जो प्राणी जिस कर्म के लिये उत्पन्न किया गया है, वह प्रवृत्ति एवं निवृत्ति सम्बन्धी कर्मों को करता है और उनके महाफल का भोक्ता होता है। ब्रह्मा सब लोकों के गुरु, जगत् के आदिकर्त्ता और स्वामी हैं! वे तुम्हारे माता पिता और पितामह हैं। वे मेरे आदेश से समस्त प्राणियों को वरदान देते हैं। उनके पुत्र रुद्र ललाट से उत्पन्न हुए हैं। वे ब्रह्मा के आदेश से समस्त प्राणियों का पोषण करेंगे।

हे देवगण! अब तुम अपने अधिकारों पर जाओ और यथानियम अपने कर्त्तव्यों का पालन करो। संसार में सब क्रियाओं को प्रवृत्त होने दो—विलम्ब मत करो। प्राणियों को कर्म का और तदनुसार गति का उपदेश दो। हे देवगण! प्रत्येक युग में मनुष्यों के आयु का परिमाण

भिन्न भिन्न होता है। आज कल कृतयुग नामक श्रेष्ठ युग है। इस युग में यज्ञ में पशु-हिंसा न करनी चाहिये।

इस युग में धर्म चार चरण से रहेगा और वे चरण कलाओं से पूर्ण रहेंगे। कृतयुग के बाद त्रेतायुग आरम्भ होगा। उसमें तीन वेदों की प्रवृत्ति होगी। उस युग में वेदमन्त्रों से प्रोक्षण किये हुए पशुओं का वध किया जायगा और धर्म का एक चरण कम हो जायगा। तदनन्तर द्वापर युग आरम्भ होगा। यह मिश्रयुग होगा। इस युग में धर्म के दो ही चरण रह जायँगे। फिर द्वापर युग के बाद कलियुग आवेगा। इसको तिष नामक युग भी कहेंगे। इस युग में सर्वत्र कर्म का एक ही चरण रहेगा।

यह सुन देवताओं तथा देवर्षियों ने भगवान् से कहा—भगवन्! जिस समय धर्म के एक चरण रह जायगा और न मालूम वह कहाँ जा कर रहेगा; उस समय हम लोगों को क्या करना होगा? कृपा कर यह तो आप हमें बतलावें।

श्रीभगवान् बोले—जहाँ वेद, यज्ञ, तप, सत्य, दम और धर्ममयी अहिंसा रहे, वहीं तुम भी रहना। ऐसे स्थान में रहने से अधर्म तुम्हारा चरण से भी स्पर्श न कर सकेगा।

व्यास जी बोले—जब भगवान् ने इस प्रकार देवताओं और ऋषियों को आज्ञा दी, तब वे भगवान् को नमस्कार कर के, अपने अभिलषित देशों को चले गये। समस्त देवताओं के चले जाने पर भी ब्रह्मा जी वहीं खड़े रहे। क्योंकि वे अनिरुद्ध के शरीर में स्थित, भगवान् का दर्शन करना चाहते थे। तब हयग्रीव रूप में साङ्गोपाङ्ग भगवान ने ब्रह्मा जी को दर्शन दिया। उस समय वे उस रूप से साङ्गोपाङ्ग वेदों का उच्चारण कर रहे थे। उनके हाथों में कमण्डलु और त्रिदण्ड था। अपार सामर्थ्य वाले भगवान् हयशिर के दर्शन कर, जगत्-कर्त्ता प्रभु ब्रह्मा जगत् का हित करने की इच्छा से वरद परमात्मा के सामने हाथ जोड़े खड़े हो गये। उस समय भगवान् ने ब्रह्मा जी को हृदय से लगा कर कहा:—

भगवान् बोले—तुम समस्त प्राणियों के कर्मों और गतियों का यथा-शास्त्र विचार करना। तुम समस्त प्राणियों के धाता हो और जगत् के स्वामी और पूज्य हो। जगत् के समस्त कार्यों का भार तुम्हारे ऊपर है। अब मैं विश्राम करूँगा। जब मैं देखूँगा कि, तुमसे देवताओं का काम नहीं होता, तब मैं पथ-प्रदर्शक के रूप में प्रकट होऊँगा। यह कह हयग्रीव भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। तब ब्रह्मा जी भी भगवान् के आज्ञानुसार उसी समय अपने लोक को चले गये।

हे मुने! इस प्रकार पद्मनाभ सनातन भगवान् यज्ञ में नित्य मुख्य भाग ग्रहण करने वाले हुए हैं। वे मोक्ष-धर्म-कामी प्राणियों की गति हैं, निवृत्त धर्म के धारण करने वाले हैं और विश्व की विचित्रता दिखाने के लिये, वे प्रवृत्ति-धर्म के पालक भी हैं। वे ही जगत् के आदि, अन्त, धाता, ध्येय, कर्त्ता और कार्य हैं। जब प्रलय काल आता है, तब समस्त लोकों का संहार कर के वे शयन करते हैं और युगारम्भ में जागृत हो कर, फिर जगत् की रचना करते हैं। निर्गुण, महात्मा, अजन्मा, विश्वरूप और समस्त देवताओं के धामरूप इन परमात्मा को प्रणाम करो। महाभूतों के अधि-पति और रुद्रपति, आदित्यपति, वसुपति, अश्विनीकुमार-पति, मरुत्पति, वेदों तथा यज्ञों के अधिपति देव को प्रणाम करो। हरि नित्य समुद्र में वास करते हैं, मुञ्जकेशी हैं, शान्त हैं और समस्त प्राणियों को मोक्ष-धर्म के उपदेष्टा हैं। ये तप, तेज और यश के स्वामी हैं। वाणीपति और नदीपति भी ये ही हैं। इनको प्रणाम करो। यह कपर्दी, वराह, एकश्रृङ्ग-धर, बुद्धिमान्, विवस्वान, अश्वग्रीव और चतुर्मूर्ति हैं। गुह्यरूप ज्ञान से देख पड़ने वाले, अक्षर, क्षर इन देव को प्रणाम करो। यह सर्वज्ञ और अविनाशी हैं। यह परब्रह्म और ज्ञानगम्य हैं। मैंने पहले इन्हें ज्ञान-दृष्टि ही से देखा था। मेरे पूछने पर वेदव्यास जी ने मुझसे कहा था कि, शिष्यों, तुम मेरा कहना मानना। भगवान को सेवा करना, वेदमन्त्रों से भगवान् का स्तव करना और शास्त्र-विधान से श्रीहरि का पूजन करना।

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय! इस प्रकार बुद्धिमान् वेदव्यास जी ने हमसे तथा परम धर्मज्ञ अपने पुत्र शुकदेव जी से कहा था। तदनन्तर उपाध्याय वेदव्यास जी ने और हमने चारों वेदों की ऋचाओं से भगवान का स्तवन किया था। हे राजन्! तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर है। यह उत्तर मुझे व्यास जी से मालूम हुआ था। जो पुरुष "ओं नमो-भगवते" मन्त्र को सावधान हो कर नित्य जप करता है और इस आख्यान को सुनता है तथा नित्य दूसरों को सुनाता है, उसको कोई रोग नहीं सताता। वह बुद्धिमान, बलवान और रूपवान् हो जाता है। रोगी रोग से और बन्दी बन्धन से छूट जाता है। कामना वालों की कामना पूरी होती है और दीर्घायु प्राप्त होता है। ब्राह्मणों को समस्त वेदों का ज्ञान, क्षत्रिय को विजय, वैश्य को विपुल धन और शूद्र को सुख मिलता है। जो नर पुत्रहीन होता है, उसे पुत्र मिलता है और कन्या को मन चाहा पति मिलता है। गर्भवती को प्रसव-पीड़ा नहीं होती। वन्ध्या के गर्भ रह जाता है और समृद्धिशाली जन पुत्र पौत्र पाता है। जो पथिक रास्ता चलते इस आख्यान का पाठ करता है, वह पुरुष सुख से अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। इस आख्यान के पाठ के प्रभाव से मनुष्य जो चाहता है, उसे वही मिलता है। महर्षि वेदव्यास का यह निश्चित वचन है कि, देवर्षियों और महर्षियों के समागम से युक्त महात्मा पुरुषोत्तम की यह कथा—पढ़ने अथवा सुनने से भगवद्भक्तों को परम सुख प्राप्त होता है।

तीनसौ इकतालीस का अध्याय

व्यास-स्तुति

जनमेजय ने कहा—हे वैशम्पायन जी! शिष्यों के साथ भगवान् व्यास जी ने जिन नाना प्रकार के नामों से भगवान् की स्तुति की थी,

वे सब नाम आप मुझे सुनावें। क्योंकि मैं प्रजापति के भी पति श्रीहरि की नामावली सुनना चाहता हूँ। अतः आप उसे मुझे सुनावें। उसे सुन मैं वैसे ही पवित्र हो जाऊँगा, जैसे शरद्कालीन चन्द्रमा निर्मल होता है।

श्रीवैशम्पायन जी बोले—हे राजन्! प्रसन्न हो सर्वशक्तिमान् भगवान् हरि ने अपने जो गुणविशिष्ट और कर्मविशिष्ट निज नाम अर्जुन को सुनाये थे, वे ही नाम मैं तुम्हें सुनाता हूँ। हे राजन्! व्यास जी ने भगवान् केशव की जिन नामों से स्तुति की थी, उनके विषय में शत्रुनिषूदन अर्जुन ने भगवान् केशव से प्रश्न किया था। अर्जुन ने पूछा—हे भगवन्! हे भूतभव्येश! हे सर्व-भूत-सृष्ट; हे अव्यय! हे लोकधाम! हे जगन्नाथ! हे लोकों को अभय देने वाले! हे देव! वेदों और पुराणों में आपके जिन नामों को महर्षियों ने कहा है और आपके जो नाम कर्मवश गुप्त हैं—हे केशव! उन सब नामों को मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ। क्योंकि आपको छोड़ और कोई भी आपके नामों का निर्वचन नहीं कर सकता। हे अर्जुन! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, उपनिषद्, पुराण, ज्योतिः शास्त्र, साँख्यशास्त्र, योगशास्त्र और आयुर्वेदशास्त्र में महर्षियों द्वारा मेरे अनेक नाम कहे गये हैं। उनमें बहुत से गुण सम्बन्धी और बहुत से कर्म सम्बन्धी हैं। इनमें से तुम मेरे कर्म सम्बन्धी नामों को सावधान हो कर सुनो। क्योंकि तुम पहले ही से मेरे अर्द्धाङ्ग रूप से प्रसिद्ध हो। प्राणियों के उत्तम यशोरूप परमात्मा को प्रणाम है। नारायण, विश्वरूप, परमात्मा को प्रणाम है; जिसकी कृपा से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई है और जिनके क्रोध से रुद्र उत्पन्न हुए हैं। जो परमात्मा चराचर जीवों की योनि रूप हैं और जो * अष्टादश प्रकार का सत्वगुण है, वही मेरी

* अष्टादश प्रकार का सत्व यह है—प्रीति, प्रकाश, वृद्धि, लघुता, सुख, अदीनता, असंरम्भ, सन्तोष, श्रद्धा क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, सरलता, समता, सत्य और अनुसूया।

पराप्रकृति है और वही स्वर्ग और पृथिवी वासियों का आत्मा रूप है। वही योगबल से समस्त लोकों को धारण करने वाला है, वही सत्‌रूपा है, वही अमर और अजित है और वही समस्त लोकों का आत्मा रूप है। जिस परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलयादि सब विकार प्रवृत्त होते हैं, जो तपोरूप, यज्ञरूप, यजमानरूप, पुराण-पुरुष तथा विराटरूप हैं, उसको प्रणाम है। वही अनिरुद्ध है और लोकों को उत्पन्न करता तथा उनका संहार करता है। जब ब्रह्मा जी की रात पूर्ण हो जाती है; तब, हे कमलनन्दन ! अमित तेजस्वी परमात्मा की कृपा से एक कमलपुष्प उत्पन्न होता है और उस कमलपुष्प से परमात्मा के अनुग्रह से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति होती है। जब ब्रह्मा जी का एक दिन पूरा होता है, तब उन परमात्मा को रोष आता है। उस समय उनके ललाट से रुद्र नामक उनका एक पुत्र उत्पन्न होता है और वह जगत् का संहार कर डालता है। परमात्मा के प्रसाद और रोष से उत्पन्न ये दोनों देवता—समस्त देवताओं से उत्तम माने गये हैं। ये दोनों ही परमात्मा के किये हुए निर्दिष्ट मार्ग पर चल, संसार की उत्पत्ति और उसका संहार किया करते हैं। समस्त प्राणियों को वर प्रदान करने वाले ये दोनों देवता, उत्पत्ति और प्रलय के निमित्त मात्र हैं। इनमें जो देवता प्रलय के समय प्राणियों का संहार करता है, उसके नाम हैं कपर्दी, जटिल, मुण्ड, श्मशानवासी, उग्र-व्रत-धारी, रुद्र, योगी, परमदारुण, दक्ष-यज्ञ-विध्वंस-कारी, भग-नेत्र-भञ्जक आदि। हे अर्जुन ! प्रत्येक युग में ये नारायणात्मक समझे जाने चाहिये। इन देवदेव महेश्वर का पूजन करने से भगवान् नारायण ही का पूजन होता है। क्योंकि हे पाण्डुनन्दन ! मैं तो समस्त लोकों का आत्मा का आत्मा हूँ। अतः मैं अपने आत्मा रूप रुद्र का पूजन प्रथम किया करता हूँ। यदि मैं वरद सब प्राणियों के ईश्वर शिव का पूजन न करूँ तो मेरी समझ में उनका कोई पूजन ही न करेगा। क्योंकि संसार मेरा ही तो अनुकरण करता है। प्रमाण में लोगों की पूज्य बुद्धि हुआ करती

है। अतः मैं रुद्र का सम्मान करता हूँ। जो रुद्र को जानता है वह मुझे भी जानता है और जो मुझको जानता है, वह उनको भी जानता है। रुद्र और नारायण दो रूप होने पर भी एक ही हैं। अतः वे समस्त कार्यों में व्यक्तिस्थ हो कर लोक में विचरते हैं।

हे पाण्डुनन्दन! मुझे वर देने वाला कोई नहीं है। यह विचार कर मैंने पुराण एवं शक्तिमान रुद्र की पुत्रप्राप्ति के लिये आराधना की थी, वह आराधना अन्य किसी की न थी। वह तो आत्मा द्वारा आत्मा ही की आराधना थी। क्योंकि भगवान् विष्णु तो किसी देवता को प्रणाम नहीं करते। वे तो केवल आत्मा ही को नवते हैं। इसीसे मैं रुद्र का आराधन करता हूँ। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, देवगण और ऋषि देवश्रेष्ठ नारायण का पूजन करते हैं। हे भरतवंशी राजन्! भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल के समस्त देवताओं में विष्णु अग्रणी, सेव्य तथा नित्य पूज्य माने जाते हैं। अतः हव्यग्राही और शरणप्रद भगवान् विष्णु को तुम प्रणाम करो।

हे कुन्तीनन्दन! तुम उन वरद को प्रणाम करो। तुम उन हव्य-कव्य-भुक् को प्रणाम करो। हे अर्जुन! मेरे भक्त चार प्रकार के होते हैं। यह तो मैं तुम्हें बतला ही चुका हूँ। इनमें जो अनन्य भक्त होते हैं, वे आत्मा को छोड़, अन्य किसी देवता का पूजन नहीं करते। वे ही श्रेष्ठ भक्त हैं और मैं उनकी गति हूँ। वे कर्म तो करते हैं, किन्तु कर्मफल की आकाँक्षा नहीं रखते। अन्य तीन प्रकार के भक्तों को मैं सकाम समझता हूँ। वे तीनों पतनशील हैं। इनमें जागृत अर्थात् ज्ञानी पुरुष उत्तम फल को पाता है। ज्ञान की चर्चा से जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य ब्रह्मा, शिव अथवा अन्य देवताओं की आराधना करने पर भी अन्त में आता है मेरे ही पास।

हे पार्थ! भक्तों की विशेषता मैंने तुझे बतला दी। हे कुन्तीनन्दन! मैं और तू नर नारायण रूप हैं और पृथिवी का भार घटाने को हम दोनों

मानव शरीर से इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं। मैं अध्यात्मयोग को जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि, मैं कौन हूँ और किससे उत्पन्न हुआ हूँ। मैं निवृत्त धर्म को और उस धर्म को जिससे अभ्युदय होता है, जानता हूँ। मैं सनातन धर्मी पुरुषों का आश्रयस्थल हूँ। जल का दूसरा नाम नार है। वह मनुष्यों को उत्पन्न करने वाला है। वह जल मेरा अयन था। इसी लिये मैं नारायण कहलाता हूँ। सूर्य हो, मैं अपने किरणजाल से जगत को आच्छादित करता हूँ और समस्त प्राणियों में मेरा निवास है। इसीसे मैं वासुदेव कहलाता हूँ। हे भारत! मैं समस्त प्राणियों का प्रतिरूप हूँ। सब का उत्पत्तिस्थान हूँ। हे पृथानन्दन! मैं स्वर्ग और पृथिवी में व्याप्त हूँ। मैं सब से अधिक कान्ति वाला हूँ। अन्त में सब प्राणी जिसकी इच्छा करते हैं, वह मैं ही हूँ। मैं सब प्राणियों के अन्तरात्मा में व्याप्त हूँ। इसीसे लोग मुझे विष्णु कहते हैं। जितेन्द्रिय बन सिद्धि प्राप्त करने वाले पुरुष, स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्ष रूप मेरी प्राप्ति ही की इच्छा करते हैं। अतः मेरा नाम दामोदर है। अन्न, वेद, जल और अमृत को पृश्नि कहते हैं। इन सब के मुझमें वर्त्तमान रहने से मैं पृश्निगर्भ कहलाता हूँ।

एक बार ऋषियों ने मुझसे कहा—एकत तथा द्वित ने अपने भाई त्रित को कुए में पटका दिया है। अतः हे पृश्निगर्भ! त्रित की तुम रक्षा करो। ऋषिश्रेष्ठ त्रित, जो ब्रह्मा के प्रथम पुत्र थे, पृश्निगर्भ का नाम लेने से कुए से निकल आये थे। चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि के जो प्रकाशवान् अंश हैं, वे मेरे केश कहलाते हैं। इसीसे सर्वज्ञ और श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझे केशव कहते हैं।

एक बार उतथ्य मुनि ने अपने भार्या के उदर में गर्भ स्थापन किया था।—तदनन्तर देवमाया से उतथ्य अन्तर्धान हो गये! तब महात्मा बृहस्पति उतथ्य की भार्या के निकट मैथुन करने गये। उस समय बृहस्पति से गर्भस्थ बालक ने पूछा—हे वरद ऋषे! मैं तो इस उदर में हूँ ही, अतः

आपको उचित नहीं कि, आप मेरी माता को कष्ट दें। गर्भस्थ प्राणी के ये वचन सुन बृहस्पति कुपित हो गये और उन्होंने उसे यह शाप दिया कि, तू अंधा हो जा। इस शाप से वह अन्धा हो गया। अतः उसका नाम दीर्घतमा पड़ा था। दीर्घतमा ऋषि ने ही साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों का अध्ययन कर, मेरे इस गुह्य केशव नाम का प्रादुर्भाव किया था। उसने मुझे बारंबार केशव! केशव! कह कर पुकारा था। तब उनको नेत्र मिले थे और पीछे वे दीर्घतमा ऋषि गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इस प्रकार देवताओं और ऋषियों को वर देने वाले केशव नाम की उत्पत्ति हुई है।

अग्नि और सोम के एक स्थान पर एकत्रित होने पर, वे दोनों (उदर रूपी) एक योनि को प्राप्त होते हैं। इसीसे यह सारा जगत अग्नीषोममय कहलाता है। पुराण में कहा गया है कि, अग्नि और सोम की उत्पत्ति एक ही योनि से हुई है। इसीसे देवता अग्निमुख कहलाते हैं। दोनों एक योनि होने के कारण दोनों ही समान योग्यता वाले हैं और लोकों को धारण कर रहे हैं।

तीनसौ व्यालीस का अध्याय

अग्नि-सोम-उत्पत्ति

अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन! अग्नि और सोम की उत्पत्ति एक पुरुष से पहले कैसे हुई थी? मुझे इसमें सन्देह है—अतः आप मेरा सन्देह दूर कर दें।

श्रीकृष्ण भगवान ने कहा—हे पाण्डुनन्दन! हे कुन्तीसुत! मैं अपने तेज से उत्पन्न इन दोनों का प्राचीन वृत्तान्त तुम्हें सुनाता हूँ। तुम मन लगा कर सुनो। जब देवताओं के चार हज़ार वर्ष व्यतीत हो गये; तब प्रलयकाल उपस्थित हुआ। उस समय यह चराचरात्मक सारा जगत्

अव्यक्त में लीन हो गया। तेज, पृथिवी और वायु का नाश हो गया। चारों ओर अन्धकार छा गया और सारा जगत् जल में डूब गया। न तो रात रही, न दिन रहा, न सत् रहा, न असत् रहा, न व्यक्त रहा, न अव्यक्त रहा। जगत् की ऐसी दशा देख; भूत, अजर, अमर, इन्द्रियरहित, इन्द्रियातीत, असम्भव, दयालु, चिन्तामणि स्वरूप, विविध प्रकृतियों के हेतुभूत, नाशरहित, अमूर्त्त, सर्वव्यापी, सर्वकर्त्ता और सनातन, अन्धकार रूप नारायण के आश्रित गुणों से निर्विकार अविनाशी भगवान् हरि का प्राकट्य हुआ। इस बात का श्रुति-प्रमाण इस प्रकार है। उस समय न दिन था, न रात थी, न सत् था, न असत् था, किन्तु जिधर देखो उधर अन्धकार ही अन्धकार था। यही नारायण की रात थी। यही इसका भाषा में अर्थ होता है। तम से जो पुरुष उत्पन्न हुआ उसने ब्रह्मा की रचना की। अथवा उसीसे ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। तदनन्तर उस पुरुष को प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई। तब उसने अपने नेत्रों से अग्नि और सोम को उत्पन्न किया। फिर पञ्चमहाभूतों की रचना कर, उसने ब्राह्मण और क्षत्रिय उत्पन्न किये। सोम ही ब्रह्म का रूप है और ब्रह्म को ब्राह्मण और जो अग्नि है उसको क्षत्र (क्षत्रिय) जानना चाहिये। क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मण बलवान् है। क्योंकि ब्राह्मण के गुण, क्षत्रिय के गुणों की अपेक्षा अधिक हैं। यह बात सब लोग जानते हैं। ब्राह्मण उत्तम कोटि के प्राणी होने से सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। ब्राह्मणों के पहले और कोई प्राणी उत्पन्न ही नहीं हुआ था।

शास्त्र का मत है कि, जो ब्राह्मण के मुख में हवन करता है, वह मानों प्रज्वलित अग्नि में हवन करता है। ब्रह्मा ने प्राणियों को उत्पन्न कर, उन्हें स्थापित किया और तीनों लोकों की व्यवस्था की। इस विषय के वैदिक मन्त्र इस प्रकार कहते हैं—हे अग्ने! आप समस्त यज्ञों के होता हैं। आप समस्त देवताओं, मनुष्यों और जगत् के भी हितकर्त्ता हैं। क्योंकि आप यज्ञों के होता और कर्त्ता हैं और हे अग्ने! तुम ब्राह्मण

स्वरूप है। बिना मन्त्र हवन नहीं हो सकता और बिना पुण्य के तप नहीं होता। देवताओं और ऋषियों का पूजन मंत्र सहित हवि ही से तो होता है। अतः हे अग्ने! आप होता माने गये हैं। होता के अधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त हैं। इसीसे ब्राह्मणों को छोड़ यज्ञ कराने का अधिकार अन्य किसी को नहीं है। बल्कि ब्राह्मणेतर को भी यज्ञ ब्राह्मण ही करा सकते हैं। अतः ब्राह्मण की अग्नि संज्ञा है। वे स्वयं यज्ञ कर के यज्ञ द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करते हैं। सन्तुष्ट हो, देवगण पृथिवी को धन-धान्य से युक्त करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि, ब्राह्मण के मुख में हवन करने से अर्थात भोजन कराने से देवता प्रसन्न होते हैं। जो वेदज्ञ पुरुष वेदवेत्ता ब्राह्मण को भोजन कराता है, वह मानों प्रज्वलित अग्नि में हवन करता है। इस प्रकार विद्वान् ब्राह्मण अग्नि रूप हैं और अग्निदेव उनका पालन करते हैं। अग्नि विष्णु स्वरूप हैं और सब के शरीरों में प्रवेश कर, उनके प्राण धारण करता है। इस विषय में सनत्कुमार ने भिन्न श्लोक कहे हैं—विश्व रचना के पूर्व ब्रह्मा ने परम पवित्र ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति की। ब्राह्मण वेदाध्ययन कर और देवता बन, स्वर्ग में जाते हैं। जैसे घी को गोदुग्ध धारण करता है, वैसे ही ब्राह्मणों की बुद्धि, उनके वचन, उनके कर्म, उनकी श्रद्धा और उनके तप को, पृथिवी और स्वर्ग धारण करते हैं।

सत्य से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है। माता के समान अन्य कोई पूज्य नहीं है, इस लोक और परलोक में मनुष्य मात्र का कल्याण करने वाला ब्राह्मण वर्ण को छोड़ और कोई वर्ण नहीं है। जिस राज्य में ब्राह्मणों की कोई जीविका नहीं है, उस देश में बैल हल नहीं खींचते, वहाँ दही से मक्खन भी नहीं निकलता। तब राजा लोग लुटेरे बन प्रजा को लूटने लगते हैं। वेदों, इतिहासों और पुराणों के प्रमाण देखने से मालूम होता है कि, सब के कर्त्ता रूप और समस्त पदार्थों के भाव रूप ब्राह्मणों

की उत्पत्ति नारायण के मुख से हुई है। वरद देवदेव नारायण जिस समय मौन हुए, उस समय सर्वप्रथम ब्राह्मण वर्ण ही की उत्पत्ति हुई। फिर ब्राह्मणों से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और शेष वर्ण उत्पन्न हुए। इसी लिये देवताओं और असुरों से भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। क्योंकि मैंने ब्रह्म रूप से उनको उत्पन्न किया था। देवता, असुर तथा महर्षि आदि भूतविशेषों को भिन्न भिन्न अधिकारों पर स्थापित कर, मैंने उनका निग्रह भी किया था। अहल्या के साथ सम्भोग करने वाले इन्द्र को गौतम ने शाप दे, उनकी मूछें हरे रंग की कर दी थीं। कौशिक के शाप से जब इन्द्र, अण्डकोष-हीन हो गये, तब उनके मेष के अण्डकोष लगाये थे। अपना यज्ञ भाग लेने के लिये उद्यत अश्विनीकुमारों के ऊपर वज्र उठाने वाले इन्द्र के दोनों हाथों को च्यवन ने स्तम्भित कर दिया था। यज्ञ विध्वंस होने के कारण कुपित और तप करने में प्रवृत्त होने पर, रुद्र के मस्तक में तीसरा नेत्र उत्पन्न हुआ था।

त्रिपुरासुर-वध की प्रतिज्ञा करने पर रुद्र के सामने शुक्राचार्य ने अपनी जटा का एक बाल उखाड़ भूमि पर फेंका था। उस केश से सर्प उत्पन्न हुए। जब उन सर्पों ने रुद्र को पीड़ित किया, तब रुद्र नीलकण्ठ हो गये। शिव का नीलकण्ठ इस लिये भी हुआ था कि, स्वायम्भुव मन्वन्तर में नारायण ने रुद्र का गला पकड़ा था। इससे उनका कण्ठ नीला पड़ गया था। अमृत उत्पन्न करने के लिये पुरश्चरण करने को आसीन बृह-स्पति के स्पर्श करने पर भी जब जल निर्मल नहीं हुआ, तब बृहस्पति जल के ऊपर क्रुद्ध हुए और बोले—हे जल! मैं आचमन करना चाहता था, तब भी तू निर्मल नहीं हुआ और गँदला ही रहा—अतः आज से मगर, मछली और कछुए द्वारा तू मलिन ही रहा करेगा। उसी दिन से जल में जलचर प्राणी रहने लगे।

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप देवताओं का पुरोहित था। वह असुरों का भाञ्जा था। अतः वह यज्ञ में देवताओं को प्रत्यक्ष रीति से और असुरों

को गुप्त रीति से भाग दिया करता था। फिर हिरण्यकशिपु को आगे कर असुर विश्वरूप की माता के पास गये और उनसे यह वरदान माँगा कि, हे बहिन! तीन सिरों वाला तेरा और त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप, देवताओं का पुरोहित है। वह देवताओं को खुल्लंखुल्ला यज्ञ-भाग देता है और हमें लुक छिप कर। इससे देवताओं की वृद्धि होती है और हमारा क्षय होता है। अतः उसे ऐसा करने से रोकना चाहिये। ऐसा करना चाहिये जिससे वह वही करे जो हम उससे कहें।

तदनन्तर विश्वरूप जब नन्दन वन में था, तब उसकी माता ने उससे कहा—हे पुत्र! तू शत्रुपक्ष की वृद्धि और मामा के पक्ष का नाश क्यों करता है? तुझे ऐसा करना न चाहिये। यह सुन विश्वरूप हिरण्यकशिपु के पास गया। इस पर हिरण्य-गर्भ-नन्दन वसिष्ठ ने हिरण्यकशिपु को शाप दिया कि, तूने यज्ञ में दूसरा होता बनाया है, अतः तेरा यज्ञ पूर्ण न होगा। कोई अपूर्व प्राणी तेरा नाश करेगा। इस कारण हिरण्यकशिपु का नृसिंह द्वारा वध किया गया। इधर विश्वरूप मातृ-पक्ष की वृद्धि के लिये तप करने लगा। अतः उसका तप भङ्ग करने को इन्द्र ने उसके निकट बहुत सी सुन्दरी अप्सराएँ भेजीं। उन सुन्दरी अप्सराओं को देख विश्वरूप का मन क्षुब्ध हो गया और वह उन पर मोहित हो गया। यह देख अप्सराएँ उससे कहने लगीं—अब हम जाती हैं। तब विश्वरूप ने उनसे पूछा—तुम लोग जाती कहाँ हो? मेरे पास बैठो, इससे तुम्हारी भलाई होगी।

इस पर अप्सराओं ने उत्तर दिया—हम देवाङ्गना अप्सराएँ हैं। हम प्रथम महा-प्रभाव-सम्पन्न इन्द्र को वर चुकी हैं।

विश्वरूप बोला—यदि ऐसा है तो आज ही देवताओं सहित इन्द्र ही न रहेगा। यह कह विश्वरूप मन्त्र का जाप करने लगा। तब मन्त्र के प्रभाव से त्रिशिरा (विश्वरूप) बढ़ने लगा। ब्राह्मण यज्ञों में जो सोम होमते उसे विश्वरूप एक मुख से पी जाता था। दूसरे मुख से होमे हुए

अन्न को खा लेता था और तीसरे मुख से इन्द्र सहित समस्त देवताओं को खा जाने की धमकी देता था। विश्वरूप को नित्य सोमपान कर के बढ़ते देख इन्द्रादि समस्त देवता बहुत चिन्तित हुए। अन्त में वे सब देवगण ब्रह्मा जी के पास गये और बोले कि, यज्ञ में होमे हुए सोम को विश्वरूप पी डालता है। हम बड़े कष्ट में हैं। असुरों की वृद्धि हो रही है और हमारा पक्ष निर्बल पड़ता जाता है। अतः आप अविलम्ब हमारी सहायता करें।

ब्रह्मा जी बोले—भृगुवंशीय दधीचि ऋषि तपस्या कर रहे हैं। उनके पास जाओ। उन्हें प्रसन्न करो, जिससे वे अपना शरीर त्याग दें, फिर तुम उनकी हड्डी से वज्र बनाना।

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन, देवगण दधिचि के पास गये और उनसे पूछा—भगवन्! आपकी तपस्या निर्विघ्न और अविच्छिन्न होती है न?

दधीचि ने कहा—आप लोगों का मैं स्वागत करता हूँ। बतलाइये आप क्या चाहते हैं? आप जो कुछ कहेंगे, मैं वही करूँगा।

देवता कहने लगे—लोक-हितार्थ आपको अपना शरीर त्याग देना चाहिये।

सुख दुःख को समान मानने वाले महायोगी दधीचि ऋषि ने अपना मन परमात्मा में लगाया और बिना खिन्न हुए उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। तब उनकी हड्डियों से ब्रह्मा जी ने वज्र बनाया। ब्राह्मण की हड्डियों से बना हुआ वह वज्र अभेद्य और अप्रधृष्य था। उस वज्र में विष्णु ने अपनी सत्ता स्थापित की। तब इन्द्र ने उस वज्र से विश्वरूप का सिर काट कर, उसका वध किया। तब त्वष्टा ने विश्वरूप के शरीर को मथ कर, इन्द्रशत्रु वृत्र को उत्पन्न किया। उसे भी इन्द्र ने मार डाला। इस पर दोहरी ब्रह्महत्या लगने के भय से इन्द्र स्वर्ग के राज्य को छोड़, मानसरोवर में उत्पन्न, कमल के नाल में घुस गया। वह अपने ऐश्वर्य

से अनुरूप हो गया था। जब ब्रह्महत्या के भय से इन्द्राणीपति और त्रिलोकेश्वर इन्द्र भाग गये, तब जगत अराजक हो गया। जब राजा न रहने से देवता राजसिक और तामसिक हो गये; तब महर्षियों के मंत्र अपना काम न करने लगे। अतः राक्षस उत्पन्न हो गये। ब्रह्मविद्या का नाश होने पर आ गया। इन्द्र के न रहने से लोग निर्बल पड़ गये। यहाँ तक कि, उन्हें पराजित करना कोई बड़ी बात न रही। तब देवताओं और ऋषियों ने मिल आयुपसुत नहुष को इन्द्रासन पर अभिषिक्त किया। उसके मस्तक पर पाँचसौ चमचमाते रत्नों का मुकुट रखा गया। तब नहुष स्वर्ग में राज्य करने लगा। फिर प्रजा पूर्ववत् दशा को प्राप्त हो गयी और सब लोग हर्षित हुए। यह देख नहुष ने कहा—इन्द्र की पत्नी शची को छोड़ इन्द्र के उपयोग की मुझे सब वस्तुएँ मिली हैं। यह कह वह शची के निकट गया और उससे कहा—हे सुभगे! मैं देवताओं का राजा इन्द्र हूँ। अतः तू मेरी सेवा कर।

शची ने उत्तर दिया—आप सम्भवतः धर्मवत्सल हैं और चन्द्रवंशी हैं। अतः परस्त्री पर अत्याचार करना आपको उचित नहीं।

नहुष ने कहा—मैंने इन्द्र की पदवी पायी है। मैं इन्द्र का राज्य और उसके रत्नों का स्वामी हूँ। अतः तुझे मेरा अपनाना पाप कर्म नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तू भी तो इन्द्र की भोग्य वस्तुओं में से एक है।

शची ने कहा—मेरा एक व्रत अभी अपूर्ण है। उसे पूरा कर। मैं अवभृथ स्नान कर कुछ दिनों बाद तेरे निकट आऊँगी।

शची की यह बात सुन नहुष लौट गया। उसके चले जाने के बाद दुःखित, पीड़ित अपने पति के दर्शन की लालसा से प्रेरित और नहुष के भय से भीत शची, देवगुरु बृहस्पति के पास गयी। शची को व्याकुल देख, बृहस्पति ने योगबल से उसके मन की बात जान ली। तब बृहस्पति ने इन्द्राणी से कहा—तुम वरदा उपश्रुति नाम्नी देवी का आह्वान करो। वह तुम्हें इन्द्र का दर्शन करा देगी।

यह सुन कर बृहस्पति के बतलाये विधान के अनुसार शची ने उपश्रुति का मंत्रोच्चारण पूर्वक आह्वान किया। उपश्रुति देवी प्रकट हुई और शची से बोलीं—बतला मुझे क्यों बुलाया है? यह सुन शची ने शीश नवा उपश्रुति देवी को प्रणाम किया और कहा आप सत्य हैं, ऋत हैं, अतः आप मुझे मेरे पति को दिखला दें। यह सुन उपश्रुति; शची को मानसरोवर पर ले गयी और कमलनालस्थित इन्द्र को उसे दिखलाया। इन्द्र अपनी पत्नी शची को उदास और दुःखी देख, मन ही मन कहने लगे, हाय! हाय! इसे मेरे वियोग का दुःख इतना व्यापा है कि, यह दुखियारी मुझ अज्ञातवासी को खोजती हुई यहाँ आ पहुँची है। फिर इन्द्र ने शची से पूछा—बतला तू अपना समय कैसे बिताती है?

शची ने उत्तर दिया—नहुष मुझे अपनी पत्नी बनाना चाहता है। किन्तु मैंने उससे कुछ समय (मोहलत) माँग लिया है

इन्द्र बोले—अच्छा जा नहुष से कहना कि, तू ऋषियों के उठाये हुए अपूर्व यान में बैठ कर मुझे विवाहने को मेरे पास आ। क्योंकि इन्द्र के पास जितने बड़े बड़े वाहन हैं, उन सब पर तो मैं बैठ चुकी हूँ। अतः तू मेरे निकट किसी अपूर्व वाहन पर सवार हो कर आ।

यह सुन प्रसन्न होती हुई शची फिर स्वर्ग में पहुँची और इन्द्र पूर्ववत् कमलनाल में जा बैठे। शची को स्वर्ग में लौटी हुई देख, नहुष ने उससे कहा—तेरा माँगा हुआ समय पूरा हो गया है। इस पर शची ने इन्द्र के कथनानुसार जब नहुष से कहा, तब नहुष महर्षियों द्वारा उठायी हुई पालकी पर सवार हो, शची के भवन की ओर चला। तदनन्तर मित्रावरुण के पुत्र और कुम्भ से उत्पन्न हुए ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य ने देखा कि, नहुष महर्षियों को धिक्कार दे रहा है। इतने में नहुष ने अपने दोनों चरणों से अगस्त्य का शरीर छुआ। इस पर महर्षि अगस्त्य ने कुपित हो, नहुष को शाप दिया। हे अन-करना-काम-करने-वाले! जा पृथिवी पर गिर

और जब तक पृथिवी और पर्वत रहें तब तक तू सर्प की योनि में रह। महर्षि के ऐसा कहते ही नहुष वाहन से नीचे गिर पड़ा। तब तीनों लोक पुनः इन्द्ररहित हो गये। इस पर समस्त देवता और ऋषि भगवान् के पास गये और उनसे निवेदन किया—ब्रह्महत्या से दुःखी इन्द्र की आप रक्षा कीजिये। देवताओं की इस प्रार्थना को सुन, वरद भगवान ने उनसे कहा—इन्द्र, विष्णु के उद्देश्य से यदि अश्वमेध यज्ञ करे तो उसे पुनः उसका स्थान मिल सकता हैं। यह सुन देवताओं और ऋषियों ने इन्द्र का पता लगाया, किन्तु उन्हें इन्द्र का पता न लगा। तब वे सब शची के पास गये और बोले—हे इन्द्राणी! आप जा कर इन्द्र को बुला लावें। यह सुन शची मानसरोवर पर गयीं और इन्द्र सरोवर से निकल बृहस्पति के निकट गये। बृहस्पति ने इन्द्र से अश्वमेध यज्ञ करवाया और उस यज्ञ में कृष्ण सारंग जाति के अश्व को छोड़ उसीको इन्द्र का वाहन बनाया और मरुत्पति इन्द्र को इन्द्रपद पर स्थापित किया। तब पापरहित इन्द्र की, देवताओं और ऋषियों ने स्तुति की। इन्द्र पूर्ववत् स्वर्ग में रहने लगे और अपनी ब्रह्महत्या को स्त्री, अग्नि, वनस्पति और गौओं में बाँट दिया। इस प्रकार इन्द्र ब्राह्मण के तेज के प्रभाव से बढ़ कर और शत्रुओं का नाश कर, अपनी राजधानी में गये।

एक बार महर्षि भरद्वाज जी आकाश-गङ्गा में स्नान कर रहे थे। उस समय त्रिविक्रम भगवान विष्णु ने उनको पकड़ लिया। तब भरद्वाज जी ने हाथ में जल ले, विष्णु के हृदय पर मारा। तब से विष्णु के हृदय पर एक चिन्ह हो गया है। भृगु के शाप से अग्नि को सर्वभक्षी बनना पड़ा। मेरे पुत्र देवता भोजन कर के असुरों को मारेंगे—यह विचार अदिति रसोई कर रही थी। इतने में अपना व्रत पूर्ण कर बुध वहाँ आये और अदिति से कहने लगे—मुझे भिक्षा दो। किन्तु अदिति ने बुध को भिक्षा न दी और उनसे यह कह दिया कि, यह रसोई देवताओं के लिये है। इसे दूसरे नहीं खा सकते। इस पर ब्रह्मभूत बुध को क्रोध चढ़ आया और उन्होंने

अदिति को शाप देते हुए कहा—विवस्वान के दूसरे जन्म के समय अदिति के पेट में पीड़ा होगी। अण्ड संज्ञा वाले विवस्वान के द्वितीय बार जन्म लेने के समय अण्डमाता अदिति को वह शाप स्मरण होता है। इसीसे श्राद्ध-देव विवस्वान का नाम मार्त्तण्ड पड़ा है।

अपनी साठ कन्याओं में से दक्ष ने कश्यप को तेरह, धर्म को दस, मनु को दस और चन्द्रमा को सत्ताइस कन्याएँ दान की थीं। जो दक्ष की कन्याएँ चन्द्रमा को ब्याही गयी थीं, वे नक्षत्रों के नाम से प्रसिद्ध हुईं। उन समान रूप एवं गुण वाली स्त्रियों में से रोहिणी पर चन्द्रमा सब से अधिक प्रेम किया करते थे। अतः अन्य सब स्त्रियाँ इससे क्रुद्ध गयीं और अपने पिता दक्ष के निकट जा कर बोलीं—भगवन्! हम सब समान रूप एवं गुण वाली हैं, तब भी चन्द्रमा रोहिणी पर अधिक प्रीति रखता है। यह सुन उनके पिता दक्ष ने उसे शाप दिया कि, चन्द्रमा को क्षय रोग हो जायगा। दक्ष के शाप से चन्द्रमा को क्षय रोग हो गया। क्षय का रोग होते ही चन्द्रमा दक्ष के निकट गया। तब दक्ष ने उससे कहा—तूने अपनी पत्नियों से समान बर्त्ताव नहीं किया—उसीका यह फल तुझे प्राप्त हुआ है। इसके बाद ऋषियों ने चन्द्र से कहा—तू क्षय से क्षीण हो गया है। अतः तू पश्चिम समुद्र के तट पर हिरण्यसर नामक तीर्थ पर जा और उस सर के जल में स्नान कर। चन्द्रमा ने ऐसा ही किया और उसका क्षयरोग अच्छा हो गया। उस सर में चन्द्रमा के स्नान करने से वह तीर्थ प्रभास के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। दक्ष के शाप के प्रभाव से चन्द्रदेव आज भी कृष्णपक्ष में क्षीण होता है और पूर्णिमा तक बढ़ता रहता है। उसका शरीर मेघलेखा से ढका हुआ सा देख पड़ता है। वह मेघ जैसा श्याम वर्ण का हो जाता है और चन्द्र-बिम्ब में शश का चिन्ह भी साफ देख पड़ता है।

स्थूलशिरा नामक महर्षि पहले मेरु पर्वत के ईशानकोण में तप करते थे। उनके तप करते समय गन्धावह शुद्ध वायु चलता था।

उसने ऋषि के शरीर का स्पर्श किया। तप करते करते उन ऋषि का शरीर अत्यन्त कृश हो गया था, अतः वे पवनस्पर्श से सन्तुष्ट हुए। उस समय वनस्पतियों ने पुष्पित हो शोभा प्रदर्शित की। अतः मुनि ने उनको शाप दिया कि, तुम सब सदा पुष्पित नहीं हुआ करोगी।

पूर्वकाल में नारायण, लोक-हितार्थ बड़वामुख नामक महर्षि हो कर, मेरु पर्वत पर, तप करते थे। उस समय उन्होंने समुद्र को अपने निकट बुलाया। किन्तु वह नहीं गया। इस पर वे क्रुद्ध हुए और अपने शरीर की उष्णता से समुद्र को स्थिर जल वाला बना दिया। तब से समुद्र का जल पसीने के स्वाद की तरह खारी हो गया। उन्होंने समुद्र से कहा—तू आज से अपेय हो जायगा। किन्तु बड़वामुख नामक अग्नि तेरा जल पिया करेगा, तब तू मधुर होगा। तब से आज तक बराबर बड़वामुख अग्नि समुद्रजल पान किया करता है।

हिमालय की पुत्री उमा को शङ्कर ने विवाहना चाहा। उधर भृगु ने हिमाचल के निकट जा कहा कि, तुम अपनी कन्या का विवाह मेरे साथ कर दो। इस पर हिमालय ने कहा—मैं तो अपनी कन्या का विवाह रुद्र के साथ करना निश्चित कर चुका हूँ। इस पर भृगु ने उस से कहा—तूने मुझ कन्या-प्रार्थी का अपमान किया है। अतः मैं तुझे शाप देता हूँ कि, तू आज से रत्नों की उत्पत्ति का स्थान न रह जायगा। तब से आज तक ऋषि के कथनानुसार हिमालय में रत्नों की उत्पत्ति होती ही नहीं।

ब्राह्मणों की ऐसी महिमा है। क्षत्रिय राजा भी ब्राह्मणों ही की कृपा से, इस पृथिवी को पत्नी के समान, उपभोग किया करते हैं। ब्राह्मण की शक्ति अग्निवत् प्रचण्ड और सोमवत् शान्त-प्रद है। उसी शक्ति से यह जगत् ठहरा हुआ है। सूर्य और चन्द्रमा परमात्मा के नेत्र-रूप कहलाते हैं। चन्द्रमा और सूर्य की किरणें परमात्मा के केश हैं। सूर्य चन्द्र परमात्मा को जगाते हुए और तपाते हुए उदित होते हैं। वे जगत् को तृप्त

और जागृत करने के कारण, जगत् को हर्षित करने वाले कहलाते हैं। हे पाण्डु-पुत्र! अग्नि और सोम के लिये ऐसे कर्मों से मैं हृषीकेश कहलाता हूँ। मुझे यज्ञ में "इलोपहूता सह दिवा" आदि वैदिक मन्त्रों से आमन्त्रण दिया जाता है। मैं अपना भाग ग्रहण करता हूँ। मेरा रङ्ग भी हरा और उत्तम है। इसीसे मैं हरि कहलाता हूँ। लोक का बल या लोक का आधार, धाम कहलाता है और अबाधित सत्ता या सत्य को ऋत् कहते हैं। सो मैं सत्य रूप स्थान वाला हूँ। इससे ब्राह्मण लोग मुझे ऋतधामा कहते हैं।

पूर्वकाल में यह पृथिवी जल में डूब गयी थी। तब मैंने इसे जल से निकाला था। तब से देवता गोविन्द के नाम से मेरी स्तुति करते हैं।

मेरा नाम शिपिविष्ट भी है। यह इस लिये कि, मैं रोमरहित प्राणी की तरह निष्कल हूँ और उस शिपिरूप से मैंने सारे जगत् में प्रवेश किया है। इससे मैं शिपिविष्ट कहलाता हूँ। शान्तमना यास्कमुनि ने अनेक यज्ञों में मेरा शिपिविष्ट नाम से स्तव किया है। अतः मेरा यह गुह्य शिपिविष्ट नाम पड़ा है। उदारधी यास्क ऋषि ने शिपिविष्ट नाम से मेरा गुणगान कर, मेरे अनुग्रह से पाताल में गये हुए निरुक्त का उद्धार किया था।

मैं न तो कभी उत्पन्न हुआ, न उत्पन्न होता हूँ और न कभी उत्पन्न होऊँगा ही। मैं समस्त प्राणियों का क्षेत्रज्ञ हूँ। इसी लिये मैं अज कहलाता हूँ।

मैंने आज तक कभी कोई ओछी और अश्लील बात नहीं कही। क्योंकि ब्रह्मा की पुत्री देवी सरस्वती सत्य वाणी रूप है।

हे कुन्तीपुत्र! मैं अपने में कार्य और कारण का लय किये हुए हूँ। इसीसे मेरे नाभिकमल रूप ब्रह्मलोकवासी ऋषि मुझे सत्य नाम से पुकारते हैं।

हे धनञ्जय! मैं आज तक कभी सत्त्वभ्रष्ट नहीं हुआ। मैंने सत्त्व

गुण को उत्पन्न किया है और जन्म के सत्वगुण ने इस जन्म में भी मुझे नहीं त्यागा है। अतः मैं निष्काम हो कर तप करता हूँ। सत्वगुण विशिष्ट होने से मैं निष्पाप हूँ। सत्व का ज्ञान होने पर ही मेरे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। सतोगुणी पुरुषों में मैं सात्वत के नाम से प्रसिद्ध हूँ।

हे पृथानन्दन! हल की कील अर्थात् फल के रूप में, मैं पृथिवी को जोतता हूँ और मेरे शरीर का वर्ण भी काला है। अतः मेरा नाम कृष्ण है।

मैंने जल और पृथिवी को, आकाश और वायु को तथा वायु और तेज को मिलाया है। इसीसे मुझे लोग वैकुण्ठ कहते हैं।

निर्वाण ही परब्रह्म है और यही परम धर्म है। मैं परम धर्म से कभी भ्रष्ट नहीं हुआ। अतः मैं अच्युत कहलाता हूँ।

पृथिवी और आकाश विश्व के मुख में व्याप्त हैं और इन दोनों का मैं धारण करने वाला हूँ। अतः मेरा नाम अधोक्षज है।

वेदवेत्ता और वेदार्थवेत्ता यज्ञशाला के प्राग्वंश नामक स्थल में अधोक्षज नाम से मेरी स्तुति करते हैं। महर्षि, अधोक्षज शब्द के प्रत्येक पद का उच्चारण करते हैं और कहते हैं कि, नारायण को छोड़, इस जगत् में अन्य कोई अधोक्षज नहीं है।

इस जगत् में प्राणियों के प्राणों को धारण करने वाला घृत है। वह मेरे अग्नि स्वरूप की वृद्धि करने वाला है। अतः शान्तस्वभाव वेदज्ञ मुझे घृतार्चि कहते हैं।

कहा जाता है तीनों धातुएँ क्रम से उत्पन्न हुई हैं। वे धातुएँ वात, पित्त और कफ नामक कही जाती हैं। इन्हीं तीन धातुओं से मनुष्य का जीवन स्थिर है। जब ये धातुएँ नष्ट हो जाती हैं, तब वह नष्ट हो जाता है। अतः आयुर्वेदाचार्य मुझे त्रिधातु के नाम से पुकारते हैं।

लोग भगवान् धर्म को वृष नाम से पहचानते हैं और निघण्टु में जहाँ पदों के अर्थ का निरूपण है, वहाँ भी तुम मुझे उत्तम वृष नामाख्य

ही जानो। कपि, वराह और धर्म समानार्थवाची शब्द हैं और तीनों को वृष संज्ञा है। अतः प्रजापति काश्यप मुझे वृषाकपि कहते हैं।

क्या देवताओं में क्या असुरों में—कोई भी मेरा आदि, मध्य और अन्त नहीं जानता। क्योंकि मैं तो आदि-मध्य-अन्त-रहित हूँ। मैं सब का स्वामी और सर्वव्यापक और सब प्राणियों का साक्षी हूँ। मेरा वर्णन वेद में इसी प्रकार किया गया है।

हे धनञ्जय! सुनने योग्य जो पवित्र वचन हैं, उनको मैं सुनता हूँ। इसीसे मेरी शुचिश्रवाः संज्ञा है।

पूर्वकाल में मैंने एक-शृङ्ग-नन्दिवर्धन नामक वराह का रूप धारण किया था और इस पृथिवी का उद्धार किया था—अतः मैं एकशृङ्ग कहलाता हूँ।

जब पूर्वकाल में मैंने वराह का रूप धारण किया था, तब मैं त्रिककुद् अर्थात् तीन उन्नत अङ्गों वाला बना था। तब से मेरा नाम त्रिककुद् पड़ा है।

कपिल प्रणीत साँख्य-शास्त्र-वादी जिसे विरंचि कहते हैं, वह विरंचि प्रजापति मैं ही हूँ। मैं समस्त प्रजा को सचेतन करता हूँ। तत्त्व-निर्णायक साँख्य-वादी आचार्य मुझको विद्या का सहायक और आदित्य में रहने वाला पीतवर्ण (कपिल) और सनातन देव बतलाते हैं।

वेदों में तेजस्वी हिरण्यगर्भ रूप से जिसकी स्तुति की जाती है, वही मैं हूँ और पृथिवीमण्डल पर योगीगण सदा मेरा पूजन किया करते हैं।

वेदवेत्ता मुझे एक-विंशात्मक ऋचा रूप ऋग्वेद कहते हैं और सहस्र शाखाओं वाला सामवेद भी मुझे ही बतलाते हैं और आरण्यक में ब्राह्मण मेरा ही गान करते हैं। मेरे भक्त दुर्लभ हैं। अध्वर्यु सम्बन्धी यजुर्वेद में भी मेरा ही गान किया गया है। पाँच कल्पों वाला और कृत्यों के विधान से पूर्ण अथर्ववेद भी मैं ही तो हूँ। यह अथर्ववेदी

ब्राह्मणों की कल्पना है। जो शाखा भेद है, जो शाखाओं की गीतियाँ हैं एवं स्वर-वर्ण-उच्चारण हैं, वे सब मेरे ही बनाये हुए तू जान।

हे पृथानन्दन! वरद हयग्रीव का अवतार मेरा ही अवतार है। वेद के उत्तर भाग में वर्णित पद और क्रम के विभाग का ज्ञाता मैं हूँ। मेरे ही अनुग्रह से वामदेव कथित ध्यान-मार्ग से, महानुभाव पञ्चाल मुनि पदविभाग और अक्षरविभाग जानते हैं। बाभ्रव्य-गोत्री गालव मुनि ने नारायण से प्राप्त वर के प्रभाव से अनुत्तम योग द्वारा सर्वप्रथम क्रमपारग रूप से प्रसिद्ध हो, अक्षर-विभाग तथा पद-विभाग प्रणयन कर, शिक्षाशास्त्र निर्माण किया था। कण्डरीक-कुल में उत्पन्न प्रतापी राजा ब्रह्मदत्त ने बारंबार जन्ममृत्यु सम्बन्धी दुःख को स्मरण कर, सात जन्म में योग सम्पत्ति पायी थी।

मैं पहिले कारण विशेषवश धर्मपुत्र रूप से प्रसिद्ध हुआ था। हे अर्जुन! इसीसे मैं धर्मपुत्र कहलाता हूँ।

पूर्वकाल में नर और नारायण ने अस्खलित तप किया था। उन्हीं दिनों दक्ष प्रजापति ने यज्ञारम्भ किया था। उस यज्ञ में दक्ष ने रुद्र का भाग नहीं निकला। जब यह बात दधीचि ने रुद्र से कही, तब रुद्र ने दक्षयज्ञ विध्वंस किया। रुद्र ने क्रोध में भर चमचमाता एक त्रिशूल बनाया। उसने दक्ष के विशाल यज्ञमण्डप को तहस नहस कर डाला। फिर वह त्रिशूल बदरिकाश्रम में हम लोगों के पास आया और बड़े ज़ोर से नारायण की छाती से टकराया। उसके वेग से नारायण के बाल मूँज की तरह पीले पड़ गये। तभी से मैं मुञ्जकेश कहलाता हूँ।

फिर नारायण ने हुँकार कर, जब उस त्रिशूल का तिरस्कार कर उसकी शक्ति अपहृत कर ली, तब वह त्रिशूल पुनः शङ्कर के हाथ में चला गया। तब रुद्र उन दोनों तपस्वियों की ओर दौड़े। निकट पहुँचने पर नारायण ने रुद्र का गला थामा। विश्वात्मा नारायण के रुद्र का कण्ठ पकड़ने के कारण रुद्र का नाम शितिकण्ठ पड़ा है। फिर रुद्र ने नर को मारने

के लिये दर्भ की एक सींक में से उसका मध्य भाग निकाल लिया। फिर जब मँत्र से उसे अभिमन्त्रित किया, तब वह फरसा के रूप में परिणत हो गया। तब नर ने तुरन्त उसे रुद्र के ऊपर चलाया। किन्तु रुद्र ने उसके तत्काल टुकड़े टुकड़े कर डाले। तब से मैं खण्डपरशु कहलाता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—हे वार्ष्णेय! हे जनार्दन! आप मुझे यह तो बतलाइँ कि, त्रिलोक-नाशन इस युद्ध में कौन जीता था?

श्रीभगवान् ने कहा—जब रुद्र और नारायण लड़ने लगे, तब समस्त प्राणी भयभीत हो घबड़ा उठे। अग्नि ने हवन किये हुए पवित्र बलि को लेना छोड़ दिया। शुद्धमना मुनि वेदाध्यन कर के भी उसे याद नहीं कर सकते थे। उस समय देवगण रजोगुणी और तमोगुणी हो गये थे। पृथिवी काँपने लगी थी। आकाश फटने लगा था। ब्रह्मा जी का सिंहासन हिलने लगा था। समुद्र सूख गये थे। हिमालय विदीर्ण हो गया था। हे पाण्डु-नन्दन! जब ऐसे ऐसे अशुभ अशकुन होने लगे, तब ऋषियों और देव-ताओं को साथ ले, ब्रह्मा जी वहाँ गये, जहाँ नारायण और रुद्र की लड़ाई हो रही थी। निरुक्त-निरूपित चतुर्मुख ब्रह्मा ने हाथ जोड़ कर, रुद्र से कहा—तुम्हारे द्वारा लोकों का कल्याण होना चाहिये। हे विश्वेश्वरो! तुम लोग विश्व की भलाई का विचार कर, अपने अपने हथियार रख दो। ऋषिगण जिन्हें अक्षर, अव्यक्त, ईश, लोकोत्पत्तिकारक, कूटस्थ, कर्त्ता, सुख-दुःख-विवर्जित एवं अकर्त्ता जानते हैं, वे स्वयं साकार हुए हैं। यह उन्हींकी शुभ मूर्त्ति है। धर्म के कुल में नर नारायण जन्मे हैं। ये महा तपस्वी, देवश्रेष्ठ और महा व्रतधारी हैं। मैं पूर्वकाल में इन्हींके अनुग्रह से उत्पन्न हुआ हूँ। हे तात! इन सनातन पुरुष के क्रोध से तुम्हारी भी उत्पत्ति हुई है। हे वरद रुद्र! अब उचित तो यह है कि तुम, मैं, ये समस्त देवगण और महर्षि गण मिल कर नारायण को शीघ्र प्रसन्न करें, जिससे संसार में शान्ति फैले।

जब इस प्रकार ब्रह्मा जी ने समझाया, तब रुद्र शान्त हुए और सब

के आदिकारण, श्रेष्ठ, वरदाता, सर्वप्रथम, नारायण के शरणागत हुए तथा उन्हें प्रसन्न किया। तब वरदाता इन्द्रियाजित और क्रोधजित् नारायण प्रसन्न हुए और शिव जी को गले लगा उनसे मिले भेंटे। तब ऋषियों और देवताओं ने ब्रह्मा जी सहित नारायण का पूजन किया। तदनन्तर जगत्पति ने शिव जी से कहा—जो तुमको जानता है-वह मानों मुझको जानता है और जो तुम्हारा भक्त है वह मेरा भक्त है। हम दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। अतः तुम्हारे मन में अन्तर न आना चाहिये।* मेरे हृदय पर जो शूल लगने का चिन्ह है वह आज से श्रीवत्स नाम से प्रसिद्ध होगा और तुम्हारा कण्ठ पकड़ते समय मेरे हाथ का जो चिन्ह तुम्हारे कण्ठ में हो गया है, इससे तुम श्रीकण्ठ नाम से प्रसिद्ध होगे।

श्रीकृष्ण जी ने कहा—हे अर्जुन! इस प्रकार उन दोनों ने परस्पर प्रहार कर; एक दूसरे के शरीर पर चिन्ह किये और अन्त में विष्णु ने रुद्र के साथ मैत्री की। तदनन्तर समस्त देवताओं को विदा कर, वे दोनों शान्ति भाव से तप करने लगे। यह नारायण के विजय का वृत्तान्त है। नारायण के गुप्त नामों और ऋषियों द्वारा शास्त्रों में कहे गये नामों को व्युत्पत्ति सहित मैंने तुम्हें सुनाया। हे अर्जुन! मैं इस प्रकार अनेक प्रकार के रूप धारण कर, पृथिवी पर सनातन गोलोक में और ब्रह्मलोक में घूमा करता हूँ। युद्ध में, मैंने तुझे सहायता दी थी-अतः तेरी जीत हुई। युद्धारम्भ के समय जो पुरुष तेरे आगे आगे चलता था वही जटाजूटधारी शिव जी थे। मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि, उनकी उत्पत्ति मेरे क्रोध से हुई है और वे काल स्वरूप हैं। तूने जिन शत्रुओं को मारा था उन्हें कालात्मा शिव पहिले ही मार चुके थे। उन अप्रमेय प्रभाव सम्पन्न देवदेव, उमापति, विश्वेश्वर, अविनाशी महादेव

---

* यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति, यस्त्वामनु समामनु।
नावयोरन्तरं किञ्चिन्मा तेऽभूद्बुद्धिरन्यथा॥ श्लो० १२३

को तू सावधान हो कर प्रणाम कर। हे धनञ्जय ! मैं तुझसे कई बार क्रोध से उत्पन्न शिव जी की चर्चा कर चुका हूँ। उनके प्रभाव को तू विचार।

तीनसौ तैंतालीस का अध्याय

नर और नारायण

शौनक ने पूछा—हे सूतपुत्र ! तुमने यह एक बड़ा आख्यान सुनाया। इसे सुन समस्त मुनियों को बड़ा विस्मय हुआ है। हे सूतपुत्र ! नारायण की कथा सुनने से जो पुण्य प्राप्त होता है वह पुण्य समस्त तीर्थों में जाने और उनमें स्नान करने से भी नहीं होता। यह पुण्यमयी और सर्व-पाप प्रणाशिनी कथा को आद्यन्त सुन कर, मेरा शरीर पवित्र हो गया है। सर्व-लोक-नमस्कृत नारायण के दर्शन ब्रह्मादि देवताओं तथा महर्षियों को भी दुर्लभ हैं। नारद जी को नारायण के दुर्लभ दर्शन, नारायण के अनुग्रह ही से हुए थे। अनिरुद्ध के शरीर में जगन्नाथ को देख देवश्रेष्ठ नारायण का दर्शन करने नारद जी क्यों गये थे ? आप हमें इसका कारण बतलावें।

सौति नें कहा—हे शौनक ! परीक्षित के पुत्र राजा जनमेजय का यज्ञ विधिपूर्वक हो रहा था। उस समय वेद के भाण्डार रूप, अपने पिता-मह के पितामह कृष्णद्वैपायन व्यास जी से राजा ने पूछा।—

जनमेजय ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! श्वेतद्वीप से लौटते समय देवर्षि नारद ने नारायण के कथनानुसार और क्या क्या किया? बदरिकाश्रम में नर नारायण से मिलने के पीछे वे वहाँ कितने दिनों तक रहे ? नारद जी ने उनसे क्या क्या प्रश्न किये थे ?

यह महाभारत ग्रन्थ एक लक्ष श्लोकात्मक है। यह बुद्धिमानों का विलोड़ित ज्ञान का सर्वोत्तम सागर है। जैसे दही को मथ कर मक्खन निकाला जाता है, जैसे मलयाचल पर से चन्दन खोज कर निकाला

जाता है, वैसे ही यह महाभारत रूपी अमृत निकाला गया है। जैसे वेदों से आरण्यक निकाले गये हैं, वैसे ही यह कथा रूपी अमृत निकाला गया है। हे तपोधन ! औषधियों में से जैसे अमृत निकाला गया है, वैसे ही आपने नारायण की कथा का यह एक रहस्य कहा है कि, सर्वेश्वर नारायण ही समस्त प्राणियों के जन्मदाता हैं। हे ब्राह्मणोत्तम ! नारायण का तेज अन्य जन कठिनता से देख सकते हैं। कल्पान्त में ब्रह्मादि देवगण, ऋषिगण, गन्धर्वगण तथा चराचरात्मक समस्त पदार्थ नारायण ही में लीन हो जाते हैं। इस लोक अथवा परलोक में इससे बढ़ कर किसी देवता को मैं अधिक पवित्र नहीं मानता। नारायण की कथा सुनने से जो पुण्य मिलता है, वह समस्त तीर्थों और आश्रमों में जाने से भी नहीं मिलता। विश्वेश्वर श्रीहरि की सर्व-पाप-नाशनी कथा को साद्यन्त सुन कर, मैं सब प्रकार से पवित्र हो गया हूँ। वासुदेव भगवान् की सहायता से मेरे पूज्य प्रपितामह अर्जुन को जो विजय प्राप्त हुआ, सो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिसके सहायक त्रिलोकीनाथ साक्षात् विष्णु भगवान् हों, उसके लिये विजय ही क्यों—मेरी जान तो, त्रिलोकी की कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है। हे ब्राह्मण ! मेरे पूर्वज पूज्य पितामह बड़े भाग्यशाली थे। क्योंकि भगवान् जनार्दन उनके हितैषी थे और उनका भला किया था और सदा करते थे। लोकपूज्य भगवान् के दर्शन तो तप से होते हैं। किन्तु मेरे पूर्वजों ने, श्रीवत्स-चिन्ह-शोभित भगवान् का दर्शन किया था। नारद जी तो मेरे पूर्वजों से भी बढ़ कर भाग्यशाली थे। मैं नारद को अल्प तेजस्वी नहीं मानता। क्योंकि वे श्वेतद्वीप में गये और श्रीहरि के दर्शन किये। नारद जी को अनिरुद्ध के शरीर में नारायण के दर्शन कर के भी बदरिकाश्रम में जाने की क्या आवश्यकता थी ? श्वेतद्वीप से लौटे हुए ब्रह्मा जी के पुत्र नारद बदरिकाश्रम में जा नर और नारायण ऋषि से मिल, वहाँ कितने दिनों रहे थे ? वहाँ नारद जी ने उनसे कौन कौन से प्रश्न पूछे थे ? जब नारद जी श्वेतद्वीप से लौटे थे, तब नर

नारायण नामक ऋषियों ने उनसे क्या कहा था? आप मुझे यह वृत्तान्त ज्यों का त्यों सुनावें।

वैशम्पायन जी बोले—मैं अमित तेजस्वी भगवान् व्यासदेव को प्रणाम करता हूँ। उन्हींकी कृपा से भगवान् की यह कथा, मैं तुझसे कहूँगा। श्वेत नामक महाद्वीप में जा कर और वहाँ अविनाशी श्रीहरि के दर्शन कर के नारद जी वहाँ से लौट आये। परमात्मा ने उनसे जो कुछ कहा था उसे अपने में रख वे मेरु पर्वत पर आये। उस समय नारद जी मन ही मन परम विस्मित हुए। उनको विस्मय इस बात का था कि, वे इतनी लंबी और जोखिम से भरी यात्रा कर सकुशल लौट आये थे। तदनन्तर नारद जी मेरु पर्वत की परिक्रमा कर, गन्धमादन पर्वत पर गये और वहाँ से आकाश-मार्ग से वे विशाल बदरिकाश्रम में गये। वहाँ उन्होंने नर नारायण नामक प्राचीन ऋषियों के दर्शन किये। वे दोनों ऋषि बड़ा भारी तप कर रहे थे। आत्मनिष्ठ वे दोनों महा तपस्वी और महाव्रती थे। सब लोकों को प्रकाशित करने वाले सूर्य से भी बढ़ कर वे दोनों तपस्वी थे। दोनों ही के वक्षःस्थलों में श्रीवत्स-चिन्ह थे। दोनों के सिरों पर जटाजूट था। दोनों ही पूज्य थे, दोनों के चरणों में चक्र के चिन्ह थे। दोनों के विशाल वक्षःस्थल थे। उनकी भुजाएँ लंबी थीं और उनके अण्डकोश शुष्क हो गये थे। उनके साठ दाँत और आठ डाढ़े थीं। उनका स्वर मेघ की तरह गम्भीर था। उनका मुख सुन्दर था, ललाट प्रशस्त था और भ्रकुटि, नासिका और ठोड़ी भी सुन्दर थीं। उन दोनों के मस्तक छत्र की तरह गोल थे। ऐसे लक्षणों से युक्त और महापुरुषों की संज्ञा वाले उन दोनों को देख, नारद जी प्रसन्न हुए और उनका पूजन किया। तदनन्तर उन दोनों ने शान्त मन से पाद्य और अर्घ्य से नारायण का पूजन किया। नर और नारायण आतिथ्य करने के बाद आसनों पर बैठ गये। घृताहुति देने से अग्नि की महाज्वालाओं से जैसे यज्ञमण्डप चारों ओर से शोभित होता है, वैसे ही चारों ओर

वह स्थान देदीप्यमान होने लगा। उस समय नारायण ने नारद जी से कहा—जिन सनातन भगवान् परमात्मा को श्वेतद्वीप में तुमने देखा है, वे हम दोनों की पराप्रकृति हैं।

नारद जी बोले—मैंने तो श्वेतद्वीप में विश्वरूपी, अविनाशी श्रीमान् विश्वरूप के दर्शन किये थे। उनमें सब लोक तथा देवता और ऋषि भी रहते हैं और अब भी तुम दोनों देवताओं का दर्शन करने पर श्वेतद्वीप वासी श्रीहरि के मुझको दर्शन होते हैं। अव्यक्त रूपी श्रीहरि में जो लक्षण मैंने देखे, वे लक्षण व्यक्त रूपधारी तुम दोनों में हैं। मैंने वहाँ उन देव के निकट तुम दोनों को देखा था। जब परमात्मा ने मुझे विदा किया, तब मैं यहाँ आया हूँ। तुम दोनों को छोड़ उनके समान तेजस्वी, यशस्वी और श्रीमान् और कोई नहीं है। उन परमात्मा ने मुझसे क्षेत्रज्ञ संज्ञक समस्त धर्म कहे थे। साथ ही इस जगत में आगे होने वाले समस्त अवतारों का भी वर्णन मुझे सुनाया था। वहाँ पर गौर वर्ण और पाँच इन्द्रियों से रहित जो पुरुष हैं—वे सब ज्ञानवान् और भगवद्भक्त हैं। वे सदा परमात्मा का पूजन करते हैं और परमात्मा उनके साथ क्रीड़ा करते हैं। भगवान् को अपने भक्त और ब्राह्मण परम प्रिय होते हैं। भक्तों के पूजा करने पर, वे उनके साथ रमण करते हैं। वे भक्तवत्सल माधव विश्व के भोक्ता और सर्वत्र व्यापक हैं। वे जगत् के कर्त्ता, कारण और कार्य हैं। वे महाबली और कान्ति वाले हैं। वे हेतु, आज्ञा, विधान और तत्व रूप हैं तथा और महायशस्वी हैं। वे परमात्मा अपनी आत्मा को तप में लगा कर, श्वेतद्वीप से भी आगे जो स्थान है और जो स्वयं प्रकाशित है, वहाँ रहते हैं। वे दयालु परमात्मा तीनों लोकों में शान्ति स्थापित करने वाले हैं। क्योंकि शान्ति स्थापित करने का उनका नैष्ठिक व्रत है। वे देवेश जब महा कठिन तप करते हैं, तब सूर्य नहीं तपते, चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता और पवन भी नहीं चलता। वे विश्व के कर्त्ता परमात्मा पृथिवी पर आठ अँगुल ऊँची वेदी पर एक पैर से खड़े हो और

भुजाएँ ऊपर कर, पूर्वाभिमुख हो, तप करते हैं। वे साङ्गोपाङ्ग वेदपाठ करते हैं। ब्रह्मा, ऋषि, रुद्र तथा अन्य बड़े बड़े देवता, दैत्य, राक्षस, नाग, गरुड़, गन्धर्व, सिद्ध और राजर्षि हव्य कव्य देते हैं और वह सब हव्य, कव्य परमात्मा के चरणों में पहुँचता है। जिनका मन सदा परमात्मा ही में लगा रहता है, वे जो धर्मानुष्ठान करते हैं, उसे भगवान् विष्णु अङ्गीकार करते हैं। एकाग्रमन वाले महात्मा एवं ज्ञानी जनों से बढ़ कर, उन्हें कोई पुरुष प्रिय नहीं है। उन्हीं परमात्मा के आदेशानुसार मैं यहाँ आया हूँ। मैं अब उनकी भक्ति में परायण रह, सदा आपकी सन्निधि में रहूँगा।

तीनसौ चौवालीस का अध्याय

भगवान् से विश्व की उत्पत्ति का वर्णन

नर और नारायण ने कहा—हे नारद! तुम धन्य हो। तुम्हें परमात्मा के साक्षात् दर्शन हो गये। क्योंकि उनके साक्षात् दर्शन तो ब्रह्मा जी को भी दुर्लभ हैं औरों की तो बात ही क्या है? अव्यक्त-मूल भगवान पुरुषोत्तम, किसी को दर्शन नहीं देते। नारद हम यह बात तुमसे सत्य ही सत्य कहते हैं। हे द्विजोत्तम! भगवान् को इस संसार में अपने भक्त से अधिक प्रिय और कोई नहीं है। इसीसे उन्होंने अपने स्वरूप का दर्शन तुम्हें कराया है। हे द्विजसत्तम! भगवान जिस उत्तम स्थान पर तप करते हैं, वह स्थान हम दोनों को छोड़ और किसी को प्राप्त नहीं हो सकता। जहाँ परमात्मा स्वयं बिराजते हैं, वहाँ की कान्ति एक सहस्र सूर्यों की कान्ति के बराबर है। हे विप्र! हे क्षमावतांश्रेष्ठ! विश्वोत्पत्ति-कारक उन भगवान् ही से क्षमा उत्पन्न हुई है और वह क्षमाभूमि में रहती है।

समस्त प्राणहितैषी उन देव से रस उत्पन्न होता है। जल उसी रस से मिल द्रवत्व को प्राप्त होता है। रूप-गुणात्मक तेज उसीसे प्रकट हुए हैं। उसी तेज से युक्त सूर्यलोक में विराजमान है, उसी पुरुषोत्तम से स्पर्श गुण की उत्पत्ति हुई है, जिसके संयोग से यह पवन संसार में चला करता है। सर्वलोकेश्वर प्रभु से शब्द की उत्पत्ति हुई है। उस शब्द के साथ आकाश युक्त है और इसीसे वह असंवृत (खुला हुआ) है। उस देव ही से सर्वभूतस्थित मन की उत्पत्ति हुई है। उस मन से संयुक्त चन्द्रमा ने प्रकाश गुण धारण किया है। समस्त भूतों के उत्पन्न करने वाला वह स्थान सत् कहलाता है और उस स्थान में हव्य-कव्य-भुक् भगवान विद्या सहित वास करते हैं।

हे ब्राह्मणोत्तम! इस संसार में निष्कलङ्क पाप-पुण्य-विवर्जित पुरुषों के लिये वहाँ जाने का मार्ग निष्कण्टक है। जगत् के अन्धकार को मिटाने वाला सूर्य, मोक्ष-द्वार कहलाता है और कभी कोई जीव आदित्य के ताप से अपने अङ्गों के भस्म हो जाने पर, अदृश्य परमाणु रूप से उन देवेश में प्रवेश करता है। फिर उन देव के शरीर से निकल अनिरुद्ध के शरीर में प्रवेश करता है। फिर सांख्य-शास्त्र-वेत्ता उत्तम ब्राह्मण भगवान के भक्तों के सहित तीन गुणों से रहित परमात्मा में एक साथ प्रवेश कर जाते हैं। फिर द्विज-श्रेष्ठ निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ में वे प्रवेश करते हैं। तत्त्व-दृष्टि से वासुदेव सब के आवास-स्थान हैं और क्षेत्रज्ञ हैं। यह बात तुम्हें स्मरण रखनी चाहिये। जो लोग अपना मन अपने वश में रखते हैं, जो नियम पालने वाले हैं और जो अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखते हैं तथा जिनका भाव एकाग्र हो गया है, वे ही वासुदेव में प्रवेश करते हैं। हे ब्राह्मणोत्तम! हम दोनों धर्म के गृह में जन्मे हैं और इस रमणीय विशालपुरी में रह कर उग्र तप कर रहे हैं। हे द्विज! देवताओं का प्रिय कार्य करने को उन परमात्मा के जो अवतार तीनों लोकों में होने वाले हैं, उनका मङ्गल हो। हम पूर्ववत् विधि के अनुसार अनुष्ठान करते

हुए, बड़ा कठोर तप कर, महाकष्टकारक व्रत का पालन करते हैं। हे तपोधन! हम दोनों ने भी तुमको श्वेतद्वीप में देखा था। तुम भगवान् से मिले और भगवान् के सामने तुमने जो विचार प्रकट किये थे, वे सब हम दोनों को मालूम हैं।

हे महामुने! चराचरात्मक तीनों लोकों में जो कुछ शुभाशुभ होने वाला होता है, हो गया है और होने वाला है, वह सब उन परमात्मा ने तुम्हें बतलाया है।

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय! भयङ्कर तप करने वाले नर नारायण के वचन को सुन कर, नारद जी हाथ जोड़ कर, परमात्मा के ध्यान में निमग्न हो गये। तदनन्तर उन्होंने परमात्मा सम्बन्धी कितने ही मन्त्रों का विधिपूर्वक जप किया। फिर वे नारद जी नर नारायण के आश्रम में सहस्रों दिव्य वर्षों तक भगवान का पूजन करते हुए रहे।

तीनसौ पैंतालीस का अध्याय

भगवान् का वराहावतार

वैशम्पायन जी बोले—हे राजा जन्मेजय! एक बार ब्रह्मा जी के पुत्र नारद ने प्रथम शास्त्रोक्त विधि से देवकर्म और तदनन्तर पितृकर्म किये। इस धर्म के ज्येष्ठ पुत्र नारायण ने नारद जी से पूछा—हे नारद! तुम देवकर्म और पितृकर्म कर के किसका पूजन करते हो? शास्त्र का प्रमाण बतला कर, तुम मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर दो। तुम यह क्या काम कर रहे हो और इसका तुम क्या फल चाहते हो?

नारद जी ने कहा—आप मुझसे पहले कह चुके हो कि, प्रथम देवकर्म करना उचित है। क्योंकि देवकर्म महायज्ञ है और वह सनातन परमात्मा का स्वरूप है। अतः मैं सदा मन ही मन भगवान् का स्मरण करता

हुआ अविनश्वर वैकुण्ठ का पूजन किया करता हूँ। इन्हीं परमात्मा से सर्वप्रथम लोकपितामह ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई थी। उन परमेष्ठी ने हर्षित हो मेरे पिता को उत्पन्न किया और मैं प्रजापति का प्रथम मानसिक पुत्र हूँ। हे साधो! मैं प्रथम नारायण का पूजन करता हूँ। फिर पितरों का। इस प्रकार नारायण मेरे मातापिता और पितामह है। इस प्रकार पितृयज्ञ में भी जगतनियन्ता का पूजन किया जाता है। एक श्रुति है जिसका अर्थ है कि पितरों ने पुत्रों का पूजन किया था। पूर्वकाल में एक वार देवगण वेद की श्रुतियों को भूल गये थे। उस समय उनके पुत्रों ने उनको वेद पढ़ाया था। इस लिये पुत्रों को पितृत्व प्राप्त हुआ था। देवताओं के किये हुए को भक्तवत्सल आप दोनों जानते ही हैं। पुत्र और पिता उसी दिन से परस्पर पूजन करते हैं। प्रथम भूमि पर कुश बिछा कर उन पर तीन पिण्ड रखे जाते हैं। पूर्वकाल में पितरों की पिण्ड संज्ञा क्यों कर हुई? नर और नारायण ने कहा—समुद्र-मेखला पृथिवी पूर्व-काल में जल में निमग्न होगयी थी। भगवान् गोविन्द ने वराह रूप धारण कर उसे जल से निकाला था। इससे भगवान् वराह का शरीर कीचड़ और जल से भींग गया था; किन्तु उन्होंने पृथिवी को जल से निकाल यथा-स्थान स्थापित कर दिया था। फिर जब सूर्य मध्याकाश में आये और आन्हिक का समय उपस्थित हुआ, तब उन्होंने भूमि पर कुशा बिछा—अपनी डाढ़ों में अटके हुए तीनों पिण्डों को निकाल कर, भूमि पर रख दिया। तदनन्तर उन तीनों पिण्डों में अपने आत्मा के उद्देश्य से विधि-पूर्वक पितृकर्म किया। उन तीनों पिण्डों का विधिपूर्वक सङ्कल्प कर के अपने शरीर की उष्णता से निकली हुई, चिकनाहट से युक्त तिलों से उन पिण्डों का प्रोक्षण किया। वराह जी ने पूर्वकालीन मर्यादा स्थापित करने को पूर्वाभिमुख हो, पितृकर्म किया था और कहा था।

वृषाकपि ने कहा—मैंने लोकों को उत्पन्न किया है। मैं पितरों को उत्पन्न करते समय, पितृकर्म की उत्तम विधि का विचार करने लगा।

इतने ही में मेरी डाढ़ के ऊपर से, दहिनी ओर भूमि पर, तीन पिण्ड गिर पड़े। ये तीन पिण्ड ही पितर समझे जाने चाहिये। ये तीनों मूर्ति रहित पितर हैं। उनकी पिण्डरूप मूर्ति है। वे मेरे उत्पन्न किये हुए हैं और सनातन हैं। वे जगत में पितरों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों पिण्डों में मैं हूँ। अतः मुझको ही पिता, पितामह और प्रपितामह जानना चाहिये। कोई पुरुष मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। तब मैं फिर पूजन किस का करूं ? इसी प्रकार जब मैं स्वयं पितामह हूँ, तब संसार में मेरा पितामह कौन हो सकता है ? मैं तो पितामह का भी पिता हूँ। क्योंकि सब का उत्पन्न करने वाला मैं ही तो हूँ।

इस प्रकार देवदेव वृषाकपि ने कहा और वराह नामक पर्वत पर बड़े तीन पिण्ड छोड़े, तब फिर वे अपना पूजन अपने आप कर वहीं अन्तर्धान हो गये। वृषाकपि के कथनानुसार पिण्ड की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है। पिण्ड नाम धारी पितर नित्य मनु के द्वारा पूजे जाते हैं। जो पुरुष पितरों, देवताओं गुरुओं, अतिथियों, गौओं, ब्राह्मणों, पृथिवी तथा माता का पूजन करते हैं, समझना चाहिये, वे मानों मन, वच, कर्म से भगवान् विष्णु ही का पूजन करते हैं। क्योंकि समस्त देहधारियों में रहने वाले भगवान् विष्णु समस्त प्राणियों के हृदयाकाश में विराजमान हैं। श्रुति कहती है कि, वे सब में एकरूप से रहते हैं। वे सुख दुःख के ईश्वर हैं। वे महान् है, महात्मा हैं और सब के आत्मा रूप हैं।

तीनसौ छियालीस का अध्याय

विष्णुद्वेषी के पितरों का नरकवास

वैशम्पायन जी कहने लगे—नर नारायण के कथित वचनों को सुन, नारद जी उनके अनन्य भक्त बन गये। वे नर नारायण के आश्रम

में एक सहस्र वर्षों तक रहे और भगवत्कथा श्रवण कर और अविनाशी श्रीहरि के दर्शन कर, हिमालय-स्थित अपने आश्रम को चले गये। उधर सुप्रसिद्ध तपस्वी नर और नारायण नामक ऋषिद्वय, अपने रम्य आश्रम में उत्तम तप करने लगे। हे जनमेजय! पाण्डव-कुल-सम्भूत और अप्रमेय पराक्रमी तुम भी इस कथा को श्रवण करने से अब पवित्र हो गये हो। जो लोग अविनाशी विष्णु के साथ द्वेष किया करते हैं; उनके लिये न इस लोक में और न परलोक ही में कोई स्थान शान्ति-प्रद है। उसके पूर्वज सदा के लिये नरकगामी होते हैं। भला अपने आत्मा से द्वेष कर कौन अपना भला कर सकता है? हे नरव्याघ्र राजन्! यह प्रसिद्ध ही है कि; भगवान् विष्णु सब के आत्मा हैं— गन्धवती-पुत्र वेदव्यास जी जो हमारे गुरु हैं, उन्हींका कहा हुआ यह परमश्रेष्ठ माहात्म्य है। हे राजन्! मैंने उनके मुख से जो माहात्म्य सुना था, वही तुमसे कहा था। हे राजन्! नारद जी को यह धर्म रहस्य संग्रह सहित जगन्नाथ भगवान् नारायण से मिला था। वही धर्म मैं तुम्हें हरिगीता में संक्षिप्त रूप से सविधि सुना चुका हूँ। तुम इस धराधाम में वेदव्यास जी को नारायण रूप समझो। इनको छोड़ अन्य कौन महाभारत जैसा ग्रन्थ बना सकता है? उनको छोड़ और कौन विविध धर्मों का वर्णन कर सकता है? तुम अब अपने सङ्कल्पानुसार अपना महायज्ञ करो। तुमने अश्वमेध करने का सङ्कल्प किया है और धर्मविधान भी यथारीति सुना है।

सूतपुत्र कहने लगे—नृपश्रेष्ठ जनमेजय ने, इस आख्यान को सुन, यज्ञ-समापन कार्य आरम्भ किया। हे शौनक! तुम्हारे प्रश्न करने पर, तुमसे नैमिषारण्यवासियों के सामने यह नारायणी उपाख्यान कहा। यही उपाख्यान पहले ऋषियों पाण्डवों और भीष्म जी के आगे नारद जी ने मेरे गुरु से कहा था।

नर और नारायण परमर्षि हैं। वे मनुष्य मात्र और समस्त लोकों

के स्वामी हैं। वे इस विस्तृत धराधाम को धारण किये हुए हैं और वेदों की विधि का पालन करने वाले हैं। वे श्रीहरि उत्तम ब्राह्मणों सहित तेरी गति हैं। असुर-वध-कारी, तपःभाण्डार, महा-यश-पात्र, मधु-कैटभ-निहन्ता, सत्ययुग के धर्मों के ज्ञाताओं को मोक्षदायी, अभयप्रद और यज्ञ में भाग ग्रहण करने वाले श्रीहरि के शरण में तुम जाओ। त्रिगुणात्मक निर्गुण, चतुर्मूर्ति इष्टा पूर्त के फल को ग्रहण करने वाले अजित, अति वेग वाले भगवान, पुण्यकर्मा ऋषियों को आत्मरूप गति (मोक्ष) प्रदान करे। तुम सब एक मन हो कर, लोकसाक्षी, जन्म रहित, पुराण-पुरुष, सूर्यवर्ण, ईश्वर और सर्वगतिप्रद, भगवान् वासुदेव को प्रणाम करो। क्योंकि जल से उत्पन्न हुए शेषशायी नारायण भी इन भगवान् वासुदेव को प्रणाम करते हैं। भगवान् वासुदेव तीनों लोकों के मूलरूप हैं। असरों के धाम हैं, सूक्ष्म है और सब के परम स्थान होने के साथ ही साथ मन को वश में रखने वाले साँख्य-योगियों को बुद्धि द्वारा प्राप्त होने वाले हैं।

तीनसौ सैंतालीस का अध्याय

मधु और कैटभ

शौनक ने पूछा—भगवन्! आपके अनुग्रह से मैंने भगवान् वासुदेव की महिमा और धर्म के गृह नारायण के रूप में उनके जन्म ग्रहण करने की कथा सुनी। आपके मुख से मैंने यह सुना कि, महावराह ने सनातन पिण्डों को उत्पन्न किया। मैंने तुम्हारे मुख से प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म का विधान जिस प्रकार रचा गया सो भी सुना। हे सूत-पुत्र शौनक! आपके मुख से समुद्र के ईशान कोण में हव्य-कव्य-भुक् विष्णु द्वारा हयग्रीव का अवतार ग्रहण करने का वृत्तान्त भी सुना।

परमेष्ठी प्रजापति ने सर्वप्रथम हय का महामस्तक देखा था। हे धीमान-श्रेष्ठ! पहले लोकों को धारण करने वाले भगवान् विष्णु ने अपूर्व रूप वाला और अपूर्व प्रभाव वाला महास्वरूप क्यों धारण किया था? हे मुने! देवश्रेष्ठ, अपूर्व अपार बल वाले, पवित्र हयग्रीव को देख, ब्रह्मा जी ने क्या किया था? हे ब्राह्मण! इस पुरातन ज्ञान विषय में हमको सन्देह उत्पन्न हो गया था। हे उत्तम बुद्धिवाले! इन महापुरुष ने जो अवतार धारण किया था, उसके विषय में आप हमसे कहें।

सूतपुत्र ने उत्तर दिया—वेदानुकूल समस्त पुराण को मैं आपसे कहूँगा। भगवान् व्यास जी ने जो बातें राजा जनमेजय से कही थीं, वे ही बातें मैं तुमसे कहूँगा। भगवान् की श्रीहयग्रीव मूर्ति की कथा को सुन कर, उस राजा को सन्देह हुआ था और उसने भी तुम्हारी तरह ही प्रश्न किया था।

जनमेजय ने पूछा कि, हे सत्तम! ब्रह्मा जी ने अश्व के मस्तक को धारण करने वाले हयग्रीव भगवान् के जिस रूप को देखा था, वह रूप उन्हें किस काम के लिये धारण करना पड़ा था? आप मुझे यह बतलावें।

वैशम्पायन जी बोले—हे राजन्! इस जगत में जो देहधारी हैं—उनकी सब की उत्पत्ति भगवत्-सङ्कल्प से होती है और वे पञ्चमहाभूतों से युक्त हुआ करते हैं। भगवान् ही इस सारे जगत् की रचना किया करते हैं। वे ही नारायण हैं और विष्णु हैं। वे समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा रूप, गुणों से युक्त और निर्गुण भी हैं। अब मैं तुम्हें पञ्चमहाभूतों के लय की बात सुनाता हूँ। प्रथम पृथिवी जल में लीन हो गयी थी और यह जगत समुद्र सा जान पड़ने लगा था। फिर जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश मन में, मन व्यक्त में, व्यक्त, अव्यक्त में और पुरुष ब्रह्म में लीन हो गया था। उस समय सब ओर अन्धकार ही अन्धकार हो गया था। उस तम से ब्रह्म प्रकट हुए

वही तम मूल है और वह चैतन्य में अधिष्ठित है। तम से उत्पन्न यह ब्रह्म विश्वरूप होता है और पुरुष शरीर धारण करता है। हे श्रेष्ठ राजन्! तब उसे अनिरुद्ध कहते हैं। विद्वान् लोग उसे प्रधान और अव्यक्त कहते हैं। वे तीनों गुणों से युक्त हैं। विद्या के सहायक विश्क्वसेन, श्रीहरि प्रभु ने योगनिद्रा से निद्रित हो जल में शयन किया। तदनन्तर उन्होंने अनेक गुणों से उत्पन्न चित्र विचित्र सृष्टि रचने का विचार किया। जब वे ऐसा विचार कर रहे थे, तब उन्हें अपनी आत्मा के महान् गुणों का स्मरण हो आया। तब अहङ्कार की उत्पति हुई। चतुर्मुख ब्रह्मा वे ही हैं। उन्हींका दूसरा नाम हिरण्यगर्भ है और लोकपितामह है! कमल समान नेत्रों वाले ब्रह्मा जी अनिरुद्ध से उत्पन्न हुए कमल से उत्पन्न हुए हैं। कान्तिमान् सनातन ब्रह्मा उस सहस्रदल कमल पर बैठे थे। वहाँ से उन्होंने अद्भुत दृश्य से युक्त, समस्त लोक जलमय देखे। तब सतो-गुणी ब्रह्मा जी ने प्राणियों की रचना की। सूर्य के समान चमकदार कमल पत्र पर, भगवान् नारायण ने रज और तम रूपी दो जल-विन्दु डाले। आदि-अन्त-रहित भगवान् अच्युत ने उन दोनों जल-विन्दुओं को देखा। उनमें से एक का रंग शहद जैसा और बड़ा सुन्दर था। उससे नारायण के आदेश से तमोगुणी मधु नामक दैत्य उत्पन्न हुआ था। दूसरी बूँद कड़ी हो गयी थी। उससे रजोगुणी कैटभ नामक दैत्य की उत्पत्ति हुई। जब उन दैत्यों ने कमल में रहने वाले अपार कान्ति सम्पन्न ब्रह्मा जी को चारों वेदों की रचना करते देखा, तब वे दोनों दैत्य गदा ले पद्मनाल की ओर झपटे। वे दोनों असुरश्रेष्ठ ब्रह्मा जी के सामने ही वेदों को उठा कर ले गये। वे असुर उन सनातन वेदों को ले कर, ईशानकोण में महासागर में हो कर रसातल में घुस गये। उनके इस कृत्य से ब्रह्मा जी को बड़ा खेद हुआ। उन्होंने भगवान् से कहा—

ब्रह्मा जी बोले—उत्तम नेत्र रूपी वेद मेरा परम बल थे। वेद मेरे परमधाम हैं। वेद मेरे उत्तम ब्रह्म है। मेरे चारों वेद, दो दानव बरजोरी

उठा ले गये और उनके विना मुझे सारा जगत अन्धकारमय देख पड़ता है। मैं विना वेदों के उत्तम सृष्टि की रचना क्योंकर कर सकूँगा? वेदों के नाश होने का मुझे बड़ा दुःख है। मेरे हृदय में वेदों के विना बड़ी तीव्र वेदना हो रही है। मेरा हृदय शोक से परिपूर्ण है। मैं इस समय शोक-सागर में निमग्न हो रहा हूँ। आप मेरा उद्धार करें। मेरा वह कौन प्यारा है जो खोये हुए वेदों को ला दे। हे नृपसत्तम! इस प्रकार सोचते सोचते ब्रह्मा जी की बुद्धि में भगवान् की स्तुति करने की बात फुरी। तब वे हाथ जोड़ इस प्रकार भगवत्स्तुति करने लगे।

ब्रह्मा जी बोले—हे ब्रह्महृदय! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे मेरे पूर्वज! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे लोकों के आदिकारण! हे जगत् के पुरुषश्रेष्ठ! हे साँख्ययोग- निधे! हे प्रभो! हे व्यक्ताव्यक्त के रचयिता! हे अचिन्त्य! हे कल्याणकारक मार्ग के आश्रय रूप! हे विश्व-भोक्ता! हे सर्व-भूत-अन्तरात्मा! हे अयोनिज! हे लोकधाम! हे स्वयम्भू! मैं तो आपके अनुग्रह से उत्पन्न हुआ हूँ! हे द्विज-पूजित मेरा जन्म सर्व-प्रथम आपके मन से हुआ है। मेरा दूसरा चाक्षुस जन्म है और वह पुरातन है। मेरा तीसरा जन्म वाचिक है, वह महान् है। हे सर्वव्यापिन्! मेरा चतुर्थ जन्म आपके कर्ण से हुआ है। मेरा पाँचवाँ जन्म अश्विनीकुमार रूप में—आपकी नासिका से हुआ है और मेरा छठवाँ जन्म ब्रह्माण्ड रूप में हुआ है। हे प्रभो! मेरे इस सातवें जन्म को पद्मोद्भव कहते हैं। हे त्रिगुण रहित भगवन्! मैं प्रत्येक जन्म में आपका पुत्र हुआ हूँ। हे पुण्डरीकाक्ष! आपका प्रथम शरीर सतोगुणमय है। आप ईश्वर हैं और स्वभाव रूप हैं। आप कर्म-बन्धन रूप और स्वयम्भू हैं। वेदरूपी नेत्रों वाले मुझे आपने उत्पन्न किया है। मैं कालजयी हूँ; तब भी मेरे वेदरूपी नेत्र छिन गये हैं। अतः मैं इस समय अन्धा सा हो रहा हूँ। आप जागें और मेरे नेत्र मुझे दिला दें। मैं आपका प्यारा हूँ और आप मेरे प्यारे हैं।

ब्रह्मा जी ने जब इस प्रकार सर्वतोमुख भगवान् की स्तुति की, तब भगवान् निद्रा त्याग उठ खड़े हुए और वेदोद्धार के लिये तैयार हुए। निज ऐश्वर्य से उन्होंने रूपान्तर धारण किया। उनका दूसरा शरीर सुन्दर नासिका वाला और कान्तिमान् था। उस शरीर का मस्तक सफेद घोड़े जैसे था। उनका वह मस्तक वैसे ही शोभित हो रहा था, जैसे नक्षत्रों और तारात्रों से निर्मल आकाश शोभायमान होता है। उनके केश सूर्य की किरणों के समान कान्ति वाले और लंबे थे। आकाश और पाताल उनके उभय कर्ण थे। प्राणियों को धारण करने वाली पृथिवी उनका ललाट देश थी। गङ्गा और सरस्वती उनकी दोनों जांघें थीं। महासागर उनकी भ्रकुटि था। सूर्य चन्द्र उनके उभय नेत्र थे। सन्ध्या उनकी नासिका थी। प्रणव से उनका संस्कार हुआ था। विद्युत उनकी जिह्वा थी। सोमपा नामक प्रसिद्ध पितर उनके दाँत थे। गो-लोक और ब्रह्मलोक उन महात्मा के दोनों ओठ थे। सर्व-गुण-श्रेष्ठ कालरात्रि उनकी ग्रीवा थी। इस प्रकार अनेक मूर्तियों से घिरे हुए हयग्रीव भगवान अन्तर्धान हो गये और समुद्र के तल में जा पहुँचे। फिर वहाँ से रसातल में जा और परम योग धारण कर, शिक्षानुसार, उद्ग्रीव नामक स्वर का उच्चारण किया। वह स्वर बड़ा स्निग्ध और गम्भीर था। सर्व-प्राणि-हितैषी उनका वह स्वर, पृथिवी पर व्याप्त हो गया।

उन दोनों असुरों ने वेदों को बाँध कर रसातल में डाल दिया था। जिस स्थान पर वह शब्द हो रहा था, वहाँ भगवान् दौड़ कर गये और उस समय से लाभ उठा कर, भगवान् हयग्रीव ने रसातल में पड़े हुए सब वेद ला कर, ब्रह्मा जी को सौंप दिये। तब ब्रह्मा जी शान्त हुए। समुद्र के ईशानकोण में हयग्रीव भगवान् की स्थापना की गयी। उस समय भगवान् हयग्रीव वेदों के उद्धार-कर्त्ता हुए।

जब मधु और कैटभ उस स्थान पर गये, जिस पर वह शब्द हो रहा था तब उन्होंने देखा कि वहाँ तो कोई है नहीं। अतः वे तुरन्त अपने स्थान

को लौट गये और वहाँ जा कर देखा तो वहाँ उन्हें वेद न देख पड़े। तब तो वे अत्यन्त बली दोनों दैत्य बड़े वेग से समुद्र के बाहिर निकले। बाहिर निकल उन दोनों ने देखा कि, आदिकारण, चन्द्रवत् श्वेत और निर्मल कान्ति से सम्पन्न, अनिरुद्ध के शरीर में स्थित, अपार पराक्रमी, और जल में अपने शरीर के अनुसार ज्वालाओं से घिरी हुई शेष-शय्या पर योगनिद्रा में निन्द्रित है। भगवान् हयग्रीव को देख, वे दोनों दानव खिला खिला कर, हँसने लगे। फिर रजोगुण और तमोगुण से भरे हुए वे दोनों पुरुष कहने लगे। यह जो श्वेतवर्ण पुरुष सो रहा है यही वेदों को उठा लाया होगा। यह है कौन? किसका पुत्र है? यहाँ क्यों सो रहा है और सर्पों की छाया इस पर क्यों है? यह कह कर उन दोनों ने श्रीहरि को जगाया। उन दोनों को युद्धाभिलाषी जान भगवान् जागे और उन दोनों से लड़ने लगे। ब्रह्मा जी के हितार्थ भगवान् ने उन रजोगुणी और तमोगुणी दोनों दैत्यों को मार डाला। इस प्रकार भगवान् हयग्रीव ने वेदों का उद्धार कर, उन दोनों दैत्यों का बध किया। इस प्रकार ब्रह्मा जी ने श्रीहरि की सहायता पा कर, वेदों की सहायता से चराचरात्मक लोगों की रचना की। भगवान्, ब्रह्मा जी को लोक-रचना का आदेश दे, अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार भगवान् ने हयग्रीव का स्वरूप धारण कर, दोनों दानवों का नाश किया था। इस प्रकार भगवान् ने फिर प्रवृत्तिधर्म का प्रचार कर के हयग्रीव रूप धारण किया था। भगवान का यह वरप्रद रूप पुरातन और प्रसिद्ध है। जो ब्राह्मण इस हयग्रीव-आख्यान को नित्य सुनता है अथवा अपने आप पाठ करता है उसके अध्ययन का कभी नाश नहीं होता है। निर्दिष्ट मार्गानुसार श्रीहयग्रीव भगवान् की उग्र तप द्वारा आराधना कर, गालव ने वेदों का क्रम प्राप्त किया था। हे राजन्! हयग्रीव की वेदानुकूल प्राचीन कथा तुमसे कही—जो तुमने मुझसे पूछी थी। परमात्मा कार्य करने के लिये जिस जिस शरीर की आवश्यकता समझते हैं, उसे वे धारण कर लेते हैं। वे

स्वयं वेदस्वरूप हैं, तप के निधिरूप हैं, योगरूप हैं, साँख्यरूप हैं, ब्रह्म-रूप हैं, उत्तम विरूप हैं और सर्व-व्यापक हैं। वेद नारायण-परायण हैं, यज्ञ नारायणात्मक हैं, तप नारायण-स्वरूप है, मोक्ष भी नारायण रूप है, सत्य नारायण है, ऋत नारायणात्मक है। जिसका अनुष्ठान करने से पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता, वह निवृत्ति धर्म भी नारायण रूप है। पृथिवी स्थित उत्तम गन्ध, जल का रसात्मक गुण, ज्योतिप का रूप, वायु का गुण स्पर्श, आकाश का गुण शब्द नारायण रूप है। अव्यक्त गुण वाला मन नामक भूत भी नारायण स्वरूप है। कीर्ति, श्री, लक्ष्मी और देवता भी नारायण स्वरूप हैं। साँख्यनारायण स्वरूप है। योग नारायण स्व-रूप है। इस समस्त जगत का कारण वह पुरुष है और वही प्रधान का-रण रूप है। वही अधिष्ठान कर्त्ता, नाना प्रकार के भिन्न कारण, विविध प्रकार की चेष्टाएँ तथा पाँचवाँ भाग भी वही है। पञ्चकारण रूप से भगवान् विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं। वे तत्त्वज्ञों का तत्व हैं। महायोगेश्वर नारायण एक तत्व हैं और भगवान् केशव, ब्रह्मादि देवताओं, ब्रह्मलोकादि वासी ऋषियों और महात्माओं के, साँख्यवादियों के, योगियों के और आत्मतत्त्वज्ञ संन्यासियों के, मनों का अभिप्राय जानने वाले हैं; किन्तु उनके मन की बात ब्रह्मादि देवता भी नहीं जानते। जो देवकार्य एवं पितृकार्य करते हैं, दान देते हैं और महातप करते हैं—उन सब के आश्रय रूप भगवान् विष्णु हैं। वे ईश्वरीय विधि का आश्रय कर के रहते हैं। उनका समस्त प्राणियों में वास है और वे वासुदेव नाम से प्रसिद्ध हैं। भगवान् श्रीहरि नित्य, परम, महर्षि, महाविभूति, सम्मान, निर्गुण, निकृत होने पर भी, गुणों के साथ वैसे ही मिल जाते हैं, जैसे काल ऋतु में, ऋतु-धर्म के साथ मिल जाता है। उनकी गति को कोई नहीं लख पाता और न कोई उनकी अगति ही को देख सकता। ज्ञानी महर्षि, गुणों के कारण श्रेष्ठ एवं नित्य उन पुरुषोत्तम का दर्शन करते हैं।

तीनसौ अड़तालीस का अध्याय

भगवद्भक्त की उत्कृष्टता

राजा जनमेजय ने पूछा—हे वैशम्पायन जी ! भगवान श्रीहरि अपने समस्त अनन्य भक्तों पर कृपा करते और उनकी की हुई विधिपूर्वक पूजा को ग्रहण करते हैं। इस संसार में जिन मनुष्यों की वासनाएँ ज्ञानाग्नि से भस्म हो गयी हैं जो पुण्य और पाप से रहित हैं; उनकी परम्परागत गति आप मुझे बतलावें। वे लोग चौथी गति अर्थात् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण की उपेक्षा कर वासुदेव पुरुषोत्तम को पाते हैं ? किन्तु जो भगवान के ऐकान्तिक भक्त हैं, वे परमपद को पाते हैं। अनन्य भक्तों का निष्काम धर्म अथवा ऐकान्तिक धर्म सर्वश्रेष्ठ है और वह नारायण को प्रिय है। इसीसे तीन गतियां अर्थात् अनिरुद्ध, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न में न जा कर, वे सीधे अविनाशी वासुदेव को प्राप्त करते हैं। जो ब्राह्मण वेदों, उपनिषदों का एकाग्र मन से विधिपूर्वक अभ्यास करते हैं और जो संन्यासाश्रम के धर्मों का पालन करते हैं; उनकी गति से भी कहीं उत्तम गति भगवद्भक्तों को प्राप्त होती है। यह बात तो मैं जानता हूँ; किन्तु किस देवता अथवा किस ऋषि द्वारा यह भागवत धर्म वर्णित हुआ है ? अनन्य भक्तों को अपने धर्म का आचरण किस प्रकार करना चाहिये ? भागवत धर्म की उत्पत्ति कब से हुई है ? आप मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दें। क्योंकि मैं यह विषय जानने को उत्सुक हूँ।

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय ! जब महाभारत के युद्ध में कौरवों और पाण्डवों की सेना आमने सामने लड़ने को आ डटी और उस समय अर्जुन को मोह प्राप्त हो गया और वह उदास हो गया, तब उसे भगवान् ने स्वयं गीता का उपदेश दिया था। उस भगवद्गीता में मेरी कथित गति अगति का वर्णन है। यह धर्म बड़ा गहन है। इसीसे अज्ञानी भगवद्धर्म को जान भी नहीं सकते ! पूर्वकाल में आदि युग में

यह धर्म सामवेद सहित समभाव से रचा गया था। इस धर्म को महादेव और नारायण जानते हैं। हे महाराज! यह वही विषय है जिसे भरी सभा में श्रीकृष्ण और भीष्म के सामने, अर्जुन ने महाभाग्यशाली नारद जी से पूछा था। हे राजन्! मुझे भी मेरे गुरु ने यह धर्म उपदेश किया था। नारद जी ने भरी सभा में अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में जो बातें कही थीं उन्हें अब तुम सुनो।

हे राजन्! जब नारायण के मुख से ब्रह्मा जी का मानसिक जन्म हुआ था, तब नारायण इस धर्मानुसार देवकर्म और पितृकर्म करते थे! फेनपा (फेन पीने वाले) ऋषि भी इसी धर्मानुसार आचरण करते थे। उन फेनपा ऋषियों से इस धर्म की शिक्षा वैखानसों को मिली थी और वे इस धर्म को व्यवहार में लाते थे। वैखानसों से सोम ने इस धर्म का उपदेश पाया था और वे इसका आचरण करते थे। तदनन्तर यह धर्म बीच में लुप्त हो गया था। किन्तु जब ब्रह्मा का दूसरा चाक्षुस जन्म हुआ, तब ब्रह्मा जी को सोम से यह धर्मोपदेश प्राप्त हुआ था। फिर ब्रह्मा ने इस नारायण-धर्म का उपदेश रुद्र को दिया। सत्ययुग में रुद्र इस धर्म का पालन करते थे। उन लोगों ने बालखिल्य ऋषियों को यह धर्म सिखलाया था। किन्तु दैवी माया से वह पुनः अन्तर्हित हो गया। ब्रह्मा का तीसरा जन्म महान् और वाचिक कहलाता है। उस जन्म में इस धर्म का उपदेश साक्षात् ब्रह्मा जी को नारायण ने दिया था। सुवर्ण नामक ऋषि ने भली-भाँति तप कर और इन्द्रियों को जीत कर; और नियमों को पाल कर, पुरुषोत्तम से यह धर्म पाया था। सुवर्ण ऋषि ने इस उत्तम धर्म की तीन बार प्रदक्षिणा की। अतः तभी से यह धर्म त्रिसौपर्ण भी कहलाने लगा है। इसका वर्णन ऋग्वेद में है। इसका आचरण बड़ा कठिन है। संसार के आयु रूप वायु ने सुवर्ण ऋषि से यह सनातन धर्म पाया था। वायु से यह धर्म विघसाशियों को मिला था। उनसे यह धर्म महासागर को मिला था। तदनन्तर यह धर्म अन्तर्हित

हो गया और उसे सिवाय नारायण के और कोई जानने वाला नहीं रह गया था।

हे पुरुषव्याघ्र ! जब ब्रह्मा जी की पुनः उत्पत्ति नारायण के कर्ण से हुई, तब उन्हें यह धर्म किस प्रकार मिला—सो अब तुम सुनो। भगवान ने जब स्वयं विश्व की रचना करने का विचार किया, तब वे एक ऐसे पुरुष का चिन्तवन करने लगे, जो विश्व की रचना कर सके। चिन्ता करते ही प्रजा की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। उनसे जगत्पति नारायण ने कहा—हे पुत्र ! तू अपने मुख तथा चरण से प्रजोत्पत्ति कर। हे सुव्रत ! मैं तेरा कल्याण करूँगा और तुझे बल एवं तेज प्रदान करूँगा। तू मुझसे सनातन धर्म की शिक्षा ले। तदनुसार तू सतयुगी सृष्टि की रचना कर और विधिपूर्वक उस धर्म को स्थापित कर।

तदनन्तर ब्रह्मा जी ने हरिमेध देव को प्रणाम कर, रहस्य और संग्रह सहित उस उत्तम (भागवत) धर्म की शिक्षा ग्रहण की। आरण्यक सहित भगवान् ने भागवत् धर्म ब्रह्मा जी को बतलाया। अपार तेजस्वी ब्रह्मा जी को इस धर्म का उपदेश दे, नारायण ने उनसे कहा—तुम युगकर्म के चलाने वाले होवोगे। यह कह नारायण उस अव्यक्त निवास-स्थान में, जो अन्धकार से भी पर है—चले गये। तदनन्तर वरद लोकपितामह ब्रह्मा जी ने चराचरात्मक विश्व की रचना की। उस समय शुभ कृतयुग का आरम्भ हुआ। उस युग में सात्वत या भागवत धर्म का लोगों में प्रचार हो, इस धर्म की नींव सुदृढ़ हो गयी। इस धर्मानुसार ब्रह्मा जी स्वयं भी देवादिदेव श्रीमन्नारायण का पूजन करते थे। इस धर्म को स्थिर करने और जीवों के हितार्थ ब्रह्मा जी ने इस धर्म की पूर्ण शिक्षा, स्वारोचिष मनु को दी। स्वारोचिष मनु ने यह धर्म अपने पुत्र शङ्खपद को पढ़ाया। शङ्खपद ने अपने पुत्र सुवर्ण नामक दिक्पाल को पढ़ाया। त्रेतायुग का आरम्भ होने पर, यह धर्म पुनः लुप्त हो गया।

हे राजन् ब्रह्मा ! जी के पाँचवे नासत्य नामक जन्म में पुण्डरीकाक्ष

नारायण ने यह धर्म पुनः ब्रह्मा जी को सिखलाया। हे राजन्! सनत्कुमार ने ब्रह्मा जी से इस धर्म की शिक्षा पायी। फिर सनत्कुमार से वीरण नामक प्रजापति ने कृतयुग के आरम्भ में इस धर्म को पढ़ा था। फिर उन्होंने इसे रैभ्य मुनि को पढ़ाया। रैभ्य ने अपने विशुद्ध आचरणी ज्येष्ठ पुत्र सुवेधा को इस धर्म की शिक्षा दी थी। सुवेधा ने कुक्षि नामक एक दिक्पाल को पढ़ाया। इसके बाद यह धर्म पुनः लुप्त हो गया।

फिर जब ब्रह्मा का आण्डज जन्म हुआ तब नारायण ने पुनः ब्रह्मा जी को इस धर्म का उपदेश दिया। ब्रह्मा जी ने इस धर्म को ग्रहण किया और यथाविधि उसका पालन किया। तदनन्तर ब्रह्मा जी ने बर्हिषद् नामक मुनियों को इस धर्म में दीक्षित किया। बर्हिषद् मुनियों से सामवेदाध्यायी ज्येष्ठ नामक एक प्रसिद्ध ब्राह्मण ने इस धर्म की दीक्षा ग्रहण की और वह ज्येष्ठ-सामव्रत नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्येष्ठ से राजा अविकम्पन ने यह धर्मोपदेश पाया। तदनन्तर यह धर्म पुनः लुप्त हो गया।

हे राजन्! फिर जब ब्रह्मा जी का पाँचवाँ पद्मज जन्म हुआ, तब श्रीमन्नारायण ने पुनः ब्रह्मा जी को इस धर्म का उपदेश दिया। फिर ब्रह्मा जी ने दक्ष को, दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र सूर्य को, सूर्य से विवस्वान को, त्रेता के आरम्भ में विवस्वान से मनु को और मनु से जगत् के कल्याण के लिये इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ। मनुपुत्र इक्ष्वाकु ने इस धर्म का प्रचार सब लोगों में किया। हे राजन्! जब यह धर्म क्षीण होगा, तब यह पुनः भगवान् के निकट चला जायगा। हरिगीता में यतियों का धर्म संक्षिप्त रूप से मैं तुम्हें सुना चुका हूँ। भगवान् नारायण ने रहस्य और संग्रह सहित यह धर्म नारद जी को बतलाया था। हे राजन्! यह धर्म महान् है और सनातन है। किन्तु इसका जान लेना और इसका पालन करना कठिन काम है। इसका पालन सतोगुणी भगवद्भक्त ही कर सकते हैं। सत्कर्म प्रवर्त्तक एवं अहिंसा-

त्मक इस धर्म का पालन करने से भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। कभी तो भगवान की सात्वत उपासना में: केवल वासुदेव की, कभी वासुदेव और सङ्कर्षण की, कभी वासुदेव, सङ्कर्षण और प्रद्युम्न की और कभी वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप चतुर्व्यूहों की उपासना की जाती है।

श्रीहरि स्वयं क्षेत्र-माता-पिता-रहित, कला-विवर्जित और समस्त प्राणियों में जीवरूप से विराजमान हैं। इस पर भी वे पञ्चभूतों के गुणों से शून्य हैं। हे राजन्! इन्द्रियों का प्रेरक मन (अहङ्कार) भी श्रीहरि ही है। यह बुद्धिमान् जगत् के विधिरूप है और समस्त लोकों के कर्त्ता हैं। ये कर्त्ता, अकर्त्ता, कार्य और कारण रूप परमात्मा हैं। ये अविनाशी पुरुष जिस प्रकार चाहते हैं उस प्रकार क्रीड़ा करते हैं। यह अनन्य भक्तों का धर्म मुझे गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ है। अज्ञानियों की समझ में यह बड़ी कठिनाई से आ सकता है। अनन्य भक्त होना बड़ी कठिन बात है। यदि कहीं यह सारा जगत अनन्य, अहिंसक, आत्मज्ञ तथा सर्वप्राणियों के हित को चाहने वाला बन जाय, तो कृतयुग का पुनः आरम्भ हो जाय और मनुष्य काम्य कर्मों को त्याग दे।

हे राजन्! इस प्रकार विप्रश्रेष्ठ, धर्मज्ञ, मेरे गुरु भगवान् द्वैपायन व्यास ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा था। उस समय श्रीकृष्ण, भीष्म तथा अन्य अनेक ऋषिगण भी वहाँ उपस्थित थे। मेरे गुरु व्यास जी को इस धर्म की दीक्षा नारद जी से मिली थी। सर्वश्रेष्ठ धर्म स्वरूप निर्मल चक्र की तरह कान्ति वाले नारायण देव के निकट उनके अनन्य भक्त ही जा सकते हैं।

जनमेजय ने पूछा—हे भगवन्! विविध प्रकार के ज्ञानी जन, जिस धर्म का सेवन करते हैं, उसका सेवन, धर्माचरणी, विविधव्रतों का पालन करने वाले ब्राह्मण क्यों नहीं करते?

वैशम्पायन जी ने कहा—देहधारियों के लिये परमात्मा ने तीन प्रकृतियाँ रची हैं। वे तीन प्रकृतियाँ हैं, रजोगुणी, सतोगुणी और तमोगुणी। इन देहधारियो में सतोगुणी पुरुष ही श्रेष्ठ हैं। क्योंकि मोक्षाधिकार सतोगुणियों ही को है। सतोगुणी ब्रह्मवेत्ता पुरुषों को उस उत्तम पुरुष का ज्ञान होता है। मोक्ष देना न देना नारायण के हाथ की बात है। अतः मुक्ति सात्विक मानी गयी है। जो पुरुष सदा नारायण का चिन्तवन करता है, नारायण का अनन्य भक्त है और जिसे नारायण का ही भरोसा है, उसके मनोरथ पूर्ण होते हैं। जो पण्डित संन्यासी मोक्षधर्म का पालन करते हैं, भगवान् उन तृष्णारहित पुरुषों के योग क्षेम का निर्वाह स्वयं करते हैं। जन्म मरण का दुःख भोगने वाले जिस जीव पर भगवान् की कृपा होती है, उसे सात्विक जानना चाहिये। उसकी मुक्ति निश्चय ही हो जाती है। भागवत धर्म भी साँख्य और योग के समान ही फल देने वाला है। इस धर्म का जो पालन करते हैं, वे नारायणात्मक मोक्ष से प्राप्त गति को प्राप्त करते हैं। नारायण का कृपा-कटाक्ष होने पर ही पुरुष ज्ञानी होता है। यदि कोई चाहे कि वह स्वयं ज्ञानी हो जाय तो वह अपनी इच्छा से ज्ञानी नहीं हो सकता। तमोगुणी और रजोगुणी अर्थात् मिश्रित प्रकृति से युक्त पुरुष भी पैदा होते हैं। किन्तु ऐसे के ऊपर स्वयं भगवान् की कृपाकोर नहीं होती। उनकी ओर ब्रह्मा जी की कृपा होती है। उनका मन भी रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त रहता है। देवता और ऋषि पूर्ण रूपेण सतोगुणी होते हैं। यदि उन में ज़रा भी सतोगुण कम हो जाय तो वे वैकारिक कहलाने लगें।

जनमेजय ने पूछा—भगवन्! वैकारिक पुरुषों को पुरुषोत्तम परमात्मा की प्राप्ति क्योंकर हो सकती है? इस विषय में आपका जो अनुभव हो, वह मुझे बतलाइये। साथ ही प्रकृति का भी अनुक्रम से वर्णन कीजिये।

वैशम्पायन जी बोले—अति सूक्ष्म और तत्व रूप अकार, उकार मकार तीन अक्षरों से युक्त परम पुरुष को, जब पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीव, क्रिया (उपाधि) शून्य हो जाता है, तब पाता है। साँख्य, योग, वेद का आरण्यक भाग, उपनिषद् तथा पाञ्चरात्र आगम—सब एक हैं। प्रत्युत ये सब आपस में एक दूसरे के अङ्ग रूप हैं। नारायण-परायण अनन्य भक्तों का यह धर्म है। ज्ञान रूपी जल का बड़ा भारी प्रवाह नारायण से उत्पन्न होता है और पुनः नारायण में उसी प्रकार लीन भी हो जाता है, जिस प्रकार समुद्र से उठे हुए बादल समुद्र से उठते और समुद्र ही में लीन हो जाते (जा पहुँचते) हैं।

हे कुरुनन्दन ! नारायण प्रोक्त यह सात्वत धर्म मैंने तुमसे कहा। यदि तुम में शक्ति हो तो तुम सच्चे हृदय से इस धर्म का पालन करो। महा भाग्यवान् नारद जी ने मेरे गुरु व्यासजी को गृहस्थों तथा यतियों को प्राप्त होने वाली गति बतलायी थी। व्यास जी ने वही धर्मो-पदेश प्रीतिपूर्वक युधिष्ठिर को दिया था। मैंने जैसा अपने गुरु के मुख से सुना था , वैसा धर्मोपदेश—तुमसे कहा है। हे राजसत्तम ! इस धर्म का पालन करना बड़ी कठिन बात है। जिस प्रकार तुम मोह में पड़े हुए थे, उसी प्रकार और भी लोग मोह में पड़े हुए हैं।

हे राजन् ! श्री कृष्ण इस विश्व के पालक, संहारक और उत्पादक हैं।

तीनसौ उनचास का अध्याय

सृष्टि का क्रम

राजा जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मर्षे ! साँख्य, योग, पाञ्चरात्र और वेदारण्यक—इन चार शास्त्रों का संसार में प्रचार है। हे मुने ! वे सब ज्ञान एक ही मार्ग के प्रदर्शक हैं अथवा भिन्न भिन्न मार्गों के। इनकी

सब की प्रवृत्ति संसार में क्यों कर हुई है ? आप यह बात मुझे क्रमानुसार बतलाइये ।

वैशम्पायन जी ने उत्तर दिया—हे राजन् ! पराशर के औरस से सत्यवती के गर्भ से एक द्वीप में महाज्ञानी, श्रेष्ठ एवं अति उदार जिन महर्षि-पुत्र का जन्म हुआ था, अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करने वाले उन श्री वेदव्यास जी को मैं प्रणाम करता हूँ । आर्ष-विभूति से युक्त वेद के महाभाण्डार नारायण के अंश से उत्पन्न हुए और एक के एकमात्र तथा महर्षि कृष्ण द्वैपायन पितामह के आदिपुरुष नारायण से छठवीं पीढ़ी में हुए हैं । यह विद्वानों का कथन है । सृष्टि के आरम्भ-काल में महातेजस्वी और विभूति-सम्पन्न नारायण ने ब्रह्मविद्या के महाभाण्डार, महात्मा, अजन्मा एवं पुराणपुरुष व्यास जी को निज पुत्र रूप से उत्पन्न किया था ।

जनमेजय ने पूछा—हे वैशम्पायन जी ! व्यास जी की उत्पत्ति का वर्णन करते समय आप पहले बतला चुके हैं कि, वसिष्ठ जी के शक्ति नामक एक पुत्र था, उनके पुत्र पराशर हुए और पराशर के पुत्र कृष्ण-द्वैपायन थे । अब आप उन्हीं द्वैपायन व्यास को नारायण का पुत्र कैसे बतलाते हैं ? क्या आपकी पूर्वकथित उनकी वह उत्पत्ति इस उत्पत्ति से भिन्न है ? अतः आप बतलावें कि, व्यास जी की उत्पत्ति नारायण से कैसे हुई ?

वैशम्पायन जी ने उत्तर दिया—धर्मनिष्ठा, तप के निधिरूप और वेदार्थ जानने के इच्छुक हमारे गुरु व्यास जी महाभारत की रचना कर और परिश्रम से श्रान्त हो, हिमालय-शिखरस्थ एक आश्रम में रहते थे । उस समय हम सब उनकी सेवा शुश्रूषा करने लगे । सुमन्तु, जैमिनि, पैल और चौथा शिष्य मैं, और पाँचवें गुरुपुत्र शुकदेव से घिरे हुए व्यास जी वहाँ वैसे ही शोभायमान हो रहे थे, जैसे भूतगण वेष्टित शिव जी । वेदव्यास जी साङ्गोपाङ्ग वेदों की तथा महाभा-

रत की आवृत्ति कर रहे थे। उस समय हम लोग मन को एकाग्र कर उनके निकट बैठे हुए थे। हमने एक दिन बातचीत करते समय, वेदार्थ के सम्बन्ध में, महाभारत के (कूटश्लोकों के) सम्बन्ध में तथा उनकी नारायण से उत्पत्ति होने के सम्बन्ध में प्रश्न किये थे। उस समय तत्त्वदर्शी वेदव्यास जी ने प्रथम तो हमें वेदार्थ समझाया, फिर भारत सम्बन्धी हमारे संशय दूर किये। तदनन्तर नारायण से अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमसे जो कहा था, वह इस प्रकार है।

व्यास जी ने कहा—हे ब्राह्मणो! आदि कालीन एवं ऋषि सम्बन्धी इस आख्यान को तुम लोग श्रवण करो। मुझे यह तपश्चर्या से अवगत हुआ है। जब पद्म-सम्भव नामक सातवें प्रजा विसर्ग (सृष्टि) का काल उपस्थित हुआ, तब भले बुरे कर्मों से रहित, अमित कान्ति सम्पन्न महायोगी नारायण ने अपनी नाभि से ब्रह्मा जी को उत्पन्न किया। ब्रह्मा जी के उत्पन्न होने पर, नारायण ने उनसे कहा—मैंने तुम्हें अपनी नाभि से इसलिये उत्पन्न किया है कि, तुम प्रजा की सृष्टि करो। अतः तुम जड़ चेतन विविध प्रकार की सृष्टि रचो।

नारायण के इन वचनों को सुन, ब्रह्मा जी बड़े चिन्तित हुए और उद्विग्न हो उन्होंने प्रजा की रचना का विचार त्याग दिया। वे वरद श्री नारायण को प्रणाम कर उनसे बोले—हे देवेश! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मुझमें प्रजोत्पत्ति की शक्ति कहाँ है? अतः अब आपको इसके लिये जो उचित जान पड़े सो आप करें।

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन, देवेश्वर प्रभु नारायण अन्तर्धान हो गये। फिर उन्होंने बुद्धि का स्मरण किया। स्मरण करते ही बुद्धि मूर्तिमती हो, श्रीहरि की सेवा में उपस्थित हुई। तब किसी के आश्रय में न रहने वाले, परमात्मा ने योगबल से बुद्धि को कार्य करने की आज्ञा दी। वे बोले—प्राणियों की रचना करने के लिये तू ब्रह्मा में प्रवेश कर। बुद्धि ने वैसा ही किया। तब श्रीहरि पुनः ब्रह्मा जी के सामने प्रकट हुए

और बोले—हे ब्रह्मन् ! तुम तरह तरह की प्रजा को उत्पन्न करो। इस बार नारायण की आज्ञा को ब्रह्मा जी ने शिरोधार्य किया। तब भगवान् अन्तर्धान हो गये ! और अपने देव नामक परम धाम में जा पहुँचे और अपनी प्रकृति को प्राप्त कर, उसके साथ एकाकार हो गये। उस समय परमात्मा ने पुनः विचारा कि, परमेष्ठी ब्रह्मा समस्त प्रजाओं की रचना कर रहे हैं। उनमें दैत्य, दानव, गन्धर्व और राक्षस भी उत्पन्न होंगे और उनके भार से तपस्विनी पृथिवी पीड़ित होगी। क्योंकि अनेक दैत्य, दानव और राक्षस बलवान् होंगे और तप कर उत्तम वर पावेंगे। फिर वरदान पाने से अहङ्कार की प्रति-मूर्त्ति बन, वे सब निश्चय ही देवताओं और तपोधन ऋषियों को दुःख देंगे। अतः मुझे ही अवतार ले कर पृथिवी का भार कम करना पड़ेगा। दुष्टों को दण्ड देने तथा शिष्टों पर अनुग्रह करने से तपस्विनी पृथिवी स्थिर रह सकेगी। मैं शेष रूप से पाताल में रह कर, पृथिवी को धारण किये हुए हूँ और यह पृथिवी समस्त चराचरात्मक जगत् को धारण किये हुए है। अतः अवतार धारण कर मैं पृथिवी की रक्षा करूँगा। इस प्रकार मधुसूदन भगवान् ने विचार कर के जगत् हितार्थ होने वाले वराह, नृसिंह, वामन और मानव अवतारों के स्वरूप का अपने मन में चिन्तवन किया। तदनन्तर मन में निश्चय किया कि अवतार ले कर, मुझे अन्यायी दैत्यों का संहार करना उचित है।

तदनन्तर जगत्स्रष्टा हरि ने "भो" शब्द के सहारे अनुनाद करते हुए, वाक्य उच्चारण किया। उस वाक्य से उत्पन्न होने के कारण सारस्वत और अपान्तरतमा नाम से भूत, भविष्य और वर्तमान जानने वाला, सत्यवादी, दृढ़व्रती, वाक्य-सम्भव एक सुत उत्पन्न हुआ। देवों के देव अविनाशी हरि ने उस नतवदन वाले पुत्र को सम्बोधन कर उससे कहा—हे मतिमताम्वर प्रवर ! तुम वेदाख्यान सुनोगे। हे मुने ! मैंने तुम्हें जैसी आज्ञा दी है, तुम उसीके अनुसार मेरे वचन का प्रतिपालन करो। उसने भगवान के आज्ञानुसार स्वायम्भुव मनवन्तर में वेदों का विभाग किया। भगवान् हरि ने उसके

वैसे कर्म और उत्तम तपस्या तथा यम नियम पालन से प्रसन्न हो, उससे कहा—हे पुत्र ! हे ब्रह्मन् ! तुम सब मनवन्तर में इसी प्रकार अचल अप्रधृष्य हो कर सदा ऐसे ही वेदों के प्रवर्त्तक होंगे। फिर कलियुगारम्भ में भरतवंश में कौरव नामक महानुभाव राजा भूमण्डल में प्रसिद्ध होंगे। वे पृथिवी पर महात्मा माने जावेंगें। उनमें तुमसे जिन पुत्रों की उत्पत्ति होगी, उनमें परस्पर मतभेद पड़ जायगा। हे ब्राह्मण-सत्तम ! तुम्हारे अतिरिक्त वे आपस में सब का नाश कर डालेंगे। उस समय भी तुम तप कर के वेदों के अनेक विभाग करोगे। कृष्णयुग आने पर तुम कृष्ण वर्ण के हो जावोगे और अनेक धर्मों को स्थापित करोगे तथा ज्ञानोपदेश करोगे। तुम तप तो करोगे, किन्तु रागमुक्त न होगे। महेश्वर की कृपा से परमात्मा स्वयं तुम्हारे यहाँ राग रहित पुत्र के रूप में अवतार लेगें। यह मेरा वचन सत्य है। ब्राह्मण जिसको पितामह का मानसिक पुत्र कहते हैं, जिनकी उत्तम बुद्धि है, जो तप के निधान रूप और श्रेष्ठ हैं, जिनकी कान्ति सूर्य से भी अधिक है, उन वसिष्ठ के वंश में पराशर नाम वाले एक महा प्रभावशाली महर्षि उत्पन्न होंगे। वे महातपस्वी, तप के निवास-स्थल, वेद के भाण्डार रूप और सर्वोत्तम तुम्हारे पिता होंगे। वे ऋषि एक कन्या के गर्भ से तुम्हें उत्पन्न करेंगे। अतः तुम कानीन कहलावोगे। भूत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बन्धी समस्त संशयों का तुम निर्णय करोगे। तुम तप कर के मेरी कृपा से पहिले जो सहस्रों युग बीत गये हैं उन सब युगों को देख सकोगे। साथ ही और भी असंख्य युगों का उलट फेर तुम देख पावोगे। हे मुने ! मेरा ध्यान करने से तुम आदि और अन्त रहित एवं चक्रधारी मेरे भी दर्शन कर सकोगे। यह मेरा कथन अन्यथा न होगा। हे महा सत्वगुणी ! तुम्हारी ख्याति होगी और सूर्य का पुत्र शनैश्चर महान् मनु होगा। इस मनु के समय में मेरी कृपा से मनु आदि गणों में तुम्हारी भी उत्पत्ति होगी। इस संसार के यावत् पदार्थ मेरे हैं ! किन्तु मनुष्य उन्हें अपना समझता है। मेरी इच्छा सर्वोपरि है।

इस प्रकार सरस्वती के पुत्र अपान्तरतम नामक ।ऋषि से बातें कह कर, भगवान् ने उनसे कहा—जाओ, अपना काम करो । तदनन्तर वही मैं हरिमेधा श्रीहरि की कृपा से अपान्तरतमा नाम से हरि की आज्ञा से उत्पन्न हुआ था । वही अब मैं वसिष्ठ जी के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ । इस प्रकार नारायण की कृपा से नारायण के अंश से पूर्वकर्म से हुआ, अपना जन्म मैंने तुमसे कहा । हे श्रेष्ठ बुद्धिमानों ! मैंने पहिले परम समाधि लगा कर, परम दारुण बड़ा भारी तप किया था । हे पुत्रो ! तुमने मेरे पूर्व और भावी जन्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया था । उन सब बातों का उत्तर मैंने तुमको दिया ।

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! शान्तमना हमारे गुरुदेव के पूर्व जन्म के बारे में तुमने जो प्रश्न किया उसका यह उत्तर है । अब मैं तुम्हें दूसरी कथा सुनाता हूँ । हे राजर्षे ! साँख्य, योग, पाँचरात्र, वेद और पाशुपत नामक नाना प्रकार के मत हैं । साँख्य शास्त्र के प्रवर्त्तक कपिल हैं । योग-शास्त्र के हिरण्यगर्भ, इनसे बढ़ कर प्राचीन योगवेत्ता अन्य कोई नहीं है । अपान्तरतम मुनि वेदाचार्य कहलाते हैं । उमापति, भूतेश्वर, श्रीकण्ठ और ब्रह्मा के पुत्र शङ्कर ने एकाग्र चित्त हो पाशुपत शास्त्र कहा है । समग्र पाञ्चरात्र शास्त्र के वेत्ता तो भगवान् नारायण ही हैं । यही क्यों, वे तो ज्ञान और शास्त्रों के भाण्डार हैं । समस्त वेदों और समस्त अनुभवों का तात्पर्य श्रीनारायण प्रभु हैं ! किन्तु हे राजन् ! तमोगुणी पुरुष नारायण के इस स्वरूप को नहीं जानते । परन्तु विद्वान् शास्त्रकर्त्ता कहते हैं, कि, यह सब नारायण के आधार पर है और मैं भी कहता हूँ—नारायण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । जो संशय-रहित पुरुष हैं उन्हींको भगवान् का पूर्ण विश्वास होता है । किन्तु जो संशयी हैं और हेतुवादी हैं उनमें भगवान् की आस्था नहीं रह सकती ।

हे राजन् ! जो पाञ्चरात्र के ज्ञाता और अनुरागी हैं, वे अनन्यता को प्राप्त कर, श्रीहरि की सन्निधि में जाते हैं । साँख्य और योग—ये दोनों

सनातन हैं। समस्त वेद भी सनातन हैं। समस्त ऋषि कहते हैं कि, प्राचीन विश्व नारायण रूप है। वेद में जिस शुभ और अशुभ कर्म का वर्णन है और जो लोक में प्रचलित है तथा अन्य समस्त पदार्थ जो स्वर्ग, अन्तरिक्ष पृथिवी और जल में देख पड़ते हैं; वे सब नारायण से उत्पन्न हुए हैं।

तीनसौ पचास का अध्याय

पुरुष का एकत्व और अनेकत्व

जनमेजय ने पूछा—हे वैशम्पायन जी! "परमपुरुष एक है अथवा अनेक? (यदि अनेक हैं तो उनमें) कौनसा पुरुष श्रेष्ठ माना जाना चाहिये और कौन सी योनि का?

वैशम्पायन जी बोले—हे जनमेजय! साँख्य और योग शास्त्रों के विचारानुसार तो व्यवहार के समय देखने पर अनेक पुरुष दीखते हैं। साँख्य और योग शास्त्रवादी पुरुष गण एक "पुरुषवाद को" स्वीकार नहीं करते। अनेक पुरुष जिस प्रकार एक योनि वाले कहे जाते हैं और विश्वमय एक पुरुष जिस प्रकार गुणाधिक होता है; मैं आत्म-तत्वज्ञ, तपस्वी, दान्त, वन्दनीय निज गुरुदेव महर्षि व्यासदेव को नमस्कार कर के, इन विषयों की व्याख्या करूँगा। हे राजन्! यह पुरुषसूक्त समस्त वेदों में सत्य, परम-सत्य, ऋषिश्रेष्ठ व्यास देव द्वारा विचारपूर्वक प्रख्यात है। कपिलादि ऋषियों ने सामान्यतः और अपवाद रूप से अध्यात्म चिन्तवन द्वारा भिन्न भिन्न शास्त्रों का वर्णन किया है। व्यासमुनि ने एक-पुरुषवाद भी माना है—इसका वर्णन मैं उन्हीं अपार तेजस्वी मुनि की कृपा से करूँगा। इस विषय में ब्रह्मा जी और शिव जी का संवादात्मक एक पुरातन इतिहास है, जो इस प्रकार है।

हे राजन् ! क्षीरसमुद्र के बीच सुवर्ण की तरह आभा वाला, वैजयन्त नामक एक श्रेष्ठ पर्वत है। उस पर्वत पर आध्यात्मिक विषयों पर एकान्त में विचार करने के लिये वैराजलोक से ब्रह्मा जी आया करते थे। एक दिन चतुर्मुख ब्रह्मा जी वहाँ बैठे हुए थे। इतने में उनके ललाट से उत्पन्न शिव जी वहाँ अचानक जा पहुँचे। त्रिनेत्र एवं महायोगी शङ्कर आकाश-मार्ग से वैजयन्त पर्वत के शिखर पर पहुँचे थे। ब्रह्मा जी के निकट पहुँच शिव जी ने उनके चरणों में सीस नवा उन्हें प्रणाम किया। महादेव जी को अपने चरणों में पड़ा देख, ब्रह्मा जी ने उन्हें दहिने हाथ से उठाया और चिरकाल बाद समागत अपने पुत्र शिव जी से ब्रह्मा जी बोले।

पितामह ने कहा—हे महाभुज ! तुम बहुत अच्छे आये। हे वत्स ! इस समय तुम मेरे पास दैवयोग से आ गये हो। तुम्हारा स्वाध्याय और तप तो निर्विघ्न हुआ चला जाता है न ? तुम सदा उग्र तप किया करते हो न ?

शिव जी बोले—हे भगवन् ! आपके अनुग्रह से मेरा स्वाध्याय और तप निर्विघ्न चल रहा है। बहुत काल व्यतीत हुआ, जब मुझे वैराजलोक में आपके दर्शन हुए थे। इसीसे मैं आपके चरणों से सेवित इस पर्वत पर आया हूँ। हे पितामह ! आपको इस एकान्त स्थान में आसीन देख, मेरे मन में कौतूहल उत्पन्न होता है। मैं समझता हूँ, इस एकान्तवास का कारण विशेष अवश्य होगा। क्योंकि आप जिस स्थान पर रहते हैं, वह बड़ा उत्तम है और क्षुधा पिपासा से वर्जित है। वहाँ पर बड़े बड़े तेजस्वी देवगण और ऋषिगण रहते हैं। वह स्थान गन्धर्वों और अप्सराओं से सेवित है। उस उत्तम स्थान को छोड़ आप अकेले इस पर्वत पर क्यों आये हैं ?

ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया—आज ही नहीं, मैं तो सदा इस वैजयन्त पर्वत पर आया करता हूँ और यहाँ एकान्त में मन को एकाग्र कर, विराट पुरुष का ध्यान किया करता हूँ।

शिव जी ने कहा—हे महान्! आप तो स्वयम्भू हैं और आपने अनेक पुरुषों को रचा है और अनेक पुरुषों को रच रहे हैं, किन्तु वह एक विराट पुरुष पुरुषोत्तम कौन है जिसका आप ध्यान किया करते हैं इस प्रश्न का उत्तर सुनने को मैं बहुत उत्सुक हूँ। अतः आप मेरा सन्देह दूर कर दें।

ब्रह्मा जी ने कहा—तेरा यह कहना कि मैं अनेक पुरुषों की रचना किया करता हूँ और कर चुका हूँ—सो तो ठीक है और प्रत्यक्ष भी है। इसमें शास्त्र से सिद्ध करने की कोई बात ही नहीं है। मैं तुझे उस एक विराट पुरुष का वृत्तान्त बतलाऊँगा—जो अनेक पुरुषों को उत्पन्न करने वाला है और वही अनेक पुरुषों की योनि कहलाता है। इस विश्व-व्यापी, कारणस्वरूप, सूत्रात्मा और सनातन पुरुष में निर्गुण पुरुष अर्थात् जीव गुणों से रहित हो कर, प्रवेश किया करते हैं।

तीनसौ इक्यावन का अध्याय

परमात्मा का स्वरूप वर्णन

ब्रह्मा जी बोले—हे पुत्र! यह पुरुष पूर्णत्व के कारण, जिस तरह शब्द-वाच्य आदि अन्तरहित होने के कारण शाश्वत, अपरिणामित्व होने के कारण अव्यय और अवयव-रहित माना जाता है, उसी प्रकार यह अक्षर भी कहलाता है। यह पुरुष मन-वचन-अगोचर होने के कारण अप्रमेय और सब का उपादान कारण होने के कारण सर्वग रूप से वर्णित है। इस पुरुष के विषय में अब तू सुन। हे सत्तम! क्या मैं और क्या तू तथा क्या अन्य कोई व्यक्ति उसका दर्शन नहीं कर सकते। सगुण तथा शमादि से रहित मूढ़ जन, उस परमात्मा को नहीं देख सकते। उसके दर्शन तो केवल ज्ञानबल ही से हो सकते हैं। परमात्मा निरवयव होने

पर भी समस्त शरीरों में विद्यमान रहता है; किन्तु शरीरधारियों के कर्मों से अलिप्त रहता है। वह हमारे, तुम्हारे तथा अन्य देहधारियों के अन्तरात्मा का साक्षी रूप है। सारे विश्व में उसका मस्तक है, समस्त विश्व में उसकी भुजाएँ हैं और सारे विश्व में उसके नेत्र, पाद और नासिका हैं। वह एकाकी स्वेच्छापूर्वक हर्षित हो समस्त क्षेत्रों में घूमा फिरा करता है। मानव शरीर क्षेत्र है और मनुष्य की शुभाशुभ कामनाएँ बीज हैं। यह सब विषय योगात्मा को विदित रहा करता है। इसीलिये वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। इस पाञ्चभौतिक शरीर में आत्मा कब आता है और कब वह इसके बाहर निकल कर चला जाता है; इस बात को कोई भी नहीं जान पाता। साँख्य एवं योग शास्त्रानुसार अनुक्रम से आत्मा की गति के सम्बन्ध में मैं चिन्तवन तो किया करता हूँ, किन्तु मैं उसकी गति नहीं जान पाता। तथापि मैं अपने अनुभव के बल, तुमसे सनातन पुरुष के सम्बन्ध में कुछ कहता हूँ। मैं परमात्मा के एकत्व और महत्त्व के सम्बन्ध में भी कहता हूँ। शास्त्रकार पुरुष को एक ही कहते हैं और वही सनातनपुरुष महापुरुष के नाम से भी प्रसिद्ध है। जैसे अग्नि का एक रूप होने पर भी काष्ठभेद से वह विभिन्न प्रकार से जलता है, जैसे सूर्य एक होने पर भी उसकी किरणें समस्त दिशाओं में प्रकाश करती हैं, जैसे तप अनेक प्रकार के होने पर भी उनका मूल एक ही है; जैसे वायु एक होने पर भी वह विविध प्रकार से चला करता है, जैसे जल का मूल समुद्र एक है, किन्तु वह भी विविध प्रकार से लहराया करता है; वैसे ही विश्वरूप निर्गुण पुरुष एक ही है, किन्तु उसी निर्गुण पुरुष में सब प्रवेश करते हैं। सगुण समस्त कर्मों को छोड़ कर तथा शुभाशुभ एवं सत्यासत्य कर्मों को त्याग करने पर, पुरुष निर्गुण हो जाता है। जो पुरुष अचिन्त्य तथा अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण और वासुदेव (अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय) नामक चार प्रकार के उसके सूक्ष्म भेदों को जान कर और शान्त हो कर विचरता है, उसीको उस शुभ पुरुष की प्राप्ति होती है। इस तरह अनेक

विद्वान् योग-मार्ग का अनुसरण कर, उस आदिपुरुष को परमात्मा कहते हैं। साँख्याचार्य उसको एकात्मा कहते हैं और तीसरे ज्ञानी आत्मा कहते हैं। इनमें से परमात्मा तो नित्य और निर्गुण है और उसीको नारायण समझना चाहिये और वे ही सब के आत्म-रूप पुरुष हैं। जैसे जल में रह कर भी कमल-पत्र जल से कभी नहीं भींगता, वैसे ही वह पुरुष कर्मों में रह कर भी कर्मफल में लिप्त नहीं होता। कर्मबद्ध आत्मा इस पुरुष से भिन्न है। वही कर्मात्मा मोक्षबन्धन में बँधा हुआ है। वह सब प्रकार के कर्म समुदाय से बद्ध है। इस तरह एक ही पुरुष अनेक प्रकार से पहिचाना जाता है। यह मैंने तुझे आनुपूर्वी अनुक्रम से बतलाया। समस्त लोक-तन्त्र का वह पुरुष धामरूप है और जानने योग्य परम तत्व है। वही बोद्धा, वही बोधनीय, वही माननीय और मान्य है। वही प्राशन करने वाला और प्राशन करने योग्य है। वही सूँघने वाला और सूँघने योग्य है। वह स्पर्श-कर्त्ता और स्पृश्य है। वही द्रष्टा और द्रष्टव्य है वही श्रोता और श्रोतव्य है। वही ज्ञाता और ज्ञेय है। वही निर्गुण और सगुण है। वही प्रधान है, वही नित्य है, वही शाश्वत और वही अविकारी भी है।

हे तात! जो प्रधान अर्थात् अहङ्कार नाम से वर्णित है, जो महत्तत्व की योनि है, वह भी इस चैतन्य ज्योति से पृथक नहीं है। क्योंकि वह नाशरहित होने से नित्य है, अनादि होने से शाश्वत है, अपरिणामी होने से अव्यय है। जो सर्वप्रथम ब्रह्मा को प्रकट कर, महत्तत्वों को उत्पन्न करता है, विद्वान् लोग उसीको अनिरुद्ध कहते हैं। लोकों में आशीर्युक्त जो उत्तम वैदिक धर्मानुष्ठान हुआ करते हैं, उन्हें उसीका कार्य समझना चाहिये।

समस्त देवता, साधु तथा शान्तमना मुनि उसीको यज्ञभाग दे कर, उसका पूजन किया करते हैं। मैं प्रजावर्ग का आदिप्रभु ब्रह्मा हूँ और तुम मुझसे उत्पन्न हुए हो। हे पुत्र! मुझीसे चराचरात्मक जगत् और सरहस्य समस्त वेद उत्पन्न हुए हैं। अतः जो मेरा पूज्य है, वही चराचरा-

त्मक विश्व का भी आराधनीय है। समस्त प्राणियों को उसका पूजन करना चाहिये। वह पुरुष वासुदेव से चार प्रकार से विभक्त हो, इच्छानुसार क्रीड़ा कर रहा है। इस प्रकार परमात्मा—स्वरूप, भिन्न ज्ञान के सहारे जाना जाता है। हे वत्स! तुमने जो प्रश्न किया था—उसका यह उत्तर देते हुए मैंने साँख्य एवं योग शास्त्रों के मतानुसार एक बड़ा भारी निगूढ़ तत्व तुम्हें बतलाया है।

तीनसौ बावन का अध्याय

इन्द्र-नारद-संवाद

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह! मोक्ष धर्माश्रित शुभ कर्मों का निरूपण आपने किया। अब आप मुझे वर्णाश्रम धर्मियों का श्रेष्ठ धर्म सुनावें।

भीष्म जी ने कहा—सर्वत्र धर्म का फल स्वर्ग और सत्य कहा है। अनेक मार्गों से सम्पन्न धर्म की कोई भी क्रिया निष्फल नहीं जाती है। समस्त आश्रमों में स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है; किन्तु जो मनुष्य जिस आश्रम में सफल मनोरथ होता है, वह उसीको सर्व-श्रेष्ठ समझता है। दूसरे को नहीं। पूर्वकाल में महर्षि नारद ने इन्द्र से इस विषय की एक कथा कही थी। हे नरव्याघ्र! उसको तुम सुनो। हे राजन्! वायु जैसे अप्रतिहत गति से तीनों लोकों में विचरा करता है, वैसे ही सिद्ध और मान्य महर्षि नारद जी अनुक्रम से तीनों लोकों में विचरा करते हैं। हे महाधनुर्धर! एक दिन नारद जी स्वर्ग में इन्द्र के निकट गये। इन्द्र ने उनका यथोचित सत्कार कर, उन्हें अपने पास बिठाया। जब नारद जी थोड़ी देर विश्राम कर चुके, तब शचीपति इन्द्र ने नारद जी से प्रश्न किया—हे निर्दोष महर्षे! आप सिद्ध हैं और कौतूहलवश साक्षी रूप से

चराचरात्मक तीनों लोकों में सदा घूमा फिरा करते हैं। हे देवर्षे! जगत् की कोई भी घटना आपसे छिपी नहीं है। आपने जो कुछ देखा हो, सुना हो अथवा अनुभव किया हो—वह आप सब मुझे सुनाइये।

हे राजन्! तदनन्तर वाग्विदाम्वर नारद जी ने निकटस्थ इन्द्र से एक बड़ी लंबी चौड़ी कथा कही। नारद द्वारा इन्द्र से कही हुई वही कथा मैं तुमको सुनाता हूँ।

तीनसौ त्रेपन का अध्याय

एक विप्र की परलोक सम्बन्धी चिन्ता

भीष्म जी बोले—हे नरश्रेष्ठ! गङ्गा के दक्षिण तट पर, महा पद्म नामक एक उत्तम नगर है। उसमें एक समाधिनिष्ठ विप्र रहता था। वह शान्तिवृत्ति से रहता था। उसका गोत्र अत्रि था और वह सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन किये हुए था। उसे किसी विषय में कुछ भी सन्देह नहीं रह गया था। वह सदा धर्माचरण-परायण रहता था। उसे क्रोध कभी नहीं आता था। वह सदा तृप्त रहता था और बड़ा जितेन्द्रिय था। उसका तप और स्वाध्याय में अनुराग था। वह सत्यवादी था और सज्जन लोग उसका बड़ा आदर करते थे। उसके पास न्यायोपार्जित धन था और वह बड़ा शीलवान था। वह सगे सम्बन्धियों से परिपूर्ण और सतोगुणी एक प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न हुआ था। उसने जब अपने घर में पुत्रों की बड़ी संख्या देखी, तब उसने महान् उद्योग किया। वह कुलधर्म के अनुसार शास्त्रोक्त विधि से धर्म कर्म किया करता था। जब वह वेदोक्त, स्मृति-शास्त्रोक्त धर्मों तथा शिष्टाचार का विचार करता, तब वह स्वयं यह निश्चय न कर सकता कि, इन प्रकार के धर्माचरणों में श्रेष्ठ धर्माचरण कौन सा है और किस धर्म का सेवन करने से मेरा कल्याण होगा। उसने मन ही मन

बहुत कुछ सोचा विचारा ! किन्तु वह इसका निर्णय न कर सका। इस पर जब वह मन ही मन खेद कर रहा था, तब एक संयमी अतिथि ब्राह्मण आया। उसने उसकी शास्त्रोक्त विधि से पूजा की और जब वह विश्राम कर चुका और सुखासीन हुआ, तब उसने उससे कहा।

तीनसौ चौवन का अध्याय

स्वर्ग जाने का मार्ग

ब्राह्मण बोला—हे अनघ ! मैं तेरे मधुर भाषण को सुन, मुझे तेरे प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया है और मैं तुझे अपना मित्र समझने लगा हूँ। अतः मैं तुझसे जो कुछ कहता हूँ उसे तू सुन। हे विप्रेन्द्र ! मैंने पुत्रोत्पादन पर्यन्त गृहस्थ धर्म का प्रतिपालन किया है। इस समय मैं कौन सा परम धर्म अवलम्बन करूँ, मैं कौनसे मार्ग का सहारा लूँ ? मैं आत्मा का आश्रय ग्रहण कर के आत्मज्ञानोपार्जन के लिये एकान्तवास करना चाहता हूँ। क्योंकि विषयपाश में बद्ध हो कर मुझको अब किसी कर्म को करने की इच्छा नहीं है। मेरी पुत्र-फलाश्रित अवस्था जब से बीती है, तब ही से मैं पारलौकिक मार्ग को ग्रहण करने का अभिलाषी हो रहा हूँ। इस भवसागर के पार होने की आकांक्षा होने से मेरे मन में ऐसी ही इच्छा उत्पन्न हुई है कि, संसार-सागर के पार करने वाली धर्म-मयी नौका मुझे कहाँ मिलेगी ? जब मैं तीनों लोकों में सतोगुणी प्राणियों को निज कर्मफल भोगते और पीड़ित होते एवं प्राणियों के ऊपर यम-राज की ध्वजा की केतुमाला को फहराते हुए देखता हूँ; तब मेरे मन में भोगों को भोगने की रुचि नहीं रह जाती। साथ ही जब मैं यतियों को घर घर भीख माँगते देखता हूँ, तब यतिधर्म की ओर से भी अरुचि हो जाती है। अतः हे अतिथि ! आप अपनी बुद्धि से मुझे ऐसा धर्म-मार्ग बतलावें, जिस पर मैं चलूँ।

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! उस विप्र के इन वचनों को सुन कर, अतिथि ने मधुर वाणी से कहा—मैं भी इस चक्कर में हूँ। मेरी भी यही अभिलाषा है। स्वर्ग-प्राप्ति के अनेक साधन हैं; किन्तु उनमें उत्तम कौन सा है, इसका निर्णय मैं नहीं कर सकता। अनेक जन मोक्ष की प्रशंसा करते हैं। अनेक ब्राह्मण स्वर्गप्राप्ति के साधन रूप कर्मों की सराहना करते हैं। अनेक द्विज वाणप्रस्थाश्रम को ग्रहण करते हैं और बहुत से गृहस्थाश्रम ही में रहते हैं। अनेक राजधर्म का आचरण करते हैं और अनेक जन आत्मज्ञान सम्पादन में रत रहते हैं। अनेक जन गुरुसेवा रूपी कर्म का पालन करते हैं और कोई मौनव्रत धारण किये हुए हैं। बहुत से माता पिता की सेवा कर के स्वर्ग में गये हैं। बहुत लोगों ने अहिंसा रूपी धर्म का पालन कर, स्वर्ग प्राप्त किया है और बहुत लोगों को सत्यभाषण से स्वर्ग मिला है। बहुत से रणक्षेत्र में मारे जा कर स्वर्गवासी हुए हैं और बहुत से उञ्छवृत्ति से यावज्जीवन निर्वाह कर और सिद्ध हो स्वर्गगामी हुए हैं। अनेक जन वेदव्रत को ग्रहण करते हैं। बहुत से वेदाध्ययन करते हैं। इस प्रकार अनेक शान्तमना जितेन्द्रिय बुद्धिमान स्वर्गवासी हुए हैं। अनेक सरल और निष्कपट मन वाले पुरुष कुटिल जनों द्वारा मारे जा कर, स्वर्ग सिधारे हैं। इस प्रकार बहुत से मनुष्यों ने विविध प्रकार के धर्माचरण कर के स्वर्ग के अनेक द्वारों को उन्मुक्त किया है। किन्तु मेरी बुद्धि वायु से परिचालित मेघों की तरह डाँवाडोल हो रही है।

तीनसौ पचपन का अध्याय

उपदेश प्राप्ति के लिये पद्मनाभ सर्प के पास गमन करने का परामर्श

अतिथि ने कहा—हे ब्राह्मण! मुझे मेरे गुरु ने जो धर्मतत्व बतलाया है वह मैं तुझे भी बतलाता हूँ। सुन। पूर्वकल्प में धर्मचक्र की

बोझ उतारे जाने के बाद मिलती है। मार्ग चलते चलते श्रान्त मनुष्य को जैसे सेज परमानन्द-दायिनी प्रतीत होती है, जैसे प्यासे को जल आनन्द-दायी होता है, जैसे भूखे को भोजन हर्षित करता है, जैसे अतिथि समय पर भोजन पाने से प्रसन्न होता है, जैसे पुत्रकामी को पुत्रप्राप्ति से हर्ष होता है; वैसे ही मुझे आपके इन वचनों को सुन कर, आनन्द प्राप्त हुआ है। जैसे जन्मान्ध नेत्र पा कर आकाश की ओर टकटकी बाँध कर देखता है, वैसे ही मैं आपके इन ज्ञानमय उपदेशों को पा कर, आकाश की ओर निहार रहा हूँ। आपने जैसा बतलाया है, मैं वैसा ही करूँगा। हे साधो! आज की रात आप मेरे घर पर ही बितावें। क्योंकि सूर्य की आभा अब मन्द पड़ गयी है। भगवान भुवनभास्कर अब अस्त होने वाले हैं?

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! जब उस द्विज ने अतिथि का इस प्रकार आतिथ्य किया और रात भर रहने का अनुरोध किया, तब वह अतिथि उसीके घर पर रह गया। रात भर मोक्ष धर्म की बातें, उन दोनों में होती रहीं और उन्हें यह भी न मालूम पड़ा कि रात कब बीत गयी। इस पर भी वह रात उन दोनों की बड़े सुख में बीती। प्रातःकाल होते ही उस ब्राह्मण ने उस अतिथि का यथाशक्ति सत्कार किया। धर्माचरणी मोक्षकामी एवं पुण्यात्मा उस ब्राह्मण ने अपने घरवालों से विदा माँग, अतिथि की बतलायी हुई सर्पराज की नगरी की ओर गमन किया।

तीनसौ सत्तावन का अध्याय

विप्र और सर्पिणी का संवाद

भीष्म ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! वह ब्राह्मण अनेक वनों को मझाता, अनेक तीर्थों और सरोवरों को अतिक्रमण करता हुआ आगे बढ़ने लगा। इतने में उसे एक मुनि मिले। तब विप्र ने उस अतिथि के

नैमिषारण्य में जहाँ स्थापना की गयी थी, वहाँ गोमती नदी के तट पर नाग नामक एक नगर है। वहाँ समस्त देवताओं ने यज्ञ किया था और नृप-श्रेष्ठ मान्धाता ने वहाँ इन्द्र का अपमान किया था। उस स्थान पर एक धर्मात्मा सर्प रहता है। उसका नाम पद्मनाभ या पद्म है। वह सर्प मनसा, वाचा, कर्मणा सब को सन्तुष्ट रखता है और कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों का मर्मज्ञ है। कुमार्गगामी जनों को साम, दाम, दण्ड और भेद से जैसे बनता है, वैसे वश में करता है। जो सज्जन पुरुष हैं, उनकी रक्षा के लिये वह सदा चौकसी किया करता है। अतः तू उसके निकट जा और उससे प्रश्न कर। वह तुझे सन्तोषप्रद उत्तर देगा और असत्य बात न बतलावेगा। वह सर्प सब आगन्तुकों की ख़ातिरदारी करता है और वह समस्त सद्गुणों से अलङ्कृत है। वह सदा निर्मल रहने वाले जल की तरह स्वभाव वाला है और अध्ययन में उसकी पूर्ण प्रीति है। वह तपस्वी है और दान्त है और सदाचारी है। वह यज्ञ किया करता है, दान दिया करता है और दान देने वालों का सिरमौर है। वह बड़ा क्षमाशील, सुव्रत, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, शीलवान् और ईर्ष्याशून्य है। देवता, पितर और अतिथियों को भोजन करवा शेष अन्न खाने वाला है। वह सदा प्रिय वचन बोलता है। वह बड़े सरल स्वभाव का है और सदा परहित-निरत रहता है। उसे करने अनकरने कामों का ज्ञान है। उसका कोई वैरी नहीं है। उसका जन्म गङ्गाजल जैसे पवित्र कुल में हुआ है।

तीनसौ छप्पन का अध्याय

सर्प के निकट ब्राह्मण का गमन

ब्राह्मण ने उस अतिथि से कहा—हे ब्राह्मण! मुझे वैसे ही शान्ति इस समय मिली है, जैसी शान्ति बड़े भारी बोझ से लदे हुए पुरुष को

कथनानुसार उन मुनि से उस सर्प का पता पूछा। मुनि ने उस विप्र को यथोचित उत्तर दे कर पता बतलाया। तब वह ब्राह्मण आगे बढ़ता चला गया। सर्प के भवन पर पहुँच उस तत्ववेत्ता विप्र ने कहा—मैं अमुक हूँ और आपके निकट आया हूँ। उस विप्र के इन वचनों को सुन कर, धर्म पर प्रेम रखने वाली, पतिव्रता एवं रूपवती सर्पपत्नी उस विप्र के सामने आयी और विप्र का उसने यथाविधि पूजन किया। तदनन्तर उस विप्र का स्वागत कर, उसने पूछा—बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

विप्र बोला—हे पूज्ये! तूने मधुर वचन कह कर मेरा स्वागत किया है। अब मेरी थकावट भी दूर हो गयी है। मैं 'अब सर्वश्रेष्ट सर्प का दर्शन करना चाहता हूँ। यही मेरा बड़ा भारी कार्य है। यह मेरा परम अभीष्ट है। मैं इसी उद्देश्य से यहाँ आया हूँ।

सर्पपत्नी बोली—मेरे पति एक मास के लिये सूर्यरथ खींचने को गये हुए हैं। वे सात आठ दिन बाद अवश्य लौट आवेंगे। आप मेरे पति से क्यों मिलना चाहते हैं? अब आप यह भी बतला दें।

विप्र बोला—हे साध्वी! मैं यहाँ सर्पराज का दर्शन करने आया हूँ। अतः मैं इस महावन में रह कर, नागराज के आने की प्रतीक्षा करूँगा। जब सर्पराज आजावें, तब आप उनको मेरे आगमन की सूचना दे देना। मेरे आगमन की सब के प्रथम उन्हें सूचना दें, पीछे उनसे और बात कहना। मैं इस पवित्रसलिला गोमती नदी के तट पर रहूँगा और परिमित आहार कर के आपके कथित समय की प्रतीक्षा करूँगा।

इस प्रकार सर्पपत्नी का समाधान कर, वह विप्र गोमती तट की ओर चला गया।

तीनसौ अट्ठावन का अध्याय

सर्प नागराज के सम्बन्धियों का अनुरोध

भीष्म जी ने कहा—हे नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर वह तपस्वी विप्र वहाँ निराहार व्रत करने लगा। यह देख वहाँ के रहने वाले सर्पों को बड़ा कष्ट हुआ। सर्पराज के वे बन्धु बान्धव और कुटुम्बी और सर्पपत्नी सब जमा हो, उस विप्र के निकट गये। उन लोगों ने उस निराहार व्रतधारी विप्र को नदीतट पर एकाकी और जप करते हुए देखा। अतिथि-प्रिय सर्पराज के समस्त सम्बन्धियों ने उस विप्र के निकट जा और अनुनय विनय कर ये स्पष्ट वचन कहे—हे तपोधन ! तुमको यहाँ आये आज छठवाँ दिन है। हे धर्मवत्सल ! आज तक आपने हमारे हाथ से कोई भी भोज्य पदार्थ ग्रहण नहीं किया। आप हमारे यहाँ अतिथि रूप से पधारे हैं और हम लोग भी आपके निकट आये हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम आपका आतिथ्य करें। हम सब सर्पराज के सगे सम्बन्धी हैं। आप हमारे प्रदत्त फल, मूल, शाकपात, दूध अन्न आदि पदार्थों को अङ्गीकार करें और भोजन करें। आपने इस वन में रह कर भोजन करना त्याग दिया है। अतः इस धर्मविरुद्ध कार्य को देख यहाँ के आबाल वृद्ध धर्मभीरु सर्प कष्ट पा रहे हैं। हम लोगों से भ्रूणहत्या, असत्य-भाषण आदि कोई ऐसा अनुचित कार्य नहीं बन पड़ा, जिसके कारण हमारा अन्न आपके लिये अग्राह्य हो गया हो। हम लोगों में देवता, अतिथि और बन्धु बान्धवों को भोजन कराये बिना भोजन करने वाला कोई नहीं है।

विप्र ने कहा—आपकी अनुरोधरक्षा के लिये मैं सर्पराज के लौट आने पर, आठ दिवस बाद भोजन करूँगा। यदि आठ रात बीत जाने पर सर्पराज न आये तो भी मैं आपके कथनानुसार भोजन कर लूँगा। मैं सर्पराज के दर्शन करने के लिये ही इस व्रत को धारण किये हुए हूँ और

कोई कारण नहीं है। अतः आप लोग इसके लिये सन्तप्त न हों। मैं ये सब काम सर्पराज के लिये कर रहा हूँ। आप इसमें विघ्न न डालेंगे!

हे नरर्षभ! जब उस विप्र ने इस प्रकार उनसे कहा, तब वे अप्रसन्न मनोरथ हो, अपने अपने घरों को लौट कर चले गये।

तीनसौ उनसठ का अध्याय

सर्पराज और सर्प-पत्नी-संवाद

भीष्म जी ने कहा—हे धर्मराज! जब बहुत समय बीत गया और अवधि पूरी हुई, तब सूर्य ने सर्पराज को विदा किया। तब सर्पराज लौट कर अपने घर आये। उस समय उसकी पत्नी पैर धोने को जल ले कर उसके निकट गयी। तब सर्पराज ने उससे पूछा—हे कल्याणि! तूने मेरी पूर्वकथित, युक्तियुक्त, शास्त्रोक्त विधि से देवताओं और अतिथियों की पूजा तो की थी? हे सुश्रोणि! क्या तूने स्त्री-स्वभाव-सुलभ शिथिलतावश, इस कार्य में प्रमाद तो नहीं किया। मेरे वियोग में तू धर्म-मार्ग से विमुख तो नहीं हुई?

सर्प-पत्नी ने कहा—गुरु-सेवा करना शिष्यों का धर्म है। वेद पढ़ना ब्राह्मणों का धर्म है। स्वामी की आज्ञा का पालन करना भृत्यों का कर्त्तव्य है। प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म है। यज्ञ करना और अतिथि-सत्कार करना वैश्यों का धर्म है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना शूद्र का धर्म है। इस प्रकार हे राजेन्द्र! समस्त प्राणियों का हित चाहना—गृहस्थ का धर्म है। नित्य नियमानुसार आहार करना, अनुक्रम से व्रताचरण करना भी धर्म माना जाता है। क्योंकि इन्द्रियों के साथ इसका सम्बन्ध होने से यह विशेष धर्म है। मैं किसका हूँ, कहाँ से आया हूँ, यहाँ मेरा कौन है और मेरा क्या प्रयोजन है?—इस प्रकार नित्य विचार

कर के मोक्षाश्रम में निवास करे। पातिव्रत, धर्म पालन करने वाली पत्नी के लिये परमधर्म माना गया है। हे सर्पराज! आप ही के उपदेश से मुझे यह बात अवगत हुई है। मैं धर्म को जानती हूँ। सदा धर्म-परायण जब आप मौजूद हैं, तब मैं सन्मार्ग को छोड़ कर कुमार्ग में कैसे जा सकती हूँ। हे महाभाग! देवताओं की सेवा करने में मैंने कुछ भी कमी नहीं की। मैंने नित्य सावधान रह कर, अतिथि-सत्कार भी किया है। किन्तु सात आठ दिन से एक ब्राह्मण यहाँ आया हुआ है। उसने अपने आगमन का कारण मुझे नहीं बतलाया। किन्तु वह आपके दर्शन करना चाहता है। आपके दर्शन के लिये वह कठिन व्रत का पालन करता हुआ जप-परायण हो गोमती नदी के तट पर बैठा है। उस ब्राह्मण ने मुझसे कहा था कि, जब सर्पराज लौट कर आवें, तब उन्हें मेरे पास भेजना। हे महा-धीमान्! उसका यह सन्देसा सुन, आपको वहाँ जाना चाहिये। हे दर्शनश्रव! आपको उचित है कि आप उसे दर्शन दें।

तीनसौ साठ का अध्याय

सर्पराज का रोष

सर्प बोला—हे शुचिस्मिते! (निर्दोष हास्य वाली!) तुमने ब्राह्मण रूप में जिसे देखा है, वह कौन है? वह मनुष्य जाति का ब्राह्मण है अथवा ब्राह्मण रूपधारी कोई देवता है? हे यशस्विनी! मनुष्य तो भला मुझे देख ही क्या सकता है और स्वयं दर्शनाभिलाषी हो कौन मुझे इस प्रकार आज्ञासूचक वचन कहला सकता है। हे भामिनी! देवताओं, असुरों और मनुष्यों में सुरभि-गन्ध-वाहक एवं बलवान् सर्प ही हैं। महावीर्यवान्, वन्द्य और वरद सर्पों का मैं अनुयायी हूँ। मुझे यह निश्चय है कि, मनुष्य मुझे देखने की योग्यता नहीं रखते।

सर्प-पत्नी ने कहा—हे पवनाशन! उसकी सरलता और उसके रंग रूप से तो यही जान पड़ता है कि, वह देवता नहीं है। वह एक भक्तियुक्त किन्तु क्रोधन स्वभाव ब्राह्मण है। वह जलाभिलाषी चातक पक्षी की तरह कार्यान्तर का अभिलाषी है। आपके दर्शन के लिये वैसे ही उत्सुक रहता है, जैसे चातक पक्षी मेघ के बरसने के लिये उत्सुक रहता है। वह आपके दर्शन करना चाहता है और किसी भी विघ्न को कुछ भी नहीं गिनता। समान वंश कुल में उत्पन्न होने वाले कभी एक दूसरे के दर्शन की अभिलाषा नहीं करते। अतः स्वाभाविक रोष को त्यागिये और उसे दर्शन दीजिये। उसे निराश कर, इस समय आपको एक पवित्र आत्मा को सन्तप्त करना उचित नहीं। जो कोई आशा लगा कर पास आया हो, उसकी आशा पूरी न कर अथवा उसके आँसू न पोंछने से, राजा हो अथवा राजपुत्र हो—उसे भ्रूण-हत्या का पाप लगे बिना नहीं रहता।

मौनावलम्बन से ज्ञान की प्राप्ति होती है। दान के सहारे महत् यश मिलता है। सत्यभाषण से वाग्मिपन और परलोक में सम्मान प्राप्त होते हैं। भूमिदान से वही गति मिलती है जो आश्रमवासी को मिलती है। न्यायोपार्जित द्रव्य से उत्तम फल की प्राप्ति होती है। अभीष्ट, हितकर और निर्दोष कार्य करने से कोई भी मनुष्य नरक-गामी नहीं होता, यह बात धर्म-शास्त्रज्ञ जानते हैं।

सर्प बोला—हे पातिव्रते! मुझमें गर्व नहीं है; किन्तु जातिदोष के कारण मुझमें अभिमान अवश्य है। तूने मेरे उस सङ्कल्प-जन्य दोष को अपनी वाणी रूप अग्नि से भस्म कर डाला है। हे साध्वी! क्रोध से बढ़ कर पाप और कोई नहीं है। सर्प क्रोधी होते हैं—इसीसे वे बदनाम हैं। रावण, जो इन्द्र के साथ युद्ध ठाना करता था—वह भी क्रोध के वश, श्रीरामचन्द्र के हाथ से मारा गया। जब परशुराम बरजोरी बछड़े सहित गौ को राजभवन से खोल कर ले गये, तब कार्त्तवीर्य के पुत्र इससे अपना अपमान मान, मारे क्रोध के तमतमा उठे और परशुराम के

हाथ से मारे गये। रोष ही के कारण सहस्राक्ष इन्द्र समान तेजस्वी और महाबली कार्त्तवीर्य का जमदग्नि-नन्दन परशुराम ने वध किया था। अतः तेरा कहना मान मैंने तप के शत्रु और कल्याणनाशी क्रोध को रोक लिया है। हे विशालनयनी! तू सौभाग्य से मुझे एक निर्दोष स्त्री मिली है। अब मैं उस ब्राह्मण के पास जाता हूँ। तूने उसका सन्देशा मुझे ज्यों का त्यों दे दिया है। अब वह अतिथि ब्राह्मण निस्सन्देह कृत-कार्य हो कर जायगा।

तीनसौ इकसठ का अध्याय

सर्पराज का विप्र के निकट गमन

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज सर्पराज! मन ही मन ब्राह्मण का स्मरण करता हुआ और उसका क्या कार्य है—यह सोचता हुआ उसके पास गया। स्वभाव ही से धर्मवत्सल एवं बुद्धिमान् वह सर्पराज, उस विप्र के निकट जा के मधुर वचन बोला—हे विप्र! मैं आपसे क्षमा याचनापूर्वक प्रार्थनाकरता हूँ कि, आपको मेरे ऊपर रोष न करना चाहिये। आप कृपा कर बतलावें कि, आप यहाँ किस लिये आये हैं? आपका मुझसे क्या प्रयोजन है? हे द्विज! मैं आपके निकट आया हूँ और आपसे प्रीति पूर्वक पूछता हूँ कि, आप इस निर्जन गोमती तट पर किसकी उपासना कर रहे हैं?

विप्र ने उत्तर दिया—हे सर्पश्रेष्ठ! मैं धर्मारण्य नामक ब्राह्मण हूँ और पद्मनाभ नामक सर्पराज से मिलने के लिये यहाँ आया हूँ। उससे और कुछ काम है। वह यहाँ नहीं है। मुझे उसके घरवालों से पता चला है कि, आजकल वह यहाँ है नहीं, कहीं बाहर गया हुआ है। अतः किसान जैसे वर्षा की बाट जोहता है, वैसे ही मैं, पद्मनाभ के प्रत्यागमन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं भोगयुक्त और निराहार रह कर, उस सर्पराज

के निरामय रहने और उसके क्लेश को दूर करने के लिये वेद का पारायण कर रहा हूँ।

सर्प बोला—आप बड़े ही सदाचारी और सज्जन पुरुष हैं। हे महाभाग! आपकी सच्चरित्रता की मैं कहाँ तक सराहना करूँ। आप दूसरों को स्नेहदृष्टि से देखते हैं। हे विप्रर्षे! आप जिस पद्मनाभ सर्प से मिलना चाहते हैं, वह सर्प मैं ही हूँ। अब आप बतलावें कि, आपका क्या मनोरथ है मैंने आपके आगमन का समाचार अपनी स्त्री से पाया था। उस समाचार को सुन, मैं यहाँ आया हूँ। हे विप्र! आप आज ही अपना कार्य सिद्ध कर अपने घर जा सकेंगे। अतः आप मुझ पर विश्वास कर, मुझे अपने मनोरथ से अवगत करें। आपने अपने सौजन्य से हम सब को अपने वश में कर लिया है। क्योंकि आप अपने हित को भूल हमारे हितसाधन में तत्पर हो रहे हैं।

विप्र ने कहा—हे महाभाग! मैं आपके दर्शन करने को आया हूँ। मैं आपसे एक बात जानना चाहता हूँ। क्योंकि वह बात मुझे अवगत नहीं है। मैं समस्त विषयों से विरत हूँ जीव की गति रूप ब्रह्म की खोज में हूँ। गृहस्थ होने पर और ज्ञान होने के कारण मेरा मन चञ्चल हो रहा है। आप चन्द्र-किरण-स्पर्श की तरह हृदयानन्द-दायिनी यशोमयी किरणों से प्रकाशित हैं। हे पवनाशन! मैं आपसे जो प्रश्न करता हूँ उसका आप निर्णयात्मक उत्तर दें। तदनन्तर मैं आपको अपना प्रयोजन बतलाऊँगा। अतः आप मेरे प्रश्न सुन लें।

— —

तीनसौ बासठ का अध्याय

यह अपर सूर्य कौन है?

विप्र बोला—आप बारी बारी से सूर्यदेव के एक पहिये के रथ को खींचने के लिये जाया करते हैं। वहाँ यदि आपको कोई

विस्मयोत्पादक विषय देख पड़ा हो, तो आप मुझे उसका वर्णन सुनावें।

सर्प ने कहा—भगवान सूर्य तो, विस्मयों के आश्रयस्थल हैं। त्रिलोकी के समस्त प्राणी उन्हींसे उत्पन्न होते हैं। जैसे पक्षी वृक्ष की डालियों पर रहते हैं, वैसे ही सूर्यदेव की सहस्रों किरणों के सहारे देवता, सिद्ध और मुनिवृन्द रहते हैं। सूर्य की किरणों का आश्रय ग्रहण कर, रहने वाला उदार वायु भी सूर्य ही से निकल कर, आकाश में चला करता है। इससे बढ़ कर और क्या आश्चर्य होगा। सूर्य के महामण्डल में रहने वाला; अन्तर्यामी पुरुष परम कान्ति से प्रकाशित हैं और समस्त लोकों के द्रष्टा हैं। इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा? श्याम वर्ण की शुक्र नामक किरण मेघयुक्त आकाश में जलोत्पत्ति कर, वर्षाकाल में जल बरसाती है। इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा? सूर्य आठ महीने तक पवित्र किरणों से जल एकत्र करते हैं और वर्षा ऋतु में उस जल को लौटा देते हैं। इससे अधिक और आश्चर्य क्या होगा। जिनके तेज में परमात्मा स्वयं निवास करते हैं, जिनके द्वारा औषधियाँ और चराचरात्मक यह विश्व तथा पृथिवी टिकी हुई है, इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा?

हे विप्र! महाभुज, पुरातन कालीन एवं आदि-अन्त-रहित पुरुषोत्तम सूर्य में विराजमान हैं—इससे अधिक और क्या आश्चर्य होगा? इन सब आश्चर्यों से बढ़ कर एक और आश्चर्य की बात है। सुनिये। उस आश्चर्य को मैंने सूर्य से उद्भासित आकाश में स्वयं देखा है। एक दिन जब सूर्य मध्यान्ह काल में समस्त लोकों में प्रकाश फैला रहे थे, तब सूर्य की तरह तेजस्वी एक और पुरुष मुझे देख पड़ा। उसका तेज चारों ओर फैला हुआ था। वह तेजस्वी पदार्थ, अपने तेज से समस्त लोकों को प्रकाशित करता हुआ तथा आकाश को ढकता हुआ सूर्य की ओर बढ़ा चला आता था। हुत-अग्नि की तरह अपने तेज की किरणों

से वह प्रकाशित हो रहा था और अपने अनिर्देश्य स्वरूप के कारण अपर सूर्य की तरह जान पड़ता था। वह ज्यों ही निकट आया, त्यों ही सूर्य ने अपनी भुजाएं पसार उसको अपने हृदय से लगा, उसका सत्कार किया और उसने अपना दहिना हाथ आगे कर सूर्य के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। फिर वह पुरुष आकाश को भेद कर, सूर्यमण्डल में प्रविष्ट हुआ, और क्षण भर में वह सूर्य के साथ एक हो आदित्य बन गया। इन दो तेजों को एक होते देख, मुझे सन्देह हुआ, कि उन दोनों में वास्तविक सूर्य कौन है? रथस्थ सूर्य वास्तव में सूर्य हैं—अथवा जो तेजस्वी पुरुष आया था वह सूर्य था। इस सन्देह को मिटाने के लिये मैंने सूर्य से प्रश्न किया कि, यह जो अपर सूर्य के समान पुरुष स्वर्ग को भेद कर गया, कौन था?

तीनसौ त्रेसठ का अध्याय

वह उञ्छवृत्तधारी एक ब्राह्मण था

सूर्य ने उत्तर दिया—न तो वह देवता था, न वह वायुसखा अग्नि था, न वह असुर अथवा सर्प था, वह तो उञ्छवृत्तिधारी एक सिद्धार्थ मुनि था। वह स्वर्ग में गया है! वह ब्राह्मण मूल, फल, जल, वायु का भक्षण कर, अपने मन को अपने वश में रखता था। वह वेदमंत्रों से रुद्र की स्तुति किया करता था। अतः वह स्वर्ग में गया है। हे सर्पराज! वह ब्राह्मण किसी की संगत में नहीं रहता था। उसे किसी वस्तु की इच्छा भी न थी। वह उञ्छवृत्ति से अपना निर्वाह करता था और समस्त प्राणियों के हितसाधन में लगा रहता था। उत्तम गति वाले जीवों का पराभव देवता, गन्धर्व, असुर और सर्प भी नहीं कर सकते। हे विप्र! सूर्य के मुख से मैंने विस्मयोत्पादिनी यह वार्त्ता सुनी है। वह पुरुष

इस प्रकार सिद्धपुरुषों की गति को प्राप्त हो चुका है और सूर्य सहित पृथिवी की परिक्रमा कर रहा है।

तीनसौं चौंसठ का अध्याय

जाने को उद्यत उस विप्र को सर्प का रोकना

विप्र ने कहा—हे भुजङ्गमं! यह वृत्तान्त सचमुच ही बड़ा विस्मयोत्पादक है। मुझे इस वृत्तान्त को सुन बड़ी प्रसन्नता हुई है। मैं जो जानना चाहता था, वह बात मुझे आपके कहे हुए इस वृत्तान्त से विदित हो गयी है। आपने मुझे वह मार्ग दिखला दिया है, जिसकी खोज में मैं बहुत दिनों से था। हे सर्वश्रेष्ठ! हे साधो! आपका मङ्गल हो। अब मैं घर को जाता हूँ। यदि आपको कहीं किसी को भेजने की आवश्यकता हो अथवा कोई काम करवाना हो, तो मुझे आप याद करना।

सर्प बोला—हे विप्र! आपने अपने मन की बात तो मुझसे कही ही नहीं। फिर आप उस बात को बतलाये बिना घर क्यों जाते हैं? आप जिस कार्य के लिये आये हैं और जो काम आप करना चाहते हैं—वह तो बतलाइये। हे विप्रसत्तम! आपने मुझे बुलाया था। अतएव यदि आपका का काम मुझसे वार्त्तालाप किये बिना ही सिद्ध हो गया हो, तो भी आपको मेरी अनुमति ले कर जाना उचित है। हे विप्रर्षें! आप जैसे मेरे एक स्नेही को यह शोभा नहीं देता कि, आप मुझे वैसे ही छोड़ कर चल दें, जैसे बटोही उस वृत्त को छोड़ चल देता है, जिसकी शीतल छाया में वह बहुत देर तक बैठा हुआ था। हे विप्रर्षभ! निस्सन्देह मैं आपका भक्त हूँ और आप मेरे भक्त हैं। ये समस्त लोग आपके अनुगामी हैं और मैं आपका मित्र हूँ। तब आपको चिन्ता ही किस बात की है?

विप्र बोला—हे महाबुद्धे! हे आत्मज्ञानी सर्प! आप बहुत ठीक

कहते हैं। सूर्यमण्डल वासी पुरुष आप ही हैं। आप सदा समस्त प्राणियों में और परमात्मा में रहते हैं। हे सर्पकुल के राजन्! पुण्य का संग्रह करने के विषय में मेरे मन में सन्देह उठ खड़ा हुआ था—वह अब दूर हो गया। मैं अब अर्थ-साधन-रूप उञ्छवृत्ति को धारण करूँगा। मैंने अब अपने मन में यही निश्चय कर लिया है। मैं जो जानना चाहता था, वह मुझे विदित हो गया। अतः अब मैं आपसे जाने की आज्ञा मागता हूँ। आप मुझे विदा करें। आपका कल्याण हो। मैं तो कृतार्थ हो गया।

तीनसौ पैंसठ का अध्याय

धर्मारण्य विप्र और उञ्छवृत्ति की दीक्षा

भीष्म जी बोले—हे धर्मराज! तदनन्तर उञ्छवृत्ति धारी बनने का निश्चय कर, वह विप्र, सर्पराज से विदा ले, भृगु-कुल-प्रदीप च्यवन ऋषि के निकट उञ्छवृत्ति की दीक्षा लेने को गया, तब च्यवन ने उसे संस्कारित कर उसे दीक्षा दी। तब से वह विप्र उञ्छवृत्ति धारी हो गया। हे राजन्! उस विप्र ने यह सारा वृत्तान्त च्यवन से भी कहा था! तदनन्तर हे राजन्! भृगुवंशी च्यवन ने राजा जनक के राजभवन में यह कथा—महात्मा नारद जी से कही थी। हे राजन्! इन्द्र के पूछने पर नारद जी ने यह कथा इन्द्रलोक में सुनायी थी। तदनन्तर हे राजन्! इन्द्र ने यह कथा अन्य समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों से कही। तदनन्तर भृगुकुलोत्पन्न परशुराम के साथ मेरा दारुण युद्ध हुआ। तब वसुओं ने मुझे यह कथा सुनायी थी। तुम्हारे प्रश्न करने पर यह पुण्यदायिनी धर्म कथा मैंने तुमको सुनायी है। तुमने मुझसे परम धर्म सम्बन्धी प्रश्न किया था। वह परमधर्म मैंने तुमको बतला दिया।

हे राजन्! धर्मार्थ विषय में अनभिलाषी, वीर पुरुषों द्वारा जिते-

न्द्रिय हो कर, निष्काम कर्म करने से, उनके लिये मोक्ष का द्वार खुल जाता है।

हे राजन्! उञ्छवृत्ति पालन का निश्चय करने वाला वह धर्मारण्य विप्र सर्पराज की आज्ञा के अनुसार यम नियमों का पालन करता हुआ उञ्छवृत्ति से वन में अपना निर्वाह कर के रहने लगा।

शान्ति-पर्व [समाप्त इति]